साहित्य संदेश

दिसम्बर १९४९

विषय सूची

एक प्रति का ।=)

आलोचना और साहित्य

मिट्टी की ओर—रामधारी सिंह 'दिनकर' ४)
राजस्थान में हिन्दी हस्त लिखित—
ग्रन्थों की खोज—मोतीलाल मेनारिया ३)
हिन्दी साहित्य परिचय—डा० सी०बी०लाल गुप्त 'सरस' १।)
साहित्य-परिचय—प्रेमनारायण टंडन २)
गोदान : एक अध्ययन—प्रेमनारायण टंडन १॥।)
साहित्य निबन्धावली—डा०धर्मेन्द्र, प्रो०देवेन्द्र ३॥।)

नाटक

संकल्प—प्रेमनारायण टंडन १।)
सोहागदान—शिवकुमार ओझा ॥=)

कविता

कुरुक्षेत्र—रामधारी सिंह 'दिनकर' ३॥)
धूप छाँह— " " १)
गाँव के गीत—रमेशवर्मा ॥)
अमर सङ्गीत—श्रीकृष्णप्रसाद गुप्त =)॥
महामानव—ठाकुर प्रसादसिंह ४॥)
हृदयध्वनि—लक्ष्मीनारायण टण्डन १)
दो चित्र—शिशुपालसिंह १॥)

कहानी

रामलीला—श्री राधाकृष्ण १।)
तूफान—संग्रह २)

राजनीति

अगस्त क्रान्ति के विद्रोही नेता—
कैलाशचन्द्र जैन पुष्प २।)
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—प्रह्लाद भट्ट ३।)
नव-भारत—रामकृष्ण ५)

उपन्यास

सर्वदाया—द्वारकाप्रसाद एम० ए० ॥।)

हास्यरस

न नर न नारी—ले० बैरिस्टर ॥।)

स्फुट

गाँव की सेहत—रमेशवर्मा ॥)
मानव-जीवन की सफलता—रामस्वरूप जैन १।)
बुद्धि परीक्षा—पं० जगदम्बाशरण शर्मा २)

कृषि

सरकारी की खेती—व्यथित हृदय ॥।=)
पशुओं के रोग— " " १)
रेंगने वाले—आनन्दस्वरूप श्रीवास्तव १।)

स्त्रियोपयोगी

नारी समस्या—राधादेवी गोयनका ४)
गाँव के गीत—रमेशवर्मा ॥)

बालोपयोगी

नटखट कट्टो—ज्योतिर्वाद भार्गव ॥)
उड़न खटोला—लक्ष्मीनारायण टण्डन ।—)
चाँद-सितारे—गिरीशनाथ दीक्षित ॥)
विचित्र द्वीप—विमलादेवी १)
सात मूर्ख—गिरजाशङ्कर द्विवेदी ।=)

जीवनी

नेताजी सुभाष—छविनाथ पाण्डेय ३)

आयुर्वेद

शरीर परिचय—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य ।)
नैसर्गिक आरोग्य— " " १॥)
भारतीय भौतिक विज्ञान— " ॥)
चर्म्मांगचिकित्सा—I " " २)
मुखरोग-विज्ञान—VI " " २)
कर्णरोग-विज्ञान— " " २)
शिरोरोग-विज्ञान— " " ४)
चिकित्सक—रामनरायण दुबे ७॥)

भाग ८] आगरा—दिसम्बर १९४६ [अङ्क ६

साहित्य की परख

आलोचना के मान

(श्री शिवदानसिंह चौहान)

[१]

साहित्य या कला के मूल्यांकन के लिए एक वैज्ञानिक समीक्षा-शास्त्र और पद्धति के निर्माण का प्रश्न केवल साहित्यालोचकों के लिए ही नहीं, वरन् प्रत्येक पाठक, द्रष्टा या श्रोता के लिए प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण है। परन्तु हंसराज भगौत ने अपने निबन्ध 'कला-समीक्षा और पूर्वग्रह'* में जो सापेक्षता मूलक स्थापना की है, उसे यदि सत्य और विश्वसनीय मान लें तो पाठक, द्रष्टा या श्रोता को निर्विकल्प भाव से पूर्वाग्रही (प्रेजुडिस्ड) होना चाहिए और उसे कला के समीक्षकों द्वारा निरूपित मान-मूल्यों से अवगत होने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः हंसराज भगौत के अनुसार कला या साहित्य के सामान्य मान-मूल्य निर्धारित करने का कार्य आलोचक का भी नहीं है, प्रत्युत कलाकार, आलोचक, पाठक (द्रष्टा या श्रोता) इन सभी को अनिवार्यतः पूर्वाग्रही होना चाहिए. अतः यह ईप्सित नहीं होना चाहिए कि किसी कलाकृति में सन्निहित अनुभव की पूर्ण अनुभूति के लिए आलोचक अपनी समीक्षा द्वारा उस अनुभव की पुनर्सृष्टि करे और पाठक अपने व्यक्तिगत अनुभव की अपेक्षा में आलोचक द्वारा उद्घाटित कलाकृति के गूढ़ मन्तव्यों, सौन्दर्य-तत्वों और जीवन-सत्यों का चेतना-प्रेरक और स्वास्थ्यदायक अनुभव ग्रहण करे। मात्र सापेक्षतामूलक समालोचना-दृष्टि ऐसे ही एकांगी प्रवादों को जन्म देती है।

परन्तु 'पूर्वग्रह' साहित्य या कला के मूल्य का आधार नहीं बन सकता। साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट सार भाग है। केवल इतना ही नहीं, युग-युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिस्थिति में जो मौलिक प्रगतिमूलक क्रिया प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत चलता आया है और चलता जायगा और जिसके परिणाम-स्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्धमान है, और मनुष्य का पूर्ण आत्म-विकास सम्भव बना है—इस महान संघर्ष का मनुष्य ने किस प्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामञ्जस्य और वैषम्य का विरोध करके अपने नित नूतन जीवनप्रद सन्तुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है—इस समस्त मानवीय

* देखिये, 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' भाग १।

कृतित्व और तज्जनित मानव मूल्यों के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुखी सचेतन और अवचेतन प्रचेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस, गन्धमय अनुभव कला और साहित्य में अपनी विशिष्ट भंगिमा के साथ प्रतिबिम्बित है। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव-नव निर्माण प्रयत्नमय है, वैसे ही उसके व्यापक मानव-मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।

फ्रॉयड के मनोविश्लेषण-शास्त्र की दृष्टि से 'संस्कृति और सभ्यता' की समस्या पर विचार करने वाले अज्ञेय भी इस बात के समर्थक हैं कि मनुष्य की 'चेतना का संस्कार' करने के लिए 'एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण होना चाहिए। क्योंकि मनुष्य के भौतिक जीवन की उन्नति और यन्त्र-साधनों के असीमित विकास से चिन्तित होकर वे एल्डुस हक्सले के 'नूतन रहस्यवाद' के रूप में 'चेतना का संस्कार' करना चाहते हैं, और 'संस्कृति की रक्षा' के लिए जिस 'आलोचक राष्ट्र का निर्माण' करना चाहते हैं, उसके निश्चित लक्ष्य और साधन, उद्देश्य और कार्यक्रम का निर्देश अज्ञात है परन्तु उनकी तर्क-पद्धति और विचार-धारा चाहे कितनी निरर्थक और सारहीन क्यों न हो, उनका 'चेतना के संस्कार' का आग्रह कोरा आशापूर्ण उच्छ्वास नहीं है। वह व्यक्ति और समाज के एक मूलभूत असामञ्जस्य की ओर संकेत करता है, जिसका निराकरण करने की विधि, संभव है, अज्ञेय के अनुमान से कहीं अधिक व्यापक व्यक्ति-समाज की संयुक्त चेष्टा का आह्वान करेगी।

अब आज कला या साहित्य के समीक्षक का दायित्व बहुत बढ़ गया है। प्रश्न केवल 'संस्कृति की रक्षा' का ही नहीं है, बल्कि प्रश्न नयी संस्कृति के निर्माण का भी है। भौतिक उन्नति और यन्त्र साधनों के विकास को मनुष्य या मनुष्यत्व, कला या संस्कृति के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखना-महायुद्धों के भयंकर विध्वंस और नैतिक अधःपतन से चाहे उदारचेता विचारकों और दार्शनिकों के समस्त आशामय स्वप्न छिन्न भिन्न क्यों न होगये हों—मनुष्य के श्रम एवं कृतित्व, उसकी रक्त-स्वेद बहाकर अर्जित सफलताओं को नकारना है और संस्कृति के वास्तविक प्रश्न से विमुख होना है। क्योंकि मनुष्य की भौतिक [वैज्ञानिक] उन्नति को मिटाकर संस्कृति की रक्षा या उसके निर्माण का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता। 'नूतन रहस्यवाद' अपनी अन्तिम परिणति में 'अबुद्धिवाद' और 'अन्धविश्वास' का ही पर्याय बन जाता है, इतना तो साधारणतया अनुमेय है। वास्तव में संस्कृति का प्रश्न नये जनवादी समाज के निर्माण का प्रश्न है जिसमें केवल आर्थिक शोषण और विज्ञान और यन्त्र-साधनों के मानव-संहारी प्रयोग [या दुरुपयोग] को बंद कराना ही चरम लक्ष्य नहीं है। अलंकारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि आर्थिक-शोषण और साम्राज्यवाद को मिटाकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा उसके समाजवादी आर्थिक संबंध उस पीठिका का कार्य करेंगे जिस पर नये मानव की मूर्ति का संस्थापन किया जायगा, अर्थात वह ऐसी संस्कृति होगी जो व्यक्ति के पूर्ण आत्म-विकास या आत्म सिद्धि का सहज साधन-उपकरण बन सके और इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को समृद्ध बना सके। व्यक्ति की दृष्टि से नये जनवाद या समाजवाद का यही अन्तिम लक्ष्य है। हम आज संक्रान्ति-काल में रहते हों या अज्ञेय द्वारा निर्दिष्ट 'बढ़ते हुए संघर्ष के युग' में, इस सूक्ष्म विभेद से, अन्ततः, हमारी सांस्कृतिक समस्या में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि यह 'बढ़ता हुआ संघर्ष' अहेतुक और निरुद्देश्य नहीं है। यदि इतना स्पष्ट है तो यह भी स्पष्ट है कि आज का बढ़ता हुआ संघर्ष किसी विशिष्ट संक्रान्ति युग की परिकल्पना करके ही हो रहा है। इसमें वर्तमान और निकटवर्ती भविष्य की सांस्कृतिक समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं।

इस बात को और स्पष्ट करके यों कह सकते हैं कि आज के संघर्ष युग से नये जनवाद या समाजवाद के निर्माण युग तक के अन्तरालकाल की सांस्कृतिक समस्याएँ एक-सूत्र में बँधी हुई हैं। वर्तमान के संघर्ष में जनवादी शक्तियों को अपना समर्थन और सहयोग देने के अतिरिक्त प्रत्येक सृजनकर्ता और विशेषकर साहित्यकार और आलोचक के लिए यह कर्त्तव्य उन मानव मूल्यों के निरूपण, और

समन्वय का है जो एक व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण 'social aesthetic' का सूत्रधार बन सके। व्यक्ति की चेतना के संस्कार, उसकी प्रतिभा के सर्वांगीण विकास और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए एक ऐसे व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा नये अधिकसंदर्भों का तात्पर्य मनुष्य की सुख-काम की वृत्तियों को ऊपर से संतुष्ट करना ही समझा जायगा और समाज मूलतः आज की ही तरह असंतुलित और दिग्भ्रान्त बना रहेगा—व्यक्ति की आत्मा को परितोष और प्रेरणा न दे सकेगा। इस वैज्ञानिक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Scientific Social aesthetic) की अवधारणा कला और साहित्य द्वारा निरूपित मान्य-मूल्यों से ही हो सकेगी। अतः कला और साहित्य को जन सुलभ बनाने वाली शिक्षा नीति का प्रश्न भी इससे संबद्ध है, यह भी प्रत्यक्ष है। कला समीक्षा का कार्य क्षेत्र अब 'नीर क्षीर विवेचन' तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करनी है कला और जीवन के परस्पर संबंध का निर्णय करना है, उसके सौन्दर्य-मूल्यों का निरूपण करना है और कला और साहित्य—इन विषयों की ऐसी शिक्षण नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनमें व्यक्त मानव मूल्य अनुभाव्य बन सकें जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र समाज के निर्माण-संघर्ष में स्वयं को भी मुक्त कर सके अर्थात् स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी कर सके।

वर्तमान हिन्दी आलोचना का दृष्टिकोण क्या इतना व्यापक है?

प्रारंभ में ही यह बता देना आवश्यक है कि हिन्दी आलोचना नगण्य नहीं है। और न उसमें उच्चकोटि के आलोचकों का अभाव है। फिर भी अभी तक उसकी स्थिति विचित्र रही है। उसकी तुलना गवैयों की ऐसी मंडली से की जा सकती है जो स्वर-सामंजस्य की अवहेलना करके 'अपनी ढपली, अपना राग' अलापने में ही मस्त रहती हो। तात्पर्य यह है कि अभी तक कला साहित्य के ऐसे सामान्य मान मूल्य सर्व-स्वीकृत नहीं हो पाये हैं, जिन का प्रयोग मूल्यांकन करते समय अधिकांश आलोचक करते हों। परन्तु यदि देखा जाय तो ऐसी स्थिति हर भाषा के साहित्य में मिलती। यद्यपि इधर अंग्रेजी, अमरीकी और फ्रांसीसी साहित्य में ऐसे व्यापक समन्विति की ओर सचेत चेष्टा का आरंभ हुआ है हिन्दी में भी वर्तमान अराजकता से ऊब कर बाबू गुलाबराय, अज्ञेय और दो एक अन्य समालोचकों ने कई बार विभिन्न प्रणालियों के समन्वय की मांग की है और इस दिशा में थोड़ा सा प्रयत्न भी किया है। परन्तु यह क्षेत्र अभी तक अछूता ही पड़ा है, क्योंकि समन्वय भी किसी वैज्ञानिक जीवन दर्शन के आधार पर ही किया जा सकता है। दुर्भाग्य से ऐसे जीवन-दर्शन की उपलब्धि इन महानुभावों को नहीं होती है।

[२]

हिन्दी आलोचना की जिन विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर मैंने अभी संकेत किया है उनको हम चार दृष्टिसाम्य-मूलक वर्गों या प्रवृत्तियों में बाँट सकते हैं। पहला वर्ग उन आचार्यों और अध्यापकों का है जो पुराने ढर्रे की शास्त्रीय आलोचना की लकीर अभी तक पीटते जा रहे हैं। एक बड़ी सीमा तक आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा ही किया। निस्संदेह उनकी गणना सदा युगनिर्मायक आलोचक में की जायेगी। उन्होंने प्राचीन लक्षण ग्रन्थों की परंपरा को पुनः खोज निकाला और उसके आधार पर साहित्य सिद्धान्तों की सांगोपांग व्याख्या की। अपने आलोचन-सिद्धान्तों को आधुनिकता का पुट देने के लिए शुक्लजी ने प्रवृत्ति निरूपक मनोविज्ञान [Faculty Psychology) का आश्रय लिया, परन्तु इसी से उनके आलोचना सिद्धांतों की संकुचित सीमाएं भी निर्दिष्ट होगयी। शुक्लजी द्वारा की गयी परिष्कृति के अनन्तर भी आधुनिक दृष्टि प्राप्त आलोचकों को यह स्वीकार नहीं हो रहा कि आलोचना को केवल शब्द शक्ति, रस, रीति अलंकार की पद्धतियों तक ही सीमित रखा जाय। इसका मुख्य कारण यह है कि शुक्ल जी एक अवैज्ञानिक आध्यात्ममूलक नैतिकता और वर्णाश्रम धर्म की आदर्शवादिता की अपेक्षा में साहित्य-सिद्धान्तों की मीमांसा कर गये हैं। आधुनिक मनोविज्ञान Psycho-logy), मानव शास्त्र (Anthropology) और

द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन (Dialectical Materialism) के कला संबंधी क्रान्तिकारी स्थापनाओं को उन्होंने एक प्रकार नहीं किया।

इसके विपरीत, प्रत्येक मानव क्रिया, भाव-दशा, और रुचि के मूल में एक एक स्थायी प्रेरक प्रवृत्ति को बिठाकर उन्होंने साहित्य की परिकल्पना को एक स्थिर (Static) विचार-धारा में जकड़ दिया। वर्गीकरण, व्यक्त रूप-सौन्दर्य, रूढ़ि के निर्वाह और साम्प्रदायिक दर्शन के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा। यहाँ तक कि वे अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक अनुभव में अन्तर्भूत अथवा व्यक्त विशिष्ट और सामान्य, सापेक्ष और निरपेक्ष, सत्य और सौन्दर्य की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति का आकलन करने का कोई व्यापक प्रतिमान स्थिर न कर सके। प्रवृत्ति और निवृत्ति, केवल इन दो परस्पर विरोधी मूल वृत्तियों की यंत्रवत् कल्पना करके उन्होंने सत् असत्, सुन्दर असुन्दर धर्म अधर्म के ढाँचों में मनुष्य के अनुभव और कर्म को रागात्मिका वृत्ति की मध्यस्थता से ढालने का मूलमंत्र खोज निकाला, और इनमें से एक का लोक मंगलकारी, दूसरे का लोक-अमंगलकारी रूप निश्चित कर दिया। 'साधारणीकरण' और 'लोक मंगल', शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनों आदर्शों या लक्ष्यों की कल्पना अत्यंत संकुचित और अवास्तविक है। प्रचलित रूढ़ धारणाओं में प्रकट सत्याभास ही उनके आधार हैं, क्योंकि धार्मिक शब्दाडम्बर को त्यागकर 'साधारणीकरण' का तात्पर्य यदि केवल साहित्य के प्रेषणीय गुण से है तो इस पर इतना जोर देना एक स्वयंसिद्धि को ही सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न करना है, और विशेष करके तब जब कि प्रेषणीयता के आधार पर एकांगी मूल्यांकन ही संभव है, अन्यथा द्विवेदी काल का इतिवृत्तात्मक काव्य छायावाद के काव्य से श्रेष्ठ माना जाय और निराला की तुलना में मोहनलाल द्विवेदी को श्रेष्ठतर कवि घोषित किया जाय। साहित्य या कला, रचनाकार की भावनाओं का 'साधारणीकरण' ही नहीं करती, बल्कि वस्तुसत्य को प्रतिबिम्बित करता है और यदि वास्तविकता संश्लिष्ट और जटिल है—जैसी कि वह सर्वदा से है—तो उसका प्रतिबिम्ब भी सीधी, समानान्तर रेखाओं से अंकित नहीं किया जा सकता। जो प्रत्यक्ष (obvious) और बोधगम्य है, वह कला या कविता नहीं हो सकता। कला इसी कारण एक सीमा तक दुरूह और जटिल अनुभव है और उसकी सार्थकता इसी में निहित है कि वह मनुष्य-मन की चेतना को अधिक संश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है जिससे वास्तविकता के गूढ़ रहस्य उत्तरोत्तर स्पष्ट होते जाते हैं और मनुष्य सत्य के निकट पहुँचता जाता है। शुक्ल जी का 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त, इस दृष्टि से अत्यन्त सरल सिद्धान्त है, एकांगी और सत्य की छाया मात्र। इसी प्रकार यदि धर्म और अन्धविश्वास का आवरण हटाकर उनके 'लोक मंगल' के सिद्धान्त की परीक्षा करें तो एक वैज्ञानिक समाज का 'लोक मंगल' शुक्लजी की दृष्टि से अमंगल और अधर्म का पर्यायवाची न बन जायगा, इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है। शब्दों की ध्वनि से हमारी आसक्ति नहीं है, और यदि 'लोक मंगल' शब्द में अत्यन्त अबोध और पुनीत ध्वनि मिलती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि शुक्लजी द्वारा की गयी उसकी व्याख्या एक त्रिकालवर्ती सत्य है। शुक्ल जी के स्थूल, भावुक और रूढ़िवादी सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले आचार्य और अध्यापक अब कला और साहित्य के मूलोद्गम, प्रयोजन और मूल्य इन सभी व्यापक प्रश्नों की अवहेलना करके, केवल साधारणीकरण को ही आलोचक धर्म की इतिकर्तव्यता मान बैठे हैं।

उनकी तर्क प्रणाली उन धर्मान्ध रूढ़िवादियों की कोटि की है जो किसी नये सत्य का विरोध करते समय कहते हैं 'हमारे यहाँ ऐसा नहीं है', और यदि नया सत्य अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण सर्वमान्य हो गया है और उसको मानना आपद्धर्म बन गया है तो कहते हैं 'तभी तो हमारे यहाँ अमुक ने ऐसा कहा है'—पर दोनों अवस्थाओं में जिन्हें नया सत्य व्यवहारिक रूप से अमान्य ही होता है। 'लोक-मंगल' जैसे शब्द ऐसी ही अनपेक्षित परिस्थितियों में ढाल का काम देते हैं। इसमें किंचित आश्चर्य की बात नहीं कि स्वयं शुक्ल जी ने इस इत्यादी तर्क-प्रणाली

को अपनाया था। प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार चौंसठ कलाओं में साहित्य या काव्य की गणना नहीं करायी गयी है। केवल इतनी सी बात भारतीय-अभारतीय का अनैकान्तिक, भावनाजन्य भेद खड़ा करके उन्होंने साहित्य से कला का संयोग अनर्थहेतुक घोषित करके साहित्य-समीक्षा से उस के बहिष्कार का आदेश दिया था। और इसलिए दार्शनिक क्रोचे के सौन्दर्य सिद्धान्तों की मनोनुकूल विकृति करके उन्होंने आई. ए. रिचार्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षक की पुस्तकों में से पूर्व-प्रकरण से हटाये वाक्यों द्वारा भारतीयलाक्षणिक ग्रन्थों की स्थापनाओं और वर्गीकरण का पिष्टपेषण कराया था। इस प्रकार अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होंने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छंदतावाद, प्रभाववाद, मूर्तिविधानवाद, परावस्तुवाद आदि साहित्य-कला की आधुनिक प्रवृत्तियों को प्रवाद और वितंडावाद कहकर उनकी निंदा की थी। परंतु उनकी तर्क-शून्यता इसी बात से सिद्ध है कि उन्हें आर्य-समाजियों की तरह भारतीय-अभारतीय के भेद को वैज्ञानिक परख का निर्णायक स्वीकार करना पड़ा। आइन्स्टीन का 'सापेक्षवाद' का सिद्धान्त अभारतीय है अतः असत्य और अग्राह्य है—ऐसा कहने वाले व्यक्ति में आत्म-प्रवंचना की कितनी शक्ति न होनी चाहिए। कविता भारतीय-अभारतीय हो सकती है, परन्तु भौतिक-विज्ञान, रसायन शास्त्र बीजगणित या समाज-विज्ञान और साहित्यालोचना को किसी देश की भौगोलिक सीमा में नहीं बांधा जा सकता। अधिक से अधिक इन विज्ञानों का संबंध सांस्कृतिक-युगों से जोड़ा जा सकता है, परन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में ऐसे युगों का युगान्तरकारी चित्र कभी नहीं बन सका। फलत: अपनी तर्क-शून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिए उन्होंने अनपेक्षित पाण्डित्य प्रदर्शन का रूपक रचा।

शुक्ल जी के अनुगामी, पाण्डित्य का इतना विशाल पदार्पण खड़ा करने में अपने को असमर्थ पाकर और यह देखकर कि प्राचीन आचार्यों ने शब्दशक्ति, रस, रीति, अलंकार के भेदोपभेदों की संख्या पहले ही समाप्त करदी है, कभी शुक्लजी के ही तर्कों की आवृत्ति करते हैं, कभी आधुनिक रचनाओं में इन भेदोपभेदों के दृष्टान्त सूचित करके मूल्यांकन के प्रश्न से छुट्टी पा लेते हैं, तो कभी साहित्य के आधुनिक रूप-विधानों—जैसे उपन्यास, कहानी और गीत-काव्य का विकास देख पाकर उन्हें भी कोष्ठबद्ध करने लगते हैं। अर्थात् उनका वर्गीकरण करने में संलग्न हो जाते हैं। अध्यापक श्रीकृष्णलाल की 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' नाम की पुस्तक इस प्रवृत्ति का साधारण उदाहरण है। उन्होंने गीति-काव्य के पाँच भेद किये हैं—ध्येय गीति, पत्र-गीति, लोकगीति, धर्म भावना से प्रेरित गीत और आध्यात्मिक-गीति, और फिर इनके भी उपभेद कर डाले हैं। इसी प्रकार उपन्यासों के भी एक दर्जन भेद आप को यहाँ मिलेंगे। प्रत्येक नयी रचना अपनी शैलीगत विशेषता के कारण इन अध्यापकों को एक नये भेद का खाता खोलने के लिए विवश कर देती है। फिर भी, कविता उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध आदि के तीन या तेरह भेद होते हैं—उनके इस 'होते हैं' के निश्चयात्मक स्वर में शिथिलता नहीं आती। साहित्य के गंभीर मर्मज्ञ पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और यदाकदा मनोविज्ञान से प्रेरणा लेने वाले डा० रामकुमार वर्मा तक इस मनोवृत्ति से छुटकारा नहीं पा सके हैं।

[३]

साहित्यालोचन की दूसरी विचारधारा आधुनिक मनोविज्ञान—वस्तुतः फ्रायड-एडलर-युंग के मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित है। अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी, इस प्रसङ्ग में केवल ये दो नाम ही उल्लेखनीय हैं। दोनों उपन्यासकार कवि, और आलोचक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अज्ञेय ने अपने निबन्धों में कला के मूल्याङ्कन का प्रश्न पूरी गम्भीरता के साथ उठाया है। और जो लोग मनोविज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ हैं, उन्हें इन निबन्धों में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी मिलेगा। मूल्याङ्कन करते समय कला सृजन में व्यक्ति के अहं और अवचेतन का और समाज की परिस्थिति या परिवृत्ति का क्या महत्व है? प्रश्नों का निर्देश करके उन्होंने कला-साहित्य विषयक रूढ़ धारणाओं को नयी अन्तर्दृष्टि दी है। परन्तु इन तत्वों की उन्होंने जो व्याख्या की है वह अत्यन्त एकांगी और यन्त्रवत् है। वैसे उनके समूचे दृष्टिकोण में एक आन्तरिक विसंगति है जो एक समन्वित

दृष्टिकोण के अभाव की सूचक है।* एक ओर वे कलाकार और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को ऐसा 'विद्रोहसत्व' मानते हैं जो पुरानी लीक पर न चलकर अपनी नयी लीक बनाता है, अपने व्यक्तित्व की पूर्ण स्वीकृति पाने के लिए अपनी परम्परा स्वयं गढ़ता है दूसरी ओर, रूढ़ि के अर्थ को परिवर्तित करके वे कलाकार से यह अपेक्षा भी रखते हैं कि वह रूढ़ि के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करने के लिए रेल के ऐंजन की तरह अपने को परम्परा के आगे जोड़ दे। एक स्थान पर अंग्रेजी कवि और समालोचक टी० एस० ईलियट के निबन्ध (The Sacred Wood) में से 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है', इस वक्तव्य को उद्धृत करके कलाकार से 'निर्व्यक्तिकता' की माँग करते हैं तो दूसरे स्थान पर एक 'पृथक् व्यक्तित्व' के निर्माण का प्रश्न भी उठाते हैं। उनके दृष्टिकोण में ऐसी विसंगतियों की निरी भरमार है। और यह भी निश्चय है कि ईलियट, एरलड, फ्रायड, हक्सले, हर्बर्ट रीड आदि के मतों को ज्यों का त्यों प्रतिपादन करते समय वे उनके परस्पर सम्बन्ध को या उनके पूरे अर्थारोप को भी समझते हैं।

उदाहरण के लिए कला की परिभाषा के रूप में यह सूत्र बना कर कि, 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है' जब वे इस स्थापना को सिद्ध करने के लिए सांस्कृतिक प्रागजीवन में कला को जन्म देने वाले प्रथम पुरुष की, जो 'किसी कारण कमजोर प्राणी है' और सामाजिक कार्य में भाग लेने में असमर्थ है, कल्पना करते हैं तो यह कल्पना आधुनिक मानवशास्त्र (Anthropology) की गवेषणाओं के प्रतिकूल वास्तविकता से असम्बद्ध और शिशुवत् लगती है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कलाकृत ऐसे बीमार, पंगु, विकलांग और सम्भव है विक्षिप्त व्यक्तियों की ही सृष्टि है जो अपने असामाजिक टलुआ जीवन के अभाव की पूर्ति के लिए अपनी कुण्ठित और कौतुक वृत्ति और हीन भावना से प्रेरित होकर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ खींचते रहते हैं या शब्दों का इन्द्रजाल बुनते रहते हैं। यही कला कृतियाँ बन जाती हैं। उनमें दूसरों को सौन्दर्य बोध होने लगता है और इस प्रकार उन 'बेचारे कलाकारों' का व्यक्तित्व या उनकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है।

अज्ञेय की इस परिभाषा से अनेक विचित्र परिणाम निकलते हैं। कला यदि 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है' तो निश्चय ही कला समाज पर बाहर से (प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही लादी) आरोपित वस्तु है, स्वयं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से सामाजिक जीवन की सुन्दरतर सौन्दर्यमयी जीवनानुभूति, मनुष्यमात्र की उत्तरोत्तर मुक्त और संस्कृत जीवन निर्माण करने की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वस्तु नहीं है। ऐसी स्थिति में कला या साहित्य का प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, मानमूल्यों का जिक्र ही निरर्थक हो जाता है। फिर इस चमत्कार तिलिस्म के घटित होने से कलाकार नामधारी विक्षिप्त जन्तु की कौतुक कृतियों में पाठक या द्रष्टा को सौन्दर्य (व्यवस्था, नियम, उपयोगिता, सहानुभूति, प्रेरणा) का बोध होने लगता है, यह एक गुप्त रहस्य है निस्सन्देह, अज्ञेय की स्थापना हास्यास्पद है।

इसी प्रकार ईलियट के इस उद्धरण में कि 'कवि एक विशेष माध्यम को व्यक्त करता है, व्यक्तित्व को नहीं', 'माध्यम' का अर्थ 'कवि मानस' नहीं लगाया जा सकता जैसा कि अज्ञेय ने किया है, बल्कि हर्बर्ट रीड के अनुसार उसका आशय शब्द ध्वनि सम्बन्धी स्नायविक संवेदनाओं से ही लिया जा सकता है, अन्यथा यह स्थापना निरर्थक है। इन संगत असंगत उक्तियों को छोड़ कर यदि अज्ञेय के कला-मूल्य निरूपक जीवन दर्शन की परीक्षा करें तो उसकी एकांगिता और यन्त्रवत्ता और भी मुखर लगती है।

वस्तुतः उनके निकट कला का मूल्य उसके चमत्कार में है। चमत्कार उसका साध्य भी है। कला के मानव मूल्य या उसकी सामाजिक उपयोगिता आदि प्रश्न केवल प्रासंगिक महत्व रखते हैं। चमत्कार सृजन हो जाने के पश्चात् समाज उससे जैसी प्रेरणा चाहे लेने को स्वतन्त्र है। [यदि मार्क्सियों को यह फार्मूला ज्ञात होता तो कलाकारों के

* देखिए अज्ञेय का निबन्ध-संग्रह 'त्रिशंकु'।

चमत्कार विधान से वे भी लाभ उठाने, उनकी कलाकृतियों की होली जलाने और जीवित कलाकारों को निर्वासित करने या प्राणदण्ड देने की क्या आवश्यकता थी ?] उसके पूर्व कला या कलाकार से प्रगतिशील अथवा नैतिक होने न होने का आग्रह करना अथवा उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे कला में वास्तविकता का यथार्थात्मक प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की चेष्टा करें, अथवा केवल इतना सोचना भी कि कलाकार स्वभावतः ऐसा करता है, कला को अवांछित मान्यताओं और पूर्व धारणाओं में बाँध कर उससे 'ऐच्छिक प्रेरणा' पाने का दुराग्रह करना है। आलोचक का कर्तव्य केवल इतना है कि वह "पैर की छाप" पढ़ कर बताये कि कलाकार नामधारी जन्तु किस दिशा की ओर निकल गया। इस प्रकार अज्ञेय के अनुसार 'आलोचना' न वैज्ञानिक क्रिया है, न सृजनात्मक। अपनी विसंगतियों के कारण अज्ञेय, अन्ततोगत्वा, उसी मात्र सापेक्षता मूलक सौन्दर्य-दृष्टि पर आकर ठहर जाते हैं, जिससे आगे बढ़ कर, चाहे मनोविश्लेषण शास्त्र के एकांगी दृष्टिकोण से ही क्यों न हो, वे कला के मान-मूल्य निर्धारित करने का बीड़ा उठाते हैं और केवल "पैर की छाप" पढ़ कर घूमने वाले 'लाल बुझक्कड़' ही नहीं बने रहना चाहते।

इस स्थिति में पड़ कर प्रगतिवाद का विरोध करके 'नूतन रहस्यवाद' की ओर अग्रसर होना कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध अभिजात वर्ग की कल्पना करना, और यदि कलाकार साधन हीन होने के कारण उपजीवी नहीं बन सकता तो 'जान के लिए' ऐसे पत्र जगत या राजनीति में प्रविष्ट होकर अपधर्म की अवसरवादिता स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एक अंश बेचने के लिए प्रोत्साहित करना, यह सब अज्ञेय के लिए स्वाभाविक हो जाता है। 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति' कलाकार को सामाजिक प्राणी के अधिकारों से वंचित रखती है, और वह केवल उपजीवी या अवसरवादी ही हो सकता है। एक कलाकार के रूप में उसे जीने का अधिकार है, और यदि इस अधिकार का अपहरण किया जा चुका है या किया जा रहा है तो उसे प्राप्त करने के लिए लड़ना उसका कर्तव्य है, अज्ञेय की विचारधारा इस कठोर सत्य की शिक्षा से टक्कर नहीं लेना चाहती। वे पौराणिक 'त्रिशंकु' ही बने रहना चाहते हैं, और कलाकार और समाज के बीच किसी सक्रिय सामंजस्य का अनुमान नहीं कर पाते।

उनकी विचारशैली यह है कि पहले वे किसी पाश्चात्य लेखक से ली गयी उक्ति का एक सूत्र के रूप में उपस्थित करते हैं, फिर उसकी मनगढ़न्त व्याख्या जोड़ते हैं। उनका यह अनुमान है कि उनके ये सूत्र पाठकों को 'चौंका' करके सतर्क बना देते हैं। कदाचित् अपने विलक्षण और अभूतपूर्व चमत्कार के कारण। यह बात सच न हो, परन्तु उनका यह दिखाऊ भय वस्तुतः सच है कि उनकी स्थापनाओं में 'अटकलबाज़' दब रहता है। यदि ऐसा नहीं है तो इस विनयशील उपक्रम की क्या आत्मश्लाघा की ही प्रच्छन्न व्यंजना नहीं कहेंगे ?

अज्ञेय और उनकी विचारधारा के आलोचक हिन्दी में 'क्षुद्र अथवा कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' (Vulgar Psychology) का प्रतिपादन कर रहे हैं। 'क्षुद्र या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' से मेरा तात्पर्य उस प्रवृत्ति से है जो मनोविज्ञान की मान्यताओं को साहित्य पर ज्यों का त्यों घटित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि इससे साहित्य का मूल्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के दृष्टान्त रूप में ही अवशेष रह जाता है। और साहित्य या कला अपनी मानव मूल्य निरूपणी क्षमता खो देता है। अज्ञेय के अनुसार जिस 'मन' से साहित्य उद्भूत होता है उसकी धातु [Quality] की 'परख' करना आलोचक का प्रमुख कर्तव्य है। परन्तु यह कार्य एक मनोवैज्ञानिक का है आलोचक का नहीं। आलोचक अधिक से अधिक कला की 'सृजनात्मक प्रक्रिया' [Creative Process] का अध्ययन निर्धारण करता है, और यह कार्य कोरा मनोवैज्ञानिक नहीं है।

इलाचन्द्र जोशी इस 'क्षुद्र या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' को पराकाष्ठा तक पहुँचाने में कटिबद्ध दीखते हैं। उनके सारे उपन्यासों में, विशेषकर 'प्रेत और छाया' में इस प्रवृत्ति की अश्लील झाँकी देखने को मिलती है। इलाचन्द्र जोशी में अज्ञेय के समान एक सुसंस्कृत कला-मर्मज्ञ का आत्म-संयम और परिष्कार नहीं है। अब. वे प्रगतिवाद के विरुद्ध

जिस उतावलेपन के साथ अपने 'अन्तर्प्रगतिवाद' (?) का प्रचार कर रहे हैं वह साहित्य में मन विश्लेषकों द्वारा सिद्ध 'अवचेतन' मन में स्थित काम और हिंसा सम्बन्धी पशु प्रवृत्तियों की नग्न और अनियंत्रित अभिव्यंजना के आग्रह के अतिरिक्त और कोई सौन्दर्य मूल्य (!!) नहीं रखता।

क्रमशः

नोट—साहित्य की परख की कसौटियाँ भिन्न भिन्न हैं। लेखक ने अपनी कसौटी का संक्षिप्त परिचय देकर दो प्रमुख स्कूलों के प्रतिनिधि आलोचकों अर्थात् आचार्य शुक्लजी तथा श्री अज्ञेयजी की समीक्षा की है। लेखक के ही शब्दों में उनका दृष्टिकोण इस प्रकार है—'अत: आज कला या साहित्य के समीक्षक का दायित्व बहुत बढ़ गया है, प्रश्न केवल संस्कृति की रक्षा का ही नहीं बल्कि प्रश्न नई संस्कृति के निर्माण का भी है। भौतिक उन्नति या यन्त्र साधनों के विकास को मनुष्य या मनुष्यत्व के प्रतिपक्षी के रूप में देखना मनुष्य के अब तक के कृतित्व, उसके रक्त स्वेद बहाकर उसकी अर्जित सफलताओं को नकारना है क्योंकि मनुष्य की भौतिक (वैज्ञानिक) उन्नति को मिटाकर संस्कृति की रक्षा या उसके निर्माण का प्रश्न हल नहीं हो सकता।' इस भौतिक उन्नति में विस्फोटकों और कम से कम एटम बम्ब को (चाहे एटॉमिक इनर्जी को न करते) अपवाद कर देते तो अच्छा होता। हम को हर्ष है कि लेखक ने सौन्दर्य के मूल्यों का भी उल्लेख किया है (चाहे एटम बम्ब की भौतिक उन्नति के साथ उनका समन्वय हो सके।) 'कला समीक्षा का कार्यक्षेत्र अब 'नीर क्षीर विवेचन' नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करनी है उसके सौन्दर्य मूल्यों का निरूपण करना है। और कला और साहित्य इन विषयों की ऐसी शिक्षण नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनके व्यक्त मानव मूल्य अनुभाव्य बन सकें, जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र-समाज के निर्माण संघर्ष में स्वयं को भी युक्त कर सके अर्थात् स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। हम यह चाहेंगे कि चौहानजी साम्यवादी समाज में रुचि और स्वभाव के वैचित्र्य के साथ व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की सम्भावना और बिना मानव मूल्यों के मानदण्ड को कुछ नीचा किये प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनको अनुभाव्य बनाने के व्यावहारिक पक्ष पर भी प्रकाश डाल दें। आदर्श बहुत अच्छा है।

यद्यपि मैं शुक्लजी के साहित्य और कला के विच्छेद के पक्ष में नहीं हूँ। (मैंने तो अपने सिद्धान्त और अध्ययन में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भारत में भी इनका विच्छेद नहीं रहा है) और यह भी मान सकता हूँ कि उनका लोक-मङ्गल का बोध वर्णभेद पर अवलम्बित होने से कुछ संकुचित था (वर्णभेद के प्रतिपादन में उनका असली मतलब यह था कि समाज में वैयक्तिक विलक्षणता नहीं चल सकती है), फिर भी यह मुक्तकण्ठ से मानना पड़ेगा कि इस युग में वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कोरे शाब्दिक चमत्कार और छायावाद के वायवी सौन्दर्य के खिलाफ आवाज उठाकर प्रगतिवाद के लिए रास्ता साफ किया। और मूल्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया। अज्ञेयजी की सफाई वे खुद देदें तो अच्छा होगा। हमको इस लेख के आगे के अंश में प्रगतिवाद की कसौटी का प्रामाणिक रूप मालूम हो सकेगा इसलिए इस लेख का हम हृदय से स्वागत करते हैं।

—सम्पादक

हिन्दी के क्रियापदों का मूल

[लेखक—श्री सत्येन्द्र]

[भाषा में संज्ञाएँ तो दूसरी भाषाओं से भी आ सकती हैं। हिन्दी में तो संस्कृत की बहुत-सी संज्ञाएँ अपने तत्समरूप में व्यवहृत होती हैं। क्रियाएँ भाषा की निजी सम्पत्ति होती हैं। इस दृष्टि से क्रियाओं का विशेष महत्व है लेखक ने दिखलाया है कि हिन्दी की क्रियाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के मूलस्रोतों से आकर किस प्रकार हिन्दी की सम्पत्ति बनीं। —सम्पादक]

किसी भाषा का भेद उसके व्याकरण पर आश्रित होता है और व्याकरण में सबसे अधिक प्राधान्य क्रियाओं का है। वही विधान करता है—उसी की विशेषता भाषा की विशेषता है : Grierson महोदय लिखते हैं—

The differentiation of a language does not necessarily depend on non-inter communicability with another form of speech There are also other powerful factors to be considered, if we are to look at the subject from a scientific point of view First and foremost, there is what I have already referred to,—grammatical structure

इसी दृष्टि से किसी भाषा की विशेषता समझने के लिए हमें उसकी क्रियाओं का अध्ययन करना आवश्यक है

हिन्दी में, विशेषत पुरानी हिन्दी में, क्रियाओं के कुछ ऐसे रूप मिलते हैं जो उसने अपनी जननी से पाये हैं, इसके अतिरिक्त उसने कुछ अपने रूप भी बना रक्खे हैं। हम पहले क्रिया के उन रूपों पर विचार करेंगे जो उसने प्राकृत अथवा अपभ्रंश से लेकर उन्हें उसी प्रकार, केवल ध्वन्यात्मक परिवर्तन करके, अपना बनाये रखा है।

वर्तमान काल—

प्राकृत में जो वर्तमान काल था वह हिन्दी में Potential अर्थवाला होगया है, वर्तमान काल की अभिव्यक्ति के लिए तो substantive verb के रूप का पुराने के साथ जोड़ना पड़ता है जैसे, 'मैं करौं हौं'।

अब हिन्दी में वर्तमान काल के रूप निम्न प्रकार हैं :

मैं करूं	हम करें
तू करे	तुम करो
वह करे	वे करें

इनमें मध्यम और प्रथम (अन्य) पुरुष के रूप सीधे अपभ्रंश से आये हैं। यहाँ

म० ए० व०—करहि	म० ब० व०—करहु
अ० ए० व०—करहि	अ० ब० व०—करहिं

होता है। 'ह' के लोप हो जाने से करइ, -उ, -इ, -इं रह जाते हैं जिनके समीकरण द्वारा करे, करो, करे, करें रूप बन जाते हैं। उत्तम पुरुष एक वचन का करूं अपभ्रंश के 'करउं' से आया है। पर इसके बहुवचन 'करें' 'एँ' सीधा अपभ्रंश से नहीं आया। भाण्डारकर कहते हैं :

The एँ of the Hindi 1st per pl is brought over from the 3rd person and this transference was facilitated by the nasal of the original termination; or since in the Ap both मि and उं exist, when in a later stage of the language the latter was appropriated and fixed for the sing, the former was adopted for the pl. and changed to इं which became एँ by amalgamation

फिर भी पुराने अपभ्रंश का 'वर्तमान काल' पुराने हिन्दी कवियों में मिलता है यथा :

अन्य० एक०—

संभु गिरा पुनि मृषा न होई। शिव सर्वज्ञ जान सब कोई
होई = है, जान = जानता है।

निशिचर एक सिंधु महँ रहई। करि माया नभ के खग गहई
रहई = रहता है; गहई = पकड़ता है।

अन्य० बहु०—

संत हंस गुण गहहिं पै परिहरि बारि विकार।

गहहिं = ग्रहण करते हैं।

नारद सिख जु सुनहिं नरनारी। अवसि भवन तजि होहिं भिखारी

सुनहिं = सुनते हैं, होहिं = हो जाते हैं।

मध्यम० बहु०—

करहु कवन कारण तप भारी

करहु = करते हो।

उत्तम पु० एक०—

नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसो भवन उजरो नहि डरऊँ

परिहरऊँ = छोड़ती हूँ, डरऊँ = डरती हूँ।

उत्तम पु० बहु०—

तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम की कथा सहाई॥

कहहुँ = कहता हूँ।

पुराना मध्यम पुरुष एक वचन का 'सि' वाला रूप भी मिलता है.

भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराइ।

हरष समय विसमय करसि कारन मोहि सुनाइ॥

करसि = करती है।

'सि' से अन्त होने वाले मध्यम पुरुष एक वचन का तुलसीदासजी ने बहुत प्रयोग किया है।

पुरानी हिन्दी में आत्मनेपद भी मिलते हैं:

देखै जहँ तहँ रघुपति

देखै = sees

जो अब करौं सती सन प्रीती।

मिटै भक्तिपथ होइ अनीती॥

मिटै = मिटता है।

चलै बनइ चढ़ि

चलै = goes

'विधि' 'Imperative mood'

हिन्दी में एक वचन की विधि 'कर' है और बहु वचन की 'करो' जो कि अपभ्रंश के 'करहु' से उद्भूत है। यद्यपि पुरानी हिन्दी में तो उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के विधि के रूप भी मिलते हैं जो नीचेके कुछ उदाहरणों से विदित हो जायेंगे, फिर भी आधुनिक हिन्दी में केवल मध्यम पुरुष की 'विधि' रह गई है।

मध्यम पुरुष एक वचन पुरानी हिन्दी का रूप:

प्रभु हनुमन्तहि कहा बुझाई

धरि बटुरूप अवधपुर जाई

विधि—जाइ यह 'इ' अपभ्रंश से आई है।

मध्यम पुरुष बहुवचन —

पारबती पहँ जाइ तुम प्रेम परीक्षा लेहु।

विधि—लेहु

प्रथम पुरुष एकवचन 'औ' अथवा 'औ' से समाप्त होता है:

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ

हरौ

करौ अनुग्रह सोइ

करौ

प्रथम पुरुष बहुवचन के रूप में 'हु' होता है: यह रूप हेम चन्द्र के दिए हुए अपभ्रंश के उदाहरणों में भी मिलता है। इसमें 'ह' केवल एक वचन से भेद समझाने के लिए रखा गया है:

चरण कमल बन्दौ सब केरे

पुरवहु सकल मनोरथ मेरे

उत्तम पुरुष एक० की विधि में और वर्तमान काल में कोई अन्तर नहीं, अत उनका भेद करना कठिन ही है, नीचे का विन्यास कुछ कुछ उत्तमपुरुष की 'विधि' क्रिया का प्रयोग बतलाता है:

चली सती शिव आयसु पाई

करहि विचार करौं का भाई।

हिन्दी में मध्यपुरुष का विधि का एक और भी रूप है। यह ई कारान्त और ऊ कारान्त धातुओं में 'जे' और 'जो' के साथ तथा अन्य में इये और इयो के साथ मिलते हैं

'जे', 'जो', 'इये' और 'इयो' वाले आज्ञा और विधि के रूप की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भण्डारकर लिखते हैं:

(a) These forms have been traced by Dr Trump to the Pr. base in इज्ज used in the Present Imperative and Future,

(b) by Lassen from the Present and

(c) by me from the Potential., and

so far as the form in the S and G is concerned there is used no objection But these forms are used in the vernaculars when respect for the person spoken to is intended and the potential as distinguished from the Imperative is by no means more respectful in Skr The H forms are not assigned each to each number, but both of them are used in the sing or pl and its 'य' can by no means be derived from 'ज', for though the contrary process, namely, the changing of य to ज is common there is, so far as I am aware no single well established instance of the other

अन्तत वह इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि . .

the most respectful construction is the Passive as it does not point to the agent at all, but to the thing done by him Thus the ज in these forms is from the 'य' of the passive and the Hindi ईय form ईअ, which is the other corruption of this termination in Prakrit

फिर

The agent may, if the forms are passive, be any person and any number since it does not agree with the verb and this explains the Hindi usage

इस इज्ज, इज्जा के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

"खड़ी बोली में कीजिए, दीजिए, करिए, धरिए आदि रूप आज्ञा और विधि के हैं। इज्ज और इज्ज प्रकृत में भी मिलते हैं, जैसे—प्रा॰ पढिज्जइ पढीयहि = हिं॰ पढ़ीजै, पढ़िये। व्रजभाषा में आज्ञा और विधि के अतिरिक्त वर्तमान और भविष्यत में भी चाहे कोई पुरुष हो इनका प्रयोग मिलता है। यह इज्ज इस प्रकार में भी थो। हेमचन्द्र ने (३–१७८) 'हो' धातु तथा और धातुओं में भी सब कालों के लिए इन रूपों का प्रयोग लिखा है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(क)—पुंज कुंजर शुभ्र स्यन्दन,
सोभिजै सुठि सूर। —केशव

(ख)—रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस,
बिसास में यों विष घोरिये जू।
—घनानन्द

(ग)—जो कछु है सुख सम्पति सौंज सो,
नैसुक ही हँसि देन में पैये।
—घनानन्द

'ए' निकाल कर और वर्तमान का चिन्ह 'त' लगा कर भी इसका प्रयोग हुआ है—

कहा चतुराई ठानियत प्राणप्यारी,
तेरो मान जानियत रूखे मुँह मुसकान सों।
—मतिराम

उत्तम पुरुष के साथ सामान्य भविष्यत काल का उदाहरण—

(क)—ज्ञान सिखावत कहा लै कीजै ? —सूर

(ख)—नेकु निहारे कलंक लगै,
यहि गाँव बसे कहु कैसक जीजै।
है घनमाल हिये लगिये,
अरु है मुरली अधरारस पीजै॥
—मतिराम

इस प्रकार शुक्लजी का मत लासें (Lassen) महोदय के मत से मिलता है, जिन्होंने Present, Imperative and Future में प्रयोग में आने वाले 'इज्ज' से हिन्दी की इए, इआ और जे, जो की व्युत्पत्ति मानी है। वास्तव में यह सन्तोषप्रद नहीं। कारण कि 'ज' का 'य' हो जाना ध्वन्यात्मक विकार के किसी भी नियम के अनुकूल नहीं।

भविष्यतकाल (The Future)—

व्रजभाषा में भविष्यतकाल के ये रूप हैं—

	एकवचन	बहुवचन
उ॰ पु॰	करिहौं	करिहैं
म॰ पु॰	करिहै	करिहो
अ॰ पु॰	करिहै	करिहैं

ये रूप वस्तव में प्राकृत से आये हैं।

प्राकृत में संस्कृत का स्य 'स्स' हो जाता है वह 'स' शौरसेनी में होकर ब्रज में 'ह' रह जाता है। प्राकृत में भविष्यतकाल के रूप ये हैं—

१ पुच्छिस्सम (अ० मा०—पुच्छिस्सामि)—पुच्छिस्सामो
२ पुच्छिस्ससि (म०, अ० मा०—पुच्छिहिसि —पुच्छिस्सध (म० पुच्छिस्सह)
३ पुच्छिस्सदि (म० पुच्छिस्सई या पुच्छिहिइ)—पुच्छिस्सन्ति (अ० मा० पुच्छिहिन्ति)

अब हिन्दी में पूछना क्रिया के भविष्यत रूप—

पूछौं	पूछिहैं
पूछिहै	पूछिहौ
पूछहै	पूछिहैं

होंगे।

ये रूप स्यह रूप से 'ह' बन कर हुए हैं। भाण्डारकर कहते हैं—From the Skr. downward the terminations of the present in each of the languages are appended, as formerly observed to this tense. अपभ्रंश में वर्तमान पुरुष के भविष्यत के रूप इसके अनुकूल नहीं होते परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं।

Here in the 1st pre. sing. we have the औं of pres. Braj as in करौं, unlike G. and in conformity with the ancient practice...... also observe that the old augment 'इ' is preserved. यह रूप प्राकृत से "ह" वाले रूपों से सीधे नहीं आये क्योंकि वहाँ 'ह' के स्थान पर 'हि' है, जो ऊपर के प्राकृत अवतरण से स्पष्ट हो सकता है। यह तो अपभ्रंश में 'स' हो जाने पर 'ह' हुआ है।

इस पुराने भविष्य के रूप तुलसीदासजी की रामायण में मिलते हैं।

अन्य पु० एक व० परवशो जिन निमंतम मोह करिहहि बददन

करिहहि=करेंगे।

अ० पु० ब० सुमिरिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।
सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।

म० पु० ब० हंसिहहु सुनि हमारि जड़ताई।

उपरोक्त उदाहरणों में तो अपभ्रंश वर्तमान का प्रत्यय लगाया गया है। यहाँ प्रा० का रूप ही है:—

उ० पु० ब० तर तत बदन पैठिहौं आई।
पैठिहौं—बैठूंगा, घुसूंगा।

अ० पु० ब० समकृत सेतु जो दरशन करिहैं।
करिहैं=करेंगे।

Mr Beams ने भविष्यत का यह रूप संस्कृत के चलितासि मि आदि के periphrastic future से माना है। परन्तु यह ठीक नहीं, इसके दो कारण हैं।

१—यह Periphrastic Future संस्कृत में बहुत कम काम में आता है और पाली भी इसकी बिल्कुल अवहेलना करती है।

२—यदि भविष्यत Periphrastic Future उत्पन्न हुए होते तो अन्यपुरुष के लिए चलिया—चलिया तथा चलियार रूप होने चाहिए। परन्तु तुलसीदास में पुराना रूप 'चलिहहिं' है।

अतः Beams की अनुमति ठीक नहीं।

भूतकाल—

सभी देशी भाषाओं में भूतकाल की अभिव्यक्ति भूत कृदन्त से होती है। यही दशा प्राकृत की भी है। उसमें भी संस्कृत की भूतकालिक क्रियाएँ लुप्त होचुकी थीं, दो एक भाव उदाहरण मिल गया तो क्या हुआ।

पुरानी भाषाओं में यह भूत कृदन्त सकर्मक क्रिया होने की दशाओं में "कर्मणि प्रयोग" से काम आता था और जब क्रिया अकर्मक होती थी तब 'कर्त्तरि' की तरह प्रयोग किया जाता था। आजकल की देशी भाषाओं में यही नियम काम में आता दिखाई पड़ता है। उनमें भूत काल में एक प्रकार की सकर्मक क्रियाओं की दशा में कभी कर्त्तरि प्रयोग होता ही नहीं, कर्मणि ही होता है और 'कर्त्ता' करण कारक का चिन्ह ले कर बैठा है। यथा—

'लेखक ने पोथी पढ़ी'—

हिन्दी के भूत कृदन्त 'अ'-कारान्त होते हैं और यह प्राकृत के अनुकूल ही है। गत Skr. > pr. गम। यही गय होजाता है और "क" से सम्वर्द्धित होकर 'गदा' हो जाता है। इसी सम्वर्द्धक 'क' के रूप आ० को जोड़ देने से हिन्दी के अधिकांश भूत कृदन्त बनते हैं जैसे लिखा, पढ़ा और जब क्रिया स्वरान्त होती है तो आ का सम्बन्ध 'य' से होता है। यथा दिया, पिया,

मराठी में भूतकाल के लिए ला-ली-लें' कारान्त क्रियाओं का प्रयोग होता है। यह 'ल' पूर्व की ओर की ग्राम्य भाषा में मिलता है। कबीरदास आदि में इनका कुछ प्रयोग मिलता है।

तब ब्रह्मा पूछल महतारी।
१ बहु जुग भगतन बांधल बाटी
समुझि न परै मोटरी फाटी॥

संस्कृत में बहुत सी धातुओं का भूत कृदन्त 'त' के स्थान पर 'न' जोड़कर बनता था। हिन्दी में इसी के अनुकूल बने हुए रूप तुलसी, कबीर, चन्द आदि में मिलते हैं, वे रूप ये हैं कीन्ह, लीन्ह, चीन्ह, दीन्ह।

नानाविधि मुनि पूजा कीन्ही।
अस्तुति करि पुनि आशिष दीन्ही॥

वर्तमान कालिक कृदन्त—

वर्तमान कालिक कृदन्तों का हिन्दी रूप प्राकृत का ही है परन्तु उसका 'न' उड़ गया है : यथा

प्राकृत का रूप 'पुच्छन्तो' हिन्दी में होगया 'पूछता'

Absolutive पूर्वकालिक—

गुजराती में पूर्वकालिक में संस्कृत 'य' से उत्पन्न 'इ' धातु में लगाकर पूर्वकालिक कृदन्त बनता है। परन्तु हिन्दी में इस "इ" का लोप होगया है, केवल धातु ही पूर्वकालिक क्रिया का काम दे जाती है यथा बोल, जा

'उसने उसे बोल कहा कि तुम आओ'

'वहाँ जा श्री राम ने सुग्रीव को मित्र बनाया'—परन्तु पूर्व काल के भाव की अभिव्यक्ति केवल धातु से कभी कभी स्पष्टता पूर्वक नहीं होती इस कारण उसके साथ 'के' अथवा 'कर' और लगा देते हैं। बोल के, बोलकर।

यह 'के' अथवा 'कर' के भी वास्तव में पूर्वकालिक रूप हैं। जो 'बोल' है वही 'कर' है। ऐसा हुआ करता है कि भाषा का एक शब्द जब अपने भाव को प्रकट करने में असमर्थ होता है तो उसी तरह का दूसरा जोड़ दिया जाता है। पूर्व कालिक क्रिया के रूप इसी नियम के अनुकूल हैं। कभी कभी तो उसी एक धातु को दुहरा देने में ही पूर्वकालिक क्रिया बन जाती है। यह उस बोल बोल वहां से चला गया।

पुरानी हिन्दी में, फिर भी, यह 'इ' स्पष्ट मिलती है। उसका पूर्वकाल सदा इ कारान्त ही होता है यथा—करि, मारि, इसमें 'कै' जोड़ देने पर भी इ कार बना रहता है, घटि कै, करि कै आदि।

Potential participle

Potential participle जो संस्कृत 'तव्य' से प्राकृत में 'अव्व' होकर अधुनिक भाषाओं में आता है प्रचलित हिन्दी में नहीं मिलता। हां, ब्रज भाषा में अवश्य मिलता है यथा, 'करवौ'।

हिन्दी की क्रियार्थक संज्ञा 'करना'* से, संस्कृत के verbal noun जो 'अन' से अन्त होते हैं, निकल हुआ नया रूप प्रतीत होता है।

हिन्दी में तो प्राकृत के कर्मणि धातु मिलते नहीं, पुरानी हिन्दी में फिर भी कुछ एक उदाहरण पाये जाते हैं। प्राकृत में कर्मणि 'ईअ' और 'इज्ज' से बनता है। तुलसी और बिहारी के एक दो उदाहरणों में यह रूप मिलता है :

महिमा जासु जान गनराऊ
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ —तु०

*इस सम्बन्ध में Bopp लिखते हैं, The Hindustani infinitive also has dropped the first vowel of the Sanscrit suffix ana; and on the other hand lengthened the final a in case we are not to suppose that it is derived from the feminine form of the suffix 'अन' ana, which is used in Sanscrit for the formation of abstract substantives much more rarely than the

चहियत युगलकिशोर लखि, लोचन युगल अनेक—बिहारी

आधुनिक हिन्दी में 'चाहिये' भी इसी प्राकृत इंज' का उदाहरण है।

Causal प्रेरणार्थक

प्राकृत में प्रेरणार्थक के लिए तीन रूपों में से एक आव अथवा अव लगाकर बनती है। हिन्दी के द्वितीय प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप भी इसी 'आव' से युक्त होकर बनते हैं

यथा— उठ-ना से उठवाना
चल-ना से चलवाना और

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरानी ब्रजभाषा में और हिन्दी में बहुत से पुराने प्राकृत के व्याकरण के रूप मिलते हैं

अपभ्रंश के वर्तमान के रूप ज्यों के त्यों हैं।

इसी से और वर्तमानकाल के रूप निकले हैं।

अपभ्रंश का भविष्यत भी मिलता है। यद्यपि 'स' 'ह' हो जाता है।

अब हम हिन्दी के उन क्रियारूपों पर विचार करेंगे जो उसने अपने लिए नए बना लिए हैं। हिन्दी में काल की अभिव्यक्ति के लिए कृदन्तों के साथ है था अथवा गा का प्रयोग होता है। यह सर्वथा प्राकृत अथवा संस्कृत के अनुकूल नहीं। यह उनका नया रूप है। अब यह है, था, और गा कहाँ से आये इस पर श्यामसुन्दरदासजी ने विचार किया है और वह पर्याप्त है ('हिन्दी भाषा और साहित्य') उनके अनुसार 'है' 'भू' अथवा 'अस्' से, 'था' स्था' से है, अस् धातु के 'स्थ' रूप से, नहीं है।

गा गम् के कृदन्त गत से प्राकृत में घोष गअ होकर तब 'गा' हुआ है।

neuter The following are the examples आसना, "the sitting," याचना yachna, "the request," वन्दना Vandana, "the praising"

It does not, however appear probable to me that the Hindustani infinitives are based on these feminine abstracts, but I regard their a as the lengthening of the Sanscrit short a which in general, in Hindustani, when final, is either entirely suppressed or lengthened, the latter, among other words, in the names of male animals, while those of females terminates in ई... as the Hindustani has lost its neuter, the Sanscrit neuter which in their theme are not to be distinguished from masculine bases, have in the said language become masculines, and therefore unhesitatingly compare the Hindustani infinitives in ना with the Sanscrit abstracts in ana, thus, e g , jvalana' 'to burn" Sanscrit jvalanam "the burning" or rather = ज्वलनम् as the Sanscrit neuters in the Hindustani have become masculines The oblique case in e ए of the Hindustani infinitive 'points to a Sanscrit base in a, in which we easily recognise the sansk-locative of bases in a, therefore, e g in jolne जलने "to burn" we perceive the Sanscrit ज्वलने' in the burning."

हिन्दी में हास्य-रस क्यों कम है ?

[नगेन्द्र]

नगेन्द्र —आइए प्रो० साहब नमस्ते !

प्रो०:—नमस्ते, नगेन्द्रजी ! कहिये क्या होरहा है ?

नगेन्द्र —कुछ नहीं—हास्य पर फ्रांसीसी लेखक बर्गसाँ की यह पुस्तक पढ़ रहा था। इन फ्रांसीसी लेखकों की दृष्टि कितनी पैनी और साफ होती है। मैं समझता हूँ साहित्यिक हास्य का इतना निर्मल विवेचन और किसी दार्शनिक या आलोचक ने नहीं किया।

प्रो० —वास्तव में फ्रांस का आलोचना-साहित्य अत्यंत समृद्ध है। अच्छा क्या कहते हैं आपके बर्गसाँ ?

नगेन्द्र —बर्गसाँ ने हास्य को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने 'हम क्यों हँसते हैं ?' इसी प्रश्न को हल करने की चेष्टा करते हुए हास्य की परिस्थिति और प्रकृति का विश्लेषण किया है। उनके कुछ निष्कर्ष अत्यंत रोचक और सटीक हैं—उदाहरण के लिए (१) हास्य सर्वथा मानवीय वृत्ति है—मानव जीवन से बाहर उसकी गति नहीं है (२) हास्य के लिए भावुकता और उद्वेग का सर्वथा अभाव अनिवार्य है—हास्य और भावुकता एक दूसरे के शत्रु हैं। (३) हास्य एक सामाजिक वृत्ति है—किसी प्रकार की भी असमाजक कठोरता हास्य को जन्म देसकती है। इत्यादि। इस विवेचन के फल-स्वरूप वास्तव में बर्गसाँ भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिस पर विदेश के अन्य आलोचक पहुँचे हैं।

प्रो० —अर्थात्

नगेन्द्र —अर्थात् कि हास्य की मूलात्मा असंगति है।

प्रो०—यह तो हमारे आचार्यों का भी मत है। उनके अनुसार विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार वे विकृति को हास्य का मूल तत्व मानते हैं। और यह विकृति आपकी असंगति ही तो है। वेश, आकार आदि की हमारे मन में जो धारणा बनी हुई हैं उसमें और किसी व्यक्ति या वस्तु के वेश, आकार आदि में असंगति देखकर हमारे मन में गुदगुदी पैदा हो जाती है। यही बात वाणी, व्यवहार आदि सूक्ष्मतर वस्तुओं के लिए भी कही जा सकती है।

नगेन्द्र —हाँ, खींचतान कर बात तो ठीक बैठ ही जाती है। पर प्रोफेसर साहब हमारे यहाँ हास्य का कितना अभाव है। विशेष कर हिन्दी में तो उसका घोर दुष्काल है। मैं प्रायः सोचता हूँ कि इसका कारण क्या है ? हमारा साहित्य कितना प्राचीन है—उसके प्रायः अन्य सभी अंग काफी समृद्ध हैं—परन्तु हास्य तो एक है ही बहुत कम, और जो है भी वह बड़ा स्थूल है।

प्रो० —नगेन्द्र जी, कुछ तो लोगों का प्रोपेगैण्डा भी है—हिन्दी का सभी हास्य स्थूल नहीं है। उदाहरण के लिए सूर में जितना सूक्ष्म हास्य मिलता है, उतना आपके अच्छे अच्छे हास्य लेखकों में नहीं मिलेगा। फिर इसमें सन्देह नहीं कि हमारे यहाँ उत्कृष्ट हास्य का अत्यन्त अभाव है। पुराने कवि पुरस्कार दाताओं की कृपणता आदि का मज़ाक उड़ाकर—या फिर हास्य रस के उदाहरण-स्वरूप कुछ निर्जीव छंद लिख कर अपना कर्तव्य पूरा कर बैठे हैं—नए लेखक प्रायः हिन्दी में हास्य रस की कमी को पूरा करने के लिए लिखने बैठते हैं, और जो मोटा मज़ाक वे अपने नित्य प्रति के जीवन में करते हैं उसी का साहित्य में समावेश कर देते हैं।

नगेन्द्र —बात तो आपकी ठीक है—वास्तव में जो थोड़ा बहुत हास्य हमारे यहाँ है भी वह अत्यंत कृत्रिम है—स्वस्थ जीवन का सहज प्रोद्भास न होकर ऐसा मालूम पड़ता है कि वह दूसरों के हँसाने के उद्देश्य से लिखा गया है। योरोप में व्यंग्य, (satire), वक्रोक्ति (irony), विदग्धता (wit), और हास्य (humour) चारों में सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट अन्तर माना गया है,—हास्य शेष तीनों से अपनी निर्मलता के कारण पृथक है। व्यंग्य सदा सोद्देश्य होता है—'उपहास के द्वारा ताड़ना' उसका अभिप्राय होता है। वक्रोक्ति में चुभने वाली

कटुता होती है विदग्धता बुद्धि के चमत्कार पर आश्रित रहती है—परन्तु हास्य स्वस्थ मन का सहज उच्छलन होता है—द्वेष, कटुता आदि से पूर्णतः मुक्त। हिन्दी में इन चारों को उलझा दिया गया है—हास्य के अन्तर्गत ये सभी खप जाते हैं। वैसे हिन्दी में हास्य के नाम पर प्रायः व्यंग्य ही अधिक चलता है; हँसने का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की सुधार भावना लिए रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म चेता लेखकों ने वक्रोक्ति (irony) का भी सुन्दर प्रयोग किया है। परन्तु जिसे हास्य, निर्मल और शुद्ध, कहा गया है उसके तो शायद दो चार उदाहरण ही ढूंढने को मिलें। —मैं प्रायः सोचा करता हूं कि हास्य का यह दुर्भाग्य क्यों है—आखिर इसका कारण क्या है?

प्रो॰ —कारण स्पष्ट है। हिन्दी को जो साहित्यिक परम्पराएँ मिली हैं, उनमें ही हास्य का दैन्य रहा है। हिन्दी ने प्रायः अपनी सभी साहित्यिक परम्पराएँ संस्कृत से प्राप्त की हैं—और संस्कृत में स्वस्थ हास्य का अभाव है। लेकिन साहित्य शास्त्र में हास्य को हीनतर रसों में माना है: शृंगार, करुण, वीर और शान्त को जो महत्त्व मिला है, उसका एक अंश भी हास्य को नहीं मिला। रचनात्मक साहित्य में भी हास्य का अत्यन्त अभाव है—गम्भीर कवियों ने तो उसका स्पर्श ही नहीं किया, और जिन्होंने किया भी है उनका हास्य सर्वथा रूढ़ और स्थूल है। कालिदास जैसे परिष्कृत रुचि और सूक्ष्म चेता कवि का हास्य भी इसी कोटि का है। शाकुन्तलम् जैसे नाटक विदूषक भी भोजन अथवा मोदक आदि की बातें बढ़ कर हँसने हँसाने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भिक नाटकों में तब भी हास्य का थोड़ा बहुत स्पर्श था—बाद में वह भी लुप्त होगया। संस्कृत के उत्तरकाल में आकर अलंकार की जकड़बन्दी और शृंगार के नग्न नृत्य के बीच इस देश के अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व और रस भी तिरोहित होगए—हास्य तो पहले से ही उपेक्षित था। साहित्य के विकास का प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही क्रम रहा। हिन्दी साहित्य का विकास सीधा इसी परम्परा से हुआ—अतएव उसमें हास्य का प्रायः अभाव रहा।

नगेन्द्र—लेकिन संस्कृत में भी हास्य का ऐसा अभाव क्यों है—इसका भी तो कारण होना चाहिए। आपके कहने का शायद तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य-परम्पराएँ हास्य के अनुकूल नहीं हैं। पर क्यों?

प्रो॰ —प्रत्येक देश और जाति की अपनी प्रकृति और प्रतिभा होती है—भारतीय प्रकृति और प्रतिभा स्वभाव से गम्भीर है।

नगेन्द्र —नहीं साहब, यह भी स्वयं कार्य है, कारण नहीं है। कारण ढूंढने के लिए हमें भारतीय जीवन दर्शन का विश्लेषण करना पड़ेगा। भारतीय दृष्टि सदैव भेद में अभेद देखती रही है—द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य रहा है। यों तो समय-समय पर यहाँ अनेक दर्शनों की सृष्टि हुई है जो एक दूसरे के विरोधी रहे हैं, फिर भी गहरे में जाकर देखने से अद्वैत भावना प्रायः सभी में मूल रूप से अनुस्यूत मिलती है। वास्तव में अनेकता में एकता की प्रतीति—भेद में अभेद की प्रतीति के बिना पूर्ण आस्तिकता की स्थिति सम्भव नहीं है। परन्तु आप देखें कि यह जीवन-दृष्टि हास्य के एकान्त प्रतिकूल पड़ती है। हास्य के लिए भेद की प्रतीति अनिवार्य है। अभी मैंने पाश्चात्य आचार्यों का उल्लेख करते हुए कहा था कि वे प्रायः सभी असंगति को हास्य की आत्मा मानते हैं। और अपने संस्कृत आचार्यों का मत देते हुए 'विकृति' को हास्य का मूल तत्त्व माना है। ये दोनों ही भेद की अपेक्षा करते हैं। असंगति के लिए औचित्य और अनौचित्य का भेद अनिवार्य है और विकृति के लिए कृति और उसके विकार का। कहने का तात्पर्य यह है कि हास्य की उद्बुद्धि के लिए असंगति अथवा भेद की सूक्ष्म और तीव्र चेतना अनिवार्य है, और चूँकि भारतीय प्रतिभा अपने दार्शनिक संस्कारों के कारण अभेद द्रष्टा रही है। इसलिए वह हास्य के अधिक अनुकूल नहीं पड़ी।

प्रो॰ —हाँ, भारतीय जीवनदृष्टि सदा से ही गंभीर रही है, हास्य उसके अनुकूल कम ही पड़ता है।

नगेन्द्र —हमारे यहाँ मानव जीवन की दो मौलिक वृत्तियाँ मानी गई हैं राग और द्वेष। उन्हीं के अनुसार हमारे साहित्य में शृंगार और करुण को महत्त्व मिला है। भारतीय मन या तो पूर्ण रूप से रागी रहा है और या फिर

एकदम वैरागी हो गया है। दोनों के बीच में समझौता करना उसे अधिक नहीं भाया है। इसीलिए उसने हर्ष को ही महत्व दिया है। हास्य से उसे संतोष नहीं हुआ। जीवन में उसने हर्ष को ही लक्ष्य बनाया है—और यदि उसमें व्याघात पड़ा है तो वह उससे विरक्त होकर उसे त्याग ही देता है। गंभीर प्रकृति का मनुष्य विफल या कुण्ठित होने पर ठोकर मारना पसन्द करेगा—हँसेगा नहीं।

कौचरः—आपका कहना ठीक है, हँसने के लिए दक्ष और व्यवहारिक प्रकृति की आवश्यकता होती है—गंभीर भावुक प्रकृति उसके प्रतिकूल पड़ती है। अंग्रेज—विशेषकर स्कॉच जितने सहज भाव से और खुलकर हंस सकता है उतना अन्य देश वासी नहीं। और ठीक इसी कारण जर्मन और भारतीय जातियों में हास्य-वृत्ति अपेक्षाकृत बहुत ही क्षीण है। परन्तु अब तक हम केवल मौलिक कारणों का विश्लेषण करते रहे हैं—इनके अतिरिक्त प्रासंगिक कारण भी तो अनेक हैं।

अंगरेज कवि शेक्सपियर जीवन की यातनाओं और विफलताओं का आघात पाकर सघन से सघन वातावरण में भी हँस सकता था। आप उसके दुखान्त नाटकों को ही लीजिये—उस व्यक्ति में इतनी शक्ति है कि वह गहन से गहन परिस्थितियों में भी हँस सकता है—उसका दृष्टिकोण इतना प्रकृतिस्थ और स्वस्थ दृढ़ है कि न शोक की सघनता, और न हर्ष की उत्फुल्लता ही उसको चंचल कर सकती है। वह जीवन की व्यवहारिकता अथवा गतिशीलता के प्रति इतना आश्वस्त है कि उसके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा का वह उपहास करता है—यह बाधा चाहे भावात्मक हो या अभावात्मक—प्रेम की अतिशय गम्भीरता पर भी वह उसी प्रकार हँसता है जिस प्रकार शोक की जड़ता पर। परन्तु भारतीय कवि भवभूति या जर्मन कवि गेटे के लिए इन परिस्थितियों में चित्त की पूर्ण विद्रुति या आत्मा का घोर आक्रोश ही सम्भव है।

नगेन्द्रः—प्रासंगिक कारणों से क्या मतलब?

प्रो०ः—अर्थात् वे कारण जिनका हिन्दी भाषा और और साहित्य से सीधा सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए हिन्दी के जन्म और विकास की परिस्थितियों को ही लीजिए; जिन सघन और निविड़ परिस्थितियों में उसका जन्म और विकास हुआ है, उनमें हँसने हँसाने का अवकाश नहीं रहा—उनमें केवल गंभीर साहित्य की सृष्टि ही सहज और सरल थी। प्रसाद जी ने हिन्दी में हास्य के अभाव का यही मुख्य कारण बताया है। वे कहते हैं कि हास्य मनोरंजिनी वृत्ति का विकास है—परन्तु हमारी जाति शताब्दियों से पराधीन और पददलित है इसलिए हमें हँसने का अवकाश ही नहीं है। वास्तव में वीरगाथा और भक्ति युगों में तो उसके लिए स्थान ही कहाँ था—पहले में परिस्थिति की सघनता और दूसरे में भावना का अतिशय उद्रेक दोनों ही हास्य के प्रतिकूल पड़ते थे।

प्रो०—हाँ रीतियुग में आकर जब कविता का दरबार से सम्बन्ध स्थापित होगया था, यह आशा की जा सकती थी कि आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए कवि-जन हास्य की भी उद्बुद्ध करते। परन्तु आप देखें कि इस युग में हास्य का और भी अधिक अभाव है। इसका कारण यह है कि निर्मल हास्य सदैव स्वस्थ दशा में ही सम्भव हो सकता है—मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में उसकी सृष्टि सम्भव नहीं है। रीतियुग में हमारा समाज मन और शरीर दोनों से ही रुग्ण था—उस समय अस्वस्थ शृंगार की ही सृष्टि सम्भव थी—राजा लोगों का सम्भवतः समाजिकों का उसी से मनोरंजन हो सकता था। स्वस्थ हास्य की अपेक्षा शृंगार की चुहल ही उन्हें अधिक प्रिय थी। आधुनिक युग में आकर परिस्थिति फिर गम्भीर और सघन हो गई। इस प्रकार हमारे साहित्य की परिस्थितियाँ भी हास्य के प्रतिकूल रही हैं।

नगेन्द्रः—परन्तु यहाँ एक आपत्ति हो सकती है। वह यह कि उर्दू साहित्य का विकास भी न प्रायः इन्हीं परिस्थितियों में हुआ है। फिर क्या कारण है कि उसका हास्य काफी समृद्ध है।

प्रो०ः—इसके मेरे पास दो उत्तर हैं—एक तो यह कि परिस्थिति एक मात्र कारण नहीं होती—वह अनेक कारणों में से एक हो सकती है, दूसरे उर्दू और हिन्दी की परिस्थितियाँ बाहर से एक सी लगती हैं, अन्दर से उनमें काफी अन्तर है। उर्दू विशेषताओं की तथा थे—

हिन्दी विजितों की। उर्दू बाजार और मजलिस की भाषा रही है, हिन्दी जनता के हृदय की। स्वभावतः उर्दू में शोखी और चटख ज्यादा है—और ये दोनों हास्य के अनिवार्य तत्व हैं। इसके अतिरिक्त दोनों की पृष्ठ-भूमियाँ तथा परम्पराएँ कितना भिन्न हैं। उर्दू की फारसी की परम्पराएँ प्राप्त हुई हैं, और फारसी में सूक्ष्म और परिष्कृत हास्य की कमी नहीं है। और फिर हमारे और उर्दू वालों के सामाजिक जीवन में कितना अन्तर है—जितना साइफ जितना रूखकी उर्दू वालों की रही है, उतनी हम लोगों की आज भी नहीं है।

नगेन्द्रः—यानी, आपका निष्कर्ष यह है कि हिन्दी की प्रकृति गम्भीर है इसलिए उसमें हास्य का अभाव है।

प्रो०कोचर—हाँ उसकी प्रकृति ही नहीं वरन उसकी परम्परायें उसकी परिस्थितियाँ उसके बोलनेवालों का जीवन दृष्टि आदि सभी गंभीर है। लेकिन अब प्रश्न यह है कि यह कमी पूरी कैसे हो?

नगेन्द्रः—साहित्य के अभाव प्रयत्न करके पूरे नहीं होते। उनकी जड़ें गहरी होती हैं—उनका सम्बन्ध जाति के संस्कारों से होता है। सामाजिक परिस्थियों के परिवर्तन से जाति के संस्कारों में परिवर्तन होने पर ही यह सम्भव हो सकता है। जीवन की विषमताओं से रगड़ खाकर आदर्शों का दृष्टिकोण जब आध्यात्मिक कम और व्यावहारिक अधिक हो जायगा—आदर्श के भावमय स्वप्न न देखकर जब हम व्यवहार की रचना के अभ्यस्त हो जायेंगे। तो स्वभावतः ही हमारे अन्दर हास्य वृत्ति का विकास हो जाएगा। तभी हमारे साहित्य से भी हास्य का यह अभाव दूर हो जाएगा।

(आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली के सौजन्य से)

आल इण्डिया रेडियो से ब्राडकास्ट किया हुआ प्रोफेसर नगेन्द्र और प्रोफेसर कोचर का रोचक वार्तालाप (यद्यपि हम इसके निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं) हास्य की दार्शनिक समस्या पर प्रकाश डालता है। हिन्दी में हास्यरस के अभाव (१) यह कारण बतलाया गया है कि हास्य के लिए द्वैत और भेद अपेक्षित हैं और भारतीय जीवन-दृष्टि अद्वैत परक है। किन्हीं आचार्यों ने तो हास्य के पीछे दूसरे को नीचा दिखाने और अपने को श्रेष्ठ साबित करने की प्रवृत्ति बतलाई है। यह भी अद्वैतवाद के विरुद्ध है किन्तु यह द्वैत भावना (यदि है तो) नगेन्द्र जी के बताये हुए व्यङ्गय (satire) और वक्रोक्ति (Irony) के मूल में अधिक है। शुद्ध हास्य के मूल में तो फालतू उमंग जो खेल में भी देखी जाती है और लीला एवं आनन्द की प्रवृत्ति अधिक है। तथा कथित द्वैत भावना भी विषमता, विकृति और असंगति को न सह सकने तथा भेद में अभेद और विषमता में साम्य खोजने की, अद्वैत परक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति केवल हास्य में नहीं है विज्ञान और दर्शन सभी में है। वैज्ञानिक नियम भी इसी के फल हैं। हास्य द्वारा वैषम्य और विलक्षणता को दूर कर समानता लाने की चेष्टा की जाती है। यह सर्वथा भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल है।

हिन्दी में शुद्ध हास्य चाहे कुछ हो किन्तु व्यङ्गय और वक्रोक्ति की कमी नहीं है सूर और नन्द की गोपियों में फालतू उमंग भी काफी है और व्यङ्गय की कमी नहीं है।

हास्य के लिए जो परिस्थिति की विषमता और व्यवहार की बात अपेक्षित है वह भारत में भूषण के समय से नहीं तो हरिश्चन्द्र के समय से अवश्य चली आ रही है। हिन्दू समाज अब कठोर यथार्थ के निकट है। यद्यपि हास्य के सम्बन्ध में वीर विशेष नहीं मैं जानों की बात नहीं है तथापि हम आशा है कि इस लेख से हिन्दी में हास्य-रस का विकास कुछ अधिक मात्रा में और नई दिशाओं में हो सकेगा—शुद्ध हास्य की ओर अधिक ध्यान देने की जरूरत है। व्यङ्गय और वक्रोक्ति की कमी नहीं है।

शकुन्तला का कथानक

(श्री गोविन्दसिंह भंडारी 'चातक')

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

[कवि को प्रजापति कहा गया है। वह अपनी रुचि के अनुकूल सृष्टि को रचता है। उसकी रुचि औचित्य से नियन्त्रित होती है। वह किसी सीमा के भीतर काव्योचित्य प्रदान के लिए इतिहास का भी बदल सकता है। इस लेख में यही दिखलाया गया है कि कालिदास ने शकुन्तला के आख्यान में महाभारत की कथा में कहाँ तक उलट फेर किया है ? यद्यपि महाभारत के दुष्यन्त के पक्ष में यही कहा जा सकता है कि उसने राजमर्यादा के पालन करने के लिए बिना दैवी गवाही के शकुन्तला को नहीं स्वीकार किया, मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी ने सीता सती को बिना अग्निपरीक्षा के नहीं स्वीकार किया था तथापि यह प्रेम की मर्यादा के विरुद्ध था। इसीलिए कालिदास ने दुर्वासा के शाप और अँगूठी के खो जाने की कल्पना की। कवि की कल्पना के सदुपयोग का यह अच्छा उदाहरण है। इसको कुन्तक ने 'प्रकरण वक्रता' कहा है। —सम्पा०]

संस्कृत कवियों ने अपने नाटकों के लिए महाकाव्यों अथवा पुराणों से ही कथानक लिए हैं। किन्तु यह इस बात का द्योतक नहीं कि वे अपनी प्रतिभा का स्वतन्त्र उपयोग कर नए कथानक का निर्माण न कर सकते थे। वास्तविक बात यह न थी वरन् प्राचीन काल से ही रामायण, महाभारत अथवा पुराणों के आख्यान जन साधारण के लिए अधिक प्रिय थे और इसीलिए उन परिचित आख्यानों को नाटक में प्रत्यक्ष देखने के लिए वे प्रायः उत्सुक रहा करते थे। प्राचीन समाज में धार्मिकता उच्च स्थान रखती थी और रामायण, महाभारत आदि उनके धर्म के भण्डार थे—ऐसे समय में इन्हीं महान् ग्रन्थों से, देवताओं अथवा अतीत की महान् विभूतियों को नाटक के रूप में जनता के समक्ष रखना काव्य और दर्शकों की धार्मिकता के अनुकूल माना जाता था। ऐसे नाटक प्रायः धार्मिक जन समाज को शीघ्र आकर्षित कर लेते थे। नाटकों के नायक प्रायः महान् एवं निर्दोष भी हुआ करते थे।

कालिदास ने भी शकुन्तला के कथानक के लिए महाभारत का आश्रय लिया है। कालिदास द्वारा किये गए परिवर्तनों का अध्ययन करने अथवा उन परिवर्तनों की वास्तविकता और मूल्यांकन के लिए यहाँ महाभारत की मूल कथा की रूप-रेखा दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल को देखकर कालिदास की मौलिकता का यथेष्ट ज्ञान होता है। महाभारत का उद्देश्य केवल घटना को लिख देना मात्र था जबकि कालिदास का उद्देश्य मनुष्य लोक और स्वर्गलोक एक साथ दिखाना था, जैसा कि महाकवि गेटे ने कहा है —

"Would'st thou the earth, and heaven it self in one sole name combine ?
I name thee O Sakuntala !
and all at once is said."

अतः उद्देश्य की भिन्नता के कारण ही महाभारत की कथा पर अवलम्बित रहना कालिदास के लिए कदापि विवेकशीलता न था।

महाभारत में, हमें दुष्यन्त एक महान् सेना, मन्त्री और पुरोहित आदि के साथ मिलता है। अपनी विशाल सेना को तपोवन के द्वार पर ही रोककर, वह मन्त्री एवं पुरोहित को लेकर तपोवन में प्रविष्ट हुआ किन्तु यहाँ मन्त्री और पुरोहित को भी बाहर ही छोड़कर कुटी में अकेला ही गया—

समाश्वो राजचिह्नानि सोऽपर्न य नराधिप। ।
पुरोहित महायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ॥
३० च ६१

ततो गच्छन् महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्यतान्।
नापश्यदाश्रमे तस्मिन तमृषिं संशितव्रतम् ॥
१ श्च० ६२

मूलकथा में सेना, मन्त्री को (प्रतीक्षा में) द्वार पर छोड़ कर अकेले दुष्यन्त को कुटी में प्रवेश करते देख ऐसा भान होता है कि महाभारतकार ने कथा को आगे बढ़ाने के लिए ही उन्हें बाहर रोक दिया है। अन्यथा यह कहाँ तक सम्भव है कि कोई सेना आदि को द्वार पर छोड़ कर, स्वयं कुटी में जाकर किसी अपरिचित युवती से—यह जानते हुए भी कि उसके पिता फल लेकर अभी लौट आएँगे*—प्रेम की स्थापना करे ? और थोड़े ही क्षणों में वह गर्भवती हो जावे। वहाँ सर्वप्रथम यही प्रश्न उठता है कि दुष्यन्त कण्व के आश्रम में क्यों गया ?

कालिदास ने सेना से राजा को बहुत दूर मृग के पीछे भटकते दिखा कर इसी विषमता का निवारण किया है। साधु के कहने—आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः—पर उसने उसे छोड़ दिया। तब साधु ने राजा को आशीर्वाद देते हुए उसे कण्वाश्रम में आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना की है—

" प्रविश्य प्रतिगृह्यतामतिथेयः सत्कारः। आदि।

इसी आतिथ्य की स्वीकृति म कालिदास का दुष्यन्त आश्रम की ओर बढ़। वहाँ शकुन्तला की सखियों को कहते हुए सुना—'हम रक्षा करने वाला कौन होता है ? आओ, दुष्यन्त से कहो जो राजा है।' दुष्यन्त को अच्छा अवसर मिला। शीघ्र उनके पास जाकर बोला, 'कौन पौरव के रहते हुए तापस कन्याओं का अनिष्ट करना चाहता है। कालिदास के दुष्यन्त को कण्व का भी भय नहीं है उसने साधु से पहले ही जान लिया था कि वे एक लम्बी यात्रा में सोमतीर्थ गए हैं—

'इदानीमेव दुहितरंशकुन्तलामतिथिसत्करायनियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितु सोमतीर्थं गतः।,

महाभारत में तो कण्व फल तोड़ रहे होंगे जबकि कालिदास ने उन्हें सोमतीर्थ भेजकर दुष्यन्त को प्रणय के लिए निर्भय कर, उसे शकुन्तला के साथ अधिक दिवस रहने का भी अवसर दिया है। महाभारत के दुष्यन्त तो दस मिनट में ही गांधर्व विवाह कर चल दिए।

महाभारत में यह गांधर्व विवाह भी इस शर्त पर होता है कि शकुन्तला का पुत्र ही युवराज हो—

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेदनन्तरम् ॥
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
यद्येतदेव दुष्यन्त अस्तु मे सगमस्त्वया ॥

इससे यही प्रकट होता है कि शकुन्तला को अपने पुत्र को युवराज बनाने की लालसा थी, स्वाभाविक प्रेम नहीं। केवल रानी बनने के लोभ में वह दुष्यंत की बात स्वीकार कर लेती है किन्तु फिर दुष्यन्त के दरबार में जाना पसंद नहीं करती। यही महाभारत की शकुन्तला का प्रेम है। कालिदास की शकुन्तला महाभारत की शकुन्तला से मूलतः भिन्न है। प्रारंभ से ही उसका हृदय दुष्यन्त की ओर आकर्षित हो जाता है और उसे हृदय म एक नई 'चुभन' का अनुभव होने लगता है। वह अबोध हरिणों की भांति ही प्रेम बाण से घायल होने लगती है। उस समय हृदय ऋषियों के साथ मिलकर यह कहे बिना नहीं रह सकता—

भो भो तपस्विनः संनिहितास्तपोवनसत्त्व रक्षायै
भवत प्रत्यासन्न किल मृगया विहारी।

पार्थिवो दुष्यंत.—हे तपस्वियो! इस दुष्यन्त से आश्रम के जीवों की रक्षा करो। दूसरा और तीसरा अंक कवि की विशुद्ध अपनी सृष्टि है जिसमें दोनों के प्रेम का विकास दिखाया गया है, दुष्यन्त ने अपना संयम गवा दिया है और बेचारी शकुन्तला प्रियचिन्तन से व्यग्र होरही है जिसके परिणाम स्वरूप उसको दुर्वासा के शाप का आवाहन कर, एक आपत्ति का सामना करना पड़ा।

महाभारत में एक विचित्रता यह है कि पुत्रोत्पत्ति दुष्यन्त के समागम के तीन मास बाद होती है। इस कथ-

---

* गतः पिता मे भगवन् फलान्याहर्तुमाश्रमात्।
मुहूर्तं संप्रतीक्षस्व द्रक्ष्यस्येनमुपागतम् ॥ १२ अ ६१
(महाभारत)

उर पर देवताओं ने पुष्प वर्षा कर यह प्रकट किया कि शकुन्तला का पुत्र चक्रवर्ती होगा किन्तु दुष्यन्त इतना कापुरुष है कि कण्व के भय से उसे नगर में ले आने का साहस भी नहीं करता—

'ऋषेर्भयात्तु दुष्यन्तः स्मरन्नेवाह्वयत्तदा।'

इस दशा में कालिदास के दुष्यन्त के साथ अवश्य हमारी सहानुभूति हो सकती है, क्योंकि हमें दुर्वासा के शाप का ज्ञान है। महाभारत में शाप का उल्लेख नहीं; वहां का दुष्यन्त कितना दुराचारी प्रतीत होता है जो तापस कन्या का सतीत्व खोकर ऋषि के डर से अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी नहीं कर सकता। वह हमारे समक्ष एक कामुक के रूप में आता है प्रेमी के नहीं।

महाभारत का कण्व अपनी पुत्री को नौ वर्ष बाद दुष्यंत के पास जाने को आदेश देता है। न मालूम वह नौ साल तक इतनी लम्बी प्रतीक्षा क्यों करता है जब कि वह जानता है कि 'नारीणां चिरवासो बांधवेषु न रोचते।'

कालिदास का कण्व जैसे ही लौटकर 'अग्निशरण' के समीप पहुँचता है उसे शकुन्तला के गर्भवती होने का ज्ञान होता है और वह तत्काल उसे दुष्यन्त के पास भेज देने का आयोजन करता है। उसके हृदय में शकुन्तला के वियोग जन्य दुख होता है, यह महाभारत के कण्व की तरह नकली आंसू—थूक के आंसू—नहीं बहाता। वरन् उसमें ऋषियोचित धीरता भी है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया।
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्॥
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।

'चिन्ताजडंदर्शनम्' शब्दावलि से ही कवि की आंखों में आंसू दिखाई देते हैं जिससे साफ साफ नहीं दिखाई दे रहा है। उसकी पीड़ा का अनुमान उसके इस कथन से लगाया जा सकता है कि मैं वनवासी अपनी पालित पुत्री के वियोग से इस वैक्लव्य को प्राप्त हो गया हूँ तो वे गृहस्थ जिनकी अपनी तनया होगी कितने दुखी होते होंगे।'

इस समय की भावनाओं में भी दोनों शकुन्तलाओं में मूलतः अंतर है।

महाभारत में, यह सोचकर कि सर्वदमन की धूर्तता (सिंह आदि हिंसक जन्तुओं बांधना, उनके साथ खेलना आदि) से नाराज हो कर ही पिता मुझे आश्रम से निकाल रहे हैं, शकुन्तला दुष्यन्त के पास नहीं आना चाहती। यही उसका प्रेम है। वात्सल्य स्नेह का तो नाम ही नहीं; वह दुष्यन्त के पास जाकर अपने पुत्र को युवराज बनाने की सहायता नहीं दे सकती—

न.हं गच्छामि दुष्यंतं नास्मि पुत्रहितैषिणी।
पादमूले वसिष्यामि महर्षेर्भावितात्मनः॥

यहाँ माता के हृदय की वह ममता नहीं जो पहले दिखाई गई है, जहाँ वह विवाह ही इस शर्त पर करती है कि उसका पुत्र ही युवराज हो। यह शकुन्तला कितनी विचित्र है जो पहले पुत्रहित को सामने रखकर हो, स्वाभाविक प्रेम न होते हुए भी, दुष्यन्त से विवाह कर लेता है और पश्चात् जब दुष्यन्त के पास जाने को बाध्य की गई है तो 'पुत्रहितैषिणी' नहीं होना चाहती। मानो इस शकुन्तला में प्रेम है ही नहीं, वह जाती भी है तो राजा के अस्वीकार करने पर स्वयं कुटी की ओर लौटने को प्रस्तुत होता है और पुत्र को वहां छोड़ देना चाहती है। यहाँ माँ की ममता के लिए स्थान ही नहीं।

कालिदास की शकुन्तला को यदि आश्रम छोड़ने में अत्यधिक वेदना होती है तो वह दुष्यन्त के दर्शन के लिए उत्सुक भी है।

शकुन्तला—हला प्रियंवदे, आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन चरणौ पुरतः प्रवर्तेते।—सखी प्रियम्वदा, यद्यपि मैं प्रियदर्शन के लिए उत्कण्ठित हूँ किन्तु आश्रम को छोड़ते हुए मेरे पैर कठिनता से आगे बढ़ रहे हैं।

चौथे अङ्क में हम उस शकुन्तला को जो शृंगार के लिए एक पल्लव तक नहीं तोड़ती थी, जिसका फूल के जन्म अवसर पर उत्सव होता था, उसे प्रकृति से विदाई लेते जाते हुए देख हृदय में एक स्वाभाविक वेदना का संचार होता है। शकुन्तला के जाने का समाचार सुन मृग

चरना छोड़ देते हैं तो शकुन्तला को भी हम कण्व से यह कहते सुनते हैं कि 'जब इस मृगी का सकुशल प्रसव हो जाय, कृपया सूचना देने के लिए मेरे पास कोई निवेदक भेजिए।'—तात, एष उटजपर्यन्तचारिणी गर्भ—मन्थरा मृगवधूर्यदानघप्रसवा भवति तदा मह्यम् कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ।

इस प्रकार चेतन अचेतन के साथ ऐसी अन्तरंग आत्मीयता अन्यत्र सुलभ नहीं। शकुन्तला में प्रकृति के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि उसे भी नाटक में एक पात्र का सा ही स्थान मिला है।

महाभारत के विषय में अभी कहा गया है कि वहाँ शकुन्तला पुत्र को राजा के पास छोड़कर अपनी कुटी में लौट आने का साहस करती है किन्तु राजा उसे मिथ्या-वाद के अपराध में जाने की आज्ञा नहीं देता। तब शकुन्तला ने राजा का गर्व भंग करते हुए घोषित किया कि उसका पुत्र चक्रवर्ती होगा। इन्द्र की वाणी झूठ न जाएगी।—वह यह कहते वहाँ से जा रही थी कि आकाश-वाणी ने शकुन्तला को दुष्यन्त की धर्मपत्नी बताया और पुत्र-सहित साथ उसे ग्रहण करने का आदेश दिया। दुष्यन्त ने तब यह प्रकट कर दिया कि वह उन्हें पहचान तो गया था किन्तु यदि वह एक शकुन्तला की ही बात प्रामाणिक मान कर ही उसे ग्रहण कर लेता तो लोक हृदय में सन्देह होने की अधिक सम्भावना थी—

अहमप्यवयेवैन जानामि सुतमात्मजम् ।
यद्यहं वचनाद् अस्या गृह्णीयामिममात्मजम् ॥
भवेत शंका लोकस्य नैव शुद्धभवेदयम् ॥

कालिदास ने शकुन्तला को कण्वाश्रम में न लौटाकर अपनी अद्भुत प्रतिभा दिखाई है। कालिदास की शकुन्तला के लिए कुटी में लौट जाना इष्ट भी न था क्योंकि वह अब शकुन्तला न रही थी—अब वह तिरस्कृता प्रेमिका थी—संसार उसे अब दूसरी दृष्टि से देख सकता था, तापस-कन्या के रूप में नहीं। इस दशा में कवि उसे एकान्त स्थान में ले गया; जिस एकान्त की एक दुखिया को आवश्यकता होती है। यह शकुन्तला के ऊपर एक तरह की दया ही थी कि दुष्यन्त ने उसे कठोरता के साथ अस्वीकार किया। इसीसे वह चिन्तन में प्रवृत्त हुई जिसके फलस्वरूप तपे हुए कञ्चन सी बन कर राजा के हृदय को भी शकुन्तलामय बना दिया।

जब हम महाभारत से दृष्टि हटाते हैं तो महाकवि कालिदास की महत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। दोनों कथाओं के चरित्र शायद ही मिलते हों। कालिदास ने महाभारत के विपरीत, शकुन्तला को एक आदर्श आज्ञा-कारिणी पुत्री, गुणवती युवती, विमल पतिव्रता एवं स्नेह-मयी माता के रूप में उपस्थित किया है। यदि चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी देखें तो निर्दोष चित्राङ्कन भी कवि की महान् विशेषता है। यद्यपि एक स्त्री के दृष्टिकोण से दुष्यन्त एक आदर्श पति नहीं है, जैसा कि इसी दशा के गीत* से प्रकट होता है तथापि कालिदास के दुष्यन्त जान-बूझ कर भी तो शकुन्तला को अस्वीकार नहीं करते। वहाँ तो वह उस दुविधा में चित्रित है जिससे वह हमारी दया का पात्र बन जाता है। और दुर्वासा का शाप सुन कर तो वह हमारी सहानुभूति को कहीं अधिक प्राप्त कर लेता है। दुर्वासा के शाप का उद्देश्य राजा के चरित्र का कलंक मिटाना मात्र नहीं वरन् उसका उद्देश्य बहुत गहन है, जैसे कि पहले कहा गया है कि नाटक का केन्द्रीय भाव इहलोक और परलोक को एक साथ दिखाना है। इसके लिए कठिनाइयों एवं संघर्ष का होना अनिवार्य था ही। प्रेम सदैव साधना से ही प्राप्त किया जाता है। अनायास मिली हुई वस्तु प्राप्त की हुई नहीं कहलाती। उसका कोई मूल्य भी नहीं। प्रिय वियोग में शकुन्तला कितनी तपी होगी इसका अनुमान उसकी इस दशा से किया जा सकता है जिसमें एकमात्र दुष्यन्त के चिन्तन में वह दुर्वासा के आगमन से अनभिज्ञ होकर, एक आपत्ति का आवाहन करती है। कवि ने अँगूठी का आविष्कार स्वयं किया है जिसका उल्लेख महाभारत में नहीं। जब अनुसूया शाप वापस लेने की प्रार्थना करने के लिए दुर्वासा के पास गई तो उसने कहा कि शाप किसी अभिज्ञान-आभरण से समाप्त

शेष पृष्ठ २३० पर

* हे मधुकर ! आम्रमञ्जरी को चूमकर कमल वन में रहने के आनन्द को कैसे भूल गए हो !

भक्ति-काल की भाव-समन्विति

(गुलाबराय एम० ए०

[कुछ लोगों की शिकायत है कि साहित्य-सन्देश में प्राचीन काव्य की उपेक्षा की जाती है। इस उपेक्षा का एक यही कारण है कि प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में प्रकाशित साहित्य के इतिहासों में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। फिर भी हम प्राचीन-साहित्य की उपेक्षा नहीं करना चाहते। इसी दृष्टि से इस लेख में हम भक्त काल की कुछ सामान्य मान्यताओं को दे रहे हैं जो पारस्परिक भेदों के होते हुए भक्तिकाल के चारों सम्प्रदायों को एक सूत्र में बांधे हुए हैं। —सम्पादक]

भक्ति-काल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग माना गया है। इसी में साहित्य-गगन के सूर, शशि और उडगन उदय हुए और इसी ने हिन्दी में कबीर और जायसी जैसे उदार हृदय तत्व-दर्शी महाकवि दिये। यद्यपि यह काल एक ही नाम से पुकारा जाता है तथापि इसमें निर्गुण और सगुण भक्ति के आश्रित चार धाराएँ थीं जिनकी विचार-धारा एक-दूसरे से बहुत कुछ भिन्न थी।

हिन्दू मुसलिम ऐक्य की भावना से प्रेरित निर्गुण की दो शाखाएँ थीं—एक कबीर द्वारा प्रवर्तित ज्ञानाश्रयी शाखा, दूसरी जायसी प्रभृति सूफी कवियों की प्रेममार्गी शाखा। आश्रित हिन्दुत्व की सांस्कृतिक चेतना और अविरोध भावना से अनुप्राणित सगुण भक्ति के अन्तर्गत भी दो शाखाएँ थीं—एक सूर प्रभृति कृष्णोपासक कवियों की कृष्णभक्ति-शाखा और दूसरी तुलसी प्रमुख कवियों की रामभक्ति-शाखा। निर्गुण भक्त सन्त कहलाए और सगुण भक्त साहित्य में भक्त कवियों के नाम से अभिहित होते हैं।

इन चारों सम्प्रदायों के उपास्य के बोध और उपासना की भावना में अन्तर था। कबीर और जायसी दोनों ही भारतीय ब्रह्मवाद से प्रभावित थे किन्तु जहाँ कबीर में मुसलमानी प्रभाव से उसकी अनीतता और परात्परता (Transcendence) पर बल है वहाँ जायसी ने उसकी विश्वव्यापकता (Emanance) का पक्ष उभार में लाया गया है। कबीर ने अपने ब्रह्म के हृदय में दर्शन किये हैं—'मोकों कहाँ ढूँढ़ो बन्दे मैं तो तेरे पास में', 'दिल ही को खोज दीदार पावे' तो जायसी ने उसे प्रकृति में व्याप्त देखा है—

नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥
जेहि दिन दसन जोत निर्मई।
बहुतै जोति जाति ओहि भई॥

कबीर ने निर्गुण के प्रेम को लौकिक प्रेम के धरातल पर लाने का प्रयत्न किया है तो जायसी ने लौकिक प्रेम को ऊँचा उठा कर उसे आध्यात्मिकता प्रदान की है। कबीर ने आकाश को जमीन पर घसीटा है तो जायसी ने जमीन को आकाश तक ऊँचा उठाया है। कबीर ने हिन्दू-परम्परा के अनुसार स्वयं राम की बहुरिया बन कर परमात्मा पुरुष के प्रति अपना विरह निवेदन किया है तो जायसी ने मुसलमानी परम्परा के अनुसार पद्मावत को ईश्वर का स्थान देकर और रत्नसेन को साधक बनाया।

सगुण भक्ति की दोनों शाखाओं की विचारधारा में भी पारस्परिक भेद थे। सूर और तुलसी दोनों ही अपने उपास्य को ब्रह्म मानते थे। तुलसी में यह ब्रह्म-भावना कुछ अधिक थी। भक्त कवि सगुण को ही निर्गुण का निजी रूप मानते थे और वे उसकी सगुणता के साथ उसकी साकारता में और उसके पवित्र लीला अवतारों में भी विश्वास रखते थे। वास्तव में वे निर्गुण और सगुण दोनों को मानते थे किन्तु सगुण को अधिक महत्ता देते थे। सगुण को ही वे निर्गुण की व्यापकता का केन्द्र मानते थे।

जहाँ सूर में इस सगुण ब्रह्म के माधुर्य पक्ष की प्रधानता थी वहाँ तुलसी में ऐश्वर्य पक्ष की। सूर के उपास्य गोपीवल्लभ गोपाल थे और तुलसी के मर्यादा

धनुषधारी दनुजदलनकर्ता राजा राम थे। सूर में यद्यपि कृष्ण के शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों ही दैवी गुणों की अभिव्यक्ति हैं तथापि उसमें सौन्दर्य पक्ष प्रबल है। तुलसी में शील और शक्ति की अपेक्षा सौन्दर्य का पक्ष कुछ गौण है (उसकी अवहेलना नहीं है) तुलसी में जहाँ शास्त्रीय मर्यादा का प्राधान्य है वहाँ सूर में प्रेम की मुख्यता है। तुलसी के लिए नियम सब कुछ है सूर के लिए प्रेम के आगे नेम का कोई अस्तित्व नहीं।

इन अवान्तर भेदों के होते हुए भी इन चारों सम्प्रदायों में एक विशेष रूप से भावों की समन्वित है जिसके कारण ये चारों सम्प्रदाय भक्ति के एक सूत्र में बँध सके हैं। इन सब सम्प्रदायों में नाम के अनुकूल भक्ति की तो मुख्यता थी ही। यह तो सबसे व्यापक गुण था। कबीर ने ज्ञानोपासक होते हुए भी भक्ति को पर्याप्त महत्त्व दिया है। और कर्म सब धर्म हैं भक्ति कर्म निष्कर्म तथा 'मुक्ति मुक्त माँगे नहीं, भक्ति ज्ञान दे मोहि" आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। कबीर पर वैष्णव धर्म का पर्याप्त प्रभाव था उसी के कारण उन्होंने अहिंसावाद और भक्ति-भावना का प्रचार किया।

सूफियों का प्रेम तो भक्ति का एक व्यापक रूप ही था और भक्ति कवि तो भक्ति को ही सर्वस्व मानते थे। इसके अतिरिक्त गुरु भक्ति का सूत्र चारों सम्प्रदायों में व्यापक था। कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा कहा है:—'कबिरा हरि के रूठते गुरु के शरने जाय। कहि कबीर गुरु रूठते हरि नहिं होत सहाय' ॥ गुरु की महिमा को उन्होंने वर्णनातीत कहा है। देखिये :—

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात संमुद की मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय ॥

जायसी ने भी अपने पद्मावत के आरम्भ में गुरु की वंदना की है।

सैयद असरफ पीर पियारा।
जेहि मोहिं पन्थ दीन्ह उजियारा ॥

जायसी ने पद्मावत आख्यान में तोते को गुरु का स्थान देकर पन्थ दिखाने वाला कहा है।—

गुरू सुआ जेहि पन्थ दिखावा

तुलसी ने रामचरित्र के आरम्भ में गुरु को नररूप हरि कहा है। (उसमें चाहे नरहरि दास की ओर भी संकेत हो) और "वंदऊँ गुरु पद-पदुम परागा; सुरुचि सुबास सरस अनुरागा" ॥ लिख कर उन्होंने गुरु के प्रति अचल भक्ति का परिचय दिया है।

सूरदास जी ने तो सारी कृष्ण-लीला के गान को गुरु के यशगान के रूप में ढाल दिया है:—(मैं तो सबरो जस श्री आचार्य जी को ही वर्णन कियो है, जो मैं कछू न्यारो देखतो तो न्यारो करतो।" फिर भी उन्होंने अन्त समय गुरु भक्ति का एक विशिष्ट पद गाया:—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो
श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिन, सब जग माँझ अँधेरो" ।

तीसरा बात जो इन सम्प्रदायों में व्यापक रूप से वर्तमान थी वह नाम-महिमा थी। नाम को सभी ने महत्ता दी है क्योंकि वह स्मरण रूपी साधन का प्रधान अंग है। कबीरदास जी कहते हैं "जैसो माया मन रम्यो तैसो नाम रमाय, तारा मण्डल बेधि के तब अमरापुर जाय।" सूफियों में भी नाम की महिमा स्वीकार की गई है। जायसी ने रतनसेन द्वारा पद्मावती का नाम स्मरण करा कर नाम स्मरण की महत्ता प्रकाशित की है देखए :—

औ संवरौं पदमावति रामा।
यह जिउ नेवछावर जेहि नामा।

❀ ❀ ❀

आसन लेइ रहा होई तपा।
पदमावति पदमावति जपा ॥

तुलसीदास ने नाम निर्गुण और सगुण का मेल कराने वाला कहा है। वास्तव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नाम में ही है। नाम शाब्दिक मूर्ति है, इसीलिए तुलसीदासजी ने उसको सबसे बड़ा कहा है। देखिए :—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाधि अनादि सरूपा ॥
मेरे मत बड़ नाम दुहू ते।
किये जेहि जुग निज बस निज बूते ॥

तुलसी ने राम नाम को राम से बढ़ कर ही माना है। है। जैसे :—

राम एक तापस तिय तारी,
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी जैसे राम के अनन्य भक्त में भी नाम के द्वारा सगुण निर्गुण की समन्वय प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सूर ने भी नाम स्मरण का सहारा लिया है।

'जो पै राम नाम धन धरती', 'कृष्ण नाम बिनु जनम बाद ही वृथा जिवन कहा कीजै', 'है हरि नाम को आधार ॥' आदि वाक्य सूर की नाम स्मरण में आस्था के द्योतक हैं।

भक्ति-काल में चौथी प्रवृत्ति वृथा आडम्बर का तिरस्कार, साम्यभाव तथा दलित और पीड़ित की ओर दयाभाव की है। कबीर का साम्य भाव तो प्रसिद्ध ही है। देखिए :—

'गुप्त प्रगटे हैं एकै मुद्रा; काको कहिए ब्राह्मन शुद्रा'
एक ब्रह्म तें सृष्टि रची है को ब्राह्मन को शुद्रा ?'

किन्तु वैष्णव कवियों में भी शूद्रों के प्रति अपेक्षा कृत कोमलता का भाव है। मर्यादावादी गोस्वामी तुलसीदासजी ने वर्णभेद का तो आग्रह किया है किन्तु फिर भी उन्होंने राम-भक्ति के नाते निषाद और शबरी को अपनाया है। सूर, इस मामले में कुछ अधिक उदार हैं, देखिए :—

कौन जाति, को पाँति विदुर की, जिनके प्रभु गृह आरत।
भोजन करत तुष्टि घर उनके राज मान मद टारत ॥
ओछे जनम, करम के ओछे ओछे ही अनुसारत ॥

❀ ❀ ❀

स्वपच गरिष्ट होत (पद) रज सेवत
बिनु गोपाल-द्विज जन्म नसावत।

वर्ण व्यवस्था में-यद्यपि तुलसीदासजी ने विषमता को आश्रय दिया है तथापि उन्होंने परहित को सबसे बड़ा धर्म माना है

'परहित सरसि धर्म नहिं भाई,
पर पीड़न सम नहिं अधमाई'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-काल के सभी-कवियों में हृदय की ईमानदारी, पाखण्ड और आडम्बर का विरोध, समझौते और समन्वय की प्रवृत्ति तथा दीन और पापी के प्रति सहानुभूति का भाव था। जीवन से सम्पर्क भी इस काल की विशेषता थी। कबीर आदि सन्त कवियों ने जीवन की विषमताओं को दूर करके सदाचार पर जोर दिया है। जायसी ने लौकिक कथाओं द्वारा आध्यात्म की अभिव्यञ्जना की। सूर ने जीवन के माधुर्य पक्ष का उद्घाटन कर उसके प्रति आस्था उत्पन्न की और तुलसी ने उच्च जीवन के लिए उच्च आदर्श दिये। उन आदर्शों को राम के जीवन में चरितार्थ कर मनुष्य के लिए शक्य और सम्भव बनाया। इसलिए उस काल का विशेष मान और महत्त्व है।

पृष्ठ २३४ से आगे

हो जाएगा। कवि ने इसमें विलक्षण प्रतिभा दिखाई है। सखियों को केवल शाप का ज्ञान था किन्तु उन्होंने शकुन्तला से यह नहीं कहा, क्योंकि वे शापवार्ता से उस अनन्य-मानसा को पीड़ित नहीं करना चाहती थीं। यदि कह देतीं तो अँगूठी खोती भी नहीं—बड़ी हिफाजत से सुरक्षित रहती। यदि कोई पाश्चात्य कवि होता तो यहां पर—अँगूठी खो जाने पर नाटक को दुखान्त बना लेता। संभवत श्लाघनीय शेक्सपियर की सराहनीय प्रतिभा भी इसे सुखान्त बनाने में सहायता न देती। यहाँ अँगूठी छठे अङ्क के प्रारम्भ में (मछली के पेट से) मिलती है। तब कहीं दुष्यन्त को शकुन्तला की याद आती है। अपने पाप को वह पश्चाताप के आँसुओं से धोता है। सातवें अङ्क में देवमित्र दुष्यन्त पश्चाताप से विमल होकर तथा देवताओं से गौरवान्वित होकर—उधर शकुन्तला भी साधना में सुवर्णमयी बनकर—दोनों उच्च तल (Level) पर पहुँच कर एक दूसरे को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें जब दुर्वासा के शाप का ज्ञान होता है तो परस्पर सन्देह मिट जाने के साथ ही प्रेम में दृढ़ता आ जाती है।

स्वभावोक्ति अलङ्कार

(ले० ब्रजकिशोर चतुर्वेदी, बार० एट० ला०)

साहित्य-सन्देश के पिछले अङ्क (भाग ८ अङ्क १) में श्री कन्हैयालालजी सहल एम० ए० ने स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व' शीर्षक एक विद्वतापूर्ण लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वभावोक्ति अलङ्कार ही है। कुन्तक एवं महिम भट्ट के मत वैभिन्य का सन्मुख रखते हुए उन्होंने महिम भट्ट का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में सम्पादक महोदय ने सहलजी के दृष्टिकोण को साहित्य संसार के सन्मुख रखते हुए प्रसन्नता का अनुभव इसलिए किया है कि इस विषय पर दूसरे भी दृष्टिकोण सन्मुख आ सकते हैं।

दूसरे दृष्टिकोणों का स्वागत करते हुए मैं इस अलंकार के विषय में दो एक बातों का जिक्र कर देना उचित समझता हूँ जिन को दृष्टिगत रखना आवश्यक है।

पहिली बात तो यह है कि हमारा अलङ्कार-शास्त्र बहुत बाद का है, काव्य बहुत पहिले प्रारंभ हो चुका था। अलंकारों को दृष्टि में रख कर जो काव्य लिखे गये हैं वह बहुत बाद के हैं और निम्न श्रेणी के हैं। परन्तु संस्कृत भाषा में जो उच्चकोटि के काव्य-ग्रन्थ हैं उनके बहुत बाद अलंकार-शास्त्र का वर्तमान रूप निश्चित हुआ है।

अश्वघोष और कालिदास में 'स्वभावोक्ति' के अच्छे उदाहरण अनेकानेक हैं। रामायण और महाभारत की तो बात ही दूसरी है।

'स्वभावोक्ति' अलंकार के नामकरण के विषय को भी दृष्टिगत रखना आवश्यक है। स्थान स्थान पर इसके अन्य नाम भी पाए जाते हैं। इन नामों में कोई रहस्य है या नहीं मुझे नहीं मालूम परन्तु प्रश्न विचारणीय अवश्य है।

'अग्निपुराण' में इसका नाम 'स्वरूप' बताया है। 'अलङ्कार शेखर' में केशव मिश्र ने इसको 'स्वभाव' ही कहा है जो संभवतः भामह से लिया है। भामह ने बड़ी कठिनाई से इसको अलंकार माना है यथा

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥

रुद्रट, भोज, हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ने इस अलङ्कार का नाम 'जाति' बताया है। बाण ने 'कादम्बरी' और 'हर्ष चरित्' के प्रारम्भ में 'जाति' का जिक्र किया है।

'जाति' की संज्ञा वास्तव में हमको प्रथम प्रथम आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में मिलती है। 'स्वभावोक्ति' का दूसरा नाम ही 'जाति' है ऐसा उन्होंने द्वितीय परिच्छेद के ८ वें श्लोक में स्पष्टतः लिखा है।

नानावस्थं पदार्थानां
रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या
सालंकृतिर्यथा॥

(पदार्थों के नाना अवस्थाओं के रूप का वास्तविक वर्णन—'स्वभावोक्ति' या 'जाति' कहलाता है)

श्लोक ९ में शुक, १० में पारावत, ११ में प्रियासखी, एवं १२ में वृषध्वज का स्वाभाविक वर्णन देकर स्वभावोक्ति या जाति का उदाहरण दिया है। वृषध्वज (शिवजी) का उदाहरण अवश्य चिन्त्य है। यथा—

कंठे कालः करस्थेन कपालेनेन्दु शेखरः
जटाभिः स्निग्धताम्राभि राविरासीद् वृषध्वजः

(हाथ में कपाल लिए, नीलकंठ, इन्दुशेखर, वृषध्वज, *स्निग्धलाल जटाओं को धारण किए दिखाई पड़े)*

जिसको महादेवजी के साक्षात् दर्शन नहीं हुए वह कैसे कह सकता है कि यह स्वाभाविक वर्णन है या नहीं!

खैर, चार उदाहरण देकर आचार्य दण्डी १३ में श्लोक में लिखते हैं —

जाति क्रिया गुण द्रव्य स्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येत दीप्सितम्॥

(किसी जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य का स्वाभाविक वर्णन करना स्वभावोक्ति है। इसका शास्त्रों में भी साम्राज्य है ही। काव्य-शास्त्र में भी यह ईप्सित है)

आलोचना

सूर सौरभ २ भाग—लेखक-पण्डित मुन्शीराम शर्मा 'सोम' एम० ए०, प्रकाशक—आचार्य शुक्ल साधना मंदिर, पटकापुर, कानपुर। मूल्य प्रथम भाग २) द्वितीय भाग ४॥)—पृष्ठ संख्या प्रथम भाग १२२, द्वितीय भाग १६६+१३७=३०३

तुलसी की भाँति अब सूर का अध्ययन भी विधिवत वैज्ञानिक ढङ्ग से होने लगा है। सूर पर कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकल चुके हैं उनमें यह ग्रन्थ अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी सर्वाङ्गपूर्णता इसकी एक बड़ी विशेषता है। प्रथम भाग में तो केवल अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य पर लिखी हुई सूर की जीवनी तथा वैष्णवधर्म का इतिहास है। दूसरे में सूर के ग्रन्थों की परस्परान्विति, सूर के सिद्धान्तों की पुष्टि-मार्गी वैष्णव सम्प्रदाय के आधार पर-विवेचना है। सूरसागरकाविवरण परिचय तथा काव्य मीमांसा, जिसमें सूर के भाव-पक्ष और कला पक्ष दोनों की प्रस्तुत आलोचना है, इन विषयों पर चार स्तम्भहै।

इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि लेखक ने आर्यसमाजी होते हुए भी पूर्ण वैष्णवी सहृदयता से सूर का अध्ययन किया है। उनका आर्यसमाजी दृष्टिकोण केवल एक जगह परिलक्षित होता है जहाँ पर कि वे यह कहते हैं कि वेद में कृष्ण राधा आदि ऐतिहासिक रूप में नहीं आये हैं वरन् उनका दूसरा अर्थ है, पीछे से पौराणिक साहित्य में वे अपनाये गये हैं। वैसे घोर आंगिरस के शिष्य के रूप में शर्माजी ने कृष्ण का ऐतिहासिक अस्तित्व भी स्वीकार किया है।

लेखक ने सूर के जीवन-चरित्र को देते हुए साहित्य-लहरी के पद को अधिक प्रमाणिक माना है और उसीके आधार पर उन्होंने उनको सारस्वत ब्राह्मण न मान कर चन्द्र का वंशज माना है। शर्माजी ने उस छन्द के सम्बन्ध में कतिपय आपत्तियों को दूर करने का प्रयास किया है जैसे 'प्रबल दक्षिण विप्र कुल तें सत्रु है है नास से उन्होंने वल्लभाचार्य द्वारा आध्यात्मिक शत्रुओं के नाश' का अर्थ लगाया है। किन्तु यहाँ प्रसङ्ग यवनों का है जिनके द्वारा उनके भाई मारे गये थे। पृथु जाग (यज्ञ) से उत्पन्न होने की उन्होंने जो कल्पना की है उसमें कुछ सार हो सकता है किन्तु उन्होंने चन्द्र के वंशानुक्रम में जो शुक्लजी आदि ने अन्तर दिखा दिया है उसकी पर्याप्त व्याख्या नहीं की है। सूर के सारस्वत ब्राह्मण होने के सम्बन्ध में हरिराय जी की जिस टीका का मिश्रबन्धुओं ने उल्लेख किया है वह विद्या-विभाग कांकरोली से प्रकाशित हो गई है। उसमें उनको सारस्वत ही लिखा है। 'सो ता गाम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रगटे' सूर के सारस्वत ब्राह्मण या ब्रह्मभट्ट होने से उनके कवित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

'पुनि पुनि रसन के रस लेख' के अर्थ लगाने में भी कुछ नवीनता की गई है। रसन का अर्थ साधारणतया रस न शून्य लिया जाता है, किन्तु शर्मा जी के मत से रसन का अर्थ रसना लेना अधिक ठीक होगा और उससे उसका

अर्थ १ लिया जायगा। यहाँ तक तो बात ठीक समझ में आती है। रसना के दो कार्य लेकर उसका अर्थ दो लेना कुछ खींचतान मालूम होती है। सुवल का अर्थ वृषभ सवत् लगाने में भी कल्पना का आधिक्य प्रतीत होता है।

शर्माजी ने साहित्यलहरी के पद के आधार पर वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने से पूर्व सूरदासजी को शैव माना है। उस पद में शिव-साधना का उल्लेख है। पहले तो इस पद की प्रामाणिकता में बहुत सन्देह है दूसरे उनके विनय के पदों में जो दीक्षा लेने के पूर्व के कहे जाते हैं शैव सम्प्रदाय की झलक नहीं है, इस सम्बन्ध में दूसरा पक्ष उनको हरिदासी सम्प्रदाय का साधु बतलाता है। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए दूसरे पक्ष का भी विवेचन और उल्लेख वांछनीय था। यह बातें गौण हैं।

शर्माजी ने राधा कृष्ण लीला का लौकिक पक्ष कम लिया है। उसके आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया है और राधा को ब्रह्म की प्रकृति का रूपान्तर माना है। यद्यपि लौकिक और आध्यात्मिक पक्षों का एकीकरण बड़ा कठिन है तथापि यह उनकी सहृदयता का परिचायक है। रासलीला को भी उन्होंने विश्व के कण-कण में व्याप्त समय और संगीत का प्रतीक ही माना है। लेखक की सहृदयता इससे स्पष्ट है कि जहाँ साधारण लोग राधाकृष्ण की विलास वैभव पूर्ण मन्दिरों में अभिनीत दिनचर्या की निन्दा करते हैं वहाँ उन्होंने उसका उदाशय पूर्ण अर्थ लगाया है। वे कहते हैं :—"सम्भव है इस चहल पहल में मुगलों के वैभव का भी कुछ प्रभाव हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की उपासना पद्धति ने हिन्दुत्व को स्थिर रखने में बड़ी सहायता दी। इस वैभव के समक्ष हमने यवन-वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी, इसी हेतु हमने सूर की भक्ति को प्रवृत्ति मूलक माना है। उसमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, जीवन से ज्वलन्त राग का, आशा का स्रोत है।"

लेखक महोदय ने सूर पर निर्गुण प्रभाव भी माना है जो भगवान को हृदय के अन्तरपट में ही देखना चाहता है। यद्यपि उन्होंने यह लिख दिया है कि यह प्रभाव वल्लभसम्प्रदाय में दीक्षा के पहले का है तथापि उन्होंने सूर के बाह्य पक्ष पर इतना बल नहीं दिया है जितना अन्तरमुखी पक्ष पर। जहाँ उन्होंने तुलसी के सम्बन्ध में कहा है कि "इस बात पर खीज कर तुलसी ने कहा था—'अन्तर्जामिहुते बड़ बाहरिजामि है, राम के नाम लिये ते। पैज परे प्रहलादहु को, प्रकटे प्रभु पाहन ते न हियेंते' पर सूर आन्तरिक साधना से अधिक प्रभावित हैं" वहाँ यह कहा जा सकता है कि सूर ने भी ऐसी बात गोपियों से कहलाई है 'उर से क्यों न करत शीतल जो पै कान्ह यहाँ है 'जो पै हिरदे माँझ हरी, तो पै इतनी अवज्ञा उन पै कैसे सही परी' और लीजिये :—

दूर नहीं दयालु सब घर रहत एक समान।
निकस क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान।

सारा भ्रमरगीत ही आन्तरिक पक्ष के विरोध में है उसमें शैव जोगियों की हँसी भी उड़ाई गई है—'इक दहदि डारि हारि गुन, गहत पानि बिषान' और देखिये —

जोग-मोट सिर बोझ आनि कै,
कत तुम घोष उतारी।
इतनी दूरि जाहु चलि काशी,
जहाँ बिकत हैं प्यारी।

काशी पर व्यंग के कारण भी हमको सूर के दीक्षा के पूर्व शैव होने में सन्देह होता है। यद्यपि यह ठीक है कि मत-परिवर्तन में कुछ अधिक उत्साह आजाता है (नया मुसलमान अल्लाह अल्लाह पुकारे) और अपने पूर्वमत का खण्डन भी कर सकता है किन्तु सूर के लिए हम ऐसा नहीं सोच सकते, यह तो असङ्गत बात है। (उनका शैव होना न होना उनकी दीक्षा-पूर्व की विचार धारा पर निर्भर है) सूर के सगुण के प्रति आस्था को सभी जानते हैं। शर्मा जी ने सूर पर निर्गुण के प्रभाव के भी उदाहरण दे दिये, उसके लिए हम उनके अनुगृही हैं, लेकिन उसी स्थल पर सूर का सगुण और बाह्यपक्ष ओझल न कर देना चाहिए था। वैसे भ्रमरगीत के प्रसंग में उनके सगुणवाद का भी उद्घाटन कर दिया गया है। शर्माजी ने सूर के भाव-पक्ष के उद्घाटन में काफी सावधानी, विस्तार (और गहराई से भी) काम लिया है। भाव-पक्ष

में सचारियों का अच्छा विश्लेषण किया है। प्रेम की दशाओं और नायिका भेद के उदाहरण दिये हैं। सूर में शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के भी उदाहरण उपस्थित किए हैं किन्तु खेद है वत्सल्य का उतना विशद वर्णन नहीं है जितना शृंगार का। सूर के प्रकृति-वर्णन में उन्होंने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप से तथा अलङ्कार रूप से नहीं वरन् उसके कोमल और भयङ्कर रूप में भी किया है तथा उसका विश्यात्मक चित्रण भी दिखाया है।

साहित्यिक

हिन्दी कलाकार। (भांवार्थ रूप में) लेखक—श्री इन्द्रनाथ मदान एम० ए०, पी० एच-डी०, प्रकाशक—हिन्दी भवन, लाहौर। पृ० संख्या १७८, मूल्य ५)

इस पुस्तक में हिन्दी के दस कवि तथा लेखकों की रचनाओं का परिचय, उनका आलोचनात्मक वर्णन है। कवियों में कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त जयशङ्कर प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा हैं। प्रसादजी को प्रथक नाटककार के रूप में तथा अन्त में श्री प्रेमचन्दजी को उपन्यासकार के रूप में चित्रित किया गया है। लेखक का उद्देश्य प्रत्येक कलाकार की रचना का उसके कला के रूप में विवेचन करना है। प्रत्येक कलाकार अपने युग का वाणी का प्रवक्ता होता रहा है। उसकी रचनाओं पर जहाँ युग-प्रवृत्तियों की छाप होती है सामाजिक अवस्था और तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव होता है, वहाँ उनकी वैयक्तिक भावनाओं, स्वतन्त्र प्रवृत्तियों का अभाव नहीं हो जाता। इस रूप में कबीर, जायसी, सूर और तुलसी भक्तिकाल के कवि हैं, साथ ही कबीरजी उसकी संत मार्गी शाखा के प्रवर्तक, जायसीजी प्रेम मार्गी तथा सूरदास और तुलसीदास क्रमश: कृष्ण और रामोपासक भक्त समूह की भावनाओं के प्रतिनिधि हैं। आधुनिक कलाकारों में लेखक ने श्री मैथिलीशरण को भारतीय संस्कृति के वर्तमान प्रतिनिधि के रूप में, श्री प्रसादजी को छायावाद के प्रवर्तक तथा पन्त और निरालाजी को छायावाद के यौवन शृङ्गार-कर्ता और महादेवी वर्मा को उसमें मार्दव तथा सुकुमारता लाना वाला व्यक्त किया है। इसी प्रकार श्री प्रेमचन्दजी को आधुनिक उपन्यासकारों का प्रतिनिधि माना है। लेखक का यह मत और विश्वास है कि हिन्दी साहित्य का स्वतन्त्र-विकास केवल भक्तिकाल और आधुनिक काल में ही उक्त कलाकारों द्वारा हुआ है। अतः वीरगाथा काल के साहित्य और उसके साहित्यकारों को लेखक आश्रयदाताओं का दास मान उन्हें कला के स्वतन्त्र विकास की चीज नहीं समझता। इसी प्रकार रीति काल के कवि को भी यह विस्मृत करने योग्य ही समझता है। इस बात में बहुतों को आपत्ति हो सकती है। आधुनिक साहित्यकारों में कितने ही और भी कलाकार हैं जो श्रेष्ठ नाटककार, कवि या उपन्यासकार की श्रेणी में रक्खे जाने चाहिये। लेखक ने अपने मत की पुष्टि में सफाई भी दे दी है।

—रमेशशर्मा

कविता

सारन्धा—रचयिता-श्री राजेन्द्र देव सेंगर, प्रकाशक-विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा। पृष्ठ ११७, सजिल्द मूल्य ४)

यह एक ऐतिहासिक वीर काव्य है। सती सारंधा की कथा लोगों ने पढ़ी है। पर न साहित्य में और न वीर-पूजा में इस महान आत्मा को वह स्थान मिला है, जिसकी अपेक्षा हमसे की जानी चाहिए। वास्तव में यह उपेक्षा सारंधा की नहीं, हमारी गुण ग्राहक बुद्धि, ऐतिहासिक ज्ञान और ग्राम-गौरव की उपेक्षा है। सारंधा का सचरित्र भारत के इतिहास में बेजोड़ है। उसका जौहर पद्मिनी के जौहर से भी ऊंचा, उसकी वीरता लक्ष्मीबाई की वीरता से भी ऊंची है।

ऐसी वीर बाला के प्रसिद्ध कथानक पर कवि ने अपनी काव्य रचना की है। विषय का महत्व स्वतः प्रगट है। अतः यह पोथी कवि समाज और कविता पाठक तथा देश और जाति के गौरव पर अभिमान करने वाले प्रत्येक भारतीय के लिए आदर की चीज होगी। नमूने के लिए यहाँ पुस्तक में से कुछ पंक्तियाँ हम उद्धृत करते हैं—

सारंधा के पति को लताड़—

राणा भी तो हो सकता था,
भारत का वैभव भोगी।

फिर क्यों फिरा अरे बन-बन में,
अलख जगाता वह योगी।
टुकड़े टुकड़े रोटी को ही,
दुखिया बच्चे तरस गये।
हरी घास की रोटी पर ही,
उनके आंसू बरस गये।
मन था खत्री किन्तु राणा था,
थान तुम्हारा सा सोभी।
क्षत्रिय क्या हैं ? पता चल गया,
था इसका अकबर को भी।
उसके चेतक की टापों से,
धन्य राजपूताना था।
एक वीर था वह हिन्दू पति,
एक आपका बाना था।

पुत्र की बलि देते समय—

दयानिधे ! यह तरुण तनय,
यह होनहार सुत प्यारा।
बुंदेलों के गौरव पर,
करती हूँ भेंट दुलारा।

पति का बलिदान करते समय—

जिस पर करती रहीं हास्य थी अभिलाषायें,
जिस पर छाइ रहीं अमित उसकी आशायें।
जो उसके आत्माभिमान का केन्द्र बना था।
जिस पर उसके सुरत सुहाग का शिखर तना था।
उस रानी ने निज खंग से उसी हृदय का बध किया
किस स्त्री की तलवार ने है ऐसा जौहर किया।

काव्य इतिहास नहीं है। इतिहास के आधार पर कवि की कल्पना समीचीन है। कहीं कहीं छन्द शिथिल होगये हैं और शब्दों का चयन भी अटपटा सा लगता है। प्रूफ की गलतियाँ भी खटकती हैं। मूल्य में तेजी की गई है। पुस्तक लाभप्रद और पठनीय है।

अरुणिमा—रचयिता—श्री युगलकिशोर चटैरिया 'युग', प्रकाशक—बुंदेलखण्ड साहित्य परिषद, महोबा। पृष्ठ ८०, मूल्य १)

'अरुणिमा' के अन्दर कवि की २८ कविताओं का संग्रह है। अधिकतर कवि प्रकृति का सहारा लेकर उस पर कल्पना का सुन्दर आवरण चढ़ाते हैं, अरुणिमा के कवि ने भी यह आधार ढूँढा है, इस आधार के अभाव की कविताएँ फिर वही नैराश्य जीवन का एक रोदन (भले ही वह स्वर और गति के साथ हो) बन जाती हैं। कई राष्ट्रीय कविताएँ इस संग्रह में स्थान पा गई हैं जो कवि के विकासशील जीवन का परिचय देती हैं।

अवसाद—रचयिता-श्री 'मानव', प्रकाशक-श्री विश्वम्भर 'मानव' बनवटा मुरादाबाद पृष्ठ सं० ५१, मूल्य ॥)

इस पुस्तक में श्री मानवजी की इक्यावन कविताएँ संग्रहीत हैं। कविताएँ भावमयी, कवित्व के गुण से पूर्ण तथा हृदय स्पर्श करने वाली हैं किन्तु हैं वे कवि की अपनी अकेली दुनिया की चीज हैं।

स्वातः सुखाय अथवा कविता की प्यास की तृप्ति के लिए की गई रचना में कवित्व के गुण आ सकते हैं, समाज के काम की चीज वह नहीं बन सकती। मानवजी की इन कविताओं में रूप, रस, गंध की ही भावना का प्रस्फुरण है। मानस-तरंगें कभी वियोग कभी भेंट और तज्जनित अनेकों आवेगों के बीच में होकर अपना पात्र बनाती हैं। कवि उन्हें छंद में गूँथ लेता है। पढ़ने वाले को उसमें यथा स्थान प्रसाद और माधुर्य गुण का आनन्द आ जाता है।

पृष्ठ २१० का शेषांश

देव पुरस्कार—इस वर्ष का देव पुरस्कार खड़ी बोली के काव्य पर था। हमको यह सूचित करते बड़ा हर्ष होता है कि यह पुरस्कार आगरे के सुप्रसिद्ध कवि पंडित हरिशङ्करजी शर्मा को उनकी 'घास-पात' नाम की पुस्तक पर मिला है। घास-पात नाम पंडितजी की निरभिमानता और शील-संकोच का द्योतक है किन्तु हमको यह न भूलना चाहिए कि इस घास-पात में भी घास-पात की भाँति राष्ट्रीय जीवन के तत्व वर्तमान हैं। पंडितजी की एकान्त साहित्य साधना का मूल्य रूपयों में नहीं आँका जा सकता फिर भी उनकी साधना को पुरस्कृत देखकर हमको हर्ष होता है और हम उनको हृदय से बधाई देते हैं।

सम्पादकीय

विक्रम द्विसहस्राब्दी के स्मृति-ग्रन्थ —

विक्रम की द्विसहस्राब्दी हमारे इतिहास में एक महत्व पूर्ण घटना थी। उसके स्मारक स्वरूप तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, दो उद्योग सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा हुए हैं, एक श्री नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के विशेषाङ्क के रूप में। यह पत्रिका का 'विक्रमाङ्क' डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित है। इसमें छब्बीस शीर्षक हैं, जिनमें चार संकलित हैं, ११ स्वयं डा० वासुदेवशरणजी के हैं, शेष श्री रामदत्त शुक्ल भारद्वाज, श्री पृथिवपुत्र (!), डा० अनन्त सदाशिव अलङ्कार, डा० राजबली पांडेय, श्री भगवद्दत्त, श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, डा० मोतीचन्द, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार के हैं। इस अङ्क की सामग्री जुटाने में सम्पादक का दृष्टिकोण भारतीय इतिहास और संस्कृति के उन विषयों को प्रमुखता देने का रहा है, जिन पर साधारणत कम चर्चा हुई है और जिधर कम ध्यान गया है। इसका प्रत्येक निबन्ध तत्वज्ञों के लिये महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यह तो पत्रिका का अङ्क ही है, २४० पृष्ठों का और इसका खोज विषयक महत्व है। दूसरा उद्योग मथुरा के ब्रज साहित्य मण्डल के द्वारा हुआ। यह 'विक्रम महोत्सव ग्रन्थ' कहलाता है। इसमें विविध विद्वानों के लेख हैं, और विक्रम संवत् तथा विक्रम की २००० वर्ष की संस्कृति से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा हो इसमें हो गयी है। निस्सन्देह इसमें मथुरा के विषय में भी विशेष ज्ञातव्य ऐतिहासिक सामग्री है। इसके सम्पादक श्री मदनमोहन नागर हैं। पर यह काया में विशेष विशाल नहीं हो सकी है। अत. विषयों के विस्तार और लेखकों की लम्बी सूची से रहित है। तीसरा उद्योग भारत के एक प्रमुख देशी राज्य ग्वालियर की ओर से हुआ है। यह उद्योग अत्यन्त विशद और विशाल है और दर्शनीय तथा अभिनन्दनीय है। इसका नाम 'विक्रम स्मृति ग्रन्थ' है। इसके तीन भाग हैं — १ विक्रम-चक्र, २ विक्रम प्रदेश और ३ विक्रमार्दन। दो खण्डों में ऐतिहासिक विषय हैं, पहले में स्वयं विक्रमादित्य, उनके परिकर और दरबार के विषय में, और दूसरे में विक्रम से सम्बन्धित उज्जैनी महाकाल मन्दिर आदि के विषय में ऐतिहासिक महत्व की चर्चा हुई है। तीसरे खण्ड में विक्रम के दो सहस्र वर्षों में जो सांस्कृतिक उन्नति हुई है उसका दिग्दर्शन करने का उद्योग हुआ है। पहले खण्ड का नामकरण विशेष बधाई देने योग्य नहीं है। आजकल की भाषा में चक्र के सम्बन्ध में कुभावनाएँ सी प्रचलित हैं। हमको दूसरे खण्ड की ऐतिहासिक सामग्री पहले से भी अधिक महत्वपूर्ण मालूम पड़ती है क्योंकि उसमें अनुमान की अपेक्षा प्रामाणिकता अधिक है। महाकाल के मन्दिर और उज्जैनी के सम्बन्ध में जो सामग्री दी गयी है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें आलमगीर औरङ्गजेब की भी एक सनद संग्रहीत है जिसके द्वारा महाकाल के मन्दिर को चार सेर घी नित्य प्रति दान मिलता था। यह पुस्तक ग्वालियर राज्य से सम्बन्धित है। इसमें उज्जैन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण खोज रहना उपयुक्त ही है। संस्कृति सम्बन्धी खण्ड का उद्देश्य तो अवश्य सराहनीय है किन्तु उसकी महत्ता के अनुकूल उसकी पूर्ति नहीं हो सकी है। यह ग्रन्थ चित्रों से सुसज्जित है इनमें से अधिकांश चित्र विक्रम से सम्बन्धित हैं और यह बात उपयुक्त ही है, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से यदि दो हजार वर्ष का चित्र कला का उन्नति-क्रम दिया जाता तो विशेष महत्व की बात होती। इन अभावों के होते हुए भी इस ग्रन्थ में जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री उपस्थित की गया है और देश के विभिन्न प्रान्तों के लेखकों और कलाकारों का सहयोग प्राप्त किया गया है उसके लिए ग्वालियर राज्य बधाई का पात्र है और इससे भी अधिक बधाई का पात्र वह तब होता जब विक्रम की स्मृति में प्रस्तावित हिन्दी विश्व विद्यालय की स्थापना हो जाती।

पं० सीताराम चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में निकली हुई कालिदास ग्रन्थावली भी इसी अवसर से सम्बन्धित एक प्रशंसनीय योजना है। उसमें कालिदास के सभी ग्रन्थ मूल और हिन्दी अनुवाद सहित संग्रहीत हैं। ग्रन्थावली का भाग बृहदाकार हो जाने के कारण आलोचना भाग

कुछ संकुचित रहा है। फिर भी कालिदास की कला का रसास्वाद कराने के लिए काशी का विक्रम परिषद् और पं० सीताराम चतुर्वेदी धन्यवाद के पात्र हैं।

महामना मालवीयजी का निधन

देश के दुर्भाग्य से १२ नवम्बर के मध्यान्होत्तर राष्ट्र के रत्न, हिन्दू संस्कृति के संरक्षक तथा हिन्दी प्रचार आन्दोलन के अग्रदूत और उन्नायक महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय का स्वर्गवास हो गया। उन्होंने अपने जीवन में हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता का बड़ा अपूर्व समन्वय किया था। वे राष्ट्र और हिन्दू जाति के हित-चिन्तन में मरण पर्यन्त संलग्न रहे। शिक्षा और संस्कृति के वे प्रकाश केन्द्र थे।

हिन्दी को अदालतों में स्थान दिलाने में उनका प्रमुख स्थान था। जिस लगन से उन्होंने हिन्दी के आन्दोलन को अग्रसर किया था वह प्रत्येक देश-सेवक के लिए गर्व की बात हो सकती है। वे साहित्य-सम्मेलन के सभापति के आसन को दो बार सुशोभित कर चुके थे। उनके द्वारा संस्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय ने भी हिन्दी का मान बढ़ाने में बड़ा सहयोग दिया है। आचार्य प्रवर डाक्टर श्यामसुन्दर दास तथा पण्डित रामचन्द्र शुक्ल वहीं विश्व-विद्यालय से सम्बद्ध रहे। यद्यपि वे आप्तकाम थे और उनका स्वर्गवास शोक का विषय न होना चाहिए तथापि वे राष्ट्र-सेवा और हिन्दू संस्कृति के अन्तिम प्रतीक थे। उनके निधन से राष्ट्र को ऐसी क्षति पहुँची है जिसकी पूर्ति सहज में नहीं हो सकती है। उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से हिन्दी को वह प्रतिष्ठा दिलाई थी जो आज उर्दू को प्राप्त है। उसको कार्य रूप में परिणत करना जनता और वकीलों के हाथ में था किन्तु इस उत्तरदायित्व को न जनता ने निभाया और न वकीलों ने। दोनों ही अपने स्वार्थ के साधन में मातृ भाषा के हित को भूले हुए हैं। हिन्दू-विश्व-विद्यालय ने भी सैद्धान्तिक रूप से हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने का निश्चय कर लिया है। यदि अदालतों में हिन्दी का प्रचार व्यावहारिक रूप से अग्रसर हो और विश्व विद्यालय हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने में क्रियात्मक उद्योग करें तो हम समझेंगे कि पूज्य मालवीयजी की आत्मा को उनके उपरान्त इस पर भी फलवान हो रही है।

कराँची सम्मेलन—

कराँची में साहित्य सम्मेलन का चौंतीसवाँ अधिवेशन दिसम्बर की २६, २७, २८, २९, ३० तारीखों में मनाया जायगा। इसके लिए सभापतियों का चुनाव इस प्रकार हुआ है

प्रधान सभापति—श्री वियोगी हरि

साहित्य परिषद्—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

राष्ट्र-भाषा परिषद्—डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी

दर्शन परिषद्—पं० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय

विज्ञान परिषद्—पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी

समाज परिषद्—पं० वासुदेव उपाध्याय

सिन्धी शब्द हिन्दी का ही रूपान्तर है वरन् यह कहना ठीक होगा कि हिन्दी शब्द सिन्धी से बना है तथापि अब सिन्धी भाषा हिन्दी से बहुत दूर होती जाती है। उससे संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार हो रहा है और उसकी लिपि भी अरबी लिपि हो गई है। उसकी लिपि के नागरी लिपि में परिवर्तन होने की बड़ी आवश्यक समस्या है। यदि साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार धन और जन के सहयोग से उसकी लिपि देवनागरी कराने में प्रयत्नशील हों तो वे सिन्ध की संस्कृति और साहित्य को भारतवर्ष के अन्य साहित्यों के निकट लाने में सहायक होंगे। हम सिन्ध में नागरी लिपि इसलिए नहीं चाहते कि हमको अरबी लिपि से कोई साम्प्रदायिक विरोध है वरन् यह कि नागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक और ध्वनि-शास्त्र (Phonetics) के अनुकूल है। सिन्ध की लिपि सुधार के अतिरिक्त साहित्य-सम्मेलन हिन्दी में उच्च शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों को लिखा कर विश्व-विद्यालयों के इस निश्चय को कि शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो क्रियात्मक रूप देने में सहयोग दे सकता है। अभी तो स्वयं साहित्य-सम्मेलन के पाठ्य-क्रम में हिन्दी पुस्तकों के अभाव में अँग्रेजी की पुस्तकों का व्यवहार होता है। थोड़े साहस और अध्यवसाय की आवश्यकता है पुस्तकों के तैयार हो जाने पर पढ़ने वालों की कमी न रहेगी।

शेष २४८ पृष्ठ में

११] आगरा—नवम्बर, १९४९ [अङ्क ५

विषय-सूची

गुलाबराय एम० ए०
मई-इ

प्रकाशक—
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

वार्षिक मूल्य
एक अङ्क का

परीक्षार्थी प्रबोध की विषय-सूची

— —

भाग ११] आगरा—नवम्बर, १६४६ [अङ्क ५

हिन्दी की प्रयोगवादी कविता

श्री डा० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट्०

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रयोग करके ही अपने आविर्भाव की घोषणा करती है। परन्तु इन दिनों यह विशेषण आधुनिक कविता की एक प्रवृत्ति विशेष के लिये प्रायः रूढ़ सा हो गया है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असंतोष सा उत्पन्न हो गया था, और धीरे धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यंत बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। भाव वस्तु में छायावाद की तरल अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक-सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की माँग हुई, दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का जोर बढ़ा और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नानारूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक हो गये। एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी *जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-* *र्तव्य* मान कर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा। उसने *किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की*—वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेकरूप, अस्थिर, चिर-प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का पार्थक्य सर्वदा स्थिर, और सीमा रेखाएँ एकांत दृढ़ नहीं हैं। साहित्यिक वर्ग विभाजन में यह कभी सम्भव नहीं होता। अनेक प्रगतिवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, उधर अनेक प्रयोगवादियों की भाव-भूमिका पर एकान्ततः साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर केवल प्राथमिक उद्देश्य का है। पहला वर्ग जहाँ सामाजिक चेतना की जागर्ति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग वहाँ वस्तु और शैली दोनों में ही चिर-प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूलतत्व स्वभावतः ही काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। "दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। × × × × बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अभी राही हैं—राही के अन्वेषी।" अज्ञेय : 'तार-सप्तक' की भूमिका। इस वर्ग के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक चिर-गतिशील सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध, अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव वस्तु और शैली दोनों ही के क्षेत्र में, ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्देह से देखते हैं और नवीन उपकरणों को आग्रह-पूर्वक ग्रहण करते हैं। जीवन और काव्य दोनों में ही यथास्थितत्व के ये घोर विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा अमान्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो सकता है—और फिर उसी की पुनरावृत्ति शेष रह जाती है। यही बात काव्य पर भी लागू होती है, काव्य का परम तत्व प्रत्येक युग के लिये सदैव प्राप्य ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के ग्रास पर कोई भी युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अंग्रेजी साहित्य में भी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया। प्रयोगवादी कविता में रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है, परन्तु यह व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। हिन्दी में वह प्रतिक्रिया अधिक स्थिर और स्पष्ट है। इस प्रतिक्रिया के दो रूप हैं भाव-क्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ और सौन्दर्य की परिधि में कोमल, मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, अनगढ़ और भदेस का समावेश किया गया। वास्तव में नए कवि ने अतिशय कोमलता और मार्दव से ऊब कर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक ही आग्रह के साथ ग्रहण किया—

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य धन गदहा।

यहाँ तो केवल वस्तु में ही भदेसपन है क्योंकि इनका लेखक अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त परिमार्जन के कारण भाषा को भदेस नहीं बना पाया है। अन्तर्बाह्य भदेसपन के लिये रामविलास और केदार या इस मनोवृत्ति छापने वाली कविताएँ आदर्श हैं—

सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।

अपने इस काव्य की सफाई में उसने कहा कि सौन्दर्य को केवल मधुर-कोमल में सीमित कर देना अत्यन्त संकुचित दृष्टि का परिचायक है। सौन्दर्य-चेतना एक अत्यन्त व्यापक चेतना है और गत्यात्मक भी, जो परिस्थिति के अनुसार विकसित होती रहती है। जिस प्रकार मधुर-कोमल उसका एक रूप है उसी प्रकार अनगढ़ और परुष भी, आज के जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे निकट है इसलिए उसकी चेतना हमारे लिये अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है।

आज का जीवन सर्वथा विशृंखलित और अव्यवस्थित है—जीवन मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियां डालदी हैं जिनमें कि आज का विचारक फंस कर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आये परन्तु मानव चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा पर आज तो नैतिक समाज और सभ्यता का आधार ही भग्न हो गया है। इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति प्राय स्वतन्त्र थी किन्तु आज वे एक दूसरे में गुंथ गई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव को भी जन्म दे दिया है। विश्वास का सूत्र सर्वथा छिन्न भिन्न हो गया है, और आज की सब से बड़ी दुर्घटना यही सर्वग्राही अविश्वास है। आज न अध्यात्म-दर्शन में विश्वास है न भौतिक दर्शन में। विज्ञान ने ईश्वर-विश्वास तो हिला दिया है परन्तु वह अपने में विश्वास जमाने में असफल रहा है। समाज की प्राचीन व्यवस्था भग्न हो गई है परन्तु नवीन व्यवस्था दूर तक नहीं दिखाई देती। राजनीति में हिंसा अहिंसा, प्रजातन्त्रवाद साम्यवाद, सर्वाधिकारवाद, और अर्थनीति में पूंजीवाद और समाजवाद का, दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का, और मनोविज्ञान में चेतन और अवचेतन अचेतन आदि का ऐसा कुहराम मचा हुआ है कि आज के मानव की चेतना एकदम धूमिल और तमसाच्छन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य-बोध को ग्रहण कर लेना असम्भव है। यदि ऐसा किया जाता है तो वह वास्तविक और हार्दिक नहीं है केवल काल्पनिक अथवा भावगत है। छायावाद सौन्दर्य बोध के विरुद्ध इन कवियों का यही प्रबल आक्षेप है और ये उसके प्रतिकार रूप आज के आच्छन्न जीवन के अनुकूल सौन्दर्य बोध को ही वास्तविक एवं हार्दिक मान कर चलते हैं।

जीवन-मूल्यों की अव्यवस्था नवीन काव्य में अत्यन्त मुखर है। आध्यात्मिक, सामाजिक, और साहित्यिक उपादानों में लघु गुरु के अन्तर को प्रयोगवादी कवि झटके के साथ अस्वीकार कर देता है और सूर्य और मेंढक, चांदनी रात और मूत्र सिंचित वृत्त में पड़े हुए गदहे, नूपुर ध्वनि और चप्पल, फटे क्रिकटे और खाली चाय की प्याली को साथ साथ ग्रहण करता है

१—तू सुनता रहा मधुर नूपुर
ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल।

(भारत भूषण)

२—कब तक मगज मारता बैठूं
तुमसे फटे और बीजों के,
तर्क घुला जाता है थांके
उधड़ रहे सीने के टांके।
जीवन धारा हो तो हो,
यह प्यार कभी जोरों से खाली
यह सब एक विराट व्यंग है,
मैं हूँ सच औ चा की प्याली।

(माचवे)

यहां से प्रयोगवादी कविता का वस्तु-परक दृष्टिकोण जोर पकड़ता है। प्रयोगवादी कवि का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक वस्तु गत बनाए, वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ा कर वस्तु की आन्तरिक अर्थ व्यञ्जना को अनूदित करे। आज के हिन्दी कवि के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य्य है क्योंकि वह छायावाद की अतिशय भाव-परकता में पगा हुआ है। केवल केदार, शमशेरसिंह और अंशतः अज्ञेय ही इसमें सफल हो सके हैं। कारण यह है कि छायावाद के विरुद्ध उत्कट चेतना रखते हुए भी इनमें अधिकांश कवि उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये।

वास्तव में देखा जाय तो इन कवियों के लिए अपने व्यक्तित्व से बचना सम्भव ही नहीं है। इनमें से अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति एकान्त अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निविड़ता में उलझे हुए हैं—

सबसे अधिक अज्ञेय ! मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभावयश अवचेतन का अध्ययन इनकी कविता का मुख्य विषय है। अवचेतन की काम-कुण्ठाओं का प्रतीकों द्वारा यथा-तथ्य चित्रण अज्ञेय और गिरिजा-कुमार में अत्यन्त स्पष्ट है, और वैसे अन्य कवि भी इससे मुक्त नहीं हैं। छायावाद में भी यह प्रवृत्ति अत्य-धिक प्रबल थी। परन्तु दोनों की चेतना में भारी अन्तर है। छायावाद का कवि जहाँ अनजाने ही अपनी कुण्ठाओं का काम प्रतीकों द्वारा प्रधानतः प्रकृति-प्रतीकों द्वारा सहजरूप में व्यक्त करता था, वहाँ प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन-विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है। इस प्रकार इस कविता में व्यक्तित्व की निविड़ताओं को वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा वस्तुगत रूप में अंकित करने का प्रयत्न रहता है। और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहाँ वस्तु परक और व्यक्ति-परक दृष्टिकोण प्रतिद्वन्द्वी न रह-कर साधक-साध्य बन जाते हैं। कवि अपने अवचेतन के अर्धव्यक्त खण्डों को, जो एकान्त व्यक्तिगत होते हैं, यथावत् वस्तु रूप में अंकित करने का प्रयत्न करता है। यथावत् अंकन का यह प्रयत्न काव्य की बिम्ब-ग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है। इसमें विशेष की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कट आग्रह रहता है कि कवि साधारणीकरण भी नहीं कर पाता वरन् एक प्रकार से वह साधारणीकरण को अनावश्यक मानता है। वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खण्डों को उसी अव्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है। उसका अभीष्ट रहता है अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—अतएव वह अधिक से अधिक निकटवर्ती प्रतीकों का प्रयोग करता है। अवचेतन के अर्धव्यक्त भावखण्डों के पास पहुँचते-पहुँचते ये प्रतीक स्वयं भी अर्धव्यक्त और निविड़ होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वाभा-विक एवं अनिवार्य मानता है क्योंकि उसका मत है अर्धव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिये पूर्णव्यक्त प्रतीक अवांछित हैं। वे श्रोता या पाठक को अभिप्रेत भाव-खण्ड का संवेदन न करा कर उसके मन में किसी भिन्न भाव-खण्ड अथवा धारणा की उद्बुद्धि करते हैं। अतएव वे वह अर्धव्यक्त एवं असम्बद्ध प्रतीकों का सचेष्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में वे मनो-विश्लेषण शास्त्र की 'मुक्त-विचार-प्रवाह' 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।

परिणाम स्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कवि-ताओं पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रङ्गीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म-तरल भावना चिन्तन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्व का बोझीलापन है। परन्तु स्मरण रहे कि ये प्राचीन दार्शनिक अथवा चिन्तन-विचार-प्रधान कविताओं की परम्परा में नहीं आतीं। उदाहरण के लिये विनय-पत्रिका, अथवा जयशंकर प्रसाद महादेवी आदि की दार्शनिक कविता और नवीन प्रयोगवादी कविता में कोई साम्य नहीं है। उन कविताओं में जहाँ दर्शन अथवा विचार को राग का विषय बनाया गया है वहाँ इन कविताओं में प्रायः रागात्मक तत्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। प्राचीन कविता में विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध था—पर इस कविता में विषय और काव्यानुभूति के बीच बुद्धि गत सम्बन्ध है। वास्तव में इस कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएँ (Intellectual Concepts) और मनोविश्लेषण हैं, जो प्रायः विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र आदि के उपजीवी हैं।

यहाँ तक तो हुई भाव-वस्तु की बात। शैली-शिल्प के क्षेत्र में प्रयोगवाद का आग्रह और भी उत्कट है। "जो व्यक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।" इस क्षेत्र में प्रथम विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी शब्द की प्रचलित अर्थ-व्यञ्जना को सामान्यतः ग्रहण करना पसन्द नहीं करता—अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिये वह साधारण-शब्दार्थ को असमर्थ पाता

है इसलिये वह उसका विशिष्ट प्रयोग करता है—अर्थात् 'शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है।' उसके मन में यह विश्वास बैठ गया है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं। "अतएव वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़ कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" इसके लिये वह तरह-तरह के प्रयोग करता है। एक तो विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण शास्त्र, बाजार गाँव, गली-कूचे सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द भाण्डार को व्यापक बनाता है, दूसरे शब्दों का विचित्र और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है, और तीसरे अपने अप्रस्तुत विधान को अत्यन्त असाधारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यञ्जना और समास-शक्ति पर इतना भार लादने की चेष्टा करता है कि वह अस्तव्यस्त हो जाती है और उसकी अर्थ व्यञ्जना जवाब दे देती है। अपने उस 'बड़े अर्थ को' पाठक के मन में उतार देने के लिये भाषा के साधन अपर्याप्त ठहरते हैं—निदान नये कवि को इतर साधनों की शरण लेनी पड़ती है। "भाषा को अपर्याप्त पाकर उसे विराम संकेतों, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों, छोटे बड़े टाइप, सीधे उल्टे अक्षरों, लोगों और स्थानों के नामों, अधूरे वाक्यों की शरण लेनी पड़ती है"—या फिर विदेश के प्रभाववादी, मूर्तिवादी आदि प्रयोगों का जाने अनजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक गोरखधंधा उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार छन्द विधान में भी इस क्षुब्ध संकुल भाव-वस्तु और तदनुरूप अस्त व्यस्त काव्य सामग्री को वहन करने योग्य नए-नए प्रयोग अनिवार्य हो गये। पुराने वर्णिक और मात्रिक छन्दों की स्थिरता नये जीवन की अस्थिरता को वहन नहीं कर सकती, इसलिए प्रयोगवादी कवि प्रायः मुक्त छन्द को ही ग्रहण करता है और उनमें वर्णिक छन्दों और मात्रिक छन्दों की भिन्न-भिन्न संयोजनाओं के अति-रिक्त पदांश और स्वरपात आदि की भी व्यवस्था करता है। तुकों का वह अत्यन्त सूक्ष्म प्रयोग करता है, पूर्णान्त तुकों का तो वह प्रायः प्रयोग ही नहीं करता क्योंकि उसकी धारणा है कि पूर्णान्त तुक छन्द बन्दों को अतिशय नादमय बनाकर विषय की गम्भीरता के अनुरूप नहीं रहने देता। वह तुकान्त शब्दों का प्रयोग अन्त में न करके प्रायः पंक्ति के बीच में करता है, और उसके द्वारा लय को समृद्ध करता है। इसके अतिरिक्त अर्थ से स्वतन्त्र संगीत को भी वह अपने माध्यम के अनुकूल नहीं पाता और उसका सतर्कता से बहिष्कार करता है। अर्थ के ही अनुकूल उसका छन्द विधान में एक प्रकार की गद्यमयी निविड़ता रहती है जो प्रभाकर, शमशेरसिंह जैसे कवियों में अत्यन्त नीरस और जड़ हो जाता है, अज्ञेय अपने शब्द चयन के बल पर उसकी गद्यमयता को तो अवश्य कम कर देते हैं परन्तु संगीत का समावेश वे भी नहीं कर पाते। संगीत और ध्वनि सौंदर्य की दृष्टि से गिरिजाकुमार की सफलता स्तुत्य है, वास्तव में मधुर कोमल स्वर सौंदर्य का व्यवहारिक ज्ञान उन्हीं को ही है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरूहता। ये कविताएँ अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धान्त रूप से भी दुरूह हैं। इस दुरूहता के अनेक कारण ऊपर दिये हुए हैं जिनमें चार मुख्य हैं भावक और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणी-करण का त्याग, उपचेतन मन के अनुभव खण्डों के यथावत् चित्रण का आग्रह तथा काव्य के उपकरणों और भाषा का एकान्त वैयक्तिक एवं अनर्गल प्रयोग। इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सब का मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि आनुषंगिक होते तो इनको सफाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था परन्तु इसके विपरीत ये सभी कारण सैद्धान्तिक हैं और मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि ये कारण सैद्धा-

भिन्न हैं क्योंकि इनके आधार भूत सिद्धान्त ही सदोष हैं और मनोविज्ञान तथा काव्यशास्त्र दोनों की कसौटियों पर ही खोटे उतरते हैं।

सबसे पहले भावतत्व और काव्यानुभूति के बुद्धिगत मन्थन को लीजिये। काव्य के विषय में और चाहे कोई सिद्धान्त निश्चित न हो, परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्यशास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। काव्य ही मानव मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है—यह एक विश्वसनीय सत्य है और यह उसकी सबसे चरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि और राग में थोड़ा-बहुत प्रतियोगिता रही हो यह दूसरी बात है परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राणतत्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धितत्व रागतत्व के ऊपर हावी हुआ है काव्य-तत्व भी उसी अनुपात से क्षीण हो गया है। काव्य का यह मानदण्ड छोटे बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा है—केशव, तुलसी, मिल्टन, प्रसाद, जिस किसी कवि ने भी बौद्धिक तत्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है। काव्य के पारखी ने तुरन्त ही उसके बुद्धिवैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्यगुण की न्यूनता का निर्णय दे दिया है। इसका निषेध करने का साहस टी० एस० इलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये। बौद्धिक तत्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु—साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर जब तक काव्य का अस्तित्व है तब तक बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने में काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई। उसमें मन को रस्त अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं है—दूसरे शब्दों में उसमें रस का अभाव है। पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता और यदि दिमाग को खुरच कर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाये तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता और उसे एक प्रकार की खीझ सी उत्पन्न होती है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा आग्रह है उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण। यहाँ भी वह एक भयंकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि करता है। अन्तर्चेतन अथवा उपचेतन की संवेदनाएँ प्रायः सभी उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझे हुए संवेदनों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोचे के सिद्धान्त में थोड़ा अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि सहजानुभूति से पूर्व अनुभव का स्वरूप संवेदनों की गुत्थियों से भिन्न नहीं है। कवि में सहजानुभूति की शक्ति जनसाधारण की अपेक्षा अधिक होती है—अतएव जनसाधारण जिन उलझे हुए संवेदनों का अनुभव भर करके रह जाता है, कवि उनकी सहजानुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यही मौलिक कवि कर्म है और इसलिये एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ। परन्तु प्रयोगवादी अपने मन की उलझी हुई संवेदनाओं को यथावत् अर्थात् उसी उलझे रूप में उपस्थित करने के लिये उलटे सीधे प्रयत्न करता हुआ अभिव्यञ्जना के मूलसिद्धान्त का ही तिरस्कार करता है। वास्तव में उसके प्रयत्न की अनिवार्य असफलता ही उसके सिद्धान्त की असंगति का अकाट्य प्रमाण है।

साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों के रद्द हो जाने की बात भी काफी विचित्र है। प्रयोगवादी की सफाई है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ आज के जीवन की अतिशय उत्तेजना को वहन करने में असमर्थ हैं। नई प्रणालियों की उद्भावना अभी नहीं हुई, इसलिये कवि अपने अर्थात् व्यक्ति के अनुभूत को सहृदय का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है।

परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का, कोई प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत युग की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पेचीदा हो गया है और मानव मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से जटिल एवं जटिल हो गई हैं फिर भी साधारणीकरण के सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि कवि के मन की निविड़ता के साथ सहृदय के मन की निविड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। जिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्होंने सहृदय मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक-सा परिवर्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति वैसी ही रहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता वह, विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेतुका प्रयत्न करता है। आखिर उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो वही हो सकता है जो दोनों के लिये—सहृदय मात्र के लिये—साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझ कर नये माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या चमत्कार दिखाता है। लेकिन यह सब कुछ नहीं है—यह कवि में सहजानुभूति की असफलता मात्र है। उसने उलझन को एक प्रयोग-वादी सिद्धान्त के रूप में ऐसे आग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसमें एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता है। एक तो उसकी संवेदना ही इतनी उलझी हुई है कि उसकी सहजानुभूति अपेक्षाकृत कठिन है, दूसरे वह इस उलझन को ही संवेद्य मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्माभिव्यक्ति सर्वथा विपन्न रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस असमर्थता का कारण कवि की सहजानुभूति की अक्षमता भी होती है। सहजानुभूति को क्रोचे ने कल्पना का गुण माना है—परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति के आश्रित है। अतः सहजानुभूति के लिये अनुभूति-क्षमता सर्वथा अपेक्षणीय है। जब तक अनुभूति में शक्ति नहीं है कवि के मन में संवेदनों का बिम्ब बनना सम्भव नहीं है। प्रयोगवादी कवि बुद्धि व्यवसायी है—अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहजानुभूति में अर्थात् संवेदना को अन्वित कर उन्हें रूप देने में असमर्थ रहता है और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

अब रह जाता है भाषा का एकान्त वैयक्तिक प्रयोग जिसके अन्तर्गत शब्दों का अनर्गल उपयोग, असाधारण प्रतीक-विधान, आदि आते हैं। यह वास्तव में साधारणीकरण-विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है और उसी की भाँति असङ्गत भी। भाषा एक सामाजिक साधन है, उसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके। अतएव उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। शैली की वैयक्तिकता दूसरी बात है—शैली में शब्द संयोजना, वाक्य-रचना लक्षणा-व्यंजना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है। परन्तु शब्द को कोई अनर्गल अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्तव्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी सर्वथा असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराना, या अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी अर्धव्यक्त अनुभव-खण्ड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धान्त के प्रतिकूल है। साधारणतः तो पाठक आपके अभिप्राय को समझेगा नहीं किन्तु यदि आपकी टिप्पणियों की सहायता से उसे समझ भी गया तो उसे गोरखधन्धे के खोलने का आनन्द भले ही मिल जाये, काव्य का आनन्द तो मिल नहीं सकता। साधारण दुरूहता भी रस-प्रतीति में बाधक होती है लेकिन जहाँ प्रयत्न-पूर्वक दुरूहता के

विद्यापति के धार्मिक विचार

श्री सिद्धिनाथ मिश्र बी० ए०

विद्यापति का नाम सुनकर हमें उस कोकिल का स्मरण हो जाता है। जिसने अपनी काकली, संगीत माधुर्य एवं शब्द माधुर्य द्वारा साहित्योद्यान को विमोहित कर लिया है। जो कवि शृङ्गार का परम उपासक रहा और जिसकी वाणी—

"हस्तिनि, चित्रिनि, पद्मिनि नारि।
गोरी सामरी एक बूढ़ि बारि॥"

का गुण गान ही करती रही, उसका धार्मिक होना सर्वथा विचारणीय एवं मनोरंजक है। साहित्य पर विशेषकर कवियों की विवादास्पद समस्याओं का निराकरण आन्तरिक एवं बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही होता है। आन्तरिक साक्ष्य में काव्यान्तर्गत प्रमाणों की विशेषता होती है एवं बाह्य साक्ष्य में जनश्रुति की।

मैथिल-कोकिल विद्यापति को जब हम इस कसौटी पर कसते हैं तो हमारे सामने बहुत सी समस्यायें खड़ी हो जाती हैं। कुछ लोग विद्यापति को वैष्णव बतलाते हैं और कुछ शैव। दोनों पक्षों के लोग अपने अपने मतों का समर्थन करते हुये आगे बढ़ते हैं। जहाँ तक कि काव्य सम्बन्धी विचारों का प्रश्न है पदावली में दिये गये गीतों के आधार पर लोग इन्हें वैष्णव भी कहते हैं और शैव भी। परन्तु सत्य को प्राप्त करने के लिये हमें परम्परा एवं विचारधारा पर विचार करना है।

कृष्ण और राधा के वासनात्मक जीवन का चित्रण कर कवियों ने अपनी अतृप्त वासना को संतोष दिया है। फ्रायड महोदय के शब्दों में इसे हम सेन्सर (censor) का स्पष्टीकरण कह सकते हैं। यदि इसी आधार पर कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण प्रेम का सफल चित्रण किया है उन्हें वैष्णव मान लिया जाय तो न्याय न होगा। इसमें कोई संशय नहीं कि शृङ्गार की दृष्टि से विशेषकर सम्भोग-शृङ्गार एवं काव्यगुणों की दृष्टि से यह वर्णन बड़ा रोचक है परन्तु उसमें किसी भी आध्यात्मिक सन्देश का आभास नहीं है न धर्म विशेष की भावना है। उस आधार पर तो तुलसी को न जाने कितने देवों का एक साथ उपासक कहना पड़ेगा परन्तु वास्तव में तुलसी थे राम के ही परम भक्त और फिर जहाँ राम

सभी साधन एकत्र किये गये हों, वहां रस प्रतीति कैसी?

साराश यह है कि जीवन की भाँति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का बड़ा महत्व है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का सन्तुलन बना रहे। जीवन के मूल तत्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्धि-विकास के निमित्त योग करना, उनको रूढ़ि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन गति विधि का अन्वेषण करना, सार्थक और स्तुत्य है। परन्तु यदि एतादृशत्व मात्र से बैर हो जाये और नवीनता की खोज अथवा नये प्रयोग साधन न रह कर साध्य बन जायें—उनको यदि जीवन के मूलतत्वों से अधिक महत्व दिया जाने लगे तो वे अपनी सार्थकता खो बैठते हैं और प्रायः बाधक बन जाते हैं। काव्य के विषय में ठीक यही बात है। काव्य के मूलतत्व रस-प्रतीति पर दृष्टि केन्द्रित रख कर काव्य का गतिरोध और रूढ़ि-जाल से मुक्त करने के लिए नये प्रयोग स्तुत्य हैं—वे काव्य के साधक हैं. परन्तु क्रम को उलट कर काव्य की आत्मा का तिरस्कार करते हुए प्रयोगों को स्वतन्त्र महत्व देना उन्हें ही साध्य मान लेना कोरी साहसिकता मात्र है, काव्य गत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम-विपर्यय है।

की सहानुभूति रही उसके वस्तु के प्रति तुलसी का अनुराग अवश्य रहा।

शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर सपनेहु मोहि न भावा॥

यदि इसी आधार पर तुलसी को शैव मान लें अथवा तुलसी को कृष्ण सम्बन्धी पद लिखने के लिये कृष्णोपासक कहने लगें या सूर को रामोपासक कहने लगें तो न्याय संगत न होगा। अतः विद्यापति की यह रचनाएँ शृङ्गार की दृष्टि से प्रधान हैं भक्ति की दृष्टि से नहीं। यहाँ केवल वासना है। अतः खींच तान कर दर्शन और कामना का मेल कराना उचित नहीं प्रतीत होता। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस सम्बन्ध में निम्न विचार प्रकट किये हैं।

"आध्यात्मिक के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत-गोविन्द के पदों का आध्यात्मिक संकेत बतलाया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।"

विद्यापति के एक पद से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी वर्णन सम्बन्धी रुचि चाहे जिस ओर रही हो परन्तु शिव के वे परम भक्त थे—

आन चान गन हरि कमलासन
सब परिहरि हम देवा।
भक्त बछल प्रभु बाम महेसर
जानि कएलि तुम सेवा॥

विद्यापति की विचारावली से इतना अवश्य प्रकट होता है कि मध्ययुगीन शैवों की भाँति वे कट्टर विष्णु-द्रोही नहीं थे, वे शिव और विष्णु को एक ही रूप की दो कलायें मानते थे—

भल हर भल हर भल तुअ कला।
खन पित बसन खनहि बघ छला॥२॥
खन पंचानन खन भुज चारि।
खन शङ्कर खन देव मुरारि॥४॥
खन गोकुल भए चराइअ गाय।
खन भिखि माँगिये डमरू बजाय॥६॥

× × ×

एक सरीर लेल दुइ बास।
खन बैकुन्ठ खनहि कैलास॥१०॥

कहा जाता है कि 'बिसपी' के उत्तर मेहवा नामक गाँव में आज भी वाणमहेश्वर महादेव हैं। विद्यापति उन्हीं की उपासना करते थे। महादेवजी स्वयं इनकी भक्ति पर मुग्ध थे। यहाँ तक कि दास के रूप में वे इनकी सेवायें करते रहे। अकस्मात् एक दिन इन्होंने यात्रा में जल मांगा तो उस "उगना" नाम के नौकर ने गङ्गा जल लाकर इन्हें दिया। इस पर इन्हें आश्चर्य हुआ। बाद में साक्षात् शिवजी ने इन्हें दर्शन दिये। भेद खुल जाने पर यह "उगना" न जाने कहाँ चला गया। विद्यापति पागल होकर गाने लगे—

उगना रे मोर कतए गेला।
कतए गेला सिव कीदहु भेला॥

इसके अतिरिक्त इन्होंने दुर्गा की उपासना भी की है। प्रतीत यह होता है कि वह विष्णु, दुर्गा एवं शिव तीनों को मानते थे परन्तु शिव पर विशेष अनुरक्त थे। 'बेनी पुरी' जी ने इसे मैथिलों के चन्दन से स्पष्ट किया है। वे लोग एक साथ भस्मत्रिपुन्ड, श्रीखण्ड चन्दन, एवं सिन्दूर बिन्दु का प्रयोग करते हैं। शिव, विष्णु एवं दुर्गा तीन की उपासना के यह चिन्ह हैं।

धर्मशास्त्र में भक्त के लिये तुच्छता, मान मर्षता, भयदर्शन, आश्वासन, मनोराज्य, विचारण आदि आवश्यक गुण बतलाये गये हैं। साथ ही इष्टदेव पर अटल विश्वास रखना भी आवश्यक है।

अनुकूलस्य संकल्प, प्रतिकूलस्य वर्जनम्
रक्षयिस्यति इति विश्वासो तथा गोप्तृत्व वर्णनम्
आत्मनिक्षेप कार्पण्य षडविधा शरणागतिः॥

विद्यापति की प्रार्थना एवं नचारियों में इस प्रकार की भावनाओं का प्राचुर्य है।—भगवान शिव पर अटल विश्वास प्रकट करते हुये विद्यापति कहते हैं—

नन्दन बन में भेटल महेस।
गौरि मन हरखित मेटल कलेस॥

विद्यापति मन लगना सों काज।
नहि हितकर मोर त्रिभुवन राज॥

मृत्युकाल की चिन्ता करते हुये विद्यापति पश्चाताप करते हैं—उनका हृदय आत्म-भर्त्सना से आपूरित है वे यकायक कह उठते हैं—

बयस कतहु चल गेला।
तोहे सेवइत जन्म बहल तइयो अपन न भेला॥

राम और कृष्ण भक्तों की भाँति-विद्यापति ने भी शिवजी की विभिन्न लीलाओं का स्मरण किया है और बड़ी सरस उक्तियाँ की हैं। महादेवजी अपने स्वरूप के लिये तो वैसे भी बहुत प्रसिद्ध हैं। विद्यापति ने इस प्रकार के वर्णन बड़े सुन्दर बना दिये हैं। दूलह के रूप में महादेव का सौन्दर्य आश्चर्य-जनक है—

टपर टपर कए बसहा आयल,
खटर खटर रूँडमाल।
भकर भकर सिव भांग भकोसि,
सथि डमरू लेल कर लाय॥

पार्वतीजी शिव में परम अनुरक्त हैं परन्तु दाम्पत्य प्रेम एवं भावोल्लास में कभी २ वह शिव के स्वरूप से मनोरञ्जन करती हैं—

कतए गेला मोर बुढ़वा जती।
पीसल भाँग रहल सेइ गती॥ २॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति केवल वासना-जगत तक ही सीमित नहीं रहे अपितु भक्ति-पूर्ण व धार्मिक विचारों को भी उन्होंने काव्य में यथेष्ट स्थान दिया है। विद्यापति की धर्म-भावना एवं वासना के प्रति पश्चाताप जीवन के अन्तिम दिनों में चरम-सीमा पर पहुँच जाते हैं—

ए हरि वन्दों तुअ पद नाय॥
तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि,
पारक कओ न उपाय॥
आनत जनम नहि तुअ पद,
सेविनु जुवती मतिमय मेलि॥
अमृत तजि किए हलाहल पीअनु,
सम्पद अपदहि भेलि॥

इस विषय पर पठनीय सामग्री

१—विद्यापति की पदावली।
२—विद्यापति : एक अध्ययन।
३—विद्यापति भूमिका।

मिश्रजी के नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव

श्री देवेन्द्र कुमार

लक्ष्मीनारायण मिश्र जी पर योरोपीय नाट्य-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों की छाप वर्तमान भारतीय नाटक-लेखकों में सर्वाधिक पड़ी है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें उनमें द्वन्द्वों का समावेश स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है जिनमें उलझनों के कारण वे स्थिर नहीं हो पाये हैं। उनके नाटकों में जो मानसिक संघर्ष और अस्थिरता के दर्शन होते हैं उनका विश्लेषण करने पर उनके मूल में हमें दो विचार-प्रणालियाँ ही प्रतिलक्षित होती हैं। यह द्वन्द्व हृदय और मस्तिष्क का द्वन्द्व है। एक पर भारतीयता को लिये हुए प्राचीनता और दूसरे पर पाश्चात्य प्रभाव लिये हुए नवीन की छाप है।

योरोप में जब बनावटी भावुकता तथा कला और सौन्दर्य की धूम मची तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पीछे से एक नवीन धारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें कला और मनोरंजन को गौण स्थान मिला और वर्तमान सामाजिक संघर्ष से उत्पन्न जटिल समस्याओं पर दृष्टि-पात हुआ। इब्सन ने इस युग का नेतृत्व किया और समस्या नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। मिश्रजी द्वारा भारत में भी समस्या नाटकों का प्रवर्तन हुआ जिन पर इब्सन, बर्नर्डशा आदि पाश्चात्य नाट्यकारों का यथेष्ट प्रभाव था।

मिश्रजी के नाटकों की मूल समस्या 'प्रेम' ही रही है। इब्सन की भाँति आपका भी विश्वास है कि प्रेम के तिरस्कार और उसे दबाने की वृत्ति हानिकारक है। मिश्रजी के नाटकों में प्रेम की इसी मूल समस्या पर गहराई से विचार किया गया है जिसके पश्चात् आपने निर्णय किया कि "केवल तप जीवन की अस्वीकृति है और केवल भौतिक विलास उसका उपहास। एक में रुचि का अभाव है दूसरे में संयम का। तप और विलास जहाँ एक रस हो उठते हैं वहीं जीवन की तृप्ति मिलती है।"

नारीत्व की समस्या भी इनके नाटकों का महत्वपूर्ण विषय है। योरोपीय और भारतीय समस्या-नाटक लेखकों का विचार है कि युग-युग से सोया स्त्री का अस्तित्व अब जाग रहा है। मिश्रजी के नाटकों में किसी न किसी नारी पात्र का समाज से मार्ग-वैभिन्य का प्रदर्शन मिलता है। वह समाज की दृष्टि में गिर जाती है परन्तु अन्त में समझौते के द्वारा वह इस संघर्ष की समस्या का हल करती है। प्रेम और नारीत्व के ये प्रश्न उठा कर मिश्रजी अपने नाटकों में बर्नार्डशा की भाँति नैसर्गिकता और स्वाभाविकता तो अवश्य ला सके हैं परन्तु किसी आदर्श का प्रतिपादन न कर सके। यद्यपि वे प्रेम में वासना-तृप्ति की तुच्छता दिखाने में सफल हुए हैं परन्तु उसका आदर्श और परिष्कृत रूप हमारे सम्मुख नहीं रख सके।

इब्सन युग के नाटकों में राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं ने महत्वपूर्ण स्थान ले लिया था। स्वर्ग के समान अतीत में न रम कर वर्तमान संघर्षमय जीवन को ही अपनाने की प्रवृत्ति इन नाटकों में दृष्टिगत हुई। इन नाटककारों का विश्वास था कि अतीत चाहे जितना आकर्षक हो परन्तु वर्तमान से भाग कर उसमें शरण लेना कायरता है। मिश्रजी के नाटक भी वर्तमान समस्याओं से सम्बन्धित हैं। 'गरुड़ध्वज' में यद्यपि आपने अतीत का सांस्कृतिक वातावरण ही अपनाया है परन्तु उसमें भी वर्तमान नारी की समस्या वासन्ती की समस्या के रूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस भाँति जहाँ आपने पाश्चात्य प्रभाव के कारण आधुनिक समस्याओं को अपनाया है वहाँ दूसरी ओर अतीत को भी विस्मृत नहीं कर दिया। भारत एक

ऐसा देश है, जिसका यदि अतीत से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाय तो निष्प्राण और निष्प्रभ हो जायगा। इस कारण हम उसे सर्वथा नहीं भुला सकते। मिश्रजी ने भी उस पर लेखनी उठाई है परन्तु या तो आधुनिक युग वृत्ति के कारण अथवा व्यक्तिगत दृष्टिकोण के कारण उसमें भी आधुनिक समस्याओं को खोज निकाला है।

इब्सन के नाटकों के पात्रों द्वारा प्रदर्शित द्वेष, प्रतिशोध और विद्रोह की भावना व्यक्ति विशेष के प्रति न होकर समाज के प्रति होती है। उनमें सामाजिक बन्धनों और रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह की एक छाया दृष्टिगोचर होती है। समाज और व्यक्ति के इस संघर्ष में इब्सन और मिश्रजी दोनों ने व्यक्ति का पक्ष ग्रहण किया है। उन्होंने मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के महत्व को स्वीकार किया है। मिश्रजी ने लिखा है—"इसलिये जिन्दगी की कोई सकीर्ण परिपाटी, धर्म और सदाचार की कोई निश्चित कसौटी, साहित्य और कला की कोई भी प्रभावशालिनी व्याख्या, यदि नहीं कि व्यक्तिगत विकास में बाधा डालेगी, एक प्रकार से घातक भी होगी।" आपके नाटकों के कुछ पात्र समाज की परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर चलते हैं और समाज की दृष्टि में गिरे हुए होने पर भी, अपने कार्य का औचित्य प्रदर्शन कर अथवा आत्म सत्कार पर लेखक की सहानुभूति ग्रहण कर लेते हैं।

नाटकों का विषय सामाजिक समस्या होने के कारण इब्सन युग में उनके पात्र अभिजात वर्ग तक ही सीमित नहीं रहे। समाज की समस्याओं का विस्तृत रूप हमें मध्यम या साधारण श्रेणी के मनुष्यों में ही मिलता है। इसी कारण मिश्रजी के नाटकों के पात्र भी उच्च श्रेणी मात्र के ही न रहकर जन-साधारण के बीच से भी होने लगे।

मिश्रजी की शैली मनोविश्लेषण की शैली है। शेक्सपीयर ने जहाँ बाह्य संघर्ष के अनेकों दृश्य उपस्थित कर रोमांटिक नाटकों की सर्जना की वहाँ इब्सन ने आन्तरिक संघर्ष का ही पथ अपनाया। उसके नाटकों में मनोरंजन का स्थान गौण था और समस्याओं पर ही विचार विमर्श था, अतः उनमें मानसिक संघर्ष का होना स्वाभाविक ही था। मिश्रजी ने भी मानसिक संघर्ष को अपने नाटकों में स्थान दिया और मनोविश्लेषणात्मक शैली को अपनाकर चले। उनके पात्र अपने अथवा किसी दूसरे पात्र के व्यक्तित्व को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए से प्रतीत होते हैं। प्रत्येक वाक्य से किसी पात्र की मनोदशा की एक विशिष्ट स्थिति का परिचय मिलता है।

मिश्रजी के नाटकों पर पाश्चात्य बुद्धिवाद का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। जैसा कहा जा चुका है, समस्या नाटक योरोप में झूठी भावुकता की प्रतिक्रिया स्वरूप आये थे, अतः उनमें पूर्ण रूपेण भावुकता का परित्याग मिलता है। इन नाटकों में हृदय का स्थान मस्तिष्क ने और भावुकता का स्थान बुद्धि ने ले लिया। बर्नार्डशा के समय में समाज कुछ अधिक विचारशील और शिक्षित हो गया जिससे बुद्धिवाद के प्रसार में और अधिक योग मिला। हमारे मिश्रजी भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके। एक स्थान पर आपने लिखा है। "बुद्धिवाद किसी तरह का हो—किसी कोटि का हो—साहित्य या समाज की हानि नहीं कर सकता।"

आपके नाटकों पर योरोपीय यथातथ्यवाद की भी छाया है। आपके नाटकों में समाज का खरा रूप चित्रित किया गया है। उस पर झूठी भावुकता और कल्पना की लीपा पोती न कर अकृत्रिम वर्णन किया है। यथातथ्यवादियों का विश्वास था कि युगों की रूढ़ियों की कृत्रिम भावुकता और मार्मिकता में पड़कर तथा सौन्दर्य की सृष्टि में ही निमग्न रहने की लालसा के कारण नर प्रकृति का वास्तविक रूप छिप गया था जो अब अपने वास्तविक रूप में आ रहा है। वे वर्तमान जीवन में कल्पना या आदर्शवाद की कोई

आवश्यकता नहीं समझते । इस विचार धारा को लेकर चलने वाले नाटकों का उद्देश्य जीवन की विषमताओं के मूल का अनुसंधान और उसके समाधान स्वरूप जीवन की नवीन प्रणाली का आयोजन है। इसी उद्देश्य को लेकर मिश्रजी ने वर्तमान को अपने नाटकों का क्षेत्र चुना। नाटकों में से कल्पना या भावुकता आदि के त्याग का भरसक प्रयत्न किया। आपने यथाशक्ति उसमें से कवित्व, अज्ञात और कल्पना का बहिष्कार किया क्योंकि आप जानते हैं कि जीवन की जटिल समस्यायें कल्पना द्वारा सुलझाई नहीं जा सकती, भुलाई जा सकती हैं। आपके नाटकों में स्पष्टवादी खरे-खरे भाषणों में भावुकता का भ्रम हो सकता परन्तु वह समाज के प्रति उत्तेजना का आशमात्र है। फिर आपके बुद्धिवाद का आधार विशुद्ध तर्क नहीं। कवि होने के कारण आपके नाटकों में कहीं न कहीं थोड़े बहुत अंश में अन्तर की पुकार फूट ही पड़ी है।

इब्सन की प्रकृति की ओर लौट चलने की विचार धारा की छाया मिश्र जी पर भी पड़ी है। सिंदूर की होली में आपने मनोज शङ्कर द्वारा कहलाया है "मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में आज से कहीं अधिक स्वस्थ था—इस लिये कि तब डाक्टर न थे। मनुष्य था और शक्ति थी और जीवन का केन्द्र प्रकृति थी। स्वास्थ्य के कृत्रिम साधनों और बोतल की दवाइयों ने स्वास्थ्य की जड़ काट दी।" उनकी दृष्टि में प्रकृति के राज्य में मनुष्य अच्छी अवस्था में था क्यों कि तब कृत्रिमता और वर्तमान विषमताओं से उत्पन्न संघर्ष का अभाव था। उसी प्राकृतिक जीवन की प्रेरणा से वे संघर्ष रहित भविष्य की कल्पना करते हैं "मैं कह रही थी संसार से सभी धर्म मिट जावे, किसी दिन, बौद्ध, वैष्णव शैव कोई न रहता। वह देखो हरिण, वह मयूर, वह गोवत्स उनमें तो धर्म का कोई झगड़ा नहीं है, मनुष्य भी क्या इसी भाँति न रह लेगा।" परन्तु उस जीवन की पुनर्प्राप्ति अब असम्भव है, इस तथ्य से भी वे अनभिज्ञ नहीं हैं 'हो सकता है परन्तु मनुष्य अब अपने धर्म और विश्वास पर इतनी दूर आचुका है कि वह लौट नहीं सकता। सम्भव है आगे समुद्र हो, कैलास पर्वत आगे खड़ा हो, "।

योरोप की भाँति भारतीय नाटकों में जो अस्वाभाविक बातें थीं उनका आधुनिक युग में आकर बहिष्कार हुआ। मिश्रजी ने भी उसमें सहयोग दिया। स्वगत, कथन मिश्र जी द्वारा ही नहीं, समस्त आधुनिक नाटक कारों द्वारा बहिष्कृत हो चुका है। बर्नार्डशा की स्वाभाविकता हमें मिश्रजी में भी मिलता है। दोनों ने कथोपकथन की स्वाभाविक प्रणाली को ही अपनाया है परन्तु मिश्रजी उसमें अधिक सफल नहीं हुए हैं। वार्त्तालाप टूटे फूटे शब्दों में चलता है। उनके वार्तालाप, स्वाभाविकता की अति के कारण, कहीं कहीं अस्वाभाविक हो गये हैं। उनके नाटकों में हम सांकेतिक चिन्हों के विशद वर्णन पाते हैं जो उपन्यास या कहानियों के वातावरण की सृष्टि कर देता है। उसमें पात्रों की वेष भूषा, रूप रंग और यहाँ तक कि उम्र का भी पूर्ण वर्णन है। अङ्कों के बीच बीच में भी विस्तृत ब्यौरे के साथ वेष भूषा का वर्णन मिलता है। मिश्रजी ने अस्वाभाविकता से बचने के लिये नाटकों में लम्बे लम्बे वाक्यों या भाषणों का प्रयोग नहीं किया है। सिनेमा की प्रतियोगिता में आने के कारण नाटकों में अत्यन्त संक्षिप्त, स्पष्ट और स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया गया है थियेटरों के कार्य क्रमानुकूल नाटकों में भी दो इण्टरवल देकर उन्हें तीन अङ्क तक ही सीमित कर दिया है। योरोप से प्रभावित आधुनिक हिन्दी नाटकों की इन सभी परिष्कृत कृतियों का समावेश मिश्रजी के नाटकों में मिलता है।

यद्यपि अत्यधिक पाश्चात्य प्रभाव के कारण मिश्रजी में भारतीयता ढक गई है परन्तु फिर भी हमें उनमें भारत की प्राचीनता की मन्द मन्द प्रवाहित हलकी धारा का आभास हो ही जाता है। उनके नाटकों के अधिकतर पात्रों की जीवन गति भारतीय-जीवन-प्रणाली के आदर्शों पर आधारित नहीं है। सर्व विदित है कि भारतीय समाज में वैवाहिक जीवन के आदर्श का कितना महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु मिश्रजी

भारतेन्दुजी का गीति-काव्य

श्री गोपीलाल 'विद्यार्थी' बी० ए०

हिन्दी में गीत काव्य की परम्परा उस सरिता की भाँति है जो पहिले तो टकरा कर सूख गई हो और बाद में निर्झरिणी की तरह फूट पड़ी हो। गीत गोविन्द कार जयदेव की सुधामयी स्वरलहरी जो हिन्दी साहित्य का मैथिलकवि विद्यापति के कोकिल कण्ठ से प्राप्त हुई वह भक्त कवियों की वाणी में ऐसी अटक गई जैसे ब्रह्मा के कमण्डल से निकल शिव की जटा में गङ्गा की धारा रुक गयी थी। गीति-काव्य की इस सरस धारा को भारत भूमि पर अवरुद्धावस्था से मुक्त कर पुन प्रवहमान करने का श्रेय उसी दिव्य विभूति को है जिसने हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्थिर किया। हिन्दी माता को सर्वप्रथम नाटकाञ्जलि अर्पित की, खड़ी बोली की कविता में उसका स्तवन किया और काव्य को शृङ्गार के अश्लील भावों से उबारा।

भारतेन्दुजी के पूर्व के गीत काव्य का रस यद्यपि शृङ्गार ही था तथापि उसमें भक्तों की सगुण उपासना की सरलता और तन्मयता लबालब भरी थी। अन्य कवि जो इस दिव्य प्रेम-सङ्गीत की स्वर लहरी से परे जाना चाहते थे वे गीत नहीं रच सके। और हिन्दी के युग प्रवर्तक साहित्यकार को भी गीति-काव्य के रचने में इसी भक्ति परम्परा का अनुसरण करना पड़ा। भारतेन्दुजी ने लगभग डेढ़ सहस्र पदों की रचना की है जिनमें श्रीकृष्ण की लीला से सम्बन्ध रखने वाले पदों की ही संख्या विशेष है। इन पदों में 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' भक्त हरिश्चन्द्र की आत्मग्लानि और प्रभु की महत्ता का दिग्दर्शन है। अपने स्वामि और स्वामिनी के रूप-सौन्दर्य की शोभा का अनूठा वर्णन है—उनकी लीलाओं का प्रदर्शन है और प्रेम का गान है। कुछ पद ऐसे हैं जिनमें भारतेन्दु का देश-प्रेम हिलोरें भरता है और कुछ में मानवी भावनाओं का व्यक्तिकरण है। शृङ्गार और वात्सल्य प्रधान ये पद कहीं-कहीं वीर, शान्त, करुण आदि रसों से भी अतिरञ्जित हैं।

सरस कवि तथा भक्त हरिश्चन्द्र ने रसराज के देवता श्री कृष्ण और राधा ही की बाललीला तथा प्रेममयी यौवन लीला के जो मधुर सुधामय गान गाये हैं उनकी झङ्कार भक्तों की हृदय तन्त्री को झंकृत कर देती है और सरस हृदय को तरङ्गित। अपने आराध्य की निर्लिप्त लीलाओं के वर्णन के साथ उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग की शोभा का वर्णन भी किया गया है। राधा और कृष्ण दोनों स्वामिनी और प्रभु की शोभा का वर्णन एक साथ जिस सुन्दर रूप में किया गया है उसका ध्यान भी 'बिन जुगल कृपा यह लक्ष्यो कौन पै जाय।' देखिये—

> रे मन करु नित नित यह ध्यान।
> सुन्दर रूप गौर श्यामल छवि,
> जो नहिं होत बखान॥
> मुकुट सीस चन्द्रिका बनी,
> कनफूल कुण्डल कान।
> कटि काछिनी सारी पग,
> नूपुर बिछिया अनवट पान॥

उसे एक प्रकार से, सामाजिक जीवन चलाने के समझौते का रूप देते हैं। फिर भी उन पर भारतीय आध्यात्मवाद का कम प्रभाव नहीं पड़ा है। प्राचीन नाटकों के उद्देश्य 'रस-संचार' का पूर्ण परिपाक मिश्र जी के नाटकों में हुआ है। वर्तमान सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त उन्होंने अतीत संस्कृति और इतिहास की ओर भी दृष्टिपात किया है। 'रक्षाबन्धन' और 'अशोक' इसके प्रमाण हैं। इस प्रकार पाश्चात्य प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी मिश्रजी मूल से भारतीय ही हैं।

कर कङ्कन चूरी दोउ भुज पै,
बाजू सोभा देत ।
केसर खौर बिन्दु सेंदुर को,
देखत मन हरि लेत ॥
मुख पै अलक पीठ पैं बैनी,
नागिनी सी लहरात ।
चटकीली पट निपट मनोहर,
नील पीत फहरात ॥
मधुर-मधुर अधरन बंसी धुनि,
तैसी ही मुसकानि ।
दोउ नैनन रसभीनी चितवनि,
परम दया की खानि ॥
ऐसी अद्भुत भेष बिलोकत,
चकित होत सब आय ।
'हरीचन्द' बिन जुगल कृपा,
यह लख्यो कौन पैं जाय ॥

भक्तों ने कृष्ण के अवतरित होने का कारण धर्म की रक्षा, भक्तों का मनोरञ्जन और दुष्टों का दमन करना बतलाया है; परन्तु प्रेमाप्लावित राधारानी का जन्म क्यों हुआ इसका कारण हरिश्चन्द्र ने बतलाया है। उसे देखिये—

जो पैं श्री राधा रूप न धरतीं ।
प्रेम पन्थ जग प्रगट न हो तो,
ब्रज बनिता कहा करतीं ॥
पुष्टि मार्ग थापित को करतो,
ब्रज रहतो सब सूनो ।
हरि लीला काके सँग करते,
मण्डल हो तो ऊनो ॥
रास मध्य को रमतो हरि,
सँग रसिक सुकवि कह गावे ।
'हरीचन्द' भव के भय सों,
भजि किहि के शरणहि आवे ॥

बाल लीला का उदाहरणार्थ केवल एक ही पद लीजिये जिसमें राधा आँगन में शिशु-क्रीड़ा करती दिखायी गयी है। इसमें शिशु सुलभ क्रियाओं का कितना सरल और आकर्षक वर्णन किया गया है—

मनिमय आँगन प्यारी खेलैं ।
किलकि किलकि हुलसत मनहिं मन,
गहि अँगुरी मुख मेलैं ॥
बड़भागिनी कीरति सी मैया,
गोहन लागी डोलै ॥
कबहुँक लै झुनझुना बजावति,
मीठी बतियन बोलै ॥
अष्ट सिद्धि नव निधि जेहि दासी,
सो ब्रज शिशु वपुधारी ।
जोरी अविचल सदा बिराजो,
'हरीचन्द' बलिहारी ॥

भारतेन्दुजी ने राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में उनकी प्रेमलीला का ही वर्णन प्रचुर मात्रा में किया है। दान, मान, विरह आदि पर अच्छे-अच्छे ललित पद रचे गये हैं परन्तु जहाँ कवि का मन विशेष रूप से रमा है, वह तो प्रेम कुञ्ज ही है। कृष्ण ब्रज को छोड़कर मथुरा चले गये हैं। विरह-विदग्धा गोपियों के अपने 'बाल सनेही' से अलग हो जाने पर भी 'फटी नहीं बज्र की छाती' प्रत्युत 'फिर अबे वह सुख भी मिलि है जिअत सोचि जिय यही।' किन्तु वियोग की व्यथा इतनी तीव्र है कि उन्मादिनी की तरह कृष्ण से मन ही मन अकेली बैठी हुई बातें कराती रहती हैं। कृष्ण के ध्यान में मग्न एक गोपी के इस विरह निवेदन में कितना अनुराग, प्रेम, उच्छ्वास और व्यङ्ग्य है और सबसे बढ़कर तो उसका आत्म-समर्पण देखने योग्य है।

पिया रे तजी कौन से दोष ।
इतनी हमहूँ तो सुनि पावैं फेरि करैं सतोष ॥
जो कोउ तुमसे होइ सोइ या जग में दुख पावै ।
यह अपराध होइ तो भाखौ जासों धीरज आवै ॥
कियो और तो दोष कछू नहिं अपनी जान पियारे ।
तुमरे ही ह्वै रहे जगत में एक प्रेम पन धारे ॥

यासों चतुर होइ जग में कोउ तुमसों प्रेम न लावै।
'हरीचन्द' हम तो अब तुमरे करो जोई मन भावै॥

प्रिय मिलन की यह प्रबल उत्सुकता उन्माद का रूप ले लेती है। देखिये एक गोपी सदैव की भाँति कृष्ण के व्रज में नहीं रहने पर भी एक दिवस प्रातःकाल हाथे हाथ अपने नन्दकिशोर के दर्शनार्थ नन्दजी के घर जाती है और वहाँ द्वार पर सन्नाटे को देखते ही कृष्ण-गमन का स्मरण आ जाने से मूर्च्छित हो जाती है और होश कब आता है जब उसके कान में भनकार पहुँचती है कि मधुकर आ गये हैं -

नन्द भवन हौं आजु गई ही भूले ही उठि भोर।
जागत समय आनि मङ्गल-
मुख निरखन नंदकिशोर॥
नहिं बन्दीजन गोप गोपिका,
नाहिन गौवें द्वार।
नहिं कोउ मथत दही नहीं,
रोहिनि ठाढ़ी लै उपचार॥
तब मोहीं सुरत परी घर,
नाहीं सुन्दर श्याम तमाल।
मुरछित धरनि गिरी द्वारहिं,
पै लखि धाईं मजबाल॥
लाईं गेह उठाइ कोउ,
विधि जीव न गए अँदेस।
'हरीचन्द' मधुकर तब आए,
जागी सुनत सँदेस॥

कभी रात में सोते सोते स्मरण हो आता है तो उसी अवस्था में प्रलाप करने लगती है। चिंतन और स्मरण की स्थिति में स्वयं ही कैसी बहकी-बहकी बातें करती है उसका उदाहरण भी देखिये—

नवरा राह राह को नीको।
इत तो प्रान जात हैं तुम
बिनु तुम न लखत दुख जी को॥
सुटाई पोरहिं पोर भरी।
हमहिं छाँड़ि मधुबन में बैठे करी कूर कुबरी को॥

कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम को लेकर भक्तों ने अपने कौशल से भक्ति रस का जो मनोहर निरूपण किया है उसके सामने ज्ञान मार्ग वैसे ही नीरस और फीका है जैसे हीरे के सामने काँच। हिन्दी-साहित्य में गोपी-उद्धव-संवाद को लेकर प्रेमरस प्लावित भक्ति-मार्ग और चिन्तनशील ज्ञान मार्ग पर अनूठी-अनूठी उक्तियाँ और तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। इस घटना के सहारे भक्तों को *अपना प्रेम-रस प्रसारित करने का पूर्ण* अवसर मिला है—इसी प्रेम और भक्ति की अमर विजय की स्मृति में अनेक भ्रमरगीत रचे जा चुके हैं। ज्ञान गर्व मण्डित, प्रकाण्ड पण्डित उद्धवजी गोपियों की प्रेम-तल्लीनता, एकनिष्ठा और सरसता में ऐसे निमग्न हुए कि उनका ज्ञान पलायन हो गया। देखिए वे प्रेम-पाश में कितनी दृढ़ता से बँध गयी हैं कि उन्हें उद्धव का ज्ञान इससे मुक्त करने में सर्वथा अशक्त और निरर्थक सिद्ध होता है 'क्योंकि जिसने रसराज की सौन्दर्य-सुधा का पान किया वह विष लूटने क्यों जाने लगे'—

पिय सों प्रीति लगी नहिं छूटै।
ऊधौ चाहौ जो समझाओ अब तो नेह न टूटै॥
सुन्दर रूप छाँड़ि गीता का ज्ञान लेह को कूटै।
'हरीचद' ऐसो को मूरख सुधा त्यागि विष लूटै॥

यही नहीं, उन्होंने शरीर, मन और मस्तिष्क तीनों को सर्व प्रकार से अपने प्रियतम को समर्पित कर रखा है जिसके फलस्वरूप ही उन्हें रसराज के साथ रमण करने का, विहार करने का और हर्ष करने का पर्याप्त अवसर मिला। फिर वे शुष्क ज्ञान के कठोर बन्धन में पड़ कर दुःख क्यों सहने लगीं? अस्तु—

हरि सँग भोग कियो जा तन सों,
तासों कैसे जोग करैं।
जो सरीर हरि सँग लपटानो,
या पै कैसे भसम धरैं॥
जिन श्रवनन हरि बचन सुन्यो है,
ते मुद्रा कैसे पहिरैं।

जिन वेनिन हरि निज कर गूँथी,
जटा होइ ते क्यों बिखरैं ॥
जिन अधरन हरि अमृत पीयो,
अब ते हालाहि कैसे उचरैं।
जिन नैनन हरि रूप विलोक्यौ,
तिन्हैं मूँदि क्यों पलक परैं ॥
जा हिय सों हरि हियो मिल्यो है,
तहाँ ध्यान केहि भाँति धरैं।
'हरीचंद' जा सेज रमे हरि,
तहाँ बघम्बर क्यों बिछरैं ॥

कितनी स्वाभाविकता है इसमें—प्रेम की कितनी तन्मयता है—एकनिष्ठा का कैसा गहरा भाव है। इस अनन्यता ही में वे इतनी अधिक लिप्त हैं कि उन्हें कृष्ण स्वयं से भिन्न ही प्रतीत नहीं होते फिर वियोग हो तो किससे ! राधा की इसी तन्मयता को कवि की वाणी में देखिये—

लाल के रँग रँगी तू प्यारी।
याही ते तन धारत मिस कै,
सदा कसूँभी सारी ॥
लाल अधर कर पद सब तेरे,
लाल तिलक सिरधारी।
नैनहुँ मे डोरन के मिस,
झलकत लाल बिहारी ॥
तन में भई, नहीं सुध तन की,
नखशिख तू गिरधारी।
'हरीचंद' जग विदित भई यह,
प्रेम प्रतीति तिहारी ॥

प्रेम की इस अनन्यता को भारतेन्दुजी ने होली, ठुमरी आदि अनेक विषयों पर पद रचना करके प्रदर्शित की है, जिनमें भक्ति की प्रेमोपासना पल्लवित हो रही है। भारतेन्दुजी ने जहाँ भक्ति सलिला प्रवाहित की है वहाँ ही उन्होंने मानवीय दुर्बलताओं को भी समझा है और उन्हें अपने प्रभु के सामने प्रकट भी करदी है। ये उनके विनय के पद हैं जिनमें,

जगत जाल में नित बँध्यो परयो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कवि हरिचन्द ॥

अपने प्रभु की महत्ता एवं शक्ति का गान करता है और उसके सामने अपना दैन्य और आत्मग्लानि प्रकट करता है। उनका ऐसा स्वामि भी 'हरिचंद से पतितन के सरदार' की ही पूछ करता है। ऐसे पतित पावन की कृपा पर उन्हें विश्वास भी कितना है यह देखने योग्य है—

प्रभु की कृपा कहाँ लों गैये।
करुना में करुना निधि ही के इती बड़ाई पैये।
डार डार जौं अघ मेरे तो पात पात वह डोले ॥
नदी नदी जो पाप चलत तो बिन्दु बिन्दु वह डोलै।
थल थल में छिपि रहत जु यह वह रेनु रेनु हूँ धोवै ॥
दीप दीप जो यह समान वह किरन किरन बनि आवै।
काकी उपमा वाहि दीजिए व्यापक गुन जोहि माहीं
हियअन्तर अँधियार दुराने अबहूँ नाहि बचिजाहीं
सिन्धु लहर हू सिन्धुमयी है मूढ़ करै जो लेखे।
नाहीं तो 'हरिचन्द' सरीखे तरत पतित कहुँ देखे ॥

ऐसे भगवान् से भक्त चाहता क्या है—उसकी आकांक्षा क्या है—और क्या उसकी भक्ति का लक्ष्य है ?

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रज जामें सिर भीजै ॥
आवत जात कुञ्ज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह वर 'हरीचन्द' को दीजै ॥

भारतेन्दुजी ने जहाँ अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की है वहाँ उस भक्त वत्सल से उसकी क्रीडास्थली भारत भूमि की दुर्दशा को सुधारने के लिए भी विनय की है। ये पद ही उनकी देश भक्ति के गान हैं। भारतेन्दुजी ने स्वदेश के लिए तन-मन-धन सभी कुछ अर्पित कर दिये थे और देश की तत्कालीन दुरावस्था की चिन्ता में तथा उसे सुधारने के प्रयत्न में ही उन्होंने अपना अल्प जीवन बिता दिया। उनकी साहित्य-सेवा, मातृभाषाहित चिन्तना, समाज सेवा आदि सभी सेवायें देश भक्ति के अन्तर्गत आती हैं। अपने अ[illegible]त

के स्पर्धनीय गौरव के बाद जब भारत अधोगति को प्राप्त होता है तब उसकी करुण-कथा पर क्षोभ करता हुआ कवि अपने इष्ट देवता से प्रार्थना करता है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए।
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि,
भारतवासी रोए ॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं,
भारत हित बिसराये।
इतके पसु गज कों आरत लखि,
आतुर प्यादे धाए ॥
इक इक दीन हीन नर के हित,
तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी सम्पति जानि इनहिं तुम,
रह्यो तुरन्तहि धाई ॥
प्रलय काल सम जौन सुदरसन,
असुर प्रान संहारी।
ताकी धार भई अब कुण्ठित,
हमरी बेर मुरारी ॥
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति,
घास साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस-सहस्र,
नर सीस काटि भुव पाटैं ॥
हे अनाथ आरत कुल-विधवा,
बिलपति दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं,
तुम नहिं लजत खरारी ॥
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन,
भारी महिमा गाई।
भक्त बछल करुनानिधि तुम कहँ,
गायो बहुत बनाई ॥
हाय सुनत नहिं निठुर भए,
क्यों परमदयाल कहाई।
सब बिधि बूडत लखि निज देसहि,
लेहु न अबहुँ बचाई ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दुजी ने जिस सूखी हुई भक्ति सरिता को पुनः प्रवाहमान किया उसे उन्होंने नये पथ पर भी लगाया और ऐसी प्रगति-प्रदान की जिससे उसकी निधि एवं क्षेत्र में दिन-दिन विकास और वृद्धि होती रहे। रीति-काव्य की भक्ति परम्परा के इस अन्तिम कवि ने अपने देश प्रेम की जो उसे निधि प्रदान की उसके प्रति वह युग प्रवर्त्तक साहित्य स्रष्टा चिर अभिनन्दनीय है।

भारतेन्दु पर पठनीय सामग्री

१—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ब्रजरत्नदास ५)
२—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विचारधारा—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय २)
३—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक अध्ययन—रामरतन भटनागर २॥)
४—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—गुलाबराय एम० ए० ३)

सेनापति की भक्ति-भावना

कुमारी लीला अग्रवाल

निरन्तर भोग-विलास और शृङ्गार-भावना में रत रहने पर एक समय ऐसा आता ही है जब कि मनुष्य का मन इसके प्रति ग्लानि से भर जाता है और वह इससे बाहर शक्तिमय स्थान खोजता है। सेनापति के भी ऊपर यही बात चरितार्थ हो जाती है। शृङ्गार के विस्तृत वर्णन के बाद हमें उनके कुछ भक्ति सम्बन्धी कवित्त भी प्राप्त हो जाते हैं। घोर शृङ्गारी कवि बिहारी भी मस्त रचना के अन्त में भक्ति के दोहे लिखते देखे जाते हैं।

भक्ति चित्त का वह पवित्र भाव है जहाँ आत्म-समर्पण की भावना प्रधान हो जाती है। भक्त प्रभु के महान् सरूर को देखता हुआ आनन्दित होने लगता है। उसके लोकरञ्जनकारी रूप पर वह मुग्ध हो जाता है। भारतीय पद्धति में एक ओर तो मस्तिष्क को सन्तुष्ट करने की दार्शनिक विचारावली और दूसरी ओर लोक धर्म का वह विधान जिसके द्वारा संसार का कार्य चलता पाया जाता है। साधारण हिन्दू जनता की शान्तिप्रियता ने भी इस ओर विशेष सहृदयता पहुँचाई है। भगवान् एक हैं, अपने भक्तों का दुःख दूर करने के लिये ही वे समय-समय पर अवतार लेते हैं, साधारण जनता के लिये तो यह सीधी सादी विचारधारा ही सन्तोषजनक है। प्राचीन काल से ही यह प्रवृत्ति चली आने के कारण, धर्म का यह व्यवहारिक रूप 'सनातन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसके अन्तर्गत हिन्दू धर्म में पाये जाने वाले सभी मतों का समावेश मिलता है। प्राय इनको अलग कर सकना असम्भव सा ही है। किसी के लिये यह निर्धारित करना कि यह कौन मतावलम्बी है कठिन है। आज प्राय. सभी घरों में रामनवमी, जन्मअष्टमी और शिवरात्रि आदि त्यौहार मनाये जाते हैं।

सेनापति के लिये यह निर्धारित करना कि ये किस धर्म को मानने वाले हैं कठिन है। इन्होंने प्रायः सभी के ऊपर अपने कवित्तों की रचना की है। राम के अनन्य भक्त होते हुए भी तुलसीदासजी ने कृष्ण-गीतावली लिखी है और शिव को तो उन्होंने राम-भक्ति का एक आवश्यक अंग बना दिया है। सेनापति भी तुलसीदासजी का अनुकरण करते दृष्टिगोचर होते हैं। कभी वे राम के लोक रञ्जनकारी रूप पर मुग्ध होते हैं, कभी कृष्ण के रूप-माधुर्य पर रीझ उनके गुण गाने लगते हैं, कभी चन्द्र और गंगा धारण करने वाले शिव की स्तुति करते हैं तो कभी गंगा-महात्म्य वर्णन में उलझे देखे जाते हैं। वैष्णव भक्त कवियों की भाँति सेनापति भी तीर्थस्तवन, गंगा-स्नान आदि विषयों पर आस्था रखते थे। तुलसी की छाया होते हुए भी यह कहना समीचीन न होगा कि सेनापति की रचना पर रामचरितमानस का कोई विशेष प्रभाव है। पहले तो उनके रामायण वर्णन में कथा सम्बद्ध नहीं है और जो कुछ घटनाएँ मिलती भी हैं वे रामचरितमानस से मेल न खाकर वाल्मीकि रामायण से ही अधिक मेल खाती हैं। परशुराम के आगमन का वर्णन स्वयंवर के समय न होकर दशरथ के अयोध्या लौटते समय ही कराया गया है।

जहाँ तक राम के नारायणत्व का सम्बन्ध है सेनापति तुलसीदासजी की कोटि में आते हैं। उन्होंने रामावतार के गुणों का वर्णन विस्तार से किया है परन्तु जहाँ तक प्रभु के लोकरञ्जनकारी स्वरूप का वर्णन है वे तुलसी की भाँति सौन्दर्योपासना करते नहीं देखे जाते। राम के पराक्रम का वर्णन उन्होंने विस्तार से किया है। उन्होंने राम के असीम सौन्दर्य के चित्रण का प्रयत्न कम किया है। राम के वीरत्व और भक्त-वत्सलता से ही वे अधिक प्रभावित हुए हैं और

उन्हीं के वर्णन करने में वे दत्त चित्त रहे हैं। सेनापति की भक्ति-भावना यद्यपि उत्तमों की कोटि को प्राप्त नहीं हो सकी किन्तु भगवान के जिस स्वरूप को लेकर वे चले [illegible] कि उनके हृदय में सच्चा अनुराग था और उसकी अभिव्यक्ति करने में वे पूर्ण रूप से सफल भी हुए हैं। जीवन की नश्वरता का ज्ञान होने पर ही सांसारिकों का ईश्वरोन्मुख होना सम्भव है। जीवन की क्षणिकता का अनुभव ही उसके विराग का कारण बन जाता है—

कीनो बालापन बालकेलि में मगन मन,
लीनो तरुना पै तरुनी के रस तीर को।
अब तू जरा में परयो मोह पींजरा में परयो,
सति भजु रामैं जो हरैया दुख पीर को॥

संसार की अनित्यता पर क्षुब्ध होकर जब भक्त भगवान के लोकोपकारी रूप की ओर देखता है तो उसके हृदय में अपूर्व आशा का सञ्चार होने लगता है। सम्पूर्ण संसार उसे उसकी करुणा कादम्बिनी से सिंचित दिखाई पड़ने लगता है और उसे आश्वासन होता है कि सर्व भूतेषु रत भगवान उसकी भी रक्षा अवश्य करेंगे—

अरि करि औंकुस विदारयो है हिरनाकुस,
दास को सदा कुसल देत जो हरष हैं।

और:—

अति अनियारे चन्द कलाते उजयारे,तेई,
मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख हैं॥

सेनापति कहते हैं कि मोक्ष प्राप्त के लिये कोई जप तप करता है कोई तीर्थ सेवन करता है और कोई सांसारिकता से मुँह मोड़ जोगी हो जाता है लेकिन हम तो सुख की नींद सोते हैं क्योंकि हमारे दुखों का अनुभव हमें न होकर राम को होता है:—

कोई परलोक सो भीत अति चीन राग,
तीरथ के तीर बसि पी रहत नीर ही।

लेकिन हम तो —

सोवैं सुख सेनापति सीतापति के प्रताप,
जाकी सब लागै पीर ताही रघुवीर ही॥

सेनापति कहते हैं कि हमें तो किसी बात की चिन्ता नहीं है भक्त को इस विचार से जितना सुख मिलता है उतना किसी दूसरी से नहीं। भक्त के ऊपर कोई कष्ट पड़ा नहीं कि भगवान को उसका अनुभव होने लगा। मीरा भी इसी प्रकार से कहती पाई जाती है। भक्त को ईश्वर के ऊपर बहुत बड़ा भरोसा होता है।

प्रभु के महत् स्वरूप का अनुभव कर और अपनी नीचता का विचार कर भक्त का हृदय पीड़ा तथा आत्म ग्लानि से भर जाता है, उसे भगवान की आविर्यानता देख इस बात पर आश्चर्य होने लगता है कि इतने पापों के साथ हम भक्त की कोटि में कैसे आगये।

आलस की निधि, बुधि बालस जगतपति,
सेनापति सेवक कहाँ यौं जानि कीनो है॥

उसे इस बात पर आश्चर्य होता है कि भगवान ने उसे क्या समझ कर सेवक ऐसा उच्च पद दे दिया। भक्ति की यह दैन्यता भक्त का सबसे उत्तम अङ्ग है। सेनापति की भक्ति में भी यह भावना सर्वत्र पाई जाती है। एक कवित्त में कवि तार्किक के रूप में भी देखा जाता है। यहाँ हमें उसकी वास्तविक प्रकृति के दर्शन होते हैं।

"आपने करम करि हौं ही निबहौंगी तौब
हौं ही करतार करतार तुम काहे के।"

यदि यह बात निश्चित है कि मनुष्यों को कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है तब तो हम स्वयं ब्रह्म ठहरते हैं तुम्हारा ब्रह्मत्व किस बात में रहा। एक स्थान पर कवि मूर्ति पूजा का खण्डन करता दिखाई देता है। वह हठि अन्तर्मुखी बनाने का आदेश करता है, फूलों से ढकी हुई प्रतिमा को भगवान कदापि नहीं कहा जा सकता।

धातु सिलादार निराधार प्रतिमा को सार,
सो न करतार तू विचार बैठि गेह रे।

परन्तु यह उसके ऊपर समय का प्रभाव है। उस काल की चलती हुई हवा में बहकर ही वैसा कह गये हैं।

क्यों कि राम रसायन के पहले ही कवित्त में भगवान के निर्गुण तथा सगुण रूप को पूर्णभाव स्वीकार कर लिया है।

शिवजी के भी सेनापति बड़े भक्त थे। जगह जगह तन्मयता के साथ उन्होंने उनका वर्णन किया है। उनके शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाने वाले स्वभाव पर वे मुग्ध हैं.—

सोहति उतंग उतमंग ससि संग गंग,
गौरि अरधंग जो अनंग प्रतिकूल हैं।
कहाँ भटकत, अटकत क्यों न तासौं मन,
जाते आठ सिद्धि नव निद्धि रिद्धि तू लहै॥

शङ्कर के रूप गुण पर वे मुग्ध हैं। उनका सामीप्य वे चाहते हैं और साथ ही साथ.—

"बारानसी जाइ, मनिकर्णिका अन्हाई,
मेरो शङ्कर ते राम नाम पढ़िवे को मन है।"

तुलसी की भाँति वे भी शङ्कर से राम नाम ही सीखना चाहते हैं।

गङ्गा वर्णन भी आपने किया है पर वह उसकी प्राकृतिक शोभा से मोहित होकर ही नहीं वरन भक्ति भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है। गङ्गा की स्तुति भी इसलिये नहीं की गई कि वह महान है उसकी महानता इसी में है कि वह विष्णु के चरणों से निकली है। यदि कोई गङ्गाजल स्पर्श करता है तो उनके विचार से वह विष्णु के चरणों का स्पर्श करता है। इसी में उसका माहात्म्य है—

"राम पद संगिनि तरंगिनि है जाहि तावे,
याही के पकरे से पाई राम की पकरि ये।"

शिव ने शीश में गङ्गा को धारण कर लिया यह अच्छा ही किया। नहीं तो न जाने उनकी क्या दशा हुई होती। कन्ठ में गरल, हृदय पर सर्पों की माला मस्तक पर त्रिलोचन ऐसी भयङ्कर वस्तुएँ होते हुए भी जो शिवजी की रक्षा हो रही है वह सुधा से सहस्र गुने प्रभाव वाले गङ्गा जल के ही कारण है।

सेनापति की भक्ति भावना में हृदय की तल्लीनता तथा अनुभूतियों की सचाई है। उनके भक्ति-भावना के कवित्त मनोरम तथा हृदय ग्राही बन पड़े हैं। अपनी भक्ति भावना के कारण वे जीवन की उस स्थिति तक पहुँच गये हैं जहाँ सांसारिक यातनाएँ मनुष्य के लिये कोई महत्व नहीं रखतीं और हृदय शान्त हो जाता है। जहाँ सारा जगत उसके लिये राम मय ही प्रतीत होने लगता है और वह स्वयं को एक अपरिच्छिन्न शक्ति में लीन होता हुआ देखने लगता है। राम पर सेनापति को पूर्ण विश्वास है। उनके बल पर काल काल को भी उनसे कुछ कहने का साहस नहीं है। राम के सेवक का महत्वपूर्ण तथा उच्च पद उन्हें प्राप्त हो गया है।

सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान'

श्री अनिलकुमार, साहित्य-रत्न

जिस काल में इंशाअल्ला खाँ और सदासुखलाल हिन्दी गद्य की नींव सुदृढ़ कर रहे थे उन्हीं दिनों कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के आचार्य 'जान गिलक्रिस्ट' भी हिन्दी गद्य-निर्माण का कार्य कर रहे थे। उन्हीं की प्रेरणा से लल्लूलाल ने 'प्रेम सागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। दोनों ने अपनी कथा संस्कृत ग्रन्थ भागवत से चुनी थी, अतः वस्तु-निर्माण दोनों को स्वयं नहीं करना पड़ा। पुराने ढाँचे पर ही प्रयास किया गया था। इस दृष्टि से इन्शा का कार्य दुरूह एवं मौलिक था क्योंकि मुन्शी सदासुखलाल और इन्शा अल्ला खाँ ने 'स्वान्तः सुखाय' रचना की थी। लल्लूलाल और सदल मिश्र दूसरों की प्रेरणा से इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। लल्लूलाल की शैली में प्रान्तिक प्रयोगों का आधिक्य होने से गद्य के भविष्य का निर्माण उनके द्वारा कम हुआ। वर्तमान की सीमाओं का मोह वे नहीं त्याग सके।

सदल मिश्र ने वर्तमान के साथ ही भविष्य का भी निर्देश किया। इनकी शैली में इन्शा की भाँति तुकबन्दी का प्रयास नहीं है, अरबी फारसी को भी इन्होंने एकदम पृथक् नहीं किया जिससे भाषा में मुहावरों का प्रयोग भी हुआ है तथा रोचकता एवं आकर्षण की भी सृष्टि हो पाई है। कहीं-कहीं इन्शा की वाक्यों में क्रिया को अन्त में न रखने का पद्यात्मक-शैली इनमें भी विद्यमान है। जैसे—"जलविहार हैं करते, उत्तम गति को हैं पहुँचते, अबहीं हुआ है क्या!" आदि। स्थान-स्थान पर वाक्यों में अपूर्णता के भी दर्शन होते हैं—अन्तिम क्रिया का लोप हो जाता है। जैसे—"जहाँ देखो तहाँ देवकन्या सब गाती।" 'और' के लिये 'औ' तथा 'वो' दोनों रूप प्रयुक्त हुए हैं। शब्दों में बहुवचन का रूप दो प्रकार का मिलता है 'न' और 'न्ह' प्रत्यय द्वारा। जैसे—ब्राह्मन, हाथन, सज्जन; कौटिन्ह, मातिन्ह, फूलन्ह, बहुतेरन्ह। सदासुखलाल की रचना का सा पंडिताऊपन इनमें भी खूब है। 'आवने', 'सेवने', 'करनिहारा', 'जाननिहारा' आदि प्रयोग इसके परिचायक हैं। पर शब्द दो रूपों में लिखा गया है। कहीं वह 'कहदी' है तो कहीं 'कधो'। कलकत्ते में रहकर सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा था अतः स्थानीय (बँगला) शब्दों का प्रयोग भी कहीं हुआ है। जैसे 'गाछ' 'काँदना' आदि शब्द मूलतः बङ्गला के हैं। मिश्रजी ने 'जहाँ-कि' को सर्वत्र 'कि जहाँ' लिखा है। यत्र तत्र अलङ्कार भी हैं। शब्दालङ्कारों में छेकानुप्रास के उदाहरण स्वरूप ये वाक्य—"चित्त में कुछ चिन्ता मत करो। हमारा कहा कभी झूठ न होगा। अपने आश्रम पर जा शिव पूजन करो।" (पृष्ठ ५) पंडिताऊपन तथा कथा वाचक पद्धति का शैली में सर्वत्र निर्वाह हुआ है। जैसे—'स्थान पर आय', 'चित्त लगाय', 'पीड़ित भए' आदि। गुजराती भाषा के व्याकरण के समान (अनेक पंडितो आये छे।) यहाँ भी बहुवचन शब्द को 'ओ' कारान्त कर दिए गये हैं। उदाहरणार्थ—

एकवचन	बहुवचन
देवता	देवतों
राजा	राजों

विभक्ति के चिन्हों को प्रयुक्त करने में भी गड़बड़ी हुई है—

जैसे—

नारों को देखने में आई। (पृष्ठ ६)

ऋषियों के सम्मति से—। (पृष्ठ ५)

सूर्य के ओर सम्मुख हाथ जोड़— (पृष्ठ १४)

इसी प्रकार वाक्यों में प्रान्तिक प्रयोगों की कमी नहीं है—

किसी के शाप से यहाँ आ पहुँची। (पृष्ठ ७)
तैने यह क्या किया! (पृष्ठ ११)
चारो दिशा चितौने लगी। (पृष्ठ १५)
मुझे नहीं पीछते हो! पही ताइने देखती हो। (पृष्ठ १७)
आज मैं ही लीपौंगी। (पृष्ठ १८)

प्रान्तिक, अपभ्रंश, ठेठ तथा देशज शब्दों का भी मिश्रजी के गद्य में बाहुल्य है। यथा—

मुनि ने भेपरे-समेत राजा को सुनाई। (अपभ्रंश)
क्या अजगुत कहते हो " (ठेठ)
अँधार ही देखने में आया। (देशज)
पेड़ों पर लता पसर रही थी। (प्रान्तिक)
लड़काई से आगतक सुग्गा सा पढ़ाया (देशज)

"सर्व विधानिधान ज्ञानवान महाप्रधान श्री महराज जान गिलक्रस्त साहब से मिला।" म ध्वनि व्यञ्जना अच्छी हुई है। एक स्थान पर उत्प्रेक्षा अर्थ-लङ्कार भी आया है। जैसे—

"वह कहते ही पृथ्वी पर गिर पड़ी जैसी कोई फूली फली लता पेड़ पर से नीचे गिर पड़े। (पृष्ठ १०)

"स्त्री जन का विश्वास न करना"—'सब दो पर लड़की नहीं कि जिससे लोक में हँसी होय' आदि अर्थों आदि अर्थों में लोकवृति का तथा विषय-विशेष के प्रति नागरिकों के विचारों का अच्छा परिचय मिलता है।

मिश्रजी ने 'उ' के लिये 'वि' का प्रयोग किया है।
विस बिन क्या कभी क्रिया सिद्ध होती है।
ज ?र विसके देव पितर बहुत आनन्द होते।
वे ?के सूँघने से चन्द्रावती को गर्भ हुआ।

की नायिका चन्द्रावती के अङ्गों का वर्णन भी नखशिख का आभास देता है किन्तु वर्णन में क्रमाभाव होने से इसे पूर्णतया नखशिख वर्णन नहीं कह सकते, फिर भ, रूप वर्णन का आभास मिलता है। जैसे—

"इसके हाथ पाँव के आगे क्या कमल का फूल, कि जिनके देखने से तनिक भी नहीं ... आँखें तृप्त होती हैं और चन्द्रमा समा... है ... कटि, मृग का सा चञ्चल नयन, ब... छाती कि जैसे सोने का दो कलस होय, लाल अधर, तातें को मो नाक कि जिसके नीचे एक तिल कुछ और ही शोभा दे रहा है।"

नरक और स्वर्ग का वर्णन बड़े विस्तार से हुआ है। पाप-पुण्य की मिमांसा भी बड़ी बारीकी से की है। यमराज के दरबार का वर्णन भव्य है। प्रत्येक पाप का पृथक-पृथक उल्लेख कर, उसके दण्ड का रोमाञ्चकारी वर्णन कर मिश्रजी ने 'रसनिष्पत्ति' भी की है। भयानक, बीभत्स एवं रौद्र रस का यहाँ अच्छा निर्वाह हुआ है।

गर्भवती कन्या के लक्षणों का वर्णन कितना सूक्ष्म है "पहिले मास में तो उस कन्या को कुछ अधिक सा देह में रूप उपजा और दूसरे में गर्भ का लक्षण जानने में आया। तीसरे पियरा मुँह हो गया। चौथे में रोएं अलग-अलग होने लगे, पाँचवे में कुच व नितम्ब ऐसे भारी हुए कि जिनके भार से अलसाकर किसी से कुछ बातचीत न कर सकती। छठवे महीने में उसकी माता बड़ा सा पेट देख व्याकुल हो तुरन्त धरती में गिर पड़ी।" (पृष्ठ ८)

निसर्ग का मनोहर वर्णन भी लेखक के निरीक्षण से नहीं छूट सका—उक्त रचना में उसकी माधुरी के दर्शन मिलते हैं—

"कुण्ड में क्या अच्छा निर्मल पानी कि जिसमें के फूलों पर भौरें गूँज रहे थे, तिस पर हस, सारस, चकवाक आदि पक्षी भी तीर-तीर सोहावन शब्द बोलते, आस पास के गाछों पर कुहू कुहू कोकिलें कुहुक रहे थे, जैसा वसन्त ऋतु का घर ही होय।" (पृष्ठ १३)

इस प्रकार मिश्रजी की भाषा में एकरूपता (Hormouy) का अभाव है तथा वह अव्यवस्थित एवं अनियमित है तथापि भाव प्रकाशन की

(शेष पृष्ठ १६६ पर)

कथा-साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान

श्री अज्ञेय

आजकल के [illegible] साहित्य के पढ़ने वाले हिन्दुस्तानी पाठक आसानी से कह दे सकते हैं कि प्रेमचन्द महान उपन्यासकार नहीं हैं, और इस कथन की पुष्टि के लिए प्रेमचन्द के समकालीन और परवर्ती विदेशी उपन्यासकारों के नाम गिना सकते हैं। और कहानी के क्षेत्र में तो कुछ लोगों ने हिन्दी में ही ऐसे १०-१२ लेखकों की सूची बनाई है जो प्रेमचन्दजी से कम से कम दस वर्ष आगे हैं। इस तरह की तुलना करने वाले अपने अज्ञान अथवा अहंकार का ही प्रदर्शन करते हैं।

किसी भी साहित्यिक कृति की समीक्षा करते समय सबसे पहले उसे अपने साहित्य और समाज की परिधि में देखना चाहिए। इस दृष्टि से देखें तो हम जान सकते हैं कि प्रेमचन्द का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के लिए कितनी बड़ी घटना है। प्रेमचन्द से पहले का हिन्दी आख्यान साहित्य आख्यान तो है, लेकिन आज जिसे अंग्रेजी में 'फिक्शन' कहते हैं वह नहीं है। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले आधुनिक आख्यान लेखक हैं। 'आधुनिक' इस अर्थ में कि उन्हें अपने समवर्ती समाज-जीवन की अन्तः शक्तियों का जीवित बोध है। ऐय्यारी, तिलिस्मी और मालिनों-भठियारिनों के किस्सों से 'सेवासदन' कितनी बड़ी मंज़िल है।

यह भी प्रेमचन्द की समकालीनता का केवल ऐतिहासिक पहलू है। कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से तो प्रेमचन्दजी का महत्व है, और उनका साहित्य हमारी साहित्य परम्परा में स्थान तो रखता है, लेकिन वह पिछड़ा हुआ स्थान है, क्योंकि आज हम उससे आगे निकल आए हैं। ऐसा होता तो बड़े सन्तोष की बात होता, किन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासों से परवर्ती उपन्यास साहित्य की तुलना करने पर क्या यह दावा किया जा सकता है कि परवर्ती साहित्य सचमुच प्रेमचन्द के साहित्य से बहुत आगे है?

असल में परवर्ती युग में टेकनीक का महत्व बहुत बढ़ गया है और इसीलिए हम आज की कृतियों को वह महत्व देने लगे हैं जिसकी वे वास्तव में पात्र नहीं हैं। दूसरी ओर यथार्थवाद के नाम पर प्रगतिवादी आन्दोलन ने जहाँ साहित्यकार की दृष्टि को एक नई दिशा में मोड़ा है वहाँ एक दूसरे परिदृश्य से उसे हटा भी दिया है। सामन्तकालीन साहित्य में अगर उच्च वर्ग के पात्रों का ही यथार्थ वर्णन होता था और इतर लोग केवल एक परिपाटी के ढाँचे में ढली हुई छायाएँ मात्र थे तो आज का साहित्य-दृष्टि भी कम संकुचित नहीं है, अगर उसने मुलुआ धोबी और मनुवा चमार को व्यक्ति-चरित्र देकर भद्र और उच्च वर्गीय व्यक्तियों को पुतले बना दिया है। यह दोष किसी हद तक प्रेमचन्द के साहित्य में भी है कि उसके निम्नवर्गीय पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वास्य है। किन्तु प्रेमचन्द में यह दोष अनुभव की सीमा का दोष है, संकुचित सहानुभूति—उदारता की कमी—या इच्छा से उत्पन्न होने वाला नहीं। इसके प्रतिकूल, अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य जीवन को इच्छापूर्वक सकुचित दृष्टि से देखता है। उसका यथार्थ एक खण्डित यथार्थ है जिसको वह सायासः ही देखना चाहता है, क्योंकि वह कुछ तथ्यों की अनदेखी करना चाहता है जो कि उसके सैद्धान्तिक ढाँचे में ठीक नहीं बैठते।

प्रेमचन्द का दृष्टिकोण मानववादी था। समाज के वर्ग-विभाजन को और उससे उत्पन्न होने वाले उत्पीड़न और शोषण को वह नहीं देखता हो, ऐसा नहीं था। किन्तु इस बात की वह अनदेखी नहीं कर सकता था, न करना चाहता था कि, जन्म, कर्म, या घटना-चक्र

वर्ग के हितों से सम्बद्ध हो जाना सामाजिक की एक घटना अथवा वास्तविकता है, ानव होना उसके जीवन की ही बुनियादी .कता है और उसी बुनियादी वास्तविकता के ानव मात्र सहानुभूति का पात्र है।

कह सकते हैं कि प्रेमचन्द सामाजिक आदर्शवादी आज के युग में किसी को आदर्शवादी कहना एक की गाली ही है और 'प्रेमाश्रम' के आदर्श म का हवाला देकर प्रेमचन्द के आदर्शवाद को काल्पनिक और असार बताया जा ही सकता है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि उपन्यासकार की समाज-परिकल्पना की अपर्याप्तता से ही यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उसके आदर्श में प्राणशक्ति नहीं है, या कि उसके आदर्शवाद में रचनात्मक सम्भावनाएँ बिल्कुल नहीं हैं। बल्कि मैं समझता हूँ कि परवर्ती उपन्यास की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों में रचनात्मक प्रभाव की सम्भावना अधिक है, क्योंकि प्रेमचन्द का आदर्शवाद मानवता में आसक्ति रखता है और यह आसक्ति रचनात्मक प्रणालियों में बांधी जा सकती है।

इन साधारण और व्यापक प्रतिपत्तियों का स्पष्टीकरण करने के लिए परवर्ती उपन्यास साहित्य से कुछ चुने हुए उदाहरण लूँ: भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उपेन्द्रनाथ अश्क का 'गिरती दीवारें', इलाचन्द्र जोशी का 'निर्वासित', यशपाल का 'देशद्रोही' रांगेय राघव का 'घरौंदे' रामचन्द्र तिवारी का 'सागर सरिता और अकाल', तथा अमृतलाल नागर का 'महाकाल' आदि। 'शेखर' साधारणतया जीवनी मूलक उपन्यास है, एक व्यक्ति-चित्र है। जैनेन्द्र कुमार का 'त्यागपत्र' भी अन्ततः व्यक्तिचित्र है और 'सुनीता' में तो लेखक की ओर से वास्तविकता का दावा ही नहीं है। इसलिए इन्हें छोड़ दें।

उल्लिखित सभी उपन्यास समकालीन, सामाजिक घटना से सम्बन्ध रखते हैं और उसी के द्वारा मानव जीवन का चित्रण और अध्ययन करते हैं, यद्यपि इनमें से किसी को भी सर्वथा परिपक्व, निर्दोष, सत्कृति नहीं माना जा सकता और सभी में है और मतवादों का आरोप है; वह एकप्र है जो कि साहित्यिक कृति में होनी चाहिए।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' राजनीतिक आन्दोलन के तीन रास्तों—गांधीवादी, कम्युनिस्ट और आतंकवादी के अध्ययन के नाम पर, वास्तव में, राजनीतिक संघर्ष के परिपार्श्व में व्यक्तियों का ही चित्रण है। उस राजनीतिक संघर्ष में लेखक का पूर्वग्रह भी बिल्कुल स्पष्ट है, इसके तीन पन्थियों में कोई भी यथार्थ और सामाजिक मानव का चित्र नहीं है, न टेढ़े-मेढ़े रास्ते ही वास्तविक, यथार्थ और विश्वास्य हैं। उपन्यास का सबसे अधिक विश्वास्य और खरा चित्र ताल्लुकेदार का ही है और उसके बाद गाँव के बूढ़े झगड़ू का। और इसका कारण यही है कि इन्हीं दो पात्रों को लेखक की मानवीय सहानुभूति मिली है, इन्हीं के मन को उसने समवेदना के सहारे समझा और ग्रहण किया है। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या यह उपन्यास यथार्थवादी है? क्या उसकी वस्तु समकालीन और महत्वपूर्ण—सिगनीफिकेंट—है?

इसकी तुलना में 'गिरती दीवारें' कहीं अधिक सच्चा और यथार्थ है। उसका सच बहुत संकुचित सच है। क्योंकि, उसकी दृष्टि भी संकुचित अणुवीक्षक दृष्टि है और जीवन के प्रसार और बहाव को नहीं देखती। 'गिरती दीवारें' का लेखक उपन्यास के नायक के साथ आत्मसात होकर उस परिपार्श्व को नहीं देखता है जिस में कि नायक एक स्वल्प इकाई भर है। उपन्यास में कहीं-कहीं बहुत ही मार्मिक चित्रण हुआ है और कभी-कभी कोई स्थान अथवा पात्र अत्यन्त सजीव होकर उभर आया है। किन्तु कुल मिलाकर उपन्यास पूरे समाज का एक संगठित चित्र नहीं देता। इतना ही नहीं, उपन्यास के नाम से जो अनुमान होता है, उसे स्वयं लेखक उपन्यास के अन्त में झुठला देता है। छः सौ पृष्ठ पढ़ कर अन्त में यह निष्कर्ष निकलता देख कर बड़ी निराशा होती है कि उपन्यास की दीवारें

मानव समाज की दीवारें नहीं, पंजाबी निम्न-मध्यवर्ग की [illegible] कवि अर्थ, केवल यौन कुण्ठा की दीवारें हैं। 'गिरती [illegible] [illegible]तनी वस्तु है, वह पंजाब के हिन्दू निम्न-मध्यवर्गी[illegible]न के खोखलेपन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने के लिए काफी है। लेकिन लेखक एक तो बार-बार प्रसंगान्तर में पड़ गया है, या फिर निम्न-मध्यवर्ग की बहुमुखी आकांक्षाओं में से केवल एक के यौन तृप्ति की आकांक्षा के—और उसके खण्डन से उत्पन्न होने वाले विकारों के साथ उलझा रह गया है।

इलाचन्द्र जोशी का 'निर्वासित' भी अन्ततोगत्वा व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है। एक ही व्यक्ति और वह भी ऐसा व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व अनेकों मानसिक और यौन वर्जनाओं से कुण्ठित और विघटित हो गया है, उपन्यास का केन्द्र है। उस व्यक्ति को लेखक की सहानुभूति तो मिली है, लेकिन, पाठक की सहानुभूति इसलिए नहीं मिलती कि उसकी अबाध्य अस्थिरता के साथ पाठक नहीं चल सकता। उपन्यास की एक यह विशेषता जरूर है कि हिन्दी में एक मात्र इस उपन्यास में एटम बम के आविष्कार की महत्ता और उसकी दूरव्यापी सम्भावनाओं पर जोर दिया गया है। इतना ही नहीं, उपन्यास के घटना-क्रम में यह आविष्कार एक धुरी का काम करता जान पड़ता है। लेकिन, वास्तव में चरित्रनायक पहले ही जिस सम्पूर्ण पराजय और कुण्ठितावस्था तक पहुँच चुका है उसीको पाठक पर अभिव्यक्त कर देने के लिए एटम बम निमित्त बना लिया गया है। अगर मानव की उन्नति पर चरित नायक का विश्वास पहले ही टूटा हुआ न होता, तो एटम बम की घटना उसे तोड़ देने के लिए काफी न होती। जिन्हें मानवता पर विश्वास रहा उन्हें आज भी है और यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब मूर्ख हैं जो कि एटम बम की महत्ता से परिचित नहीं हैं।

यह न समझा जाए कि मैं मानवता नाम की किसी रहस्यपूर्ण सत्ता की दुहाई दे रहा हूँ। मैं स्वयं उन लोगों में से हूँ जो मानते हैं कि अगर कोई नया रहस्यपूर्ण सत्य आविर्भूत होता है वह पहले व्यक्ति के माध्यम से ही प्रकाश में आता है। मैं इलाचन्द्र जोशी को इसलिए दोष नहीं दे सकता कि वे व्यक्ति की रहस्यमयता को इतना महत्व देते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि वह सामाजिक परिपार्श्व को और उसमें काम करने वाली जानी हुई और पूर्वानुमेय शक्तियों को उचित महत्व नहीं देते। व्यक्ति महान है तो इसलिए नहीं कि वह सर्वथा अननुमेय, स्वच्छन्द और अनियमित है, वरन् इसलिए कि वह एक अनुमेय और नियमित सामाजिक परिपार्श्व में रहते हुए भी उसे परिवर्तित करता है, और नई दिशाएँ तथा नई गति दे सकता है। परिपार्श्व के साथ उसके अन्योन्याश्रय को न देखने का परिणाम सम्पूर्ण पराजय और निराशावाद ही हो सकता है। और वास्तव में इलाचन्द्रजी के उपन्यास में यह परिणति हुई भी है। 'सन्यासी' से 'निर्वासित' तक का विकास इसे सूचित करता है।

रचना की दृष्टि से यशपाल का 'देशद्रोही' इन उपन्यासों में सबसे अच्छा है। शिल्प के सहारे उन्होंने एक रोचक और पठनीय उपन्यास प्रस्तुत किया है। शिल्प और टेक्नीक पर अपने अधिकार को वह *अधिकाधिक राजनीतिक अथवा सैद्धांतिक प्रतिपत्तियों* में लगा रहे हैं। इस पर कुछ पाठकों का खेद हो सकता है, लेकिन अधिकांश पाठक, जो कहानी में सबसे पहले सुघड़ रोचकता चाहते हैं, और दूसरी कोई कलात्मक खूबी नहीं इस बात को अनदेखी कर जाएँगे।

रांगेय राघव के उपन्यास 'घरौंदे' में प्रतिभा के भी और अपरिपक्वता के भी स्पष्ट लक्षण हैं। लेखक ने अनुभव किया है कि मानवीय उद्योग एक महत्तर परिपार्श्व में होता है जिस पर उसका अधिकार नहीं है। किन्तु जहाँ प्रतिभा प्रहण शक्ति और सूझ देती है *वहाँ उसकी परिपक्वता अनावश्यक के परित्याग करने* की निर्ममता भी देती है। यह निर्ममता रांगेय राघव में नहीं है। कुल मिला कर कहना होगा कि 'घरौंदे'

का महत्व लेखक की कृति में नहीं, बल्कि भावी कृति की सम्भावना में है।

'सागर, सरिता और अकाल' तथा 'महाकाल' दोनों की वस्तु बङ्गाल के अकाल से ली गई है। दोनों खरे यथार्थ चित्र हैं। नागर के चित्रण में अधिक बारीकी और शक्ति है, उपकरण और सामग्री का उपयोग करने का उनका ढङ्ग अधिक आधुनिक है। टेकनीक की दृष्टि से इन दो उपन्यासों की तुलना उपयोगी है। रामचन्द्र तिवारी का टेकनीक प्रेमचन्द के निकट है और शायद आज लिखने वाले उपन्यासकारों में, इस दृष्टि से, वही प्रेमचन्द के सबसे निकट हैं। 'महाकाल' के लेखक का चित्रण इससे सर्वथा भिन्न है। तिवारीजी के सामने और प्रेमचन्द के सामने, मानवता का, मानवीय उद्योगों का, एक ढाँचा रहता है जिससे व्यक्ति का उद्योग बाँध दिया जाता है। फलतः अमुक एक दूसरे व्यक्ति की विशेषता और रोचकता इसमें है कि दोनों एक साधारण मानव से किसी हद तक भिन्न है। किन्तु नागरजी के सामने वैसा कोई ढाँचा नहीं है। वह प्राकृतिक शक्तियों से ताड़ित और प्रताड़ित व्यक्तियों का एक के बाद एक, चित्र उपस्थित करते चलते हैं, और इन चित्रों से मानवता का सम्पूर्ण चित्र तैयार करने का काम पाठक पर छोड़ देते हैं। उनका प्रकृतिवादी चित्रण तत्काल प्रभाव डालता है, लेकिन, चित्रों के समूह से मानवता का जो रूप हमारे सामने आता है वह मूलतः एक नकारात्मक रूप है। फलतः, व्यक्ति-चित्रों की बहुलता और रङ्गीनियाँ ही मानवता के सम्पूर्ण चित्रण में बाधक होती हैं और लेखक के उद्देश्य को असफल कर देती हैं। परिस्थिति मानव को तोड़ती है, या बनाती है, यह ठीक है; लेकिन अगर सत्य केवल इतना ही होता तो हम मानवता के लिए अधिक व्यस्त न होते, क्योंकि, परिस्थिति ही सब कुछ हो जाती। लेकिन ऐसा नहीं। हम मानवता के भविष्य के बारे में आशावादी हो सकते हैं। व्यक्ति[illegible] महत्व के बारे में मैंने पहले जो कुछ कहा है [illegible] ठीक है। इस दृष्टि से तिवारी जी का उपन्[illegible] संतोषप्रद है। उसमें मानवों की वासना[illegible]लुपता और नीचता की पृष्ठभूमि पर मानव के ही साहस और उद्योग का भले ही अकिंचन और असफल उद्योग का चित्र पेश किया गया है।

डी० एच० लारेंस ने, कहीं कहा था कि आधुनिक सफाई—सैनिटेशन—की जड़ में यह बात है कि मानव को मानव की बू असह्य हो गई है। बहुधा मानव जाति की उन्नति और सुधार की प्रचेष्टा में भी मानव से प्रेम नहीं, मानव के प्रति अवहेलना या घृणा की भावना काम करती है। बुद्धिवादी के लिए यह खतरा सदा बना रहता है कि उसकी मानवीय संवेदना का स्रोत कहीं सूख न जाए। प्रेमचन्द की और हमारी दृष्टि में ऐसा ही अन्तर आता जा रहा है। प्रेमचन्द को मानवता से प्रेम था, हम केवल मानवता की प्रगति चाहते हैं। हमने आख्यान साहित्य को प्रेमचन्दजी से आगे बढ़ाया है, लेकिन केवल टेकनीक की दिशा में। साहित्यकार की संवेदना को, मानवीय चेतना को, हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है। यही एक कारण है कि प्रेमचन्द का आख्यान-साहित्य अब भी हमारा मार्ग दर्शक हो सकता है। प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आए, यह दावा हम उसी दिन कर सकेंगे जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रगट हो। उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्व ऐतिहासिक है।

—आर्ट्स एण्ड आर्टिस्ट्स, पटना, के गत प्रेमचन्द जयन्ती के अवसर पर सभापति-पद से दिए गए भाषण से नवनीत द्वारा संक्षेपित।

तुलसी का जीवन—घोर दुःखान्त नाटक

प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०

महानता आकाश से सिर पर नहीं टपक पड़ती। वह बाजीगर का आम्रवृक्ष नहीं जो आँखों में धूल झोंक कर जमा दिया जाता है। यह तो गिरिराज हिमालय है जिसे प्रकृति कण-कण से युगों में संवार पाई है। जीवन शाणो कसौटी पर कसा जाता है मनुष्य जीवन-पयोधि में बूड़ता-उतराता है; आत्मा संसार के तीखे थपेड़ों को झेलती आगे बढ़ती है, तब कहीं महत्त्व एवं गौरव का सिंहासन प्राप्त होता है। हाँ, इतना अवश्य है, दुःखी को दुःखों के पश्चात् सुख-वर्षा भी मिलती है, कोई जीवन पर्यन्त दुःखों कष्टों एवं आपदाओं की भट्टी में जलकर परलोक में जाकर शान्ति पाता है। भक्त चूड़ामणि कवि शिरोमणि महात्मा तुलसीदासजी दूसरे प्रकार के व्यक्ति थे। वे उन महान् आत्माओं में से हैं जो सदा—जन्म से मरण तक दुःखों से मुठभेड़ करते रहे। उनका जीवन कष्ट-कण्टकों का अमित कोष ही बना रहा।

स्वयं तुलसीदासजी अपने ग्रन्थों में ऐसी उक्तियाँ स्थान-स्थान पर देते हैं जिनसे इस बात का समर्थन होता है कि वे इस मनुष्य जीवन में भौतिक दृष्टिकोण से बड़े दुःखी रहे। उस शिशु से अधिक अभागा तथा पीड़ित कौन हो सकता है जिसे जन्मते ही या जन्म के कुछ समय बाद माता पिता ने त्याग दिया हो। "मातु पिता जग जाय तज्यो (कवितावली)" "जननी जनकौ तज्यो जनमि" (विनय)। माता पिता ने क्यों त्यागा? इसका निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त होता, अतः भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। जनश्रुति है कि अभुक्त मूल में उत्पन्न होने के कारण नव जात शिशु को छोड़ दिया गया। इसी जनश्रुति को डा० ग्रियर्सन ने तुलसी के जीवन लेख में स्थान दिया। डा० श्यामसुन्दरदासजी बा० बेणीमाधवदासजी के कथन पर विश्वास करते हैं। बा० बेणीमाधवदासजी लिखते हैं—तुलसी जन्म के साथ ही 'राम राम' का उच्चारण करते थे। उनके बत्तीसों दाँत थे। वे पाँच वर्ष के बालक से लगते थे। अतः अपशकुन समझ बच्चे को छोड़ दिया गया। पं० चन्द्रबली मिश्र कवितावली के एक चरण "आयो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि, भयो परिताप पाप जननी जनक को" के शब्द 'पाप जननी' के आधार पर तुलसीदासजी को माकी पाप सन्तान मानते हैं, अतः कबीर की नाईं बच्चे का त्याग, स्वीकार करते हैं। विनय पत्रिका की एक पंक्ति है "तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात पिता हू।" कुटिल शब्द का विशेष अर्थ पं० रामनरेशजी त्रिपाठी करते हैं। उनका मत है—बीछी की ओर 'कुटीला' कीड़ा माँ का पेट फाड़कर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार तुलसी के जन्म के साथ माता की मृत्यु हुई।

कारण कुछ भी क्यों न हो, अभागे शिशु को माता पिता से दूर होना पड़ा। 'तज्यो' शब्द से स्पष्ट अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि उन्हें माता पिता ने छोड़ दिया। एक और पंक्ति है—"स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक, औचट उलटि न हेरो" (वि०) इससे निश्चित हो जाता है कि इस 'त्यागने' में माता पिता ही नहीं, अन्य निकट सम्बन्धी भी सम्मिलित थे क्योंकि वे सब 'स्वारथ के साथिन' थे।

जन्मघुट्टी के साथ जिस बालक ने आपदाओं का दूध पिया उसका बचपन और भी कष्टमय बीतना ही था। बालक तुलसी द्वार द्वार पर चार दाने माँगता फिरता था। (बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन, जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को (कवितावली) इधर-उधर टुकड़ों की खोज में घूमता था। राम के नाम पर, राम की दुहाई देकर, सबके सामने गिड़गिड़ाता, रिरि-बिरिराता और पैरों पड़ता था (बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो, राम नाम लेत मागि खात

टुकड़ाक मैं—बाहुक) पर लोग दुतकार देते, अवज्ञा-पूर्वक मार भगाते। बाल अवस्था खुलकर खेलने का समय है। यह वह अवस्था है जब माँ का होनहार सपूत 'बादशाह' या 'राजाधिराज' बना गोद, पालना, पलंग या रथ में सवार रहता है। जब बालक आज की चिन्ता और कल की व्यग्रता से रहित होकर उछल कूद करता है। पर अभागे तुलसी के भाग्य में यह सब कहाँ लिखा था (बाल दसा हूँ न खेल्यो खुलत सुभाऊ में—विनय) दीन हीन असहाय विप्र-बालक 'उदर लागि ललात फिरेउ' तथा उसकी इस दारुण दशा को निहार तथा करुण कथा को सुन "दुसह दुखित" (विनय) हुआ।

बारह वर्ष में कूड़ी का भाग भी जग जाता है। जीवन में न सदा दुख रहता है, न सदा सुख। यह तो ठीक है, परन्तु ऐसे भी अभागे होते हैं जिनकी जीवन-तुला का एक पलड़ा दुःख-भार से सदा झुका रहता है। तुलसी की आयु के साथ-साथ दुर्दैव भी आगे बढ़ा। तुलसी उसी देश का लाल था जहाँ दूध-दही की नदियाँ बहती थीं, जहाँ आगत अतिथि भगवान् को जल के स्थान पर दूध दिया जाता था। इसी सोने के देश में हमारा तुलसी "छाछी को ललात" (कवित्त०) फिरता था; मट्ठे तक के लिये तरसता था "कौड़ी कनै पाइ मोद" (गीता०) मानता था। दुर्बल कृश गात तुलसी द्वार-द्वार पर का दाँत निकाल कर रोता था (असन बसन बिन बावरो जहँ-तहँ उठि धायो"; "द्वार द्वार दीनता कहि काढि रद परि पाहूँ" वि०) भूखा प्यासा तृष्णा-निश्चरी के लोह चंगुल में जकड़ा इधर उधर भटकता और याचना करता, पिचके पेट को बजा बजा कर दाने माँगता। पर हाय री दीनता! कोई माई का लाल न पसीजता ("हा हा करि दीनता कही द्वार बार बार परी न छार मुँह बायो।" "महिमा मान प्रान तें जति खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो"—विनय)। जगत् दाताओं से रहित नहीं, किन्तु अपना अपना भाग्य जो ठहरा। बेचारे तुलसी पर कोई दया न दिखाता था, कोई बात तक न पूछता था (हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलन छम कियो न सम्भाषन काहू—विनय)

यह सम्भव है कि महाकवि ने अपनी हीनता का चित्र अतिशयोक्ति की रीति से वर्णों में चित्रित किया हो। कविता में ऐसा किया जाता है किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इन अनेकों करुण हृदयद्रावक पंक्तियों के पढ़ते एक बहुत ही दुःखपूर्ण भग्न हृदय साकार कर रहा है। मानव जो कुछ करता है, सुख की आशा से। तुलसी ने भी सुख प्राप्ति की अतुल आशा हृदय में छिपाकर विवाह किया। यहाँ भी दुःख हाथ ही हाथ लगा। उसी प्राणाधार प्राण प्रिया ने निर्मम वाक् प्रहारों से हृदय चलनी कर दिया और आहत तुलसी संसार से मुख मोड़ बैठा। तुलसी "तोर रानि में परना" एवं "मोह बस बस"? किन्तु आहत एवं हताश हो "पाश तोड़ डाला" तोरि तरक तराक हौं (बाहुक)। "तुलसी चरित" के जीवन लेखक ने तो तुलसी के तीन विवाह कराये हैं, दो मर गईं, तीसरी ने वाक् बाणों से मार दिया।

गृहस्थ में सुख शान्ति कहाँ, 'प्रबोध सुधाकर' के प्रणेता शंकराचार्य का यही मत है। वैराग्य में तो अवश्य सुख होगा? होता होगा, हमारे तुलसी को तो गृहस्थ के पश्चात् वैरागी अवस्था में भी दुःख ही मिलता रहा। मन शान्ति के लिए देशाटन किया। २० वर्ष के दीर्घ देशाटन में आतप की आपदा सहा, नदी प्रवाह में डूबते उतराते पार हुए, कभी जल पाकर ही दिन बिताया तो कभी केवल वायुभक्षण पर ही सन्तोष किया। यह देश-यात्रा भी कठोर तपस्या थी। काशी को तो शास्त्रों में सुख दायी, कष्ट हारिणी एवं करुणा-मयी माना है, यहाँ सानन्द काशी वास किया। पर शोक, काशीवास भी शाप एवं अशान्ति दाता बना रहा।

एक नीच मनुष्य आकर मन्द हो गोस्वामीजी को डाटता है—बैठा है बगुला भगत बना। यदि रक्षा सिर फोड़ दिया जायेगा। दूसरा भी आँखें दिखाता और

काशी छोड़ भाग जाने को कहता है। इस प्रकार दुष्ट मनुष्य तुलसीदासजी के पीछे पड़े थे (दोहावली १४४ [illegible] ा में लठिया चल जाती। तुलसी दास [illegible] "नता था (दोहा० ५४५) एक ओर आकर तु[illegible]जी की जाति पर व्यङ्ग करता—ब्राह्मण बनता है [illegible]। जुलाहा या चमार होगा। दूसरा कहता—साधु वाधु नहीं, ठग है, धूर्त है। इनसे ही कवि को कहना पड़ता—'धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ,' कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो कोऊ कहै"—कवितावली। सन्यासी तुलसी इन कटु उक्तियों को शान्ति से पी जाते (सब की सहत उर अन्तर न ऊन है—कविता)।

इन प्रबल विरोधियों में सबसे ऊँचा हाथ था भगवान् भूतनाथ के भक्तों का। शिवोपासक तो गोसाईंजी को कानी आँख न देख सकते थे। इन बम-भोला के पुजारियों ने वैरागी महात्मा तुलसीदास को पिटवाया, घर में चोरी करवाई, उनके प्राण लेने की भरसक चेष्टा की (तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोर—विनय)। परम सतोषी एवं सहनशील तुलसी इसके अतिरिक्त और क्या कर सकते थे कि इन अन्यायी अत्याचारियों के ईश से कहते कि हे काशी-नाथ तेरे सेवकों से ही मुझे कष्ट पहुँच रहा है (व्याधि भौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे—विनय) किन्तु साथ ही दीनबन्धु राम की ओर दृष्टि उठती है और हृदय में अतुल बल एवं असीम साहस का सचार होता है, कहते हैं 'कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखि हैं राम तो मारि है को रे (विनय)। उन्हें विश्वास अमन है कि ये 'खल' 'नीच' 'पामर' जो औरों के लिए खाई खोद रहे हैं स्वयं कूप में पड़ेंगे—साधु की मृत्यु मनाने वाले ही मरेंगे।

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की
बैर और के कहा सरै
होइ न बाँको बार भगत को
जो कोउ कोटी उपाय करै
तकै नीच जो मीच साधु की
सोइ पामर तेहि मीच मरै (विनय)

अपने को 'बुधिबलहीन' 'ज्ञानहीन' 'आप महा-पातकी' सबविधि हीन सु दीन मलीन अति' 'मैं अप-राध भवन' कह कर पुकारने वाले जीवमुक्त 'शठ' 'नीच' 'पामर' 'खल' इत्यादि शब्दों का प्रयोग हृदय की दारुण यातना के बिना नहीं कर सकते थे। इन शब्दों से पता चलता है कि तुलसी को कितना खेद, क्षोभ एवं ताप हुआ इन विरोधियों से।

गोस्वामीजी जैसे सयमी, निष्ठावान् एवं बलिष्ठ तपस्वी को भी घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ा। दोहा-वली, कवितावली, विनयपत्रिका एवं बाहुक से प्रमा-णित होता है कि गोस्वामीजी रोगों से ग्रस्त हुये थे (आधिभूतवेदन विषम होत, भूतनाथ। तुलसी विकल पाहि पचत कुपीर है (क०) रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को (क०)। किन्तु विशेषतया दो रोगों, ने तो उन्हें कालान्तक कष्ट दिया जिसकी पीड़ा से वे बुरी तरह छटपटाये। पहिला कष्ट हुआ 'भुजमूल' (बगल) में। जिस भुजा को हनुमानजी ने पकड़ा था उसी के छोर पर भयानक कष्ट था। दोहावली के दोहों (२३४, २३५, २३६) में वे इस पड़ा का चित्र खींचते हुए श्री कृपाल चित्त रघुनाथ एवं वज्राङ्गी किशोर वानरकु-मनी से प्रार्थना करते हैं कि इस असह्य वेदना से मुक्ति दिलाइये। इस व्याधि का पूर्ण चित्र कवितावली में दिया है—'बदन कुभाति सो सही न जाति राति दिन।' यह बाहु पीड़ा सुरसा की नाईं समस्त शरीर में फल-कर अङ्गद के समान पैर जमाकर बैठ गई। "यह दशा हो गई—पाय पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर, जर जर सकल सरीर पीर मई है" क०। "औषध अनेक जन्त्र मन्त्र टोटकादि किए, बादि भए देवता मनाए अधिकाति है (क०) मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। पुनः करीम कुमार की ओर दृष्टि दौड़ती है, पुनः करुण हृदय की झङ्कार हनुमानजी तक पहुँचती है। द्रवित हो 'केसरी किसोर राखे बीर बरि आई है'' (क०)। यह बाहु पीड़ा महामारी ही थी जिसका हृदय

द्रावक तथा करुण चित्र तुलसीदासजी ने अपनी कवितावली में चित्रित किया है जो विश्वनाथ की चोटी में काशी पर चढ़ आई थी।

दूसरा पहिले से भी भयनतर रोग उन्हें जीवन के अन्तिम दिनों में भोगना पड़ा था। यह भीषण, दुर्दान्त एवं प्रचण्ड कष्ट 'बर तोर' का था। महात्माजी के समस्त शरीर में विषैले फोड़े हो गये थे। इनसे दुर्गन्ध युक्त पीव एवं राद बहती थी। डा० माताप्रसाद गुप्तजी का मत है कि इसी रोग से गोस्वामीजी का प्राणान्त हुआ क्योंकि तुलसीदासजी कहते हैं—हौं हूँ रहौं मौनही बयो सो जानि लुनिये (क०) पं० रामनरेश त्रिपाठी इस रोग से तुलसीदासजी की मृत्यु स्वीकार न कर अनुमान करते हैं कि किसी ने उन्हें विष दे दिया था जैसा कि इन पंक्तियों से प्रगट है "उपाधि राहु रान की, समाधि कीजे तुलसी को जानि जन फुर कै" (क०)। किन्तु कवितावली में एक और सवैया है कि तुलसीदासजी 'बर तोर' रोग के शान्त होने पर मरे। उन्हें अपार कष्ट था, असह्य वेदना हुई। किन्तु अन्तिम क्षणों में उन्होंने वेदना से [illegible] जिस प्रकार बुझने से पूर्व दीपक तेजमय [illegible] है—

कुङ्कुम रङ्ग सुअंग जितो मुख [illegible]
चन्द सो चन्द [illegible] परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै,
अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
गोरी कि गङ्ग विहङ्गनि वेष,
कि मञ्जुल मूरति मोद भरी है।

अन्तिम समय में सुख एवं शान्ति से ही प्राणान्त हुआ सही, तब भी यह तो स्पष्ट ही है कि जन्म से दुःखी बालक मृत्युपर्यन्त दुःख झेलता रहा। हाँ, उस वीराग्रणी भक्त शिरोमणि ने सदा उन विघ्न-बाधाओं एवं कष्ट आपदाओं के सिर पर पग धरकर मार्ग बनाया। उन्होंने स्वयं विषपान कर दूसरों को अमृत का दान दिया। चिन्ता को पास न आने दिया, विरोधियों का प्रतिरोध किया एवं सर्वदा आशा-दीप जलाये तामसी-मार्ग में हिमालय की नाईं अडिग खड़ा रहा।

(पृष्ठ १६१ का शेषांश)

पद्धति सुन्दर और आकर्षक है। तत्सम के साथ ही तद्भव और प्रान्तिक शब्दों की भरमार है। सभी स्थलों पर भाषा एकसी नहीं है। यह कहीं बड़ी संयत, मँजी हुई है तो कहीं उसका शिथिल और भद्दा रूप है। यह सब देखते हुए मिश्रजी की भाषा को परिमार्जित तथा सुष्ठु कहना भ्रमात्मक होगा। शैली की दृष्टि से भाषा में एकरूपता का आग्रह अनिवार्य हो जाता है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने पर मिश्रजी की भाषा से निराश होना पड़ता है। फिर भी साधारणतया उनकी भाषा मुहाविरेदार और व्यावहारिक है। परिमार्जित भाषा की दृष्टि से यह अंश अधिक उल्लेखनीय है—"उस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चञ्चल नेत्र वाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो रो कहने लगी कि अरे विधना! तैने यह क्या किया! और बिछुरी हुई हरिनी के समान चारों ओर देखने लगी। उसी समय एक ऋषि जो सत्य धर्म में रत थे, ईंधन के लिये वहाँ जा निकले।"

'विधना तैने' को छोड़कर सम्पूर्ण अंश अत्यन्त परिष्कृत है। अनुमान नहीं होता कि यह आरम्भकालीन गद्यांश है। पर ऐसे अंश 'नासिकेतोपाख्यान' में कम ही हैं।

इस कहानी की रचना भी धार्मिक उपदेशों के उद्देश्य से हुई है। चन्द्रावती को नासिका मार्ग से गर्भ धारण होती है तथा नाक से ही पुत्र भी उत्पन्न होता है। नाक से उत्पन्न पुत्र का नाम नासिकेत ठीक ही रखा गया। पौराणिक ग्रन्थों में अनेक अस्वाभाविक घटनाओं एवं क्रियाओं के उल्लेख मिलते हैं, उसी प्रकार नासिकेत के उत्पन्न होने की घटना भी विचित्र तथा अस्वाभाविक लगती है। फिर भी कथा की दृष्टि से न सही, शैली के दृष्टिकोण से, भाषा के निर्माणकाल में, ऐसी रचना का महत्व और मूल्य कम नहीं होता।

उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी-गद्य-साहित्य

गुलाबराय एम० ए०

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अंग्रेजों का भारत में राजनीतिक आधिपत्य स्वीकृत हो चुका था। राजनीतिक दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के दो कालविभाग हैं—एक सन् ५७ के विप्लव के पूर्व का जिसमें शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में था और दूसरा विप्लव पश्चात् का जब राजनीतिक सत्ता ब्रिटिश ताज के अधीन आ गई थी। पहले में अंग्रेजों की शक्ति का विस्तार और उसके लिए किये हुए अन्यायों और अत्याचारों का प्राधान्य रहा जिसके फलस्वरूप विद्रोह का जन्म हुआ और दूसरे अद्धांश में पूर्ण प्रयत्न से प्राप्त शक्ति और अधिकारों में स्थायित्व लाने के उदार-स्वार्थमय प्रयत्न (जैसे शिक्षा और कल-कारखानों, रेल तार आदि के प्रचार) दिखाई देते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में अङ्गरेजी राज्य शक्ति के सम्पर्क के बढ़ने के कारण भारतीयों में भी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक सुधारों की चेतना जाग्रत हो चली थी। अंग्रेजी सभ्यता से लोग चमत्कृत अवश्य हुए किन्तु सन्तुष्ट न थे। अंग्रेजों के साथ आये हुए नये-नये आविष्कार और पादरी लोग हमारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए एक चुनौती थे। हमारे लोगों में आत्म निरीक्षण और सुधार की प्रवृत्ति आई। राजा राम मोहन राय और स्वामी दयानन्द जैसे महान् विभूतियों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने धर्म में बुद्धिवाद को स्थान दिया। राजनीतिक अधिकारों की भी माँग हुई। यह सब कार्य पद्य के अनुकूल न था। तर्क का काम कल्पना और तुकों से नहीं लिया जा सकता था। पद्य का विशेष आवश्यकता भी न रहा था। प्रचार के लिए प्रेसों का आविर्भाव हो चुका था। हस्तलेख और विचारों का भी बात न रहा था—प्रेस ने मौखिक परम्परा को अनावश्यक कर दिया था। ब्रज-भाषा का साम्राज्य पद्य के क्षेत्र में अक्षुण्ण रहा किन्तु उसकी कोमलता बढ़ते हुए बुद्धिवाद का भार नहीं सम्हाल सकती थी। ब्रज-भाषा गद्य का विस्तार वैष्णवों की वार्ताओं और टीकाओं के आगे न बढ़ सका। राजभाषा से टक्कर लेने की सामर्थ्य खड़ी बोली वाली लोक भाषा में ही था। मुसलमानी परम्परा से प्राप्त उर्दू राजभाषा के रूप में तो अँग्रेजी शासन में भी अपना अस्तित्व बनाये रही किन्तु वह लोक-भाषा न थी। इस बात को अङ्गरेज अफसरों ने और विदेशी धर्म-प्रचारकों ने भी स्वीकार किया। जनता के सम्पर्क में आने के लिए अङ्गरेजों को भी खड़ी बोली सीखने की आवश्यकता हुई और उनके धर्म प्रचारकों ने भी बाइबिल के खड़ी बोली हिन्दी में अनुवाद किये। खड़ी बोली के व्यापक प्रचार में मुसलिम शासकों के अतिरिक्त चारों ओर विचरण करने वाले साधु-सन्तों और व्यापारियों का भी हाथ था। उसका अस्तित्व तो खुसरो और कबीर के समय से था किन्तु साहित्य ने उसका वरण उन्नीसवीं शताब्दी में ही किया क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी को गद्य की आवश्यकता थी और वह गद्य के विशेष उपयुक्त थी। ब्रज को काव्य-क्षेत्र से अपदस्थ करने में उसे पर्याप्त देरी लगी किन्तु गद्य के क्षेत्र में उसकी प्रतिद्वन्द्विता के लिए ब्रजभाषा का अस्तित्व नहीं के बराबर था। इसलिए उसका साहित्यिक रूप शीघ्र ही बल पकड़ने लगा।
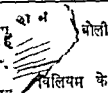
ऊपर बतलाये हुए राजनीतिक काल-विभागों के अनुकूल उन्नीसवीं शताब्दी में भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध रूप से दो काल विभाग माने जा सकते हैं। पहले को हम पूर्व हरिश्चन्द्र काल कहेंगे और दूसरे को हरिश्चन्द्र-काल। पूर्व हरिश्चन्द्र काल में दो प्रकार से साहित्य की रचना हुई। कुछ तो स्वान्त-सुखाय लिखा गया (जैसे मुंशी इंशा अल्ला की रानी केतकी की कहानी एवं
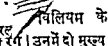
सदासुखलाल की रचनाएँ) और कुछ फोर्ट विलियम के मदर्से के अधिकारियों विशेषकर जान-गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से (जैसे लल्लूजीलाल का प्रेम सागर और सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान) लिखा गया। इसके अतिरिक्त कुछ ईसाई पादरियों ने भी धार्मिक साहित्य रचा। यह समय प्रयोग और निर्माण का था। उत्तरार्द्ध में अपेक्षाकृत राजनीतिक शान्ति थी। उस समय तक विप्लव की सशस्त्र क्रान्ति की विफलता सिद्ध हो चुकी थी। उसके पश्चात् सशस्त्र क्रान्ति की सम्भावना कम रह गई थी। इसलिए लोगों ने शस्त्र के स्थान में लेखनी का आश्रय लिया और हास्य व्यङ्ग्य के शस्त्रों द्वारा समाज के आत्म-सुधार और अङ्गरेजों की राज सत्ता स्वीकार करते हुए उससे अधिक से अधिक राजनीतिक और आर्थिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाने लगा। भारतेन्दुकाल का यही मूल स्वर था।

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भी खड़ी बोली में थोड़े-बहुत गद्य साहित्य का निर्माण हुआ था। अकबर के समय में गङ्ग कवि ने चन्द छन्द वर्णन की महिमा नाम एक खड़ी बोली गद्य-ग्रन्थ लिखा था। विक्रम संवत् १७९८ (करीब ई० सन् १७४२) में पटियाला के रामप्रसाद निरञ्जनी ने योग वशिष्ठ का अनुवाद साफ-सुथरी खड़ी बोली में किया था। इसको खड़ी बोली गद्य का सबसे पहला साहित्यिक-रूप कह सकते हैं। इसका एक नमूना नीचे दिया जाता है।

'वशिष्ठजी बोले हे रामजी! यह जो वासना रूपी संसार है उससे तुम मङ्कीऋषि के सदृश तर जाओ। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! मङ्की ऋषि किस प्रकार तरे हैं सो कृपा करके कहिये? वशिष्ठजी बोले मङ्की ऋषि का वृत्तान्त सुनो, उसने महातीक्ष्ण तप किये थे। एक समय मैं आकाश में अपने गृह में था और तुम्हारे पितामह राजा अज ने मेरा आवाहन किया'

इसके अतिरिक्त पंडित दौलतराम कृत सात सौ पृष्ठों के जैन पद्म पुराण के अनुवाद में खड़ी बोली गद्य का अच्छा नमूना मिलता है।

अब हम उन्नीसवीं शताब्दी के फोर्ट विलियम के प्रभाव से स्वतन्त्र प्रयत्नों पर विचार करेंगे। उनमें दो मुख्य हैं—एक मुन्शी इन्शा अल्ला खाँ का उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ भाषा प्रयोग के रूप में ही लिखा गया था। प्रयोग की प्रवृत्ति उस समय भी थी किन्तु यह प्रयोग स्वान्त. सुखाय हुआ था। मुन्शी इन्शाअल्लाखाँ ने अपनी भूमिका में इस प्रकार लिखा है —

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी, कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल कली के रूप में खिले बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।' इस बात को उनके किसी मित्र ने असम्भव कहा "यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो" अर्थात् हिन्दी की प्रकृति बनी रहे और वह संस्कृत मिश्रित भी न होने पावे। इसी चिनौती को स्वीकार कर इन्शाअल्ला ने यह पुस्तक लिखी। इन्शा के सामने उर्दू के भी नमूने थे और संस्कृत मिश्रित हिन्दी के भी, इसीलिए उनके मन में यह संघर्ष उत्पन्न हुआ। वे न उर्दू की भाँति अपनी भाषा को फारसी अरबी मिश्रित बनाना चाहते थे और न उसको संस्कृत मिश्रित बनाना चाहते थे। हिन्दी की प्रकृति को बनाये रख कर उसको गँवारु या प्रान्तीय होने से बचाये रखना चाहते थे। उनकी भाषा का एक उदाहरण यहाँ उपस्थित किया जाता है —

'कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदीयों में थे, पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का-बक्का कर रहे थे। निवाड़े, भौलिए, बजरे, लचके, मोरपंखी, स्याममुन्दर, राममुन्दर और जितनी ठवकी नावें थीं, सुनहरी, सजी सजाई, कसी कसाई और सौ सौ लचकें खातियाँ आतियाँ, जातियाँ ठहरातियाँ,

फिर [illegible] सभी पर सचासच कचनियाँ, रामजनि [illegible] भरी हुई अपने अपने करतबों में नाचती, [illegible] गाती कूदती फादती धूमें मचातीथीं अँगड़ातियाँ, जम्हातियाँ उँगलियाँ नचातियाँ और ढुली पड़तियाँ थी।' इस नमूने में घोड़े की सी उछल-कूद जिसका दावा इन्शाअल्ला ने किया था पूरा होता दिखाई देता है—जो मेरे दाता ने चाहा तो यह ताव भाव और राव-चाव और कूद-फाँद लपट-झपट दिखाउ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा जो बिजली से भी बहुत चचल अचपलाहट में है, हिरन के रूप में अपनी चौकड़ी भूल जायें।

इन्शाअल्ला की भाषा की निम्नोल्लिखित प्रवृत्तियाँ ऊपर के उद्धरण से प्रमाणित होती है।

१—उस समय की भाषा कविता की तुकबन्दी के प्रभाव से मुक्त न थी।

२—वर्तमान कृदन्त और विशेषण और विशेष्य में समानाधिकरण दिखाई देता है। कृदन्तों विशेषणों और विशेष्यों में लिङ्ग और वचन का साम्य है।

३—उनकी भाषा में घरेलूपन अधिक है। मुहावरे भीहै।

४—उनकी भाषा में कहीं-कहीं फारसी का सा वाक्य विन्यास भी है जैसे,—सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने।

मुन्शी सदासुखलाल न्याज सन् (१७४६-१८२४) इन्शाअल्लाखा (मृत्यु सन् १८१७) लल्लूजी लाल (सन् १७६३-१८२४) प्राय: समकालीन हो थ। सदासुखलालजी ने विष्णुपुराण के आधार पर एक उपदेशात्मक अपूर्ण ग्रन्थ लिखा था। सुखसागर नामक ग्रन्थ जो श्रीमद्भागवत के आधार पर लिखा गया था वह भी उनका ही लिखा हुआ बतलाया जाता है। मुन्शीजी भगवद्भक्त थे और धार्मिक प्रेरणा से लिखते थे। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्समशब्द पर्याप्तरूप से मिलते हैं। इनकी भाषा उस समय की 'भाषा का नमूना है उसमें कथा वाचकों की सी भाषा की सी प्रवृत्ति है।

लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर लिखा। उसमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की छाया है। इनका यह ग्रन्थ फोर्टविलियम के जोन गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से लिखा गया था। ये इन्शाअल्ला की भांति प्रतिज्ञा करके तो नहीं चले थे कि हिन्दी छुट और किसी भाषा का न आयगा किन्तु वे व्यवहार में अन्य भाषा के शब्दों को बहुत कुछ बचा सके हैं। कहीं-कहीं वैस (सुरी) जैसे विदेशी शब्द आ गये हैं।

प० सदासुखलाल और लल्लूलालजी की भाषा में यह अन्तर है कि लल्लूलालजी की भाषा में ब्रज-भाषा का पुट है और सदासुखलाल की भाषा साफ-सुथरी संस्कृत मिश्रित खड़ी बोली है। उसमें पंडिताऊ-पन होते हुए भी इतना ब्रजभाषापन नहीं है। लल्लूजी लाल की भाषा का एक उदाहरण लीजिए।

'महाराज इसी रीति से अनेक-अनेक प्रकार की बात कहते-कहते और सुनते सुनते सब रात बितीत भई और चार घड़ी पिछली रही तब नन्दरायजी से ऊधोजी ने कहा कि महाराज अब दधि मथने की बिरियाँ हुई, जो आपकी आज्ञा पाऊँ तो यमुना स्नान कर आऊँ। नन्द महर बोले—बहुत अच्छा। इतना कह वह तो वहाँ बैठे सोचविचार करते रहे और ऊधोजी उठ झट रथ में बैठ यमुना तीर पर गये। पहले वस्त्र उतार देह शुद्ध करी पाछे नीर के निकट जाय रज सिर चढ़ाय, हाथ जोड़, कालिन्दी के प्रति स्तुति गाय आचमन कर जल में बैठे।'

इस उद्धरण में बिरियाँ, जाय, चढ़ाय, गाय ब्रजभाषा के प्रयोग हैं। खड़ी बोली में चढ़ाकर, गाकर होता है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी और राजनीति—(जिसमें हितोपदेश की कहानियाँ है) लिखी है।

सदल मिश्र बिहार के रहने वाले थे और इन्होंने भी फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से नासिकेतोपाख्यान लिखा था। यह संस्कृत चन्द्रावती का अनुवाद है। मिश्रजी की भाषा का एक उदाहरण लीजिए।

'देखो यह धर्म का खेल, जहाँ तहाँ नाना भाँति में जो फूलन्ह के बिछौने पर सुख से दिनरात जिसके बीतते थे, सो अब जङ्गल में कन्द-मूल खा काँटे कुश पर सोकर स्यारों के चहुँदिशि डरावने शब्द सुनि कैसे बिरति काटती होगी।'

'इतने में जहाँ वे सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आईं', 'समाचार सुन बहु। जुड़ाई'

'पाँव पकड़ मतारी र कलपने लगी।'

'तब सिर नवाइ प्रणाम कहि हाथ जोर लगे धर्म-राज स्तुति करने।'

इनकी भाषा में ब्रज-भाषा के जैसे फूलन्ह की बिछौने, चहुँदिश, सुनि, नवाइ, कहि आदि ब्रज-भाषा के और जुड़ाई, मतारी, तहाँ, जौन पूर्वी प्रयोग हैं। किसी अंश में तुकबन्दी की प्रवृत्ति इनकी भाषा में भी है।

इन चारों प्रारम्भिक आचार्यों की भाषा से मुन्शी सदासुखलाल की अधिक टकसाली, संस्कृत मिश्रित साधु भाषा है। इंशा अल्ला की भाषा में घरेलूपन, और तुकबन्दी और उछल-कूद अधिक । लल्लूजी-लाल की भाषा में ब्रजभाषापन लक्षित होता है। यद्यपि सदासुखलाल की भाषा में भी पंडिताउपन है तथापि उसमें इतना ब्रजभाषा-पन नहीं है।

ईसाई पादरियों में विलियम केरी (William Karey) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका प्रयत्न धार्मिक था। पादरी लोगों की स्कूल बुक सोसाइटी के तत्वावधान में इतिहास आदि के कई लौकिक ग्रन्थ भी छपवाये।

विद्रोह के पहले से शिक्षा के प्रयत्न आरम्भ [illegible] गये थे। यद्यपि मैकॉले के अंग्रेजी शिक्षा चु[illegible] पि लोक भाषा के बिना काम नहीं चल [illegible] राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में इन्स्[illegible]। यद्यपि वे हिन्दी के हिमायती अवश्य थे तथापि वे समय के साथ चलने वाले लोगों में थे। उनके प्रयत्न से नागरी लिपि को महत्व पूर्ण स्थान मिला और नागरी लिपि में लिखी हुई पाठ्य-पुस्तकों को शिक्षा-क्रम में अधिकाधिक स्थान प्राप्त हुआ तथापि वे हिन्दी को अदालती भाषा उर्दू के अधिक निकट लाना चाहते थे 'I think it is better to help the people in increasing their familiarity with the Court language' वे अपनी भाषा में बैताल-पचीसी की भाषा का किसी अंश में अनुकरण करना चाहते थे किन्तु उस अनुकरण में उनका झुकाव उर्दू-फारसी की ओर अधिक बढ़ा। कुछ रचनाओं की, जैसे मानवधर्म सार, योग वशिष्ठ सार आदि पुस्तकों की भाषा संस्कृत मिश्रित है किन्तु वे हिन्दुओं के ही उपयोग के लिए लिखी गई थीं। उनके द्वारा संग्रहीत गुटकों में भी शुद्ध हिन्दी के अच्छे नमूने हैं।

राजा शिवप्रसाद जिस प्रकार उर्दू मिश्रित हिन्दी के पक्षपाती थे उसी प्रकार राजा लक्ष्मणसिंह शुद्ध हिन्दी के पृष्ठपोषक थे। उनकी हिन्दी में आगरे के स्थानीय प्रयोग कुछ अवश्य आ गये हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इन दोनों छोरों के बीच बने मार्ग का अनुसरण कर खड़ी बोली का निखरा हुआ रूप सामने रक्खा।

भारतेन्दु बाबू ने विषयानुकूल शैली को अपनाया। भावावेश पूर्ण चलती हुई बातों के लिए उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों वाली सरल शब्दावली की शैली को अपनाया और तथ्य निरूपण के लिए बड़े-बड़े वाक्यों में गुम्फित कठिन तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है हरिश्चन्द्र-युग अपेक्षाकृत शान्ति का था। उसमें अपने तथा सरकार दोनों ही के सुधार की प्रवृत्ति थी। यह समय

... था किन्तु ज्ञान का विस्तार ही था ... था। द्विवेदी युग में वह गाम्भीर्य ... परिमार्जन की ओर अधिक रुचि नहीं। यह ... का तथा ज्ञानवृद्धि और विस्तार का था। हरिश्चन्द्र-युग में राजनीतिक और सामाजिक चेतना का प्राधान्य था।

सुधार के लिए हास्य-व्यङ्ग्य का अस्त्र बहुत प्रभावशाली ठहरता है। विद्रोह के पश्चात् आई हुई सुरक्षा में लोगों को साँस लेने की तथा जीवन की सम्पन्नता का अनुभव करने का अवसर मिला था किन्तु इसीके साथ लोग अपनी राजनीतिक हीनता और शोषण को भूले नहीं थे। उस काल में उस शोषण की भी हास्य-व्यङ्ग्य के सहारे अभिव्यक्ति होती थी। जहाँ साहस की मात्रा पूरी न हो और नग्न सत्य के उद्घाटन में भय हो वहाँ हास्य-व्यङ्ग्य ही अधिक श्रेयस्कर होता है। उस समय का साहित्य जीवन के अधिक निकट था।

भारतेन्दु बाबू अपने समय की प्राण शक्ति थे। उनके प्रभाव से एक सजीव लेखक-मण्डल तैयार हो गया था। उस नवेन्दु के चारों ओर प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास आदि अनेक देदीप्यमान नक्षत्र विचरते थे। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका इन सब लोगों के भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनी। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के साथ बालकृष्णभट्ट के हिन्दी प्रदीप ने भी उस समय का प्रतिनिधित्व कर गद्य के विकास में योग दिया था। प्रतापनारायण मिश्र बड़े विनोद-प्रिय थे। उनके विनोदप्रिय व्यक्तित्व की उनके साहित्य में पूरी-पूरी छाप है। वे अपनी भाषा को पूर्वी प्रयोगों द्वारा और भी हास्यमय बना देते थे। इनकी भाषा में कहावतों और मुहावरों का चलतापन भी काफी है। वे बड़े अटपटे विषयों पर कलम उठाते थे।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट में भी हास्य-विनोद का पुट पर्याप्त किन्तु उनमें पाण्डित्य की मात्रा कुछ अधिक थी। यद्यपि वे संस्कृत शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते थे तथापि वे कभी-कभी एक साथ उर्दू के शब्दों पर भी उतर आते थे और कभी कभी उर्दू-हिन्दी के शब्दों को साथ साथ रख व्याख्या सी करते जाते थे। एक-एक शब्द के लिए तीन-तीन शब्दों का प्रयोग उनकी विशेषता थी, जैसे 'ओः हो। आप क्या है बला है, करिश्मा है—तिलिस्मा है—झिलमिला है' 'पागल, जनूनी, सौदाई, दीवाना, महाघिनौना, असभ्य, गावदी कहलाता हुआ इस लोकरञ्जना से छुटकारा रहे यह अच्छा है' उनकी भाषा के कुछ उदाहरण लीजिए:—

'ऐसी दशा में उनके दारुण लदनी पर की चिकित्सा और दर्पदाह ज्वर की गरमी का शिरोपचार अति कष्ट साध्य है। उनके ऐश्वर्य तिमिर-जनित अन्धत्व के दूर करने को बरेली में भी अब तक कोई सुरमा न ईजाद किया गया।'

'किन्तु विवेकी बुद्धिमान संसार की असारता ने जिसके मन में भरपूर कदम जमा लिया है वे लोग ऐसा नहीं मानते। वे अल्पायु को ही बड़ी बरकत करते हैं।'

यदि यह कोई कहे कि, तुम अल्पायु हो जल्द इस दुनिया फानी से रवाना बाशद् हो तो किसे कहे बुरा मान जाय।

भट्टजी इन उद्धरणों में एक साथ संस्कृत की क्लिष्ट पदावली से उतरकर उर्दू के वाक्यों पर आगये हैं।

इनकी भाषा में मुहावरों के प्रयोग के साथ संस्कृत के उद्धरणों की भरमार रहती है। इन्होंने उर्दू भाषा के शब्दों का जो व्यवहार किया है उसको हम समय की रुचि से अनुकूलता प्राप्त करने की प्रवृत्ति कह सकते हैं किन्तु उनमें राजा शिवप्रसाद का सा उर्दू शब्दावली के लिए सचेतन प्रयत्न या आग्रह न था। भट्टजी की भाषा में कहीं-कहीं तुकबन्दी भी मिल जाती है—'जानता नहीं मेला है, झमेला है, तमाशबीनों की भीड़ का रेला है।' भट्टजी

के निबन्धों में संस्कृत और फारसी के शब्दों का मिश्रण तो प्रायः सभी जगह रहता है किन्तु कहीं संस्कृत का पल्ला भारी होता है तो कहीं उर्दू का। नीचे के उदाहरण में उर्दू-फारसी शब्दों का आधिक्य है किन्तु उसमें भी संस्कृत का पुट है, देखिए:—

'नुकसान में आदमी कहुई या बदजबानी से इतना उठाता है कि सब उमदा सिफ्तों के होते हुए भी लोग कटु भाषी या बदजबान के पास जाते हिच‌कते हैं.... जबान की सफाई सभ्यता और शाइस्तगी का सायस कहना अनुचित नहीं है—इन्सान और हैवान में यही तो अन्तर है कि जानवर हम लोगों की तरह अपने ख्याल जबान से कह कर अदा नहीं कर सकते, नहीं तो और सब दुनियाँ के लालन-पालन में आहार निद्रा-भय मैथुन आदि के द्वारा पशु और मनुष्य की समता होने में कौनसा अन्तर बच रहा।' भट्टजी जिस स्वतन्त्रता के साथ फारसी अरबी शब्दों का व्यवहार करते थे उसी स्वतन्त्रता से वे अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग करते थे, जैसे Educations, National vigour and strength आदि और कभी-कभी पूरे वाक्य भी लिख देते थे, जैसे—Breakers of home can not be the makers of nations. भट्ट जी ने कहीं-कहीं ग्रामीण प्रयोग, जैसे पुमाना, बरकाना आदि और पूर्वी प्रयोग भी जैसे समुझाय बुझाय दिये हैं। ये प्रयोग ब्रजभाषा में भी आते हैं।

भट्टजी के निबन्धों में अपने समय की सजीवता है, वे शुद्ध हृदयोल्लास को प्रकट करने, और ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से लिखे गये हैं। उनमें आचार्य शुक्लजी की सी गहराई और बारीकी तो नहीं है, किन्तु मनोवैज्ञानिक पैठ और सांसारिक अनुभव पर्याप्त मात्रा में है। निबन्धों को हम शुद्ध निबन्ध कह सकते हैं। एक सुखद निजीपन है। उनके विषय ... में लेखक के हृदय का उल्लास झलकता है। आकार का छोटापन भट्टजी के निबन्धों की विशेषता है। इनके अतिरिक्त पंडित बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) लाला श्रीनिवासदास, बाबू तोताराम, पंडित अम्बिका दत्त व्यास आदि ने गद्य-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। इन लोगों ने समालोचना (इसका सूत्रपात प्रेमघनजी ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में किया था) नाटक और उपन्यास (श्री निवासदासजी का 'परीक्षागुरु' हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है) आदि लिख कर हिन्दी की गद्य की चतुर्मुखी उन्नति की। व्यासजी का 'आश्चर्य वृत्तान्त' स्वप्न में देखी हुई एक रोचक कहानी है। इसकी भाषा संस्कृत गर्भित होते हुए सरल और मुहावरेदार है। कहीं-कहीं वर्णनों में कादम्बरी की सी अलङ्कारिक परन्तु अपेक्षा कृत सरल शैली का भी प्रयोग हुआ है।

संक्षेप में उन्नीसवीं शताब्दी गद्य-निर्माण का समय था। उसमें गद्य का विकास और विस्तार हुआ। भाषा व्याकरण की व्यवस्था लाना और काट-छाँट का काम आगे द्विवेदी युग में हुआ। द्विवेदी युग में विषयों का विस्तार बढ़ा और उनमें अपेक्षाकृत अधिक गहराई भी आई किन्तु निबन्धों की पृष्ठभूमि में रहने वाले निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए हरिश्चन्द्र युग चिर स्मरणीय रहेगा।

गीतिका का काव्य

डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०

'गीतिका' निरालाजी की कविताओं का संग्रह है। यह लगभग १६ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। 'गीतिका' के प्रकाशन का काल छायावाद के युग का अन्तिम चरण था। प्रगतिवाद का आरम्भ हो चुका था।

'गीतिका' के काव्य की ऐतिहासिक प्रवृत्ति और गति एक अनोखी विषमता से परिपूर्ण और रञ्जित प्रतीत होती है। एक ओर भारत का अपना आन्तरिक राजनीतिक संघर्ष था—स्वतन्त्रता-संग्राम था जिसके द्वारा 'गांधीवाद' का उदय हुआ था। इसी अर्थ १६३६ में १६३५ का भारत का नया विधान अँग्रेजों ने यहाँ लागू कर दिया था। व्यक्ति-व्यक्ति में स्वतन्त्रता की भावना और उसके लिए न्यौछावर हो जाने का भाव व्याप्त था—कवि की वाणी में इसकी व्याप्ति के ये शब्द थे—

'नर जीवन के स्वार्थ सकल।
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ॥
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।

×   ×   ×

क्लेद युक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल।

किन्तु इस स्वतन्त्रता के साथ केवल राजनीतिक और राष्ट्रीय एक देशीय भावनाओं की प्रेरणा तथा सीमायें नहीं थी; इस स्वतन्त्रता के मूल में स्थित गांधीवादी उदारता ने भारतीय संघर्ष का मान बहुत ऊँचा कर दिया था—'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव जिस भारत से गूँजा था, उसी में जन्म लेकर निराला कवि ने सरस्वती की आराधना में यह वरदान माँगा है—

"'वीणा वादिनि वर दे!
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र नव
भारत में भर दे!

इसी गीत में उसने भारत के उस अमर वैदिक गान को भी निनादित कर दिया है जो 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' शब्दों में प्रतिष्ठित है, और जो निराला में यों अभिव्यक्त हुई है :—

"काट अन्ध उर के बन्धन-स्तर,
बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर।

वैदिक कवि जहाँ 'चरैवेति' के स्वर्ण-मन्त्र से मानव को स्वयं प्रकाश की ओर प्रधावित करने का भाव रखता है, निराला जी सहस्रशः शताब्दियों के विकास क्रम में प्राप्त भक्ति की मूल-भावना-विन्दु से प्रेरित अनुग्रह-पुष्टि में आस्था भाव से 'प्रकाश निर्झर' को अपने उर में ही प्रवाहित चाहते हैं,

भारत के गौरव की ध्वनि जो साहित्य ने भारतेन्दु युग से अपनायी थी, वह नये सौन्दर्य के साथ इस कवि में भी झाँक उठी है—'भारति, जय, विजय करे!' में निरालाजी का ऐसे ही राष्ट्र गान का विधान है।

पर सन् ३६ तक 'स्वतन्त्रता' के साथ 'क्रान्ति' और 'परिवर्तन'—नव-निर्माण का भाव स्वयमेव प्रस्तुत हो गया था। यह भारतीय प्रकृति का आन्तरिक रहस्य था। वह 'निर्माण' के लिए 'क्रान्ति' चाहता है, वह दिव्यता और अलौकिकता—ज्योतिर्मयता चाहता है—'जगमग जग कर दे!' 'नवगति, नव लय', आदि में ही ये भाव नहीं देखे गीत में जैसे—

"जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन;
क्या करूँगा तन जीवन हीन?"

परि क्रान्ति का अपने देश भारत में स्वागत करता है—पर यह किस लिए !

"देखकर नश्वर देशान्तर'—यह 'जीवन' की याद है, जिससे नवीन शक्ति भर उठे और तब :—

उनके मानस-शतदल पर,
अपने चारु चरणयुग रखकर।
खिला जननि, तू अपनी छवि में,
दिव्य ज्योति हो लीन ॥

इस प्रकार यह एक प्रवृत्ति इस समय थी। इस प्रधान सामयिक प्रवृत्ति की मौलिक गति के साथ, भारतीय गौरव के मूल की परख के साथ भारतीय भावना के केन्द्र अध्यात्म का औपनिषदिक रूप इस युग में भी बौद्धिकता को अभिभूत कर रहा था। उपनिषदों का तत्वान्वेषण कबीर के युग में रहस्य भावना से अनुप्राणित हुआ, यह वर्तमान युग में रवीन्द्र महाकवि की वाणी में मार्मिक परिणति पाकर मर्म-स्पर्श बना। हिन्दी में इस अद्वैत को ढंग ने 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' का चोला पहनाया।

गान्धी के सन्देश का यदि पूर्ण विश्लेषण किया जाय तो यह विदित होगा कि उसमें निम्न तत्व हैं—
ईश्वर में आस्था—यह ईश्वर उनके लिए अत्यन्त स्पष्ट होते हुए भी रहस्य था। वे उसे नहीं उसकी प्रेरणा से अनुप्राणित होते थे। वे उसके समक्ष विनीत विनम्रता के साथ जाते थे।

२—पवित्र और निष्कलुष की मान्यताः वही सत्य और अहिंसा में परिणत हुई। मार्ग भी ऐसा हो, ध्येय भी ऐसा हो। शुद्ध व्यक्तित्व-सम्भाव हम ने फेंके।

३—भक्ति-भावना प्रेम परिपूर्णता;

४—सम्वेदनशीलता, पर पीड़ा की आत्म-व्याप्ति और अनुभूति—"वैष्णव जन्म तो तेने कहिये जे पीर पराई जाने रे"।

५—कर्मण्यता-प्रतिपल, प्रतिक्षण कर्मण्यता-निष्काम फल कृष्णार्पण करके इस युग के 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' के तन्तु यहीं से गये हैं। आत्मिक भावना के रहस्य इंगित इस काल की रचनाओं में हैं। यद्यपि 'कौन तम के पार ! (है ...' कविताओं में निरालाजी की 'न'कार ... प्रतीत होती है, पर इसका मर्म तो ... अद्वैत में की आस्था प्रकट करता है—'अखिल ... के स्रोत जल जग' और 'गगन घन-घन धार' की व्याख्या में कवि ने स्वयं व्यक्त किया है कि "पूर्णकाल जो सब को व्याप्त किये हुए है—अविच्छेद्य है, उसी के पन स्रोत ये जड़-जङ्गम हैं"—इस ... विराट को हार्दिक अथवा मानसिक रूप देने में ही जीवन में 'इष्ट' की स्थापना होती है। इस इष्ट में पलायन की वृत्ति भी स्थान पा सकती है, प्रगति की भी। छायावादी अथवा रहस्यवादी नवयुग के काव्य में यह इष्ट स्थापन पलायनवाद नहीं कहा जा सकता। समस्त छायावादी और रहस्यवादी काव्य का स्वर 'वेदना' से परिपुष्ट है, जो सम्वेदनशीलता से सम्बद्ध है; 'परपीड़ा' की वैष्णवीय अनुभूति उसमें है, यह कोई दार्शनिक दृष्टिमत्ता की विरक्ति के कारण नहीं। इष्ट से मिलन का आनन्द और विरह की पीड़ा की तीव्रता 'कर्मण्यता' की प्रेरणा में है—विशेष कर निराला का इष्ट भाव गति-मय और स्वस्थ है—

तुम्हें ही चाहा सौ सौ बार

× × ×

विरह-पादप-छाया में म्लान
मना बैठा! व्याकुल थे प्राण;
तिमिर तट भ्रम दृगों में ज्ञान
उतर आई, तुम ले उपहार

म्लानमना पलायनवादी के व्याकुल प्राण को उपहार क्या बैठे रहने का मिलेगा। यदि सामाजिक स्थिति में किसी युग की भावनाओं का कारण मिल सकता है तो कहना पड़ेगा कि भक्ति-युग—सूर और तुलसी का भक्तियुग पलायन के भाव का प्रेरक हो

सकता था, वर्तमान छायावाद की दृष्ट-प्रतिष्ठा में वह नहीं मिल सकता। यह समस्त युग संघर्ष का था ... भावुकता का अणु अणु बन्धन-मोह से लोहा ... कवि अप... ह कह रहा था—

> ... के बँधे पाश सब छिन्न हों,
>
> × ×
>
> लाञ्छन इन्धन, हृदय नल जले अनल।
> भक्ति मत नयन मैं चलूँ अविरत सबल,
> पारकर जीवन-प्रलोभन समुपकरण ॥
> प्राण संघात के सिन्धु के तीर मैं।
> गिनता ... गा न कितने तरङ्ग हैं,
> धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण ॥

यही युग की व्याप्ति थी। इस व्याप्ति के अनेक रूपान्तरों में से एक निराला का है। उसने अपने काव्य में जिस दृष्टि को प्रतिष्ठित किया है, जिसमें आस्तिक बुद्धि से इन्होंने अपनी काव्योपासना समर्पित की है—वह प्रभात की विभा-सी देवी है—

> खिला सकल जीवन, चल मन,
> पलकों का अपलक उन्मन।
> आई स्वर्ण रेख सुन्दर,
> नयनों में नूतन कर भर ॥

यह स्वर्ण रेख क्या करती है—प्राणों की मानवता बन "तनु में तनु-आरति—सी स्थिर' है। इसने तिमिर हर लिया है। इसी का स्वागत करते हुए कवि ने इसे 'प्राणों का धन' बताया है। इसी की व्याख्या इन शब्दों में है:—

> सुकल गुणों की खान, प्राण तुम।
> सुख की स्मृति, दुख की आकुल कृति ॥
> नभ-तम की धृति, ज्ञान, ध्यान तुम।
>
> × × ×
>
> देखी मणि, जागो, परिवर्त्तन,
> गया मोह-अज्ञान, भान तुम।"

पर यह 'प्राण-धन' अथवा इस गीतिका में प्रकृति रूपा सहचरी, प्रेयसी तथा माँ के रूप में प्रस्तुत है। इस प्रकार भक्ति, प्रेम और शैली अथवा सहानुभूति का स्वरूप गीतिका के काव्य में है।

इस कवि ने प्रकृति से पूर्ण साहचर्य प्राप्त कर लिया है। यह साहचर्य उस प्रकृति में एक ज्योति का दर्शन कराता है।

यथार्थ में यह कवि ज्योति-सौन्दर्य का कवि है। वन-उपवन, सर-सरिता, मेरु,सागर, पक्षी तलाब, कमल, तथा विविध अन्य लता पादप प्रकृति के अवयव उसके ज्योति सौन्दर्य के शरीर-माध्यम बने हुए हैं। कवि-सौन्दर्य की प्राकृतिक भाव झिलमिली में से अपने अर्मह के दर्शन करता प्रतीत होता है। 'हीरक झरने हरशृङ्गार के'—चतुर्दिक परागाक्रान्त मलयज हीरक शोभा का झीना आवरण गले हुए हैं, और उसके भीतर है, ज्योतिर्मयी सती, प्रिय अथवा माँ।

इस सौन्दर्य की ज्योति-अधिष्ठात्री का प्रकाश बाल रूप में इस कवि को विशेष रुचिकर हुआ है, पर उसमें उदय से ही तारुण्य भाव की संधि मिलती है। जैसे वय-संधि में कवि को विशेष आकर्षण हो—'आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे' में प्रकृति के यौवन-आगम का संकेत कितने कोमल शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है—और यह प्रकृति का सौन्दर्य-आवरण सस्वर है—

> पत्रों के झुरमुट के सुखकर
> तुम्हीं सुनाती हो नूतन स्वर
> भर देती हो प्राण!

तथा—

> "झर रहा चिर-श्रुत मधुर स्वर"

यह स्वर सर्वत्र व्याप्त प्रतीत होता है, और झरता है, जिसमें सौन्दर्य, गतिमय झरना सौन्दर्य-मुखर हो उठा है। साथ ही इस सौन्दर्य में कवि ने शिव की, सात्विकता की प्रतिष्ठा की है—कवि जब अपने शब्दों में माँ से 'तारकोज्ज्वल हीरक-हिम-हार' पहनना चाहता है तब वह उज्ज्वलता में पवित्रता के दर्शन

करता है—और 'कल्पना के कानन की रानी' का आह्वान कर यह उस सौन्दर्यमयी से अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना कर उठता है—

> 'धुल जाये मल मेरे तन का, मन का;
> देख तुम्हारी मूर्ति मनोहर
> रहूँ ताकते ज्ञानी।'

सात्विक भाव और शिव-भाव की प्रबलता ने ही कवि को 'स्मर-हर' शिव का स्मरण दिलाया है। इस प्रकार विश्व-प्रकृति के अवयव-उपकरणों में सौन्दर्य का मानवी-मूर्त रूप उभारते कवि ने देखा है, और इस सौन्दर्य में ज्योति की दिव्यता प्रतिष्ठा करते करते वह भव्यता और शिवत्व का स्वर भी भर गया है। वस्तुतः आधुनिक छायावादी कवियों में 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का ऐसा सशक्त और मनोरम समन्वय अन्यत्र नहीं मिलता। इस समन्वय में इस कवि का अद्वैत दर्शन 'सुन्दर' को अनन्त ही नहीं बनाता, उस सुन्दर को अखिल विश्व को समाहित कर लेने वाले विराट की अनुभूति से 'एक' परिणत कर 'अद्वैत' में विसर्जित करता हुआ आध्यात्मिक आनन्द से परिपूर्ण कर देता है।

> एक रँग में शत रँग, विहार,
> तरंगों की गङ्गा, अविष्कार

एक में वैविध्य और वैविध्य में ऐक्य की इस प्रकृति में 'जग का एक देखा तार' भी मननीय है। इस 'एक' को भी यह कवि 'कबीर' [illegible] व्यष्टि में ही केन्द्रित किये देता है—जैसे हाँ में [illegible] था—'कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग [illegible]'—वैसे ही निरालाजी ने भी यह प्रश्न [illegible] खोजता कहाँ उसे नादान'—और यह घोषित [illegible] है कि—

> "स्पर्श मणि तू ही, अमल अपार
> रूप का फैला पारावार,
> व्यष्टि में सकल [illegible] का सार
> खोजता कहाँ उसे [illegible]न ?

* * *

गीतिका के कवि के सौन्दर्य-विधान पर मुग्ध होना पड़ता है। उसने प्रकृति का चित्र प्रस्तुत किया, उसमें उसे ज्योति की प्राणमय चेतन झाँकी मिली। प्रकाश के प्रस्फुटित से प्राणों में ही तेज नहीं हुआ प्रकृति के प्राणमय व्यक्तित्व और उसके अवयव एक निराली छटा की दिव-विभूति से विभासित हो उठे। वृक्ष-लता, पुष्प; सागर, कमल, उनके विपुल कोमल वेष में गीतिका में अप्सरियों की भाँति झिलमिलाती है।

गीतिका के सौन्दर्य और यौवन-दर्शन की महत्ता की अनुभूति ही हो सकती है; वह अनिर्वचनीय होगयी, पर उसमें कुण्ठा नहीं प्रतीत होती। निराला गीतिका में एक महान कलाकार के रूप में हैं।

कविता

शेफालिका—लेखक-श्री श्यामनन्दन प्रसाद 'किशोर'। प्रकाशक-पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ ७८, मूल्य १॥)

'शेफालिका' में कवि 'किशोर' की इक्यावन गेय कविताओं का संग्रह है। संग्रह पर श्री रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ग्यारह महानुभावों की सम्मतियाँ हैं।

युवक कवि ने अपने भावों को एक नवीन एवं आकर्षक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। लगभग सम्पूर्ण गीत प्रणय की वेदना, विरहमयी कसक तथा यातना से प्रेरित जान पड़ते हैं। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि यातना (निराशा) ही ने उसके उर में सुप्त प्रेम को चिकोट कर जाग्रत किया है। 'तुम मुझे दो यातना, मैं, प्रेम की पहचान दूँगा।' क्योंकि उसको विश्वास है कि—

पीर जिसके घात से
बजते हृदय के तार!

अतएव वह व्यथा को प्रेम के मुकाबले में अधिक स्थायी मान कर मचल उठता है—

दे चिर संचित पीर अमर यह,
दो क्षण का मैं प्यार न लूँगा।

यही नहीं—

हर दम माँगी जीत, मगर मैं
इस बाजी की हार न दूँगा।

वह प्रेम के भयङ्कर परिणाम का जिक्र करता है।

पूजा मैंने देव, और
पाया कैसा अभिशाप न पूछो!
पी तो लिया शिशिर हिम पर प्रिय
उर का बढ़ता ताप न पूछो!

उसके गीतों में टीस भरी कल्पना है जो कि अनुभूति की भूमि पर उपज कर हरी हो उठी है—

तुम से छुये निकलने वाली
हो झङ्कार, तार मैं बेकल।

अधिकतर स्थलों पर उपयुक्त शब्दों का प्रयोग होने पर भी कहीं-कहीं कवि ने शब्दों के रूपों को विकृत अवस्था में ग्रहण किया है जैसे अँगड़ाई को अँगराई आदि। कवि को ऐसी उपेक्षा से बचना चाहिये। लगभग सम्पूर्ण गीतों में एक सी ही अभिव्यक्ति है। 'याचना', 'अनजान' तथा 'पिछले प्रहर में' आदि गीत भावों की दृष्टि से अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। कवि भविष्य में अधिक प्रतिभावान सिद्ध हो सकता है। —शशिभूषण सिंहल

राजनीति

बापू के चरणों में—लेखक-श्री ब्रजकृष्ण चाँदीवाला। प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। मूल्य २॥)

यह पुस्तक एक ऐसे गान्धी-भक्त के गान्धी-सम्बन्धी संस्मरणों का संग्रह है जो २४-२५ वर्ष तक विश्व की उस विभूति के सम्पर्क में रहे, जो सन् ४७ की ३० जनवरी को एक दुरात्मा ने हम से छीन ली। गान्धीजी का जीवन निरन्तर प्रयोगों और आत्म-शोधन की प्रणालियों से पूर्ण रहा है। उनका खाना-पीना, रहना-सहना, चलना-फिरना, उठना-बैठना कैसे होता था या यों कहें कि वे घर में कैसे रहते थे? इस बात को जानने के लिए यह पुस्तक अद्वितीय है। गान्धीजी के व्यक्तित्व के निर्माण में उनके घरेलू जीवन का बड़ा हाथ है। जो व्यक्ति महान होना चाहता है, उसे इस महापुरुष के व्यक्तिगत जीवन के इन अलभ्य क्षणों का परिचय पाने के लिए इस पुस्तक को बार-बार पढ़ना चाहिए। नैतिक और सामाजिक समस्याओं तथा व्यक्ति-सम्बन्धी और पारिवारिक वातावरण में गान्धीजी ने किस प्रकार सत्य और अहिंसा के प्रयोग किए हैं यह जितनी अच्छी तरह इस पुस्तक से मालूम होता है, उतना और किसी से नहीं। फिर इसकी शैली इतनी रसमयी है कि कहीं-कहीं भावुकता ने काव्यानन्द की सृष्टि करदी है।

जीवनी

मेरा जीवन-प्रवाह—ले०-श्री वियोगी हरि। प्रकाशक-वही। मूल्य ४॥)

अब तक हमारे यहाँ राजनीतिक नेता और महापुरुषों की ही आत्मकथायें मिलती थीं लेकिन अब साहित्यिकों ने भी अपनी आत्मकहानियाँ लिखना शुरू कर दिया है, यह हर्ष की बात है। कम से कम नए साहित्यिकों के लिए, हमारी सम्मति में, जितना पथ-प्रदर्शन ये आत्मकथायें कर सकती हैं, उतना कदाचित ही और किसी उपाय से हो सके। हिन्दी में बाबू श्यामसुन्दरदास और महापंडित राहुल [illegible] के बाद पुस्तकाकार यह तीसरी स[illegible]ही में [illegible] आत्म-कथा है।

श्री वियोगी हरि ने अप[illegible] आत्मकथा में हृदयता के साथ, जो आत्मक[illegible] लेखक का सबसे बड़ा गुण है, अपने साहित्यिक जीवन की गतिविधि का लेखा दिया है। शैली अत्यन्त सरल है और अनेक ऐसी बातें हैं, जो नए [illegible] नहीं पुराने लेखकों को भी नई जान पड़ेंगी। सबसे [illegible] बात यह है कि वियोगी हरिजी ने अपने साहित्यि[illegible] जीवन के विकास और निर्माण पर बड़ी सुन्दरता से प्रकाश डाला है और अपने इतिहास लेखकों के कार्य को सरल कर दिया है। हम हिन्दी के प्रत्येक पाठक से यह अनुरोध करेंगे कि वह इस सुन्दर आत्मकथा को अवश्य पढ़ें।

—कमलेश

शिक्षा

भारत में अंग्रेजी शिक्षा का इतिहास—लेखक-श्रीधरनाथ मुकर्जी। प्रकाशक-वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स लिमिटेड पृष्ठ संख्या ८६ मूल्य १॥)

यह पुस्तक राष्ट्रीय शिक्षा के दृष्टिकोण से लिखी गई है और शिक्षा सम्बन्धी सुधार ऐतिहासिक क्रम इसमें दिखाया गया है। कम्पनी के शासनकाल से लगा कर अद्यावधि जो शिक्षा सम्बन्धी सुधार हुए हैं उनका संक्षेप में पर्यवेक्षण किया गया है इसमें विभिन्न यूनीवर्सिटी कमीशनों कमेटियों और रिपोर्टों का वर्णन है—वर्धा योजना को इसमें कुछ विशेष महत्त्व दिया गया है और उसके अनुकूल चलने वाली राष्ट्रीय संस्थाओं का भी हाल है। शिक्षा जगत से सम्बन्ध रखने वाले लोगों के लिए यह पुस्तक विशेष उपयोगी है क्योंकि इसके कथन सन् सम्वत् और आंकड़ों से पुष्ट किये गये हैं।

सम्पादकीय—

केन्द्रीय-सरकार का हिन्दी के प्रति कर्तव्य— हमारे [illegible] ने अपने विधान की ३०१-१ धारा [illegible] की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है और [illegible] व्यापकत्व प्रदान किया है। वह अन्य [illegible] की संस्कृति को बिना अपनी निजी प्रकृति [illegible] किये आत्मसात् करेगी। आवश्यकता पड़ने पर वह अपनी शब्दावली के लिए मुख्यतया संस्कृत की सहायता ग्रहण करेगी और गौणत अन्य भाषा [illegible] से भी सामग्री लेगी। इस प्रकार वह सारे देश [illegible] भाषा हो जाती है और किसी प्रान्त विशेष की [illegible] नहीं रहती। इसकी सम्पन्नता प्रदा। करने का भी प्रश्न केन्द्रीय सरकार पर ही पड़ता है। केन्द्रीय सरकार ने अपने ऊपर इस बात का भार भी ले लिया है कि वह उसे उत्तरोत्तर सम्पन्न और राज-काज के योग्य बनाती रहेगी जिससे कि वह पन्द्रह वर्ष के पूर्व ही अपना पद सम्हाल सके और फिर कोई उसकी अयोग्यता के ऊपर अंगुलि-निर्देश न कर सके।

यद्यपि यह भार मुख्यत. केन्द्रीय सरकार पर है तथापि इस उत्तरदायित्व को पूरा करने में जनता और साहित्य-संस्थाओं—जैसे साहित्य-सम्मेलन, बंगीय-साहित्य-परिषद् में हाथ बटाना चाहिए और सरकार को भी यह चाहिए कि वह इन सब का सहयोग प्राप्त करे जिससे कि विभिन्न प्रान्तों के लोग भी हिन्दी को समर्थ अपनी राष्ट्रभाषा कह सकें। राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा के नाते प्रान्तीय भाव को त्यागने की सबसे पहली आवश्यकता है। राष्ट्र अपना है और राष्ट्रभाषा अपनी है। अपनी प्रान्तीय भाषाओं से वे लोग स्नेह रक्खें किन्तु व्यापक हित की दृष्टि से देश-व्यापक कार्यों के लिए राष्ट्रभाषा को अपनावें।

विधान-परिषद् ने विधान की शब्दावली तथा अन्य पारिभाषिक शब्दावली के लिए एक ऐसी उप-समिति बनाई है जिसमें सभी प्रान्तों के लोग सम्मिलित हैं। यह एकरूपता लाने में बहुत कुछ सहायक होगी। हमारी सरकार का इसके अतिरिक्त और भी कार्य है—सबसे पहला कार्य यह है कि आपस की लिखा-पढ़ी के लिए सम्बोधनादि के रूप निश्चित करले और सब प्रान्तों में और विशेषकर उन प्रान्तों में जहाँ कि हिन्दी का प्राधान्य है हिन्दी में पत्र-व्यवहार आरम्भ हो जाय। कम से कम निमन्त्रण-पत्र राजकीय सूचनाएँ, विज्ञप्तियाँ आदि हिन्दी में ही छपें जिससे कि यह मालूम हो कि केन्द्रीय सरकार ने इसको अपनाया है।

सरकार विश्व-विद्यालयों को विशेष कर युक्तप्रान्त मध्यभारत और बिहार के विश्वविद्यालयों को आदेश दे कि वे पारस्परिक सहयोग से उच्च कक्षा के योग्य वैज्ञानिक ग्रन्थों का निर्माण करावें और उनमें एक ही टकसाली शब्दावली रहे जिससे कि और विश्व-विद्यालयों के लिए भी एक आदर्श उपस्थित किया जा सके।

हिन्दी भाषा और उसके साहित्य से लोगों का परिचय बढ़ाने के लिए हिन्दी के प्रमुख ग्रन्थों के उत्तम से उत्तम टिप्पणी सहित संस्करण निकलवावे। बिना साहित्य के अच्छे ज्ञान के न तो विधान परिषद् के भाषणों में लालित्य आ सकेगा और न अध्यापकों के दैनिक व्याख्यानों में ही। भाषा की सम्पन्नता साहित्य से ही प्राप्त होती है। इसलिए राष्ट्र साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। केन्द्रीय सरकार को हिन्दी का एक प्रामाणिक कोष भी तैयार कराना चाहिए। नागरी-प्रचारिणी का शब्द-कोष पुराना हो गया है। यह कार्य किसी एक आदमी को न सौंपा जाय वरन् साहित्य-सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा निर्दिष्ट विद्वानों के हाथ में दिया जाय। इसके लिए कुछ संस्कृत और प्राकृत के विद्वानों का सहयोग भी रहे, क्योंकि अब हमारी भाषा संस्कृत से अधिक सामग्री ग्रहण करेगी।

सरकार को यह चाहिए कि वह विद्वानों से सुझाव माँगे कि वह राष्ट्रभाषा को सम्पन्न बनाने के लिए क्या-क्या उपाय करे और उन सुझावों पर विचार कर उनको कार्य रूप में परिणित करे।

हिन्दी साहित्य की नवीन पुस्तकें

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में हुई हैं। इनमें से अधिकांश पुस्तकें आगरा के साहित्य-रत्न-भण्डार से मिल सकती हैं

आलोचना

कवि प्रसाद—विनय मोहन शर्मा २॥)

सूर निर्णय—द्वारकाप्रसाद पारीक प्रभुदयाल मीतल ५)

कविता

शेफालिका—श्यामनन्दन प्रसाद किशोर १॥)

प्रात परिणय—श्री अधर ।=)

टूटती शृंखलाएँ—श्री महेन्द्र भटनागर एम० ए० साहित्य रत्न १॥।)

जननायक—रघुवीरशरण सिंह ३५)

कहानियाँ

माधुरी—श्रीमती पद्म कुमारी गोस्वामी २)

राष्ट्र चिन्तन—शङ्करलाल शर्मा बी० ए० बी०एल० १॥)

अन्तर्द्वन्द—मृत्युञ्जय १)

विभ्रम—मज़े गुरुजी एम० ए० १॥)

बुकशिमो की कहानियाँ—अनुवादक—मधुकर २)

परियों का द्वीप—रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' २)

निबन्ध

सर्वोदय की दिशा में—श्री जवाहरलाल

उपन्यास

उर्वशी चरित—श्री गजानन त्र्यंबक माडखोलकर

वैदिक

मट्ठा या छाछ के उपयोग—श्री प्र०

व्याकरण

राष्ट्रभाषा का सरल व्याकरण भाग २

इतिहास

हिन्दी साहित्य का सर्वोपयोगी—प० श्रीकृष्ण विशारद

विविध

प्रार्थना—कृष्ण एम० ए० ॥)

परीक्षार्थी-प्रबोध

...के परीक्षार्थियों के लिए परीक्षोपयोगी अपूर्व पुस्तक

...बोध हिन्दी-साहित्य के परीक्षार्थियों को सामयिक सहायता के लिए तय्यार की ... मध्यमा, उत्तमा, सरस्वती, प्रभाकर, इन्टरमीजिएट, बी० ए० तथा एम० ए० के ...ए चुने हुए उपयोगी विषयों पर इसमें अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी ...ग।

...न्देश' निरन्तर विद्यार्थियों और परीक्षार्थियों को सहायता करता रहा है। उसने ...ों में जो विद्यार्थियोपयोगी निबन्ध अपने अङ्कों के द्वारा भेंट किये हैं, उनका सार अंश लेकर तथा आवश्यक नये निबन्ध जोड़कर यह पुस्तक तय्यार की गयी है। ...रीक्षार्थी के लिए सदैव साथ रखने योग्य पुस्तक होगी। इसकी पृष्ठ संख्या ...होगी। इसका मूल्य ३) मात्र है।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को आधे मूल्य में

यह पुस्तक दी जायगी। इस रियायत के अधिकारी वही ग्राहक माने जायगे जो इस समय ग्राहक हैं अथवा ३० नवम्बर तक ४) वार्षिक शुल्क दे भेजकर ग्राहक बन जायंगे।

मूल्य निम्न प्रकार लिया जायगा।

	ग्राहकों से	अन्य सज्जनों से
पेशगी प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से मँगाने वालों से (पोस्ट फ्री)	१॥।)	३)
वी० पी० से मंगाने वालों से मय पोस्टेज	१॥।=)	३।=)

प्रति सुरक्षित करालें

इस पुस्तक की अधिक बिकने की संभावना है अतः जो सज्जन पहले मनीआर्डर भेज देंगे उनके लिये पुस्तक सुरक्षित रक्खी जायगी।

इस पुस्तक के लेखों की संख्या विषय सूची इसके पीछे वाले पृष्ठ पर छपी हुई है।

आधे मूल्य की रियायत केवल ग्राहकों को मिलेगी। अतः ४) मूल्य भेजकर तुरंत ग्राहक बन जायँ।

नोट—ग्राहक महोदय हर हालत में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।

पता:— साहित्य सन्देश कार्यालय, आगरा।

अथवा

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

...से प्रकाशित किया।

आगरा—अप्रेल, १९५०

[अङ्क १०

विषय-सूची

...राव एम० ए०

प्रकाशक—
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

वार्षिक मूल्य ५

हिन्दी साहित्य की नवीन पुस्तकें

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं। इनमें से अधिकांश पुस्तकें आगरा के साहित्य-रत्न-भण्डार से मिल सकती हैं।

आलोचना

१—सिद्धान्त और समीक्षा— २॥)

कविता

२—विभावरी—श्री श्यामनन्दन प्रसाद 'किशोर' १॥)

३—नीलिमा—प्रो० गौरीशङ्कर मिश्र २)

उपन्यास

४—दुश्चरित्र—श्री मन्मथनाथ गुप्त ३॥)

५—संघर्ष और समर्पण—कन्हैयालाल ओझा एम० ए० ४॥)

कहानी

६—स्वर्ण अभिमान—अयोध्याप्रसाद झा० १)

७—वाय का रंग—देवेन्द्र सत्यार्थी ४॥)

८—रेखाएँ बोल उठीं— ३)

राजनीति

९—सत्याग्रह और विश्व शान्ति—रंगनाथ दिवाकर १॥।)

१०—गांधी गीता—प्रो० इन्द्र एम० ए०, २)

११—बापू की कारावास कहानी—डा० सुशीला नैयर १०)

१२—सबके बापू—हरिभाऊ उपाध्याय ।।)

१३—पुण्य स्मरण " " १॥)

१४—राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद—प्रो० शिवपूजनसहाय २॥)

नाटक

१५—पारिजात मंजरी—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा १॥)

१६—सुख किसमें—गोविन्ददास २)

१७ राम से गांधी—गोविन्ददास ४॥)

१८—ईशावास्य वृत्ति—विनोबा १)

मनोविज्ञान

१९—चिन्ता—डा० जॉन कैनेडी १)

२०—अध्ययन कैसे करें—डब्ल्यू कार्ल हॉसर १)

[भाग ११]   आगरा—अगस्त, १९५०   अङ्क १०

सूफी-रहस्यवाद

(शुक्लजी के आधार पर)

श्री कृष्णनन्दनप्रसाद अभिलाषी बी॰ ए॰

भारतीय परम्परा के अन्तर्गत 'अद्वैतवाद' का [illegible]रण आर्य जाति (भारती और यूनानी) के [illegible]स्वियों द्वारा दार्शनिक पद्धति पर हुआ है। [illegible]: इस 'अद्वैतवाद' के मूल में दार्शनिक सिद्धान्त [illegible] वह मनुष्य के बुद्धि-प्रयास या तत्त्व चिन्तन का [illegible] है। यह ज्ञान-क्षेत्र की वस्तु है। भारत में तो यह [illegible]न-क्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञान क्षेत्र में ही [illegible]; पर अरब, फारस तथा योरोप में जाकर यह [illegible]क्षेत्र के बीच मनोहर रहस्य-भावना के रूप में [illegible]या। इसका कारण यह था कि धर्म पैगम्बरी मतों (यहूदी-ईसाई-इस्लाम) में तत्त्वचिन्तन या ज्ञान-[illegible] का समावेश न था। उसमें मनुष्य की स्वाभा[illegible]क बुद्धि या अक्ल का दखल न था। अतः जब [illegible]न मतों के स्थूल एकेश्वरवाद (जो वास्तव में 'देववाद' ही है) के स्थान पर प्राचीन-आर्य-दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित 'सर्ववाद' (Pantheism) लेने की आवश्यकता हुई, तब यह बुद्धि द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के रूप में तो लिया नहीं जा सकता था—इससे यह ईश्वर द्वारा रहस्यात्मक ढङ्ग से प्रेषित ज्ञान के रूप में ही लिया गया। इस प्रकार भारतीय अद्वैतवाद का ग्रहण (आध्यात्मिक ज्ञानोपलब्धि का ग्रहण) रहस्यवाद के रूप में हुआ। इस स्वरूप में पड़कर यह धार्मिक विश्वास में बाधक नहीं समझा गया। इसके परिणाम स्वरूप जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की वे ही बातें जो, यूनान या भारत के प्राचीन दार्शनिक कह गये थे—विलक्षण रूपकों द्वारा कुछ दुर्बोध और अगाध बनाकर उनके सन्त लोग (ईसाई सन्त तथा सूफी-फकीर) कहा करते थे। अव्यक्तता और

असम्बद्धता इसलिए आवश्यक था कि तथ्यों का साक्षात्कार छाया रूपों में ही माना जाता था। इस प्रकार भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद का प्रयत्न न हुआ।

उपरोक्त कारण से ही पाश्चात्य दृष्टि में भारतीय भक्तिमार्ग रहस्यवाद के अन्तर्गत ही दिखाई पड़ती है। 'उपनिषदों' के ज्ञान को जो कुछ पाश्चात्य लेखकों ने रहस्यवाद की कोटि में रखा है, वह उनका भ्रम या दृष्टि-सङ्कोच है।' बात यह है कि उस प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन को व्यक्त करने की व्यवस्थित शैली नहीं निकली थी। जगत और उसके मूल कारण का चिन्तन करते-करते जिस तथ्य तक वे पहुँचते थे उसकी व्यञ्जना वे अनेक प्रकार से करते थे। जैसे आजकल किसी गंभीर विचारात्मक लेख के भीतर कोई मार्मिक स्थल आजाने से लेखक की मनोवृत्ति भावोन्मुख हो जाती है—और वह काव्य के भावात्मक शैली का अवलम्बन करता है, उसी प्रकार उन प्राचीन ऋषियों को भी विचार करते-करते गम्भीर मार्मिक तथ्य पर पहुँचने पर भावोन्मेष हो जाता था और वे अपनी उक्ति का प्रकाश रहस्यात्मक और अनूठे ढङ्ग से कर देते थे।

हमारे यहाँ भक्ति-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और योगमार्ग से भिन्न है। 'भक्ति मार्ग शुद्ध हृदय की भावना लेकर चलता है। इसी से भारतीय भक्त रहस्यवाद को अपने रास्ते का कटक समझते हैं। ज्ञान मार्ग शुद्ध-बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया अर्थात् चिन्तन पद्धति का आश्रय लेता है—और योग मार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा अस्वाभाविक (Abnormal) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अन्तःस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है।' अतः हमारे यहाँ जो रहस्यवाद पाया जाता है वह योग का साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद है। तन्त्र-मन्त्र, रसायन आदि भी साधनात्मक रहस्यवाद हैं—पर निम्नकोटि के। इसी साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का विकास यहाँ हुआ इसके विकास में बौद्धों ने बहुत कुछ योग दिया था। हठयोग की परम्परा बौद्धों की ही थी। मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने उसे शैव रूप दिया—इस गोरख पन्थ के अनुयाइयों ने भारतीय भक्तिमार्ग में बहुत बाधा पहुँचाई थी, फल स्वरूप भक्ति लोगों के हृदय से तिरोहित होती हुई दिखाई पड़ने लगी, तुलसी ने इसका साफ उल्लेख किया है 'गोरख जगायो योग, भक्ति भगायो लोग।' अरब और फारस का भावात्मक रहस्यवाद—जिसमें हृदय की भावुकता थी—लेकिन जब सूफी हिन्दुस्तान पहुँचे तब उन्हें यहाँ रहस्योन्मुख सम्प्रदाय मिली इसी से उन्होंने हठयोग की बातें को बड़ी उत्कण्ठा के साथ अपने सम्प्रदाय में समावेश किया। जायसी आदि सूफी कवियों की पुस्तकों में योग और रसायन की बहुत सी बातें बिखरी मिलती हैं अतः जिस समय वे यहाँ आए उन्हें रहस्य की प्रवृत्ति 'हठयोगियों' (साधनात्मक योग), रसायनियों और तान्त्रिकों (क्रियात्मकयोग—रहस्य वाद) में ही दिखाई पड़ी। हठयोग की तो अधिकांश बातों का समावेश उन्होंने अपनी साधना पद्धति में कर लिया। हठयोगियों या नाथ पन्थियों की तीन बातें (मुख्य बातें) सूफियों और निर्गुण मतवाले सन्तों को अपने अनुकूल दिखाई पड़ा—(१) रहस्य की प्रवृति (२) ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूँढना तथा (३) बाहरी पूजा और उपासना का त्याग।'

'सूफियों की देखा-देखी उनके मेल का जो भक्ति मार्ग निर्गुण पन्थ' के नाम से कबीर के समय चला उसमें भी रहस्य की प्रवृति (भक्तों में अलौकिक ज्ञान के आरोप द्वारा सामान्य जनता में कौतूहल उत्पन्न करने की प्रवृति) पूरी-पूरी थी। "कबीर ने भारतीय उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मवाद और सूफियों की प्रेमभावना मिलाकर जो मत पन्थ तैयार किया था उसमें भी इड़ा पिंगला सुषुम्न नाड़ी तथा भीतरी चक्रों की पूरी चर्चा है। कबीर ने अन्य पन्थ में योगियों के अन्तःस्थ ईश्वर को भी कर लिया। अतः 'निर्गुण सन्तमत' उपनिषद

ब्रह्मवाद, योगियों की [illegible]-ईश्वर-तथा सूफियों की प्रेमभावना—इन तीनों के सम्मिश्रण का फल है। प्रथम दो को, ज्ञान या अनजान में, सम होकर सूफियों के प्रेम मार्ग का एक नया और विलक्षण स्वरूप तैयार हुआ। उक्त पन्थ की वाणी जहाँ प्रेमभाव की व्यंजना करती है, वहाँ तो सूफी ढंग पूरा पूरा रहता है, पर जहाँ वह ज्ञानोन्मुख होती है, वहाँ योगियों और शुष्क वेदान्तियों का रंग चढ़ा रहता है। इस पन्थ का ढाँचा सूफी ही रहा केवल उपासक का स्वरूप वेदान्त के निर्गुण परब्रह्म का भी ग्रहण कर लेने से अनिश्चित हो गया। कबीर में 'माधुर्य-भाव' भी कहीं कहीं पाया जाता है—'हरि मोर पिव, मैं राम की बहुरिया।' यह सूफियों के प्रभाव का ही फल है।

अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद के दो पक्ष हैं पहला है आत्मा और परमात्मा की एकता का रूप और दूसरा ब्रह्म और जगत की एकता का रूप। दोनों मिलकर ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा करते हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सभी पैगम्बरी मतों—(यहूदी-ईसाई तथा इस्लाम की धर्म परम्परा तथा भक्ति मार्ग)—में जब अद्वैतवाद का ग्रहण रहस्यात्मक ढंग पर हुआ तब सूफियों और पुराने ईसाई भक्तों ने उपासना के क्षेत्र में प्रथम पक्ष को ही अपनाया। पर सूफियों ने भाव पक्ष में आकर दूसरे पक्ष को ग्रहण किया। और प्रकृति की नाना विभूतियों में भी उस ब्रह्म की छवि का अनुभव करने लगे।" आगे चलकर—जब ईसा की १६ वीं शताब्दी में रहस्यात्मक कविता का पुनरुत्थान योरोप के कई प्रदेशों में हुआ तब उसमें सर्ववाद का (Pantheism) ब्रह्म और जगत की एकता का भी बहुत कुछ आभास था। इस प्रकार ईसाइयों ने भी भावक्षेत्र में दूसरे पक्ष को अपनाया।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सभी पैगम्बरी मतों में गृहीत अद्वैतवाद के दो रूप हुए—एक साधनात्मक (आत्मा और परमात्मा की एकता) और दूसरा भावात्मक (ब्रह्म और जगत की एकता)। इसी के अनुसार रहस्यवाद भी दो प्रकार का होता है—(१) साधनात्मक और (२) भावात्मक। हमारे यहाँ का योग मार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। तंत्र और रसायन भी वास्तव में क्रियात्मक रहस्यवाद है—साधनात्मक रहस्यवाद ही है, पर निम्न कोटि के "भावात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियाँ हैं जैसे, भूत, प्रेत की सत्ता मानकर चलने वाली भावना अथवा परम पिता के रूप में एक ईश्वर की सत्ता मानकर चलने वाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अन्तर्गत होगी। किन्तु, अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्च कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।" सर्ववाद को लेकर जब भक्त की मनोवृत्ति रहस्योन्मुख होगी। तब वह अपने हृदय को जगत् के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष-सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा। वह खिले हुए फूलों में, सुन्दर मेघ-माला में, निखरे हुए चन्द्र बिम्ब में, शिशु के स्मित आनन में उसके सौन्दर्य का, गम्भीर मेघ-गर्जन में बिजली की कड़क में, भूकम्प आदि प्राकृतिक विप्लवों में उसके रौद्र-मूर्ति का, संसार के सामान्य वीरों, परोपकारियों और त्यागियों में उसकी शील-शक्ति आदि का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार अवतारवाद का मूल भी रहस्य भावना ही ठहरता है।

गीता के दसवें अध्याय में—सर्ववाद का भावात्मक प्रणाली पर निरूपण है। वहाँ भगवान ने अपनी विभूतियों का जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। पर अवतार के सिद्धान्त रूप में गृहीत होने पर, राम-कृष्ण के व्यक्त ईश्वर विष्णु के अवतार स्थिर होने पर, रहस्य दशा की एक प्रकार से समाप्ति हो गई। फिर राम और कृष्ण का ईश्वर के रूप में ग्रहण व्यक्तिगत रहस्य-भावना के रूप में नहीं रह गया। वह समस्त जन-समाज के धार्मिक विश्वास का एक अंग हो गया। इसी व्यक्त-जगत के बीच प्रकाशित राम-कृष्ण लीला भक्तों के भावोद्रेक का विषय हुई। अतः राम-कृष्णोपासकों की भक्ति रहस्यवाद की कोटि में नहीं आती है। पर श्रीमद्भागवत के उपरान्त

कृष्ण-भक्ति का जो रूप प्राप्त हुआ उसमें रहस्य भावना की गुञ्जाइश हुई। भक्तों की दृष्टि से जब धीरे धीरे कृष्ण का लोक-संग्रही रूप हटने लगा और वे प्रेम मूर्ति-मात्र रह गए, तब उनकी भावना एकान्तिक हो चली। गोपियों का प्रेम जिस प्रकार एकान्त और रूप माधुर्य मात्र पर आश्रित था। उसी प्रकार भक्तों का भी हो चला। यहाँ तक कि कुछ राम भक्तों में भगवान् के प्रति उसी रूप का प्रेम भाव (भगवान को प्रियतम के रूप में ग्रहण करना) स्थान पाने लगा जिस रूप का गोपियों का कहा गया था। यहीं से 'माधुर्य भाव' का श्री गणेश समझना चाहिए। बड़े बड़े मन्दिरों में देवदासियों की जो प्रथा थी, उससे इस 'माधुर्य भाव' को और भी सहारा मिला। 'अण्डाल' ऐसी ही एक प्रसिद्ध भक्तिन हो गई है। इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य और स्वाभाविक है। पर भारतीय भक्ति का सामान्य-स्वरूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य-भाव' का अधिक प्रचार नहीं हुआ।

इस 'माधुर्य-भाव' का समावेश सूफियों तथा ईसाइयों में भी हम पाते हैं। "जिस प्रकार सूफी 'हाल' की दशा में उस माशूक से भीतर ही भीतर मिला करते थे, उसी प्रकार पुराने ईसाई भक्त साधक भी दुलहिन बनकर उस दुलहे से मिलने के लिए अपने अन्तर्देश में, कई खण्डों के रङ्ग महल तैयार किया करते थे।" सूफियों के इस 'माधुर्य-भाव' का प्रभाव कुछ कृष्ण भक्तों पर भी पड़ा। 'मीराबाई' इस पद्धति की प्रसिद्ध भक्तिन हो गई हैं। इसके साथ ही साथ 'चैतन्य महा-प्रभु में भी सूफियों की प्रवृत्तियाँ साफ झलकती हैं, जैसे सूफी कव्वाल गाते गाते 'हाल' की दशा में हो जाते हैं। वैसे ही महा-प्रभु की मण्डली भी नाचते-नाचते मूर्छित हो जाती थी। कृष्ण की मधुर-मूर्ति ने कुछ मुसलमान फ़कीरों को भी आकर्षित किया। [illegible] अकबराबादी ने अपनी वाणी के अपने बहुत से पदों में कृष्ण का स्मरण प्रेमालम्बन के रूप में किया है। ईसाई धर्म में माधुर्य भाव की प्रसिद्ध भक्तिन 'सैफो' और सेंट टेरेसा (Therisa) आदि कई हो गई हैं।

कबीरदास में जो 'रहस्यवाद' पाया जाता है, वह अधिकतर सूफियों के प्रभाव के कारण। पर कबीर पर इस्लाम के कट्टर 'एकेश्वरवाद' और वेदान्त के 'मायावाद' का रूखा संस्कार भी पूरा-पूरा था। उनमें 'वाक्चातुर्य था, प्रतिभा थी, पर प्रकृति के प्रसार में भगवान् की कला का दर्शन करने वाली भावुकता न थी।" इसका कारण, उनके 'निर्गुन पंथ' में वेदान्त के ब्रह्मवाद और हठयोग, के शुष्क सिद्धान्तों का समावेश था। इसी शुष्कता ने उनके काव्य में वह माधुर्य तथा भावुकता न आने दी जो सूफी कवि जायसी में पूर्ण रूप में थी। "जायसी कवि थे और भारतवर्ष के कवि थे। भारतीय पद्धति के कवियों की दृष्टि फ़ारस वालों की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों पर कहीं अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी पक्ष रूपों को कहीं अधिक परखने वाली होती है।"

जायसी की भावुकता का दूसरा कारण सूफियों की भक्ति-पद्धति थी। वे सूफियों की इसी भक्ति-भावना—भावनात्मक रहस्यवाद—जिसमें हृदय की भावुकता अधिक तीव्र थी—के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप, माधुर्य की छाया देखते हैं। और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों को 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृङ्गार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना 'पद्मावत' में अधिक मिलती है। 'पद्मावत' के ढंग के रहस्यपूर्ण प्रबन्धों की परम्परा जायसी के पहले भी है। 'मृगावती' 'मधुमालती' आदि की रचना जायसी के पहले हो चुकी थी। और उनके पीछे भी ऐसी रचनाओं की परम्परा चली। कबीरदास में यह बात नहीं है। उन्हें बाहर जगत् में भगवान की रूप-छटा नहीं दिखाई देती। वे सिद्धों और योगियों के अनुकरण पर ईश्वर को केवल अंतस में पाते हैं—

'मोको कहाँ ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना काबे-कैलास में॥'

जायसी ने भी कहीं-कहीं उसे भीतर ही बताया है।

'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
को रे मिलाव, कहाँ केहि रोई॥'

इसका कारण सूफीमत में योग के साधनात्मक पक्ष (हठ योग) का समावेश था।

कबीर में जायसी की तरह—न वह चित्रों (Imagery) की अनेक समता है और न वह भावुकता ही—वह मधुरता ही जायसी ने अपने भावनात्मक रहस्यवाद में प्रेम की पीर दोनों ओर से ('पद्मावत' में) से दिखाई है। पर कबीर में केवल जीव की प्रतीक स्वरूपा स्त्री की ओर से ही।

जायसी का वियोग पक्ष बहुत ही व्यापक है। वियोग की ज्वाला के कारण उसके अन्तर दाह के कारण सारी प्रकृति ही उस ज्वाला में जलती सी जान पड़ती है। देखिए रत्नसेन (परमात्मा) से नागमति (आत्मा, जीव, व्यक्ति) का वियोग कितना लोक व्यापी है—

कुहुकि कुहुकि जस कोयल रोई।
रकत आँसु घुँघची बन बोई॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बन बासी।
तहँ तहँ होइ घुँघची कै रासी॥
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ।
गूँजा, गूँज करै, पिउ पिऊ॥

नागमती वियोगनी है अतः उसे सारी प्रकृति ही वियोग व्यथ जान पड़ती है। यह स्वाभाविक है। क्योंकि अपनी भावनाओं के अनुसार ही जगत को देखा करता है। अथवा यों कहिए कि व्यक्ति की भावना ही, उसके विचार की प्रतिच्छाया ही यह जगत है। इसी भाव का एक उदाहरण हम 'निराला' के 'दान गीत' में भी पाते हैं। कवि की आत्मा ईश्वर से दूर है। माया ने दोनों के बीच व्यवधान उपस्थित कर दोनों को अलग-अलग कर दिया है। यद्यपि जीव ईश्वर अंश है—'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'—पर फिर भी वह आज परम-पिता परमेश्वर से वियुक्त है। इस वियोग के ही कारण कवि को प्रकृति के सारे व्यापारों में उसी वियोग-जन्य व्याकुलता की छाप मिलती है जिससे वह स्वयं घायल है। अतः उसकी वेदना फूट पड़ती है—

"तारे लेकर उज्ज्वल मेघ
आँसू का पारावार लिए।
संध्या लिए विषाद, पुजारिन
ऊषा विकल उपहार लिए।
हँसे कौन ! तुमको तजकर
जो चला वही हैरान चला।
रवी चली बयार, हृदय में
मैं भी हाहाकार लिए।"

जायसी के रहस्यवाद के विषय में शुक्लजी कहते हैं—"हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्च कोटि की है। पर "इस अद्वैती रहस्यवाद के अतिरिक्त जायसी कहीं-कहीं उस रहस्यवाद में भी आ फँसे हैं जो पाश्चात्यों की दृष्टि में 'झूठा रहस्यवाद' है। उन्होंने स्थान-स्थान पर हठयोग रसायन आदि का भी आश्रय लिया है।"

शुक्लजी ने रहस्यवाद के तीन रूप कहे हैं—उनमें पहला है भावोपलब्धि के साधन के रूप में—जिसमें कि यह रहस्य प्रकृति , ईश्वर को कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात भूमि में रख कर उसके महत्व और प्रधानता की भावना करने में—जिसे अचिन्त्य-दर्शन-योग कहते हैं—काम आती है। यह भावना ईश्वर को जितना ही अधिक अज्ञात की ओर रखकर होगी उतनी ही रहस्यात्मक कही जायगी। ऐसी भावना में कुतूहल या आश्चर्य प्रधान भाव होंगे।

दूसरा है ज्ञानोपलब्धि के साधन के रूप में—इसमें रहस्य ज्ञानात्मक अथवा तत्त्ववाद। कवि प्रकृति के रंग-रूप को लेकर तत्त्ववाद के विचार

कविता में प्रकृति-वर्णन

श्री गणेशदत्त एम० ए० साहित्य-रत्न

आचार्य शुक्ल के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा मानव का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है। शेष सृष्टि के अन्तर्गत मानव और मानवेतर सभी वस्तुएँ आती हैं। एक जिज्ञासु के मस्तिष्क में प्रश्न उठ सकता है कि मनुष्य ने कविता में प्रकृति का वर्णन क्या अनिवार्य समझा? इस प्रश्न का समाधान आसान नहीं फिर भी निम्न लिखित कुछ कारण हो सकते हैं—

१—आधुनिक विज्ञान के अनुसार मनुष्य पशुओं की तरह जीवन यापन करता था और वास्तव में जिन परिस्थितियों में होकर हम निकलना पड़ा उससे यह सिद्ध होता है कि वह स्वयं इस जड़ प्रकृति का भी एक अंग था। मानव ने ज्ञानावस्था और अज्ञानावस्था दोनों में ही प्रकृति के साथ लाखों वर्ष क्रीड़ाएँ की हैं और वही क्रीड़ाएँ संस्कार बन साकार रूप में कवि कल्पना में प्रगट हो उठती हैं।

२—इस विराट-विश्व के प्रथम प्रहर में जब मनुष्य ने आँखें खोलीं तो अपने को प्रकृति की गोद में खेलता हुआ पाया। उसे एक कौतूहल हुआ और वह अपने को रोक न सका, हृदय का बाँध टूट गया और उद्‌गारमयी कविता वैदिक ऋचाओं में फूट निकली। मानव की मूक वाणी का प्रथम प्रस्फुटन कविता के रूप में हुआ, और प्रकृति के प्रति एक कौतूहल की भावना हुई। वास्तव में प्रकृति स्वयं ही एक उच्चकोटि की कविता है जिसकी प्रत्येक साँस मानव-हृदय में भिन्न भिन्न प्रकार के रसों का संचार करती है।

३—मानव, सभ्यता की प्राथमिक अवस्था में, प्रकृति के आधीन था। उसके हृदय में एक आतंक छाया हुआ था। प्रकृति उसके लिये एक अज्ञेय अलौकिक शक्ति के रूप में प्रगट हुई। मानव परिस्थिति के कारण नत मस्तक हुआ और प्रकृति में देवत्व की स्थापना कर बैठा। उस ही अलौकिक शक्ति में उसे विश्वास था और अपने को उसके सम्मुख हीन और नगण्य समझता था। प्रकृति उसके लिये जीवन-दायिनी प्रमुख शक्ति थी। इन दैवी तथा परोपकारी भावना के कारण भी मनुष्य ने कृतज्ञता के गान गाये। एमर्सन के शब्दों में "साहित्य, कविता और विज्ञान प्रकृति देवी के चरणों में मनुष्य की श्रद्धाञ्जलि है।'

४—मनुष्य सौन्दर्य का उपासक है क्योंकि इससे उसे आनन्द प्राप्त होता है और आनन्द ही उसके जीवन का उद्देश्य है। प्रकृति अपने में पूर्ण है। सर्वत्र सौन्दर्य बिखरा पड़ा है। उसके मानवी सौन्दर्य के वर्णन के लिये प्रकृति से उपमाओं का संकलन किया। प्रकृति से सौन्दर्य ही नहीं स्वर भी लिए, संगीत की ध्वनियाँ (स र ग म) इसके प्रमाण हैं। यह ध्वनियाँ क्रमशः मोर गाय, अज और कोयल से ली गई हैं।

५—प्रकृति मानव हृदय का दर्पण है, उसकी हृदय गत भावनाओं का प्रति रूप है। मानव के हृदय में सुन्दर असुन्दर भावनाएँ हैं, प्राणों में ओज और

और अलौकिक चित्र खड़ा कर यह धारणा उत्पन्न करना चाहते हैं कि हमारी दिव्य कल्पना उस असीम तक पहुँचा करती है।

और तीसरा है अर्थोपलब्धि के साधन के रूप में—योग की अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ—मन्त्र-तन्त्र आदि इसी कोटि के हैं।

पाश्चात्य दृष्टि से अन्तिम रूप ही झूठा रहस्यवाद है। पर शुक्ल जी दूसरे को भी इसी कोटि में रखते क्योंकि उसकी धारणा ठीक नहीं है। काव्य में इसे निरूपण का कुछ मूल्य है अवश्य।

——

माधुर्य का योग है। उसमें जिस प्रकार दो विरोधी भावों का जैसे-हर्ष विषाद, आकर्षण विकर्षण, सुख-दुख और दया मोध आदि का अजस्र स्रोत बहता रहता है उसी प्रकार प्रकृति में भी सुन्दर असुन्दर और सौम्य तथा विकराल रूप रहते हैं। मानव ने इस एक रूपता को पहिचाना और उनका वर्णन करके मनोरमता का परिचय दिया।
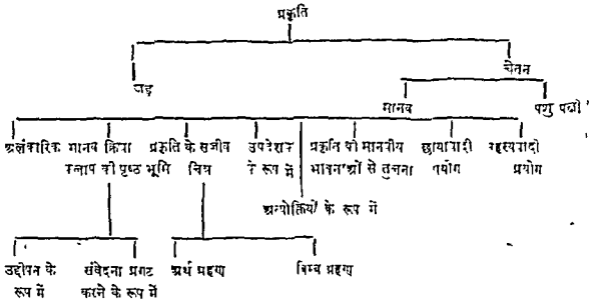
प्रकृति जड़ और चेतन दो भागों में विभक्त है और दोनों भागों का ही विशद वर्णन कविता में देखने को मिलता है। जड़ प्रकृति युग युगान्तर से मनुष्य के आकर्षण का रूप रही है और उसका वर्णन भी भिन्न भिन्न प्रकार से हुआ है।

अलंकारिक—संस्कृत और हिन्दी काव्य में अलंकारिक ढंग को बहुत अपनाया है। इस अलंकारिक वर्णन में सादृश्य को अधिक लिया गया है। इसके अन्तर्गत उपमा रूपक उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार आते हैं। वास्तव में इस प्रकार के वर्णन का उद्देश्य विषय का आँखों के सम्मुख चित्र उपस्थित करना है किन्तु बाद में अलि ने इसको एक मजाक बना दिया और ऐसी ऐसी उपमाएँ दी जाने लगी जिनमें मानसिक व्यायाम करना पड़ता था। तुलसी की अलङ्कार योजना देखिये—

नील-सरोरुह, नीलमनि, नील नीरधर श्याम।
लाजहिं तनुशोभा निरखि, कोटि कोटि शतकाम॥

पृष्ठ भूमि के रूप में—प्रबन्धक काव्यों में पात्रों के क्रिया कलाप के अनुकूल पृष्ठ भूमि देने की आवश्यकता होती है, इस कारण प्रकृति का वर्णन भी इस प्रकार से किया जाता है कि वह उनके क्रिया कलाप में उद्दीपक हो और वातावरण उस कथा के विषय के अनुकूल हो जाए। इससे क्रियाकलाप, भाव एवं विचार को समझने में सहायता मिलती है।

ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूप है,
जो सुसंवत के निदर्शन रूप है।
राघवों की इन्द्र मैत्री के बड़े,
वेदियों के साथ साक्षी से खड़े।

सूर ने रास क्रीड़ाओं के लिए चन्द्र, ज्योत्स्ना, जमुना पुलिन का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। ऐसे वर्णन उद्दीपन के अन्तर्गत आते है, षड्-ऋतु वर्णन की परम्परा उद्दीपन के ही कारण चली।

इसके साथ ही प्रकृति का सम्वेदनात्मक रूप है। प्रकृति भी मानव की प्रसन्नता में प्रसन्न और

दृश्य में झाली दिखाई देती है। संवेदनात्मक वर्णनों में जायसी और सूर सबसे आगे हैं।

> देखियत कालिन्दी अति कारी
> कहियो, पथिक! जाय हरि सों
> ज्यों भई विरह जुर-जारी।

प्रकृति के सजीव चित्रण—प्रकृति का चित्रण उद्दीपन के दृष्टि से न होकर जब आलम्बन की दृष्टि से किया जाता है तो उसका वास्तविक चित्र उतारना पड़ता है। भारतीय काव्य में वे दो प्रकार से वर्णन किये गये हैं। अर्थग्रहण और बिम्ब ग्रहण। संस्कृत साहित्य में कालिदास और भवभूति प्रकृति-दृश्य वर्णन में सबसे आगे थे। हिन्दी साहित्य में सूर और तुलसी ने संश्लिष्ट योजना की है मगर रीतिकालीन कवि इसमें पूर्ण सफल नहीं हुये। खड़ी बोली में इसका प्रारम्भ श्रीधर पाठक से होता है।

अर्थग्रहण में केवल वस्तुओं के नाम गिना दिये जाते हैं। चित्र उपस्थित नहीं किया जाता।

> तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
> मंजुल बंजुल लकुच बकुल कुल केरि नारियर।
> एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
> लागी शुककुल कलितचित्त कोकिल अलि मोहैं।

उपरोक्त वर्णन में एला, लवंग और पुंगीफल का बिहार के जङ्गलों में होना असंभव है फिर भी कवि ने उनका वर्णन किया है जो ठीक नहीं है। ऐसे वर्णनों में ऋतु, स्थान को देखकर वर्णन करना चाहिये।

बिम्ब ग्रहण में प्रकृति का चित्र नेत्रों के सामने उपस्थित किया जाता है केवल नाम नहीं गिनाये जाते। कवि प्रकृति के निसर्गदत्त सौन्दर्य और उल्लास का चित्रण करता है।

> चारु चन्द्र की चञ्चल किरणें
> खेल रही हैं जल थल में।
> स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है,
> अवनि और अम्बर तल में॥
>
> पुलक प्रगट करती है धरती,
> हरित तृणों की नोकों में।
> मानो झूम रहे हैं तरु भी,
> मन्द पवन के झोंकों से॥

सौन्दर्य वर्णन के साथ प्रकृति के विकराल भयङ्कर रूप को देखिये —

> पञ्चभूत का भैरव मिश्रण,
> शंपाओं के सकल निपात।
> उल्का लेकर अमर शक्तियाँ,
> खोज रहीं ज्यों खोया प्रात॥
>
> × × ×
>
> धंसती धरा धधकती ज्वाला,
> ज्वालामुखियों के निश्वास।
> और संकुचित क्रमशः उसके,
> अवयव का होता था ह्रास॥

उपदेशक के रूप में—प्रकृति और मानव में अधिक सामञ्जस्य है इसलिये प्रकृति के भिन्न भिन्न दृश्यों को लेकर उनसे कवि ने उपदेश ग्रहण किये हैं अथवा उनका उपयोग दृष्टान्त-निरूपण के लिये किया है। इस प्रकार के वर्णनों के विषय में आलोचक एक मत नहीं है कुछ उन्हें ठीक नहीं समझते और कुछ उन्हें उपयोगी समझते हैं। तुलसी जैसे उच्चकोटि के कवि ने ऐसे वर्णन किये हैं —

> दामिनि दमकि रही घन माहीं,
> खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।

तुलसी का शरद वर्णन दृष्टान्त-निरूपण के लिये देखिये —

> फूले कमल सोह सर कैसे,
> निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसे॥
>
> × × ×
>
> चक्रवाक मन दुख निशि पेखी,
> जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी॥

अन्योक्ति के रूप में—अन्योक्ति पद्धति ने साहित्य में अपना विशेष स्थान बना लिया है जैसे

तो अन्योक्ति अलङ्कार के अन्तर्गत आती है परन्तु किसी विशेष के ऊपर रख कर कही हुई उक्ति से हम दूसरा ही अर्थ लगाते हैं इस कारण इस प्रकार के प्रयोगों को पृथक स्थान देना ही ठीक है। दीनदयालगिरि की अन्योक्तियाँ साहित्य क्षेत्र में विशेष स्थान प्राप्त कर चुकी हैं.—

रम्भा ! झूमत हो कहा, थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गये, अरु ह्वैहैं इहि खेत ॥
अरु ह्वैहैं इहि खेत, मूल लघु शाखा हीने।
ताहू पै भज रहे दाठि, तुम पै प्रति दीने ॥
बरनै 'दीनदयाल' हम लखि होत अचम्भा।
एक जन्म के लागि, कहा झुक झूमत रम्भा।

प्रकृति की मानवी भावनाओं से तुलना—प्रकृति के भिन्न भिन्न दृश्यों को देख कर उनकी मानवी भावनाओं एवं क्रियाओं से तुलना करना ही इसका उद्देश्य है। इसके विरुद्ध आधुनिक कविता में मानव की हृदय गत भावनाओं का प्रकृति में आरोप किया जाता है। प्रथम में प्रकृति वर्णन मुख्य है और द्वितीय में भावनाओं का वर्णन ही मुख्य है। तुलसी और सूर में ऐसे वर्णन मिलते हैं।

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई,
वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।

छायावादी प्रयोग—छायावाद में प्रकृति वर्णन कई प्रकार से होता है, और वह एक अलग लेख का विषय है। मुख्यतः उसमें नारी का आरोप, मानव भावनाओं का आरोप तथा ब्रह्म के क्रिया कलापों को देखना है। कुछ आलोचक 'ब्रह्म के क्रिया कलापों को देखना' रहस्यवाद के अन्तर्गत रखते हैं। क्योंकि रहस्यवादी के लिये सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म-मय हो जाती है, प्रकृति उसकी आँखों से ओझल हो जाती है और स्वयं प्रकृति ब्रह्म-मय अथवा ब्रह्म रूप हो जाती है।

छायावादी प्रयोग देखिए—

झंझा, झकोर, गर्जन है बिजली है नीरद माला।
पाकर शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला ॥

इस प्र...झंझा, बिजली और नीरदमाला हृदय की भिन्न कालिदा... ...दशायें हैं। समझते थे।...

नारी का आरोप—बीती विभावरी जागरी।
अंबर पनघट डुबा रही—
तारा घट ऊषा नागरी ॥

रहस्यवादी प्रयोग—प्रकृति के माध्यम द्वारा आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन होता है। मानव को इस पथ में कई अवस्थायें आती हैं, वह जिज्ञासु के रूप कह उठता है—

महानील इस परम व्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्कण,
किसका करते हैं सन्धान ॥

× + ×

हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम,
कुछ हो ऐसा होता भान।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत,
यही कर रहा सागर गान ॥

प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत मानव की स्वाभाविक मुद्राओं तथा सौन्दर्य-वर्णन भी आते हैं। मुद्राओं के अंकन के बिना भाव की अभिव्यक्ति कुछ शून्य हो जाती है, क्योंकि उसमें मूर्तता नहीं रहती—राम पिता से विदा होकर आते हैं, नारी को साहस पूछने का नहीं होता, विस्मय विमूढ़ होकर देखते हैं—

झुका कर सर प्रथम, फिर टक लगा कर।
निरखते पार्श्व से थे शून्य आकर ॥

पशु पक्षियों का वर्णन भी एक आवश्यक अंग है, प्रकृति उनके बिना अपूर्ण है और वास्तव में वही उसके सच्चे साथी हैं।

इन खोहनि में दल रीछनि को बसि।
जावन जार मरोर बतावै ॥
गिर गूँज के संग उपङ्ग भरयो,
भयकारी धुनी घनघोर मचावै।
कहूँ कुञ्जर सों रुँदि कुन्दरुकी,
कुचली निज गाँठिन को दरसावै।
तिनसा कहूँ सीतल और कसाय,
घुडे रस-गंध चहूँ छिति छावै ॥

तुलसी के गुरू

श्री फूलचन्द जैन 'विशारद'

हमारे हिंदी साहित्याकाश के चमकते हुए चन्द्रमा श्री तुलसी के गुरू के बारे में मिश्रबन्धुओं ने अपने "हिन्दी नवरत्न" के पृष्ठ ६३ पर लिखा है कि "इनके गुरू नरसिंहदास थे"।

माननीय प० रामनरेशजी त्रिपाठी ने भी अपनी रामचरितमानस की टीका की भूमिका के पृष्ठ ८ और ६७ पर इनके गुरू को नरसिंहदास ही बताया है।

पू० स्व० आचार्य शुक्लजी अपने हिन्दी साहित्य के पृष्ठ १२५ पर लिखते हैं कि रामानन्दजी के शिष्य परम्परानुसार देखें तो भी तुलसीदास के गुरू का नाम नरहर्यानन्द और नरहर्यानन्द के गुरू का नाम अनन्तानन्द अवगत ठहरता है। फिर आप अपने उसी इतिहास के पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं कि बाबा नरहरिदास ने उसे (तुलसीदासजी) अपने पास रख लिया और शिक्षा दीक्षा दी इन्हीं गुरू से गोस्वामीजी राम कथा सुना करते थे। इन्हीं अपने गुरू बाबा नरसिंहदास के साथ गोस्वामीजी काशी में आकर पचगङ्गा घाट पर स्वामी रामानन्दजी के स्थान पर रहने लगे। वहाँ एक परम विद्वान महात्मा शेष सनातनजी रहते थे जिन्होंने तुलसी को वेद वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि में प्रवीण कर दिया।

परन्तु डाक्टर बलदेवप्रसादजी मिश्र एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट् ने अपने दर्शन के पृष्ठ ५ के अन्तिम पैरेग्राफ में लिखा है कि कुछ लोगों का कहना है कि गोस्वामीजी को बचपन में यह शिक्षा स्वयं शङ्कर भगवान ने नरहर्यानन्द द्वारा दिलाई थी। (मूल गोसाईं चरित)

बहुमत यह है कि महात्मा नरसिंहदास ने उन्हें शिक्षा दीक्षा दी थी फिर उसी पुस्तक के पृष्ठ ६ पर लिखा है कि किसी मनुष्य ने ही सूकर चेत्र में गोस्वामीजी को रामकथा बारम्बार सुनाई थी क्योंकि "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकरखेत" में निज शब्द गोस्वामीजी के गुरू को जगद गुरू शङ्कर से पृथक कर रहा है और बहुत सम्भव है कि वह "निज गुरू" स्वामी नरहर्यानन्द, नरहरिदास या नरसिंहजी हो परन्तु हमारी समझ में गोस्वामीजी ने किसी अनित्य मर्त्य के बदले एक नित्य व्यक्ति को ही सच्चा गुरू माना है। "वन्दे बोध में मय नित्य गुरू शङ्कर रूपिणम्, का "नित्य" शब्द यही संकेत कर रहा है, नरहरिदास की अनुपस्थिति में भी गोस्वामीजी गुरुपदरज से अपने विलोचन आँजने की बात लिखते हैं। उन्होंने स्पष्टतया नरहरिदासजी या और किसी नामधारी व्यक्ति को अपना गुरू स्वीकार भी नहीं किया है। रामचरितमानस में केवल एक जगह "बन्दौ गुरु पद कन्ज कृपा सिन्धु नर रूप हरि" लिखा हुआ मिलता है जिससे नरहरिदास का नाम ध्वनित हो रहा है परन्तु इस पंक्ति का "हरि" पाठ भी सन्दिग्ध हो चला आता है क्योंकि एक तो उस स्थान के सब सोरठों के क्रम के अनुसार "निकर" के साथ "हर" का तुक होना चाहिए न कि "हरि" का और दूसरे श्रावण कुन्ज में रखा हुई बालकाण्ड की प्राचीन प्रति में कहा जाता है, 'हर" पाठ ही था जो पीछे से हरताल लगाकर "हरि" के रूप में परिवर्तित किया गया है। (आज कल इस सम्बन्ध का मूल पता गायब हो गया है देखिए माताप्रसादजी का तुलसी सदर्भ)

इन सब बातों से विदित होता है, कि राम-कथा की महिमा के प्रथम प्रचारक के नाते भगवान शङ्कर ही को गोस्वामीजी अपना वास्तविक गुरू मान रहे हैं। यद्यपि उन्होंने अपने बाल्यकाल के उपदेशक को भी उस अनमोल शिक्षा ही के नाते 'नि' का आदर दे दिया है।

से भारत में उच्च शिक्षा की जो विधि चली आती थी, वह विघटित कर दी गयी थी। अँगरेजी शासन के सूत्रधारों ने अपने साम्राज्य के हित के लिए ही इस प्राचीन शिक्षा-विधि को बदलकर उसके स्थान पर अँगरेजी का शिक्षा के प्रचार और प्रसार का व्यापक उद्योग किया था। माध्यमिक से लगाकर उच्च शिक्षा तक सबका माध्यम अँगरेजी भाषा ही बना दी गयी थी, जिसका उद्देश्य हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का उन्मूलन और उसके स्थान पर देश में पाश्चात्य-सभ्यता और संस्कृति की प्रतिष्ठा करना था। अतएव इस समय का शिक्षित समाज अँगरेजी शिक्षा की परम्परा में पलने के कारण धीरे-धीरे अपने साहित्य, सभ्यता और संस्कृति से विमुख होता जा रहा था। इस वर्ग का राष्ट्र की ज्योतिर्मयी परम्परा में दीक्षित करना, वर्तमान की विषम समस्याओं और देश के क्लेशों का उन्हें परिचय एवं अनुभव कराना, तथा भविष्य के नव निर्माण के लिए उन्हें अग्रसर करना भारतेन्दु के सामने साहित्य के द्वारा जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न था। भारतेन्दुजी ने अपनी यात्राओं के साथ अनुभव किया था कि बङ्गाल में नाटक और रङ्ग-मञ्च सफलतापूर्वक यह कार्य सम्पादन कर रहे हैं। अतएव उन्होंने बड़े उत्साह से हिन्दी में नाटक-प्रणयन का श्रीगणेश किया। भारतेन्दुजी ने स्वयम् अपने नाटक नामक निबन्ध में समाज संस्कार और देश-वत्सलता को नाटक रचना के मुख्य उद्देश्यों में गिनाया है, जो भारतोक्त नाट्यादर्श —वेद व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाना—के अनुकूल ही है। समाज संस्कार और देश-वत्सलता का यह सन्देश जनता तक नाटक द्वारा जिस सरलता से पहुँचाया जा सकता है, उतना अन्य किसी साहित्यिक माध्यम द्वारा नहीं। नाटक शिक्षित ही नहीं, अशिक्षित वर्ग को भी प्रभावित कर सकता है। दृश्य-काव्य की इस प्रभुविष्णु का अनुभव भी भारतेन्दुजी ने किया। कालिदास की तरह भारतेन्दुजी भी यह अच्छी तरह से समझते थे कि नाटक ही एक ऐसा साधन है जो विभिन्न रुचि रखने वाले व्यक्तियों का समान रूप से मनोरञ्जन कर सकता है—

'नाट्यं भिन्न रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।'

देश और समाज के हित के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में नव निर्माण की भी समस्या थी। हिन्दी साहित्य इस समय रीति काल की रूढ़ियों में जकड़ा होने के कारण एकांगी और निर्जीव था। उसमें और सब कुछ होते हुए भी नाटक नहीं थे और गद्य फोर्ट-विलियम कालेज में पलकर तथा राजा लक्ष्मणसिंह तथा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की लेखनी का अवलम्ब पाकर भी अभी तक अर्द्ध-विकसित और अनिश्चित दशा में था। नाटक रचना द्वारा भारतेन्दु ने अपनी प्यारी हिन्दी के इन सब अभावों की एक साथ पूर्ति की। नाट्य साहित्य की परम्परा का भी धूमधाम से अबाध प्रवाह बह चला, और 'हिन्दी नयी चाल में ढली।' भूषण के लगभग डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् हिन्दी साहित्य पुनः राष्ट्रीय-चेतना के जीवन-स्पन्दनों से पुलकित और जाग्रत हो उठा। हिन्दी के स्थान पर उर्दू को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का जो षड्यन्त्र चल रहा था भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के नाटकों के प्रचार से वह भी उस समय विफल हो गया।* और भारत की प्रकृत राष्ट्र-भाषा हिन्दी की विजयिनी प्रतिमा का उत्कर्ष पुनः जन जीवन का अन्धकार दूर करने में समर्थ हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की साहित्य-साधना के मूल में राष्ट्र के सर्वोदय की कामना निहित थी। अकेले उनके नाटकों से ही भाषा साहित्य, समाज और राष्ट्र सबका बहुमुखी हित सधा।

भारतेन्दु एक नवीन नाट्यदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहते थे जिसमें प्राचीन और नवीन अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-धर्म का समन्वय हो। उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में लिखा है—'प्राचीन काल

* नाटकों का प्रचार एक कारण तो माना जा सकता है, सम्पूर्ण कारण नहीं। —सं०

के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मण्डली की जिस प्रकार रुचि था, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गये हैं, किन्तु इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि जिस समय में जैसे सहृदय जन्म-ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना कर नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है। नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी, वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्य-कला-कौशल दिखलाने को देश काल और पात्र गण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी चाहिए।' इस अवतरण में सबसे पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि भारतेन्दु केवल नूतनता के लिए नवीन को आग्रह नहीं कर रहे थे, उनकी दृष्टि अपने समय के समाज और उसकी बदलती हुई विलक्षण रुचि पर थी, साथ ही वे अपने नाटकों में 'प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग' करने के पक्ष में भी नहीं थे। वे 'देश-काल और पात्र गण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि' रखते हुए एक मध्यम मार्ग की खोज में थे। भारतीय साहित्य में पहले पहल भारतेन्दु के द्वारा ही भारतीय और योरोपीय नाट्य कलाओं के समन्वय का यह सफल-उद्योग हुआ था। इस समय का बँगला नाटक अपनी प्राचीन नाट्य-परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो गया था और उसमें अंगरेजी का अंधानुकरण चल रहा था।

इस नवीन नाट्यादर्श की स्थापना के लिये भारतेन्दु ने जिस कौशल का प्रयोग किया, वह उनके नाटकों के विषय भेद और स्वरूप पर दृष्टि डालने से प्रकट हो जाता है। उनके नाटक मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के हैं। अनुवाद के लिये नाटक-ग्रन्थों के चुनाव में भी भारतेन्दुजी ने नवीन नाट्यादर्श की स्थापना का अपना लक्ष्य सदैव सम्मुख रखा। जिन संस्कृत नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया है वे संस्कृत नाट्य साहित्य के इतिहास के विभिन्न युगों की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि नवीन नाट्यादर्श की स्थापना के लिए भारतीय प्राचीन शैलियों से सम्यक परिचय कराने की आवश्यकता थी। इसी दृष्टिकोण से भारतेन्दुजी संस्कृत नाटकों के अनुवाद में प्रवृत्त हुए। वे शैलियों को हृदयगम करा के नयी स्थापना के लिए भूमि तैयार कराना चाहते थे। संस्कृत नाटकों के विशाल इतिहास में वे कालिदास से आरम्भ करते। किन्तु संस्कृत के सर्व प्रसिद्ध नाटककार कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह कर ही चुके थे। अब भारतेन्दुजी ने हर्ष की रत्नावली नाटिका का अनुवाद किया क्योंकि उनके मत से शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है .. .. ।' रत्नावली का स्थान संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा है। इसके बाद उन्होंने 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद किया। इसकी शैली रत्नावली और शकुन्तला की तरह कोमल और सुकुमार नहीं अपितु ओज, तेज, और पौरुष से मण्डित है। तत्पश्चात् उन्होंने अपने को वाल्मीकि, भवभूति और भर्तृमेण्ठ का अवतार मानने वाले कविराज राजशेखर की कृति 'कर्पूरमञ्जरी' का हिन्दी अनुवाद किया। कर्पूर मञ्जरी एक सट्टक है, प्राकृत भाषा में लिखी गई नाटिका जिसमें प्रवेशक और विष्कम्भक न हो सट्टक कहलाती है। सट्टकों में कर्पूर मञ्जरी सर्व श्रेष्ठ है। काञ्चनाचार्य कृत धनञ्जय विजय व्यायोग का भी अनुवाद उन्होंने किया। स्त्री पात्र रहित एकांकी रूपक को व्यायोग कहते हैं जिसमें एक ही दिन की कथा में युद्ध का निदर्शन होता है। इसके बाद उन्होंने कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के तीसरे अङ्क का अनुवाद किया जिसका नाम पाखण्ड-विडम्बन रखा।

अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि वह अपने में पूर्ण एक मौलिक एकांकी नाटक प्रतीत होता है। कृष्ण मिश्र का प्रबोध-चन्द्रोदय संस्कृत में प्रतीक नाटकों की परम्परा का प्रवर्तक है। बौद्ध-काल में भी यह प्रतीक नाटकों की परम्परा विद्यमान थी, किन्तु वह कालान्तर में टूट गयी थी जिसे कृष्ण मिश्र ने पुनर्जीवित किया। प्रतीक नाटकों में पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक होते हैं उनमें शान्ति, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि मानवीय वृत्तियों और भावनाओं को पात्रों का रूप दिया जाता है। कृष्ण मिश्र का प्रबोध-चन्द्रोदय प्राचीन हिन्दी कवियों में भी लोकप्रिय हुआ था और उसके अनेक अनुवाद अथवा छायानुवाद भक्ति काल तथा रीति-काल में हुये थे।

संस्कृत से अनुवाद के लिए चुने ग्रन्थों की शैली और रूप में विविधता है। इनके द्वारा जहाँ संस्कृत साहित्य की विभिन्न युगों की प्रतिनिधि रचनाओं को भारतेन्दु हिन्दी को भेंट करना चाहते थे; वहाँ वे दृश्य-काव्य के अनेक भेदोपभेदों का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ भी हिन्दी में लाना चाहते थे। संस्कृत में नाटक दृश्य-काव्य की एक उपजाति मात्र है। दृश्य-काव्य के दो भेद हैं, रूपक और उपरूपक। इनके भी क्रमशः दस और अठारह भेद माने गये हैं। रूपक के दस भेदों में प्रधान और सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग और प्रहसन हैं। और उप-रूपकों में नाटिका और सट्टक ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। मुद्राराक्षस और धनञ्जय विजय के रूप में रूपक के दो प्रमुख भेद नाटक और व्यायोग हिन्दी में आ गये तथा रत्नावली और कर्पूर मञ्जरी के अनुवादों के रूप में उपरूपकों में प्रमुख नाटिका और सट्टक भी। संस्कृत नाटक के प्रधान रस वीर और शृङ्गार हैं, अन्य रस गौण माने गये हैं। मुद्राराक्षस और धनञ्जय विजय सात्वती और आरभटी वृत्ति वाली वीर रस की रचनाएँ हैं, जिनके नायक चाणक्य, चन्द्रगुप्त और अर्जुन धीर शान्त और धीरोदात्त हैं। रत्नावली और कर्पूर मञ्जरी कैशिकी वृत्ति बहुलाश्रृङ्गारमय की कृतियाँ हैं जिनके नायक उदयन और कुमार चन्द्रपाल दोनों धीरललित हैं। धनञ्जय-विजय रूपक का एक अङ्क वाला सबसे छोटा रूप है और मुद्राराक्षस सात अङ्क वाला उसका एक सबसे बड़ा भेद। पाखण्ड विडम्बन का प्रधानरस शान्त है। साथ ही यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि मुद्राराक्षस, धनञ्जय-विजय प्रबोध चन्द्रोदय, रत्नावली आदि के अनुवाद संस्कृत से हुए हैं और कर्पूर-मञ्जरी का प्राकृत से। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत दोनों का नाट्य कला के आदर्श रूप का परिचय हिन्दी जनता को कराया जा सका।

इनके अतिरिक्त विद्यासुन्दर का अनुवाद उन्होंने महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर का इसी नाम की कृति की छाया ग्रहण करके प्रस्तुत किया। विद्यासुन्दर के कथानक का आधार चौर-कवि की रास-रचना चौर पंचाशिका है। यह कथानक बङ्गाल में बहुत लोकप्रिय है और उसके आधार पर कई काव्य ग्रन्थ और नाटक बङ्गाल में लिखे गये हैं। नवीन शैली के नाटक की रचना का श्रीगणेश पहले पहल बङ्गाल में ही हुआ। इसलिये भारतेन्दु ने उस भाषा की कृति का भी एक उदाहरण हिन्दी को भेंट किया। भारतेन्दुजी ने अपने नाटक निबन्ध में स्वयं लिखा है। 'आजकल यूरोप के नाटक की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बङ्गदेश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं, वे सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है, और इसी हेतु एक-एक अङ्क में अनेक अनेक गर्भाङ्कों की कल्पना की जाती है, क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विभिन्न दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है।' विद्या-सुन्दर में तीन अङ्क अनेक गर्भाङ्कों में विभाजित है।

योरोपीय नाटक का अधिक निकट का परिचय कराने के लिये भारतेन्दुजी ने 'दुर्लभ-बन्धु' के नाम से 'मर्चेन्ट आव वेनिस' का अनुवाद प्रारम्भ किया। संघर्ष घटना वैचित्र्य, यथार्थवाद, व्यक्ति-वैचित्र्य-

चित्रण, आदि पाश्चात्य नाट्य कला के प्रधान गुण हैं। 'मर्चेंट ग्राव वेनिस' के अनुवाद द्वारा भारतेन्दु हिन्दी नाटकों में भी इन गुणों के यथोचित समावेश के लिये उपयुक्त वातावरण तयार करना चाहते थे। 'दुर्लभ-बन्धु' में शेक्स पियर के मूलनाटक के कथानक और वातावरण के भारतीय करण की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार वे विदेशी-साहित्य के भावों एवं आदर्शों का आत्मसात् करने का ऐसा मार्ग निकालते हुये दिखायी देते हैं जो उसके अजन बीपन को दूर करदे और भारतीय साहित्यदर्श के अनुकूल हो। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु नवयुग का चेतना के अनुरूप नवीन नाट्य धर्म के अम्युथान के के लिये एक सुनिर्धारित योजना के अनुसार काम कर रहे थे, उनका अनुवाद कार्य इस योजना का प्रधान अङ्ग था।

भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में भी हम उनकी यह योजना व्यवहृत होते देखते हैं। उनके कुछ मौलिक नाटक भारतीय नाट्य शास्त्र का अनुसरण करते हैं और कुछ में पाश्चात्य नाट्यशैली के प्रयोग किये गये सत्य हरिश्चन्द्र नाटक है, चन्द्रावली नाटिका है, विषस्य विष औषधम् भाग है, भारत-दुर्दशा नाट्य-रासिक है और वैदिक हिंसा हिंसा न भवति तथा अंधेर-नगरी प्रहसन। इनमें रूपक के दो नये भेद भाव और प्रहसन तथा उपरूप का एक भेद नाट्य रासिक और आगये हैं, जो अनुवाद ग्रन्थों में नहीं थे। भारत-जननी को भारतेन्दुजी ने ओपेरा और नील देवी तथा सती प्रताप को गीति-रूपक कहा है। ये दोनों ही पाश्चात्य नाटक के भेद हैं। 'ये नवीन नाटक मुख्य दो भागों में बँटे हैं—एक नाटक और दूसरा गीति रूपक, जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून हो नाटक; और जिसमें गीति-विशेष हो वह गीति-रूपक ('भारतेन्दु—'नाटक' निबन्ध)। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने भारतीय दृश्य काव्य और पाश्चात्य नाटक के अनेक रूपों की अवतारणा हिंदी में करके भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-कलाओं के समन्वय का मार्ग उद्घाटित किया। इस समन्वय-कार्य को उन्होंने कितना आगे बढ़ाया और इसमें उन्हें कितनी सफलता मिली, यह दूसरा विषय है।

—पठनीय सामग्री—

१—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक अध्ययन—रामरतन भटनागर २॥)
२—भारतेन्दु की विचारधारा—लक्ष्मीसागर २)
३—भारतेन्दु युग—रामविलास शर्मा २)
४—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ब्रजरत्नदास ४)
५—भारतेन्दु नाटकावली दो भाग ६)
६—आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र २॥)
७—हिन्दी नाट्यविमर्श—गुलाबराय ३)
८—हिन्दी नाट्य चिन्तन—शिखरचन्द्र जैन ४)
९—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—सोमनाथ गुप्त ४)
१०—हिन्दी नाट्य साहित्य—ब्रजरत्नदास २॥)

'गुञ्जन' में पन्तजी के दार्शनिक विचार

श्री रघुवंशनारायणजी

',मैं पल्लव से गुञ्जन में अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ'' —पन्त

'पल्लव' में कवि- ने रूप ढूँढा था, ,गुञ्जन' में वह स्वरूप ढूँढ़ रहा है। 'पल्लव' में कवि ने सुषमा खोजी थी, 'गुञ्जन' में वह लोक-कल्याण का सन्धान कर रहा है। 'पल्लव' में उसके नयन परितृप्त हुए थे, 'गुञ्जन' में वे परिताप माँग रहे हैं। इसी लिए कवि 'पल्लव' की पल्लवित एवं सुषमा- सिक्त भूमि से 'गुञ्जन' के चिन्तन-लोक में उतरा है।

पिता के निधन और अपनी दीर्घ रुग्नता के पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ के प्रति क्रिया-रूप में कवि ने 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता का जन्म दिया, जिसमें कवि सौन्दर्य द्रष्टा न होकर मानव-द्रष्टा हो गया है—सृष्टि के 'निष्ठुर परिवर्त्तन' पर वह कातर हो जाता है। मानव-जग म सुख-दुख, दिवा-निशा, जन्म-मृत्यु आदि का क्रम लगा रहता है।

> आज बचपन का कोमल गात।
> जरा का पीला पात !
> 'चार दिन सुखद चाँदनी रात,
> और फिर अन्धकार अज्ञात !,
>
> [पृष्ठ ७८ 'पल्लव']

और—

> 'खोलता इधर जन्म लोचन'
> मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण ;
>
> [पृष्ठ ७६]

जीवन की इस वास्तविक कठोरता से टकरा कर 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के बीच कवि की किशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न टूट गया। दर्शन और उपनिषद् के अध्ययन ने उसके रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और कवि ने सौन्दर्य-लोक से उतर कर मानव के चिरन्तन भाव जगत में प्रविष्ट किया। स्वदेशी आन्दोलन एवं छायावाद की विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कवि पीड़ित मानव के सुख-दुख को देखने के लिए विकल हो उठा। इस प्रकार 'पल्लव' का व्योम-विहारी गीत-खग गुञ्जन में जीवन के विटप पर उतर आया है। कवि ने जीवन-तरु की डाली-डाली फेरी लगाई है और पाया है कि इस तरु की डाली में 'सुख के तरुण फूल' हैं और कुछ 'दुख के करुण शूल'। मानव-उर-आँचल को जहाँ पराग ने सुवासित किया है, वहाँ काँटों ने उसे झाँझर भी किया है—

> 'देखूँ सब के उर की डाली—
> सब में कुछ सुख के तरुण फूल,
> सब में कुछ दुःख के करुण शूल;
> सुख दुःख न कोई सका भूल ?'
>
> [पृष्ठ सं० १७]

मनुष्य सुख की कामना करता है—निरन्तर सुख-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है। किन्तु उसे दुःख ही मिलता है; पग-पग पर उसे 'कुटिल काँटों' का सामना करना पड़ता है—उसके शरीर लहू लुहान हो जाते हैं। यह कैसी असंगति है। कवि जीवन की इस पहेली पर विचार करता है और पाता है कि हमारे दु खों के मूल में हमारी मृग-तृष्णा है—हमारी अमर्यादित अभिलाषाएँ हैं—हमारी 'अति इच्छा' है। इसीलिए हमारा रुदन है, असन्तोष है।

> 'बह जाता बहने का सुख,
> लहरों का कलरव, नर्तन,
> बढ़ने की अति इच्छा में
> जाता जीवन से जीवन।'
>
> [पृष्ठ सं० १४]

कवि पन्त जब इस वस्तु जगत में आँखें दौड़ाता है तो पाता है कि कई दुःखों के आधिक्य से पीड़ित है तो सुखों के भार से विकल।

'जग पीड़ित है अति दुःख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से,

कवि कहता है कि जिस तरह शहद में मधुप के पर भींग जाते हैं और वह गुञ्जार न कर पाता—वास्तविक आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता, उसी तरह अत्यधिक सुखों में निर्लिप्त रहने वाला मानव सुखों के वास्तविक आनन्द की उपलब्धि नहीं कर सकता। उसका जीवन शिथिल, क्रिया हीन और पंगु हो जाता है। फिर दीर्घ अत्यधिक वेदना से मनुष्य का अन्तर भारी हो जाता है, जिससे उसकी वाणी मूक हो जाती है—स्वर तार-तार हो जाते हैं। हृतन्त्री के तार ढीले पड़ जाते हैं और विपञ्ची निर्वाक् हो जाती है। देखिए—

अपने मधु में लिपटा कर
कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन कम्पन।'

[पृ० सं०-२०]

अत कवि चाहता है कि मानव जगत में दुःख-सुख समान रूप में बँट जाए—न किसी को बहुत अधिक सुख हो, न किसी को बहुत अधिक दुःख हो; कवि चाहता है कि 'सुख-दुख के मधुर-मिलन से' मनुष्य का जीवन पूर्ण हो। कवि के शब्दों में—

मानव जग में बँट जावें,
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

[पृ० सं०-१६]

और—

'सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।'

[पृ० सं०-१६]

यह जीवन के प्रति कवि का सामञ्जस्य वादी दृष्टिकोण है। पंतजी ने कहा भी है—"गुञ्जन में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति सुख-दुःख में समत्व स्थापित कर अन्तर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है।"

कवि कहता है कि सुख-दुःख क्षणिक है। आत्मा ही चिरन्तन है, शाश्वत है। आत्मा सुख दुःख के परे है। आत्मानन्द सुख-दुःख के कठोर प्रहारों से विचलित नहीं होता।

'अस्थिर है जग का सुख-दुःख,
जीवन ही नित्य चिरन्तन !
सुख-दुख के ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन !'

सुख दुःख की दार्शनिक विवेचना के बाद कवि मनुष्य-जीवन के और विविध अङ्गों पर भी अपना मत देता है।

ईश्वर और सर्ववाद (Pantheism)—पन्तजी की ईश्वर के अस्तित्व पर पूरा भरोसा है। वे कहते हैं—

'ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे'

किन्तु पन्तजी का वह ईश्वर अद्वैतवाद का ब्रह्म नहीं, उन्हें ईश्वर के प्रत्यक्ष रूप से प्रेम है। अद्वैवादी ब्रह्म को वे 'मोती वाली मछली' कहते हैं, जिसके पाने के लिए उन्हें सागर के नितल जल में जाना होगा—जीवन की गहराई में उतरना पड़ेगा, यह उनके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है। वह द्वैत इसलिए पसन्द करता है कि द्वैत में ही उसका व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है। वह विश्व-सुन्दरी प्रकृति के रस सौन्दर्य एवं भाव-सौन्दर्य के बीच बैठकर ही ईश्वर का मनोहारिणी रूप देखना चाहता है।

'सुनता हूँ, इस निस्तल-जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली।

आयगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी-भर।'

[पृ० ७१]

कवि प्रत्यक्ष सत्ता—द्वैत तो मानता है, पर द्वैत वादियों की तरह जड़—चेतन में विभिन्नता वह नहीं मानता। उनका कहना है कि समस्त जड़—चेतन में एक ही प्राण की स्पन्दन है, एक ही आत्मा दोनों में बोल रही है—दोनों के प्राणों में किसी परोक्ष सत्ता का प्रतिबिम्ब है। कवि की भावना सर्ववाद (Pan theism) के बहुत निकट है। सर्ववाद में ईश्वर की कल्पना तो नहीं होती, पर समस्त जड़-चेतन में किसी विराट एवं महान सूक्ष्म सत्ता का प्रति फलन मान्य होता है। देखिए:—

'मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर,
यों मौन-मुग्ध किसके बल ?'

आत्मा:—कवि पन्त को आत्मा की सत्ता पर पूर्ण आस्था है। आत्मा जड़—चेतन दोनों में समान-रूप से विद्यमान कवि मानता है।

'आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता।'

[पृ० सं० १४]

आत्मा सुख-दुःख के आघातों से कलुषित नहीं होती। वह 'सुख-दुख के ऊपर मन का अवलम्बन' है।

'सुख-दुःख के ऊपर, मन का,
जीवन ही रे अवलम्बन।'

[पृ० सं० २०]

मुक्ति और बन्धन:—मुक्ति के सम्बन्ध में कवि के विचार अत्यन्त सुन्दर हैं। वह वेदान्तवादियों की मुक्ति नहीं चाहता—वह निराकार परमसत्ता में अपने व्यक्तित्व का लोप करदेना नहीं चाहता। वह ऐसी मुक्ति नहीं चाहता जो सदा के लिए उसे विश्व-माधुरी के पान से विलग करदे। कवि दृष्टि में सृष्टि-सौन्दर्य के बीच रहना सच्ची मुक्ति है। सगुण से मुक्त हो कर परमात्मा में समाहित हो जाना तो अदृश्य बन्धन है।

'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध हीन तू गन्ध युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !'

[पृ० सं० ११]

कवि जगत के बन्धन के बीच रहना पसन्द करता है। जब उसका हृदय विश्व-सौन्दर्य से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तो उसका हृदय विश्व की सङ्कीर्ण कारा से मुक्त होकर अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। कबार की तरह वह भेद के बीच अभेद देखता है—उसके मन के रज और तम-भाव तिरोहित हो जाते हैं—सात्विक भाव का उद्रेक होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—"हृदय की मुक्तावस्था का नाम ही रस-दशा है। रस-दशा में सहृदय का अन्तः करण अपनी संकीर्णताओं से मुक्त होकर सभी दिशाओं में प्रसारित होता है और विश्व-सौन्दर्य से अपना अभेद स्थापित कर लेता है।' कवि पन्त भी इसी अवस्था को—रसदशा को—'सहज मुक्ति का मधुर क्षण' मानता है। मुक्ति का मधुर क्षण जीवन के लिए निसर्ग—सिद्ध है परन्तु वेदान्त के अनुसार जो मुक्ति का सिद्धान्त है—परमात्मा में एकाकार होकर जगत के बन्धन से मुक्त हो जाना—कवि के लिए निसर्ग-सिद्ध नहीं है—वह कठोर साधन का विषय है। उस मुक्ति को कवि कठिन बन्धन ही मानता है। जगत के बीच रह कर—भेद-भाव को भूलकर जो मुक्ति की रसदशा मिलती है, उसमें क्षण-क्षण परिवर्तित सौन्दर्य की रमणीयता है, उसमें कवि का मन नहीं ऊबता।

है सहज मुक्ति का मधु-क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बन्धन !

[पृ० सं० १८]

मनुष्य और प्रकृति:—'पल्लव' प्रकृति-काव्य है, गुञ्जन मानव-काव्य। गुञ्जन में प्रकृति मानव-भावों की रङ्गभूमि है—उसमें चेतना का स्पन्दन है, प्राणों की धड़कन है। प्रकृति और मानव में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का निर्माण एक ही तत्त्व से हुआ—दोनों एक ही प्रकार से सुख-दुःख, आशा-निराशा से प्रभावित हैं। प्रकृति सुशृङ्खलित और सुव्यवस्थित है—उसमें एक स्वरता है, एक सङ्गीत है; मानव में अव्यवस्था है, उसमें एक सङ्गीत का अभाव है। प्रकृति दुःख के क्षणों में भी मुस्कान की ही कली बिखेरती है—पर मानव दुर्दिन में कातर हो जाता है, उसके अन्तस्तल में वेदना का ज्वार उठ जाता है। मानव और प्रकृति में यही अन्तर कवि दिखलाता है—

> 'कुसुमों के जीवन का पाल
> हँसता ही जग में देखा,
> इन म्लान, मलिन अधरों पर
> स्थिर रही न स्मिति की रेखा।'
>
> [पृ० सं० २१]

नारी, प्रेम और सौन्दर्य—नारी के प्रति कवि का दृष्टिकोण आधुनिक है। मानव-जीवन-रथ के पुरुष और नारी दो पहिए हैं—प्रसाद के ये विचार कवि को पूर्णतः मान्य हैं। कवि जीवन की प्रगति के लिये नारी और पुरुष दोनों में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध मानता है। नारी पुरुष की पूरक है—

> 'निखिल खग नारी नर संसार
> मिलेगा नव सुख से नव बार,
> अधर उर से उर अधर समान
> पुलक से पुलक, प्राण से प्राण।'

गुञ्जन का कवि नारी-मूर्ति में समस्त विश्व की कोमलता, कमनीयता, माधुर्य और सौन्दर्य का समन्वय पाता है। कवि नारी का सौन्दर्य प्रकृति के सौन्दर्य से बढ़कर पाता है।

> 'तुम्हारी मञ्जुल मूर्ति निहार
> लग गई मधु के वन में ज्वाल,
> खड़े किंशुक, अनार कचनार
> लालसा की लौ से उठ लाल।'
> 'कपोलों की मदिरा पी प्राण!
> आज पाटल गुलाब के जाल,
> विनत शुक-नासा का कर ध्यान,
> बन गये पुष्प पलाश अराल।
>
> [पृष्ठ सं०—५६]

प्रकृति के रूपों की जब मूर्तिमत्ता होती है तो नारी मूर्ति का सृजन करती है।

> 'दिन की आभा दुलहिन बन
> आई निशि—निभृत शयन पर,
> वह छवि की छुई-मुई-सी
> मृदु-मधुर लाज से मर-मर।'
>
> [पृष्ठ संख्या ८६]

नारी प्रणय का शाश्वत नीड़ है। किन्तु नारी का *प्रेम ऐन्द्रिक नहीं, वरन् उसका सम्बन्ध उसके अन्तर* की आत्मा से है—वह आध्यात्मिक प्रेम है। नारी सदा 'आत्म-निर्मलता में' निरत रहती है—

> 'आत्म-निर्मलता में तल्लीन
> चारु-चित्रा-सी, आभासीन;
>
> पृ० सं० ६४]

कवि ने जहाँ-जहाँ सौन्दर्य का चित्रण किया है, वहाँ नारी के रूप का नहीं, प्रभाव का प्रेषण किया है। नारी का सौन्दर्य अनान्द्रीय और भावात्मक है। उस सौन्दर्य में उसका उन्मादकारी एवं मायमय व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है—

> तारिका-सी तुम दिव्याकार,
> चन्द्रिका की झंकार!
> प्रेम पंखों में उड़, अनिवार
> अप्सरी-सी अज्ञात
> स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार,
> प्रणय-हंसिनि सुकुमा
> हृदय-सर में करने अभिसार,
> रजत-रति, स्वर्ण-विहा
>
> [पृ० सं० —

कृष्णायन

श्रीमती नीलिमा भागवत

हिन्दी साहित्य जगत् में महाकाव्यों की रचना कम ही हुई है। तुलसी जायसी आदि प्रथम उन्नायकों को छोड़ दिया जावे तो महाकाव्य मिलना ही कठिन है। हिन्दी का साहित्य काल ही संकोच की ओर बढ़ता अपने युग के कुछ अस्फुट भाव अस्फुट से ही गीतों दोहरों और छन्दों में भरता आगे बढ़ा है। अर्वाचीन साकेत, प्रियप्रवास आदि भी बड़े प्रबन्ध काव्य ही हो सके हैं। महाकाव्य की सीमा को छू सकने वाला ग्रन्थ हमें बहुत काल पश्चात ही मिला। कृष्णायन आज का महाकाव्य है इसमें प्राकृत, संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि साहित्यों की सारी परम्परा अपने नव रूप में आई है। युग की भावनाओं का, ऐतिहासिक गरिमा का और पौराणिक महत्ता का एक साथ ऐसा समन्वय कदाचित् कहीं न मिलेगा। 'कल' को आज के रूप में और 'आज' को कल की परछाँई में दिखाने में मिश्रजी की प्रतिभा पराकाष्ठा को पहुँच गई है। आज के साहित्य का केवल यही ऐसा ग्रन्थ है जो कि 'कृष्णयश' सुनने वाले 'लाख-करोरी' के पास पहुँच सकता है। 'बहुजन हिताय' सिद्धान्तों को 'रामायण प्रिय' उत्तरापथ की जनता के पास पहुँचाने को कृष्णायन ऐसा ही ग्रन्थ चाहिए। जिस जनता को तुलसी अपनी सरलता और विदग्धता से युग युग तक प्रभावित कर चुके हैं उसे मिश्रजी भी कर सकेंगे ऐसी आशा है।

तुलसी की रामायण से प्रभावित उसी की आकृति में आ, कृष्णायन हमें संस्कृत के अनगनित कुसुमों का अवचय देता है। कालिदास माघ भारवि और सूरदास आदि से कवि ने बहुत कुछ लिया है। ये कवि अपने काव्योत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा चुके थे और उसके आगे जाना शायद कवि को आगे जाना असम्भव होता पर इतने कवियों के काव्य कुसुम एक साथ आपने नव रूप में कृष्णायन में ही मिलेंगे। कवि पर भारवि का काफी असर है। पूजा वायद या द्रौपदी कृष्ण भीम और युधिष्ठिर का सम्वाद भारवि के किरातार्जुनीय के प्रथम और द्वितीय सर्ग से मिलता है। दोनों में एक ही से भाव और प्रबन्ध है। सिर्फ प्रयोग दूसरे हैं।

कवि कहता है—

> बारिद बसत दूरि, नभ माँही।
> भृगपति पहुँच तहाँ लगि नाहीं॥
> तदहूँ सुनत धन गर्जत घोरा।
> करत फदास गरजि तेहि ओरा॥
> तेजस्विन उर सहत अमर्षा।
> सहत न कबहूँ शत्रु उत्कर्षा॥

भारवि कहते हैं—

> किमपेक्ष्य फलं पयोधरान्ध्वनतः
> प्रार्थयते मृगाधिपः ।
> प्रकृतिः खलु सा महीयसः
> सहते नान्य समुन्नतिं यया ॥

भाव एक ही है केवल भाषा का अन्तर है। दूसरा उदाहरण उसी प्रसंग से—

कवि कहता है—

> सुधा शीत शय्या निशि सोभी।
> मंगल गीतन जागत जोई ॥
> कुश शय्या कोइ कोय भुवाला।
> उठत अशुभ सुनि शब्द शृगाला॥

भारवि कहते हैं—

> पुराधि रूढ़ः शयनं महाधनं ।
> विबोध्यसे यः स्तुति गीत मङ्गलैः॥
> अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं ।
> जहासि निद्राम शिवैः शिवारुतैः॥

इस तरह कवि पर संस्कृत साहित्य का बहुत प्रभाव है जो कवि के संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन बताता है।

जहाँ कवि किसी का आसरा न ले स्वतः आगे बढ़ा है वहाँ उसकी प्रतिभा और भी निखर उठी है। वहाँ उसका सच्चा रूप हमें मिल जाता है उदाहरणार्थ कृष्ण बलराम के मृगया वर्णन में एक दोहा देखिये—

अकस्मात् तुरगहु भड़े,
खुरन खूँद पुफुकात
देखेउ वनचर राम कोउ,
आवत तुरग सघात।

मिश्रजी के काव्य उत्कर्ष उनकी प्रबन्ध पटुता में है। उसमें प्रबन्ध काव्य के सब गुण एक साथ प्रदीप्त हुए हैं। बहुसंख्य घटनाओं का चुनाव, उनका यथा स्थान विभाजन, वर्णन में तीव्रता, सजीव और वेग आदि कमाल मिलता है। घटनायें चित्रपट के विभिन्न चित्रों की तरह हमारे सामने आती और चली जाती हैं। किसी घटना में ऊहा पोह या अनावश्यक वर्णन नहीं मिलता। घटनायें केवल बालकृष्ण के चरित्र को 'योगीश्वर' कृष्ण का रूप देने ही सामने आती और चली जाती हैं। मुख्य चरित्र का उत्कर्ष ही कवि का ध्येय है। अर्जुन भीम युधिष्ठिर और बलराम भी कृष्ण की छाया में आते जाते हैं। कोई भी कृष्ण को नहीं ढँक पाया। महाभारत में हमें योगीश्वर कृष्ण का रूप अवश्य मिलता है पर प्रत्येक पर्व में कोई विशेष नायक या उपनायक हमें प्रभावित करता रहता है। श्रीमद्भागवत में गोपीवल्लभ कृष्ण कृष्ण के जीवन का एकांगी चित्रण है। कृष्णायन के कृष्ण आद्यन्त हमारी भावनाओं को साथ लेकर कार्य करते हैं। हमारा ध्यान कृष्ण की ओर ही रहता है।

कृष्णायन में हमें महाभारत युग की समस्त भावनायें मिल जाती हैं। धर्म की जय के प्रणेता कृष्ण का स्वरूप मुख्यतः सामने आता है। पांडवों की कृष्ण चरित्र से गौण होते हुए भी उपेक्षित नहीं। पूजा काँड के बाद तो 'राजपुर' की समस्त राजनीति कृष्ण ही परिचालित करते हैं।

वीररस का ऐसा उन्नत काव्य हिन्दी में आज तक नहीं लिखा गया। भूषण का अन्य प्रबंध काव्य नहीं अलङ्कार ग्रन्थ है। वहाँ वह समन्वित प्रभाव नहीं पड़ता जो कृष्णायन में पड़ता है। चन्द के काव्य में प्रक्षिप्त अंश कितना है इसका अभी तक निर्णय नहीं। आज का युग शृङ्गार का ही रहा है। छायावादी कवि अपनी कोमल कल्पना अंगुलियाँ काव्य वीणा पर धीरे-धीरे चला रहे थे। फिर शृङ्गार की झङ्कार क्यों न निकलती। पर मिश्र जी का उद्दाम कवि सजग चेतना का बोधक क्यों न बनता। राष्ट्र-प्रेमी देश भक्तों के कंधे से कन्धा मिलाकर चलने वाले कवि को देश की दशा और उसके उद्धार के सिवा क्या रुचता। और फिर 'वहिरंग' शृङ्गार या अन्य रसों की रचना के लिये योग्य स्थान भी तो नहीं। चरित्र नायक भी एक युग पुरुष है ऐसी परिस्थिति में वीररस में रही वाणी क्यों न निकलती। शृङ्गार के समस्त वर्णन भी वीरभावनाओं की छाया में ही है। बिना विग्रह के शायद ही कोई प्रणय हुआ है।

वीररस की उद्भावना काव्य में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जयकांड में तो वह पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। महाभारत का युद्ध जिस भावना के साथ हुआ है उसके वर्णन में तो कवि ने मानों आज के ही युद्ध का वर्णन किया है। वीररस की इतनी सुन्दर अभिव्यञ्जना, शब्दों की ओज शक्ति का इतना विकास, चौपाई और दोहा सरीखे छन्द में इतनी ओजस्विनी शक्ति शायद ही कोई भर सका हो। यहाँ हमें महाभारत के युद्ध वर्णन की ही छटा मिल जाती है। बहुत सी उपमायें और रूपक महाभारत से जाने या अन जाने ही आ गये हैं। पर जो कुछ वर्जित है वह हिन्दी साहित्य के लिए एकदम नवीन है।

शृङ्गार वर्णन में कहीं-कहीं महाकवि कालिदास की झलक मिल जाती है। शृङ्गार मिश्रजी अपना

नहीं हैं अन्य रस वीर के ही सहायक होकर आते हैं।

कृष्णायन घटना प्रधान महाकाव्य है। इसमें चरित्र की विविधता नहीं आने पाई। कृष्ण के चरित्र के द्वारा और कोई भी चरित्र पूर्णतः चित्रित नहीं है। यहाँ तक कि कृष्ण की नायिकाओं के चरित्र तक अधूरे हैं। कृष्ण के चरित्र के सम्बन्धित किसी पात्र का चरित्र में आने वाली घटनाओं के कारण यदि कुछ विकास हो गया है वह केवल आनुषंगिक रूप में किसी चरित्र को विशेष रूप से निखारने का प्रयत्न नहीं। अर्जुन धर्मराज तथा भीष्म के चरित्र ही कुछ अधिक विकसित है। जरासन्ध दुर्योधन कंस आदि का दानवी रूप ही अंशतः हमारे सामने आता है।

कृष्णायन की भाषा अवधी है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है। तुलसीदास के समान कोमल-कान्त पदावली का सम्मिश्रण नहीं। वीर काव्य के उपयुक्त कठोर वर्णयुक्त पदावली का कवि ने संग्रह किया है¹ यथा—

हतेउ सुतीक्षण विशिख वक्षःस्थल
गिरेऊ सुदर्शिन विद्ध धरणि तल,
भ्रष्ट किरीट नष्ट तनु त्राणा
शीर्ण आभरण भए निष्प्राणा !

मिश्रजी के काव्यों में अनेक अलङ्कारों की भरमार है। उपमा रूपक विरोध आदि सभी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। जयकाँड के युद्ध वर्णन में तो अलङ्कारों की लड़ियाँ ही हैं।

हरि अर्जुन रथ अजिर विराजे,
संध्या सङ्ग रवि शशि जनु राजे।

उपमा—

मनोहरण भीषण उजियारा,
जनुनिशि दाव दीप्त वनसारा॥

इसमें विरोध उपमा आदि का संकर है। हर शब्द में अर्थ गौरव है।

बड़े-बड़े रूपक मिश्रजी ने अधिक नहीं बाँधे पर वे सर्वथा अनुपस्थित नहीं।

रचहु अवहिं रण यज्ञ महाना,
यज्ञाचार्य आपु भगवाना।
धर्मात्मज दीक्षित सुखकारी,
व्रतधारिणि पाञ्चाल कुमारी॥
ऋत्विय पाण्डव, नृप अतिथि,
रण महि यज्ञ स्थान्।
बलिपशु कौरव दल निखिल,
फल जय कीर्ति महान्॥

मिश्रजी के काव्य के या सबके मुख्य गुण हैं उनका अर्थ गौरव। थोड़े में बहुत कह डालना उनकी प्रतिभा का एक खास अङ्ग है। किसी भी वर्णन में केवल उतने ही शब्द रखे गये हैं जितने पर्याप्त हों। इनके काव्य में एक वेग आ गया गया है। और इसी गुण के कारण कवि तीन-तीन वृहद ग्रन्थों का कथाकार एक ही ग्रन्थ में उपस्थित कर सके हैं। उदाहरणार्थ—

कुमुद देह पूर्णेन्दु मुख,
कर पद जपा विलास
वेणि श्रेणि अलि, मधु अधर,
शरद चन्द्रिका हास।

कवि प्रकृति में कहीं भी अधिक नहीं रम पाया है कृष्णायन के प्रकृति वर्णन महाकाव्य के एक अङ्ग की पूर्ति के लिये हैं। कवि ने जिस कौशल के नगरों का वर्णन किया उसके प्रकृति का नहीं। द्वारका, हस्तिनापुर तथा इन्द्र प्रस्थ के महल और उद्यान सब बहुत अच्छी तरह चित्रित हैं। द्वारका के वर्णन की भी सफलता अन्यत्र नहीं है। वैसे रेवा तीर निवासी होने के कारण कवि का यह भी लिखना पड़ा है।

सुरसरि जल मज्जन किये,
विनसत कोटन पाप
रेवा सुमिरन मात्रते,
नष्ट कलुष त्रयताप

यह वैसे ही है जैसे मानस में काशी की प्रशंसा।

¹ कृष्णायन की अन्य किन्हीं विशेषताओं को देखते

हुए भी कृष्णायन भक्ति काव्य नहीं जान पड़ता तुलसी के साहित्य में सूर के पदों में जो भक्ति की स्रोतस्विनी धारा है वह हमें कृष्णायन में नहीं मिलती वह सरस्वती नदी के समान शायद समय के प्रावह से लोप हो गई है। कृष्ण को भक्तों के समान स्वामी, सखा, पति, या प्रियतमा के रूप में नहीं देखा गया केवल इष्ट देव के रूप में ही देखा गया है। कवि के नेत्र सूरदास के समान 'निशदिन' कृष्ण प्रेम की धारा में नहीं 'बरष' पाये। कृष्णायन धार्मिक ग्रन्थ के रूप में नहीं केवल अपने साहित्यिक रूप में ही देखा जाना चाहिये। आज के युग में भक्ति काव्य या धर्म ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं थी। कृष्णायन आँखता नहीं भक्ति गिराता है।

कृष्णायन के कृष्ण मानव नहीं हैं। वे ईश्वर के अवतार हैं और पृथ्वी का भार उतारने को पृथ्वी पर आये हैं। उनका उद्देश धर्मराज्य स्थापित करना है। 'प्रिय प्रवास' के कृष्ण नररत्न हैं और कृष्णायन के ईश्वर। यह अवतार वाद एक पीछे की ओर ले जाने वाला कदम है। इस युग में ईश्वर को मानव भावनाओं से छूकर काम निकालते हैं पर कृष्णायन के ईश्वर कृष्ण का रूप मानव कृष्ण से कहीं अच्छा है। जिसे हम समझ नहीं सकते उसे युग भावनाओं पर ही छोड़ दिया गया है। कृष्ण के चरित्र के कई अंश इसी तरह बिना किसी मनोवैज्ञानिक कारण के वर्णित हैं। पर सच तो यह है कि यदि हमें मानव आदर्श चाहिये तो हम निर्माण कर सकते हैं उसके लिये हमें युग के अवतारी पुरुषों को घसीटने की जरूरत नहीं।

आज तक सम्भव है कि दूसरे किसी ग्रन्थ का इतना प्रचार नहीं हुआ। यह प्रचार प्रोपेगन्डा के रूप में ही अधिक है। वैसे सभी साहित्य विश इसे अपने हृदय का हार बना चुके हैं पर इससे प्रचार अधिक नहीं होता। ग्रन्थ का मूल्य ही उसे सर्वसाधारण जनता के पास तक पहुँचने नहीं देता। रेडियो पर कृष्णायन पाठ विश्वविद्यालय में कृष्णायन के द्वारकाकांड का पाठ्य पुस्तक होना ग्रन्थ के बहुश्रुत होने के साक्षी हैं।

कृष्णायन का एक अपना सन्देश है वह कृष्ण के मुख से बार बार वर्जित है। अन्तिम कांड में मैत्रेय को उपदेश तो मानों कवि का अपना सन्देश—आत्म-दर्शन है—*युग की भावनाओं को घटना प्रवाह में* जहाँ कहीं स्थान मिला है अवश्य आ गई हैं। कृष्ण का मथुरा में स्वागत, धर्मराज का हस्तिनापुर में स्वागत, आजकल के एक बड़े नेता के स्वागत के समान हैं। कवि का देश प्रेम उसके देश वर्णन के शब्द शब्द में झलकता है। कृष्ण का आर्यसाम्राज्य के लिये प्रयत्न धर्म का भीष्म द्वारा कथित इतिहास और धर्म की नूतन व्याख्या आदि भाषा की विचार-धारायें हैं। देश में एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना जिसमें शासक धर्म के आधीन हो, जनता साष्टाश दे यही सम्भव कवि का आदर्श है। आज देश देश में विप्लव का वही रूप है जो महाभारत काल में था। आज की समस्यायें भी महाभारत काल के समान हैं। उन गुत्थी को कृष्ण ने सुलझाया था। आज हमें फिर कृष्ण की आवश्यकता है आज का मार्ग सीधा और सरल नहीं। आज नातिचार मार्ग नहीं बना सकता। रण में युद्ध और पलायन भी, दूसरों का संहार और अपने कुटुम्ब का भी।

भाषा-विज्ञान

हिन्दी निरुक्त—ले०—किशोरीदास वाजपेयी, प्र०—जनवाणी प्रकाशन—१६११ हरिसनरोड, कलकत्ता ७। पृ० सं० १२४, मूल्य २।) सजिल्द।

निरुक्त या निर्वचन शास्त्र भाषा-विज्ञान का मूल है। 'देश, काल तथा अन्य ऐसे ही कारणों से शब्द में जो परिवर्तन होता है, अर्थ में जो विकास होता है, उसी के विचार को 'निरुक्त' कहते हैं।' महर्षि यास्क का प्रसिद्ध निरुक्त बहुत पुराना है। हमारी बुरी आदत पुराने लोगों की प्रशंसा कर सन्तोष करने की थी जिसके कारण हमारा वर्तमान बिगड़ा है और हम दीन बने। भाषा-सम्बन्धी मौलिक खोज की हम लोगों में अभी बहुत कमी है। निरुक्त शास्त्र पर यह छोटी-सी पुस्तक लिखकर वाजपेयी जी ने हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। हिन्दी के बहुत से शब्दों के इतिहास का हमें जरा भी ज्ञान नहीं। वर्णागम, वर्णव्यत्यय, वर्णविकार, वर्णनाश—शब्द-परिवर्तन के इन चारों प्रकारों का विद्वान लेखक ने सटीक, सोदाहरण विश्लेषण किया है और यत्रतत्र तथाकथित डाक्टर-विद्वानों की अच्छी खबर भी ली है। वाजपेयीजी में अक्खड़पन है पर उसका आधार पाण्डित्य है इसलिए अखरता नहीं। लेखक की शैली रुचिकर एवं साहित्यिक है। 'बाबू' का बहुवचन, 'बाबुवों' नहीं 'बाबुओं' होना चाहिए—इसका कारण उन्हीं के शब्दों में सुनिए 'जिसकी कोई आवाज नहीं वह जी नहीं सकता, किंवा जीता हुआ भी कुछ नहीं' 'बाबुवों' की 'वों' ध्वनि सुनता कौन है—इसलिए 'वों' को 'ओं' बनना पड़ा। इस पुस्तक से अनेक शब्दों के मूल का सही ज्ञान होगा। बहुतों को अन्दाज नहीं होगा कि अपनी बिटिया को हम 'मुन्नी' क्यों कहते हैं—यह वर्ण-विकार की कृपा है 'मुण्डी' से 'मुन्नी; स्त्रियाँ प्रायः सभी देशों में सिर पर सुन्दर केश रखती हैं। परन्तु छोटे बच्चों के केश कुछ दिन तक कटाते रहते हैं और प्रायः सात-आठ वर्ष की अवस्था से लड़कियों के केश रखने की चाल है। तो छोटी बच्चियों को खिलाते समय प्यार में लोग 'मुन्नी-मुन्नी' कहने लगे।''''जिसके सिर पर केश न हों, जो सिख न हो, उसे (सिख लोग) 'मुन्ना' कहते हैं।' 'शुद्ध' से 'सुध' आदि हिन्दी शब्दसागर की भ्रामक व्युत्पत्तियों की ओर लेखक ने ध्यान आकर्षित किया है—इसी तरह 'पकाना' को प्रेरणार्थक क्रिया मानने वाले वैयाकरणों की भूल बताई है। 'मिश्र' और 'स्तीफा' की जगह 'अमिश्र' और 'इस्तीफा' होना चाहिए—'इस्तीफा' फारसी 'इस्तीफ' का तद्भव रूप जो है। 'इस तरह के 'मिश्र' लोग यदि भाषा-'संस्कार का काम छोड़ कर, अपना 'स्तीफा' दाखिल करके, कुछ और काम करें, तो अधिक अच्छा हो।' पृ० ६९ हिन्दी की 'ने' विभक्ति का विकास संस्कृत 'बालकेन' आदि में स्थित 'एन' अंश को लेकर वर्ण—व्यत्यय से सिद्ध बताया गया है। हिन्दी की विकास-प्रवृत्ति समझाने के लिए पर्याप्त रोचक उदाहरण इस पुस्तक में मिलेंगे—दक्षिण में पाठक 'फाटक' बन गया। 'हिन्दी में शब्द-विकास का कारण संक्षेप, सौकर्य तथा सौष्ठव की ओर प्रवृत्ति ही है, उच्चारण-अशक्ति नहीं' (पृ० ११६) इससे हम पूर्ण सहमत नहीं क्योंकि 'जनता' को संयुक्ताक्षरों के उच्चारण में अवश्य दिक्कत पड़ती ही होगी। काफी

विश्वविद्यालय के नौकर चाकर आर्ट्स कालेज को अब भी आर्ट कालेज कहते हैं। 'शास्त्र' से 'छाक्टा' बना—इसमें क्या उच्चारण-अशक्ति नहीं रही होगी! घृणा प्रदर्शित करने के लिए भी चाहे 'नक्टा' के अनुकरण पर 'छाक्टा' का 'टा' आया हो। भाषा के बड़े गोचक रहस्य हैं—उनको खोलने वाला कोई पारखी चाहिए। यह पुस्तक निरुक्त पर 'प्रबन्ध' नहीं, 'निबन्ध'-मात्र है। इससे भाषाविदों को 'प्रबन्ध' लिखने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। विषय की पूर्णता तभी सम्भव है क्योंकि यह तो स्वयं लेखक के शब्दों में ही 'निरुक्त की पहली पुस्तक है। इसमें व्यापक रूप से नियम और अपवाद सब कैसे दिये जा सकते हैं! दिशा-निर्देश मात्र है।' (पृ० ८५) हमें विश्वास है स्वयं वाजपेयीजी भी अपने काम को आगे बढ़ाएँगे। इस पुस्तक में दी गई कुछ व्युत्पत्तियों से (जैसे भैंस के बच्चे के लिए 'पड़ा' शब्द की) पाठकों का मत-वैभिन्य भी हो सकता है पर पुस्तक ज्ञानवर्धक तथा सर्वसंग्रहणीय है तथा लेखक बधाई के पात्र हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण—लेखक—श्री किशोरीदास वाजपेयी। प्रका०—जनवाणी प्रकाशन, १६१।१ हरीसन रोड कलकत्ता-७। पृष्ठ संख्या १६८, मूल्य ४)

यह व्याकरण विशेषतः अहिन्दीभाषियों के लिये लिखी गई है पर व्याकरण के मौलिक तथा आधारभूत सिद्धान्तों का अन्तर्भाव होने के कारण हिन्दी भाषी विद्वानों को भी इससे लाभ अवश्य पहुँचेगा। हिन्दी भाषा की सरलता और सुगमता असंदिग्ध है। नई भाषा सीखने में थोड़ा श्रम तो उठाना ही पड़ता है पर हिन्दी सीखने के लिए सबसे कम मेहनत की जरूरत है। लिङ्ग आदि की कठिनाइयाँ वास्तविक से अधिक कल्पित हैं—संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम। फिर आखिर राष्ट्रभाषा बनने का मतलब हि[illegible] —नाश तो नहीं हो सकता—जरा हेर फेर में तो कुछ बुराई नहीं है। "हम व्याकरण से हिन्दी को हम सरल नहीं बना रहे हैं; प्रत्युत उसके स्वतःसिद्ध सरल रूप को स्पष्ट कर रहे हैं।" (पृ० ८) जैसे 'ने' विभक्ति का नियम बताया कि 'केवल भूतकाल के कर्मवाच्य या भाववाच्य प्रयोग होने पर कर्ता कारक में 'ने' विभक्ति लगती है।' (पृ० २५) अथवा विभक्तियाँ सटाकर लिखने की अपेक्षा हटाकर लिखने में अधिक सुविधा है।' यह व्याकरण ही नहीं, अनेक स्थानों पर व्याकरण का व्याकरण बन गया है। निरुक्त का भी इसमें समावेश है तथा लोगों की भूल बताने का आग्रह भी है ('उस एम० ए० को या साहित्यरत्न को लेकर हम क्या करें जिसे यह भी नहीं मालूम कि शुद्ध शब्द 'छः' है या 'छह') सब+ही=सभी आदि हिन्दी की संधियाँ तो दी पर यद्यपि, तथापि, मनोहर आदि संस्कृत संधियों को लेखक भूल ही गये। समास की चर्चा तक नहीं है। राष्ट्र भाषा में संस्कृत संधि और समास का सर्वथा बहिष्कार तो नहीं हो सकता। इससे प्रथमा, मैट्रिक आदि परीक्षाओं के लिए यह पूर्णोपयोगी नहीं रहा। 'हिन्दी व्याकरण बहुत सरल है, पर व्याकरणों ने उसे न जाने क्या बना दिया है।' (पृ० १४३) पर स्वयं वाजपेयीजी भी सरल भाषा का सरल व्याकरण तो नहीं दे सके। अधिकांश व्याकरण अंग्रेजी या संस्कृत व्याकरणों पर आधारित है इसलिए सर्वत्र सही भी नहीं पर 'हिन्दी के आधार पर हिन्दी का यह व्याकरण' जान अनजान में कुछ क्लिष्ट हो ही गया है। श्री अमरनाथ झा से पुस्तक की भूमिका तो वाजपेयीजी ने अंग्रेजी में लिखवाई पर उससे भी अधिक आवश्यक है (Simplified Grammer of Hindi) अंग्रेजी में लिखवाने की। यह व्याकरण साहित्यिक भी है—व्याकरण की कई गुत्थियाँ भी इससे सुलझेंगी। पर पुस्तक का मूल्य जरूर कुछ अधिक लगता है।

—नागरमल सहल, एम० ए०

नाटक

रोगी का स्वर्ग—ले०—श्री लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रेमी', प्र०—विद्यामन्दिर, लखनऊ। पृष्ठ संख्या ५५, मूल्य एक रुपया।

रोगी का स्वर्ग, जाति के सेवक तथा रोगी के मित्र इन तीन एकांकी नाटकों का यह संकलन है। पहले नाटक में अस्पतालों के कुप्रबन्ध की आलोचना है—रोगी चाहे मरें डॉक्टर की बला से। दूसरे नाटक में जाति-सेवकों का स्वांग दिखाया गया है। बिना सेवा भाव के केवल स्वार्थबुद्धि से प्रेरित हो लोग जाति-सेवक समाज-सेवक बनने का दम्भ करते हैं—इसी से किसी का कल्याण नहीं होता। तीसरे एकांकी में दिखाया गया है कि रोगी के वास्तव में कोई मित्र नहीं होते—गरीब की बात उसकी स्त्री भी नहीं पूछती। मौखिक सहानुभूति दिखाने के अलावा कोई कुछ करता धरता नहीं। तीनों नाटक सोद्देश्य हैं। समाज-सुधार की भावना से प्रेरित हो लेखक ने आदर्श की ओर संकेत करने का प्रयत्न किया है। सम्पूर्ण पुस्तक भुक्तभोगी की करुण कथा सी मालूम होती है (पर डॉ० बी० के रोगी शुक्लजी को अन्य रोगियों के साथ एक ही अस्पताल में रखने से यथार्थ को व्याघात पहुँचा है।) नैतिकता और उपयोगिता पर लेखक का जोर है—इससे भी कलात्मकता का ह्रास हुआ है। नाटक साधारण कोटि के हैं। एकांकी का रूप है पर संवेदन की नाटकीय तीव्रता नहीं। —प्रो० नागर

कविता

कामायिनी (संस्कृत)—प्रथमखण्ड, सर्ग—१, २, ३ मूल हिन्दी लेखक—महाकवि जयशङ्कर प्रसाद, अनुवादक—पं० भगवद्दत्त 'राकेश' साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न। प्रकाशक—गोयनका हाउस, १४५, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता। मूल्य—।॥)

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी की सुप्रसिद्ध काव्य रचना कामायिनी के प्रथम एक तीन सर्गों का संस्कृत अनुवाद है। हमारी जानकारी में सम्भवतः यह सर्वप्रथम रचना है जिसका हिन्दी से संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली में अनुवाद किया गया है। अनुवाद के सम्बन्ध में लेखक ने लिखा है :—

"मैंने यथासाध्य एक पद्य का एक ही पद्य में अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। परन्तु कई छन्द ऐसे हैं जिनका भावार्थ बहुत व्यापक है और प्रसादजी ने अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण उस लम्बे चौड़े अर्थ को एक ही पद्य में सीमित कर दिया है। ऐसे छन्दों का मैंने दो-दो अथवा तीन-तीन छन्दों में अनुवाद किया है। जगह जगह मैंने अपनी स्वतन्त्र कल्पना करने की भी अनधिकार चेष्टा की है।"

रचना शैली सरल तथा प्रसाद गुण पूर्ण है। अनुवाद के कुछ उदाहरण देखिए:—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय-प्रवाह॥

हिमालयस्योन्नतमस्तकस्य
छायां समाश्रित्य शिलास्थलीनाम्
एको मनुष्योऽश्रुविपिक्त नेत्रः।
सम्पश्यति स्म प्रलय प्रवाहम्॥

× × ×

उस एकान्त नियति-शासन में,
चले विवश धीरे-धीरे।
एक शान्त स्पन्दन लहरों का,
होता ज्यों सागर-तीरे॥

समुद्र तीरे पवमान चोदिता—
चलन्ति यद्वच्चपला महोर्मयः।
तथा स्वयं भाग्य विधानशासित—
स्तदिच्छया कार्यमसायनंमनु॥

इस प्रकार कामायिनी का प्रस्तुत अनुवाद सुन्दर

बन पड़ा है और इसके लिए अनुवादक महोदय धन्य-वादाई हैं, परन्तु यह अच्छा होगा कि वह अपनी प्रतिभा का उपयोग मौलिक साहित्य की सर्जना में करें।

—रामकुमार, साहित्याचार्य

उपन्यास

मुक्तिपथ—लेखक-इलाचन्द्र जोशी, प्र०—हिन्दी-भवन जालंधर और इलाहाबाद। पृ० ४३१, मू० ६॥)

यह विचारोत्तेजक सामाजिक उपन्यास है जिसमें हिन्दू विधवा की समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया गया है। दर-दर भटकती हुई, लांछित तिरस्कृत विधवाओं को यह 'मुक्तिपथ' दिखाता है—इसीसे उपन्यास का यह नामकरण हुआ है। कला का प्रयोग कला के लिए न होकर समाज के उन्नयन के निमित्त हुआ है। यथार्थवादी आधारशिला पर आदर्श का सौध खड़ा किया गया है। प्रेमचन्दजी के शब्दों में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का यह उपन्यास सुन्दर निदर्शन है। लेखक कभी इस उपन्यास के नायक राजीव कभी नायिका सुनन्दा (यद्यपि सुनन्दा और राजीव का विवाह नहीं होता) के मुख से अपने विचारों की स्पष्ट अभिव्यञ्जना करते हुए मालूम होते हैं। इसका नायक राजीव, बी० ए० वह क्रान्तिकारियों में था। जेल से छूट कर वह उमाप्रसाद के घर रहने लगा है उनकी स्त्री कृष्णा जी का बड़ा सखा, सही, यथार्थवादी चित्रण हुआ है। उमाप्रसाद की दूर की बहिन सुनन्दा अक्षतयोनि विधवा है—वही इस घर की रसोइया है। राजीव और सुनन्दा का पारस्परिक आकर्षण बढ़ता है। उनका सामीप्य तथा उनकी घनिष्ठता कृष्णाजी तथा घर की पुरानी नौकरानी पराकी बिसाखिया को अच्छी नहीं लगती। उमाप्रसाद की बड़ी लड़की प्रमीला एम० ए० में पढ़ती है। उसकी सलाह तथा इच्छा से राजीव और सुनन्दा अलग मकान में रहने लगते हैं पर उनके सम्बन्ध में कोई दोष नहीं आ पाता। ये दोनों फिर एक स्वदेशी—शिविर में जाकर डेरा जमाते हैं तथा वहाँ बड़े श्रमपूर्वक नई-नई योजनाओं का श्रीगणेश करते हैं। क्रान्तिकारी राजीव गाँधीजी के सिद्धान्तों का सच्चा पुजारी बन सुनन्दा के सहयोग से एक स्वतन्त्र संस्था खोल देता है जहाँ देशी कपड़े, चरखा, सिलाई तथा कागज, दस्तकारी, साबुन, चित्रकारी, संगीत पाकशास्त्र, बागवानी आदि सब उपयोगी और कला-त्मक काम सिखाये जाते हैं। Women in Revolt तथा Women in Bondage आदि पुस्तकों से प्रभावित होकर राजीव और सुनन्दा नारी को स्वावलम्बी बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते। सुनन्दा को राजीव के प्रति श्रद्धा है, पर वह चाहती है प्रेम और राजीव के वैराग्य से व्याकुल होकर आश्रम छोड़ जाती है। देव-मूर्ति राजीव से उसके हृदय की भूख नहीं मिटती। जाती हुई सुनन्दा को राजीव रोकना चाहता है अपनी भूल के लिए क्षमा माँगता है पर सुनन्दा उसकी परवाह भी नहीं करना चाहती। वह कहती है 'छी छी! इतनी दुर्बलता का प्रदर्शन करते आपको लज्जा नहीं मालूम होती!' और वह चली ही जाती है। मस्तिष्क और हृदय के सन्तुलन बिना किसी भी योजना के स्थायित्व और साफल्य में सन्देह ही बना रहेगा—लेखक का संकेत इसी ओर सकता है। सुनन्दा कहती है राजीव को—"आप श्रम, केवल श्रम, और उसके द्वारा मुक्ति-केवल मुक्ति चाहते हैं। मैं जीवन में श्रम भी चाहती हूँ और विश्राम भी, मुक्ति भी चाहती हूँ और बन्धन भी' (पृ० ४२६) उमाप्रसाद का सङ्कुचित चहारदीवारी छोड़ वह वृहत् परिवार में आ जाता है पर 'मैं मनुष्य हूँ, कोई यन्त्रचालित पुतला नहीं।' सुनन्दा में नारीसुलभ कोमलता है पर सक्रिय हिंसक क्रान्तिकारी राजीव अहिंसक क्रान्ति (या शान्ति) मूर्ति बन जाता है। अपने जीवन के मध्याह्न में बी० ए० पास कर १५) मासिक देने वाले मास्टर के गाल पर कस कर तमाचा जड़ने वाला राजीव जीवन के अपराह्न में 'महात्मा' बन जाता है। जो शिकायत राजीव के प्रति सुनन्दा को है वही पाठक को असन्तोष के लिए हो सकती है। महात्मा राजीव

मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठ कर देव-तुल्य हो गया है—इसलिये हमारे लिए पाषाणवत् भी (केवल अन्तिम पृष्ठ में सुनन्दा को रोकने समय उसमें मानव की दुर्बलता परिलक्षित होती है) उपन्यास का परवर्ती भाग तत्वज्ञान की गरिमा और लेखक की उपदेश प्रवणता से कुछ नीरस, शुष्क और बोझिल हो गया है।

उपन्यास में गाँधीजी के प्रति असीम श्रद्धा पर गाँधीवादियों के प्रति घोर अश्रद्धा और वितृष्णा का भाव भी स्पष्ट विद्यमान है। राजीव का पुराना साथी विजय काँग्रेसी है—बिना मेहनत खाये मोटी सी तोंद भुगत रहा है मौज कर छूटने वाला विजय बड़े चैन से रहता है पर है पूरा अर्थ लोलुप। घृणित स्वार्थ से भरे हुए हैं ऐसे अधिकांश, तथाकथित काँग्रेसी। गाँधीजी के स्वार्थी चेलों ने काँग्रेस को बदनाम कर रखा है—वे तो अपनी तथा अपने कुनबे की सेवा में ही मेवा पाते हैं तो फिर देश का क्या हो—इसी की ओर बारबार संकेत है। विजय का प्रमोला से विवाह होता है—घूसखोरी आदि मामले में फँसने के कारण उसको आत्महत्या करनी पड़ती है। आज के बौद्धिक युग की माँग है कि किसी के प्रति अन्धश्रद्धा मत रखो। १३ पृष्ठों का राजीव का नव-निर्माण-मन्त्र का उद्घाटन भाषण है 'मानवीय विकास का स्वाभाविक रूप है सबकी समचेतना, सबके सम अधिकार और सबकी समशक्तियों के सम सामूहिक विकास द्वारा समकल्याण की चरमतम परिस्थिति की ओर सबकी सम प्रगति।' (पृ० १६४) स्वार्थ, ढोंग और झूठ की दुनिया से ऊपर उठना है। सामाजिक विकट विषमताओं को दूर करना है। गाँधीवादी समाजवाद की ओर लेखक का झुकाव है। उपन्यास की शैली अधिक संस्कृत गर्भित होने से सर्वसामान्य के पूरे उपयोग का नहीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि जोशीजी के इस उपन्यास का हिन्दी जगत् में खूब स्वागत होगा—जैसा होना भी चाहिए। यह उपन्यास सबके मनन योग्य है। —नागरमल सहल एम० ए०

कहानी

समुद्र के फेन—लेखक—श्री गणेश गावव। प्रकाशक—शारदा प्रकाशन, बनारस। पृ० सं० २३६, मूल्य २॥)

नई पीढ़ी के लेखकों में गणेश गावव की लेखनी में अत्यधिक बल, अत्यधिक स्फूर्ति है। साहित्य के कई रूपों को उसने अपनाया है और उनमें अपनी अभिव्यक्ति की है प्रस्तुत पुस्तक लेखक की १४ कहानियों का संग्रह है। जीवन के अनेक स्तरों से इन कहानियों का विषय चुना गया है। इनमें जीवन के उस स्तर का स्पर्श किया गया है जिसे समाज ने त्यक्त या तिरस्कृत कर रखा है। 'गुलाम सुलतान' 'समरांगण एक चाप' का विषय ऐतिहासिक है—उनमें इतिहास का सत्य न हो, पर लेखक की कल्पना का सत्य अवश्य है जिससे कहानियों के वातावरण को यथार्थ रूप मिला है। 'सारनाथ के खंडहरों में' लेखक चेतन-उपचेतन, स्मृति-विस्मृत के द्वारा इस कहानी कला को नवीन व्यञ्जना देता है—महाराजकुमार रघुवीरसिंह की सी भाव विह्वल शैली है, पर बौद्धिक चेतना को अपने तल में सहेजे हुए।

जीवन के किसी भी स्तर से गणेश गावव ने अपनी कहानियों का विषय क्यों न लिया हो उसकी सबसे बड़ी विशेषता वातावरण की सृष्टि और व्यंग्य की मार्मिकता है। ऐसा लगता है मानो जीवन में कुछ शून्य है, कुछ खो सा गया है। जीवन मानो अवसाद का छल हो। इस छल पर तीव्र आवेश के साथ शब्द छटपटा उठते हैं, फूट पड़ते हैं। कहीं-कहीं शब्दों के अम्बर में लेखक स्वयं खो जाता है—वहाँ वातावरण चरित्र, या समस्या में उभार नहीं आ सका है, लेकिन इसका कारण अन्दर की सचाई का अभाव नहीं वह उसके पास प्रचुरता है।

स्वप्न-भङ्ग—लेखिका—श्रीमती होमवती। निकेतन प्रकाशन, मेरठ। पृ० सं०-१४८, मूल्य २)। 'स्वप्न-भङ्ग' लेखिका की १५ कहानियों का संग्रह है।

कुमार की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"मैंने कभी कहानी लिखने के लिए ही कहानी लिखी हो, यह बात ध्यान में नहीं आती हाँ, जब जैसा भला या बुरा अनुभव हुआ तभी बैठ कुछ लिख डालने के लिए बाध्य हो हो गई।" लेखिका की 'अपनी बात' होने के कारण इन शब्दों का मूल्य है। कहानी उसके लिए मानसिक ... (Mental luxury) नहीं जीवन-अनुभूति का संवाद है। यद्यपि इन कहानियों को पढ़ने के लिए किसी गहराई में जाने की आवश्यकता का बोध नहीं होता, लेकिन जिस सरल आस्था के साथ ये लिखी गई हैं, वह सहज ही अनुभव गम्य है। उसकी सहानुभूति इतनी सरल है कि उसका अनुभव सुगमता पूर्वक प्राप्त हो जाता है और उसका व्यंग्य इतना स्निग्ध है कि उसकी तिक्तता कटु विक्षोभ में कभी परिवर्तित नहीं होती।

देश, काल और परिस्थितियों के संघर्ष में इस संकलन की अधिकांश कहानियाँ लिखी गई हैं। 'प्रवास' और 'स्वप्न भङ्ग' में एक देश से दूसरे देश में जनता के निष्कासन या प्रवास की समस्या पर विचार किया गया है। 'टी-पार्टी' 'मीरा की मात', 'त्यागी जी' आदि में कांग्रेसी पदाधिकारियों और उनके पारिवारिक जीवन की चुटकी ली गई है। 'विडम्बना' 'नया अङ्क', 'उपहार', 'गृहिणी' आदि में कलाकार और उसके घर के वातावरण की विडम्बना पर व्यंग्य है। 'कांग्रेस-मन', और 'बारह' मेहनत मजदूरी करके पेट भरने वाले प्राणियों की कहानियाँ हैं। अधिकांश कहानियाँ भारतीय घर के वातावरण को चित्रित करती हैं—वह भारतीय घर जो अपने अन्तर के शाश्वत मूल्यों को खो रहा है। लेखिका का ध्यान उधर नहीं है, वह उसे समझना भी नहीं चाहती, पर मध्यवर्गीय समाज की खोखली हुई मर्यादा और सम्मान भावना पर हल्का सा व्यंग्य वह अवश्य कर देती है। उसकी सम्वेदनशीलता उसकी कहानियों की विशेषता है।

'पनिहारियों का द्वीप'—लेखक-श्री रामप्रसाद विद्यार्थी 'राही'। प्रकाशक—राजेन्द्र प्रकाशन मन्दिर, लोहामण्डी, आगरा। पृ० सं० १६१, मूल्य २)

पुस्तक लेखक की १६ कहानियों का संग्रह है। लेखक ने इसे 'मौलिक कहानी संग्रह' की संज्ञा दी है। समाज की जिन आशाओं और आकांक्षाओं, उसके अभाव और विश्राम की अभिव्यञ्जना जिस प्रकार आज कहानियाँ कर रही हैं, इस संग्रह की कहानियाँ उनसे भिन्न हैं और इस दृष्टि से मौलिक भी। समय, स्थान, घटना-तारतम्य और कार्य-कारण की मर्यादा को जिस सस्मित उल्लास-भावना से उसने तिरोहित किया है, वह पाठक को कहीं भी नहीं खटकता। उसका कुतूहल और विनोद अपनी सरलता के कारण अत्यंत प्रतीति योग्य है। यद्यपि लेखक ने पाठकों से कुछ कहने का ध्येय ही अपने समक्ष अधिक रखा है, किन्तु फिर भी जीवन के कोलाहल में वह अपनी जिन्दादिली से मुस्कराहट के कुछ तत्व संजो देता है।

ईसा की २१ वीं सदी के 'हाईलामारिकगिरान क्लब' का यहाँ आपको परिचय मिलेगा, ईसा की तेतीसवीं शताब्दी में नवीन ग्रहों के प्राणियों से आप 'पहला सन्देश' सुन सकते हैं, 'पनिहारियों के द्वीप' में भ्रमण कर सकते हैं, 'एक लाख का घर' अनायास पा सकते हैं, 'दर्पण की माया' समझ सकते हैं, एक ऐसी 'लेडी डाक्टर' के सम्पर्क में आ सकते हैं जिसकी कमर से नीचे का सारा हिस्सा किसी खास तरह की ठोस रबड़ का बना हुआ है और जिसके बाँए हाथ की हथेली में चमड़े के भीतर 'आर्टीफिशल नर्वस् सिस्टम' का प्रसार है।

लेखक ने बड़ी आस्था के साथ ये कहानियाँ लिखी हैं—'कहानी में अगर सच लिखने में कोई हर्ज न हो तो' यह वह पहले ही कह देता है। उसने जिज्ञासा, रहस्य, आश्चर्य और अलौकिकता का जो पुट दिया है उससे कहानियों में मनोरञ्जन की सुषमा आ गई है। उसकी भाषा सुन्दर है।

—मोहनलाल, एम० ए० साहित्य-रत्न

संगीत कला का विशेष स्थान है। वैसे सङ्गीत का स्थापत्य कला के साथ सम्पर्क स्थापित किया जाता है, क्योंकि ये दोनों ही कलाएँ अनुकरणीय मानी जाती हैं, किन्तु यहाँ हमें केवल सङ्गीत का ही विचार करना है। वाग्नेर के अनुवादियों के मतानुसार सङ्गीतात्मक भावना श्रेष्ठ आदर्शात्मक भावना है (ल सैंतीमाँ म्यूजिका ए ल सैंतीमाँ इदेअलिस्त एक्सेलाँस), अतः उच्चतम कला में इसका समावेश आवश्यक है। इस प्रकार वाग्नेर का 'म्यूजिक ड्रामा' एक 'पूर्ण कला' (टोटल आर्ट) था जिसमें विभिन्न तीन या चार कलाओं के तत्व सङ्गीत, सज्जा, काव्य, तथा नृत्य का सन्निवेश था। प्रतीकवादी भी अपने काव्य को 'पूर्ण कला' बनाना चाहते थे। मलार्मे काव्य में सङ्गीत तथा नृत्य का समावेश अत्यावश्यक समझता है। वह कहता है, "वाणी ने अपने में सङ्गीत का समावेश कर लिया है, अब 'पूर्ण कला' बनने के लिए इसे नृत्य का समावेश करना होगा। वाणी की लय ही यह समावेश कर सकती है।"

"प्रतीक" की परिभाषा:—यद्यपि सारे ही प्रतीकवादी 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु ऐसा ज्ञात होता है—कि 'प्रतीक' की कलात्मक परिभाषा कई अर्थों के सघात को व्यक्त करती है, साथ ही सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि इसका जो अर्थ बोदेलेर के लिए है, ठीक वही आंग्ल प्रतीकवादी डब्लू० बी० यीट्स के लिए नहीं। यद्यपि इन सब में कुछ समानता पाई जाती है, किन्तु इनकी परिभाषाओं को अभिन्न नहीं माना जा सकता। स्थूल दृष्टि से 'प्रतीक' एक चिह्न, एक सकेत मात्र है, यह आवश्यक नहीं कि वह शब्द ही हो। उदाहरण के लिए 'लाल रोशनी' यातायात के लिए रुक जाने का 'प्रतीक' है। रिचर्ड तथा ऑग्डन ने अपने ग्रन्थ 'द मीनिंग आव् मीनिङ्ग' में 'प्रतीकवाद' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'प्रतीकवाद' शब्द में कुछ ऐतिहासिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। अपने साधारण अर्थ 'चिह्न तथा सङ्केत' के अतिरिक्त इस शब्द ने कुछ विशिष्ट अर्थ गृहीत किये हैं। प्रथम तो यह ईसाई धर्म के उन "तीन संकेतों' से सम्बन्ध रखता है, जो उसे अधार्मिकता से अलग करते हैं। दूसरे इसका सम्बन्ध उन्नीसवीं शती के उस फ्रेंच काव्यान्दोलन से है, जो साहित्य की समस्त रूढ़िगत स्थिति के विरुद्ध था और जो अनेक विषय, शब्द तथा ध्वनि को प्रतीकात्मक अर्थ से मुक्त मानते थे।" प्रतीकवादी का 'प्रतीक' तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक कला में एक-सा ही है, और इस प्रतीक को हम उन्हीं के शब्दों में यों परिभाषित कर सकते हैं।

१—प्रतीक वाह्य-जगत् का वह विच्छेद्य तत्व अथवा गुण है, जो रहस्यवादी के लिए अनिप्राकृत एकता तथा 'सार्वजनीन सादृश्य' का साक्षी है। (बोदेलेर)

२—कोई भी वस्तु अथवा शब्द प्रतीक है, जब तक कि वह मलार्मे सम्प्रदाय के कवियों को, उसमें निहित 'प्लेतोनिक' विचार की अभिव्यञ्जना करता है। (मोकले)

३—प्रतीक उस साधारण धारणा का चिह्न है, जिसे धारणा को रूढ़ि अथवा अतिप्राकृत आदेश ने सबल भावनात्मक निधि से मुक्त बना दिया है। (यीट्स)

४—प्रतीक एक रूपक है, जिसका प्रयोग कला में उच्च-कोटि की कलात्मकता का सन्निवेश करने के लिए होता है। अतः समस्त पौराणिक गाथा, तथा प्रच्छन्न पौराणिकता भी प्रतीक ही है। (विजेवा)

५—कोई भी कलात्मक कृति, जो रूपक अथवा पौराणिक गाथा नहीं है तथा जिसका लक्ष्य कलाकार की मनोवृत्ति की अभिव्यञ्जना करना है, प्रतीक है। (वेर्हारेन)

६—अत्यधिक शक्तिवाली वह कवितामय पूर्ति, जो कवि की कृति में उस समय सन्निहित होती है, जबकि उसका मस्तिष्क किसी विशेष प्रमुख मनोवृत्ति के इधर उधर घूमता रहता है। (वालेरी)

७—कोई भी कला कृति प्रतीक है, जिसे मूर्ति

की दृष्टि की एकता माना जाता है, अथवा जो इस एकता के लिए स्फूर्ति उत्पन्न करती है। (गीद)

इस प्रकार इन सभी परिभाषाओं में परस्पर कई विरोध होते हुए भी, प्रत्येक के मत में 'प्रतीक' उत्कृष्ट कलात्मक अभिव्यञ्जना का साधन है। अब यह स्पष्ट है कि यह साधन शब्द ही हो यह आवश्यक नहीं। काव्य में पद, पदार्थ, चेष्टा, अर्थ, छन्द तथा सम्पूर्ण काव्य भी इस कलात्मक अभिव्यञ्जना की दृष्टि से प्रतीक माना जा सकता है। अतः काव्य में अमुक अङ्ग प्रतीक है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विभिन्न काव्यों में विभिन्न काव्याङ्ग प्रतीक हो सकते हैं। यदि हम भारतीय साहित्य शास्त्र के इतिहास का अध्ययन करें तो एक ऐसा ही 'प्रतीक' जैसा तत्व हम वहाँ पा सकते हैं। यह है ध्वनिवादियों का 'व्यञ्जक'। 'व्यञ्जक' और प्रतीक दोनों की धारणा में विशेष भेद नहीं है, दोनों ठीक उसी प्रकार रमणीय (लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचर) तत्व की अभिव्यञ्जना कराते हैं। 'प्रतीक' की भाँति यह 'व्यञ्जकत्व' भी पद, पदार्थ, वाक्य, अर्थ, छन्द तथा प्रबन्ध में पाया जाता है, इसे साहित्य शास्त्र के विद्यार्थी जानते ही हैं। आनन्दवर्धन तथा अभिनव का यह ध्वनिवाद भी प्रतीकवाद की भाँति अपनी जड़ें अध्यात्म में रखता है, एक ईसाई सन्तों के रहस्यवाद में तो दूसरा शैवों के रहस्यवाद में। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दोनों में कोई सम्बन्ध है।

प्रसाद—हिन्दी के प्रसिद्ध प्रतीकवादी प्रसाद ने इसीलिए अपने 'रहस्यवाद' तथा 'छायावाद' निबन्धों में इसे ध्वनिवाद तथा शैवों के रहस्यवाद से जोड़ने की चेष्टा की है। संस्कृत के ध्वनिवादी सम्प्रदाय की शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से खोज करने की आवश्यकता है कि इस प्रकार की 'शुद्ध कलात्मक' धारणा को जन्म देने में किन प्रवृत्तियों का हाथ है। जो, 'प्रतीक' कला या काव्य का कोई भी अङ्ग हो सकता है। उदाहरण के लिए हम 'प्रसाद' की प्रमुख प्रतीकवादी कृति 'कामायनी' को ले सकते हैं। इस काव्य के अन्तर्गत सब प्रकार के प्रतीकवादी प्रयोग मिल सकते हैं। जब हम इस काव्य के सम्पूर्ण प्रबन्ध को लेते हैं, तो यह प्रबन्ध, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक अभिव्यञ्जना का 'प्रतीक' बन कर आता है। मनु की कहानी एक ओर मन की कहानी है, तो दूसरी ओर उस शैव साधक की जो आनन्द की प्राप्ति करना चाहता है, वैसे इस मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक तथ्य को एक भी माना जा सकता है। इस प्रकार मनु की कथा 'प्रतीक' है। इसी प्रकार शब्दों की योजना, ध्वनियों का सन्निवेश, अलङ्कारों का चुनाव सभी प्रतीक' हो सकते हैं। उदाहरण के लिए "जीवन निशीथ के अन्धकार! तू नील तुहिन जल निधि बनकर फैला है कितना वार पार।" यह पूरा वाक्यार्थ 'अज्ञान की निस्सीमता' का प्रतीक है, इसी में 'तुहिन' पद 'अज्ञान के ठोस पन' का प्रतीक है। ध्वनि में 'प्रतीकता' हम इन पंक्तियों में पा सकते हैं, जहाँ अल्पप्राण ध्वनियों की प्रचुरता भाव की अभिव्यञ्जना में बड़ा सहयोग दे रही है—

"लाली बन सरल कपोलों में,
आँखों में अञ्जन सी लगती।
कुञ्चित अलकों सी घुंघराली,
मन की मरोर बन कर जगती।"
(लज्जा सर्ग)

प्रथम उदाहरण में 'नील' तथा 'तुहिन' का परस्पर विरोध 'अज्ञान' की अलौकिता का प्रतीक है (तुहिन सदा श्वेत होता है, नील नहीं)।

उपसंहार—प्रतीकवादी काव्य के कारणों का पुनः सिंहावलोकन करते हैं कि आर्थिक दृष्टि से इस 'लार पो लार' (कला कला के लिए) वाली प्रवृत्ति का कारण 'कोमोडिटी फेटिशिज्म' में ढूँढ़ा जा सकता है। कल कारखानों के विकास के कारण विकसित पूँजीवादी आर्थिक नीति उस समय को बल देती है, जिस समय कलाकारों की कोई पूछ नहीं करता, दूसरे शब्दों में उत्पादकों को अपने उत्पादन

के विक्रय के आश्रय नहीं मिलते। यूरोप के एक महान् अर्थशास्त्री ने उत्पादन को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'इस की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उत्पादक अपने स्वयं के सामाजिक सम्बन्धों पर अधिकार खो बैठता है। प्रत्येक व्यक्ति वस्तु का उत्पादन स्वयं के लिए करने लगता है उन उत्पादन के साधनों के द्वारा जो उसके पास हैं। इस उत्पादन का एक मात्र लक्ष्य विनिमय के माध्यम के द्वारा अपनी वैयक्तिक आवश्यकता पूर्ति मात्र है। किन्तु उसे पता नहीं कि आश्रय में कितना उत्पादन खप सकेगा।''

यह स्थिति उस आर्थिक तथ्य को जन्म देती है, जो 'कोमोडिटी फेटिशिज्म' कहलाता है। कवि का आश्रय जनता है, किन्तु इस काल में उसकी कला उसकी निपुणता की बाजू में माग नहीं रहती। जनता के लिए काव्य का पठन एक कठिन कार्य हो जाता है। अन्य कलाकारों की भाँति कवि में भी इस स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया पाई जाती है, और उसका कला नैपुण्य, सामाजिक व्यापार के विरुद्ध तथा कला, जीवन के विरुद्ध अग्रसर होने लगती है। यह आर्थिक 'कोमोडिटी फेटिशिज्म' कलाकार को 'स्किल फेटिशिज्म' की भावना देता है। कवि या कलाकार की कला ही अब उसकी कृति का विषय बन जाती है। कला का मूल्य केवल उसी के कारण होने लगता है। यही धारणा आगे जाकर कवि को व्यक्तिनिष्ठ तथा अहं निष्ठ बना देती है। यूरोप के इन प्रतीकवादी कवियों में जिनमें फ्रेञ्च कवि मलार्मे, वालेरी, तथा आंग्ल कवि यीट्स आते हैं, यही 'स्किल फेटिशिज्म' की प्रवृत्ति लक्षित होती है। हिन्दी साहित्य तथा बङ्गला साहित्य में भी यह प्रवृत्ति पन्त, निराला, प्रसाद, वर्माद्वय, तथा रवीन्द्र में पाई जाती है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यूरोपीय साहित्य में इस प्रतीकवाद का अन्त हो गया, तथा इसने उन कवियों को जन्म दिया जो अतिवस्तुवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। दादा तथा दाली का यह आन्दोलन अन्तिम बुर्ज्वा आन्दोलन था। यह ''अतिवस्तुवादी'' राजनैतिक दृष्टि से ''एनार्किस्ट'' है। अतिवस्तुवादी एनार्किस्ट की भाँति क्रिया एवं व्यवहार की दृष्टि से निषेधात्मक हैं। बुर्ज्वा लोगों का यह वर्ग बुर्ज्वा समाज के उत्थान से इतना अधिक क्षुब्ध है, कि वह बुर्ज्वा विचारधारा को अत्यधिक विरोध रूप में स्वीकार करता है। वह पूर्णत वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा समस्त सामाजिक सम्बन्धों का पूर्ण विनाश चाहता है। वैचारिक दृष्टि से यह विनाश भावना तो उसमें है, किन्तु समाज के इस गलित रूप का अन्त करने के लिए भी नवसमाज के निर्माण की बात तो दूर है, एक सङ्गठन की आवश्यकता है और इस प्रकार क्रियात्मक दृष्टि से वह या तो वास्तविक समाज का अङ्ग बन जाता है, या फिर प्रतिक्रियावाद का आश्रय लेता है। फ्रांस का यह प्रतीकवाद आज सर्वथा लुप्त हो गया है, और वहाँ के साहित्य में वास्तविक जन समाज की वाणी सुनी जाती है। फ्रेंच कवि अरागों, जो किसी समय दादा इज्म से अत्यधिक प्रभावित था आज समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व कर रहा है। उदाहरण के लिए हम उसकी ''द वाल्ज द चेलिआम्प्राकमोरज़ोर'' शीर्षक कविता का निर्देश कर सकते हैं जो उसकी प्रमुख प्रगतिवादी कविताओं में से है।

सहायक पुस्तकें

१—एडवर्ड डौडेन : हि ट्री आव् फ्रेंच लिट्रेचर
२—मेदाम दे स्लो : ट्वेन्टियथ सेन्चरी फ्रेंच रायटर्स
३—सेसिली मेकवर्थ : मिरर फॉर फ्रेंच पोयट्री (१८४०-१६४०)
४—ए० जी० लेमान द सिम्बोलिस्ट एस्थेटिक इन फ्रांस (१८८५-६५)
५—क्रिस्टोफर कौडवेल : इल्यूजन एण्ड रियलिटी
६—आग्डन तथा रिचर्ड : द मीनिंग आव् मीनिंग
७—प्रसाद 'काव्य और कला' एवं अन्य निबन्ध
८— ,, : कामायनी

पाश्चात्य आलोचना शास्त्र

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए०

एक निबन्ध की परिधि में सम्पूर्ण पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का सार तत्व बताना असम्भव है। कुछ मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा ही एक लघु निबन्ध में की जा सकती है।

पाश्चात्य आलोचना का आरम्भ ग्रीस के आलोचकों से होता है। ग्रीक काव्य और नाटक साहित्य बहुत विकसित और उच्चकोटि का था, उसी के अनुरूप वहाँ का आलोचना साहित्य भी था। प्लेटो का आग्रह दैवी सौन्दर्य पर था, जिसकी छाया मात्र वह लौकिक सौन्दर्य को समझते थे। उनके अनुसार मनुष्य किसी गुफा में बन्द प्राणी के समान है जो गुफा की दीवारों पर बाहर चलते जीवन की छाया भर देख सकते हैं। यह जीवन, वही छाया दर्शन है। वास्तविकता का सच्चा परिचय हम नहीं पा सकते। इस जीवन रथ को दो तुरङ्ग खींचते हैं, एक उच्चता की ओर, दूसरा पतन की ओर। प्लेटो कविता को मिथ्यावाद समझते थे, और उनके यूटोपिया में कवियों के लिए कोई स्थान न था। कला और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध पर प्लेटो का विशेष आग्रह था।

प्लेटो के विचार दर्शन से यूरोप का साहित्य बहुत प्रभावित हुआ। बड़े बड़े क्रान्तिकारी कवि भी प्लेटो के विचारों से प्रभावित होकर परलोकमुखी प्रवृत्तियों के शिकार हुए। शैली के काव्य में वर्तमान समाज व्यवस्था के प्रति असन्तोष और विद्रोह के साथ ही साथ यह परलोकमुखी आदर्शवाद और दैवी सौन्दर्य की खोज भी है।

प्लेटो का उत्तर ग्रीस के आलोचना साहित्य में ही अरस्तू की वैज्ञानिक विचार धारा में मिलता है। अरस्तू ने काव्य और नाटक साहित्य के तत्वों का सूक्ष्म विवेचन किया। उन्होंने इस विश्लेषण द्वारा साहित्य के सिद्धान्तों का निरूपण किया, जिनकी प्रतिष्ठा कई शताब्दियों तक यूरोपीय साहित्य में रही और आज भी है। अरस्तू की साहित्य की परिभाषा आज भी स्वीकृत और प्रसिद्ध है। साहित्य जीवन का निरूपण है।

अरस्तू ने नाटक की तीन सुपरिचित 'एकताओं' (unities) का प्रतिपादन किया, यानी समय, स्थान और कथावस्तु की एकता। समय, स्थान और कथानक की एकता नाटक में वास्तविकता का भ्रम दृढ़ करती है। अरस्तू ने यह भी कहा कि एक दिन और रात, अर्थात् २४ घंटे की अवधि से अधिक समय कथा वस्तु न ले। अरस्तू ने नाटक के छः तत्व बताये, जिनमें से अधिकतर आज भी स्वीकार किये जाते हैं। यह छः तत्व हैं—१ कथानक, २ चरित्र चित्रण, ३ कथोपकथन, ४ भावना, ५ संगीत ६ दृश्य सौन्दर्य। इनमें से अन्तिम दो ग्रीक नाटक के साथ ही विलीन हो गए। किन्तु अन्य चार के सम्बन्ध में आज भी अरस्तू की मान्यताएँ अध्ययन और मनन के योग्य हैं। अरस्तू कथानक को प्रधानता देते हैं। वह कहते हैं कि चरित्र चित्रण आदि के बिना तो नाटक रह भी सकता है, किन्तु बिना कथानक के नहीं। आगे चल कर कथानक, चरित्र-चित्रण आदि की व्याख्या अरस्तू करते हैं। कथानक में आरम्भ, मध्य और अन्त होना चाहिए। दुःखान्त नाटक के नायक के लिए वह कहते हैं कि यद्यपि वह आदर और सम्मान का पात्र होता है, फिर भी किसी दुर्बलता के कारण उसका पतन होता है।

अरस्तू दुःखान्त नाटक की अपील शुद्धीकरण (Catharsis) के सिद्धान्त में पाते हैं। भावनाओं के उद्गार नाट्य दर्शन में निकल जाते हैं, और दर्शक का अन्तःकरण इस प्रकार अधिक सन्तुलन प्राप्त करता है।

अरस्तू के विपरीत ग्रीक साहित्य की विवेचना करते हुए कार्ल मार्क्स ग्रीक साहित्य में उस युग के सामाजिक सम्बन्धों की छाया देखते हैं। एगामैमनन की हत्या उसकी पत्नी क्लिटीनेस्ट्रा ने की, इसका बदला उसके पुत्र और पुत्री ओरैस्टीज और इलेक्ट्रा ने माँ की हत्या करके लिया। मातृ-प्रधान समाज में मातृ-हन्ता के लिए भयानक दण्ड थे। देवता ओरैस्टीज से बहुत क्रुद्ध हुए, किन्तु नए देवताओं ने उसकी रक्षा करने का प्रयत्न भी किया। इस प्रकार उस काल के बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों का चित्र हमें ग्रीक साहित्य में मिलता है। इन्हीं सम्बन्धों के अनुसार दन्त-कथाएँ भी गढ़ी जाती हैं। उस युग में ही वीनस (Venus) की कल्पना सम्भव थी; स्टीम एन्जिन के युग में ऐसे देवी देवताओं की प्रतिष्ठा साहित्य में असम्भव है।

अरस्तू के समान ही भारतीय आचार्यों की भी सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि है। उन्होंने भी रस और अलङ्कार शास्त्र की स्थापना की, और बहुत विस्तार और वैज्ञानिकता से साहित्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। किन्तु जिस प्रकार पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का निरंतर विकास होता रहा; वह भारतीय आलोचना-शास्त्र में न हुआ। भारत का सामाजिक जीवन सदियों पर्यन्त बँधे पानी के समान रहा, जहाँ ऊपर के शासक तो बदलते रहे, किन्तु मूल सामाजिक ढाँचा अपरिवर्तित बना रहा।

अरस्तू के बाद यूरोप के सबसे बड़े आलोचक रोम में होरेस हुए। होरेस का युग यूरोपीय साहित्य के इतिहास में चाँदी का युग कहलाता है। होरेस की 'आलोचना क्लासिकल साहित्य की रूप-रेखा निर्दिष्ट करती है। होरेस कहते हैः—

'यदि कोई चित्रकार घोड़े की गर्दन पर मनुष्य का सिर जोड़ने का प्रयत्न करे और हर प्रकार के जीवों के अङ्गों पर तरह तरह के पर लगावे, जिससे कि नारी का सुन्दर ऊपरी भाग मछली की गंदी और कुरूप दुम बने तो मेरे मित्रो, तुम्हीं बताओ, क्या तुम अपनी हँसी रोक सकोगे.....?'

होरेस काव्य में परम्परागत रूपों के अनुकरण का आग्रह करते हैं। वह सुखान्त और दुःखान्त शैलियों के सम्मिश्रण के विरुद्ध हैं। इस प्रकार होरेस की पुस्तक 'काव्य कला' में पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र रूढ़िवाद की दलदल में फँसने लगा है। इस दलदल से उसे उबारने के लिए शेक्सपियर के समान मौलिक कलाकार की ही क्षमता थी।

मध्यकालीन यूरोप में अरस्तू का बड़ा मान रहा। सामन्ती समाज में यम नियम का बड़ा महत्त्व था। बाइबिल के बराबर ही अरस्तू का प्रभुत्व मध्यकालीन यूरोप के विद्यालयों में था। इस काल में काव्य-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ "Ars poetica" नाम से लिखे गये, किन्तु इनमें कोई अधिक मौलिकता न थी। आधुनिक युग के साथ यूरोपीय साहित्य में व्यक्तिगत प्रेरणा और विचार स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा होती है। इसके अणु हम मध्य युग के विकसित होते हुए रूमानी साहित्य में भी पाते हैं। प्राचीन आलोचना सिद्धान्तों के प्रति ऐसा ही विद्रोह हम आधुनिक भारतीय साहित्य में भी पाते हैं।

यूरोपीय रूमानी साहित्य की धारा क्लासिकल साहित्य के समानान्तर मध्य-युग में उसी प्रकार बहती रही, जैसे संस्कृत साहित्य के समानान्तर प्राकृत की धारा। यह साहित्य एक नई परम्परा थी, जो पुरानी मान्यताओं और सिद्धान्तों को स्वीकार न करती थी। डान्टे ने लैटिन की तुलना में प्राकृत इटालियन को महत्त्व दिया और जनप्रिय भाषा में अपना महाकाव्य रचा।

यूरोप के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के उपरान्त एक नए साहित्य का निर्माण वहाँ शुरू हुआ। इसका एक महान प्रतिनिधि शेक्सपियर था। शेक्सपियर ने पुराने नाट्य सिद्धान्तों के विद्रोह में साहित्य-रचना की। वह अरस्तू की तीन नाटकीय एकताओं को न मानते थे। देश-काल के बड़े बड़े अन्तर उनके कथा-

नक नाच जाते थे। सुखान्त और दुःखान्त नाटकों का सम्मिश्रण और समन्वय भी उनके साहित्य में था।

इसी नए साहित्य को लक्ष्य करके सर फिलिप सिडनी ने कहा था कि 'हमारे यहाँ न सही सुखान्त नाटक हैं, न सही दुःखान्त नाटक, हमारे यहाँ केवल मिश्रित नस्ल के सुखान्त दुःखान्त नाटक हैं।''

किन्तु अपने सम्पूर्ण क्लासिकल आग्रह के बावजूद भी डा० जानसन ने इस सम्मिश्रण का स्वागत किया और कहा कि शेक्सपियर के नाटकों में हमें जीवन की सच्ची वास्तविकता मिलती है, जहाँ एक ओर तो एक पात्र मृत्यु की ओर अग्रसर है, और दूसरी ओर मद्यप को हम सुरा की ओर झपटते हुए देखते हैं।

अँग्रेजी आलोचना में क्लासिकल और रोमैण्टिक का यह द्वन्द्व निरन्तर पीढ़ियों पर्यन्त चला। स्वयं शेक्सपियर के युग में बैन जॉनसन ने क्लासिकल सिद्धान्तों के अनुसार नाट्य रचना की। शेक्सपियर के मित्रों ने जब उनके नाटकों की भूमिका में लिखा कि हमने उनसे "बिना कटे पिटे पन्ने" पाए हैं, तो बैन जॉनसन ने कहा "क्या ही अच्छा होता, यदि उनने हजारों पन्ने काटे पीटे होते।"

अँग्रेजी क्लासिकल परम्परा के बड़े आलोचकों में ड्राइडन पोप और डा० जॉनसन के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार फ्रान्स में बोइलो (Boileau) का नाम प्रसिद्ध है। यह आलोचक पुरानी मान्यताओं में उलझे हुए थे, और अग्रगामी साहित्य धाराओं से विमुख थे। ड्राइडन ने अनेक आलोचनात्मक निबन्ध लिखे, जिनमें चॉसर और शेक्सपियर आदि के साहित्य की सुन्दर विवेचना है। ड्राइडन ने विशेष रूप से इस बहस को महत्व दिया कि काव्य में अतुकान्त छन्द का प्रयोग हो, या न हो। पोप ने एक पद्य निबन्ध "आलोचना पर निबन्ध" शीर्षक से लिखा, जिसमें उन्होंने क्लासिकल सिद्धान्तों का अनुसरण किया। डा० जॉनसन न्यायाधीश के आसन पर बैठ कर बोलते थे, और न्याय की तुला पर साहित्य को तोलने का दम भरते थे, किन्तु कितने खरे यह माप थे, हम इस बात से समझ सकते हैं कि वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शैली और कीट्स के आविर्भाव के कुछ ही वर्ष पूर्व डा० जॉनसन ने पोप की कविता के सम्बन्ध में लिखा था जो कुछ प्रतिभा और अध्यवसाय से हो सकता था, सब हो चुका। अब अँग्रेजी काव्य कोई और विजय नहीं प्राप्त कर सकता।

क्लासिकल आलोचना का आग्रह संयम, नियम और शास्त्र पर था, और रोमैण्टिक आलोचना का आग्रह व्यक्तिगत प्रेरणा के महत्व पर। नए युग में व्यक्ति की स्वाधीनता पर आग्रह इसलिए था कि सामन्ती बन्धनाएँ और व्यवधान उठते हुए पूँजीवादी वर्ग के मार्ग में रुकावटें डालते थे, बाजार के प्रसार और शोषण की असीम भावनाओं में बाधक बनते थे।

यूरोप की रोमैन्टिक प्रवृत्ति का चरम उत्कर्ष रूसो के साहित्य में हुआ। रूसो सामन्ती शृङ्खलाओं में बँधे मानव को मुक्त करना चाहते हैं। सभी परम्पराएँ वह नष्ट भ्रष्ट कर देना चाहते हैं। उनका साहित्य भावना के आँसुओं का अपार पारावार है। उनका स्वर सामन्ती दासता के प्रति अनन्य विद्रोह और चुनौती का स्वर है मानव जन्म से मुक्त है, किन्तु सभी कहीं हम उसे शृङ्खलाओं में जकड़ा देखते हैं। रूसो का ग्रन्थ "सामाजिक पट्टा" (Social Contract) फ्रान्सीसी क्रान्ति का धर्म-ग्रन्थ बन गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोप का रोमैन्टिक साहित्य परिपक्व हुआ, और इसी युग में रोमैन्टिक आलोचना-पद्धति का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। अँग्रेजी आलोचना साहित्य के इतिहास में रोमैन्टिक युग के आलोचकों—वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शैली—आदि का बड़ा महत्व है।

वर्ड्सवर्थ ने अपनी काव्य-पुस्तक (Lyrical-Ballads) की जो भूमिका लिखी, वह नए साहित्य

के मूल्यों की घोषणा थी। वर्ड्सवर्थ के पूर्ववर्ती साहित्य में काव्य की एक विशेष रूढ़ भाषा बन गई थी। वर्ड्सवर्थ ने इसके विरुद्ध बगावत की और कहा कि काव्य और गद्य की भाषा में कोई विशिष्ट भेद नहीं है। कविता की भाषा को वर्ड्सवर्थ सामान्य भाषा के अधिक से अधिक निकट लाना चाहते थे। वर्ड्सवर्थ का यह भी कथन था कि कविता के लिए सबसे अच्छी भूमि आवेग की अवस्था में कृषकों और अन्य सामान्य जनों की मनोदशाएँ हैं।

वर्ड्सवर्थ के अनन्य मित्र होते हुए भी कोलरिज ने उनके सम्पूर्ण तर्क को काटा। कोलरिज जर्मनी के आध्यात्म-दर्शन से बहुत प्रभावित थे, और परलोक-मुखी विचारधारा के अनुवर्ती बन रहे थे। अपने जीवन के उत्तर काल में वर्ड्सवर्थ भी क्रान्ति विमुख होकर शत्रु दल में जा मिले, और उन्हें इङ्गित करते हुए ब्राउनिंग ने अपनी 'खोया नायक' (The lost leader) शीर्षक तीखी कविता लिखी। कोलरिज ने कहा कि कृषकों की भाषा बड़ी दीन है, उनकी भावनाएँ दीन हैं, उनका जीवन दीन है। यह ऊसर किस प्रकार काव्य की भूमिका बन सकता है? उनका यह भी कहना था कि स्वयं वर्ड्सवर्थ अपने सिद्धान्तों का निर्वाह अपने प्रयोग में नहीं कर पाए।

रोमैन्टिक युग की आलोचना में शैली के विचारों का बहुत महत्त्व है। शैली का निबन्ध 'काव्य की रक्षा' बड़े ऊँचे स्तर की रचना है। शैली की विचार-धारा प्लेटो के आदर्शवाद से बहुत प्रभावित हुई थी फिर भी कवि की भूमिका को वह बहुत आदर देते हैं, उन्होंने कवियों की गणना 'मानवता के बिना माने हुए विधायकों' में की है। मार्क्स ने बायरन और शैली की तुलना करते हुए कहा था कि यदि शैली जीवित रहता, तो उत्तरोत्तर उसका विकास क्रांति की दिशा में होता, और इसके विपरीत बायरन का विकास प्रतिक्रियावाद की ओर होता!

जर्मनी में भी फ्रांस और इङ्गलैण्ड के ही समान रोमैन्टिक विचार धारा का विकास हुआ। रोमैन्टिक आलोचना के प्रमुख प्रवर्तकों में लैसिंग (lessing) का नाम उल्लेखनीय है। लैसिंग के अनुसार कला की अपील कल्पना और भावना को होती है, बुद्धि को नहीं। उन्होंने अपनी आलोचना का प्रतीक यूनान के पुजारी लेओकोऊन (Laocoin) को बनाया, जो अपने पुत्रों सहित एक भयानक सर्प से सङ्घर्ष करता है। कविता और स्थापत्य की तुलना करते हुए लैसिंग कविता को श्रेष्ठ ठहराता है, इसी प्रकार जैसे लेओकोऊन के सङ्घर्ष का निरूपण ग्रीक स्थापत्य की तुलना में वर्जिल (virgil) के काव्य में अधिक सफल हुआ है।

रोमैन्टिक आलोचना की अनेक उपशाखाएँ फूट निकलीं, जो केवल भावना प्रधान थीं, और किसी संयम, सन्तुलन अथवा अनुशासन को स्वीकार न करती थीं। शेक्सपियर की आलोचना लैम्ब, हैजलिट, हडसन आदि ने केवल प्रभाववाद के आधार पर की। इस आलोचना का एकमात्र सिद्धान्त आलोचक की रुचि थी।

इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप जर्मन कवि और आलोचक गटो (Goetha), फ्रैंच आलोचक सेन्ट बव (Saint Beuve) और मैथ्यू आरनल्ड आदि ने प्रेरणा और भावनाओं के उद्रेक के साथ संयम और अनुशासन का साहित्य रचना में बहुत महत्व माना। इस सम्बन्ध में गटो के शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं—"क्लासिकल स्वास्थ्य है, और रोमैन्टिक रोग है"। किन्तु इन साहित्यकारों की देन आलोचना में एक अधिक सतुलित दृष्टि है।

मैथ्यू आरनल्ड ने अरस्तू की प्रसिद्ध परिभाषा को नया रूप देकर काव्य की व्याख्या की—"कविता जीवन की आलोचना है"। मैथ्यू आरनल्ड साहित्य में 'उच्च गम्भीरता', 'नैतिकता' आदि गुणों की खोज करते हैं।

यूरोप के बड़े आलोचकों में हेगेल का महत्वपूर्ण स्थान है। पण्डितों का मत है कि अरस्तू के बाद हेगेल ने ही दुःखान्त नाटक की सर्वाङ्गीण व्याख्या सफलतापूर्वक की। हेगल नाटक में द्वन्द्व के तत्व को तो स्वीकार करते थे, किन्तु उनकी सम्मति में यह द्वन्द्व भलाई और बुराई में न होकर भलाई और भलाई के बीच था। प्रेम और देशभक्ति में द्वन्द्व अथवा पुत्र प्रेम और प्रणय का द्वन्द्व, आदि। नाटक की समस्याओं को हेगेल ऊँचे स्तर पर ले गये किन्तु उनकी आदर्शवादी बुद्धि समस्याओं का समुचित समाधान न कर सकती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध पूँजीवाद के विकास का युग था और इस युग में पूँजीवादी विचारधारा प्रगति की परिचायक थी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूँजीवादी व्यवस्था के विकास में अवरोध पड़ने लगे और यह पतन की दिशा में मुड़ी। साम्राज्यवादी संघर्षों और युद्धों की भूमिका भी शुरू हुई, क्योंकि सभी दुनिया बड़े साम्राज्यों में बँट चुकी थी, नए साम्राज्यवाद सर उठा रहे थे और शोषण के क्षेत्र अपने लिए खोज रहे थे, उपनिवेशों की जनता संघर्षों में कूदने को तैयार हो रही थी।

आलोचना साहित्य में इसके फलस्वरूप अनेक पतनशील विचार धाराएँ प्रगट होती हैं। इनका नारा "कला कला के लिए" होता है। वह जीवन से मुख मोड़ कर पच्चीकारी, मीनाकारी की ओर अग्रसर होती हैं। इनकी चरम परिणति सन् १८६० के बाद के दशक और उसकी 'पतनशील' कला में होती है। यह कला मृत्यु को अपना प्रतीक बनाती है, और बनाव सिंगार, बनावट और मिथ्याचरण को अपना लक्ष्य बनाती है। इसके प्रतिनिधि ऑस्कर वाइल्ड, ब्रोर्डे बीअर्डस्ले आदि हैं। फ्रांस में इनके प्रतिरूप वर्लें (Verlaine), रैंबो (Rimbaud) आदि प्रतीकवादी हैं। इनके जीवन और साहित्य दोनों का ही रूप असंयम के कारण घृणित और असभ्य है।

चित्रकला में भी सामाजिक प्रगति में अवरोध के कारण अनेक पलायनवादी, रूपवादी और प्रयोगवादी धाराएँ प्रगट होती हैं, जिनका मिथ्या मोह और भ्रम-वश अनेक हिन्दी कवि अनुकरण करते हैं।

आज का पाश्चात्य आलोचना शास्त्र जीवन के द्वन्द्व और उसके वर्तमान गतिरोध का परिचायक है। साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्विता दो महासमर रच चुकी है और आज तीसरे महायुद्ध की तैयारी में है, बीसवीं सदी ने पूँजीवाद का नृशंस रूप फासिज्म और कला और मानवतावादी परम्पराओं पर उसका क्रूर आक्रमण देखा है। एक ओर कुछ आलोचक पलायनवाद का नारा उठाते हैं। टी० एस० इलियट के समान वह कला को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का नहीं वरन् उसके दमन का—जीवन नहीं, मरण का—साधन मानते हैं। इस अहंकार विहीनता के पीछे दुर्दमनीय अहंकार छिपा है। यह स्वाभाविक है कि साहित्य में ऐसे पिछड़े विचारों का प्रचारक राजनीति में प्रतिक्रियावाद का पल्ला पकड़े!

आज की अति आधुनिक विचार-धाराएँ, अतियथार्थवाद, प्रभावोत्तरवाद, अभिव्यञ्जनावाद, क्यूबिज्म आदि इसी मानसिक दिवालियेपन को व्यक्त करती हैं। वह हृदय की शून्यता को बहिरङ्ग-श्रृङ्गार से छुपाना चाहती हैं।

आधुनिक साहित्य पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का बहुत प्रभाव पड़ा है। इस विचार धारा से हिन्दी संसार काफी परिचित हो चुका है। फ्रायड जराग्रस्त पूँजीवाद के शिकार मानव को शाश्वत मान बैठे हैं। वह शासक वर्ग के मानसिक रोगों को सम्पूर्ण स्वस्थ जनता पर आरोपित करते हैं, और इस अवस्था को अपरिवर्तनशील और चिरन्तन मान बैठते हैं। वह नवीन दन्तकथाओं और रुग्ण भाषा का भी आविष्कार करते हैं, जिसे केवल रुग्ण ही समझ सकते हैं।

इस विचार-धारा के फलस्वरूप हम साहित्य में अवचेतन और अचेतन मन को प्रतिबिम्बित करने

का प्रयास देखते हैं, और हीन भावना, ईडीपस ग्रन्थि, नारसिसस ग्रन्थि आदि अनेक मनोविकार का साहित्य में दर्शन पाते हैं। इस भाव धारा से प्रेरित साहित्य विरूप भावनाओं का एक आगार, उद्वेलित सागर है, जिस पर चकित, चमत्कृत पाठक निरन्तर डूबता उतराता है। यह साहित्य विकृतियों का शिकार है और साहित्य में नाशवाद का प्रतिरूप है।

एक विशेष अंग्रेज़ी आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स की इधर हिन्दी में काफी चर्चा हुई है। उनका नाम आचार्य शुक्ल के नाम के साथ, न जाने क्यों, अनेक बार जोड़ा गया है। रिचर्डस आलोचना शास्त्र को आलोचना विज्ञान में परिणत करना चाहते हैं। यह प्रयत्न प्रशंसनीय हो सकता है, किन्तु रुचि की नाप-जोख के लिए जो यन्त्र रिचर्डस बनाते हैं, वह अधिक विश्वसनीय नहीं बन पाता। साहित्य के गुण की वैज्ञानिक व्याख्या अपेक्षित है, किन्तु भावनाओं और अनुभूतियों का यान्त्रिक माप रिचर्ड्स की कृतियों में अधिक विश्वास नहीं पैदा करता।

वैज्ञानिक आलोचना शैली के लिए मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र का हमें अध्ययन करना होगा। मार्क्सवादी दृष्टि सामाजिक और साहित्यिक तत्वों के मूल में हमें ले जाती है। यह दृष्टि मूलतः ऐतिहासिक और वैज्ञानिक बहिर्दृष्टि और अन्तरदृष्टि है, जिस पर अधिकार पाकर हम साहित्य के तल तक पहुँच सकते हैं। मन स्थितियों, भावनाओं और विचारों को वह उनकी भौतिक पृष्ठभूमि में रख कर देखती है। साहित्य दर्शन आदि की एक सीमा तक स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी अन्ततः वह एक नींव पर खड़ी इमारत के समान हैं। यह नींव आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों की आधार भूमि है, जिससे व्यक्ति की प्रेरणा बड़ी हद तक प्रभावित होती है। मार्क्सवादी विचार धारा देश विदेशों में उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है। इसका कारण यही है कि जीवन की समस्याओं का एक मात्र समाधान यही विचार दर्शन कर सकता है। पूँजीवादी विचार धाराएँ अनेक साधन रखते हुए भी निरन्तर दुर्बल और निस्तेज पड़ रही हैं, क्योंकि उनके पास जीवन और साहित्य के लिए कोई समीचीन उत्तर नहीं है।

यहाँ हम ऐसी ही एक अत्यन्त सूनी और निर्बल विचार धारा का वर्णन कर सकते हैं, जिसे फ्रान्स का शासक वर्ग और अमरीकी साम्राज्यवादी बड़ा सहारा दे रहे हैं। इसका नाम है 'अस्तित्ववाद' (Existentialism)। बड़े बड़े शब्दों के मोहक भ्रमजाल में कलाकारों के मन को भटकाने का यह निष्फल प्रयास है। अस्तित्व के यथार्थ और उसकी समस्याओं से सभी परिचित हैं, किन्तु अस्तित्ववादी कहते हैं अस्तित्व वह नहीं जिसे आप समझते हैं वरन् वह जिसे आप नहीं समझ सकते। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक फ्रान्स के कवि और उपन्यासकार सार्त्र (Sartre) हैं, जिनकी कविता एक शब्द-जाल मात्र है और जिनके अश्लील उपन्यास जीवन को एक घृणित और जघन्य रूप में प्रस्तुत करते हैं। अश्लील कला अब शासक वर्ग का और अमरीकी साम्राज्यवाद का अन्तिम सहारा बन रही है। इसका निम्नतम स्तर रूप हम हॉलीवुड के फिल्मों में देखते हैं जिनका काफी प्रचार पूँजीवादी देशों में होता है। इस दूषित प्रभाव के प्रति सचेत संघर्ष करने की आवश्यकता है। साम्राज्यवादी प्रचारक इसी प्रकार की प्रवृत्तियों को साहित्य में भी पोषना चाहते हैं, किन्तु सामाजिक क्षेत्र के ही समान साहित्यलोचन के क्षेत्र में भी अन्ततः विजय स्वस्थ, मानवतावादी विचारों और परम्पराओं की ही होगी।

अँग्रेजी आलोचना का विकास

प्रो० मोहनलाल एम० ए०, साहित्य-रत्न

आलोचना एक चेतन कला है और उसके विकास के लिए साहित्य का पुष्ट होना आवश्यक है। आलोचना के मान तभी निश्चित हो सकते हैं। यूरप की साहित्यिक पुनर्जागृति के समय आलोचकों के सामने तीन आदर्श थे—

होरेस—आर्स पोयेटिका (Ars Poetica)

अरस्तू—पोयेटिक्स (Poetics)

प्लेटो—रिपब्लिक (Republic)

इटली में आलोचना का विकास शुरू हुआ। वहाँ की साहित्यिक पुनर्जागृति (रेनेसाँस) का आलोक इङ्गलैण्ड में दो सौ वर्ष पश्चात् फैला। उसकी किरणों ने चॉसर की कविता में उस समय कुछ स्फूर्ति भरी थी, पर उसके समग्र प्रकाश के लिए एलिजबेथ के युग की अभी प्रतीक्षा थी। चॉसर की कविता में आलोचना के कुछ तत्व ढूँढे जा सकते हैं, जैसे—विचारों में सन्तुलन, लोक रुचि पर विवेकपूर्ण मत, लैटिन और फ्रेंच साहित्यिकों में श्रद्धा—किन्तु आलोचना का यथार्थ आरम्भ इङ्गलैंड में एलिजबेथ के युग से ही माना जाना चाहिए।

क्लासिकल (Classical) साहित्य के अध्ययन ने लोगों की रुचि को आलोचना की ओर आकृष्ट किया। आरम्भ में इस आकर्षण का कारण उस साहित्य की श्री और सम्पन्नता थी, न कि उसकी रीतिबद्धता और अनुशासन प्रियता। इस अनुकरण से अँग्रेजी लेखकों को स्फूर्ति मिली, किन्तु आगे चल कर ड्राइडेन और पोप के युग में इसने लोगों के स्वतन्त्र चिन्तन पर अंकुश लगा दिया। एलिजबेथ के युग में तो उन्मुक्त कल्पना विलास के लिए संयम की कुछ आवश्यकता भी थी, किन्तु निओ क्लासिकल युग में नियन्त्रण का भार इतना दुर्वह हो गया कि उसकी प्रतिक्रिया आवश्यक समझी जाने लगी। रोमैंटिक युग में इस प्रतिक्रिया का आक्रोश मिलता है, किन्तु जब सौन्दर्य-बोध ने स्वेच्छाचारिता के लिए द्वार खोल दिए तो विक्टोरिया युग में आर्नल्ड ने क्लासिकल संयम की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान फिर आकर्षित किया। आधुनिक युग में एक बार फिर सौन्दर्य बोध के मूल्यों और क्लासिकल संयम के नियन्त्रित मार्गों में तनातनी मिलती है। यह क्रिया प्रक्रिया शाश्वत है।

अँग्रेजी के आलोचना-साहित्य को काल क्रम की दृष्टि से पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

१—एलिजबियन युग—प्रारम्भ

२—ड्राइडन पोप युग—निओ क्लासिकल प्रवृत्ति

३—रोमांटिक युग—सौन्दर्य बोध का विकास

४—विक्टोरियन युग—सौन्दर्य-बोध की क्रिया-प्रक्रिया, सङ्गति असङ्गति।

५—आधुनिक काल—विभिन्न धाराएँ और आत्मिक विच्छिन्नता।

× × ×

एलिजबियन युग में आलोचक के सामने वे समस्याएँ नहीं थीं जो आज हैं। उस समय आलोचना के प्रमुख ध्येय दो थे—

(१) लेखक का उसकी रचना या रचना विधान के अनुसार वर्गीकरण करना।

(२) छन्द आदि कविता के बाह्य उपकरणों की जाँच करना।

आलोचना की आरम्भिक अवस्था में इन प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है। वर्गीकरण से आलोचना का श्री गणेश होता है और वर्गीकरण स्वयं बाह्य उपकरणों पर आश्रित होता है। ग्रीक आलोचकों ने कविता के गीति, प्रबन्ध आदि भेद किए। स्वयं प्लेटो ने वर्गीकरण के महत्व को स्वीकार

किया। अरस्तू ने भी काव्य के वहिर्पक्ष को अपने पोएटिक्स में महत्व दिया है। किन्तु प्लेटो और अरस्तू के पास आलोचक की वह तीव्र दृष्टि है जो काव्य के बाह्य उपकरणों को भेद कर लेखक के भाव स्तरों में प्रवेश कर जाती है। इस युग के अँग्रेजी आलोचकों के पास न तो वह मर्मग्राहिणी प्रज्ञा ही थी और न वह तीव्र दृष्टि ही। व काव्य के वहिर्पक्ष का विवेचन करने में ही व्यस्त रहे। उनके सामने दो और व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं जिनसे ग्रीक मुक्त थे।

१—क्या तुकान्त कविता (Rhyme) अभीष्ट है? यदि नहीं तो क्या अनुप्रासात लय (Alliterative Rhythm) को उसका स्थान दिया जा सकता है?

२—क्या क्लासिकल छन्दों का प्रयोग, जैसा सिडनी और स्पेंसर ने किया वाञ्छनीय है?

एस्कम और वेब ने तुकांत कविता का विरोध किया, और डेनियल ने उसका समर्थन। पटेनहम ने यह सिद्ध करना चाहा कि तुक कविता के लिए अच्छी भी हो सकती है, बुरी भी। इस विवाद का कोई अन्त नहीं है, पर कवि की अनुभूति विवाद की जड़ता में विमूढ़ नहीं हो सकती। उसकी सृजनात्मक प्रतिभा रीतिमुक्त होती है। 'रिम, रेम, रम' की अनुप्रास-प्रवृत्ति का विरोध तो चॉसर की कविता ने ही कर दिया था और उसकी कविता में इतनी गति थी कि अनुप्रासात कविता का जूआ सदा के लिए दूर फेंक दिया गया। पर उसकी कविता तुकान्त थी, लय की तरलता आने में अभी बहुत देर थी।

इसी प्रकार क्लासिकल छन्दों को अँग्रेजी कविता पर लादने का प्रयत्न बहुत सफल नहीं हो सका। एक तो यह अँग्रेजी कविता की प्रकृति के विरुद्ध था और दूसरे सिडनी और स्पेंसर को छोड़ कर अँग्रेजी कवियों के पास वह प्रतिभा भी नहीं थी जिससे विदेशी छन्दों का वे सफल प्रयोग करने में समर्थ होते। सिडनी का महत्व क्लासिकल छन्दों की पैरवी करने के कारण नहीं है, यह उसकी बहुत सी दुर्बलताओं का एक अंश ही है। उसने अपनी पुस्तक (Apology for poetry) में गॉसन के कवियों और कविता पर किये गए प्रहारों का मुँह तोड़ उत्तर दिया है। उसकी पुस्तक कट्टरपन्थियों (Puritan) के ड्रामा-विषयक आक्षेप का उत्तर तो है ही, पर उसका सबसे बड़ा लक्ष्य कवि की अनुभूति, उसकी स्वतन्त्रता का समर्थन करना है। वह कविता को संकीर्ण आदर्शवादियों के पाश से मुक्त करने का प्रयास है। इस दृष्टि से अँग्रेजी के आलोचना साहित्य में उसका विशिष्ट स्थान है।

× × × ×

एलिजबेथ का युग प्रधानतः क्रियात्मक था। साहित्यिक स्रष्टा था, उसकी कल्पना के पास आत्म-निरीक्षण का अवकाश नहीं था। इसका यह अर्थ नहीं कि क्रियात्मक और आलोचनात्मक साहित्य में कोई तात्विक विरोध होता है। गेटे और कॉलरिज कवि थे, पर आलोचक भी। शायद एक श्रेष्ठ आलोचक के पास कवि की अनुभूति का होना आवश्यक है। पर एलिजबेथ के युग में लेखक अपनी क्रियात्मक कल्पना के जादू में इतना विमुग्ध था कि साहित्य के विवेचन और परीक्षण के लिए वह समय नहीं निकाल पाता था। पर जब इस क्रियात्मक शक्ति का ह्रास होने लगा तो लेखक का सारा आवेग ज्वारभाटे की तरह नीचे बैठ गया। तैमूर, फास्टस, मेकबैथ और लियर जैसे चरित्रों का निर्माण करने वाली प्रतिभा क्षुद्र वाद विवाद कलह स्पर्द्धा, उपहास-व्यंग्य के घेरों में चक्कर काटने लगी अथवा Pleasures of the Imagination और Art of preserving Health जैसे शुष्क प्रवचनों में व्यस्त हो गई। एक नए युग का सूत्र पात था।

साहित्य की इस धारा को पूर्णतः अभावमूलक मानना भी गलत है। अगर यह अभावमूलक ही है तो एक दीर्घकाल तक लोगों की चेतना को यह कैसे आकर्षित कर सकी और आज भी लोगों में इसके लिए

इतना आग्रह क्यों है। एलिजबिथन युग की उच्छृङ्खलता कल्पना के विरुद्ध बुद्धि के नियन्त्रण की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। आलोचना के लिए जिस बौद्धिक गम्भीरता और मानसिक सन्तुलन की आवश्यकता होती है, वह इसने लोगों को दी।

बुद्धि (Reason) और विवेक (Good Sense) का समर्थन सिडनी और बेन जॉनसन ने भी किया था, पर उनमें निओक्लासिकल युग की प्रवृत्ति नहीं खोजनी चाहिए। वह तो सबसे पहले ड्राइडन में व्यक्त हुई। ड्राइडन प्रथम व्यक्ति है जिसने सिद्धान्तों के आधार पर कृति के मूल्याङ्कन पर बल दिया। उसकी आलोचना केवल शुष्क सिद्धान्तों और गुण-दोषों का सङ्कलन नहीं है, उसमें स्फूर्ति है। यद्यपि अरस्तू और होरेस, रेपिन, ल बॉसू और बायलो उसके लिए आदर्श हैं तथापि उसमें स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति है। सिडनी ने अरस्तू की कसौटी पर रोमैन्टिक ड्रामा की अवहेलना की। पर ड्राइडन ट्रेजेडी और कॉमेडी के मिश्रण में नाटक की उत्कृष्टता देखता है। उसमें दोष न हो यह बात नहीं। वह अभावग्रस्त है, परम्परा के लिए उसमें मोह है, पर उसमें बुद्धि और विवेक है, तुलनात्मक अध्ययन की रुचि है, लेखक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने की क्षमता है—वह अँग्रेजी आलोचना का प्रथम शास्त्रीय व्यक्ति है।

निओ क्लासिकल युग में साहित्य की आत्मा की अपेक्षा उसके रूप को अधिक महत्व दिया गया और आलोचना व मान बँधे हुई रूढ़ियों को स्वीकार कर चले। इतना होते हुये भी पोप में स्पेंसर के लिए श्रद्धा है, शेक्सपियर के लिए आग्रह है, और एडिसन ने मिल्टन की सराहना की, चेवी चेज (Chavy-Chase) की प्रशंसा की। कल्पना के आनन्द को प्रकट किया। कलाकार की आत्मा के सहज आनन्द को किसी भी काल में कुचला नहीं जा सकता। इसका यह तात्पर्य नहीं कि पोप और एडिसन ने युग की धारा का प्रतिरोध किया। उनमें क्लासिकल दृष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व है। एडिसन ने जिस कल्पना के आनन्द की बात की है, वह दृश्य जगत् से सम्बद्ध कल्पना है। कल्पना का वहाँ वह अर्थ नहीं है जो लॉञ्जीनस या कॉलरिज में मिलता है। इसके अतिरिक्त वह अँग्रेजी ट्रैजेडी को क्लासिकल ट्रैजेडी से श्रेष्ठ मानता है, पर रोमैन्टिक ड्रामा—ट्रैजेडी और कॉमेडी के मिश्रण को हेय। तुक का वह निन्दा करता है और साहित्यिक न्याय को अनावश्यक मानता है। उसकी आलोचना वस्तुतः युग की लोक रुचि के अनुकूल है, उसमें सामान्य सूझ-बूझ (Common Sense) है।

पोप ने भी निओ क्लासिकल धारणाओं का ही अपनी आलोचना में पालन किया है। उसका अध्ययन गम्भीर नहीं था, पर उसकी बुद्धि प्रखर थी। जब वह Nature के अनुकरण की आज्ञा देता है, तो उसका तात्पर्य रीति और नियम के पालन से ही है। आलोचना के क्षेत्र में उसने Essay on Criticism की रचना की, पर उसकी आलोचना में असङ्गतियाँ हैं। वह बुद्धि-विवेक का आराधक है।

डा० जॉनसन अपने युग का विशिष्ट आलोचक है। उसके पास बुद्धि का लोहा है, व्यापक रुचि वैशिष्ट्य है, विस्तृत अध्ययन है, और निर्भीक निर्णय शक्ति है। रुचि और रूढ़ि के आधार पर वह कठोर से कठोर प्रहार कर सकता है। मिल्टन और ग्रे के प्रति इसलिए वह अनुदार है। और फिर वह नीतिपरक आलोचक है। इतना होते हुए भी डा० जॉनसन की आलोचना में ताजगी और स्फूर्ति है। वह वाणी का डिक्टेटर है, आलोचना का जज।

× × ×

निओ—क्लासिकल आलोचना ने बुद्धि की आराधना की थी, पर वह स्वयं अबुद्धिवादी होने लगी। रूप को उसने महत्व दिया था, पर वह स्वयं अरूप में विकृत होने लगा। कलाकार की अनुभूति

इन बन्धनों में छटपटा उठी। आलोचना ने सौन्दर्य बोध का आश्रय लिया। निओ-क्लासिकल ने नियमण को स्वीकार किया था, रोमैंटिक आलोचक ने स्वतन्त्रता की उपासना की। एक गाम्भीर्य और मर्यादा चाहता था, दूसरा स्पदन और आवेग। उसके नवीन मूल्यों को इस प्रकार रखा जा सकता है।

१—रूढ़ियों और रीतिबद्ध धारणाओं का निर्वासन। कृति के मूल्याङ्कन का आधार जड़ नियम नहीं, उसकी प्रभाव-शक्ति है। आलोचक का प्रधान गुण कृति के प्रभाव (Impression) को ग्रहण करने की क्षमता है।

२—साहित्य की चेतना के लिए आचार्यों का अनुकरण आवश्यक नहीं है। मध्य-युग के लेखकों में भी चेतना की राशि है।

३—साहित्य के सभी कालों का अध्ययन आलोचक के लिए आवश्यक है। 'गॉथिक अज्ञान' एक भूल है।

४—एक काल के साहित्य पर दूसरे काल के नियम आरोपित नहीं किए जाने चाहिए, या वे नियम इतने उदार हों कि देश-काल की सीमा के परे वे साहित्य की अमर आत्मा को प्रकट कर सकें।

५—साहित्य का वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं है, उसे अधिक महत्व देने से हानि हो सकती है। साहित्य की नवीन विधाएँ भी उत्पन्न होती हैं।

६—कलाओं की सीमाएँ रूढ़ नहीं हैं। वे एक दूसरे में निरोहित हैं। कविता में सङ्गीत के स्वर और चित्र के रङ्ग रहते हैं।

७—साहित्य का लक्ष्य आनन्द है, रूप उसका लक्ष्य है, कल्पना आत्मा।

८—सौन्दर्य वीभत्स नहीं है, वह सत्य का सकलन है उसमें निहित है।

काव्य के स्पन्दन और प्रभाव को ग्रहण करने के कारण रोमैंटिक आलोचना प्राचीन नियमों का उल्लङ्घन तो करती है, पर व्यक्ति के रुचि-वैचित्र्य के कारण वह स्वयं नए-नए नियमों की उद्भावना करने लगती है। इससे आलोचना में एक शाही गैर-जिम्मेवारी फैल जाती है, और वह अपने प्रतिपाद्य विषय से दूर हो जाती है। दूसरे, रोमैंटिक आलोचक में निओ-क्लासिकल लेखकों के लिए कभी-कभी इतना गहरा तिरस्कार पैदा हो जाता है कि उनके अच्छे से अच्छे तथ्य भी वह स्वीकार नहीं करना चाहता। कॉलरिज ने जॉनसन के साथ कभी न्याय नहीं किया और हेज़लिट ने सदा ड्राइडन की उपेक्षा की। एक बात और। रोमैंटिक आलोचना के सौन्दर्य बोध पर आश्रित होने के कारण इस बात की आशङ्का बनी रहती है कि आनन्द की अनुभूति केवल ऐन्द्रियक उल्लास या कायिक सौन्दर्य में ही तिरोहित न हो जाय। इन आलोचकों में एक और त्रुटि थी। न प्राचीन आचार्यों का और न अपने युग के अन्य साहित्यों का ही उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। कॉलरिज और डी क्वीनसी (De Quincey) जैसे विद्वानों का अध्ययन भी विशेष पूर्ण नहीं था। यह सब होते हुए भी इन आलोचकों ने आलोचना साहित्य के विकास में बहुत योग दिया है।

१८वीं शताब्दी में आलोचना के जो मान स्थिर थे उनका सब से तीव्र प्रतिशोध पहले पहल वर्ड्सवर्थ ने किया। उसके (Lyrical Ballods) की भूमिका का साहित्य के ऐतिहासिक काल क्रम में निजी महत्व है। निओ-क्लासिकल मूल्यों के स्तूप उसके धक्के से ढह गये। वर्ड्सवर्थ से भी अधिक कॉलरिज ने रोमैंटिक आलोचना के निर्माण में योग दिया। वर्ड्सवर्थ की बौद्धिकता स्थूल है। उसमें वह तरलता नहीं जो कॉलरिज में प्रवहमान है। उसमें आत्म-केन्द्रण की प्रवृत्ति है और इस कारण उसकी आलोचना अहं को नहीं छोड़ सकती। कॉलरिज का अध्ययन गम्भीर था। उसका व्यक्तित्व मौलिक था। आलोचना में सौन्दर्य बोध के मूल्यों को उसने प्रतिष्ठित किया।

कॉलरिज की आलोचना की सबसे बड़ी दुर्बलता

उसकी अनिश्चितता है। उसके विपरीत ले हट की आलोचना सुनिश्चित है। वह उदार भी है और उसमें आत्म उल्लास का सहज स्पन्दन भी है, किन्तु उसमें उस दार्शनिक पृष्ठभूमि का अभाव है जिसके कारण कॉलरिज का इतना महत्व है। डी क्विन्सी के पास कालरिज के गम्भीर अध्ययन के साथ-साथ ले हट का आत्म उल्लास भी है। काव्य के पक्ष की विवेचना करने में वह सिद्धहस्त है, पर उसके पास अपने विषय को बाँधने की शक्ति नहीं है। असीम के स्वप्नों की तरह वह विच्छिन्न है, उसमें आभा है पर वाष्प की तरह झीना। यों शैली की आलोचना में भी स्वप्न जगत् की आभा है, और जिस स्तर पर उसका आलोक विकीर्ण होता है वह अगाधित है। उसकी आलोचना में कवि की आत्मानुभूति है, अतः उसके दार्शनिक या नीतिपरक (Ethical) सिद्धान्त स्वीकृत नहीं हैं। वे सभी सत्य हों, यह आवश्यक नहीं, किन्तु उनमें शैली के विचारों की सचाई अवश्य है—वह सचाई जिसकी कविता में उसने सदैव सोचा और लिखा है।

रोमैंटिक लेखकों में लैंब (Lamb) की आलोचना करते समय अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है—उसका व्यक्तित्व इतना लोकप्रिय है। उसकी आलोचना में उसके स्वभाव की मृदुलता और उदारता है, किन्तु उसमें व्यवस्था का सर्वथा अभाव है। दूसरे इस पृथ्वी से उसका इतना गहरा अनुराग है कि अगाधित के लिए उसके पास कोई संवेदना नहीं। शैली की कविता में इसीलिए उसे कोई आकर्षण नहीं दिखाई देता। पर लैंब की शैली इतनी आत्मीय और मोहक है कि उसका अनुकरण शायद असम्भव है।

रोमैंटिक लेखकों में हेजलिट का अध्ययन शायद बहुत अपूर्ण था, किन्तु आश्चर्य यह है कि उसकी आलोचना इतनी सुलझी हुई कैसे है। उसके पास शैली की स्वप्निल आभा नहीं कॉलरिज का अध्ययन नहीं, लैंब के स्वभाव की मृदुलता नहीं, पर उसके पास बौद्धिक पौरुष है, उसका मस्तिष्क उर्वर है। उसकी दुर्बलता शायद उसके स्वभाव की तिक्तता है जिसके कारण शैली और कीट्स की भी उसने उपेक्षा की।

रोमैंटिक युग के आलोचना साहित्य में पत्र-पत्रिकाओं के योग को भी ठीक से समझ लेना चाहिए। १८ वीं शताब्दी में इन पत्र-पत्रिकाओं को प्रथम कोटि के लेखकों का सहयोग प्राप्त था, पर १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में बुद्धि सम्पन्न लेखकों का सहयोग उन्हें नहीं मिल सका। जिन लोगों के हाथ में पत्र पत्रिकाएँ थीं उनकी बौद्धिक सहानुभूति नियो क्लासिकल धारा के साथ थी। 'एडिनबरा रिव्यू', 'क्वार्टरली' और 'ब्लैकवुड मेगेजीन' में जेफ्री, गिफर्ड, विल्सन, लॉकहर्ट आदि आदि आलोचकों ने रोमैंटिक कवियों पर सतत असंगत प्रहार किए। पर इन आलोचनाओं से एक परोक्ष लाभ ही हुआ, कवियों को अपनी दुर्बलताओं का ज्ञान होना आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि आलोचना का यह तरीका अच्छा नहीं था। दूसरे, इन पत्र पत्रिकाओं ने एक ऐसे माध्यम को प्रश्रय दिया जिसके द्वारा आलोचना का आगे चल कर आशातीत विकास हुआ। रोमैन्टिक युग में तो प्रायः सभी आलोचक पत्र पत्रिकाओं से सम्बद्ध थे—लैंब, हैजलिट, हन्ट, कॉलरिज आदि, का सम्बन्ध अच्छे पत्रों से था। इस माध्यम ने विक्टोरियन युग के आलोचकों के निर्माण के लिए भी क्षेत्र तैयार कर दिया।

× × × ×

विक्टोरियन युग की आलोचना मूलतः रोमैंटिक परम्परा का विकास है। उस युग की आलोचना अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ केवल कुछ प्रमुख आलोचकों का दिग्दर्शन कराया जायगा—

१—मैकॉले—फुटकर निबन्धों के समग्र ऐतिहासिक + आलोचनात्मक

२—थैकरे—English Humorists of

the 18th Century—आलोचना में गद्य के तत्व का मिश्रण

३—कार्लाइल—निबन्ध

४—रस्किन—ललित कलाओं के साहित्य पर विचार

५—पेटर—Appreciations

६—मैथ्यू आर्नल्ड—Essays in Criticism

७—वेजहट—Literary Studies

मैकॉले का अध्ययन विस्तृत था—लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच, स्पेनिश, जर्मन आदि भाषाओं का उसे ज्ञान था। किन्तु आलोचना के क्षेत्र में उसका बहुत अधिक योग नहीं है। उसने स्वयं यह कहा है कि वह कला कृतियों में आनन्द ले सकता है, पर उनकी आलोचना करना उसका काम नहीं है। उसका क्षेत्र इतिहास है। इसलिए उसकी आलोचना में भी इतिहास का सा विस्तार है। वह जब साहित्य-सम्बन्धी निष्कर्ष रखता है तो असत्य कहता हो यह बात नहीं, पर सत्य भी उससे प्रकट नहीं होता। एक बार जो उसके मुँह से निकल गया वह उस पर अटल रहना चाहता है, और जो कुछ कहता है वह सर्वोत्तम विशेषणों में। उसकी शैली में तार्किकता और स्फूर्ति है। उसमें प्रभात का उन्मेष नहीं, दुपहर की प्रचण्डता है।

मैकॉले में चिन्तनात्मक (Speculative) प्रवृत्ति का अभाव है और उसके विपरीत कार्लाइल में यही सबसे अधिक। वह अपनी आलोचना में लेखक के जीवन की गहराइयों को प्रकट करता है। इस प्रकार वह आलोचना जीवन-चरित से सम्बद्ध (Biographical) हो जाती है। वह जीवन में घटना से अधिक भाव को महत्व देता है। जो कुछ है उसका मूल भाव है। एक महती आदर्श भावना उसकी आलोचना को अनुप्राणित किए हुए है। कार्लाइल के निर्माण में एक दार्शनिक की, एक रहस्यवादी की अनुभूति है। जर्मनी की दार्शनिक विचार धारा का उस पर प्रभाव है—सब से अधिक गेटे का। उसकी साहित्यिक आलोचना का बहुत अधिक महत्व नहीं है, उसकी सबसे बड़ी विशेषता संवेदना और उदारता है। कार्लाइल की दुर्बलता यही है कि वह अपनी आलोचना में अपने युग को नहीं भूलता जिसके लिए उसके पास कोई सहानुभूति नहीं। उसकी शैली में तीव्र आकर्षण तथा आवेगपूर्ण स्पन्दन है।

कार्लाइल की तरह रस्किन भी आदर्शवादी है। विक्टोरियन युग की स्थूल भौतिकता की उसमें आदर्शमूलक प्रतिक्रिया है। अपने युग के लेखकों में रस्किन का व्यक्तित्व अत्यन्त मौलिक और प्रभावपूर्ण है। उसकी आलोचना में सौन्दर्य बोध और नैतिकता के मूल्यों का समन्वय है। ललित कलाओं की आलोचना उसकी सबसे बड़ी देन है; इस आलोचना में जिन सिद्धान्तों को उसने अपने सामने रखा है उनको संक्षेप में यों रखा जा सकता है—

१—कला का लक्ष्य जीवन को सुन्दर बनाना है। उसमें जीवन की सचाई का होना आवश्यक है। उसे प्रकृति (Nature) का अनुकरण करना चाहिए।

२—कला के सौन्दर्य बोध से ही जीवन में उत्कर्ष आ सकता है। अर्थ लिप्सा के विरोध में कला के इस मूल्य को स्वीकृति आवश्यक है।

३—धर्म से भी अधिक कला ही मानवता के सत्व की रक्षा कर सकती है। वह जीवन के उल्लास को स्थिर रख सकती है।

रस्किन की धारणा थी कि कला का उत्कर्ष पुण्य-चरित व्यक्ति से ही सम्भव है और वह शोषण तथा दमन से मुक्त परिस्थितियों में ही सम्भव है। इस धारणा पर प्रश्न उठाया जा सकता है, पर इस विवाद का कोई अर्थ नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कला की यह धारणा महान है और उसी ने रस्किन की साहित्यिक आलोचना को प्रभावित किया है। वह आचार्य है, गुरु है, बस उसकी आज्ञा का पालन

होना चाहिए, उस पर प्रश्न नहीं उठाना है। यही उसकी कमजोरी है। जिस लेखक के साथ उसकी सहानुभूति न हो, उसके सम्बन्ध में वह जो निर्देश देता है, वे गलत रास्ते पर भी ले जा सकते हैं। पर इतना निश्चित है कि उसके निर्देश गलत होने पर भी शिक्षा पूर्ण हैं।

आलोचना के क्षेत्र में पेटर रोमांटिक लेखकों की परम्परा में आता है। रस्किन ने सौन्दर्य बोध को नैतिकता से सम्बद्ध किया। पर पेटर उसे स्वतन्त्र रूप में ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध में उसकी दो मान्यताएं हैं—

१—सौन्दर्य बोध एक दृष्टिकोण नहीं, निर्लोंसपी है। उसका लक्ष्य आनन्द की विशुद्धि है।

२—अद्भुत में आकर्षण है। वह जीवन में उल्लास लाता है।

इन धारणाओं का उसकी आलोचना पर दो रूप से प्रभाव पड़ा। उसकी आलोचना का क्षेत्र सौंदर्य बोध तक सीमित रह गया। मानसिक विकारों में भी वह 'अद्भुत' खोजने लगा—शायद इसका कारण यह भी हो कि पेटर का मस्तिष्क स्वयं कुछ विकार ग्रस्त था। दूसरे कला को वह ऊँचा तो उठा सका, पर उसमें विशालता नहीं ला सका। पर इतना उसने अवश्य किया कि आलोचना को रीतिबद्ध धारणाओं से मुक्ति दी।

विक्टोरियन युग के आलोचकों में मैथ्यू आर्नल्ड का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। उसमें क्लासिकल और रोमैण्टिक प्रवृत्तियों का समन्वय मिलता है। 'प्रभाव' के मूल्य को स्वीकार करते हुए वह संयम की आवश्यकता पर भी बल देता है। वह केवल साहित्य का ही आलोचक नहीं है, वरन् जीवन का भी आलोचक है। रस्किन ने कला के लिए जो कुछ किया, आर्नल्ड ने वही साहित्य के लिए। उसका अध्ययन गम्भीर था। ग्रीक आचार्यों, गेटे (Goethe), सात ब्यूव (Sainte Beuve) का उस पर प्रभाव है, पर वह प्रभाव बुद्धि पर आश्रित नहीं है, वह उसकी अनुभूति में आत्मसात् हो गया है। उसके आलोचनात्मक सिद्धान्तों को निष्कर्ष रूप में यों रख सकते हैं—

१—क्रियात्मक साहित्य में दो तत्वों का प्रभाव ढूँढा जा सकता है—लेखक का व्यक्तित्व और युग का वातावरण।

२—कविता जीवन की आलोचना है। उसका विषय मानवीय कार्य व्यापारों तक ही सीमित नहीं, किन्तु उन व्यापारों की समस्त चेतन प्रक्रियाएँ भी हैं।

३—काव्य की उत्कृष्टता का आधार भावगत् सत्य और कलागत् सौन्दर्य है। भावगत् सत्य से तात्पर्य कवि के जीवन की गम्भीर और सम्पूर्ण सचाई है।

आर्नल्ड की आलोचना में इन तत्वों का सामञ्जस्य है। जीवन के समग्र उत्कर्ष और लोकहित पर उसकी दृष्टि स्थिर है। उसके विचारों में मौलिकता और यथा साध्य निरपेक्षिता है। उसके विचारों से हम पूर्णतः सहमत ही हों, यह आवश्यक नहीं। शैली उसके सिद्धान्तों के आधार पर महान् नहीं, ठहरता उसमें वह अनौन्द्रियता और स्वप्निलता देखता है। इतना रुचि वैचित्र्य हो सकता है और उसका रुचि वैचित्र्य तो उसके सिद्धान्तों पर आश्रित है। उसकी आलोचना क्रियात्मक है। और आर्नल्ड शास्त्रीय आलोचक होते हुए भी सुघर है। आधुनिक युग की आलोचना को उसने सबसे अधिक प्रभावित किया है। चेस्टरटन, ब्रैडले, इरविंग बैबिट आदि आलोचक उसकी परम्परा में आते हैं।

× × × ×

आधुनिक युग में अँग्रेजी आलोचना प्रमुखतः वैयक्तिक और प्रभाववादी है जो रोमैंटिक प्रवृत्ति का ही रूपान्तर है किन्तु वह अनेक रूपों में प्रकट हुई है और उस पर अन्य प्रवृत्तियों का भी प्रभाव पड़ा है। इसके चार मूल भेद किए जा सकते हैं—

१—सौन्दर्य बोध पर आश्रित।

२—ऐतिहासिक आलोचना ।

३—जीवन चरित सम्बन्धी आलोचना ।

४—समान शास्त्रीय आलोचना ।

सौन्दर्य बोध के सैद्धान्तिक पक्ष का उद्घाटन करने वाले आलोचकों में प्रमुख हैं अबरक्राम्बी (Abercrombie) और राबर्ट ब्रिजस । अबर क्राम्बी ने सौन्दर्य बोध के दार्शनिक पक्ष का भी विवेचन किया है । टेकनिक के क्षेत्र में पर्सालब्बक, ई० एम० फॉस्टर, जॉर्ज मूर, राबर्ट ग्रेव्ज आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं । सौन्दर्य बोध और मनोविज्ञान की अनिश्चित सीमा रेखाओं पर इस युग में आलोचना का बहुत ही महत्वपूर्ण विकास हुआ है । मैडने के योग को कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता । उसमें सौन्दर्य-बोध के मूल्यों पर कला का उत्कृष्ट विवेचन मिलता है और साहित्यिक आलोचनाओं में मनोविज्ञान के आधार पर उसने जो मान स्थिर किए हैं वे सुस्पष्ट और ग्राह्य हैं । इसी कोटि में रिचर्ड्स आता है । एक ओर वह ज्ञान बोध के स्तरों पर प्रकाश डलता है, दूसरी ओर रचना के निर्धारित मूल्यों की परीक्षा करता है । ज्ञान बोध के लिए वह इन्द्रियों, भावों और विचारों की गहराइयों में प्रवेश करता है, और मूल्याङ्कन के लिए सौन्दर्य बोध के साथ साथ नैतिक, बौद्धिक, टेकनिकल सभी पक्षों को लेता है । उसकी आलोचना सौन्दर्य बोध और नैतिकता के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न करती है । रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति में हरबर्ट रीड, एफ० आर० लीविस आदि अन्य आलोचक भी आते हैं ।

सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी आलोचना के अन्तर्गत दो प्रकार के आलोचकों को और रखा जा सकता है— एक वे जो इस क्षेत्र में शास्त्रीय हैं, और दूसरे वे जो प्रभाववादी हैं । शास्त्रीय व्यक्ति अपनी आलोचना में रुचि-वैशिष्ट्य से अधिक निर्धारित मान दण्डों पर बल देता है । इन मान दण्डों के लिए ग्रीक और रोमन आचार्यों के साथ अपने देश के विशिष्ट आलोचकों से भी सहायता ली जा सकती है । इस क्षेत्र में टी० एस० इलियट (T. S Eliot) का नाम विशेष उल्लेखनीय है । जिस प्रकार उसके राजनीतिक और धार्मिक विचार रीतिबद्ध होते जा रहे हैं, उसी प्रकार सौन्दर्य बोध के मान भी । आर्नल्ड की तरह वह भी लेखकों का नवीन मूल्याङ्कन करता है । इस मूल्याङ्कन में वह ऐतिहासिक आलोचना की सीमा का भी स्पर्श करने लगता है । उसके पास लेखक के भावों की तह में पैठने की शक्ति है, विश्लेषण करने की प्रतिभा है और अभिव्यक्ति की निर्भीक स्पष्टता है ।

शास्त्रीय पद्धति के एकदम विपरीत प्रभाववादी आलोचना है जिसका मूल ध्येय कला के इन्द्रियानुभूत प्रभाव को व्यक्त करना है । इस कोटि में आर्थर साइमन्स को रखा जा सकता है जो अपने सिद्धान्तों में पेटर का उत्तराधिकारी है । मूल्य निर्धारण की अपेक्षा कलात्मक अनुभूति के स्पन्दनों को वह व्यक्त करता है । रॉबर्ट लिन्ड और क्विलर कूच को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है । उनकी आलोचना में उनके व्यक्तित्व का अदम्य आग्रह है ।

इस युग में ऐतिहासिक समीक्षा का भी अच्छा विकास हुआ है । इस प्रकार की समीक्षा के लिए अपने साहित्य के अतिरिक्त अन्य साहित्यों का अध्ययन अत्यत उपयोगी सिद्ध होता है । विभिन्न साहित्यों का इतना व्यापक और गहरा ज्ञान केवल कुछ लोगों में ही मिलता है । लेगुइ (Legouis) और केजामियाँ (Cazamian) जैसे फ्रैञ्च लेखकों ने अँग्रेजी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत कर इस व्यापक ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है । इस क्षेत्र में सेंटसबरी और एडमण्ड गॉस के नाम आते हैं । सेंटसबरी ने सम्पूर्ण साहित्य को अपने विवेचन का विषय बनाया है । उसकी शैली में पाण्डित्य, मार्मिक विदग्धता और स्फूर्ति है । विवादास्पद विषयों पर मत देते समय उसकी शैली में अनोखा घुमाव मिलता है । साहित्य के काल विशेष या रूप-विशेष

के अच्छे अध्ययन हेरॉल्ड विलियम्स, ए० सी० वार्ट, मॉरगेन, कनलिफ, ह्यू वॉकर आदि ने प्रस्तुत किए हैं। ऐतिहासिक आलोचना में एक दोष भी मिलता है—विद्वता और साहित्यिकता एक दूसरे से दूर होती जा रही है। ग्रेग और एडमण्ड चेम्बर्स की आलोचनाएँ विद्वतापूर्ण हैं, पर सुपाठ्य नहीं। इसके विपरीत वर्जीनिया वूल्फ की ऐतिहासिक आलोचना में कल्पना की इतनी अधिक मात्रा है कि उस पर सहज विश्वास नहीं होता।

जीवन चरित सम्बन्धी आलोचना ऐतिहासिक आलोचना का ही एक उपभेद है। इस दिशा में हेरॉल्ड निकलसन और मिडलटन मरी के नाम उल्लेखनीय हैं। उनकी आलोचना में कवि के व्यक्तित्व और साहित्यिक रूप का सङ्गठित विश्लेषण मिलता है और उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन हुआ है।

समाज-शास्त्र की तुला पर साहित्य की जो आलोचना होती है उसमें साहित्य और जीवन के सम्बन्ध का ध्यान रखा जाता है। इस वर्ग में सबसे मजेदार आलोचक जी० के० चेस्टरटन है जिसकी आलोचना में साहित्य और जीवन का रूढ़िगत दृष्टिकोण है। जिस लेखक के साथ उसकी प्रकृति का मेल बैठता है, उसकी आलोचना करते समय उसमें उल्लास मिलता है, जैसे डिकेन्स की आलोचना में, और जिस लेखक के दृष्टिकोण के प्रति उसकी सहानुभूति नहीं या जिसके मानसिक विचार से वह अवगत है, उसकी समीक्षा करते समय उसमें प्रखरता आ जाती है, जैसे शॉ की आलोचना में। चेस्टरटन के रूढ़िगत दृष्टिकोण के विपरीत हेवलॉक एलिस में जीवन के प्रति उदार और स्वतन्त्र दृष्टिकोण मिलता है। वह मनुष्य की आत्मा को बौद्धिक और सामाजिक ग्रन्थियों की दासता से मुक्त देखना चाहता है। कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जो सामाजिक विधान में आमूल परिवर्तन चाहते हैं जैसे शॉ। उनकी आलोचना में तीव्र व्यङ्ग्य मिलता है।

आज जो आलोचना की गति विधि है उसे देखते हुए कुछ सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

१—यह युग संवेदन की विच्छिन्नता (Disintegeration of Sensibility) का युग है। पिछले युगों में लेखक की अनुभूति-चेतना में जो आत्मिक निष्ठा व्याप्त थी वह आज विच्छिन्न हो गई है। इस विच्छिन्नता के कई रूप हैं जैसे धर्म और समाज के परम्परागत विचारों में विच्छिन्नता, रीति-नीति में अविश्वास। रिचर्ड्स, लीविज, आइवर विन्टर्स, आर० पी० ब्लेकमर की आलोचनाओं में इस विच्छिन्नता के चिह्न देखे जा सकते हैं।

२—जीवन में बौद्धिक विशृङ्खलता के कारण कलाकार समाज से मूल्य ग्रहण नहीं कर पाता। जीवन से लगाव तोड़ कर वह अपने अन्दर से मूल्यों की उद्भावना करता है।

३—आलोचक निर्धारित सिद्धान्तों और मूल्यों का विवेचन करता है और जीवन का विश्लेषण भी। कला : धर्म—कविता : विज्ञान के मानों को वह स्थिर करना चाहता है। आर्नल्ड की धारणा थी कि कविता धर्म के कार्य-व्यापार को अपना सकती है कारण विज्ञान ने धर्म को हिला दिया है। रिचर्ड्स ने आर्नल्ड की मान्यता को स्वीकृति दी—धर्म में जो कुछ महत्वपूर्ण है वह उसकी सौन्दर्य बोध-सम्बन्धी चेतना। इसी से सम्बद्ध प्रश्न है, क्या विज्ञान का क्षेत्र कविता का क्षेत्र है? इलियट, टार्टे, रेनसम दोनों क्षेत्रों को विभिन्न मानते हैं। इसी से जुड़ा हुआ प्रश्न श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्रों के सम्बन्ध में है। एक आत्मानुभूति और गुणात्मक है, दूसरी मानसिक और परिमाणात्मक। पर क्या दोनों का समन्वय हो सकता है? हमारी आत्मिक विच्छिन्नता का क्या यह कारण नहीं कि हम इन्हें सश्लिष्ट नहीं कर पा रहे हैं? इन प्रश्नों का उत्तर सरल नहीं है और इन्हीं में लिपटी हुई—उलझी हुई आलोचना आज आगे बढ़ी आ रही है।

भारतीय आलोचना

प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए०

सबसे पहले यह विचार प्रसंग प्राप्त है कि 'भारतीय आलोचना' किसे कहेंगे। भारत में साहित्य-शास्त्र' या 'आलोचना' का जो कुछ विचार हुआ है वह संस्कृत भाषा में ही। आलोचना का विचार न प्राकृत में है, और न अपभ्रंश में, न देशी भाषाओं हिन्दी, बङ्गाली, मराठी, गुजराती आदि में। सांप्रतिक साहित्य में जो आलोचना का विचार होता है वह या तो संस्कृत साहित्य शास्त्र को आधार लेकर या पश्चिमी अँगरेजी भाषा के साहित्य शास्त्र का अवलम्बन करके। स्वतन्त्र रूप से विचार करने की परम्परा अभी तक स्थापित ही नहीं हुई है। एकाध विचारक ऐसे अवश्य मिलते हैं जिन्होंने स्वच्छन्दता का आभास दिया है, जैसे हिन्दी में स्वर्गीय प० रामचन्द्रजी शुक्ल ने, जिन्होंने पुरानी धारणाओं का विमर्श कुछ नए ढंग से किया है। इस प्रकार 'भारतीय आलोचना' का अर्थ है 'संस्कृत भाषा में की गयी आलोचना'।

संस्कृत में 'आलोचना' या 'समीक्षा' * का जो स्वरूप दिखाई देता है उसे आधुनिक पदावली में कहना चाहें तो कहेंगे कि उसमें 'सैद्धान्तिक आलोचना' तो है पर 'व्यावहारिक आलोचना' नाम-मात्र को है। जो है भी वह यत्र तत्र टीकाओं और भाष्यों में पड़ी है। किसी एक कवि को अथवा उसके किसी एक ग्रन्थ को लेकर विस्तृत पुस्तकाकार आलोचना नहीं मिलती। यही परम्परा आधुनिक युग का आरम्भ होने के पूर्व अर्थात् अँगरेजी भाषा की आलोचना के सम्पर्क में आने के पूर्व उत्तर-कालिक सभी भाषाओं में मिलती है। कोई नूतन उन्मेष नहीं दिखाई देता। अँगरेजी भाषा के पूर्व फारसी भाषा का सम्पर्क भी यहाँ की देशी भाषाओं से हुआ था, पर फारसी में आलोचना शास्त्र छन्द-अलंकार से अधिक नहीं था और उस आलोचना का चलन या ग्रहण यहाँ की देशी भाषाओं में इसलिए भी नहीं हुआ कि उसका बहुत प्रत्यक्ष प्रभाव यहाँ की साहित्य-धारा पर नहीं पड़ा। निर्माण-पक्ष पर जो प्रभाव पड़ा उसे आत्म-सात् करने का प्रयास हुआ और काव्य में वे सारी प्रवृत्तियाँ घुल मिल गईं। छन्द तो नाममात्र को ही लिए गए, कुछ अलङ्कार अवश्य लिए गए, पर उनका स्वरूप यहीं के अलङ्कार शास्त्र में भी मिल गया। अतः पृथक् से उसके विचार की बात ही नहीं उठी।

इस प्रकार भारतीय आलोचना या संस्कृत साहित्य शास्त्र अक्षुण्ण बना रहा। उसके अक्षुण्ण बने रहने का हेतु यह भी है कि आलोचना का यह विचार बहुत प्राचीन काल से होता चला आरहा है और साहित्य के विविध रूपों का उसमें बड़ी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि जो कुछ विचार-विमर्श संस्कृत में होगया उसके आगे होने की सम्भावना नहीं है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस दृष्टि से उसमें विचार किया गया है उस दृष्टि से साहित्य में जो कुछ निर्मित हुआ था या जो कुछ निर्मित हो सकता था उसका सांगोपांग विवेचन बहुत कुछ हो चुका है।

अब देखना चाहिए कि यह दृष्टि कौन सी है जिसके अनुसार यहाँ 'साहित्य शास्त्र' या 'अलङ्कार

---

* आलोचना शब्द इस अर्थ में अर्वाचीन है। 'समीक्षा' का प्रयोग प्राचीन है। उसका तात्पर्य था आन्तर भाष्य या अवान्तरार्थ का विच्छेद—अवान्तरार्थ समीक्षा। अवांतरार्थ विच्छेदश्च सा।
—साहित्य मीमांसा।

शास्त्र' * का विवेचन किया गया। साहित्य का निर्माण त्रिकोणात्मक है। एक तो साहित्य का निर्माता, कर्ता या कवि होता है। दूसरे वह जिनको काव्य में निबद्ध करता है, जिनका वर्णन करता है, जिनकी कथा कहता है वे 'वर्ण्य' होते हैं। तीसरे वे होते हैं जो उस काव्य को पढ़ते, सुनते या ग्रहण करते हैं—पाठक, श्रोता या 'ग्राहक'। साहित्य का सारा सँभार इन्हीं तीन के बीच होता रहता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि साहित्य-शास्त्र का विवेचन करने वाले इन तीनों को दृष्टि-पथ में रखकर विचार करें तो निर्माता होता है उसकी निर्मिति विशेष प्रकार की शैली में होती है। 'व्यक्ति-व्यक्ति के भेद से शैली में भेद होता है, हो सकता है। यदि निर्माता की दृष्टि से काव्य का विवेचन हो तो प्रकृत्या शैली की मीमांसा करनी पड़ेगी और यह निष्कर्ष निकालना होगा कि वह कौन सी शैली या शैलियाँ हैं जिनके कारण कोई उक्ति काव्य कही जाती है। यदि इस प्रकार की विशेषता की खोज न की जाय तो फिर मानना पड़ेगा कि कोई भी उक्ति काव्य की उक्ति हो सकती है और कोई वक्ता या शब्दशिल्पी कवि हो सकता है।

इस दृष्टि से आचार्यों ने यह निश्चय किया कि काव्य की उक्ति सामान्य उक्ति से भिन्न होती है, वह विशेष होती है।‡ सामान्य वार्ता और काव्य में भेद है। कवि या कर्ता जो कुछ कहता या करता है वह विशिष्ट होता है। उसकी यह विशिष्टता क्या है इसी की खोज में साहित्य शास्त्र में अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति आदि के सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इन सम्प्रदायों ने कर्ता या उसकी कृति की दृष्टि से काव्य का विवेचन किया। वर्ण्य अथवा ग्राहक का विचार इन सम्प्रदायों ने अपने विचारक्षेत्र के आभोग के बाहर ही रखा, इनका जितना विवेचन किया, वह नगण्य ही है। हाँ यह अवश्य कह सकते हैं कि वर्ण्य और अलङ्कार्य का विचार इन्होंने ग्राहक की अपेक्षा कुछ अधिक रखा है। इनके अनुसार कोई उक्ति काव्य की उक्ति होगई यदि उसमें अलङ्कार, रीति, गुण या वक्रोक्ति का समुचित विधान कर दिया गया। इनकी दृष्टि से यह कह सकते हैं कि किसी दृश्य, वस्तु या व्यक्ति को देखकर उसके कारण क्या भाव जगा इसका महत्व कम है। किस प्रकार किसी ने देखा और किस विधि से उसने उसे काव्य बद्ध किया यही महत्वपूर्ण है। यह भी कह सकते हैं कि इनके सम्मुख 'शब्द' का महत्व था, ये चमत्कार या बुद्धि के खेल को प्रमुख समझते थे। अर्थ अर्थात् पदार्थ और उस पदार्थ की प्रेरणा से हृदय में उठने वाले भाव को वे उतना महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। पहले तो काव्य के सौन्दर्य की खोज की जाती थी और कहा जाता था कि काव्य का ग्रहण अलङ्कार (शैली) के कारण होता है। अलङ्कार सौन्दर्य है।† फिर काव्य के प्राण की भी खोज होने लगी। इस प्राण को इन्होंने 'वक्रता' में पाया।‡ चारुत्व की खोज में कहीं वे शब्द मात्र निष्ठ स्वरूप (अलङ्कार) को खोजते और कहीं सङ्घटनाश्रित स्वरूप (रीति) को।§ प्राण के संधान में वे कुछ और गहरे उतरे, बाह्य पक्ष से आन्तर पक्ष या कक्ष में पहुँचे। पर यह आन्तरिकता उक्ति की ही थी। भाव से इसका सीधा सम्बन्ध न था। मन्त्री मर्यादा का ही माहात्म्य

---

* अलङ्कार शास्त्र शब्द का प्रयोग साहित्य-शास्त्र के पर्याय के रूप में होता रहा है। शास्त्र के लिए 'साहित्य' का व्यवहार उत्तर कालिक है।

‡ रीतिरात्मा काव्यस्य (रीति नमियमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः) विशिष्टा पद रचना रीतिः। —काव्यालङ्कार सूत्र तथा वृत्ति।

† काव्य ग्राह्य अलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। —वामन।

‡ वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।

§ चारुत्वं द्विविधम्। शब्दमात्रनिष्ठं सङ्घटनाश्रितं च। —अभिनवगुप्त।

रहा, भावाभिव्यञ्जन का नहीं। काव्य सुनने, पढ़ने, मनन करने के लिए ही समझा जाता था; लीन होने, भाव मग्न होने के लिए नहीं। कहना चाहें तो कहेंगे कि श्रव्य काव्य की जो परम्परा चल रही थी उसमें उक्ति का ही वैशिष्ट्य सब कुछ था।

इसके साथ ही एक दूसरी दृष्टि से भी साहित्य या काव्य का विचार किया जारहा था। यह दृष्टि कर्ता पर न थी, ग्राहक पर थी। काव्य को ग्रहण करने वाले की क्या स्थिति होती है, उसे इससे सुख क्यों मिलता है। इस दृष्टि का विवेचन काव्य के दूसरे भेद के विवेचन करनेवालों ने किया। 'नाट्य शास्त्र' में इसका विचार किया गया। इसी से केवल ग्राहक का नहीं, अभिनेता का भी विचार इसमें किया गया। कर्ता, नेता, अभिनेता और ग्रहीता चार को दृष्टि पथ में रखकर इनकी विवेचना चली। यद्यपि कर्ता का विचार इन्होंने प्रधानतया नहीं किया है, पर एकदम उसे छोड़ नहीं दिया है। पर प्रधान दृष्टि इनकी यही रही है कि ग्राहक को काव्य से सुख मिलता है। काव्य की वह कौन सी विशेषता है जो ग्राहक को सुख देती है। इसका निश्चय किया गया कि वस्तुतः 'रस' ही वह तत्व है जो ग्राहक के सुख का कारण है। पर यह 'रस' कहाँ रहता है। कर्ता में, नेता में, अभिनेता में या ग्रहीता में। कर्ता में यदि हो तो वह ग्रहीता के समान ही तो है।* निर्माण के अनन्तर कर्ता भी उसका ग्राहक है। कर्तृत्व काल में बीज रूप में रस उसमें हो सकता है।+ देखना चाहिए कि वह नेता (वर्ण्य—अनुकार्य) में होता है, अभिनेता (अनुकर्ता—नट) में होता है या ग्रहीता—दर्शक में। किसी ने कहा वह नेता में होता है, किसी ने कहा वह नेता और अभिनेता में होता है, किसी ने कहा वह ग्रहीता में होता है।

साथ ही प्रश्न हुआ कि क्यों होता है, कैसे होता है। इसी के विचार के लिए साधारणीकरण की चर्चा की गई। जो काव्य में वर्ण्य या अनुकार्य होते हैं उनकी विशेषता हट जाती है, जो ग्रहीता होते हैं उनकी भी विशेषता हट जाती है। दोनों साधारण हो जाते हैं। इसी से एक की अनुभूति दूसरे में हो जाती है। एक भोक्ता हो जाता है दूसरा भोग्य जाता है। पर प्रश्न हुआ कि एक की अनुभूति दूसरे की कैसे होगी, तो इसका उत्तर यों दिया गया कि ग्रहीता की ही अनुभूति आस्वाद का हेतु है। जो अनुभूति दबी पड़ी रहती है व्यक्त रहना है वही व्यक्त हो जाती है। व्यक्त होने से ही उसे आस्वाद प्राप्त होता है। इन्हीं सब बातों को लेकर उत्पत्ति-वाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और व्यक्तिवाद नाम के वाद चले। इसका भी विचार किया गया कि यह अनुभूति लोक में पाई जाने वाली अनुभूति से आकार प्रकार में भिन्न दिखाई देती है अतः इसे अलौकिक अनुभूति कहा गया।

इस प्रकार श्रव्यकाव्य वालों का वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति*वाद और दृश्यकाव्य या नाट्यशास्त्र वालों का रसवाद दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से चले वाद थे। आगे चलकर दोनों मिल गए और 'रस' साहित्य या काव्य का मुख्य साध्य माना गया। सौन्दर्य की खोज, प्राण की खोज, फिर आत्मा की खोज की गई। यह आत्मा 'रस' में मिली। रसशास्त्र या साहित्य-शास्त्र में आत्मा का विचार हुआ। आत्मा का विचार होने के कारण 'साहित्य' भी 'दर्शन' कहा गया।

अब इसकी विशेषताओं का निरूपण करना चाहिए। एक तो यहाँ काव्य के निर्माण और काव्य के ग्रहण को पृथक् पृथक् रूप में माना गया। कर्ता और ग्रहीता में तुल्यता होती अवश्य है, पर दोनों में शक्तियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। एक शक्ति निर्माता से निर्माण कराती है दूसरी ग्राहक से ग्रहण। पहली

---

* कविर्हि सामाजिक तुल्य एव। —अभिनव गुप्त।
+ यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। „

* भामह के अनुसार अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति पर्याय शब्द हैं। अन्य आचार्यों ने भी अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय कहा है।

को कारयित्री और दूसरी को भावयित्री कहा गया। वाङ्मय में दो भेद माने गए। एक तो निर्माण की दृष्टि से 'काव्य' कहलाया। दूसरा ग्रहण की विशेषता निर्माण के लिए अंकुश या शासन के रूप में होने से 'शास्त्र' हुआ।* निर्माण को, काव्य को रम णीय होना चाहिए, उसे भावात्मक होना चाहिए। उसमें हृदय पक्ष प्रबल है, मुख्य है। बुद्धि पक्ष गौण है। काव्य का यदि कोई ग्राहक मात्र रह गया तो वह 'भावुक' ही है, पर यदि वह टीका-टिप्पणी करने लगा, विचारपूर्वक कहने लगा, आलोचना में लगा तो वह 'भावक' हो गया। 'भावुक' केवल 'सहृदय' है। 'भावक' 'सहृदय' भी है और 'विचारक' भी है। इसलिए काव्य यहाँ 'अविचारित रमणीय' हुआ और शास्त्र 'विचारित सुस्थ' हुआ×। यदि काव्य 'विचारित सुस्थ' हो, उसमें भाव की रमणीयता के स्थान पर विचार या ज्ञान का बोध और व्यवस्था मुख्य हो तो वह काव्य नहीं रह जायगा। यदि शास्त्र 'अविचारित रमणीय' हो, उसमें भावात्मकता हो तो वह शास्त्र नहीं रह जायगा। इष्ट क्षेत्र भेद हो गया, स्वरूप भेद हो गया। इसी से काव्य का काम शुद्ध उपदेश देना नहीं है। शुद्ध उपदेश दूसरे वाङ्मय का कार्य है। काव्य में उपदेश 'कान्तासम्मित' रहेगा। अभिधा या लक्षणा में नहीं, व्यञ्जना में रहेगा। इसलिए भारतीय दृष्टि से 'नीति' आदि के श्लोक, चाहे काव्य नहीं हो सकते। न 'चाणक्य-नीति दर्पण' काव्य माना गया और न उसके अनुसार कबीर आदि शतायिक सन्तों की उपदेशात्मक शब्द, साखी, रमैनी आदि काव्य कही जा सकती हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि यह साहित्य शास्त्र सामाजिक भूमि पर स्थित है वह चाहे वक्रोक्तिवाद या अतिशयोक्तिवाद हो चाहे रसवाद। कर्ता की दृष्टि प्रधान होने पर भी यहाँ लोक की मर्यादा का विचार रखकर, परम्परा का ध्यान रखकर व्यवस्था की गई। 'अतिशयता' का जो 'वक्रता' का पर्याय-वाची मानी गयी है, अर्थ है लोक सीमा का उल्लङ्घन। पर लोक सीमा या मर्यादा के उल्लङ्घन का अर्थ यह नहीं कि सामाजिक मर्यादा का उल्लङ्घन हो। उक्ति में ऐसे ढङ्ग से बातें या ऐसे ढङ्ग की बातें कही जा सकती हैं, जो लोक प्रवाह में मिलने वाले ढङ्ग से भिन्न ढङ्ग की हों। पर लोक मर्यादा का त्याग यहाँ की साहित्य परम्परा को मान्य नहीं। कोई तथ्य (फैक्ट) ऐसा नहीं लिया जायगा। हाँ, उसके उपस्थित करने में विलक्षणता हो सकती है। रूप-कातिशयोक्ति अलंकार की शैली में ही चमत्कार है। जिस प्रस्तुत या उपमेय को उपमान निगीर्ण किए रहता है, वह लोक मर्यादा के विरुद्ध नहीं होता। काव्य का आलम्बन यहाँ भी लौकिक ही होता है। शैली में भी परम्परा स्वीकृत उपमानों से ही उपमेय व्यञ्जित होता है। यदि ऐसा न होगा तो कबीरदास की 'उलटबासी' भी रूपकातिशयोक्ति हो जायगी। इसी से यहाँ 'रहस्य' शैली में ही रहा, काव्यार्थ रहस्य नहीं माना गया। आधुनिक ढङ्ग से कहें तो छायावाद, जिसमें शैली का चमत्कार होता है, तो काव्य हो सकता है। पर रहस्यवाद जो काव्य विषय गत चमत्कार से युक्त होता है, काव्य में कभी गृहीत नहीं हुआ। फारसी भाषा और साहित्य के बहुत दिनों तक यहाँ प्रचलित रहने पर भी उनका रहस्य वाद भारतीय भाषा में पनप न सका। कवीन्द्र रवीन्द्र ने कबीर की प्रशस्ति और उनके रहस्यवाद का अभिनन्दन परमार्थतः अँग्रेजी साहित्य के रहस्यात्मक प्रवाह के कारण किया। इसके पूर्व उन्हें (कबीर को) कोई काव्य क्षेत्र में नहीं मानता था। रवीन्द्र ऐसे महापुरुष के कहने के कारण जो कबीर का माहात्म्य काव्य क्षेत्र में आलोचक भी मानने लगे वह भारतीय साहित्य शास्त्र की दृष्टि से 'अविचारित रमणीय' ही

* शास्त्रं काव्यं चेति वाङ्मयं द्विधा—राजशेखर।

× द्विरूपं एवार्थो विचारितसुस्थोऽविचारित-रमणीयश्च। तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तर काव्यानि इत्याचार्याः। —काव्यमीमांसा।

है, विचारित सुरय नहीं । अर्थात् भावुकता वश ऐसा हुआ है, मीमांसा की प्रकृत सरणि के कारण नहीं।

रसवादियों में तो सामाजिकता बहुत स्पष्ट है। वे सामाजिक मान्यता को औचित्य कहते हैं, और अनौचित्य को रसभङ्ग का हेतु मानते हैं । उनके दर्शक या ग्राहक 'सामाजिक ही होते हैं। 'सामाजिक' कहने का तात्पर्य यही है कि जो सबकी या सब प्रकार की अनुभूति कर सकने में समर्थ हो। सहृदय कहने का भी यही अर्थ है।

इन सब मान्यताओं का परिणाम यह हुआ कि भारतीय आलोचना लोक भूमि पर दिखाई देती है। व्यक्ति बद्ध अनुभूति के लिए उसमें स्थान नहीं रह गया। उनकी सारी व्यवस्था रस की दृष्टि से या समाज की दृष्टि से है। अलङ्कार या रस में सर्वत्र यह सामाजिकता व्याप्त है। यह सामाजिकता किसी वर्ग विशेष से सम्बद्ध नहीं। रस की दृष्टि से उन्होंने भाव के जो स्वरूप गृहीत किए वे सर्वव्यापी हैं। जो यह समझते हैं कि रस केवल आनन्द को ध्यान में रखता है वे भ्रम में हैं। रस के आनन्द की भूमि लोक भूमि है। रसाभास के प्रसङ्ग इसे और स्पष्ट कर देते हैं।

यहीं पर एक बात और समझने की होगी। भारतीय आलोचना में सदा नवीन उन्मेष होता रहा है। उसमें नए नए स्कन्ध निकलते रहे हैं और निकल सकते हैं। जो यह समझते हैं कि रसों की संख्या नौ ही है, जो यह समझते हैं कि अलङ्कारों का स्वरूप नियत है उन्हें भारतीय आलोचना का इतिहास देखना चाहिए। उन्हें पता चलेगा कि किस प्रकार उनकी संख्या बढ़ती रही है और किस प्रकार उनमें नूतनता का समावेश होता रहा है। यह आलोचना आज भी काम की है। यदि सारे समाज को जैसा वह है वैसा ही उसे सामने रख कर प्रयोग करना है अथवा यदि उसमें किसी प्रकार का वैषम्य होगया है और उसे बदलना है तो रस दृष्टि आज भी काम दे सकती है। जो इसे बिना पढ़े केवल यह कहने के अभ्यासी हो गये हैं कि यह पुरानी पड़ गयी वे वस्तुतः अपनी अज्ञता का ही परिचय देते हैं। रस द्वारा प्रवृत्तियों का परिष्कार होता है। नूतन मनोविज्ञान जिस परिष्कार या परीवाह की चर्चा करता है वह अपने ढङ्ग से रसवादियों को स्वीकृत है। हाँ, काव्य का पुरुषार्थ केवल 'अर्थ' यहाँ नहीं माना गया, केवल 'काम' नहीं माना। एकाङ्गी दृष्टि से शास्त्र का विवेचन यहाँ हुआ ही नहीं। चतुर्वर्ग फल प्राप्ति काव्य का भी लक्ष्य है। यह फल प्राप्ति सरलता पूर्वक हो सकती है, साहित्य से और अल्पमति वालों को भी उसकी प्राप्ति हो सकती है।*

जो लोग साहित्य की आर्थिक भूमिका का विचार करते हैं वे कर्ता को तो ध्यान में रखते हैं पर श्रोता को भूल जाते हैं। इसलिए उनका विचार और भी एकांगी हो जाता है। तत्त्व की बात यह है कि विवेचन की सूक्ष्मता के कारण भारतीय आलोचना पद्धति दुरूह हो गई है। उसके लिए अधिक श्रम अपेक्षित है, शारीरिक न सही, मानसिक सही। पर इस श्रम के युग में मानसिक श्रम से भागने वाले ही शास्त्र का नाम सुन कर मुँह बनाया करते हैं। हिन्दी में यदि संस्कृत का यह साहित्य शास्त्रीय वाङ्मय प्रस्तुत हो जाय और सरलतापूर्वक उसे समझाने का प्रयास हो तो सत्य शील लोग उसका अवश्य स्वागत करेंगे और विचारशील अवश्य उसमें नूतनता का समावेश और उसकी सामाजिकता का समय के अनुरूप विकास कर सकेंगे। हठधर्मियों की बात मैं नहीं कहता। इसमें उन्हें ऐसी सुदृढ़ भूमि मिलेगी जिस पर रख कर वे भारतीय साहित्य का ही नहीं विश्व के साहित्य का अच्छा खासा विचार-विवेचन कर सकेंगे। यह मेरी दृढ़ धारणा है।

---

* चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।
—साहित्य दर्पण ।

(पृष्ठ २२२ का शेषांश)

का स्वर ही मन्द पड़ गया। उनकी भूमिकाओं का वही महत्व है जो अँग्रेजी कवि शैली के निबन्ध 'डिफेन्स आफ पोइटरी' का है। वास्तव में महादेवी जी ने छायावादी काव्य वस्तु, भाव कला तथा वैज्ञानिक व्याख्या की है, उसे हम छायावाद की गीता कह सकते हैं।

पिछले खेवे के प्रायः सभी छायावादी आलोचक महादेवी की व्याख्या और तर्कों से प्रभावित जान पड़ते हैं। परन्तु इस बीच गुलाबरायजी ने छायावादी दार्शनिकता के स्पष्टीकरण करने का जो प्रयास किया है, वह भी कम उल्लेखनीय नहीं। डा० नगेन्द्र छायावाद में गांधी का प्रभाव खोजते हैं तो शान्ति-प्रिय जी गांधी और टैगोर दोनों का। व्यक्तियों के महत्त्व का युग प्रतिमा पर यह आरोप अति श्रद्धा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। जो भी हो आज छायावाद की *स्थापनाओं का अभाव नहीं।* उसकी अन्तश्चेतना का स्फुरण आज साहित्य की शत-शत भावधाराओं में प्रस्फुरणशील हो रहा है। यदि समीक्षक सम्यक् शक्ति और स्वस्थ तथा तटस्थ दृष्टिकोण से साहित्य का सत्कार करते चलें तो निकट भविष्य में छायावाद भारतीय साहित्य की उस अमर विभूति का पद प्राप्त करेगा जो अन्तर्राष्ट्रीय मानव साम्य का जयघोष करता हुआ समस्त मानवता को गौरवान्वित करेगा।

हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना

श्री गुलाबराय एम० ए०

जब लोक-रुचि सुसम्बद्ध हो जाती है और युग प्रवर्त्तक कवियों की अमर रचना का विश्लेषण कर उनके नमूने के आधार पर सिद्धान्त और नियम निर्धारित किये जाते हैं, तब सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म होता है। लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है। भाषा के पश्चात् ही व्याकरण का उदय हुआ था। जिन ग्रन्थों में आचार्यों द्वारा दिए हुए काव्य के आदर्श बतलाये जाते हैं और उन आदर्शों की उपलब्धि के लिए नियम और उपनियम निर्धारित किये जाते हैं वे ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ कहलाते हैं। इन ग्रन्थों के आदर्श तथा नियम और उपनियम निर्णयात्मक आलोचना के आधार बनते हैं। पाश्चात् देशों में अरस्तू के काव्य सिद्धान्त से लगा कर कालरिज, एडीसन, वर्ड स्वर्थ, पेटर, रिचर्ड्स, क्रोचे, स्पिन्गर्न, टी० एस० इलियट, मिडिल्टन मरे, जेम्स स्काट आदि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ और इस देश में भरत मुनि का नाट्य शास्त्र, दण्डी का काव्यादर्श, क्षेमेन्द्र का कविकण्ठाभरण, राजशेखर की काव्य मीमांसा, मम्मट का काव्य प्रकाश, विश्वनाथ का साहित्य दर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर आदि इसी प्रकार की आलोचना के ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के उत्तर मध्य काल के रीति ग्रन्थ, जैसे केशव का रसिक प्रिया और कविप्रिया देव के भाव विलास, शब्द रसायन नाम के ग्रन्थ, पद्माकर का जगत विनोद और भिखारीदास का काव्य-निर्णय आदि रस और अलङ्कारों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में इसकी पूर्ति करते हैं।

आधुनिक काल में सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाटक नाम की पुस्तिका से होता है आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'रसज्ञ रञ्जन' के कुछ निबन्धों में सैद्धान्तिक आलोचना का उदाहरण उपस्थित किया है। उसका पहला प्रकाशन सन् १६२० में हुआ था, उसमें कविता की परिभाषा के साथ जो अंग्रेजी भाषा के कवि मिल्टन की परिभाषा से प्रभावित थी कवि-शिक्षा की बहुत सी बातें दी गई हैं, उस पुस्तक पर राजशेखर, क्षेमेन्द्र और मौलाना हाली का सम्मिलित प्रभाव है, फिर भी द्विवेदीजी के विचारों में स्वतन्त्रता और मौलिकता है, उनके काव्य सम्बन्धी विचारों में नीचे की बात बड़ी स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं—

१—कविता में साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारों का वर्णन हो।

२—उसमें धीरज, साहस, प्रेम और दया आदि गुणों के उदाहरण रहें।

३—कल्पना, सूक्ष्म और उपमादिक अलंकार गूढ़ न हों।

४—भाषा सहज, स्वाभाविक और मनोहर हो।

५—छन्द सीधा, सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो। (रसज्ञ रञ्जन पृष्ठ १६)

द्विवेदीजी कविता में मिल्टन के बतलाये हुए गुणों को चाहते थे 'कविता सादी हो जोश से भरी हो और असलियत से गिरी न हो' (रसज्ञ रञ्जन पृष्ठ ४७) इससे प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदी का दृष्टिकोण व्यावहारिक और उपदेशात्मक था, वे कविता को जनता की वस्तु बनाना चाहते थे फिर भी वे रस और चमत्कार के पक्षपाती थे।

(शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं, कोई विलक्षणता नहीं, तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।)

आलोचना शास्त्र पर सबसे पहला, क्रम बद्ध ग्रन्थ डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी (सं० १६३२-२००२) का साहित्यलोचन है। उसका पहला संस्करण सं० १६७६ में हुआ था। यद्यपि उसमें मौलिक अंश बहुत कम है और कहीं कहीं हडसन का अनुवाद सा लगता है तथापि वह एक प्रकार से सर्वाङ्गपूर्ण है, इसमें भारतीय तथा विदेशी काव्य शास्त्र सम्बन्धी विचारों का संग्रह है, उन विचारों में न तो सामञ्जस्य स्थापन करने का प्रयत्न है और न मूल्यांकन हुआ है। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार काव्य का कलाओं के अन्तर्गत ही विवेचन हुआ है। इस प्रकार के विवेचन के औचित्य पर विचार नहीं किया गया है। बाबूजी ने यद्यपि हेगिल का नाम नहीं दिया है तथापि उनका वर्गीकरण हेगिल का ही वर्गीकरण है। इलाहाबाद के विद्यार्थी के प्रारम्भिक अङ्कों में इन पंक्तियों के लेखक ने एक लेख हेगिल के कला विभाजन पर छपाया था। यह साहित्यालोचन से पहले निकला था। बाबूजी ने कविता की परिभाषाओं में आचार्य मम्मट की परिभाषा को महत्ता दी है, किन्तु रस का विवेचन स्वतन्त्र रूप से किया है। (अलंकार कम व्यंग ध्वनि के अन्तर्गत नहीं।) वास्तव में बाबूजी ने ध्वनि को कोई महत्ता नहीं दी। व्यञ्जना का वर्णन भी परिशिष्ट रूप में नागरी प्रचारिणी पत्रिका से उद्धृत किया गया है। वह पुस्तक का अंश नहीं है और नवीनतम संस्करण में वह भी निकाल दिया गया है। बाबूजी ने यत्र पै भारतीय समीक्षा शास्त्र की यत्र तत्र श्रेष्ठता दिखाने का प्रयत्न किया है, तथापि उन पर व्यापक प्रभाव अंग्रेजी समीक्षा शास्त्र का ही है उन्होंने काव्य का वाह्य विषयक (objective) और भावात्मक (lyric) के रूप में जो विभाजन किया है, वह भी पाश्चात्य प्रणाली से ही प्रभावित है, जिस समय बाबूजी ने लिखा था उस समय भारतीय समीक्षा शास्त्र का इतना अध्ययन नहीं हुआ था जितना कि अब हो रहा है। पहले संस्करण की अपेक्षा बाद के परिवर्द्धित संस्करणों में बहुत कुछ भारतीयता का पुट आ गया है। किन्तु मूल ढाँचा वैसा ही रहा फिर भी बाबूजी इस सब लोगों के पथ प्रदर्शक रहे, उनका प्रयत्न भगीरथ प्रयत्न होने के कारण सर्वथा स्तुत्य है।

आचार्य शुक्लजी—आचार्य महावीर प्रसाद और बाबू श्यामसुन्दरदासजी के अतिरिक्त हिन्दी में साहित्य शास्त्र उपस्थित करने के बहुत प्रयत्न हुए कुछ प्राचीन परिपाटी के अनुसार पद्य में, जैसे श्री जगन्नाथप्रसाद भानु का काव्य प्रभाकर और हरिऔधजी का रस कलश जिसकी गद्य में लिखी हुई भूमिका पद्य से अधिक मार्मिक है और गद्य में भी, प्रयत्न हुए, जैसे डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री की साहित्य मीमांसा आदि अलङ्कारों पर भी इस युग में कुछ अच्छे ग्रन्थ निकले हैं, प्रमुख हैं लाला भगवानदीन की अलंकार मंजूषा लाला श्री अर्जुनदास केडिया भारती भूषण सेट कन्हैयालाल पोद्दार की अलङ्कार मञ्जरी और रस लजी का अलङ्कार पीयूष आदि। रसों पर पण्डित हरिशङ्कर शर्मा का रस रत्नाकर बड़ा सरल और सुबोध ग्रन्थ है। उसमें जो संस्कृत के उदाहरणों का अनुवाद हुआ है, वह बहुत ही सुन्दर है। डाक्टर नगेन्द्र की रीतिकाल की भूमिका में रस सम्बन्धी कुछ नवीन उद्भावनाएँ हैं। उनकी प्रतिभा विषय प्रधान है। उन्होंने साधारणीकरण में कवि की ही भावना को प्राधान्य दिया है। कवि के रस को भी महत्व दिया है।

लेखक का नवरस भी इस दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न था। उस समय सिवाय अयोध्या नरेश के महाराज प्रतापनारायण के रस कुसुमाकर और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के काव्य कल्पद्रुम के अतिरिक्त हिन्दी गद्य में रस सम्बन्धी और कोई ग्रन्थ नहीं था। उसका छोटा संस्करण संवत् १६७७ में और बड़ा संस्करण संवत् १६८६ में हुआ था। काव्य-कल्पद्रुम का पहला संस्करण १६८३ में निकला था, नवरस और काव्य कल्पद्रुम के दृष्टिकोण में थोड़ा अन्तर है

नवरस में साहित्य दर्पण का आधार लेकर रस को प्रधानता दी गई है, और पोद्दारजी के गन्थ में काव्य प्रकाश का आधार लेकर रस के असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अन्तर्गत रक्खा है, यद्यपि नवरस में भूलें अवश्य हैं तथापि उसके पक्ष में यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि शास्त्र की पीटी हुई लकीर से हटकर उसमें नये दृष्टिकोण से रससिद्धान्तों पर विचार किया गया है, और उसमें पहली बार रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। तथा स्थायी भावों का मौलिक सहज वृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ा गया है। इस ग्रन्थ में उदाहरण अधिकांश में हिन्दी ग्रन्थों से ही लिए गए हैं। क्योंकि संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद यदि सिद्धहस्त कवियों द्वारा न किये जायें तो नीरस रहते हैं।

डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री की साहित्य मीमांसा छोटा सा ग्रन्थ है उस पर पाश्चात्य का प्रभाव साहित्यालोचन से भी अधिक है, उसमें उदाहरण अधिकांश में विदेशी साहित्य के पाए जाते हैं। साहित्य शास्त्र के विशेष प्रकरणों को लेकर जो प्रयत्न हुए हैं, उनमें सुधांशु का काव्य में अभिव्यञ्जनावाद और श्री पुरुषोत्तमजी का आदर्श और यथार्थ विशेष महत्त्व के हैं। डाक्टर किरनकुमारी गुप्ता ने भी हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। नाटकों और कहानियों तथा नाटकों के टेकनीक पर भी कई पुस्तकें निकली हैं। इनके लेखकों के नाम श्री विनोदशङ्कर व्यास, सेठ गोविन्ददास, श्री ब्रजरत्नदास, डाक्टर सत्येन्द्र प्रभृति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नवरस की भूलों का संशोधन करने तथा रस के अतिरिक्त अन्य काव्याङ्गों का वर्णन करने के लिए मैंने 'सिद्धान्त और अध्ययन' और उसी का पूरक ग्रन्थ 'काव्य के रूप' की रचना की। इन ग्रन्थों में पूर्व और पाश्चात्य काव्य शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, किन्तु इनमें वर्णित सिद्धान्तों का कम से कम पहले भाग का मूलस्रोत भारतीय साहित्य शास्त्र है। समालोचना के प्रकार और सिद्धान्त तथा उपन्यास, छोटी कहानी आदि का विवरण अवश्य विदेशी परम्परा से प्रभावित है, किन्तु सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उदाहरण अधिकांश में भारतीय साहित्य शास्त्र से लिए गए हैं। काव्य के विभिन्न रूपों का जो वर्णन है इसमें उनके सैद्धान्तिक विवेचन के साथ उनका ऐतिहासिक विकास भी दिया गया है।

हाल में और भी कई प्रयत्न हुए हैं। उन सबका नामोल्लेख भी करना कठिन है। उनमें से कुछ ये हैं। साहित्य (शिवनारायण शर्मा) साहित्यालोचन के सिद्धान्त (शिवनन्दनप्रसाद) आदि। इन सब में श्री रामदहिन मिश्र का काव्यालोक विशेष महत्व का है। उसमें भी भारतीय और पाश्चात्य सैद्धान्तिक का बड़ी सुन्दरता के साथ समावेश किया गया है। उसमें नवीनता के साथ शास्त्रीयता भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना की परम्परा बनती जा रही है। और हमारे लेखक गम्भीर विवेचन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। वह नवीन विचारों से प्रभावित हैं। और वे प्राचीन परम्परा को भूले नहीं हैं। प्राचीन परम्परा से लाभ उठाने के लिए संस्कृत के ज्ञान की विशेष आवश्यकता है। हर्ष की बात है कि संस्कृत के सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अनुवाद होता जा रहा है। किन्तु अभी उन अनुवादों में पाण्डित्यपूर्ण टीका टिप्पणी की कमी है। कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ का जैसे अभिनव भारती का अनुवाद भी अपेक्षित है। हमारी नई परम्परा प्राचीन आधारशिला पर ही दृढ़ता के साथ स्थिर रह सकेगी।

इन सब प्रयत्नों के होते हुए भी जितनी ख्याति आचार्य शुक्लजी को मिली उतनी और किसी को नहीं। वे ख्याति के योग्य भी थे। क्योंकि उनका एक निश्चित दृष्टिकोण था। और उसी दृष्टिकोण से उन्होंने सारे कार्य क्षेत्र की जाँच पड़ताल की, उनमें सबसे बड़ा गुण संगति और विचारों की दृढ़ता का

था। जो कहीं कहीं ऊब दिलाने वाली पुनरुक्ति के दोष का तट स्पर्शी बन जाता है। शुक्लजी की प्रतिभा विषय प्रधान थी। इसी कारण वे भावपक्ष की अपेक्षा विभावपक्ष को अधिक महत्ता देते हैं और रहस्यवाद को उनमें विभावपक्ष की अस्पष्टता के कारण निन्द्य ठहराते हैं। जो चीज लौकिक अनुभव के बाहर है। वे लौकिक को बिलकुल सीमित अर्थ में लेते हैं। हृदय की मुक्तावस्था में अलौकिकता आ जाती है। किन्तु आधार पृथ्वी का ही रहता है। वह कविता का विषय बन सकती इसी विषय प्रधानता के ही कारण प्रकृति के आलम्बनरूप से चित्रण के पक्ष में हैं और इसी कारण उन्होंने आलोचना में सामाजिक मूल्यों और लोकपक्ष को महत्व दिया है। उनकी कविता की व्याख्या में भी शेष सृष्टि पर विशेष बल है। वे अभिव्यञ्जना की शैली की अपेक्षा काव्य की वस्तु पर अधिक बल देते हैं। इसी नाते उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी को कवियों में शीर्ष स्थान दिया है। हिन्दी में व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात शुक्लजी ने किया और वे इस प्रकार के आलोचकों में अग्रगण्य हैं। शुक्लजी सवत् १६४१, १६४२ ने साहित्यालोचन का कोई क्रमबद्ध साहित्य-शास्त्र नहीं लिखा तथापि उनके स्फुट विचार भी बड़े महत्व के हैं। वे चिन्तामणि के दोनों भागों और रस मीमांसा में आई हुई स्फुट टिप्पणियों में सग्रहीत हैं।

(पृष्ठ २०८ का शेषांश)

alert to watch the wisdom unfaul term "

बिना इस भावना के नीरक्षीर विवेक धर्मसम्भव समीक्षा की सम्भावना कैसी ? 'फिनले' ने जो कुछ कहा है उसे आलोचक की परिभाषा नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें आलोचक या समीक्षक की अपेक्षित योग्यता का ही स्पष्ट निर्देश है।

अपने फुटकर निबन्धों में एक स्थान पर 'बर्नर्ड शा' ने भी आलोचक की परिभाषा दी है—

"The true critic is the man who becomes your personal enemy on the sole provocation of a bad performance and will only be appeased by good performance."

'बर्नर्ड शा' की और श्रद्धा के अनुरूप ही उनकी यह परिभाषा भी है। इस परिभाषा को ही यदि कसौटी पर चढ़ा कर देखा जाए तो समझने में भी आलोचक के अपेक्षित नीरक्षीर विवेक के बदले रागजनी वाली समीक्षा का ही समर्थन किया गया है। वस्तु को परिभाषित करने का आग्रह बहुत म्हत्व नहीं किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन में परिभाषा कभी कभी आवश्यक हो जाया करती है। आलोचक या समालोचक की परिभाषा भी यदि देनी आवश्यक ही हो, तो जिन तथ्यों का निर्देश ऊपर किया जा चुका है उनके अनुसार आलोचक को रस के रूप का तथा रूप के रस का निरूपक कहना अधिक सार्थक होगा।

हिन्दी में खोज और आलोचना का कार्य

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्०

हिन्दी खोज सम्बन्धी कार्य दो मुख्य भागों म विभक्त किया जा सकता है (क) साहित्य सम्बन्धी तथा (ख) भाषा सम्बन्धी। साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने वाले कार्यों से प्रारम्भ करके हिन्दी के भिन्न भिन्न कालों के इतिहास, धाराओं तथा कवियों से सम्बन्ध रखने वाली खोज का समावेश किया जा सकता है। यद्यपि यह कार्य किसी निश्चित आयोजना के आधार पर केन्द्रों में बाँट कर नहीं प्रारम्भ किया गया था किन्तु तो भी फुटकर ढङ्ग से बहुत कुछ कार्य सम्पन्न हो गया है।

हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में "संस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' (सरनामसिंह, जयपुर अप्रकाशित) तथा "प्राकृत तथा अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (रामसिंह तोमर, प्रयाग अ०) उल्लेखनीय हैं। इस सिलसिले में "अँग्रेजी भाषा और साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव" (विश्वनाथ मिश्र, प्रयाग अ०) शीर्षक विषय पर भी कार्य हो चुका है। फारसी तथा उर्दू भाषाओं और साहित्यों के हिन्दी पर प्रभावों की परीक्षा अभी होने को शेष है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल से सम्बन्धित चन्द तथा उनके पृथ्वीराज रासो का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा चुका है (विपिनबिहारी द्विवेदी, कलकत्ता प्रकाशित)। इसी सिलसिले में मध्यकालीन हिन्दी वीरकाव्य का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन भी हो चुका है (टीकमसिंह तोमर, प्रयाग अ०)। वीरकाव्य से सम्बन्धित व्यक्तिगत कवियों का विस्तृत अध्ययन अवश्य शेष है।

"नाथ सम्प्रदाय" (हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्ति निकेतन प्र०) तथा 'गुरु गोरखनाथ और समय" (टी० एन० बी० आचार्य—राँगेयराघव, आगरा अ०) पर इधर सौभाग्य से अच्छा प्रकाश पड़ चुका है। "हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय" (पीताम्बरदत्त बर्थवाल, काशी प्र०) का अध्ययन प्रारम्भ में ही हो चुका था। अभी हाल में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "उत्तरी भारत की सन्त परम्परा" शीर्षक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह एक प्रकार से हिन्दी सन्त परम्परा का विश्व कोष सा है। चतुर्वेदी जी ने 'सन्त मत' पर दो ग्रन्थ भविष्य म उपस्थित करने का वचन दिया है। यदि ये ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गए तो हिन्दी सन्त साहित्य का सांगोपांग अध्ययन उपलब्ध हो जायगा। व्यक्तिगत सन्तों में "कबीर और उनके अनुयायी" (के, लन्दन प्र०) तथा "बिहार वाले दरिया साहब" (धर्मेन्द्र, पटना अ०) का अध्ययन हो चुका है। दादू का अध्ययन श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा पहिले ही हो चुका था। इसी प्रकार शेष प्रमुख सन्तों के अध्ययन की भी आवश्यकता है। कुछ पर कार्य हो रहा है।

हिन्दी की कृष्णकाव्य धारा की ओर भी हिन्दी के विद्यार्थियों का ध्यान गया। "व्रज से सम्बन्धित वैष्णव सम्प्रदाय और उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (हरिमोहनदास टण्डन, प्रयाग अ०) इस उपयोगी विषय पर अभी हाल में ही अध्ययन पूरा हुआ है। "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" (दीनदयाल गुप्त, प्रयाग प्र०) की वैज्ञानिक परीक्षा पहले ही हो चुकी है। 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य" (मुंशीराम शर्मा, आगरा अ०) पर भी पृष्ठभूमि सम्बन्धी कार्य पूरा हो चुका है। अष्टछाप के प्रमुख कवि "सूरदास" पर भी कई अध्ययन उपस्थित हो चुके हैं (जनार्दन मिश्र, जर्मनी प्र०; ब्रजेश्वर वर्मा प्रयाग प्र०)। इस सम्बन्ध में नन्ददास, परमानन्ददास, नागरीदास आदि प्रमुख कृष्णभक्त

कवियों का विस्तृत पृथक् अध्ययन और होना चाहिए।

हिन्दी की राम साहित्य धारा की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान गया। 'राम कथा की उत्पत्ति और विकास" (कामिल बुल्के, प्रयाग प्र०) पर हिन्दी में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में रामकथा के समस्त भारतीय तथा विदेशी उद्गमों की परीक्षा की गई है और उससे फलस्वरूप परिणाम दिए गए हैं। अभी हाल में ही एक फ्रांसीसी महिला ने "रामचरितमानस के गठन तथा कथानकों के उद्गम" पर एक अत्यन्त वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया है (वोदवील, पेरिस अ०)। दुर्भाग्यवश यह फ्रेंच भाषा में है और अभी अप्रकाशित है अतः इसका पूर्ण उपयोग अपने देश में शीघ्र नहीं हो सकेगा। यों गोस्वामी तुलसीदास और उनके रामचरितमानस का पर्याप्त अध्ययन हो चुका है और अभी चल भी रहा है। इस सिलसिले में निम्नलिखित कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं :—'तुलसीदास जीवनी तथा कृतियों का वैज्ञानिक अध्ययन' (माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०), तुलसी दर्शन' (बलदेव प्रसाद मिश्र, नागपुर प्र०) 'तुलसीदास और उनका युग' (राजपति दीक्षित, काशी अ०) और 'रामचरित मानस में तुलसीदास की कला का विश्लेषण' (हरिहरनाथ हुक्कू, आगरा अ०)।

"हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य की धारा" की उपेक्षा नहीं हुई है (पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ, प्रयाग अ०)। इस सिलसिले में 'जायसी और उनकी कला और दर्शन' का भी विशेष अध्ययन हुआ है (जे० डी० कुलश्रेष्ठ, आगरा अ०)

हिन्दी रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों के पृथक् पृथक् पूर्ण अध्ययन तो अभी उपलब्ध नहीं हैं—कुछ के हो रहे हैं—किन्तु इससे सम्बद्ध हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रमुख अङ्गों की परीक्षा अवश्य हो चुकी है। 'हिन्दी अलङ्कारशास्त्र के विकास का अध्ययन' (रामशङ्कर शुक्ल, प्रयाग अ०) बहुत पहले हुआ था। "हिन्दी छन्दशास्त्र" का इतिहास भी समझा जा चुका है (जानकीनाथ सिंह, प्रयाग, अ०)। "रस तथा आधुनिक मनोविज्ञान" का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है (छैलबिहारीलाल गुप्त, प्रयाग प्र०)। इस सिलसिले में नायक नायिका भेद का वैज्ञानिक अध्ययन उपर्युक्त ग्रन्थ के लेखक द्वारा हो रहा है। "रीतिकाव्य की भूमिका' तथा रीतिकाल के एक प्रमुख कवि "देव और उनकी कविता" इन दोनों विषयों को सुलझाया जा चुका है (नगेन्द्र नगाइच, आगरा प्र०)। "हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास" (भगीरथ मिश्र, लखनऊ प्र०) भी लिखा जा चुका है।

यह स्वाभाविक है कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के अध्ययन की ओर इधर विद्वानों और विद्यार्थियों का ध्यान अधिकाधिक जा रहा है। आधुनिक काल का क्रमबद्ध विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन निम्नलिखित अध्ययनों के रूप में उपस्थित किया जा चुका है—"हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि (१७५७ १८५१)" (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग अ०), "आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१६००)" लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग प्र०), "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१६०० २५)" (श्रीकृष्ण लाल प्रयाग प्र०), तथा 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (१६२६-४७), (भोलानाथ, प्रयाग प्र०)। अन्तिम ग्रन्थ लगभग तैयार है। समस्त आधुनिक हिन्दी साहित्य का विहङ्गम पर्यवेक्षण भी हुआ है (इन्द्रनाथ मदान, लाहौर, प्र०)। "आधुनिक काव्य-धारा" (केसरीनारायण शुक्ल काशी प्र०) तथा "हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास" (सोमनाथ गुप्त, आगरा प्र०) शीर्षक विषयों पर भी लिखा जा चुका है। आधुनिक हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध अन्य विशेष अध्ययनों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—"प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन" (जग-

नाथ प्रसाद शर्मा, काशी प्र०) "आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना" (१६००-१६४५) (शैलकुमारी, प्रयाग प्र०) तथा "हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास" (रामरतन भटनागर, प्रयाग प्र०)। भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमचन्द, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि प्रसिद्ध आधुनिक लेखकों के पृथक् पृथक् पूर्ण अध्ययनों की ओर हिन्दी विद्यार्थियों का ध्यान जा रहा है और इस प्रकार के निबन्ध शीघ्र ही बड़ी संख्या में उपलब्ध हो सकेंगे इसकी पूर्ण आशा है।

नीचे कुछ फुटकर ढंग के विषयों का उल्लेख किया जा रहा है। 'प्रकृति और हिन्दी काव्य' (रघुवंश सहाय वर्मा, प्रयाग प्र०) तथा 'हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण' (किरण कुमारी गुप्त, आगरा प्र०) इस विषय का अध्ययन दो भिन्न पहलुओं से हो चुका है। 'हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ' (ब्रजमोहन गुप्त, प्रयाग अ०), 'हिन्दी साहित्य में आलोचना का उद्गम तथा विकास' (भगवतस्वरूप मिश्र, आगरा अ०) तथा 'गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिन्दी साहित्य में उसकी परम्परा' (शिवमङ्गलसिंह, काशी अ०) इन तीनों समस्याओं को समझा जा चुका है। 'हिन्दी साहित्य में महाकाव्य' परम्परा पर भी काम हो गया है (हरिश्चन्द्र राय, लंदन अ०)।

ऊपर हिन्दी के नागरिक साहित्य की चर्चा हुई। हिन्दी की जनपदी बोलियों में सुरक्षित मौलिक साहित्यिक परम्परा की ओर भी ध्यान गया है। इस क्षेत्र में सर्व प्रथम उल्लेखनीय कार्य 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' (गौरीशङ्कर 'सत्येन्द्र' आगरा प्र०) पर है। इसी प्रकार 'भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन' (कृष्णदेव उपाध्याय, लखनऊ अ०) भी पूरा हो चुका है। हिन्दी के शेष प्रमुख जनपदी लोक-साहित्यों का अध्ययन भी शीघ्र हो सकेगा इसकी पूर्ण सम्भावना है।

साहित्य क्षेत्र के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में भी कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—'अवधी का विकास' (बाबूराम सक्सेना, प्रयाग प्र०) 'व्रजभाषा' (धीरेन्द्र वर्मा, पेरिस प्र०) 'भोजपुरी का विकास' (उदय नारायण तिवारी प्रयाग प्र०) 'भोजपुरी की ध्वनियों का अध्ययन' (विश्वनाथ प्रसाद, लंदन प्र०) 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास' (नलिनीमोहन सान्याल, कलकत्ता), 'सोलहवीं शताब्दी की अवधी का अध्ययन' (लक्ष्मीधर, लन्दन) 'परसर्गों के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन' (रामचन्द्र काशी, अ०) तथा 'हिन्दी शब्दार्थ विज्ञान' (हरदेवबाहरी प्रयाग, अ०)। भाषा सम्बन्धी विशेष अध्ययनों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं —'मुहावरा मीमांसा' (ओमप्रकाश गुप्त, काशी अ०) 'भारतीय ग्रामोद्योगों की शब्दावली का अध्ययन' (हरिहरप्रसाद गुप्त, प्रयाग अ०) तथा 'हिन्दी प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक विवेचन' (विद्याभूषण विभु, प्रयाग अ०)। यह आश्चर्यजनक है कि हिन्दी का प्रधान जनपदी रूप खड़ी-बोली-वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अभी तक उपेक्षित है। नामों के अध्ययन के सिलसिले में मोहल्ला, ग्राम, नगर, नदी, पहाड़ आदि से सम्बद्ध स्थान वाचक तथा अन्य हिन्दी नामों का भी शीघ्र अध्ययन होना चाहिए। प्रयोगशालाओं के अभाव में प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान पर अपने देश में कार्य अभी प्रारम्भ भी नहीं हो सका है। अपने विद्वानों ने 'गरवा' — अवधी तथा भोजपुरी पर कुछ कार्य अवश्य किया है।

प्राचीन कवियों के ग्रन्थों के वैज्ञानिक सम्पादन की ओर भी ध्यान गया है। इस दृष्टि से बिहारी "सतसई" (जगन्नाथदास रत्नाकर) तथा "सूरसागर" (रत्नाकर तथा वाजपेयी) पर सब से पहले कार्य हुआ था। इधर सेनापति का कवित्त रत्नाकर (उमाशङ्कर शुक्ल, प्रयाग प्र०), नन्ददास ग्रन्थावली (उमाशङ्कर शुक्ल, प्रयाग प्र०), जायसी ग्रन्थावली (माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०) तथा रामचरित-

मानव (शम्भुनारायण चौबे, काशी प्र०, माता प्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०) के वैज्ञानिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। 'केशव ग्रन्थावली' (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र काशी प्र०) भी सम्पादित रूप में तैयार है। यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य शेष है। इस सम्बन्ध में सब से बड़ी कठिनाई हस्तलिखित पुस्तकों के केन्द्रीय संग्रहों का अभाव है।

खोज के कार्य में अच्छे पुस्तकालयों के अतिरिक्त 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' (१८६७ १९४२) (माता प्रसाद गुप्त, प्रयाग, प्र०) जैसे ग्रन्थों से विशेष सहायता मिलती है। इसी ढङ्ग की एक अन्य सहायक पुस्तक की भी अत्यन्त आवश्यकता है जिसमें हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित खोज सम्बन्धी लेखों की पूर्ण सूची मिल सके। हिन्दी भाषा और साहित्य विषयक खोज सम्बन्धी लेख यों तो अनेक मासिक पत्रिकाओं तथा कभी कभी साप्ताहिक और दैनिक पत्रों तक में बिखरे पड़े हैं किन्तु इस प्रकार की विशेष त्रैमासिक पत्रिकाओं में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (काशी), "हिन्दुस्तानी" (प्रयाग), "हिन्दी अनुशीलन" (प्रयाग) विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में गत बीस वर्षों में होने वाले कार्य की जो संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गयी है वह पूर्ण नहीं है। इसका उद्देश्य केवल यह विश्वास दिलाना मात्र है कि हिन्दी में खोज और आलोचना के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हुआ है। इससे भी कई गुना अधिक कार्य हो रहा है जिसका उल्लेख नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय हैं। उपर्युक्त कार्य में से एक महत्त्वपूर्ण अंश अँग्रेजी तथा फ्रेंच में होने वाले कार्य का है। इसके हिन्दी रूपान्तर शीघ्र तैयार होने की आवश्यकता है। बहुत सा कार्य अभी अप्रकाशित है। हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में खोज सम्बन्धी निबन्धों तथा ग्रन्थों के प्रकाशन का कोई भी सन्तोषजनक प्रबन्ध अभी तक नहीं है यह अत्यन्त खेद का विषय है। इसके अभाव में इस परिश्रम का समुचित उपयोग नहीं हो पा रहा है।

'—भारतीय प्राच्य परिषद् लखनऊ अधिवेशन १९५१ हिन्दी विभाग के सभापति के आसन से दिये हुए भाषण का अंश।

साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहक

साहित्य सन्देश के सम्पन्न ग्राहक महानुभावों को एक सुविधा देने की योजना हमने बनाई है जिससे हमें भी बड़ी सहायता मिलेगी। वह है साहित्य सन्देश के सहायक ग्राहक बनाने की। सहायकों को एक बार एक मुश्त १००) देने होंगे जो हमारे कार्यालय में जमा रहेंगे। और जब तक यह रुपए जमा रहेंगे साहित्य सन्देश उन्हें बिना मूल्य भेंट किया जायगा। जिस समय ग्राहक सहायक श्रेणी से अपना नाम अलग करना चाहेंगे उनके १००) पूरे लौटा दिए जायेंगे। आशा है इस सुविधा से अधिक से अधिक सज्जन लाभ उठाने की कृपा करेंगे।

सहायक ग्राहकों के लिए साहित्य-सन्देश विशेष रूप से अच्छे कागज पर छपवाया जायगा और उन्हें भण्डार की पुस्तकें भी विशेष सुविधा से मिलेंगी।

—सञ्चालक

प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का अनुशीलन

(दृष्टिकोण-विस्तार की अपेक्षा)

आचार्य श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी,

हिन्दी का अध्ययन एक दृष्टि से विश्वविद्यालयों के पढ़ाए जाने वाले अन्य साहित्यों के अध्ययन से थोड़ा भिन्न है। हिन्दी में हम एक ओर तो ऐसे कवियों, प्रवृत्तियों और भावधाराओं का अध्ययन करते हैं जो प्राचीन साहित्य के अङ्ग हैं और जिनके अनुशीलन के लिये उसी प्रकार के अध्यवसाय और शोध सामग्री की आवश्यकता होती है जिस प्रकार की सामग्री संस्कृत, पाली और प्राकृत आदि 'क्लासिकल' कही जाने वाली भाषाओं के लिये अपेक्षित है। पूर्व मध्यकाल के साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना के साथ उसका सम्बन्ध घनिष्ट और प्रत्यक्ष है। दूसरी ओर उसका साहित्य नित्य बढ़ता जा रहा है। जब तक हमारे विभाग का विद्यार्थी परीक्षा हाल से बाहर आता है तब तक साहित्य आगे निकल गया होता है। इस प्रकार एक ओर हमें धैर्य की जरूरत होती है तो दूसरी ओर भागते हुए काल प्रवाह पर सतर्क दृष्टि रखने की आवश्यकता होती है। इस प्रवाह पर किस प्रकार दृष्टि रखी जा सकती है यह हमारे विश्वविद्यालयों के सामने बड़ा भारी प्रश्न है।

जैसे-जैसे शोधकार्य आगे बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि यह धारणा बहुत कुछ बेबुनियाद ही है कि आधुनिक भाषाओं के विकास के बाद उत्तर मध्यकाल में भारत वर्ष के विभिन्न प्रदेशों में सांस्कृतिक आदान प्रदान कम हो गया था। हिन्दी साहित्य का वह अङ्ग जिसे मैंने प्राचीन कहा है, अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है, उसी प्रकार किसी भी प्रान्तीय भाषा का साहित्य अपने आप में परिपूर्ण नहीं है। सबको परस्पर की सहायता की आवश्यकता है, सब का साहित्य एक दूसरे से उलझा हुआ है। हिन्दी में पाया जाने वाला नाथ योगियों का साहित्य समूचे भारत की भाषाओं में फैला हुआ है। विद्यापति के प्रभाव का विस्तार बहुत व्यापक है। वह बङ्गाल के गौड़ीय वैष्णवों के साहित्य को प्रेरणा देता रहा है, आसाम के शङ्कर-देव जैसे महात्माओं को और उनके सम्प्रदाय के वैष्णव साहित्य को प्रभावित किया है, नेपाल के नाट्य साहित्य में प्राण सञ्चार करता रहा है और उड़ीसा के भक्तों में भी प्रिय रहा है। पश्चिमी बङ्गाल, विहार, रीवाँ, उत्तरी उड़ीसा में प्रचलित निरञ्जन या धर्म देवत सम्प्रदाय का एक टाँका बङ्गला में है तो दूसरा उड़िया में और तीसरा कबीर पन्थियों के साहित्य में और मेरा विश्वास है कि एकाध टाँका गुरुमुखी के साहित्य में भी मिल सकता है। नामादास का भक्तमाल आज से कोई दो सौ वर्ष पहले बङ्गला के अनुवादित हुआ और उसने बङ्गला साहित्य को प्रभावित किया, कविवर रवीन्द्रनाथ टाकुर ने इस अनूदित ग्रन्थ से प्रभावित होकर सूर-दास, तुलसीदास, कबीरदास, आदि पर बहुत सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद मराठी में भी हुआ था। और उड़िया में अनुवाद हुआ था या नहीं यह तो मैं न [illegible] कह सकता पर मेरे एक मित्र—प्रो० प्रह्लाद प्रधा [illegible] ने—उसके अनुकरण पर लिखे एक उड़िया ग्रन्थ की चर्चा मुझसे की थी। बङ्गाल के गौड़ीय वैष्णवों ने भक्ति और भक्तों का जो सूक्ष्म विवेचन किया था उसने आगे चलकर उत्तर भारत के उस रामभक्ति साहित्य को—जिसका केन्द्र अयोध्या में है—बहुत प्रभावित किया था। यह कहानी अब भी कही जाने को है। उदाहरण बढ़ाना बेकार है। हमारे देश के मध्ययुग का साहित्य भी बहुत दूर तक एक और अविच्छेद नहीं है। इसी प्रकार के केन्द्र की आवश्यकता है जहाँ सभी प्रान्तीय

भाषाओं के साहित्य का अध्ययन विशेष गम्भीरता के साथ किया जाय।

मैं जितना ही सोचता हूँ उतना ही स्पष्ट मालूम होता है प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य एक दूसरे से ऐसा उलझा हुआ है कि उनके निपुण अनुशीलन के बिना हम उस मध्ययुग को एक दम नहीं समझ सकेंगे जिसके गर्भ से हमारा यह आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है। बङ्गाल के ब्रजबुलि का साहित्य ब्रजभाषा के साहित्य से ही नहीं, आसाम, उड़ीसा और मिथिला के साहित्य से अविच्छिन्न भाव से सबद्ध है। हिन्दी के पुराने साहित्य का अध्यायन तब तक अधूरा ही कहा जायगा जब तक हम देश और काल में फैले हुए वृहत्तर भारतीय साहित्य का अध्ययन नहीं कर लेते। यही बात अन्य प्रान्तीय भाषाओं के लिए भी सही है।

यह एक अत्यन्त विचित्र और सकेत पूर्ण बात है कि मध्ययुग के अपभ्रंश साहित्य की जो कुछ भी काल पद्धति है—बौद्धों के दोहे और पद, जैन मुनियों के निर्गुण भाव के पाहुड़ दोहे, सिद्धों के दोहा चौपाई में लिखने की प्रथा, जैन कवियों के कड़वकबद्ध चरित काव्यों की परम्परा—सब का अवशेष हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में मिलता है। अर्थात् आरम्भिक हिन्दी साहित्य की लालटेन यदि ठीक जलाई जा सकी तो हम पूर्व मध्यकाल के अन्धकार में आसानी से घुस सकेंगे। इसीलिये मुझे इस प्रकार के स्वप्न से बड़ा उल्लास अनुभव होता है कि इस विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग इस महा यज्ञ का प्रधान पीठ बनेगा। हिन्दी के इस अनुशीलन कार्य से अनेक प्रान्तीय भाषाओं के इतिहास पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ेगा। इस समय जब हिन्दी अन्तर प्रान्तीय भाषा होने जा रही है, इस प्रकार के शोध कार्य का महत्व और भी बढ जाता है। यह बहुत बड़ा कार्य है, फिर भी यह हमारे कार्य का एक सामान्य अंश मात्र है। बदली हुई परिस्थितियों में हमें बहुत-कुछ करना है, सबका नाम गिनाना यहाँ सम्भव नहीं है, आवश्यक भी नहीं है। यह सन्तोष की बात है कि इस ओर विद्वानों का ध्यान गया है परन्तु इस प्रकार के सभी प्रयत्न छिटपुट और असङ्गठित रूप में तो रहे हैं। इसकी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए।

इतिहास कुछ खण्ड सत्यों का सग्रह मात्र नहीं है, साहित्य का इतिहास तो बिल्कुल नहीं। हमारे साहित्य का इतिहास तभी पूर्ण कहा जायगा जब हमें उसके पढ़ने के बाद चिन्ता धारा की समग्रता और उसकी जीवन्त गति का प्रत्यक्ष दर्शन हो। अपभ्रंश के साहित्य का नया स्वर केवल पूर्व पर मन्य परम्परा के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह तत्कालीन प्रचलित सस्कृत काव्य धारा से थोड़ा भिन्न है। मनुष्य केवल उत्तराधिकार में ही ऐसे विचार नहीं पाता जिनको अग्रसर करना या समृद्ध करना उसका कर्तव्य और दायित्व होता है। वह पार्श्ववर्ती मनुष्य की चिन्ताधारा से भी प्रभावित होता है। ऐसे प्रयत्न हमने देखे हैं जो रीतिकाल के अन्तिम भग्नावशेषों में ही आधुनिक विचारों के बीज खोजने की दुःसाध्य साधना से अनुप्राणित हैं। सचाई यह है कि नवीन मानवता और उसके गर्भ से उत्पन्न उन्मुक्त विचारधारा जो आधुनिक साहित्य का मूल अंश है एकदम नई परिस्थितियों की उपज है और उसे हमने उत्तराधिकार के रूप में नहीं बल्कि पार्श्ववर्ती विचारों के सम्पर्क स्थापन के कारण मिले हैं। इसी प्रकार अपभ्रंश में जो नया स्वर दिखाई देता है उसके लिये भी यह जरूरी नहीं कि वह पूर्ववर्ती साहित्य के पेट से ही उत्पन्न हुआ हो। उसमें भी किसी नवीन मानव मण्डली का स्पर्श मिल सकता है। कहने का मतलब यह है कि हिन्दी साहित्य के प्राचीन अंग के अध्ययन के लिए दृष्टि विस्तार की आवश्यकता है। केवल साहित्य नहीं धर्म, दर्शन, देवता, मण्डल, मूर्ति-विधान, चित्रकला सब जगह हमें देश और काल दोनों में दूर तक दृष्टिपात करने की आवश्यकता हो सकती है।

हिन्दी में समालोचना के तीन काल

श्री हरे कृष्ण मालवीय एम० ए०

समालोचना का तात्पर्य किसी कृति की सफलता के विवेचन तक ही सीमित नहीं है। समालोचना ललित साहित्य के अन्तर्गत एक विशेष शास्त्र है। प्रायः ललित साहित्य के दो विभाग होते हैं। एक शुद्ध काव्य और दूसरे काव्य समीक्षा सम्बन्धी शास्त्र, दूसरे शब्दों में इन्हें हम लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ कह सकते हैं। इन्हीं लक्षण ग्रन्थों को हम समालोचना शास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं जिनका विकास लक्ष्य ग्रन्थ अथवा शुद्ध काव्य के उपरान्त होता है। समालोचना शास्त्र का क्षेत्र भी लक्षण ग्रन्थ तक ही सीमित नहीं है वरन् उन्हीं लक्षणों के आधार पर किसी कवि की कृति की सफलता का विवेचन भी सम्मिलित है। हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के बाद १८ वीं १९ वीं शताब्दी में तो काव्य समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई और बीसवीं सदी में कृति विशेष का विवेचन आदि का निरूपण हुआ। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में समालोचना का इतिहास दो विभाग में बाँटा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत हिन्दी के तीन शताब्दी की कथा है।

हिन्दी में समालोचना शास्त्र का प्रथम काल १७ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से आरम्भ होता है। भक्तिकाल में काव्य की उच्चकोटि की रचना हो चुकी थी। सूर, तुलसी, जायसी एवं अन्य कितने ही कवियों ने काव्य के विकसित रूप को प्रदर्शित किया था। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर काव्य समीक्षा सम्बन्धी साहित्य की रचना होना स्वाभाविक था और इसी का आरम्भ हिन्दी में समालोचना का आरम्भ है। हिन्दी में रस और अलङ्कार की ही पूर्ण विवेचना हुई है। केशव, भूषण, देव आदि के ग्रन्थ 'अलङ्कार-निरूपण' करने के ही लिये लिखे गये थे। रस निरूपण में मतिराम का 'रसराज' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है, पर यह सब होते हुये भी समालोचना का यह काव्य शास्त्र सम्बन्धी अङ्ग हिन्दी में पूर्ण है यह नहीं कहा जा सकता। रीतिकाल के कवि प्रथम कवि और फिर आचार्य। इस काल की रचना में काव्य शास्त्र का पूरा निरूपण न हो कर एक दृष्टि से परिचय मात्र कराया गया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रीतिकाल के हिन्दी के पण्डितों में कवित्व अधिक था और शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान के निरूपण करने की प्रवृत्ति उचित मात्रा में बहुत कम थी। यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि हिन्दी साहित्य के इस विभाग पर संस्कृत काव्य शास्त्र का बड़ा प्रभाव पड़ा। अधिकांश काव्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ तो संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद मात्र हैं। संस्कृत में कुछ लोग रस को, कुछ अलंकार को, कुछ ध्वनि को, काव्य में प्रधान मानते हैं। संस्कृत के काव्यालङ्कार, नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण आदि के समान हिन्दी में एक भी रचना है—इसमें सन्देह है।

इसके बाद हम समालोचना के दूसरे भाग पर आते हैं जिसके अन्तर्गत कृति विशेष का विवेचन सम्मिलित है। ऐसी रचनाओं का हिन्दी में पूर्ण अभाव था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पहले जनता में काव्य के गुण-दोष के विवेचन करने की शक्ति ही नहीं थी, परन्तु यह विषय साहित्य का एक विशेष अङ्ग रहा हो ऐसी बात नहीं है। सच बात तो यह है कि कृति के गुण दोष विवेचन करने की प्रवृत्ति का इतना विकास ही प्राचीन साहित्य में नहीं है। संस्कृत में तो ग्रन्थों की टीका टिप्पणी में हो कहीं कहीं समालोचना हो जाती थी। फिर इस विषय का पूर्ण विकास गद्य में ही हो सका है, यह भी सम्भव है कि भक्तिकाल की रचना गुण दोष विवेचन के योग्य न समझी गई हो। साधारण रू

से प्रेस और गद्य के प्रचार के उपरान्त बीसवीं शताब्दी में समालोचना शास्त्र के निरूपण करने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। इसके विकास में अंग्रेजी साहित्य का बड़ा प्रभाव है। कृति एवं रचयिता के विषय में हिन्दी में सर्वप्रथम अनुसन्धान करने का श्रेय डा० ग्रियर्सन का है। इनके भी पहले शिवसिंह सरोज एवं टैसी के ग्रन्थों में कवि एवं उनकी कृति का निरूपण है परन्तु वह तालिका मात्र है। डा० ग्रियर्सन ने गोस्वामी तुलसीदास के कवित्व गुणों से मुग्ध हो कर उनके काव्य की स्तुत्य आलोचना की।

वर्तमान कालीन हिन्दी समालोचना दो विभागों में बाँटी जा सकती है। एक तो किसी कवि की रचना का स्वतन्त्र निरूपण और दूसरे हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन। आधुनिक समालोचकों में सर्वोच्च स्थान स्व० रामचन्द्रजी शुक्ल का है। आपने समालोचना के ऐतिहासिक पक्ष का समन्वय उसके गुण दोष विवेचन पक्ष से जिस प्रकार किया है, अभी तक कोई अन्य समीक्षक नहीं कर सका है। शुक्लजी का 'तुलसीदास' तुलसी की समालोचना में अद्वितीय है। आज के समालोचकों में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, विनयमोहन शर्मा डा० नगेन्द्र गुलाबराय, रामनाथ सुमन और रामकुमार वर्मा मुख्य हैं।

साधारण रूप से हिन्दी साहित्य के समालोचकों पर दृष्टिपात करने से कुछ उल्लेखनीय प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है। अधिकांश आलोचकों में कवि की कृति को छोड़कर उनके व्यक्तिगत गुण अथवा दोषों का ही विवेचन रहता है। व्यक्तिगत आक्षेप समालोचना का बड़ा दोष है और हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक भी इस दोष से निवृत नहीं हैं। दूसरी जो मुख्य बात हिन्दी के आलोचकों में पाई जाती है, वह उनमें पूर्ण अनुसन्धान अथवा जिज्ञासा प्रवृत्ति की कमी है। प्राप्त एवं प्रसिद्ध बातों पर ही विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति सच्ची समालोचना में बाधक होती है। तीसरे प्रायः प्रत्येक समालोचक अपने कवि को ही सर्वश्रेष्ठ कवि समझता है। इसके मूल में कुछ पक्षपात और कुछ तुलनात्मक विवेचन की प्रवृत्ति है। काव्य के कुछ अंगों में जैसे अलंकार, रस आदि के निरूपण में हम भले ही तुलनात्मक विवेचन कर सकें पर प्रतिभा एवं कवित्व का तुलनात्मक विवेचन कहाँ तक शास्त्र सम्मत है, नहीं कहा जा सकता।

समालोचक का कार्य बड़ा ही कठिन है। इसके मूल में व्यक्तिगत रुचि ही नहीं, वरन् पांडित्य और अध्ययन की भी आवश्यकता है। समालोचक का दृष्टिकोण उदार होना चाहिये। इस दृष्टि से विवेचन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है, कि हिन्दी साहित्य में समालोचना अपने उस रूप में नहीं बढ़ सकी है, जितना कहानी, उपन्यास, निबन्ध और नाटक बढ़ चुके हैं। दूसरे शब्दों में उसको हम कह सकते हैं, कि समालोचना अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है और इसका पूर्ण विकास आधुनिक हिन्दी के पठन पाठन करने वालों पर ही निर्भर है।

हिन्दी समीक्षा का नवीन विकास

आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

साहित्य शास्त्र का ह्रास उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरा हो चुका था। उसका नया जन्म यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही हो गया था, किन्तु समीक्षा का व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मानना चाहिये। इस प्रथम उत्थान को समीक्षा का द्विवेदी युग कहा जाता है। स्वयं द्विवेदीजी के अतिरिक्त पंडित पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु और पंडित रामचन्द्र शुक्ल इस युग के प्रमुख समीक्षक हैं। साहित्य के सुधार की प्रवृत्ति इसी समय दिखायी दी और स्वभावतः इस युग की समीक्षा ने सुधारवादी स्वरूप ग्रहण किया।

उस समय रीति शैली के काव्य का ही सबसे अधिक प्रचलन था। थोड़ी मात्रा में नवीन शैली की रचना भी होने लगी थी, किन्तु तुलना में वह रीति काव्य से बहुत कम थी। पण्डित पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा का आधार मुख्यतः रीति कविता है; यद्यपि थोड़ा बहुत नवीन साहित्य पर भी उन्होंने विचार किया। ठीक जिस मात्रा में ये दोनों प्रकार के काव्य भेद उस समय प्रचलित थे, उसी अनुपात में शर्माजी ने उनका विवेचन किया। इस दृष्टि से शर्माजी अपने समय के प्रतिनिधि समीक्षक कहे जा सकते हैं।

क्रमशः नवीन साहित्य की मात्रा, परिमाण और शक्ति बढ़ती गई और रीति काव्य का अन्त होता गया। रीति के प्रभावों से द्विवेदी युग की समीक्षा को पूरी मुक्ति नहीं मिली। प्राचीन का मोह उनसे नहीं छूटा। यदि हम नवीन समीक्षा पर इस दृष्टि से विचार करें कि विशुद्ध साहित्यिक आधार पर प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्य का समन्वय कब हुआ, अर्थात् कब समीक्षा की एक ऐसी सत्ता प्रतिष्ठित हुई जिसमें नवीन और प्राचीन साहित्य एक ही तुला पर रख कर देखे गये, तो हम कहेंगे कि वह युग द्विवेदी युग के पश्चात् उपस्थित हुआ। स्वयं शुक्लजी का झुकाव नवीन की अपेक्षा प्राचीन की ओर अधिक था।

जिस प्रकार शुक्लजी और उनके पूर्ववर्ती समीक्षक प्राचीन साहित्य की ओर इतना अधिक झुक गये थे कि वे नवीन साहित्य की विशेषताओं को ठीक परख न कर सके, उसी प्रकार आज की नवीन समीक्षा प्रचलित साहित्य की ओर इतनी आकृष्ट है कि न केवल प्राचीन साहित्य की उपेक्षा हो रही है, बल्कि साहित्य की कोई सार्वजनीन और स्थिर माप बनने में भी बाधा पड़ रही है। यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी युग में नवीन साहित्य का पल्ला हलका होने के कारण समीक्षकों की दृष्टि उसके गुणों की ओर न जा सकी, किन्तु इस बात का कोई कारण नहीं दीखता कि आज के नये समीक्षक प्राचीन और नवीन समस्त साहित्य को सम दृष्टि से क्यों न देखें?

साहित्य की कोई अपनी स्थायी कसौटी क्यों नहीं बन रही? क्यों हम अपनी सभी विशेष दृष्टियों से साहित्यिक कृतियों की समीक्षा करते हैं? इसका कारण केवल हमारे संस्कार नहीं हैं, वे अनेक मतवाद भी हैं, जो नई समीक्षा में प्रवेश कर चुके हैं। इन मतवादों से किस प्रकार हमारी और हमारे साहित्य की रक्षा हो, आज की साहित्य समीक्षा की मुख्य समस्या यही है।

यहाँ हम धारावाहिक रूप से यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी की नवीन समीक्षा किन आरम्भिक परिस्थितियों को पार कर आज की भूमि पर पहुँची है और किस प्रकार वह भविष्य पथ की ओर अग्रसर हो रही है। उसने कितना साधन सम्बल संग्रह कर लिया है और उसकी सहायता से वह आगामी

परिस्थितियों का सामना कहाँ तक कर सकती है ?

पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में सुधार का मुख्य विषय रचना-कौशल था। रीति-काव्य में, जो शर्मा जी के समय का प्रचलित काव्य प्रवाह था, कौशल की ही प्रधानता थी और उनके समय के नव निर्माण में इसी की कमी थी। फलत शर्माजी की समीक्षा का मुख्य आधार काव्य-कौशल बना जो सामयिक साहित्यिक स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था। नवीन सुधार का विषय काव्य आत्मा नहीं, काव्य-शरीर था,-यह भी समय को देखते हुए अनिवार्य ही था।

काव्य शरीर के अन्तर्गत भाषा, पद प्रयोग, उक्ति-चमत्कार और चित्रण-कौशल आदि आते हैं, इन्हीं की ओर शर्माजी की दृष्टि गई। यदि यह प्रश्न किया जाय कि काव्य आत्मा में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, तो मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी का काव्य आत्मा स्थानीय है और बिहारी तथा देव का काव्य शरीर स्थानीय, पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य शरीर का आग्रह करके चली, देव और बिहारी को आदर्श बना कर आगे बढ़ी।

सुधार की पहली सीढ़ी शरीर-सम्बन्धिनी ही होती है, और उसका अपना मूल्य भी कुछ कम नहीं होता। अंग्रेजी की सूक्ति है कि शुद्ध शरीर में ही शुद्ध आत्मा रह सकती है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध शरीर में सदैव शुद्ध आत्मा ही निवास करती है। शर्माजी ने काव्य शरीर की शुद्धि के सभी पहलू स्पष्ट कर दिए और उसकी समस्त सम्भावनाएँ उद्घाटित कर दीं। काव्य समीक्षा के लिए उनका कार्य अपनी सीमा में महत्व रखता है और यह सिद्ध करता है कि शरीर के सुधारने से ही मन और आत्मा नहीं सुधरते।

नवीन काव्य धारा के सम्बन्ध में शर्माजी का मत मुक्तक काव्य के—बिहारी और देव आदि के—काव्य प्रतिमानों से ही प्रभावित था। नवीन कविता किस आदर्श को ग्रहण करे, इसी विषय पर उनके संस्कार रीति शैली से ही परिचालित हुए थे, फलत नवीन काव्य को गति विधि पर न तो उनकी सम्मति का विशेष मूल्य था और न प्रभाव ही। हिन्दी के लिए उन्होंने हाली का आदर्श ग्रहण करने की सिफारिश की, किन्तु नवीन कविता उस साँचे में नहीं बैठ सकती थी।

द्विवेदी युग का नवीन काव्य आदर्शात्मक काव्य था। उसके मूल में नवयुग की भावना का विन्यास था। छायावाद की कविता तो और भी अधिक आत्माभिमुखी थी। उसके लिए देव और बिहारी के साँचे कहाँ तक ठीक उतर सकते थे, यह आज का सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है।

'मिश्र बन्धुओं' की समीक्षा में देश-काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ा, किन्तु वह सब उल्लेख नाम मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई परिवर्तन न हो पाया। सब कुछ होते हुए मिश्रबन्धु रीति शास्त्र का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य के भाव पक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देखा। रीति काव्य और रीति-ग्रन्थों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

द्विवेदी जी ने समीक्षा के भीतरी पहलू—आत्म पक्ष पर पूरा ध्यान दिया, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग काव्य का पोषण करना द्विवेदी का ही काम था और वे युग द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। 'हिन्दी नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर सूर और तुलसी जैसे सन्त कवियों के काव्य को शृङ्गारी कवियों से पृथक् और ऊँचा स्थान देने की सिफारिश की, और दूसरी ओर भारतेन्दु जैसे नई शैली के स्वदेश-प्रेमी कवि को सम्मानित पद प्रदान किया। समीक्षा की एक

सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदीजी ने प्रस्तुत की, यद्यपि उसमें रंग भरने, उसे प्रशस्त करने और शास्त्रीय मर्यादा देने का कार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी इस युग के मुख्य समीक्षकों में हैं, जिन पर रीति-पद्धति की पूरी छाप पड़ी है। द्विवेदी जी अपनी समीक्षा में काव्य विषय को महत्त्व देते हैं, भले ही शैली का सौन्दर्य अथवा भावात्मकता उसमें न हो। मिश्र जी और दीन जी विषय की अपेक्षा काव्य-शैली को मुख्य ठहराते हैं, उन्हें विषय के महत्व अथवा काव्य की वास्तविक भावात्मकता से प्रयोजन न था तथा द्विवेदी-युग की समीक्षा के ये दो प्रतिवाद हैं जिनके मध्य कोई सामञ्जस्य न था।

शुक्लजी अपनी समीक्षा में मिश्र बन्धुओं अथवा शर्माजी की अपेक्षा द्विवेदी जी के अधिक निकट थे। उन्होंने काव्य विषय के महत्व का आरम्भ से ही ध्यान रखा और सामाजिक व्यवहार की पृष्ठ भूमि पर काव्य की भाव सत्ता को स्थापित किया। यही शुक्लजी का काव्यात्मक लोकवाद है, जो उनका मुख्य साहित्यिक सिद्धान्त है। काव्य में भाव की सत्ता व्यवहार निरपेक्ष भी हो सकती है, शुक्ल जी इसे स्वीकार नहीं कर सके।

काव्य की आत्मा की ओर उनकी दृष्टि गई, किन्तु आत्मा के स्थूल पक्ष व्यवहार या नीति पर ही वह टिक रही। काव्य विषय का आग्रह उन्हें 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा' के प्रवर्तक तुलसीदास के समीप ले गया। तुलसीदास के काव्यात्मक महत्व पर दो मत नहीं हो सकते, किन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि गोस्वामीजी कवि के साथ ही अपने युग के एक धर्म संस्थापक, सुधारक और संस्कारक भी थे। उनके काव्य में उपदेशात्मक तथ्य कम नहीं है।

विशुद्ध काव्यात्मक भाव-संवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव-सत्ता की ओर शुक्लजी का झुकाव कहीं अधिक था, यह उनके समीक्षा कार्य से लक्षित होता है। भारतीय रस-सिद्धान्त को उन्होंने मुख्य समीक्षा-सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द पक्ष पर, उसके *आध्यात्मिक स्वरूप पर उनकी निगाह नहीं गई।* साहित्य समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देने वाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस सम्बन्धी उनकी व्याख्या व्यञ्जना या अनुभूति पर आश्रित न होकर, एक नैतिक आधार का अनुसन्धान करती है।

इस सम्बन्ध में उनका 'साधारणीकरण' का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। काव्य में इसको एक अबाध धारा न मानकर वे वस्तु या विषय-चित्रण के आधार पर उसकी कई भूमियाँ मानते हैं। 'राम-चरित मानस' के तीन पात्रों का उदाहरण देकर वे कहते हैं कि राम के चित्रण में पाठक या श्रोता की वृत्ति रमती है, रसानुभव करती है; रावण के चित्रण में वह रसानुभव नहीं करती और सुग्रीव आदि पात्रों के चित्रण में अंशतः रस लेती है। यह अनोखी उप-पत्ति काव्य की समस्त क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्लजी की नैतिक काव्य दृष्टि का विज्ञापन करती है।

रस और अलङ्कार, भाव पक्ष और शैली पक्ष, का पृथक्करण और आत्यन्तिक विच्छेद शुक्लजी का दूसरा साहित्यिक सिद्धान्त है। विभावपक्ष और अल-ङ्कार पक्ष, काव्य भावना और काव्य-व्यञ्जना, को दो *पृथक् प्रक्रियाएँ मानने के कारण शुक्लजी उनके सम*न्वय की कल्पना भी नहीं कर सके। न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोचे जैसे नवीन सिद्धान्त-स्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद स्वीकार करते हैं।

काव्य में प्रकृति वर्णन के एक विशेष प्रकार का आग्रह करते हुए शुक्लजी काव्य के स्थायी वर्ण्य-विषयों और वर्णन प्रकारों की मत उपस्थित करते हैं। काव्य की देश काल-परिच्छिन्न शैलियाँ और उनकी प्रेरक परिस्थितियाँ शुक्लजी को मान्य नहीं हैं। रागा-

शिक्षा वृत्ति का एक ही नित्य और स्थिर स्वरूप मानने के कारण शुक्लजी काव्य के देशकालानुरूप विकास की उपेक्षा कर गए हैं। इसीलिए वे नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि अनेक काव्याङ्गों के स्वतन्त्र रूपों की ओर आकृष्ट नहीं हुए।

सामान्य नैतिकता का ही नहीं, भारतीय समाज पद्धति और वर्ण व्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समाज-पद्धति के रूप में समर्थन करना एक बात है और उसे काव्य वैशिष्ट्य का हेतु मान लेना दूसरी ही बात है। शुक्लजी काव्य के नैतिक आदर्श के कारण भावनावान कवि सूरदास के प्रति जो मत व्यक्त करते हैं उनमें शुक्लजी की समीक्षा सम्बन्धी व्यक्तिगत रुचि का परिचय मिलता है। स्थूल व्यावहारिक सम्बन्धों का प्रबन्ध-काव्य के साँचे में उल्लेख न करने के कारण नवीन भावात्मक और दार्शनिक काव्य से भी वे विरत हैं।

एक नवीन उत्थानात्मक काव्यादर्श का निर्माण शुक्लजी ने अवश्य किया, जिसके अन्तर्गत हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरम्भिक विवेचन सुन्दर रूप में किया जा सका और हिन्दी समीक्षा का एक पुष्ट परिपाटी बन गया, किन्तु यह नहीं कह सकते कि शुक्लजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाएँ भारतीय या पाश्चात्य साहित्यानुशीलन का नवतम क्रान्तियों तक पहुँच सका है। साहित्यिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का प्रथम चरण शुक्लजी ने पूरा किया।

उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्व है। भारतीय काव्य समीक्षा के पुनरुज्जीवन का प्राथमिक प्रयास उन्होंने किया। काव्य आत्मा के नैतिक स्वरूप का उद्घोष प्रतिष्ठा का, किन्तु काव्य का निर्विशेष स्वरूप जिसमें वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलङ्कार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्लजी की समीक्षा में उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के बहुत थोड़े और एक विशेष अंश पर ही उनकी दृष्टि गई, जो व्यापक नहीं कही जा सकती।

हिन्दी साहित्य का महान उपकार हुआ, किन्तु विशुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त की वह प्रतिष्ठा, जो पूर्व और पश्चिम, नवीन और अतीत की काव्य सम्पत्ति को पूर्णत आत्मसात् कर सके और जिसके द्वारा सभी काव्य शैलियों, काव्याङ्गों और कलात्मक स्फूर्तियों का सम्यक् आकलन हो जाय—काव्य-साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या और काव्य सिद्धान्तों का तटस्थ अनुशीलन—शुक्लजी की कार्य परिधि में नहीं आता।

इसी समय आचार्य श्यामसुन्दरदास की 'साहित्यालोचन' और श्री बख्शी की 'विश्व साहित्य' पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'साहित्यालोचन' में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्याङ्गों की पहली बार सुन्दर व्याख्या की गई और 'विश्व-साहित्य' में यूरोपीय और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य की एक मोटी रूप रेखा प्रस्तुत की गई। इनमें से प्रथम ग्रन्थ का हिन्दी साहित्य समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठाकर सार्वजनिक कलावस्तु के रूप में देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।

शुक्लजी का समीक्षा कार्य पाण्डित्यपूर्ण होता हुआ भी उनकी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं। श्यामसुन्दरदासजी का 'साहित्यालोचन' उतना मौलिक न हो, किन्तु वह साहित्य और उसके अङ्गों का तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रथम प्रयास है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है।

इसी समय नवीन साहित्य का नवोन्मेष हो रहा था और उसकी व्याख्या करने वाले समीक्षक भी क्षेत्र में आ रहे थे। नवीन काव्य में आत्माभिव्यञ्जना का प्राधान्य था और प्रगीत काव्य का

माध्यम ग्रहण किया गया था। इसी के अनुरूप नवीन समीक्षा भी जीवन और कला का ऐक्य तथा वस्तु और शैली का ऐक्य उद्घोषित करने चली। नवीन प्रगीत काव्य की संगीतात्मकता और लय से प्रभावित होकर नये समीक्षकों ने प्रथम बार काव्य की आध्यात्मिकता का अनुभव किया, काव्य रस को 'अलौकिक' माना।

शुक्लजी प्रभृति पूर्ववर्ती समीक्षक काव्य विषय को महत्त्व देते थे और आलम्बन का साधारणीकरण आवश्यक बताते थे, किन्तु नई समीक्षा, जो विशुद्ध काव्यानुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित हुई, काव्य को ही आध्यात्मिक प्रक्रिया स्वीकार करने लगा। सम्पूर्ण काव्य रसात्मक नहीं होता, किन्तु काव्य रसात्मक ही होता है। काव्य की रसात्मकता का अर्थ ही है उसकी आध्यात्मिकता। रस का आनन्द अलौकिक आनन्द है।

भारतीय राष्ट्र की नव जागृत के काल में नवीन कविता जो सुन्दर समवेदना, दार्शनिक आभा, कल्पना का अपूर्व छटा तथा भाषा और अभिव्यञ्जना का नव विकास लेकर उपस्थित हुई उससे हिन्दी समीक्षा काव्य की उच्चतम भावभूमि का प्रथम बार परिदर्शन कर सकी। बंगला में रवीन्द्रनाथ और हिन्दी में नवीन रहस्यवादी, दार्शनिक, सौन्दर्यचेता कवियों ने काव्य को उच्चतम सांस्कृतिक भूमि पर पहुँचाने का प्रयत्न किया। फलतः नवीन समीक्षा में भी नई उमङ्ग उत्पन्न हुई और काव्य का सौन्दर्य नैतिक आवरण को छोड़कर आध्यात्मिक अनुभूति का प्रेरक बन गया।

किन्तु काव्यानुभूति के साथ सङ्गीत का संयोग इस युग में बना ही रहा। सङ्गीत का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि इस युग को गद्य की भाषा भी ध्वन्यात्मक हो रही थी। प्रसाद के नाटक, 'निराला' के उपन्यास और पन्तजी की गद्य-भूमिकाएँ अति-रञ्जित भाषा के उदाहरण हैं। प्रगीतात्मक काव्य का इतना प्रसार था कि साहित्य के आख्यानात्मक और नाटकीय अङ्ग भी अपनी विशेषता छोड़कर काव्यालङ्कारों से सुसज्जित हो गए।

एक अतिरिक्त सौन्दर्य समवेदना इस युग की रचनाओं पर अधिकार करने लगी थी जिससे विशुद्ध भाव व्यञ्जना का मार्ग अवरुद्ध होने लगा था। कतिपय समीक्षकों ने इस कारण इस युग को सौंदर्य का कला प्रधान युग कहा है, किन्तु यह आंशिक सत्य हो है। वास्तव में एक सांस्कृतिक अभिरुचि, जिसमें भाषा और भावों की अलङ्कृति की स्वाभाविक प्रेरणा थी, इस युग में देखी जाती है। काव्य में विशुद्ध भाव व्यञ्जना के साथ यह सौन्दर्यालङ्कृति भी मिली हुई है।

फिर भी काव्य का अनुभूति-पक्ष इस काल की काव्य समीक्षा में प्रमुख रीति से प्रदर्शित हुआ और समीक्षकों ने अनुभूति के मानसिक आधार की विवेचना करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। विशुद्ध काव्यात्मक अनुभूति या भावयोग की खोज की गई तथा काव्य को मानसिक संवेदना का आधार दिया गया। प्रथम बार एक मापरेखा बनी, जिससे प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य साहित्य एकाधार पर रखकर देखे जा सके।

हिन्दी समीक्षा के लिए यह युग प्रवर्तक कार्य था, क्योंकि इसी आधार पर हिन्दी साहित्य विश्व-साहित्य का एक अङ्ग माना जा सका। साहित्य की एक ऐसी वास्तविक चेतना उत्पन्न हुई जिसमें देशगत और कालगत बन्धनों के लिए स्थान न था। रहस्यवादी समीक्षा युग की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

ज्यों ही काव्य को यह अबाध सत्ता प्रतिष्ठित हुई त्यों ही समीक्षकों को अनुभव भी हुआ कि ऐसा उत्कृष्ट साहित्य जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक कहा जा सके, विरल है और प्रत्येक साहित्यिक रचना को यह सर्वोच्च पद प्राप्त नहीं होता। इसी समय समीक्षकों का एक वर्ग इस मत के प्रचार में लगा कि हिन्दी का नवीन काव्य पूँजीवादी सभ्यता का काव्य

(शेष इस चिह्न × से देखिए)

मराठीका आलोचना साहित्य

श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०

इस विषय पर लिखने से पहले मेरे मन में तीन चार सवाल उठे। मराठी भाषा और साहित्य से सु परिचित हिन्दी भाषी पाठक बहुत थोड़े होंगे। फिर विस्तार से मराठी में आलोचक और उनके कृतित्व की चर्चा करने के लिए आवश्यक साधन-सामग्री भी मेरे पास नहीं। परन्तु जब से मराठी आलोचनात्मक साहित्य पढ़ने समझने की उम्र हुई यानी १९३४ से अबतक मैं बराबर कई पुस्तकें आलोचना विषयक, और सामयिक पत्र पत्रिकाओं में समीक्षात्मक लेख पढ़ता जरूर आ रहा हूँ। क्यों न मैं उन्हीं में से जिन विशेष पुस्तकों का, लेखकों का, उनके विचारों और वाद विवादों का मेरे मन पर जो गहरा परिणाम हुआ है, उन्हीं की चर्चा इस लेख में करूँ।

वैसे तो डाक्टर माधव गोपाल देशमुख ने अपने रिसर्च ग्रन्थ 'मराठी चे साहित्य शास्त्र' में ज्ञानेश्वर से पण्डित कवियों तक प्राचीन श्रेष्ठ कवियों के ग्रन्थों में यत्र तत्र सून रूपों में ग्रथित 'काव्यतत्व' अथवा 'साहित्य कर्म' के विषय में विचारों को परिश्रमपूर्वक एकत्रित किया है। और मध्ययुग में अलङ्कार पिङ्गलादि विषयों पर, अथवा काव्य प्रतिभा और शब्द शक्ति पर कुछ स्फुट निबन्ध पुस्तकादि भी मिल जायेंगे, परन्तु वे अधिकतर संस्कृत की रूढ परम्परा वाले सिद्धान्तों, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति आदि को लेकर ही हैं।

अँग्रेजों के जम जाने के बाद, विशेषत अँग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद और प्रतिच्छाया के युग से आलोचना अथवा समीक्षा के आधुनिक अर्थ म ग्रन्थ और ग्रन्थकार मिलना आरम्भ हो जाते हैं। विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के समस्त ग्रन्थों का एक बृहद् संग्रह 'विष्णुपदी' श्री ना० बनहट्टी ने सम्पादित किया है। वैसे कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर से भी कुछ स्फुट निबन्ध साहित्य विषयक प्राप्य हैं। और इन्हीं से वस्तुत आलोचनात्मक निबन्धों की शुरुआत होती है। इनके निबन्धों में बहुत जोश के साथ अपने तर्कों की स्थापना की गयी और खण्डन-मण्डनात्मक पद्धति का आश्रय लिया गया है। 'विविधज्ञान-विस्तार' नामक साहित्यिक विचारात्मक निबन्ध मासिक में 'निबन्धमाला' की इसी परम्परा को बढ़ाया गया। और आरम्भ से ही मराठी आलोचना इतिहास प्राच्यविद्या—समाजविज्ञान और दर्शन की छाया में पलती रही।

'केसरी' और 'सुधारक' पत्रों के काल में ज्ञान विज्ञान चर्चा ने अधिक जन सुलभ रूप यानी पत्रकार कला से गठबन्धन किया। विश्लेषण से अधिक प्रवृत्ति लोक शिक्षण की ओर बढ़ी। लोकमान्य तिलक राजनीति के विषयों के लेखक थे, परन्तु साहित्य पर भी यत्र तत्र उन्होंने लिखा है। 'केसरी' का प्रथम अङ्क मङ्गलवार ४ जनवरी १८८१ को प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष के ३१ वें, ३२ वें अङ्कों में तिलक ने 'परमार्थंतील शब्दाची योजना' नामक लेख लिखा और बाद में 'देश भाषांत ग्रन्थसंग्रहाची आवश्यकता'। इसमें एक उद्धरण देखिये—

'ड्रायडन ने एक स्थान पर कहा है—If too many foreign words are pour d in upon us, it looks as if they were designed not to assist the natives but to conquer them. यदि पर भाषा से वाजिब से अधिक शब्द लिए तो भारत में अँग्रेजों ने जैसे किया है, वहा होगा, यह स्पष्ट है। परन्तु इस प्रतिबन्ध की कुछ मर्यादाएँ अवश्य रखनी चाहिये। जहाँ मूल भाषा में शब्द ही नहीं हैं। वहाँ पर भाषा

के शब्द लेने आवश्यक हैं। यथा—प्रूफ, पाइका, कम्पोजीटर आदि।

सितम्बर १८६८ साल के 'विविधज्ञानविस्तार' से एक नमूना उस समय मराठी भाषा और साहित्य के ग्रंथों के सम्बन्ध में सरकारी रिपोर्टों पर एक आलोचना से लीजिए—'भाषा-ज्ञान' के अन्तर्गत ग्रन्थसंख्या काफी है, परन्तु अधिकांश किताबें शालोपयोगी मात्र हैं। ध्यान में रखने लायक सिर्फ दस-बारह ग्रंथ हैं। 'अलङ्कारादर्श', 'अलङ्कारदर्पण', 'रसबोध', 'अलङ्कारमीमांसा' चार ग्रंथ अलङ्कारों पर हैं। नै० आगरकर की 'वाक्य-मीमांसा' गये पन्द्रह वर्षों में बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक है। उसी प्रकार से 'शुद्ध मराठी कोश' और 'संख्यावाचक दुर्बोध शब्दों का कोश' भी उल्लेखनीय हैं।'

इस प्रकार से उस समय की आलोचना में गणित का भी प्रयोग अधिक होता था। विनायक शिवराम सरे के 'वारतनय' नाटक की समीक्षा में प्रति अङ्क और प्रवेश में कितने पद्य हैं और उनमें से कितने बेकार हैं इसकी बाकायदा तालिका दी गयी है। जानसन, एडिसन, पोप आदि उस काल के प्रमुख स्फूर्ति दाता थे।

पत्रकारों की आलोचना-पद्धति में सबसे उत्तम उदाहरण शिवा शिवराम महादेव परांजपे के 'काल' के निबन्धों में मिलता है। संस्कृत के प्रगाढ़ ज्ञान के साथ व्यङ्ग का ऐसा तीखा प्रयोग अन्यत्र कम दिखाई देगा। इस प्रकार से बीसवीं सदी के आरम्भिक चरण में नरसिंह चिन्तामणि केलकर, डाक्टर श्रीधर वेङ्कटेश केतकर, वामन मल्हार जोशी आदि मराठी गद्य की प्रमुख शलाकाओं का उदय और विकास होने लगा था। स्वर्गीय केलकर की साहित्यिक आलोचनाएँ, विशेषतः उनके भाषण बहुत महत्वपूर्ण हैं। साहित्यानन्द के लिए 'सविकल्प समाधि' शब्द का प्रयोग उन्होंने ही किया। लोकजीवन से काव्य साहित्य प्रेरणा ग्रहण करता है, यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया और जीवनी-साहित्य के महत्व को भी विशेषता प्रदान की। स्व० डाक्टर केतकर समाजविज्ञान के विशिष्ट विद्वान थे। उनके 'ज्ञान-कोश' में जहाँ-जहाँ विभिन्न भाषाओं के साहित्यों पर चर्चा है वहाँ उनकी मौलिक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि सुस्पष्ट होती है। स्व० वामन मल्हार जोशी ने इस विषय को दार्शनिकता की इयत्ता प्रदान की। 'विचार सौन्दर्य' नामक निबन्ध में उन्होंने नैतिक मूल्यों के साथ सौन्दर्य-मूल्यों की तुलना की है। उनके मत से साहित्यानन्द निरपेक्ष नहीं हो सकता। वह लोक-कल्याण का प्रधान हेतु अपने अन्दर समाहित किये हुए रहता है। अन्यथा वह श्रेष्ठ साहित्य ही नहीं है।

इसके पश्चात् आलोचना अधिक व्यापक वस्तु होने लगी। पत्र पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी। और महाराष्ट्र की विश्लेषण प्रधान, बुद्धिवादी दृष्टि भी अधिक पैनी होने लगी। साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषणों में, विद्वानों की विभिन्न गोष्ठियों में 'काव्य-शास्त्र विनोद' की यह धारा और प्रवाहित होने लगी। इस समय मेरी स्मृति पर जिन ग्रन्थों की विशेष छाप स्पष्ट है, उनमें से विषयों की दृष्टि से कुछ ग्रन्थों के नाम मैं दे रहा हूँ।

काव्य और सिद्धान्त चर्चा के क्षेत्र में काव्य-चर्चा, आधुनिक काव्यप्रकाश, कविपंचक, छन्दोरचना, तांबे यांचे निबन्ध, 'पुनाची ओजळ' की भूमिका, ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान, महानुभावांची आचारमीमांसा, मर्ढेकर और नवकाव्य की मीमांसा विषयक आधुनिकवाद के कई लेख। 'कला आणि नीति', 'नीति आणि कलोपासना' जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों के साथ ही प्रो० फडके और आचार्य जावडेकर की 'पुरोगामी साहित्य' पर मीमांसा, साहित्यक समाजवादी दृष्टिकोण से लालजी पेंडसे इतिहास 'साहित्य आणि समाज-जीवन' और उसे 'प्रतिभा' में पु० य० देशपांडे की उत्तरार्ध लेखमाला बहुत महत्वपूर्ण थी। साहित्य-शास्त्र की चर्चा मराठी में बहुत बार ज्ञान विज्ञान के अन्य क्षेत्रों, यथा इतिहास-

दर्शन—राजनीति-समाजविज्ञान-मनोविज्ञान आदि सांस्कृतिक विषयों की खोज में परिणत हो जाती है। यहाँ तक कि मर्ढेकर के सौन्दर्य शास्त्र विषयक चर्चा पर 'चैतन्य' के आक्षेप और उत्तरों का अन्त 'क्वान्टम' आदि आधुनिक भौतिक शास्त्र के और आधुनिक तर्क शास्त्र के कई सिद्धान्तों तक पहुँच गया। जोग का 'सौन्दर्य शोध और आनन्द बोध', मर्ढेकर का 'वाङ्मयीन महत्‌ता', श्री० के० क्षीरसागर, बा० ल० कु० सवर्णी, वाटवे के ग्रन्थ बहुत महत्त्व पूर्ण हैं।

नाटक की समीक्षा के क्षेत्र में वि० पा० पाडेकर का मराठी नाटकों का तीन खण्डों में इतिहास, विधाहरण मीमांसा, गडकरी ध्वनि आदि वाङ्मय, खाडिलकर, कोल्हटकर, देवलपर कई बृहद् लेख मालाएँ, नवनाट्य और लोक नाट्य पर चर्चाएँ, नाट्यशाचा संसार, मखमालीचा पड आदि रङ्गभूमि के अनुभव के विषय में संस्मरणात्मक पुस्तकें चटेर कर आदि की आत्मकथाएँ पढ़ें। और 'अर्वाचीन मराठी साहित्य' जत खानोलकर संपादित ग्रन्थ में समकालीनों व समकालीनों पर आलोचनात्मक प्रबन्ध।

उपन्यास कथा के क्षेत्र में आलोचना ने बहुत का [illegible] । कई किताबों की भूमिकाएँ बहुत महत्वपूर्ण रही हैं। विभावरी शिरूरकर की पुस्तक की डा० केतकर द्वारा लिखित भूमिका से 'क्रायत्जर सोनाटा' (तोल्स्तोय) के अनुवाद को क्षीरसागर द्वारा लिखित भूमिका तक। फड़के के 'प्रतिभा-साधन', 'साहित्य आणि संसार', 'वाङ्मय विलास', माद्रखालकर के निबन्ध तथा भाषण संग्रह, खाडेकर के भाषण और भूमिकाएँ, कुसुमावती देशपांडे का मराठी उपन्यास पर विस्तृत भाषण, 'आवडत्या गोष्टी' की भूमिका, वामन मल्हार जोशी पर वा० ल० कुलकर्णी का प्रबन्ध, 'स्वभावरेखन' पर सहस्र बुद्धे का प्रबन्ध आदि कई स्मरण आ रहे हैं।

मैं जानता हूँ कि उपर्युक्त लेखों के नामादि पूर्ण नहीं हैं। परन्तु केवल कुछ मोटी मोटी रेखाओं द्वारा मराठी के आलोचना साहित्य के विपुल भाण्डार की ओर मैंने इङ्गित मात्र किया है। मराठी की साहित्यिक आलोचना के प्रमुख गुण इस प्रकार से हैं:—

१—वह व्यक्ति निरपेक्ष होती है। यानी लेखक की अपेक्षा उसके कृतित्व का विवेचन अधिक होता है।

२—वह पूर्वग्रहदूषित 'वाद विवादों' से अब ऊपर उठता जा रहा है। यानी वैज्ञानिक सैद्धान्तिक साँचों में साहित्य को बाँधने की अपेक्षा, उसे [illegible] भने, उसकी जीवन की गत्यात्मक धारायें सापेक्षता का सम्बन्ध स्थापित करने में अधिक ध्यान देता है।

३—वह साहित्य को निरा शब्द विलास न मान कर, ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों, संस्कृति के समूचे उर्ध्व विकास से सम्बन्ध समझती है। अब उसमें परिश्रमपूर्वक संशोधन पर विशेष जोर दिया जाता है।

४—वह सम्पूर्णता की ओर अधिक ध्यान देती है। यानी छपाई सफाई, गेट अप यह पर्स लगा कर अन्दर के मजमून के साधार और मौलिक होने के साथ ही साथ अन्य साहित्यों की दृष्टि [illegible] हमें कहाँ ला रखेगी इस ओर ध्यान देती है।

५—साथ ही 'एक अध्ययन' जैसी शालेय पुस्तकों की भी कमी नहीं है। परन्तु उनमें भी अब स्तर को ऊँचा उठाने की ओर सतत उद्योग हो रहा है। जनरुचि के संस्करण का भी भार उसने अपने ऊपर लिया है।

गुजराती भाषा का आलोचना साहित्य

प्रो० न० म० अढाणी एवं श्री जगदीश गुप्त

किसी भी भाषा के साहित्य में आलोचना विभाग का श्रीगणेश साहित्य समृद्ध होने के पश्चात् ही होता है। जब तक साहित्य का विकास भली भाँति नहीं हो पाता आलोचना साहित्य का प्रादुर्भाव ही सम्भव नहीं। गुजराती भाषा के साहित्य में भी ऐसा हुआ है।

गुजराती का एक पुराना मुहावरा है "गोविन्द बिन गान नहीं" इसको चरितार्थ आदि कवि नरसिंह मेहता ने और कवयित्री मीरा ने अपने भक्ति के पदों से किया। साहित्य निर्माण अधिकतर पद्यात्मक ही रहा। गद्य लेखन का समय पद्य साहित्य की प्रगति की अपेक्षा बहुत पीछे रहा। उपन्यास साहित्य का समय आधुनिक युग से अधिक दूर भूतकाल में नहीं मिलता। पद्य साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हुआ और भक्ति प्रधान कविता के अतिरिक्त ऐतिहासिक सामाजिक और अन्यान्य भाषाओं में से अनुवाद साहित्य भी वृद्धिगत हुआ। अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव विविध रूप से गुजराती पर पड़ा और गद्य पद्य का क्षेत्र विशाल हुआ। प्राचीन प्रथा का स्थान अर्वाचीन वैविध्यमय कृतियों ने ले लिया। काव्य रचना में एवम् गद्य क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। नवल कथा, नवलिका, नाटक, एकाङ्की नाटक, छोटी कहानियाँ, निबन्ध आदि प्रचुर मात्रा में प्रसिद्ध होने लगे और विवेचन आलोचना साहित्य गौण स्थिति से आधुनिक साहित्य का एक आवश्यक और विदग्धोग्य और विद्वद्मान्य अङ्ग के रूप में स्वीकार हुआ। सामयिकों में साप्ताहिकों में तथा अन्यान्य छोटे बड़े प्रकाशनों में आलोचनात्मक लेख आने लगे और साहित्यकारों की आलोचना प्रवृत्ति को पोषण मिला। "समालोचक" नामक त्रैमासिक पत्र अपने नाम को आलोचना साहित्य से सार्थक करने लगे। "वसन्त" "कौमुदी" आदि मासिकों में भी बहुमान्य विद्वानों के आलोचनात्मक लेख आने लगे और वर्तमान समय में गुजराती साहित्य की सर्व देशीय प्रगति के साथ-साथ आलोचना साहित्य को भी अपना विशेष स्थान प्राप्त हुआ।

आलोचना क्षेत्र में साहित्य सेवा ही लक्ष्य होना चाहिए और अधिकांश में गुजराती आलोचना साहित्य दलबन्दी, पक्षपात, जाति और व्यक्तिगत वैमनस्य से परे है।

विवेचन (आलोचना)—गुजराती विवेचन-स्वरूप मुख्यतया अँग्रेजी काव्य-शास्त्र की प्रेरणा से विकसित हुआ है। परिभाषाएँ संस्कृत से ली गई हैं। अन्य अनेक प्रकार के साहित्यिक धाराओं की तरह इसका भी प्रारम्भ नर्मद के समय से हुआ। नर्मद ने गद्य, पद्य और नाटक इन तीन विषयों में अपने विवेचनात्मक विचार व्यक्त किये। इनमें से कुछ उनकी मौलिक, कुछ संस्कृत के आधार पर और कुछ अंग्रेजी साहित्य के आधार पर रचनाएँ हैं। नर्मद से पहले कविता विषयक निरूपण दलपतराम ने किया था।

नवलराम—नर्मद और दलपतराम दोनों के विचारों का समन्वय कर के शास्त्रीय पद्धति से विवेचना प्रस्तुत करने वाले पहले व्यक्ति नवलराम ही थे। एक विवेचक के लिए अपेक्षित गुण इनमें थे।

नरसिंह राव—विवेचन के क्षेत्र में नरसिंह राव का विशिष्ट स्थान है। अपनी दीर्घायु में इन्होंने अगाध पांडित्य प्राप्त कर लिया। सहृदयता और तटस्थता से साहित्य का जो विवेचन इन्होंने प्रस्तुत किया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने दोषों का निर्भय होकर विचार किया और गुणों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। मनोमुकुर के चार भाग, गुजराती

भाषा और साहित्य, प्रेमानन्दना नाटकों वाली चर्चा और विविध पत्रों तथा ग्रन्थों की भूमिकाओं में इनकी विवेचन प्रतिभा क दर्शन होते हैं।

मणिलाल नभुभाई द्विवेदी—अँग्रेजी का ज्ञान होते हुए इनका झुकाव अधिकतर संस्कृत की ओर ही था। अनेक स्थल पर काव्य शास्त्र में इन्होंने वेदान्त और योग के सिद्धान्तों का आधार लिया है।

रमणभाई—इन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी के आधार पर विवेचना लिखी। कविता और साहित्य के चार भागों में इनके लेख संग्रहीत हैं। उनमें प्रमाण, व्यवस्था और वैविध्य तीनों ही गुण प्राप्त हैं।

गोवर्धनराम—यह विवेचक की अपेक्षा चिंतन शील सर्जक ही अधिक थे। विवेचन में शास्त्रीय विचारणा के अंश पर इन्होंने दृष्टिपात किया।

आनन्द शंकर ध्रुव—आचार्य ध्रुव भी केवल विवेचक ही नहीं थे वरन् चिंतक, विचारक और दार्शनिक भी थे। विवेचना के सिद्धान्तों में तत्वज्ञान के सिद्धान्तों को घटित कर के उनका समन्वय करने की प्रवृत्ति मणीलाल और गोवर्धनराम की तरह इनमें भी थी। 'बसंत' नामक साहित्यिक मासिक पत्र में इनके विचार सम्पादक होने के नाते बराबर व्यक्त होते रहे। काव्य तत्व विचार, साहित्य विचार दिग्दर्शन, विचारमाधुरी आदि का निर्माण किया।

बलवन्तराय क० ठाकुर—इन्होंने अर्थघन, अगेय और क्रमबद्ध पद्य रचना सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों का विवेचन किया, अपनी काव्य प्रवृति की व्याख्या की। लिरिक, कविता शिक्षण, अर्वाचीन गुजराती कविता, विविध व्याख्यानों, पत्रोतेर, भणकार और 'भारा सॉनेट' के प्रवेशकों तथा प्रकीर्ण लेखों में इनके विचार व्यक्त हैं।

तीन कवि विवेचक—कान्त, नानालाल और ख़बरदार ये तीनों मुख्यतया तो कवि हैं, परन्तु इन्होंने सौंदर्य परीक्षा की दृष्टि से कुछ विवेचन सामग्री भी प्रस्तुत की है। नानालाल इन तीनों में इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

कन्हैयालाल मा० मुन्शी—ये मुख्यतया सर्जक हैं और सर्जक की लाक्षणिक भावना तथा कल्पना से इन्होंने विवेचन किया है। इनके विविध व्याख्यान, स्फुट लेख, थोडाक रसदर्शनो तथा Gujrat & Its Literature इनकी विवेचनात्मक कृतियाँ हैं।

रामनारायण पाठक—सर्जक होते हुये भी ये अधिकांश विवेचक हैं। गूढ़ार्थ की खोज तथा काव्य परीक्षण में ये विशेष रूप से पटु हैं। काव्य की शक्ति साहित्य विमर्श तथा आलोचना इनकी मुख्य प्रवृत्तियों के द्योतक लेख संग्रह हैं।

काका कालेलकर—काकाजी साहित्य-व्यवसायी तो नहीं है, परन्तु राजनीति के वातावरण से अवकाश निकाल कर जो गद्य इन्होंने प्रस्तुत किया, वह महत्वपूर्ण है। 'साहित्य' और 'काव्य' इनकी विवेचन परक रचनाएँ हैं। इनके जीवन भारती और जीवन संस्कृति जैसे लेख-संग्रहों में प्राचीन काल से ले कर आज तक के विविध विषयों की चिन्तनपूर्ण विवेचना है।

सुन्दरम्—गत शताब्दी के गुजराती साहित्य में कविता की विविध प्रवृत्तियों के अध्ययन स्वरूप 'अर्वाचीन गुजराती कविता' नामक इनकी कृति कवि की कृति होने के नाते नहीं वरन् विशुद्ध विवेचनात्मक रचना होने के कारण आदरणीय है।

अन्य प्रमुख विवेचक सर्वश्री विश्वनाथ भट्ट, विजयराम वैद्य, विष्णु प्रसाद त्रिवेदी, रसिकलाल पारीख, अनन्तराय रावल, मनसुखलाल झवेरी, सुशीलाल शाह, स्वर्गीय नवलराम त्रिवेदी, उमाशङ्कर जोशी, स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी, जयतीन्द्र दवे, ढोलाराय मांकड, रमणलाल देसाई, यशवन्त शुक्ल, नगीनदास पारेख, मृगाग अजारिया, हीराबेन मेहता, शङ्कर प्रसाद रावल आदि हैं।

उर्दू में आलोचना साहित्य

श्री राज बहादुर सक्सेना 'ओज' एम० ए० (उर्दू, फारसी) साहित्यरत्न

उर्दू साहित्य में आलोचना का माप दण्ड दिन-प्रति दिन उच्च होता जा रहा है। सर्व प्रथम कविता पर आलोचना प्रारम्भ हुई। आरम्भ में आलोचक का पद न्यायधीश का था जो अपनी लेखनी के बल पर किसी को सूर्य की चमक प्रदान कर देता और किसी की प्रतिभा पर धूल डाल देता था। डा० जान्सन की मृत्यु को डेढ़ सौ वर्ष से अधिक हो गये। अंग्रेजी आलोचना कहाँ से कहाँ पहुँच गई, परन्तु उर्दू के अधिकाँश आलोचक अभी तक पुरानी लकीर के फकीर बने हुए हैं। पहिले आलोचक व्यक्तिगत आलोचना किया करते थे, परन्तु 'सर सैयद', उनके मित्रों और 'चकबस्त' आदि ने आलोचना के क्षेत्र में भी नवीन मार्ग प्रदर्शित किया। कवि की परिस्थितियों व समकालीन कवियों की तुलना पर विचार कर के उसके काव्य को परखा। यहाँ उर्दू साहित्य का पाठकों को संक्षिप्त परिचय कराना आवश्यक है।

हिन्दी भाषा की भाँति उर्दू साहित्य में भी सर्व प्रथम कविता ने ही मार्ग उन्मुक्त किया। उर्दू-भाषा की उत्पत्ति मुगल सम्राट 'शाहजहाँ' के समय से हुई। 'खुसरो' की भाषा और फारसी मिश्रित कविता उससे पहिले भी मिलती थी। १८ वीं शताब्दी में उर्दू कविता उन्नति पर थी। प्रथम कवि 'वली' माना जाता है। उसके उपरान्त प्रसिद्ध कवियों में 'मीर', 'सौदा', 'दर्द', 'मसहफी' आदि हुए और 'बहादुरशाह' के काल में गालिब', 'जौक' और 'मोमिन' ने तो उर्दू कविता में चार चाँद लगा दिये। गजलों और कसीदों में वह उत्कृष्ट भावनाएँ उत्पन्न की गईं कि लोग आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबाने लगे। इधर लखनऊ में 'नासिख', 'आतिश', 'नसीम', 'अनीस' और 'दबीर' ने धूम मचा रक्खी थी। अन्तिम दो कवियों के मरसिये तो आज तक मुहर्रम के दिनों में गाये जाते हैं। १८५७ के विद्रोह के पश्चात् दिल्ली के 'दाग' और लखनऊ के 'अमीर मीनाई' की तूती सारे भारतवर्ष में बोलने लगी। उनकी गजलें सुन कर अब भी लोगों के हृदय में उमंगें उठने लगती हैं।

'हाली' और अकबर इलाहाबादी' को अभी लोग भूले नहीं हैं। डा० इकबाल' और प० बृज-नारायण चकबस्त का नाम कौन नहीं जानता और आजकल 'जिगर' और 'जोश' की कविता का लोहा सभी मानते हैं। उर्दू गद्य का आरम्भ हिन्दी गद्य के साथ ही साथ १८०३ में फोर्ट विलियम कालिज से हुआ। वहाँ के अध्यक्ष महोदय डा० जान गिल-क्राइस्ट ने 'मीर अम्मन' से 'बागोबहार' (किस्सा चहार दुर्वेश) लिखवाई। उन्होंने और भी पुस्तकें फारसी से उर्दू में अनुवाद कराईं जिनमें 'आरायशे मह-फिल' (किस्सा हातिमताई) 'बागे उर्दू' उल्लेखनीय हैं। जो लोग उस कालिज में नौकर न थे वे अपनी योग्यता दिखाने के हेतु उन से अच्छी पुस्तकें लिखने लगे। 'सरूर' की 'फसाने अजायब' पढ़ने योग्य है।

उर्दू गद्य का प्रारम्भिक रूप 'इन्शा अल्लाखाँ' की 'रानी केतकी की कहानी' म मिलता है। हिन्दी गद्य में भी इस पुस्तक का वही स्थान है। उर्दू गद्य की चतुर्दिक उन्नति करने वाले प्रसिद्ध लेखक 'शिबली', 'आजाद', 'हाली', 'सर सैयद' और 'डा० नजीर अहमद' थे। इनके अतिरिक्त 'चकबस्त', 'शरर', 'प० रतननाथ सरशार', 'मुन्शी प्रेमचन्द' और 'ख्वाजा हसन निजामी' के नाम उल्लेखनीय हैं।

उर्दू में आलोचना का आरम्भ १८५७ के विद्रोह के पश्चात ही हुआ। यों तो पहिले भी एक कवि दूसरे कवि की त्रुटियों का उल्लेख अपनी

कविता में करता था और वह कवि उनका उत्तर अपनी कविता में देता था। सब प्रथम 'हाली' ने 'मुकद्दमये शेरो शायरी' लिखकर लोगों का चित्त कविता के गुण व अवगुणों की ओर आकर्षित किया और बताया कि प्राकृतिक कविता क्या है। सब से पहिले उन्होंने 'प० दयाशङ्कर नसीम' की मसनवी 'गुलबकावली (गुलजारे नसीम) पर आक्षेप किये और 'हसन' की मसनवी के गुण प्रदर्शित किये। चकबस्त ने उन आक्षेपों का उत्तर दिया और 'शरर' के उपन्यासों में प्रदर्शित किया कि उन्होंने कहाँ कहाँ ठोकरें खाई हैं। मौलाना आजाद ने 'आबे ह्याट' लिखकर उर्दू कविता का इतिहास प्रस्तुत किया और उसमें अनेक कवियों की कविता पर अपनी सम्मति दी और साथ ही साथ कवियों का तुलनात्मक परिचय भी दिया। 'गुलेरैना', 'जदीद शायरी', 'हमारी शायरी' श्री रामबाबू सक्सेना का अंग्रेजी में उर्दू साहित्य का इतिहास आदि पुस्तकें इसी ढङ्ग की लिखी गई।

'शिबली' ने 'मुवाजनये अनीसो दबीर' नामी पुस्तक में दबीर को अनीस की तुलना में महान कवि ठहराया। यह बात लखनऊ वालों को खटकी। उत्तर में 'अल्मीज़ान' (अर्थात् तराजू) नामी पुस्तक लिखी गई जिसमें 'अनीस' को दबीर के समकक्ष महान कवि सिद्ध किया गया। यह ऐसी ही बात थी जैसी हिन्दी साहित्य में 'देव और बिहारी' के समर्थकों ने की थी। इसके पश्चात् समाचार पत्रों का यथेष्ट प्रचार हो गया और हर उर्दू सम्पादक किसी भी कवि अथवा पुस्तक पर समालोचना करना अपना कर्तव्य समझने लगा।

आलोचना से सत्साहित्य को प्रेरणा मिलती है और विकृत साहित्य का ह्रास होता है। अच्छी आलोचना के लिये योग्य आलोचक का होना आवश्यक है। सन १९३६ में डा० 'इकबाल' की मृत्यु पर हैदराबाद के पत्र 'उर्दू' और दिल्ली के पत्र 'जौहर' ने जो 'इकबाल अङ्क' प्रकाशित किये उनमें योग्य आलोचकों के ही लेख हैं। इसी प्रकार मुंशी प्रेमचन्द की मृत्यु पर कानपुर के पत्र 'ज़माना' ने 'प्रेमचन्द अङ्क' प्रकाशित किया।

'न्याज़ फतहपुरी', 'मौलाना अब्दुल हक' और 'प्रोफेसर रशीद' की गणना उर्दू साहित्य के विद्वान और योग्य आलोचकों में होती है। 'उर्दू नस्र के अनासिरे अरबा' नामी पुस्तक में गद्य के प्रसिद्ध लेखकों 'हाली', 'आज़ाद', 'शिबली' और डा० नज़ीर अहमद पर यथेष्ट आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। अनेकों योग्य लेखकों ने उपयुक्त गद्य लेखकों को अपनी योग्यता की दृष्टि से परीक्षण कर अपनी रुचि के लेखक को दूसरों से तुलना करके महान प्रसिद्ध करने का प्रयत्न किया है। "हमारे अफ़साने' नामी पुस्तक में 'निकारअर्ज़ीन' ने उर्दू कहानीकारों और उपन्यासकारों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। 'अदबी दुनिया' 'अलनाज़िर' 'अलनाकिद' सुआरिफ' और 'अलीगढ़ मेगज़ीन' की आलोचना सम्बन्धी सेवाएँ उर्दू साहित्य प्रेमियों के हृदय पटल पर सदैव अङ्कित रहेंगी।

उर्दू साहित्य में आलोचना सम्बन्धी पुस्तकों की न्यूनता नहीं है। हर प्रसिद्ध कवि अथवा लेखक पर एक न एक आलोचनात्मक पुस्तक मिल ही जायगी। 'ग़ालिब' और डा० इकबाल' पर तो आलोचना सम्बन्धी पुस्तकें अनेकों हैं।

दूसरी भाषाओं की भाँति उर्दू भाषा के आलोचकों से उर्दू साहित्य को भी यथेष्ट लाभ पहुँचा। वही कवि या कविता अथवा पुस्तक प्रसिद्ध हुई जिसको आलोचकों ने श्रेष्ठ ठहराया। उस्ताद 'ज़ौक' को आज़ाद जैसा शिष्य और आलोचक मिला जिसने उन्हें चिरस्थायी प्रसिद्धि प्रदान की। 'हाली' ने 'हयाते जावेद' लिख कर 'सर सैयद' को अमर बना दिया और 'प्रोफेसर रशीद' ने अपनी आलोचना के बल पर कवि 'बदायूनी' को लाफ़ानी (अमर) कर दिया। उर्दू साहित्य को ऐसे ही आलोचकों की आवश्यकता है।

परीक्षार्थी प्रबोध भाग ३ की विषय-सूची

हिन्दी का नया प्रकाशन : अक्टूबर, नवम्बर १९५१

आलोचना

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—
परशुराम चतुर्वेदी १२)
वेदी के फूल एक दृष्टि—रामस्वरूप सिलथरिया १=)
आधुनिक कविता की भाषा—
ब्रजकिशोर चतुर्वेदी ६)
पन्त की काव्य चेतना में गुञ्जन—
प्रो० वासुदेव एम० ए० ३)
सुमित्रानन्दन पन्त—विश्वम्भर मानव ५)
मीमांसिका—शिवनाथ एम. ए. २॥)
आधुनिक गीति काव्य—
सच्चिदानन्दन 'नन्द' तिवारी एम. ए. २॥)
हिन्दी नाटकों का विकास—
शिवनाथ एम. ए. २॥)
कल्प लता—हजारीप्रसाद द्विवेदी २॥)
वक्रोक्ति और अभिव्यंजना—
रामनरेश वर्मा एम. ए. ४)
कुरुक्षेत्र की अन्तरात्मा—
उत्तमचन्द्र जैन 'गोयल' ॥)
हमारे प्रमुख साहित्यकार—
रामनरायण मिश्र एम. ए. २॥)
रोमांटिक साहित्य शास्त्र—
देवराज उपाध्याय ३॥।)
प्रेमचन्द्र—हंसराज रहबर ५)
महादेवी वर्मा—शचीरानी गुर्टू ६)

कविता

रूप दर्शन—श्री हरिकृष्ण प्रेमी ६)
प्रतिध्वनि—रघुवीरशरण मित्र ३)
मुक्ति मार्ग—भारतभूषण अग्रवाल १॥)

कहानियाँ

श्री रामचन्द्र—सत्यनारायण १॥)
रेल का टिकट—भदन्त आनन्द कौशल्यायन २॥)
परन्तु—प्रभाकर माचवे १॥)

उपन्यास

शिशु भारती—कन्हैयालाल मुन्शी २)
घाट का पत्थर—गुलशननन्दा ३)
डाक्टर देव—अमृता प्रीतम २)

नाटक

कवि—सिद्धिनाथ कुमार १)

हास्य

मैंने कहा—श्री गोपालप्रसाद व्यास ३)

इतिहास

प्राचीन भारतीय वेशभूषा—
डा० मोतीचन्द्र एम. ए. १२)
मैंने देखा—भगवद्शरण उपाध्याय ५)
भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ—भाग २
भगवद्शरण उपाध्याय ५)
स०। मानव का इतिहास— ,, ,, २॥)

जीवनी

श्रेयार्थी जमनालालजी—हरिभाऊ उपाध्याय ६॥)
अज्ञात जीवन—अजितप्रसादजी ३)

शिक्षा तथा मनोविज्ञान

शिक्षा सिद्धान्त—प्रिन्सिपल आर. ए. मेहरोत्रा १)
मनोविज्ञान और जीवन—लालजीराम शुक्ल ५)

यात्रा

लङ्का यात्रा—भिक्षु धर्म रक्षित १॥)

बालोपयोगी

महाभारत की कहानियाँ—राजबहादुरसिंह १)
झाँसी की रानी— ॥।)
नीति प्रमोद—आनन्द कुमार १॥)

विविध

शरीर विज्ञान और स्वास्थ्यकला—
आर. एम. मेहरोत्रा ॥)
धरती माता—सूरज १)
नवीन भारत के स्कूल—जगदीशचन्द्र शास्त्री १)
ब्रह्मचारी शीतल—अजीतप्रसाद जैन २)

Shahitya sbandesh, Agra,
OCTOBER NOVEMBER 1951

REGD NO A. 263
Licence No 16
Licensed to Post without Prepayment

[१२] आगरा—जनवरी १९५१ [

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
...न्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
...हित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। इसका वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की २० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अं० मँगाने पर चालू वर्ष का प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें; अस्थाई पता बदलने का नियम नहीं है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : जनवरी १९५१

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

काव्य में रहस्यवाद—पं० किशोरीदास वाजपेयी ।≤)
साहित्य में प्रगतिवाद—श्री सोहनलाल लोढ़ा एम० ए० १।)
काव्य की आत्मा—प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव "चन्द्र" ।)
स्वतन्त्र चिंतन-श्री भदन्तआनन्द कौसल्यायन १।।)
कबीर साहित्य की भूमिका—श्री रामरतन भटनागर २)
हिन्दी साहित्य की परम्परा—प्रो० हंसराज अग्रवाल ५)

कविता

रस गागर—श्री भगवद्दत्त 'शिशु' २)
भूमिका—श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह ५)

नाटक

गिरफ्तार—पं० राजाराम शास्त्री १।)
नान सड़ी का हार—„ „ १।।)

उपन्यास

ड्यूटी—श्री मुल्कराज आनन्द ६)
अन्नपूर्णा—अनु० श्री ओंकार शरद ३)
मृगनयनी—श्री वृन्दावनलाल वर्मा ५)

कहानी

माँ की रक्षा—आनन्द मोहन अवस्थी १)
मसालची—गणेशप्रसाद कुँवर ।।≤)
वीनिस व्यापारी तथा शेक्स पीयर के नाटकों की अन्य कहानियाँ १।)
रेड लाइट—श्री कन्हैयालाल साहू ३)

राजनैतिक

हमारी स्वाधीनता संग्राम-श्री विष्णुप्रभाकर १।।)

जीवनी

भारत रत्न—मुरारीलाल शर्मा १।।)

धार्मिक

नीति धर्म—महात्मा गाँधी ।≤)
आश्रम वासियों से—महात्मा गाँधी ।।)
बुद्ध और बौद्ध साधक—भरतसिंह उपाध्याय १।।)
थेरी गाथाएँ— „ „ १।।)
नित्य मंगल पाठ—त्यागी धर्म सागर जी
श्री दश लक्षण भजनवली—„ „

कोश

ब्रजभाषा सूर कोष-डा. दीनदयाल गुप्त एम.ए. ३)

बालोपयोगी

हमारे सरदार—श्री सोभाभाई ।।)

विविध

कृषि विज्ञान में सौर नक्षत्र—श्री उदयप्रसाद 'उदय' ।≤)
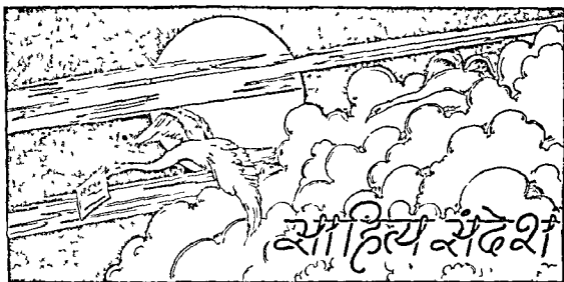
वर्ष १२] आगरा—जनवरी १९५१ [अङ्क ७

हमारी विचार-धारा

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन—

इस वर्ष २६ दिसम्बर से कोटा में हो रहा है। कोटा की भारतेन्दु परिषद के कारण कोटा का आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य से परिचय रहा है। कोटा राजस्थान का एक अङ्ग है। हम इस सम्मेलन की सफलता चाहते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि सम्मेलन की यह सफलता हम क्यों चाहते हैं। और यथार्थ तो यह है, कि सम्मेलन की सफलता है किसमें ? भारत आज स्वतन्त्र है, और विधान द्वारा यह मान लिया गया है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी, किन्तु इससे सम्मेलन का उत्तरदायित्व पूर्ण नहीं होता। हिन्दी के राष्ट्र भाषा मान लिये जाने से कोई अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। आज इस बात की महती आवश्यकता है कि 'हिन्दी' से सहानुभूति न रखने वाले व्यक्तियों के द्वारा निर्देश की गयी कमियों को पूर्ण करने का अथक उद्योग किया जाय—सम्मेलन को ही इस दिशा में बड़ा कदम उठाना चाहिए—सम्मेलन अब तक यों ही चलता रहा है, इसी कारण उसके कार्य में शिथिलता रही है और परीक्षाओं के अतिरिक्त उसके पास गिनाने के लिए भी कोई विशेष कार्य सूची में नहीं रहा है—इस वर्ष सम्मेलन को एक पचवर्षीय योजना प्रस्तुत करनी चाहिए। योजना बन जाने से मन्त्रि-मण्डल को कार्य करना ही पड़ेगा। सम्मेलन की विविध परिषदों के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बातें हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। ये परिषदें केवल निबन्ध-पाठ का सुयोग प्रदान करती हैं। सम्मेलन के विधान द्वारा इनको भी कोई अधिकार मिलने चाहिए। इन परिषदों में सम्मेलन का तद्विषयक वर्ष भर का विवरण प्रस्तुत किया जाय, और उस पर विचार हो। परन्तु हमें खेद है कि हमारी ये पंक्तियाँ पाठकों के सामने तब आवेंगी जब यह सम्मेलन समाप्त हो चुकेगा।

एक साहित्यिक का निष्कासन—

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को टीकमगढ़ छोड़ना पड़ा है—हम इसी को एक साहित्यिक का निष्कासन मानते हैं। यह सच है कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अपने शिष्य किन्तु ओरछा के सहृदय महाराज वीरसिंह देवन् के निमन्त्रण पर टीकमगढ़ गये थे, और आज जब वे महाराज भी महाराज नहीं रहे, किसान बनने का विचार कर रहे हैं, तो चतुर्वेदीजी ही क्यों वहाँ पूर्ववत् रहें—किन्तु यह बात नहीं भूली जानी चाहिए कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदी एक साहित्यिक हैं, एक ऐसे साहित्यिक हैं जिन पर हिन्दी को और देश को गर्व हो सकता है। वे टीकमगढ़ गये, तथा केशव और ईसुरी के ओरछा अथवा बुन्देलखण्ड को साहित्यिक जन-जागरण से उद्वेलित किया। यहीं टीकमगढ़ में बैठकर इस साहित्यिक ने 'मधुकर' का सफल सम्पादन किया, यहीं से बैठकर, 'जनपदीय आन्दोलन' का सञ्चालन किया, प्रान्तनिर्माण की योजना को बल देने का उद्योग किया, बुन्देलखण्डियों में बुन्देल गौरव जगाने का बीड़ा उठाया; यहीं से इसने तीन विशाल अभिनन्दन ग्रन्थों का सम्पादन किया—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, और बालमुकुन्द गुप्त स्मारक-ग्रन्थ, जिसमें कितने ही सहस्र पृष्ठों में पठनीय और मननीय मूल्यवान सामग्री का संग्रह प्रस्तुत किया गया है, और जिनमें से पूर्व दो ग्रन्थों में तो 'बुन्देलखण्ड' के वैभव का पूर्ण' प्रदर्शन किया गया है। टीकमगढ़ के उस स्मरणीय कुण्डेश्वर में बैठ कर ही इन्होंने ऐंड्रूज की जीवनी के सम्पादन में सहयोग दिया है। इसी कुण्डेश्वर से पत्रकारों को सङ्गठित किया है और प्रोत्साहित किया है। यहीं से दुःखी लेखकों को सहायता प्रदान करने का भी आयोजन हुआ। यहीं से कितने ही सुन्दर रेखाचित्र हिन्दी को प्राप्त हुए। इस मनस्वी साहित्यकार के द्वारा बुन्देलखण्ड में साहित्यिक जागरण हो उठा था। ऐसे इस साहित्यकार को आज इतने वर्षों बाद ओरछा छोड़ने को विवश होना पड़ा है। क्या ऐसे मेधावी व्यक्ति का इस प्रदेश की सरकार के पास कोई भी इसके सम्मान के योग्य उपयोग नहीं था। ऐसे व्यक्तियों का किसी भी राज्य में होना स्वयं ही एक गौरव की बात होती है। हमने सुना है कि इन्हें वैसिक शिक्षण केन्द्र का सञ्चालक बनाने का प्रस्ताव था—प्रत्यक्षतः समझदार को यह निष्कासन का संदेश था। चतुर्वेदीजी के पास जो विशाल संग्रह है, उसका उपयोग तभी ठीक हो सकता है, जब उन्हें कुण्डेश्वर जैसा ही शान्त एकान्त स्थान मिले, और एक दो योग्य सहायक मिलें।

आँतर भारती—

रवीन्द्रनाथ टैगोर की कल्पना की भाँति ही विश्व-ख्याति से युक्त 'विश्व भारती' से कौन अपरिचित है? किन्तु जितने ही हम 'विश्व भारती' से परिचित हैं, उतने ही 'आँतर भारती' से अपरिचित। कारण स्पष्ट है कि 'आँतर भारती' अभी एक योजना मात्र है। यह योजना महाराष्ट्र के यशस्वी लेखक 'साने गुरुजी' के द्वारा प्रस्तुत की गयी थी। आज 'साने गुरुजी' हमसे सदा के लिए पृथक् हो चुके हैं, किन्तु उनकी इस महत्वपूर्ण योजना को यदि हम स्मारक स्वरूप खड़ा कर सकें तो हम उनका यथार्थ सम्मान कर सकेंगे। 'आंतर भारती' योजना में एक ऐसे विश्वविद्यालय की कल्पना है जिसमें भारत के प्रत्येक प्रान्त के विद्यार्थी एकत्र होकर अध्ययन करें, जिससे वे क्षुद्र प्रान्तीयता को त्याग सकें और राष्ट्रीय दृष्टि से एक समग्र भारतीय राष्ट्र का रूप खड़ा कर सकें। यह योजना वस्तुतः श्लाघ्य है और कार्यान्वित करने के योग्य है।

राहुल सांकृत्यायन के सम्बन्ध में—

राहुलजी ने मसूरी में एक बङ्गला खरीदा है—यह समाचार सुना गया है। इस समाचार से प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। आज हिन्दी का

एक लेखक इतना समर्थ हो सका है कि वह एक बङ्गला खरीद सके। विशेष प्रसन्नता इस आशा से है कि राहुल जी और अधिक साहित्य सेवा में प्रवृत्त रह सकेंगे। मसूरी जाने वाले साहित्यिकों को अब भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

राहुल सांकृत्यायनजी की साठवीं जन्मतिथि ६ अप्रैल १६५२ को है—इस अवसर पर पन्त अज्ञेय आदि राहुलजी के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय कर चुके हैं। यह ग्रन्थ बहुत विशद होगा। इस उद्योग से निश्चय ही साहित्य की अभिवृद्धि होगी।

पत्रकार-सम्मेलन से निष्कर्ष—

दिल्ली में अखिल भारतीय 'समाचार पत्र सम्पादक सम्मेलन' का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद ने यह अनुरोध किया है कि भारत के पत्रकार संयम से काम लें। भावावेश में आकर कोई बात न लिखें, विचार-शक्ति से काम लें। स्वतन्त्रतापूर्वक उत्तरदायित्व समझते हुए अपने विचार प्रकट करें और सही समाचार दें। हमने 'साहित्य-सन्देश' के एक विगताङ्क में 'स्थानीय पत्रकार कला' पर एक टिप्पणी दी थी—जो बात डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने अखिल भारतीय सम्मेलन के विषय में कही है वह हिन्दी के स्थानीय पत्रकारों के लिए और भी अधिक लागू होती है। स्थानीय पत्र ही वस्तुतः किसी स्थान के लोगों की रुचि को बनाते-बिगाड़ते हैं। स्थानीय पत्रकार यदि 'सुरुचि, संयम और सत्य' इन तीन 'स-ओं' का ध्यान रखें तो जनता की रुचि परिमार्जित हो जायगी। किन्तु इसके लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि प्रमुख नगरों में 'पत्रकार-विद्यालय' स्थापित किये जायें जिससे स्थानीय पत्रों में कार्य करने वाले महानुभावों को पत्रकार-कला के महत्वपूर्ण स्वरूप का ज्ञान हो सके। वस्तुतः अन्य प्रकार के विद्यालयों की अपेक्षा आज पत्रकार विद्यालय की महती आवश्यकता है, क्योंकि स्वतन्त्र देश में पत्र की प्रबल शक्ति होती है।

हिन्दी विश्व-विद्यालय—

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा एक हिन्दी विश्व विद्यालय स्थापित होने की चर्चा चल रही है जिसे राज्य की मान्यता मिलेगी और जिसके लिए विधान-सभा द्वारा विशेषाधिकार पत्र दिया जायगा। इस कार्य का सभी ओर से स्वागत होगा। यद्यपि यह कार्य बहुत देर से हो रहा है, तथापि श्रेष्ठ कार्यों के करने में कभी देर का प्रश्न नहीं उठता। सम्मेलन द्वारा उपस्थित की गयी इस कार्य की कोई रूप-रेखा अभी तैयार नहीं है तथापि हम सम्मेलन के अधिकारियों से विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि वे विश्वविद्यालय को केवल परीक्षक संस्था न बनावें। परीक्षक संस्थायें तो देश में बहुत हैं। उनके लिए तो पंजाब और बिहार की संस्थाएँ ही पर्याप्त हैं। यद्यपि सम्मेलन की परीक्षाओं को सरकारी मान्यता मिलने से हि[illegible] का मान बढ़ेगा, किन्तु हमको ऐसी संस्था चाहिये जो अन्य विश्वविद्यालयों में हिन्दी का माध्यम स्वीकृत होने से पहले यह प्रमाणित कर दे कि हिन्दी में उच्च शिक्षा दी जा सकती है और वह संस्था अन्य संस्थाओं के लिए पथ प्रदर्शक का काम कर सके। हम साहित्य सम्मेलन से यह आशा करते हैं कि वह इस विश्वविद्यालय द्वारा हिन्दी के नव निर्माण में योग देगा। उसके वर्तमान पाठ्यक्रम में साहित्य को छोड़ कर अन्य विषय की जो पुस्तकें हैं उनमें अधिकाँश पुस्तकें अँग्रेजी की हैं। सम्मेलन को चाहिए कि उनका स्थान लेने वाली पुस्तकें शीघ्रातिशीघ्र तैयार कराने जिससे कि पाठ्य-पुस्तकों का अभाव दूर हो। सम्मेलन को ऐसा केन्द्रीय शिक्षणालय खोलना चाहिये जो विश्वविद्यालय का सच्चे अर्थ में विद्यापीठ बन सके और जहाँ से ठोस शिक्षा का स्रोत प्रवाहित हो।

३८ वें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कोटा के सभापति

श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार का भाषण

३८ वाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कोटा में ता० २६ दिम्बर से आरम्भ हुआ। इसके मनोनीत सभापति देश के प्रसिद्ध इतिहास तत्वज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कारजी ने जो भाषण दिया उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। यह अभिभाषण कई बातों में अपनी विशेषता रखता है। प्रथम तो सम्बोधन का शिष्टाचार 'कामरेड' के अनुवाद 'साथियो' शब्द से हुआ है। आरम्भिक पृष्ठ में आगे के वक्तव्य का 'खाका' प्रस्तुत किया गया है—यह सम्भवतः इसलिए कि सभापति महोदय इसके आधार पर और कुछ उस आधार पर जो आगे के पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है, मौखिक भाषण देंगे या यह खाका विषय-सूची का काम दे सके। कुछ भी हो, है यह एक नूतनता, जिसकी ओर सभी का ध्यान अवश्य जाएगा। यह भाषण अब तक के भाषणों की परिपाटी में भी नहीं आता, क्योंकि साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व करते समय भी विद्यालङ्कार जी का इतिहासकार तटस्थ नहीं हो सका है, वही आदि से अन्त तक चमका है। साथ ही सभापति महोदय ने उन कारणों का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया है जिनसे आज हिन्दी इतनी दरिद्र है, और उसे पन्द्रह वर्ष की चुनौती भारतीय संविधान के द्वारा मिली है। इस विवेचन में इस बात पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति विशेष बल दे रहा है कि 'यदि गाँधीजी नहीं होते तो अच्छा होता'। सम्मेलन के सभापति के भाषण में एक पुरातन परिपाटी का पालन तो हुआ है, वह है प्रशस्ति-गान का, पर वह प्रशस्ति गान आज के विविध साहित्य-सेवियों का नहीं, (जिससे बहुत से नामोल्लेखाकांक्षी साहित्यकार शायद अप्रसन्न होंगे) वरन् उन महारथियों का है जो सभापति की राय में 'तिलक युग' में जन्म लेकर राष्ट्र-भाव के लिए सती हो गये थे—और है उस संस्था का जिसे गुरुकुल कांगड़ी कहते हैं, जिसे स्वामी श्रद्धानन्दजी ने स्थापित किया और जिसके महत्त्व को आज तक भी हिन्दी साहित्य या इतिहासकार नहीं समझ सके थे—हम अपने सभापति के इस सामयिक विचारोद्रेकी भाषण का स्वागत करते हैं। उन्हीं के अपने कुछ शब्द यों हैं— —सम्पादक

इस बीच भाड़ैत भारतीय सेना के उपकरण से अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य खड़ा कर लिया। बङ्गाल और महाराष्ट्र पर उनकी मार पड़ने पर वहाँ राम मोहन राय और गोपाल हरि देशमुख जैसे विचार-नेता उठे जिन्होंने उस तथ्य को फिर देखा और कहा, जिसे रघुनाथ हरि ने उनसे आधी पौनी शताब्दी पहले देख लिया था। राममोहन के सामने यह बात भी स्पष्ट थी कि नया ज्ञान भारतीयों तक उनकी अपनी देशी भाषाओं में ही पहुँच सकता है और पहुँचना चाहिए। गोपाल हरि ने तो अपने राजनीतिक और सामाजिक विचार महाराष्ट्र जनता को उसकी भाषा में ही दिये। इसके बाद विशेष कर महाराष्ट्र में, जहाँ के लोगों में अंग्रेजी राज से पहले भारत में सब से अधिक राजनीतिक चैतन्य था, अनेक विद्वानों ने युरोप के नये ज्ञान का तत्व जनता की भाषा में देना आरम्भ किया। वह प्रयत्न बड़ा होनहार था, किन्तु अंग्रेजों को भारत की प्रतिभा का उस दिशा में जाना अभीष्ट न था। उन्होंने अपनी युनिवर्सिटियाँ स्थापित कर, उन युनिवर्सिटियों में अंग्रेजी साहित्य और कानून की शिक्षा को प्रमुख स्थान देकर उनके विद्यार्थियों में अपने देश की परिस्थिति भाषा और संस्कृति से विरक्ति पैदा कर तथा सब ऊँचे नीचे पद मिलना उन युनिवर्सिटियों की डिग्रियों पर निर्भर कर भारत की जागती हुई प्रतिभा को फिर बाँझपन की एक नई दिशा में फेर दिया। भारत में अंग्रेजी

का बोलबाला हो जाने पर भारतीय भाषाओं में सहज ही पैदा हुई वैज्ञानिक वाङ्मय की वह पहली धारा छीज गई। इस ऐतिहासिक सचाई को आज अच्छी तरह हृदयगत कर लेना आवश्यक है। इसके बाद उस धारा को यदि बहती रक्खा तो उन लोगों ने जो अंग्रेजों के पैदा किये वातावरण से लोहा लेकर भी उसे जीता रखते रहे।

× × ×

दयानन्द सरस्वती १८५७ के युग में भारत के श्रेष्ठ मन के प्रतिनिधि थे। हाल की खोज से प्रकट हुआ है कि १८५७-५८ की स्वाधीनता-चेष्टा से भी उनका गहरा सम्पर्क था। जिस व्यक्ति का तरुण मन शिवलिंग पर चूहे की लीला देखकर ही जड़ तक हिल गया था, उसने भी १८५७-५८ की महान् घटनाओं के बीच विचरते हुए उनके विषय में यदि सोचा न होता तो हमें यह मानना ही पड़ता कि भारतीय मस्तिष्क में कोई त्रैकालिक विकार है। किन्तु दयानन्द और उनके शिष्यों के कार्य से प्रकट है कि उन्होंने अपनी परिस्थिति को भली-भाँति देखा-समझा और उसे समझकर जो कुछ करना चाहिए था वही किया।

× × ×

दयानन्द ने विज्ञान की शिक्षा के लिए जर्मनी से सम्पर्क करने का जब यत्न किया तभी बङ्गाल में महेन्द्रलाल सरकार ने भारतीय-विज्ञान संस्था की नींव डाली। दयानन्द के समकालीन बंकिमचन्द्र चटर्जी के लेखों में भी क्रान्ति की वैसी ही विचार-धारा है। × × × भारत की भाषाओं को सींचने की कैसी उमगें और उन भाषाओं के क्षेत्रों को बहाकर उजाड़ देने की अंग्रेजों की प्रवृत्ति के विरुद्ध कैसी उग्र भावनाएँ वह धारा लिये हुए थी सो बंकिम-चन्द्र के लेखों और विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के पहले निबन्ध से प्रकट है। समूचे भारत में एक-सूत्रता रखने को भारत की एक राष्ट्र भाषा और राष्ट्रलिपि थोड़े प्रयत्न से हो सकती है, यह भी इस धारा के चिन्तकों ने देख लिया था। दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी, और शिक्षा-दीक्षा सब संस्कृत में हुई थी। उन्होंने पहले संस्कृत द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तों को अपना सन्देश देना चाहा। किन्तु अपनी बंगाल की यात्रा में भूदेव मुकर्जी और केशवचन्द्र सेन जैसे विचार-नेताओं के सम्पर्क में आने पर उन्होंने शीघ्र समझ लिया कि इस युग में समूचे भारत की जनता को अपनी एकता का उद्बोधन कराने वाली एक वाणी हिन्दी ही हो सकती है। जिसे आज हम हिन्दी कहते हैं वह ऐतिहासिक कारणों से भारत की राष्ट्रभाषा १३ वीं-१४ वीं शताब्दी से थी ही। पर भारतीय पुनरुत्थान के प्रसङ्ग में इस तथ्य को पहले-पहल पहचाना बङ्गाली विचार-नेताओं ने।

× × ×

दो धारायें देश में साथ-साथ चलती रहीं और इस शताब्दी के शुरू में जनता ने इन्हें 'गरम' और 'नरम' नाम दिये। दोनों की आन्तरिक प्रवृत्तियों को देखते हुए इन्हें क्रमशः राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी और अधिकारप्रार्थी कहना चाहिए। नरम या अधिकारप्रार्थी पक्ष अंग्रेजी साम्राज्य को "विधाता की देन" मानता और उसके बाहर कभी जाने की कल्पना भी न करता था। गरम या राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी पक्ष का कहना था कि "हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिए। विदेशी की कृपा से मिले अधिकारों पर हम थूकेंगे, हम अपनी मुक्ति स्वयं पायेंगे।"

अपनी मुक्ति स्वयं पाने के जो उपाय राष्ट्रीय स्वाधीनतावादियों के सामने थे, उनमें अपनी शिक्षा को भारतीय भाषाओं के माध्यम से स्वयं संघटित करने का प्रमुख स्थान था। 'राष्ट्रीय शिक्षा' की इस लहर का आरम्भ महात्मा मुंशीराम उर्फ स्वामी श्रद्धानन्द ने सन् १९०० में कांगड़ी गुरुकुल की स्थापना कर के किया। उस संस्था में भारतीय भाषा में आधुनिक विज्ञान की शिक्षा देने का सबसे

पहला प्रयत्न किया गया। गुरुकुल के उदाहरण से १६०५ में बङ्गाल में 'जातीय शिक्षा परिषद्' की स्थापना हुई। अधिकार-प्रार्थी पक्ष के लोग इन राष्ट्रीय शिक्षणालयों की उपेक्षा या उपहास करते थे। उनमें इतना आत्मविश्वास कहाँ था कि अँग्रेजी सरकार की सहायता बिना स्वयं किसी बड़े संघटन-कार्य को उठाने की अथवा देशी भाषाओं को अंग्रेजी की जगह पर पहुँचाने की कल्पना कर सकते?

सन् १६१० में इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। एसी संस्था अधिकार प्रार्थी 'साहब लोगों' की विचारधारा से कोई मेल न खा सकती थी। इसमें या तो ऐसे लोग थे जिन्हें भारतीय संस्कृति, भाषा और लिपि पर अटूट श्रद्धा थी, और या यदि कोई राजनीतिक आकांक्षाओं वाले लोग थे तो प्रायः राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी विचारधारा के। इसके संस्थापक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन राजनीति में बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी माने जाते थे, महात्मा मुंशीराम इसके शुरू के सभा पतियों में से थे। हिन्दी के वाङ्मय को सब प्रकार के विज्ञान से भरपूर करना और देश के शासन और शिक्षा में उसे अँग्रेजी के स्थान पर बिठाना इसके आरम्भ से उद्देश्य थे।

× × ×

युरोपी विद्वानों ने न केवल अपने यहाँ के प्रत्युत भारत के सिवाय शेष जगत् के भी वनस्पति विषयक ज्ञान का शृङ्खलाबद्ध इतिहास लिखा है। किन्तु भारत की उस विषय में देन इतनी अधिक है कि जब तक भारतीय स्वयं उस देन का इतिहास न पेश करें, दूसरा कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार विश्व के वनस्पतिशास्त्रीय ज्ञान के इतिहास में आज केवल भारत का स्थान खाली पड़ा है।

× × ×

यह जो विवेचना मैंने आपके सामने की है इसके तत्त्व सन् १६१० से १६१६ तक काँगड़ी गुरुकुल में अच्छी तरह पहचान लिये गये थे, भले ही उन्हें किसी ने वैसे स्पष्ट शब्दों में न रक्खा हो जैसे शब्दों में मैंने आज यहाँ रक्खा है। इन तत्त्वों को पहचान लेने पर यह बात स्पष्ट हो गई थी कि भारतीय भाषाओं में जिस वैज्ञानिक वाङ्मय की आवश्यकता है वह गहरे अध्ययन और खोज से तथा सुसंगठित सहयोगी श्रम से ही तैयार हो सकता है। किन्तु १६१६ से लेकर आज तक ३४ वर्षों में यह काम हुआ क्यों नहीं, यह प्रश्न अब आपके सामने आता है। आज जब हम इस कार्य को १५ बरस में या और भी जल्दी कर लेना चाहते हैं तब यह प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व का है। चौंतीस वर्षों के इस तजरबे से यदि हम नहीं सीखते तो हम फिर ठोकरें खायेंगे और खा कर भी कुछ न पायेंगे।

× × ×

सत्य की नई खोज और मौलिक वाङ्मय का निर्माण वे लोग करते हैं जिन्हें उस खोज और निर्माण की प्रेरणा आतुर किये रखती है, जो जीवन भर उस प्रेरणा से आगे बढ़ते रहते हैं। डाक्टरेट उपाधि तो उस यात्रा के आरम्भ मात्र का प्रमाणपत्र मानी जानी चाहिये। हमारे देश में निठल्ले बुद्धिजीवियों का एक वर्ग है, जो परम्परा से सरकारी नौकरियों में जाता है और जो कम से कम श्रम से आरामतलबी का जीवन बिताना चाहता है। यह पौध मैकाले शिक्षा से ही पैदा हुई या पनपी है। जब केवल डिग्री को ऊँचे पदों का द्वार बना दिया गया, तब इसी वर्ग के चालाक लोगों ने कुछ दिन श्रम करके अच्छी डिग्री ले लेना, और जहाँ एक बार ऊँचा पद मिला कि ऐश में दिन काटना शुरू किया। भारत की अनेक यूनि-वर्सिटियों में बीस-बीस पचीस पचीस बरस जिन्होंने ऊँचे पदों के वेतन खाये हैं, यदि यह जाँच कीजिये कि उस अवधि में उन्होंने मौलिक कृति रूप में क्या देन दी, तो बहुतों के विषय में उत्तर पाइयेगा शून्य, और बहुतों की कृतियाँ ऐसी रद्दी मिलेंगी

जिनसे सिद्ध होगा कि वे अध्यापक पद के योग्य भी न थे। पर हमारे हिन्दी क्षेत्र में अन्ध परम्परा ऐसी है—बंगाल और महाराष्ट्र में शायद वैसी परिस्थिति नहीं है—कि डिग्रीधारी और हैसियतदार लोग जो कूड़ा कचरा भी हमारे साहित्य के कूचे में फेंक दें उनके नाम की छाप होने से हम उसे कीमती माल मानने लगते हैं। और साहित्यसेवी यह भी जानते हैं कि उन कृतियों में से अधिकांश इन नाम देने वालों की अपनी नहीं होती—उन्हें गरीब साहित्यसेवी तैयार करते हैं, जिन पर अपना नाम देकर ये हैसियतदार लोग उन मजदूरों के पारिश्रमिक का बहुत सा अंश खा जाते हैं। बंगाल में इस ढङ्ग का एक दूसरा पेशा चला हुआ है। अँग्रेजी से अनभिज्ञ पुराने ढर्रे के पण्डितों को जिन्दा रहने भर की मजदूरी देकर उनसे ज्ञान के टुकड़े निकाल लेना और उस ज्ञान को अपने नाम से अँग्रेजी में प्रकाशित करना। यह पेशा करने वाले वहाँ मगजचोष कहलाते हैं। हिन्दी भाषी प्रान्तों की युनिवर्सिटियों में पलने वाला निठल्ला परभोजी वर्ग जो यह पेशा करता है वह नाम के लिए नहीं, पैसे के लिये करता है। इस वर्ग का फेंका हुआ कचरा आज हिन्दी वाङ्मयधारा का प्रवाह रोके हुए है।

मैकाले यूनिवर्सिटियों का यह लठपन का वातावरण, जिसके द्वारा अँग्रेज साम्राज्यसाधक अनेक तरह से अपना खेल खेलते रहे, हमारे वाङ्मय-विकास के रास्ते में सब से बड़ी रुकावट रहा है। अंग्रेजी डिग्रियों को हमने सब से बड़ा मूल्य दिये रक्खा। पर पहली बात तो यह देखनी चाहिए कि इङ्गलैंड में डिग्री लेने के लिये भारत के धनी वर्ग के ही लोग जा सकते थे। दूसरे, विशेषकर भारतीय इतिहास, समाजशास्त्र की खोज में भारत के राष्ट्रीय दृष्टि से सोचने वाले आचार्य—वामनदास वसु, ओझा, जायसवाल, राखालदास बनर्जी, चिन्तामणि वैद्य, विनयकुमार सरकार आदि—जिन नये सत्यों को सामने लाते रहे या जिन नये विचारों को जगाते रहे, जिन विचारों की बुनियाद थी युरोपी नस्ल की दूसरी नस्लों से श्रेष्ठता न मानना और अँग्रेजी साम्राज्यसाधकों की काली करतूतों को प्रकाश में लाना, उन सत्यों और उन विचारों को दबाना या उनकी ओर से लोगों का ध्यान हटाना, ब्रितानवी यूनिवर्सिटियों के प्रोफेसरों ने बराबर अपना काम माना। युक्ति का उत्तर वे युक्ति से न दे पाते, इसलिए वितण्डा और लठपन का सहारा लेते। इस खेल में वे अधिकांश भारतीय जो भारत में ऊँचा पद पाने के लिए इङ्गलैंड से डिग्री लेने जाते, अपने अँग्रेज गुरुओं के अच्छे उपकरण बनते रहे। जिन कृतियों पर उन्हें डिग्रियाँ मिलती रहीं, उनमें से अनेक बहुत ही घटिया दर्जे की होतीं। बनारस यूनिवर्सिटी के प्रो० मुकुटबिहारीलाल जैसे किसी व्यक्ति ने यदि अपने अन्तःकरण को बेचने से इन्कार किया तो उसे खाली हाथ इङ्गलैंड से लौटना पड़ा।

× × ×

ब्रितानवी युनिवर्सिटियों के प्रोफेसर भारत की इस स्थिति से लाभ उठा कर भारत की स्वतन्त्र बौद्धिक प्रगति को किस प्रकार रोकते रहे उसका एक पते का उदाहरण है। अपनी जान हथेली पर लेकर की हुई तिब्बत की यात्राओं की गहरी खोज के बाद राहुल साङ्कृत्यायन १६३६ में भारतीय दर्शन के अनेक लुप्त कीमती ग्रन्थों की पांडुलिपियाँ वहाँ से ले आये। वे बिहार रिसर्च सोसाइटी में रक्खी गई और उस सोसाइटी के प्राण स्व० आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल ने उनमें से छः ग्रन्थों के प्रामाणिक सम्पादनपूर्वक प्रकाशन का उपाय किया। प्रत्येक ग्रन्थ के सम्पादन के लिए दो विद्वान नियत किये गये, जिनमें से दो के सिवाय सभी भारतीय थे। दो विदेशी थे, एक रूस के शेर्बात्स्की, जिनसे बढ़ कर भारतीय दर्शन का विद्वान् मेरे मित्र धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि के

कथनानुसार भारत में भी कई शताब्दियों से नहीं हुआ और दूसरे जापान के योगीहारा। ओकमर्ड के नये संस्कृत प्रोफेसर को इसका पता लगा तो उसने कहा यह कैसे होगा। उसने बिहार के अँग्रेज डायरेक्टर आव पब्लिक इन्स्ट्रक्शन को लिखा। डायरेक्टर ने सोसाइटी के मन्त्री के कान उमेठे। वह था १६ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल का जमाना। पर काँग्रेसी मन्त्रियों का इन बातों की समझ और कुछ करने का हिम्मत होती तो कहना ही क्या था। ओकमर्ड की बिल्ली जो रास्ता काट गई, सो आजतक वह काम न हुआ। राहुल सांकृत्यायन, विधुशेखर भट्टाचार्य, सुवकाल, वासुदेव गोखले जैसे विद्वानों के परिपक्व ज्ञान से भारत और संसार वंचित रहा।

× × ×

हमें अपना मुख्य ध्यान वाङ्मय विकास पर ही लगाना चाहिए था। वैसा क्यों न हुआ?

मेरा उत्तर यह है कि एक तो देश में इस युग में फैले साधारण वातावरण के प्रभाव के कारण, और दूसरे इस कारण कि गांधीजी के आन्दोलन में जो साहब लोग सम्मिलित हो गये, पहले तो उन्हें कांग्रेस में अँग्रेजी के बजाय अपनी भाषा बोलना मनाने में और उसके बाद उन्हीं की खातिर अपनी भाषा का स्वरूप स्पष्ट करने में—हिन्दी हिन्दुस्तानी का झगड़ा सुलझाने में—हिन्दी के नेताओं का सब ध्यान और सब शक्ति लगी रही। ज्ञान की दौड़ में पिछड़ जाने से हमारे राष्ट्र की दुर्गति हुई थी देश के पुनरुद्धार के लिए विश्व का सब नया ज्ञान हमारी जनता को उसकी अपनी भाषाओं में शीघ्र से शीघ्र मिलना चाहिए। इस अनुभूति की नींव पर हमारा राष्ट्रीय पुनरुत्थान खड़ा हुआ था। इस अनुभूति की प्रेरणा १९२० तक राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी आन्दोलन में स्पष्ट चली आ रही थी। इस प्रेरणा के रहते यदि हमारे सामने अपनी भाषा के सम्बन्ध में कोई समस्या आती कि हमें अमुक शैली में लिखना चाहिए कि अमुक में तो हम उस समस्या को जल्द से जल्द सुलझा डालते, क्योंकि उसे सुलझाने के बाद ही हमारा असल कार्य—जनता तक ज्ञान पहुँचने का—शुरू होता। इन अधिकारियों को ऐसी कोई प्रेरणा न थी, जनता तक ज्ञान की ज्योति पहुँचाने के लिए उन्हें कोई वेदना न थी। उनके लिए स्वराज्य का यह अर्थ था कि उन्हें स्वयं ऊँचे पद मिल जाँय, इसलिए उन्हें भाषा शैली की समस्या निपटाने की कोई जल्दी न थी। उलटा यदि वह समस्या सुलझ जाती तो हमारे सार्वजनिक जीवन में से अँग्रेजी को उखड़ना पड़ता और तब उनका नेतृत्व जो अँग्रेजी लफ्फाजी पर निर्भर था, बना न रह सकता। इसलिए उनका स्वार्थ इसमें था कि भारत की भाषा की उलझन शैतान की आँत की तरह लम्बी होती चले। हिन्दी के पक्षपाती उनकी इस चाल में आ गये। प्रतिद्वन्द्वी को हराने का एक दाँव यह है कि उसे अपने लक्ष्य की तरफ न जाने देकर रास्ते के किसी झगड़े में उलझाये रखा जाय। गान्धीजी के अनुयायी बने हुए साहबों ने हिन्दी वालों को उन्तीस बरस यों उलझाये रक्खा। उन्होंने सोच समझ कर यह दाँव भले ही न खेला हो, उनकी सहज स्वार्थानुभूति ने उनसे यह खेलवाया इसमें कोई सन्देह नहीं।

आखिर यह झगड़ा था क्या जो उन्तीस बरस लटकता रहा, और अन्त में सुलझा भी तो देश के दो टुकड़े होने के बाद और फिर भी कड़वाहट के साथ? मैंने पिछले तेइस बरस हिन्दी उर्दू के विवाद में ज़बान नहीं खोली, क्योंकि मैंने १९२३–२७ के कुछ विवादों से ही समझ लिया था कि इसमें उलझने का अर्थ होगा, अपने मार्ग से बहकना। आज मैं इस पर बोलने लगा हूँ, तो इस विचार से कि इस प्रश्न को देश के सामने ऐसा सुलझा कर रखने का यत्न करूँ कि फिर मेरा देश इसमें न उलझे।

प्रेमचन्द : साहित्य-दर्शन

श्री श्याम भटनागर

प्रेमचन्द ने भारतीय दृष्टिकोण को अपना कर ही साहित्य का विवेचन किया है। साहित्य का प्रधान उद्देश्य है आनन्द। मनुष्य आजीवन आनन्द की प्राप्ति के हेतु प्रयत्न करता है। उसके दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य होता है, आनन्द प्राप्ति। आनन्द का सम्बन्ध है आत्मा से। आत्मा सौन्दर्य-प्रिय है। वही सौन्दर्य आत्मा को आनन्द प्रदान कर सकता है जो "कृत्रिमता या आडम्बर से कोसों दूर रहता है।" अत "जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है वहीं आनन्द है।" असुन्दर में आनन्द नहीं। सुन्दरता में आकर्षण होता है, अत' वह शृङ्गार प्रधान है। किन्तु वह शृङ्गार जो कुत्सित भावनाओं को सजग करे वाञ्छनीय नहीं, क्योंकि वह पतन का मार्ग है। अतः हमें कुत्सित भावनाओं में भी सौन्दर्य की खोज करना अपेक्षित है। अतः साहित्य का प्रधान कर्तव्य यही है कि वह मानवीय भावनाओं का परिष्कार कर अलौकिक आनन्द प्रदान करे। यही प्रेमचन्द के आदर्शवाद का उद्गम है।

प्रेमचन्द के शब्दों में "साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप मे हो, चाहे कहानियों या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।" "साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्र'ट की गई हो; जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।" कल्पना प्रधान रचना, जिसके पात्र सामाजिक जीवन से परे हों, जिनमें मानवीय जीवन की अनुभूतियाँ तथा दैनिक जीवन की सचाइयाँ लुप्त हों, वह साहित्य की कोटि में नहीं आ सकती। साथ ही व्यक्तिगत वासनामूलक रचनाएँ भी उस श्रेणी से बाहर ही स्थान पाएँगी।

दैनिक जीवन का संघर्ष दो मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों पर विशेष अवलंबित है—काममूलक तथा अर्थ-मूलक। प्रेमचन्द विकृत काम मूलक वृत्ति का बहिष्कार करते हैं। अर्थमूलक ग्रन्थि तो उनके सारे साहित्य में समाई हुई है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रेमचन्द ने काम-ग्रन्थि का चित्रण ही नहीं किया। अगर ऐसा होता वो उनके उपन्यास, कहानियाँ अत्यन्त ही असफल होतीं। क्योंकि जीवन का अधिकांश भाग उसी पर आधारित है। परन्तु प्रेमचन्द ने स्वस्थ काम को ही प्रश्रय दिया है। उदाहरणार्थ 'अलग्यौझा' कहानी में केदार और मुलिया का आकर्षण; तथा गोदान में गोबर तथा झुनिया का नैसर्गिक प्रेम। दोनों ही चित्रों में कहीं भी कुत्सित भावों का चित्रण नहीं, संकेत भर भी नहीं।

जीवन में अर्थ का भी महत् स्थान है। और वह प्रेमचन्द के उपन्यासों में हावी है भी। गोदान में होरी उसी की गुत्थी सुलझाते हुए इहलोक की लीला का अन्तिम दृश्य दिखा कर चला जाता है।

यहाँ प्रेमचन्द एव मायाकोवस्की के साहित्यकार का उद्देश, थोड़े अन्तर के साथ, लगभग एक सा ही है। मायाकोवस्की का साहित्यकार कहता है कि—"A poet is not he, who goes about with long hair and bleats on lyrical love themes A poet is he

who in an era of sharpened class struggle....fears no job, however prosaic, and fears no theme, whether of revolution, or the reconstruction of our national economy." प्रेमचन्द का यथार्थ वाद यहीं से आरम्भ होता है।

"साहित्य का आधार जीवन है।" जीवन एक वृहद जन समुदाय के बीच व्यतीत होता है जिसे हम समाज कहते हैं। समाज में भले और बुरे प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें दोनों गुण समान रूप से पाए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है। अतः सत्य-असत्य का द्वन्द समाज की विशेषता है तथा वही उसे गतिशील बनाए है। बीच के व्यक्ति अत्यन्त घातक हैं। न जाने उनका ऊँट कब किस करवट बैठ जाए। वे समय को आँका करते हैं। विशेष कर समाज में बुरे व्यक्ति अधिक पाये जाते हैं। यहाँ बुरे व्यक्ति से तात्पर्य है घोर स्वार्थी। समाज में इनका पाया जाना भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। उनको या तो शिक्षा नहीं मिली या उनका दृष्टिकोण संकुचित है। साथ ही उनकी कूप-मण्डूकता भी उसका प्रमुख कारण है। उस दृष्टि-कोण को विशाल बनाने की आवश्यकता है। जिन्हें शिक्षा मिली भी है तो वह अपूर्ण है तथा वह घोर व्यक्तिवादिता को बढ़ाने वाली है। शिक्षा का आधार व ढङ्ग ही गलत है।

साहित्य समाज की ही वस्तु है। अतः समाज का ही चित्रण उसमें अपेक्षित है। उपर्युक्त गुण-प्रधान व्यक्तियों की ही संख्या समाज में अधिक है अतः उनके चित्रण की ही बाहुल्यता साहित्य में होगी। इनका चित्रण पाठक के आगे कल्मष ही रखेगा। साहित्य का उद्देश्य है भावनाओं का परिष्कार कर आनन्द प्रदान करना। फिर इस प्रकार के चित्रण मानवीय भावनाओं का परिष्कार किस प्रकार करने में समर्थ होंगे। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में प्रेमचन्द का "यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य कमजोरियों का पुतला है, और उसकी कमजोरियों का चित्रण उसके लिए घातक हो सकता है।" अतः प्रेमचन्द उन दुर्बलताओं में भी एक सौन्दर्य की खोज कर एक काल्पनिक स्वर्ग की स्थापना करना चाहते हैं, जहाँ दुर्बल मानव के "चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाए कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ।" अतः मनुष्य के सामने एक स्वस्थ आदर्श का होना अतीव आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यथार्थ चित्र को स्थान ही नहीं। उसको तो है ही अन्यथा मानव चित्रण सच्चा कैसे होगा। प्रेमचन्द मानवीय जीवन को ऊपर उठाना चाहते थे। अतः उसके हेतु ठोस आदर्श की आवश्यकता उन्हें महसूस हुई। "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता" "वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है; हममें सद्भावों का सञ्चार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।"

इस प्रकार प्रेमचन्द यथार्थ एवं आदर्श में समझौता करते हैं। वे समाज के यथार्थ चित्रण से घबरा उठते हैं, क्योंकि वह अत्यन्त कटु है। साथ ही उनका आनन्दमय उद्देश्य भी वहाँ छिन्न भिन्न होता दीखता है। अतः उन्हें आदर्श की शरण जाना ही पड़ा। प्रेमचन्द इस समझौते को "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" कहते हैं। यथार्थ के साथ साथ आदर्श को भी चलाना चाहते हैं, पर वस्तुतः उनका आदर्श यथार्थ पर पूर्णतया हावी हो गया है। किन्तु धीरे-धीरे प्रेमचन्द का आदर्शवाद भी 'गोदान' में आकर यथार्थवाद के सामने झुक गया है। होरी की मृत्यु का चित्रण उसी का प्रमाण है। साथ ही उनकी धार्मिक आस्था का भी चित्रण उसी में मिल जाएगा।

महाकवि विद्यापति के श्रीकृष्ण

कुमारी उर्मिला वार्ष्णेय एम० ए०, सरस्वती

वीरगाथा काल के अंतिम चरण में कृष्ण कथा को आधार बनाने का श्रेय आपको ही है। कृष्ण-उपासक सूर जयदेव आदि सभी कवियों से विद्यापति ने अपने नायक को एक नये दृष्टिकोण से ही देखा, बहुधा श्रीकृष्ण के शिशु और बाल्य रूप को सर्वथा भुलाकर एक साथ तरुण नायक रूप में उनकी कल्पना करता। कृष्ण की माधुरी मूरत में विभोर होकर वे पद नहीं गाते, वरन् उन प्रसंगों को ही लेते हैं, जिसमें उनके तरुण नायक श्रीकृष्ण के शृङ्गार रस की पुष्टी हो (विद्यापति की पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी) के सर्व प्रथम पद में श्री कृष्ण नायिका राधा की आतुरता से प्रतीक्षा करते हुये देखे जाते हैं।

नन्दक नन्दन कदमक तरु तीरे,
धीरे-धीरे मुरली वजाय।
समय संकेत निकेतनि वइसल,
वेरि वेरि बोलिय पठाय॥

× × ×

मामीर तोर लाग अनुछन; विकल मुरारि॥
जमुनक तीर उपवन उदवेगल।
फिर-फिर ततहि निहारि,
गोरस वेचन अइत जाइत।
जनि-जनि पुछे वनमारि॥

विद्यापति प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। इसके लिये उन्होंने आधार बनाया श्रीकृष्ण और राधा को। कवि प्राचीन संस्कृत परम्परा के अनुसार नख-शिख वर्णन बड़े सुन्दर ढङ्ग से करता है। यद्यपि श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधा के सौन्दर्याङ्कन में उन्हें अधिक सफलता मिली है, फिर भी।श्रीकृष्ण। के सौन्दर्य वर्णन को उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा। उनके 'कान्ह' के रूप के बनाने में ब्रह्मा ने कामदेव के कोष का दिवाला ही निकाल दिया है।

कि कहब सारा कानुक रूप
के पोत आएत एसन स्वरूप,
अभिनव जल धर सुन्दर देह
पीत वसन पर दामिन रेह।
मामर मामर कुटिलहिं केश
काजरे साजल मदन सुवेश,

× × ×

विद्यापति कह कि कहब आर
सून करल विह मदन भंडार।

सूरदास के बाल कृष्ण, मीरा के गिरधर नागर रसखान के आराध्य 'कारी कमरिया' के धारण करने वाले माखन चोर, रहीम के चितचोर, जयदेव के मनमोहक राधावल्लभ, चैतन्य के एकमात्र आधार, गोविन्ददास के गोविन्द, गीता में कर्मयोग का उपदेश देने वाले निर्लेप, जितेन्द्रीय योगीश्वर, महाभारत के ऐतिहासिक अमर पुरुष, कौरव कुल संहारक माधव पहली बार साधारण लौकिक नायक के रूप में आते हैं:—

राधा के विरह में कितनी दैन्य कारुणिक दशा का वर्णन उन्होंने किया है।

आज हम पेखल कालिन्दी कूल,
तो बिनु माधव लोटय धूल।
कत कत रमीन मनहि नहिं माने,
किय विपयाह समय जल दाने॥

फिर भी इस लौकिक रूप के पीछे आध्यात्मिक रूप की छाया भी स्पष्ट सी दिखाई देती है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि "आध्यात्मिक रंग

के चश्मे आज कल बहुत सस्ते हैं। उन्हें चढ़ा कर जैसे कुछ लोगों ने गीत गोविंद के पदों में आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के पदों में" किन्तु प्रामाणिक तथ्य कैसे छिपाया जा सकता है? विद्यापति ने श्रीकृष्ण को कितना ही लौकिक चित्रित करने का प्रयास किया हो पर वे उनके आध्यात्मिक रूप को सर्वथा छिपाने में असमर्थ रहे हैं —

"भन विद्यापति सुनि घर नारि,
धीरज धरहु मिलत मुरारि।"

× × ×

"ऐहो विद्यापति भाने,
गुँजरि भीज भगवानि"

× × ×

वे भक्ति विभोर होकर भी कह उठते हैं कि हे माधव! अखिल विश्व में ढूँढ़ आया पर खोज न पाया कि तुम्हें किसके समान कहूँ क्योंकि—

जौं श्रीखंड सौरभ अति दुर्लभ,
तो पुनि काठ कठोर।
जौं जगदीस निसाकर,
तो पुनि एकहि पच्छ उजोर॥
मनि समान और नहिं दोसर
तिनकर पाथर नामें।
तो हार सरिस एक तोहें माधव,
मन होइछ अनुमाने॥

कवि कहीं कहीं रहस्यवादी बनकर अपने आराध्य के विरह में व्याकुल होकर आत्म निवेदन करता है—

माधव हमार रहल दुरदेस,
के ओ न कहे सखि कुसल सँदेस,
जुग जुग जिवथु बसथु लख कोस
हमर अभाग हुनक नहिं दोस।

यद्यपि कृष्ण कथा का आधार भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण है परन्तु श्रीकृष्ण उपासकों ने अपनी अपनी इच्छानुसार अनेक रूपों में परिवर्तन कर उनकी आराधना की। विद्यापति केवल लीला गान से ही प्रसन्न हैं। उनके काव्य में मस्तिष्क और हृदय का अद्भुत सम्मिश्रण है। उन्होंने कृष्णचरित्र को अपने काव्य में नवीन और मौलिक रूप दिया है।

सन्तवर तुकाराम ने एक बार पूजाभावना से प्रेरित होने वाले स्नेहियों से कहा था "मैंने खुली आखों से अपने को मरते देखा।" पूज्य गुप्त (श्री मैथिलीशरण) जी के सन्मुख मेरा अभिनन्दन उसी स्थिति का चित्रण है। मुझे कविता काल में दो युग प्राप्त हुए हैं। इन युगों की कविताओं में अच्छाई के तत्व का श्रेय श्री गुप्त जी को है और जो अपवाद है, वह मेरा है।

श्री चतुर्वेदी जी ने आगे कवि और कविता के प्रति कहा, कि कलाकार में मीठी मुस्कान होती है। अपने मातृत्व के निर्माण में जिस प्रकार माता को लज्जा आती है उसी प्रकार कला के निर्माण में कलाकार को लज्जा आती है। भूतकाल की कला को खोकर हम विश्व में लज्जित हैं। भूतकाल को हमारे जीवन में उतरना आवश्यक है। हम जीवन के धनुष में श्वासों की प्रत्यञ्चा से सङ्कल्पों के तीर पर भूतकाल की ओर जितना बढ़ेंगे, उतना ही हमें भविष्य दर्शन होता जायगा।

—पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी

'देवाचन्द्रगुप्तम्' का आनुमानिक कथानक

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

साहित्य-संदेश के किसी पिछले अंक में 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' से कुछ सानुवाद उद्धरण उपस्थित करते हुए मैंने इस प्रश्न पर विचार किया था कि 'क्या रामगुप्त और चन्द्रगुप्त परस्पर अनुरक्त थे?' कुछ और उद्धरण नीचे दिये जा रहे हैं, जिससे 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' नामक लुप्त नाटक के कथानक का कुछ अनुमान लगाया जा सके।

देवीचन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तो विदूषक प्रति।
सद्दंशान् पृथुवर्ष्मविक्रमबलान् हत्वोद्धतान् दन्तिनो
हिंस्रस्याथ गुहामुखादभिमुखं निष्क्रामतः पर्वतात्।
एकस्यापि विधूतकेसरसटाभारस्य भीता मृगा
गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया॥

यह अवतरण राजा भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' में से लिया गया है। विदूषक ने चन्द्रगुप्त से कहा होगा कि शत्रु के नगर में अकेले मत जाओ, वीर सुभटों को स्त्री वेश में अपने साथ लेते जाओ। इस पर चन्द्रगुप्त की उक्ति है—

सद्दंशशाली, प्रचण्ड देह तथा विशाल विक्रम-बल वाले उद्धत हाथियों का संहार करके पर्वत की गुहा के मुख से सामने निकलते हुए, अपनी गर्दन के बालों को फरफराते हुए हिंसा की प्रतिमूर्ति एक ही वीर सिंह की गन्ध मात्र से भयभीत होकर बेचारे अनेक हरिण भग जाते हैं—वीर अकेला क्या नहीं कर सकता? इसलिए उसे संख्या से क्या सरोकार? वह एक ही असंख्य सैनिकों के लिए पर्याप्त है। ऊपर का पद्य अन्योक्ति का सुन्दर उदाहरण है, जिसके कुछ शब्दों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

पर्वत = वह स्थान जहाँ युद्ध हुआ था।
गुहा = अन्तःपुर
गुहामुख = अन्तःपुर का द्वार
दन्ती = शकपति तथा आस-पास के सुभट
मृग = सेना के सिपाही

शकराज का वध करके चन्द्रगुप्त किस मार्ग से और किस वेश में लौटा होगा, इसकी व्यञ्जना भी उक्त अन्योक्ति में है।

१२ वीं शताब्दी की फारसी की इतिहास-पुस्तक मुजम्मुल तवारीख में वरकमारीस तथा रव्वाल की जो कथा मिलती है, उसके अनुसार वरकमारीस (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) और सामन्त-पुत्र हथियार ले लेकर स्त्री वेश में शत्रु के शिविर में पहुँचे थे। किन्तु प्रसाद ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों को शक शिविर में भेजा है। ध्रुवस्वामिनी के शक शिविर में जाने का उल्लेख प्रसादजी के उक्त नाटक के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता। बहुत सम्भव है, यह प्रसाद की कवि-कल्पना ही रही हो।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' का निम्नलिखित पद्य शृङ्गार-प्रकाश तथा नाट्य दर्पण दोनों में मिलता है—

"वेश्यायां नायिकायां विनयरहितमपि, चेष्टितं निबध्यते। यथा विशाखदत्ते देवीचन्द्रगुप्ते माधवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तस्योक्तिः।
आनन्दाश्रु सितेतरोत्पलरुचोराबध्नता नेत्रयोः।
प्रत्यङ्गेषु वराननें। पुलकिषु स्वेदं समातन्वता॥
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं संपूर्णयोरप्यसौ
केनात्रास्पृशताप्यधोनिवसनग्रन्थिस्तवोच्छ्वासिता

हे मनोहर मुख वाली! नील कमल की कांति वाले तुम्हारे नेत्रों में आनन्दाश्रुओं का उद्रेक करने वाले, रोमांचित तुम्हारे प्रत्येक अंग को स्वेद से

आर्द्र कर देने वाले, तुम्हारे पूर्ण रूप से उभरे हुए नितम्बों को प्रफुल्ल करने वाले किस पुरुष के हस्त स्पर्श के बिना ही तुम्हारे कटि वस्त्र की यह गाठ ढीली हो गई ?

माधव सेना मौन धारण कर लेती है। चन्द्रगुप्त उसे सुमधुर वचनों से रिझाने का प्रयत्न करता हुआ कहता है—

"चन्द्रगुप्त —

प्रिये माधवसेने, त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय ।
कण्ठे किंनरकण्ठि बाहुलतिकापाशः समासज्यताम् ॥
हारस्ते स्तनबान्धवो मम बलाद् बध्नातु पाणिद्वयम्
पादौ ते जघनस्थलप्रणयिनी सन्दानयेन्मेखला ।
पूर्वं त्वद्गुणबद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नार्हति ॥"

हे प्रिय माधवसेने ! तू मुझे बन्धन की सजा दे। हे किन्नर सदृश मधुर,कंठ वाली ! मेरे गले में तू अपनी सुकुमार भुज लता का पाश डाल। अपने स्तनों के मित्र हार द्वारा मेरे दोनों हाथों को जोर से जकड़ ले। जघनस्थल की सखी मेखला द्वारा मेरे पैरों में बेड़ी डाल दे। मेरा हृदय तो तुम्हारे गुणों द्वारा पहले ही आबद्ध हो चुका है, उसे बन्धन की आवश्यकता नहीं।

नाट्य दर्पण में से 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का एक अंश और उद्धृत किया जा रहा है—

"अकान्ते अवमध्ये वा मनिमित्तं रगात् पात्रस्य बहिर्निःसरणं निष्क्रमः । तत्प्रयोजना अनुशक्तिकादेशकृतिगणत्वाद् इकणि उभयपदवृद्धौ नैष्क्रामिकी । यथा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमाकान्ते—
बहुविहकज्जविसेस अइगूढं णिण्हवेउ मअणादो ।
णिक्कमइ चन्दउत्ता उत्तत्थमणा मणा रिउणो ॥

(संस्कृत रूपान्तर)

बह्वाश्वकार्यविशेषमतिगूढं निन्हूय मदनात् ।
निष्क्रामति चन्द्रगुप्त उत्त्रस्तमना मनाग् रिपो ॥"

अर्थात् उन्मत्त का वेश धारण करके अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य विशेष को उन्माद के बहाने अत्यन्त गुप्त रख कर शत्रु से किंचित् भयभीत चन्द्रगुप्त निकल रहा है।

इस सम्बन्ध में लिखे गये अपने पूर्ववर्ती लेख तथा प्रस्तुत उद्धरणों के आधार पर 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक के आनुमानिक कथानक की रूपरेखा यहाँ नीचे दी जा रही है—

"गिरनार की घाटी में रामगुप्त ने वीरता से शत्रु सेना के साथ युद्ध किया किन्तु उसका साहस निष्फल गया, शत्रु की विजय हुई। सेना की घबराहट को शान्त करने के लिए उसने शकराजा तृतीय रुद्रसिंह से सन्धि की जिसके अनुसार शकराज के पास अपनी रानी ध्रुवदेवी को भेजना उसने स्वीकार कर लिया।

परकलत्रकामुक शकराज को मृत्यु की शिक्षा देने के लिए रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में शत्रु शिविर में जाने के लिए अपने बड़े भाई के पैरों पर अनेक वार विनयपूर्वक आग्रह किया किन्तु बन्धुवत्सल रामगुप्त ने साफ इन्कार कर दिया। अन्त में माधव सेना गणिका की सहायता से ध्रुवदेवी के वेश में चन्द्रगुप्त शक राजा के अन्तःपुर में गया और उसका काम तमाम कर डाला। फिर उन्मत्त का वेश धर सेना का नेतृत्व कर उसने शक राजधानी पर विजय प्राप्त करली। चन्द्रगुप्त के अद्भुत पराक्रम से प्रसन्न होकर रामगुप्त ने अपने सिर का मुकुट उतार कर अपने विजयी भाई के सिर पर रख दिया। कहा जाता है कि रामगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त के एक भाई और था। यह रामगुप्त से छोटा किन्तु चन्द्रगुप्त से बड़ा था। बड़े भाई के राज्य से निवृत्त होने पर, सम्भव है, इस बीच के भाई ने विद्रोह का झगड़ा खड़ा किया हो और छोटे भाई के हाथों इसकी मृत्यु हो गई हो और फिर चन्द्रगुप्त द्वितीय निष्कण्टक राज्य का स्वामी

बन गया हो। फिर उसने साम्राज्य का विस्तार कर उसे दृढ़ता पूर्वक स्थापित किया हो।*

मुन्शीजी ने जो 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नामक नाटक लिखा है उसमें उन्होंने चन्द्रगुप्त के छद्मोन्माद का उल्लेख किया है। राखाल बाबू ने अपने उपन्यास 'ध्रुवा' में माधवसेना का चित्रण किया है। जान पड़ता है दोनों लेखक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के उद्धरणों से प्रभावित हुए हैं। 'मृच्छकटिक' का चारुदत्त वसन्तसेना गणिका से प्रेम करता है फिर भी समाज में वह समादृत और सच्चरित्र है। 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' का चन्द्रगुप्त माधवसेना से प्रेम करता है, फिर भी वह नाटक का नायक है और समाज में उसकी उच्च स्थिति को कोई क्षति नहीं पहुँचती। तत्कालीन सामाजिक अवस्था के अध्ययन के लिए इन संस्कृत नाटकों में बहुत से उपयोगी संकेत मिलते हैं। भारतवर्ष के सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए इस प्रकार के साहित्य का अत्याधिक महत्व है, जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए! 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का जो आनुमानिक कथानक मैंने प्रस्तुत किया है, उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की कट्टरता नहीं है। यह विषय अध्ययन-सापेक्ष है। ध्रुवस्वामिनी को लेकर भारतीय भाषाओं में जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, उसके तुलनात्मक अध्ययन में यह आनुमानिक कथानक सहायक होगा, ऐसी आशा है।

* द्रष्टव्य—'साहित्य अने विवेचन' में 'समुद्रगुप्तनो क्रमप्राप्त उत्तराधिकारी' शीर्षक निबन्ध पृ० २४४-४५

(पृष्ठ २८२ का शेष)

कार्यों का लक्ष्य व्यक्ति का स्वार्थ नहीं, अपितु वे व्यक्ति समाज के प्रति कर्तव्य रूप बन गये हैं। सामाजिक बांटों से उनको तोला जा सकता है।

राक्षस को अपनी ओर मिलाकर चाणक्य ने रक्तहीन क्रान्ति को सफल बनाया। इस कार्य की सफलता हेतु यदि छल और कपट और झूँठ का आश्रय लिया गया, तो उसमें कोई बड़ी हानि नहीं प्रत्युत जो कार्य कुछ वर्षों में मूर्त होता वही कुछ महीनों में साकार हुआ।

चाणक्य और राक्षस दोनों का चरित्र पूर्ण आदर्शमय है। दोनों की निस्वार्थ सेवा और कार्य वर्जनता युग युग सराहनीय रहेगी। दोनों का चरित्र ही नाटक को एक पूर्ण शिक्षा प्रद और आदर्श नाटक बनाने में समर्थ है।

नाटक का कितना महान आदर्श है, गुणज्ञ शत्रु को जीत कर अपना बनाओ, हिंसा या बल के द्वारा नहीं, परिस्थितियों के घटना चक्र के निर्माण द्वारा उसके हृदय पर शासन करो, तब सच्ची सफलता मिलेगी।

अतएव यह कहा जा सकता है कि नाटक ध्वंसात्मक नहीं बल्कि रचनात्मक कार्य पद्धति की ओर संकेत करता है, इसीलिये इस नाटक को परिणत का नाटक कहा गया है, ध्वंस का नहीं।

मुद्रा राक्षस में चाणक्य और राक्षस

श्री पारसमल सीवसरा

मुद्राराक्षस नाटक अपनी स्वगत विशेषताओं के कारण संस्कृत नाट्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह नाटक शुद्ध रूप में ऐतिहासिक तत्वों से पूर्ण है। अपने युग की राजनैतिक परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक घटनाओं का विवेचन करते हुए यह नाटक सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के चरम उत्कर्ष और नन्दवंश के विनाश का एक आंशिक चित्र उपस्थित करता है। मौर्य साम्राज्य स्थापित हो चुका था परन्तु राष्ट्र को एक बहुत खतरे का सामना करना शेष था। उसमें विफलता उपलब्ध होने पर मौर्य साम्राज्य की प्रतिष्ठा की ही नहीं प्रत्युत धन और जन की अपरिमित हानि भी उठानी पड़ती। यह कार्य राजनीति विशारद सर्वगुण सम्पन्न तथा नीतिकुशल चाणक्य ने पूर्ण किया जिससे केवल विजय लक्ष्मी ही हाथ न लगी वरन् राष्ट्र को एक सम्बल मन्त्री का अवलम्ब मिला जिससे देश सर्वाङ्गीण उन्नति की ओर अग्रसर हुआ।

राजनीति का विषय साधारण कोटि की जनता के लिये योंही नीरस होता है परन्तु इसी शुष्क और नीरस विषय को रुचिकर और रसयुक्त विधि से प्रस्तुत किया गया है। यही इस नाटक की प्रमुख विशेषता है। विषय की गहनता और घटनाओं की जटिलता विद्यमान रहते हुए भी नाटक नाटकीय तत्व की दृष्टि से एक पूर्ण सफल नाटक है। नाटककार ने अपना नाट्य-कौशल रंगशाला के मङ्गलाचरण द्वारा नाटक में वर्णित घटनाओं का पूर्वाभास देकर प्रस्तुत किया है। महादेवजी की वाक्चातुर्यता और कपटपूर्ण विचार-विनिमय यह अनुमान कराता है कि नाटक राजनीति की कूट चालों से पूर्ण है।

> धनिया कौन तुम्हारे सिर पर,
> इन्दुकला क्या नाम यही।
> परिचित भी क्यों भूल गई तू,
> है यह इसका नाम सही॥
> कहती ललना को, न शशि को,
> कह दे विजया नहीं विश्वास।
> सुरसरि के यों गोपन इच्छुक,
> शिव का शाठ्य हरे सब त्रास॥

नाटक की कथा रोचकता से पूर्ण है। एक जिज्ञासा, रहस्यभावना प्रारम्भ से अन्त तक नाटक में बनी रहती है। नाटक के विषयानुकूल ही पात्र तथा उनका पारस्परिक कथोपकथन है। प्रमुख पात्रों का विशद चरित्र चित्रण नाटककार की काव्य कुशलता का परिचायक है। दो राजनीतिज्ञों तथा उनके आश्रयदाताओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अतिरिक्त घटनाओं के रहस्य का उद्घाटन नाटक को उत्कृष्टता की चरम सीमा पर पहुँचा देता है।

नाटक के प्रधान पात्र कूटनीति के धुरन्धर विद्वान् सम्राट चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य ही हैं। मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य के जीवन का केवल वही भाग दर्शाया गया है जो चन्द्रगुप्त की अस्थिर राज्य लक्ष्मी को स्थिर एवं दृढ़ बनाने में व्यतीत हुआ। वस्तुतः वह भी जीवन की केवल एक झाँकी मात्र है। चणक ऋषि के पुत्र होने के कारण चाणक्य कूटनीति के कुशल प्रयोक्ता होने के कारण कौटिल्य कहलाये अन्यथा आपका यथार्थ नाम विष्णुगुप्त था। नन्दवंश के स्वामिभक्त अमात्य राक्षस उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं। नाटक में वर्णित चाणक्य का समस्त जीवन राजनीति के षड्यन्त्रों के मध्य में व्यतीत होता है, उसकी निस्वार्थ सेवा दृढ़ प्रतिज्ञ

शीलता दूरदर्शिता और देश हित उनका महान् त्याग आज भी हमारे सम्मुख प्रमाण स्वरूप है। देव और भाग्य को कर्माधीन मानने वाला कर्मवीर विलासी नन्दवंश को समूल नष्ट कर पूर्ण आत्म विश्वास के साथ शूद्र जाति के एक युवक को सम्राट पद पर सुशोभित करना उसकी कार्य प्रवीणता का ही द्योतक है। मानव गुणों का सच्चा जौहरी, वेदक शास्त्रों का पूर्ण पण्डित, रसायन विद्या का ज्ञाता, आदि गुण उसकी बहु विज्ञता पर पर्याप्त प्रकाश डालते ;हैं।

नाटक की समस्त घटनाएँ राजनीति के दाँव-पेच उसी के द्वारा सञ्चालित होते हैं, घटनाओं पर उसका नियंत्रण ठीक उसी प्रकार है जैसे एक नट का कठपुतलियों पर होता है। चाणक्य अपने प्रतिद्वन्द्वी राक्षस की परिस्थितियों से पूर्ण परिचित है। यही नहीं उसके समस्त कार्य कलापों पर अपना आधिपत्य जमा उनको इस विधि से सञ्चालित करता है कि अपना हित साधन हो। चाणक्य यथाशक्ति सचेत है, राक्षस को अपने वश में करने हेतु, स्वपक्ष और परपक्ष और दोनों पक्षों के प्रेमियों और द्वेषीजनों को जानने की इच्छा से विविध देशों की भाषा वेश तथा 'आचार व्यवहार में निपुण भिन्न भिन्न रूपधारी अनेक गुप्तचरों को नियुक्त कर दिया। वे कुसुमपुर निवासी नन्द के मन्त्री और मित्रों की गतिविधि एवं उनके कार्य व्यवहारों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखते भालते रहते हैं। अपनी नीति और चातुर्यता के बल पर शत्रु और उसके हृदय पर विजय प्राप्त की। उसकी स्वामिभक्ति दूरदर्शिता तथा गुण ग्राहकता और सच्ची देश सेवा से प्रेरित नीति ने वह कार्य सिद्ध किया जो तलवारों से या लाखों मनुष्यों के बलिदानों से भी सम्भव न था। देखिए अपनी नीति पर कितना आत्म विश्वास था ?

वृषल हेतु निज मति से करके,
सम्मुख अपने आज आधीन।
घल्य मंत गज तुल्य करूँगा,
तुम को अब मैं कार्य लीन॥

राक्षस को मन्त्री पद स्वीकार कराने हेतु चाणक्य ने उन परिस्थितियों तथा घटना चक्रों का निर्माण किया कि राक्षस का हृदय ही परिवर्तन होगया।

चाणक्य की नीति के मूलमंत्र हैं—

'विश्वस्तेष्वपि न विश्वसेत"

अर्थात् विश्वस्त से विश्वस्त पुरुष पर भी विश्वास न करो। अर्थात् परीक्षा लेकर विश्वास करो।

दूसरी नीति मन्त्र है —

"मनसा चिन्तित कर्म वचसा न प्रकाशयेत"

अर्थात् मन की सोची हुई बात का पता वाणी को भी न लगे।

तीसरा नीति मन्त्र है—

"देव भवि द्वास प्रमाणास्ति"

अर्थात् मूर्ख लोग ही देव और भाग्य पर विश्वास करते हैं। चाणक्य के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि जब तक 'चिन्तित कर्म या अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न हो तब तक चैन या शान्ति कैसी ? चाणक्य की निस्वार्थ सेवा उसका देश प्रेम चन्द्रगुप्त का पूर्ण विश्वास उसके गुप्तचरों की कार्य प्रवीणता पारस्परिक सहानुभूति तथा उसका आत्म बल और मानव स्वभाव का सच्चा परीक्षक आदि गुण ही उसकी सफलता के मूल कारण थे। स्वयं सम्राट चन्द्रगुप्त को इस बात पर लज्जा हो रही है कि आर्य ने दुर्जय शत्रुओं को बिना युद्ध के ही पराजित कर दिया।

शयन निरत मुफसा नृपति, जगते सचिव उदार।
सकल जगत जय कर सके तज भी धनु व्यापार॥

राक्षस के चरित्र में चाणक्य के सदृश साहस नीति चातुर्यता तथा कार्य प्रवीणता दृष्टिगोचर नहीं होती। वे राजनीति की कूट चालों को समझने में

कभी कभी ही नहीं बल्कि सर्वथा ही भूल करते हैं, जीव सिद्धी मित्र है अथवा शत्रु का गुप्तचर यह वह अन्त तक निर्णय नहीं कर सका, अन्त में यही इसके पतन का कारण बना। वह राजनीतिज्ञ अवश्य था, चन्द्रगुप्त के नाश हेतु उसने गुप्तचरों का जाल सा बिछा रखा था, पर गोपनीय नीति और मनुष्य को पहचानने की शक्ति के अभाव स्वरूप सफलता देवी उसके हाथ न लगी। सहज विश्वासीपन ही के कारण उसको प्रत्येक कार्य में असफलता मिली। उसका हृदय स्वामी भक्ति स्वाभिमान और आत्म-गौरव से पूर्ण था, इसलिये तो चन्द्रगुप्त द्वारा मन्त्री पद के निमन्त्रण को पाकर भी उसे स्वीकार नहीं किया, परन्तु परिस्थितियों के फेर में पड़कर मित्र स्नेह वश अपने पूर्व प्रण को भूल जाता है और सम्राट चन्द्रगुप्त का मन्त्री पद स्वीकार कर लेता है। राक्षस के चरित्र में सफल राजनीतिज्ञ के गुणों के अतिरिक्त शस्त्र वीरता तथा एक योग्य सेनापति के गुण अधिक लक्षित होते हैं। चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सेनाओं ने कुसुमपुर को चारों ओर से घेर लिया है यह समाचार सुनकर अति अधिक आवेश में अपनी तलवार खींचकर क्रोध प्रकट करता है, तथा चन्दनदास की रक्षा हेतु शीघ्र ही अपनी तलवार को म्यान से बाहर निकालता है :—

जलधर रहित नभतुल्य जिसकी,
मूर्ति शोभित हो रही।
यह समर पुलकित हाथ में मम,
खड्ग लख पड़ता वही॥
जिसके अधिक बल की परीक्षा,
युद्ध मध्य हुई भला।
अब सुहृद प्रेम अधीन मुझको,
रण समुद्यत कर रहा॥

राक्षस की ऐतिहासिकता का पूर्ण प्रमाण न मिलने पर भी नाटक की शुद्ध ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि तथा घटनाओं की सत्यता के आधार पर ऐसे प्रमुख पात्र को कल्पित मान लेना बुद्धि सङ्गत प्रतीत नहीं होता। राक्षस में एक सफल कूट नीतिज्ञ की अपेक्षा शस्त्र वीर सेनापति, योग्य अमात्य मित्र स्नेही स्वामी भक्त और निस्वार्थ सेवी आदि गुण ही अधिक लक्षित होते हैं।

१—सामान्यतः मुद्रा राक्षस नाटक पर दो आक्षेप किये हुये हैं। नाटक में स्त्री पात्रों का अभाव है जिससे नाटक में रोमान्स नहीं रहा अथवा दूसरे शब्दों में नाटक में माधुर्यता और सौन्दर्यता का पूर्ण अभाव है।

२—नाटक से कोई उच्च शिक्षा नहीं मिलती है, दोनों ओर के पात्र शत्रु को मार्ग से हटाने के लिये अवसर पड़ने पर घृणित से घृणित कार्य करने में भी तनिक सङ्कोच नहीं करते।

प्रथम आक्षेप के उत्तर में यही कहा जा सकता है, कि चूँकि नाटक शुद्ध राजनीतिक चालों से पूर्ण है और राजनीतिज्ञ के लिये स्त्रियां सुख और दुख में मार सी प्रतीत होती हैं, और चूँकि यह राज-नीति मूलक नाटक है और वीर रस प्रधान है इसलिये इसमें सौन्दर्य और माधुर्य अथवा शृङ्गार और करुण रस की खोजना या आशा करना व्यर्थ ही है। उसमें कर्म वीरत्व का सन्देश है, आदर्श और त्याग का द्वन्द है। नाटक के अन्तिम अङ्कों में स्त्री रङ्गमञ्च पर अवश्य आती है, परन्तु वह भी अपने कर्तव्य पर बलि होने के लिये दृढ़ है। चन्दनदास की तरह वह भी स्वार्थ त्यागिनी के रूप में प्रदर्शित है।

नाटक पर दूसरा आक्षेप सर्वथा निराधार है, तथ्य हीन है। नाटक में राजनीति मूलक वे आदर्श वर्णित हैं जो अन्यत्र अलभ्य हैं। दैव और भाग्य पर विश्वास करने वालों की पराजय और उनका कर्मवीरत्व का सन्देश देकर नाटक अजर अमर बन सका है।

नाटक में वर्णित घटनाओं के औचित्य को व्यक्ति के मापदन्ड से नहीं आका जा सकता, उन

(शेष पृष्ठ २७६ पर)

छायावाद की पृष्ठभूमि

श्री यशपाल

......उन्नीसवीं शताब्दि के यूरोप में प्रायः सभी विचारधाराएँ हेगल के विज्ञान-वाद और स्पिनोजा के निसर्गवाद से प्रभावित थीं। अध्यात्म वाद की इस लहर ने चिन्तन और अनुभूति दोनों ही क्षेत्रों में एक विशेष सूक्ष्म और रहस्यभाव का पुट दिया। प्रकृति का सौन्दर्य किसी विराट् सूक्ष्म-सत्ता की भावना से सजीव हो उठा। उसके लिए आँसू और वर्षा में अब विशेष अन्तर न था, वह इन दोनों ही के पीछे किसी अज्ञात हृदय की वेदना को विह्वल देखता था।

हेगल की उस विचारधारा का, जो ब्रह्म को विश्वातीत न मान कर स्वयं विश्व की प्राण भूत सत्ता या एकमात्र अस्तित्व मानती थी, पूँजीवादी युग के लिए सहज हो उठना स्वाभाविक ही था। बुद्धितत्व पर उसके अधिक बल देने से तो उसका दर्शन और भी अधिक ग्रेपनीय हो सका। उसने कहा—

The real is rational and the rational is real.

'यथार्थ' और तर्क के विषय में हम पीछे लिख आए हैं कि वह किस प्रकार परिस्थिति-सापेक्ष हैं, किन्तु विज्ञानवादी हेगल तर्क को असीम बुद्धितत्व की जो स्थूल-'अस्तित्व' का साक्षी है, प्रक्रिया मानता है। उसके अनुसार मूल अस्तित्व बुद्धि या चित है और चित की प्रवृत्ति ही प्रकृति का निर्धारण करती है। किन्तु यह कितना भ्रामक है, यह हम पीछे देख आये हैं। चित भी परिवृत्ति का ही निर्माण है, मनुष्य अधिक विकास कर समाज से प्रतिक्रिया और प्रक्रिया को निर्धारित करता है। यही ठीक है कि व्यक्ति इस प्रतिबिम्ब का निष्क्रिय दृष्टा नहीं, उसमें स्नायविक विकास भी काफी प्रभाव शाली होता है किन्तु यह विकास भी परिवृत्ति—सापेक्ष ही है न कि चित्तसापेक्ष। अतः हेगल की विचार धारा से हम मूलतः ही सहमत नहीं, और वह आज गलत प्रमाणित हो चुकी है।

जो भी हो, हेगल में उस युग का आत्म विश्वास स्वातन्त्र्यभावना और बुद्धि के प्रति उत्साह ही मूर्त हो उठा था। किन्तु स्वतन्त्रता का यह उल्लास किन्हीं ठोस आधारों पर न था क्योंकि समाज और व्यक्ति पूँजीवादी अन्तर्विरोधों से निपीड़ित हो रहा था, पूँजीवाद ने विज्ञान की विजय-वाहिनी से जो जय-घोषणा की थी वह स्वयं दलदल में फँस गया था। स्वतन्त्र व्यापार और तीव्र प्रतियोगिता ने जिस व्यक्तिवाद को जन्म दिया था और तज्जन्य प्रजातन्त्र के आदर्श ने जिस स्वातन्त्र्य भावना को उत्पन्न किया था, उसका सामाजिक सम्बन्धों से कहीं मेल न था, क्योंकि व्यक्ति अर्थ तन्त्र की भयानक अनिश्चित और क्रूर मशीन में कहीं भी अपने आपको निश्चित और स्वतन्त्र अनुभव नहीं कर सकता था। किन्तु इसका कारण वह स्वतन्त्रता की कमी को ही समझता रहा जिस स्वतन्त्रता ने उसको उस अवस्था में ला पटका था और उस बन्धन का दोषी उस समाज को ठहराता था जिसके कारण वह कर्त्तव्यों और नैतिकता के बन्धनों में बँधा था। किन्तु उसकी स्वतन्त्रता का अर्थ एकवर्ग की स्वतन्त्रता था क्योंकि सर्व हारा वर्ग की परतन्त्रता पर ही तो उसकी स्वतन्त्रता का भवन खड़ा हो सकता था। साधारण तथा निम्न मध्यम वर्ग भी अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव न कर सकता था क्योंकि उसी के सिर पर अन्ततः पूँजीपति के लाभ का दायित्व था। फिर भी यह वर्ग अपना प्रतियोगी पूँजीपतियों को ही समझता रहा और उसकी सहूलियतें न पाकर

निराशा और क्षोभ को जन्म देता रहा। नवीन युग की विचारधाराओं को इसने प्रश्रय दिया किन्तु वास्तविकता को न समझ कर उसके परिणामों का कारण वह वर्ग को नहीं सामाजिकता को समझता रहा।

इसीलिए उस युग में प्रत्यक्ष बन्धनों पर मानसिक स्वातन्त्र्य का पर्दा डालकर आध्यात्मिक रस सृष्टि की प्रवृत्ति देखी जाती है। किसी सामाजिक-उद्देश्य और आदर्श के अभाव में बुद्धि वादी विकृतियों की ही सृष्टि कर सकता है, किन्तु उस युग की आशा और विश्वास से अनुप्राणित परिवृत्ति ने उसको—उसकी निराशा को—स्वप्नलोक में निर्वासित कर दिया क्योंकि वह आशा और विश्वास एक वर्ग की ही निधि थे। यही कारण है कि उसका विश्व ब्रह्म की ओर उन्मुख न होकर स्वयं ब्रह्म हो रहा था; उसका ब्रह्म उसकी काल्पनिक स्वतन्त्रता का प्रतीक था, जिसमें यह विश्व उसके चित्त से निर्धारित होता है, वह स्वयं इस कार विश्व-नियन्त्रण का काल्पनिक आनन्द प्राप्त कर सका। यह 'सम्पूर्ण' उसकी ही आत्माभिव्यक्ति था। वास्तव में यह उसके अहम् का वृहदीकरन मात्र था।

बुद्धिवाद के प्रसार का कारण विज्ञान को बताया जाता है, यह ठीक ही है; किन्तु पूँजीवादी युग में, जबकि सर्वहारा अपनी सम्पूर्ण कलात्मक-चेतना खो चुका होता है और पूँजीपति के लिए आर्थिक प्रतियोगिता ही प्रमुख होगई रहती है—भावना को स्थान नहीं हो सकता। विज्ञान अप्रत्यक्ष शक्तियों को समाप्त करने के कारण बुद्धिवाद का जनक तो है किन्तु यह बुद्धिवाद भावना को समाप्त नहीं कर देता। इससे हम अज्ञता सुलभ श्रद्धा को छोड़ कर ज्ञानपूर्वक अपनी भावनाओं को नियोजित करते हैं। श्रद्धा सत्य के प्रति भावात्मक प्रवृत्ति है, सम्भवतः विज्ञान सत्व का अपघातक नहीं, 'प्रत्युत' दृष्टा को निश्चयात्मकता ही देता है। अतः विज्ञान को श्रद्धा का विरोधी नहीं कहा जा सकता'। वैज्ञानिक बुद्धिवाद मानवता के युग में अद्वितीय घटना होता, क्योंकि इससे हमारी श्रद्धा को दृष्टि भी मिलती और इस प्रकार श्रद्धा और बुद्धि पृथक् न रह कर ज्ञान का गौरव पाते, किन्तु पूँजीवाद ने बुद्धिवाद को तर्क का पर्याय बना दिया क्योंकि उसका 'सत्य' गौरव-शाली न था, इसी से श्रद्धा को वहाँ कोई स्थान नहीं हो सकता था और वह सत्य भी एक वर्ग का सत्य था सभी का समान नहीं। अतः विज्ञान-दत्त अभिज्ञता को पूँजीवाद से हीन दिशा ही मिली। अतएव बुद्धिवाद का विकृतरूप ही हमारे सम्मुख आया और आज जबकि पूँजीवाद अपने अन्तिम चरण में है, उसकी विकृति शतमुखों से ध्वनित हो रही है। कलाएँ सस्ते मनोरञ्जन के लिए वेश्यावृत्ति करने को बाध्य हो गई हैं और बुद्धि वितृष्णा उत्पन्न करने को मजबूर। गम्भीर और महान 'दर्शन' तथा स्वतः प्रवाह शिव-सौन्दर्य को आज कोई स्थान सम्भव नहीं, क्योंकि आज इतनी सजीवता ही शेष नहीं जो चिन्तन और सयम का भार सह सके, आज तो विस्मृति की आवश्यकता है। इसका कारण वह श्रम-विक्रय ही है जो श्रमिक के पास अपना कहने को कुछ भी नहीं छोड़ता और उसके कला-बोध को कुण्ठित कर देता है। दूसरी ओर वह प्रतियोगिता है जो पूँजीपति को भावना शून्य असामाजिक तथा अमानवीय बना देती है। क्योंकि उसका वातावरण ही ऐसा होता है जहाँ जीवन को निर्वासित कर देना अनिवार्य रहता है, अतः उसकी जीवन की प्यास, अमूर्त अनभिव्यक्त और अनिर्धारित प्रवृत्तियाँ (Instincts) तृप्ति के लिए बेचैन हो उठती हैं। क्योंकि वह बाह्य परिवृत्ति के साथ अन्तर की ओर लौट नहीं सकता (उसकी परिवृत्ति है 'अर्थ की जड़ दासता) और क्योंकि वह प्रवृत्ति की आन्तरिक परिवृत्ति से (जो सामाजिकता

का वरदान (अभिशाप) है।) कोई सामञ्जस्य नहीं बिठा पाता, अत उसके लिए आवश्यक हो आता है कि वह प्रवृत्ति की प्यास बुझाने के लिए अन्तर और बाह्य परितृप्ति से छुटकारा पाकर विस्मृति खोजे। श्रद्धा और प्रेम को हमारी परितृप्ति के शिव और सौन्दर्य से पृथक नहीं किया जा सकता किन्तु बुद्धि परितृप्ति की दुहिता होकर भी किसी सिद्धान्त विशेष के आधार पर उससे निर्लिप्त भी हो सकती है। यह ठीक है कि वह परितृप्ति से पृथक कुछ नहीं किन्तु वह परितृप्ति के आधार पर परितृप्ति को अस्वीकृत भी कर सकती है, क्योंकि भावना को उसके विषय Object से पृथक नहीं किया जा सकता जबकि बुद्धि अपने विषय से सहज ही पृथक की जा सकती है। अतएव बुद्धि व्यक्तिवाद से समर्थित होकर पारलौकिकता और लौकिकता दोनों से ही निषेध कर सकती है और व्यक्तिवाद की जनक सामाजिक परितृप्ति के आधार पर समाज का निषेध कर बीभत्स तृप्ति में निर्वासित हो सकती है। भावना परितृप्ति का प्रतीकरण है अत वह भी अच्छी या बुरी हो सकती है किन्तु उस सीमा तक नहीं, यदि वह क्रोध और द्वेष इत्यादि की बुरी संज्ञा ही नहीं पा जाती। प्रेम या श्रद्धा सुन्दर और सत्य का भावन है, अनुभूति एक ही सत्य और सौन्दर्य व्यक्ति को सभी सत्यों और सौन्दर्यों के प्रति सवेदनशील बना देगा और उसकी यह सवेदना जितनी ही अधिक बलवती होगी वह उतना ही अधिक परिष्कृत और 'महान्' बन जायेगा, उसकी प्रवृत्ति उतनी ही अधिक अप्राकृतिक, अवैयक्तिक और मानवीय होगी। घृणा और क्रोध भी भावनाएँ ही हैं किन्तु ये मूलत निषेधात्मक और अस्थाई हैं, क्योंकि ये समाज विरोधी हैं। अत मनुष्य स्वय ही इन्हें स्थाई नहीं रखना चाहता (यदि ये कुछ स्थायित्व बना ही लें तो भी ये अपकारक सामाजिक हैं—बुद्धिवाद के समान शून्य में निर्वासित नहीं कर सकतीं। अत बुद्धिवाद तर्क विशिष्ट होने से जीवन और मनुष्यता के प्रति निषेध रूप में ही आया। किन्तु वे लोग जो न तो सर्वहारा थे और न पूँजीपति, जिन पर परम्पराओं का भार था और नवीन से असमर्थता सुलभ हुई, जो पूँजीवाद की रहस्यमय प्रक्रिया न समझ सकने से अन्तर्विरोधों में उलझ रहे थे, जो न तो अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट थे और न सकारणता से अभिज्ञ। वे या तो सूनेपन की ओर लौट रहे थे या हलचल में अपने आप को खो रहे थे। इनमें भावना थी किन्तु कोई स्वीकृत दृष्टि बिन्दु न था इसी से इनकी अनुभूति प्रथम आत्म केन्द्रित हो फिर विषयों की ओर प्रवृत्त होती थी, इसी से इस युग के काव्य में अहं व्यक्ति प्रधान है और वह विषयों को उसी माध्यम से इकाई रूपेण—निरपेक्ष देखता है। और उसी निरपेक्ष सौन्दर्य या निरपेक्ष सत्य को अपनी कल्पना में असीम और शाश्वत बना लेना है। उसकी प्रेयसी नारीत्व की गरिमा और मधुरता की प्रतीक होते होते स्वतन्त्र तत्व के रूप में उपस्थित होती है, निराश्रय भावना विश्व व्यथा का रागीन बन जाती है और 'अनन्त' चिर-विरह की वेदना लेकर उसकी आत्मा की गहराइयों में पर्यवसित होने लगता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि उस काल का हिन्दी साहित्य बेजान है, किन्तु हमारी उपर्युक्त विशेषताएँ इसमें विद्यमान हैं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता, इसका क्या कारण है, कि इन कमियों को लेकर भी यह साहित्य प्रभावशाली है? यह प्रश्न उत्पन्न होता है।'

इसके उत्तर के लिए हमें एक और प्रश्न करना होगा। इलियट का काव्य, जो जीवन से निषेध करता है, इतना प्रभावशाली क्यों है? बच्चन और अञ्चल का साहित्य इतना सरस क्यों है? *

* यहाँ बच्चन और इलियट में समानता दिखाना अभीष्ट नहीं न समानता है ही।

पीछे साहित्य की शाश्वतता का कारण देखते हुए हम बतला आए हैं, कि "कला का मूल श्रोत भावानुभूति है और यह अनुभूति प्रवृत्तियों का समाभीकरण।" भावात्मकता जहाँ है, वहीं काव्य है, अब इलियट, बजन या अञ्चल के पद्य भी, जहाँ अनुभूति है, काव्य हैं, किन्तु केवल का यत्न ही प्रेषनीय नहीं हो सकता। अनुभूति को विचार भी प्रभावित करते हैं। 'वर्तमान' समाज में य विचार विद्यमान थे, जो इनके काव्य में अभिव्यक्ति पा रहे थे, अतएव वे इतने अधिक प्रेषणीय भी हो सके, जिस दिन यह विचार धारा नहीं रहेगी। उस दिन भी अपनी अनुभूति की गहराई के कारण ये काफी प्रभावशाली रहेंगे, किन्तु कुछ विशेषणों के साथ मिट भी सकते हैं। किन्तु अपनी इसी कमी के कारण वे सत्काव्य-महत्काव्य—नहीं कहला सकते, यही रोमैंटिक काव्य के लिए भी (अशत) सत्य है, अन्तर केवल परिमाण का है। सामाजिक मनुष्य में यह विशेषता है कि वह 'समाबद्ध' शिव का ही स्वागत करेगा, जो कवि अपनी अनुभूति को जितना अधिक आत्म केन्द्रित करता जाएगा, उसकी अनुभूति उतनी ही निराण तथा दय शील होगी। फिर जिस निराशा, पराजय और नश्वरता को इन्होंने अपना आदर्श बनाया उससे किसी महान् सृजन की आशा ही व्यर्थ है। सम्य पूर्व का मृत्यु भय, सामन्तयुगीन धर्म की नश्वरता की ओर निरन्तर जागरूकता इस जीवन को अधिक पूर्ण बनाने की प्रेरणा ही देती थी किन्तु इलियट की जीवन की नश्वरता के प्रति पराजय भाव ती जीवन से पलायन है।

तो भी शैली और बायरन का काव्य पर्याप्त सजीव और सप्राण है, उसमें पराजय भावना सीमा तक नहीं पहुँची। शेक्सपीयर के बहादुर और जीवन के साथ खेलने वाले पात्रों को तो हम वहाँ नहीं पा सकते, इस युग में जो एक विशेष 'समझदारी' और जीवन से निराशा उत्पन्न हो गई है, वह इसको स्वभावत निर्बल बना देती है, तो भी इनमें उत्साह है, जीवन है और उसके प्रति आनन्द और आह्लाद की भावना भी है।

× × ×

ये विचार और अनुभूतियाँ हमारे देश में भी आकाश मार्ग से आई और हमने इनका स्वागत किया—क्योंकि हमारे यहाँ जो आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनमें राज दरबारों का साहित्य स्थान नहीं पा सकता था। अंग्रेजी साम्राज्य के साथ एक विशेष राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्रवाद की जो लहर आई वह यूरोप की भूमि की ही उपज थी। हमारी भूमि इसके लिए तैयार थी किन्तु बिलकुल भिन्न आधारों के साथ। हमारे यहाँ न तो वैज्ञानिक समृद्धि का युग आया और न हम अपने स्वाभाविक सांस्कृतिक विकास के लिए स्वतन्त्र थे, हमें तो केवल पूँजीवाद से शोषण और दूसरी संस्कृति से 'जबरदस्ती की दोस्ती' मिली। इसकी प्रतिक्रिया हुई अवश्य, जिसे हम नर्गे के आन्दोलन म विशेष रूप से देखते हैं, किन्तु यह सरक्षण सम्भव नहीं हो सकता था, क्योंकि हम पीछे की ओर इसके लिए देख रहे थे। इस सबके कारण हमारी सांस्कृतिक भूमि दृढ़ और निश्चित नहीं हो सकी, अतएव हमारे साहित्य में निराशा और क्षयशील प्रवृत्तियाँ ही अधिक हैं।२

छायावाद, विचार धाराओं की इसी परिस्थिति के साथ आया। तत्कालीन सुधार आन्दोलनों से समर्थित द्विवेदी युग के निरन्तर विरोध करने पर भी इसे रोका नहीं जा सका। सुधार आन्दोलनों का मुख्य कारण दूसरी संस्कृति के संघर्ष में आई हुई अपनी संस्कृति के प्रति सरक्षण की भावना ही थी, इसी से उन दिनों इस देश के सर्वाधिक प्राचीन और सभ्य तथा आर्यों का ही देश होने पर बल दिया जाता था। इतना ही नहीं, आज की प्रत्येक नवीन खोज को भी पुरातन ग्रन्थों में लिखित प्रमाणित कर नवीन को अपनाने की प्रवृत्ति भी

कार्यों भी नहीं पहुंच पाती है, वहाँ कवि की दृष्टि बड़ी आसानी से पहुंच जाती है और आलोचक इस कवि की कोमल अनुभूतियों की बाह्य अभिव्यक्ति का ही—अध्ययन करता है; अतएव उसकी दृष्टि कवि की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और तीव्र होनी चाहिए। तभी वह उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थलों को देख सकेगा।

कवि के समान ही उसे त्रिकाल द्रष्टा भी होना चाहिए जिससे अतीत और वर्तमान का समुचित समन्वय कर भविष्य का आभास देने में वह सफल हो सके। तुलनात्मक आलोचना के लिए अतीत और वर्तमान साहित्य एवं साहित्य-सिद्धान्तों का ज्ञान रहना अति आवश्यक है। पर आलोचक का काम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर उसे भविष्य के लिए पथ निर्देशक भी बनना होता है जिनके अनुकरण में भविष्य में साहित्य-सृजना की संभावना रहती है। अपनी युग-चेतना से सजग रहना तो उसका परम कर्त्तव्य है।

अन्तर्दृष्टि के साथ ही, उसमें कवि-कल्पना और भावना भी होनी चाहिए तभी वह अपने आलोच्य विषय काव्य (विस्तृत अर्थ में) का पूरी सफलता के साथ रसास्वादन और विवेचन कर सकता है। अर्थ-ग्रहण के लिए बुद्धि के अतिरिक्त ये भी आवश्यक हैं। अतएव इनसे दूर रहने का अर्थ है स्वयं अपने आलोच्य विषय से ही दूर रहना। क्योंकि इनके अभाव में न तो वह काव्य के भावलोक में प्रवेश कर सकता है और न कल्पना रानी का आलिंगन ही। ऐसी अवस्था में उसकी व्याख्या भी—जो आलोचना का एक अंग है—संभव नहीं हो सकती। प्रायः देखा जाता है कि काव्य के जिन स्थलों को स्वयं उसके कवि भी स्पष्ट नहीं कर पाते—उन्हें एक कुशल आलोचक सहज ही स्पष्ट कर देता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि कवि की अपेक्षा आलोचक अधिक सजग, भावुक और कल्पनाशील होता है। अँग्रेजी-साहित्य में एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'मिल्टन की कविता को 'मिल्टन ही समझ सकता है।' अर्थात् मिल्टन की कविता इतनी कल्पना प्रधान, भाव प्रवण और विचार-पूर्ण होती है कि उसे वही समझ सकता है जो स्वयं मिल्टन के समान ही कल्पनाशील, भावुक और प्रौढ़ विचारक हो। यह व्यक्ति आलोचक ही हो सकता है, अन्य में यह सामर्थ्य कहाँ ?

आलोचक के ये गुण कुछ प्रतिभा पर निर्भर करते हैं और कुछ अध्ययन पर। अभ्यास उन्हें व्यवहारोपयोगी बनाता है, अध्ययन उसके ज्ञान को विकसित करता है और विचार को प्रौढ़। उसका अध्ययन जितना ही विस्तृत होगा, उसकी बुद्धि उतनी ही तीक्ष्ण और हृदय उतना ही उदार होगा। जहाँ तक संभव हो, उसे प्रत्येक साहित्य से परिचित रहना चाहिए। साहित्य के अतिरिक्त राजनीति, दर्शन, भूगोल, इतिहास आदि विषयों से भी उसका कुछ न कुछ संबन्ध रहना आवश्यक है; तभी वह किसी कला कृति में इन विषयों की ओर संकेत कर सकता है। इनके अभाव में उसकी आलोचना अधूरी और निष्फल सिद्ध होगी। सच्ची आलोचना और उचित मूल्यांकन के लिए इन गुणों का रहना नितांत आवश्यक है।

मूल्य-निर्धारण के लिए विवेचनात्मक मस्तिष्क और तर्कशील बुद्धि की भी कम आवश्यकता नहीं। आलोचक सर्व प्रथम अपने आलोच्य विषय का विश्लेषण करता है, बाद में उसके गुण दोषों पर तर्कपूर्ण विचार करता है और अन्त में अपना निर्णय देता है। यह कार्य बड़ा कठिन और जिम्मेदारी का होता है। अतः यहां पर उसे अधिक सचेत रहना होता है।

इस संबंध में निष्पक्ष और ईमानदार होना उसका परम कर्त्तव्य है इस कर्त्तव्य-पालन में उसके हृदय की शुद्धता, चित्त की उदारता तथा चरित्र की दृढ़ता अधिक सहायक होती है। उसकी यह ईमानदारी कला और कलाकार की अपेक्षा अपने प्रति अधिक हो तभी वह कटु से कटु सत्य भी कहने में समर्थ हो सकता है। उसकी यही विशेषता उसे

किसी कवि या पुस्तक के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी, योरुप में इसकी चाल खूब चली। वहाँ समालोचना काव्य सिद्धान्त निरूपण से स्वतन्त्र एक विषय ही हो गया। केवल गुण दोष दिखाने वाले लेखों या पुस्तकों की धूम तो थोड़े ही दिनों रहती थी, पर किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने वाली, उसकी विचारधारा में डूबकर उसकी अन्तर्वृत्तियों की छानबीन करने वाली पुस्तक, जिसमें गुण दोष कथन भी आ जाता था, स्थायी साहित्य में स्थान पाती थी, समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते हैं। निर्णयात्मक (Judicial Methed) और व्याख्यात्मक (Inductive Criticism) निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निन्दा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रन्थ में आई हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। वह मूल्य निर्धारित करने नहीं जाती। ऐसी आलोचना अपने शुद्ध रूप में काव्य वस्तु ही तक परिमित रहती है अर्थात् उसी के अंग प्रत्यंग की विशेषताओं को ढूँढ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करने में तत्पर रहती है। पर इस व्याख्यात्मक समालोचना के अन्तर्गत बहुत सी बाहरी बातों का भी विचार होता है जैसे सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक परिस्थिति आदि का प्रभाव। ऐसी समीक्षा को ऐतिहासिक समीक्षा (Historical Criticism) कहते हैं। इसका उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या संबंध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परम्परा में क्या स्थान है। व्याख्या पद्धति के अन्तर्गत हो कवि के जीवन क्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म अनुसन्धान भी है जिसे मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psycholgical Criticism) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त दर्शन विज्ञान आदि की दृष्टि से समालोचना की और भी कई पद्धतियाँ हैं और हो सकती हैं। इस प्रकार समालोचना के स्वरूप का विकास यो[illegible] में हुआ।

केवल निर्णयात्मक समालोचना की चाल बहु[illegible] कुछ उठ गई है। अपनी भली बुरी रुचि के अनुसा[र] कवियों की श्रेणी बाँधना, उन्हें नम्बर देना, अब ए[क] बेहूदा बात समझी जाती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे हिन्दी साहित्य में समालोचना पहले पहल केवल गुण दो[ष] दर्शन के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप में इसक[ा] सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र के समय में ही हुआ। लेख[ों के] रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना उपाध्याय पंडि[त] बद्रीनारायण चौधरी ने अपनी आनन्दकादम्बिनी शुरू की। लाला श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंव[र] नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना, जिस[में] दोषों का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था उक्त पत्रिका में निकली थी। पर किसी ग्रन्थकार के गुण अथवा दोष ही दिखाने के लिए कोई पुस्तक भारतेन्[दु] के समय में न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्त[क] पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी कालिदास क[ी] आलोचना थी, जो इस द्वितीय उत्थान के आरम्भ [में] ही निकली। इसमें लाला सीताराम बी० ए० के अनुवा[द] किये हुए नाटकों के भाषा तथा भाव संबंधी दोष [बड़े] विस्तार से दिखाये गये हैं। यह अनुवादों की समालोचना थी अतः भाषा की त्रुटियों और मूल भाव [के] विपर्यय आदि के आगे जा ही नहीं सकती थी। दूसर[ी] बात यह कि इसमें दोषों का ही उल्लेख हो सका, गुण नहीं ढूंढ़े गये।

इसके उपरांत द्विवेदी जी ने कुछ संस्कृत कवियों को लेकर दूसरे ढंग की अर्थात् विशेषता परिचायक समीक्षाएं भी निकालीं। इस प्रकार की पुस्तकों में विक्रमांक देव चरित चर्चा और नैषधचरित चर्चा मुख्य हैं। इनमें कुछ तो पंडित पद्धती में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबियों पर साधुवाद है—'जैसे क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है!' और कुछ भिन्न भिन्न विद्वानों के मतों का

संग्रह। इस प्रकार की पुस्तकों से संस्कृत न जानने वाले हिन्दी पाठकों को दो तरह की जानकारी हासिल होती है। संस्कृत के किसी कवि की कविता किस ढंग की है और यह पण्डितों और विद्वानों के बीच कैसी समझी जाती है। द्विवेदीजी की तीसरी पुस्तक कालिदास की निरंकुशता में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किए गए हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी वालों या संस्कृतवालों के फायदे के लिए लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता। जो हो इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।

यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान होगए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।

कवियों का बड़ा भारी इतिवृत्तात्मक मिश्रबंधु विनोद तैयार करने के पहले मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी नवरत्न नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ निकाला था, जिसमें सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि देव हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। हिन्दी के पुराने कवियों की समालोचना के लिए सामने लाकर मिश्रबन्धुओं ने बेशक बड़ा जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं यह दूसरी बात है। रीतिकाल के भीतर यह सूचित किया जा चुका है कि हिन्दी में साहित्य शास्त्र का वैसा निरूपण नहीं हुआ वैसा संस्कृत में हुआ है। हिन्दी में रीति ग्रन्थों के अभ्यास से लक्षणा, व्यंजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की सम्यक धारणा नहीं हो सकती। कविता की समालोचना के लिए यह धारणा कितनी आवश्यक है, कहने की जरूरत नहीं। इसके अतिरिक्त उच्चकोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा उपेक्षित है 'काहे कृष्ण न माने' ऐसे ऐसे वाक्यों को लेकर यह राय जाहिर करना कि "तुलसी कभी राम की निंदा नहीं करते पर सूर ने दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है" साहित्यमर्मज्ञों के निकट क्या समझा जायगा।

'सूरदास प्रभु वे अति खोटेकारो कनहि मानने' ऐसे ऐसे वाक्यों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा वह जान लेगा, कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गये हैं न काले कलूटे कुलक्षण पहला वाक्य सखी की विनोद या परिहास की उक्ति है, सचमुच गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है, जो उस सखी का राधाकृष्ण के प्रति रतिभाव व्यंजित करता है। इसी प्रकार दूसरा वाक्य विरहाकुल गोपी का वचन है। जिससे विनोद मिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है। यह अमर्ष यहां विप्रलम्भ श्रृंगार में रतिभाव का ही व्यंजक है। इसी प्रकार कुछ दैन्य भाव की उक्तियों को लेकर तुलसीदासजी खुशामदी कहे गये हैं। देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने के लिए बिहारी में बिना दोष के दोष ढूंढे गये हैं। सकीन को समीति का समभाव तक ध्यान कैसे जा सकता था, अपभ्रंश समझ आप लोगों ने उसे बहुत बिगाड़ा हुआ शब्द माना है। रोज शब्द रुलाई के अर्थ में कबीर, जायसी आदि पुराने कवियों में न जाने कितनी जगह आया है, और आगरे आदि के आस पास अब तक बोला जाता है पर यह भी रोजा समझा गया है। इसी प्रकार की वे सिर पैर की बातों से पुस्तक भरी है। कवियों की विशेषताओं के मार्मिक निरूपण की आशा से जो इसे खोलेगा, वह निराश ही होगा।

कविता

मिलन यामिनी—लेखक-श्री बच्चन, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ २२६, मूल्य ४)

'मिलन यामिनी' बच्चन के ६६ गीतों का संग्रह है। इन गीतों में कवि के मदिर सपनों के प्रेम कण मुस्करा उठे हैं। कवि की अनुभूति मधु के रस भरे सुनहले उन्माद तरल चित्रों, अमानिशा के करुण अवसन्न विषाद-जर्जर उच्छ्वासों, जड़ जगत की हलाहल विभीषिकाओं के आकुल व्यग्र स्वरों से होती हुई जीवन की मिलन यामिनी में तृप्त मुखरित हुई है। यौवन के उल्लास में प्रेम के स्वर 'अमर चरणों' की 'झनकार' बन कर गूँज उठे हैं। कवि की रूपसी की मुस्कान में कोटि किरणें छहर उठती हैं, रात की जुन्हाई उसमें नहा लेती है और उसके बिखरे सुरों में गान बँध जाते हैं। वह गाने लगता है—

मैं जलन का भाग अपना भोग आया,
तब मिलन का यह मधुर सयोग आया।

इस मधुर सयोग में कवि चारों ओर अपनी प्रेयसी की शत शत रूप राशि बिखरी हुई देखता है,

तुम निशा में औ तुम्हीं प्रात किरण में,
स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में।

छन्दों में जो लय लहराती है, वह उसकी पदचाप है, पायल की रुनझुन उसका राग है, प्रकृति के प्राणों में उसका स्वर है, कुसुम के सौरभ में उसका निश्वास है। हर लता तरु में उसके प्रणय की रागिनी है। कवि स्वयं उसमें घुल गया है। यह एकात्म रूप इतना सहज और नैसर्गिक है कि उसकी अनुभूति जो 'प्रतिध्वनि' पा चुकी है, 'ध्वनि' खोजने लगती है। पर यह 'प्रतिध्वनि' ही इतनी आकर्षक है कि 'मिलन यामिनी' में वह बिन्दु और परिधि दोनों होगई हैं। अत- कवि में उल्लास है, विभ्रम और उद्भ्रान्ति नहीं। 'मिलन-यामिनी' उसके प्रणय का स्पन्दन है, सगीत है। वहाँ स्वरों में रंग भर जाते हैं और रगों में रागिनी गूँजने लगती है—

गगन खड़ा हुआ विशाल ताल मे,
गगन सुनद्ध भूमि अङ्कमाल मे,
चटुल युगल तरंग मे मगन मगन,
सुवर्ण किंकिणी बजी छनन छनन।

जीवन में यौवन के उद्दाम रूपों की प्रबलता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे रूपों को बच्चन ने स्वर दिये हैं, पर इन स्वरों की विविध प्रतिक्रियाओं से वह अनभिज्ञ भी नहीं है। वह आश्वस्त है—

जग दे मुझ पर फैसला उसे जैसा भाए।
लेकिन मैं तो बेरोक सफर में जीवन के॥
इस एक ओर पहलू से होकर निकल चला।

कवि जीवन के सफर में बेरोक निकल जाना चाहता है, पर यह कार्य इतना आसान नहीं। कवि स्वयं जानता है कि विश्व का संघर्ष उसके सामने है, उसे ससार बाँधे है, काल बाँधे है, जंजीर और जंजाल बाँधे हैं। 'मिलन यामिनी' के

आमुख में वह कहता है कि अपने 'लक्ष्य' या जब वह ध्यान करता है—तो हम रचना से उसे 'उतना ही असन्तोष होता है, जितना अपनी प्रारम्भिक रचनाओं से। तो वह लक्ष्य क्या है ? प्रश्न के उन्मेष विलास को वह सतरंगी अभिव्यक्ति दे सका है, अपने पाठकों को वह 'उत्तरोत्तर' भावों के शिखर की ओर ले जाने में भी सफल हुआ है, किन्तु यदि उसका लक्ष्य कुछ और है तो वह भी उसके लिए असाध्य नहीं, कारण उसे मालूम है कि इस संसार में आँसू की बूँदें बोने से मोती की ...न ...ती हैं, और उसने उस मनुष्य के भो दर्शन कर हैं, जो 'हर स्वरूप में पवित्र है'—

विराग मग्न हो कि राग रत रहे,
विलीन कल्पना कि सत्य में दहे।
धुरीण पुण्य का कि पाप में बहे,
मुझे मनुष्य जब अगह महान है॥

अर्चना के फूल—संकलनकर्ता-डा० राकेश गुप्त, एम० ए० डि० फिल, प्रकाशक—साहित्य-निकुंज, प्रयाग। पृ० सं० १२०, मूल्य २)

'अर्चना के ...न' में हिन्दी काव्य की ...णी बापू के बलिदान पर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती है। गाँधी की हत्या मनुष्य के सत्व को चुनौती है और शों के शब्दों में ... लगता है मानो अधिक अच्छा होता ही सङ्कटापन्न हो। यह वाक् विदग्ध ...क्ति नहीं, सरल सत्य है। मनुष्य की इस म...ता ने विश्व ...दय को हिलाया है और हिन्दी के कवियों की ...र जो बापू से निकटता का बोध करती है, इस शोक पर फूट पड़ी है। फलतः विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कवियों के अर्घ्य दान का ढेर लग गया।

इन कविताओं में कवियों का क्रन्दन, दुख और आक्रोश तो है ही, साथ ही मांग उस काल-जयी कीर्तिमान' के अमर गौरव की ...य भी है। पर इन्हें पढ़ने पर दो बातें और भी ...है। एक तो यह कि अधिकांश कवियों को इस बात का दुख है कि गाँधी की हत्या एक हिन्दू के द्वारा हुई (शायद और कोई यह काण्ड करता तो लज्जा की बात न होती)—

अरे राम ! कैसे हम झेलें,
अपनी लज्जा, उनका शोक!

दूसरी बात यह कि मानो कवि-कर्म-पूर्ति के लिए गाँधी हत्या-काण्ड पर अर्घ्य चढ़ाना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि कवि की अनुभूति सहज और मार्मिक न होकर शब्दों में घेरे काटने लगी—

आज गिरि का शृङ्ग टूटा,
आज भारत भाग्य फूटा।
× × ×
कैसे ले पाएँगे यह,
तब पुनीत प्राणार्पण हम !
× × ×
हो गया क्या देश के,
सबसे जरूरी दीप का निर्वाण!

पर जहाँ हिन्दू हिन्दू की घुटन से और शृङ्ग टूटने—भाग्य फूटने के चीत्कार से ऊपर उठकर कवि ने उस मृत्युञ्जय के स्वरों को अपने प्राणों में उतरते देखा है, वहाँ उसकी वाणी का अभय घोष मानव के लिए वरदान हो सका है—

'मानव के अन्तरतम शुभ्र,
तुषार के शिखर
नव्य-चेतना मंडित, स्वर्णिम,
उठे हैं निस्वर !

—श्री मोहनलाल एम० ए०

उपन्यास

दो पहिये—लेखक-श्री राजनारायण शर्मा 'दर्द'। प्रकाशक-अनुभूति प्रकाशन कुटीर। पृष्ठ १११, मूल्य २)

यह एक छोटा सा मनोवैज्ञानिक, विचारोत्तेजक सामाजिक उपन्यास है जिसमें स्त्री-पुरुष की समस्या का विवेचन हुआ है। स्त्री-पुरुष ही जीवन-रथ के दो पहिये हैं। 'दोनों को साथ तो चलना होगा परन्तु अपने-अपने स्थान पर ही। यदि बाँया पहिया दाहिने पहिए के साथ लगा कर यह गाड़ी चलाई गई, तो इसके अर्थ होंगे गृहस्थी का पतन, समाज का पतन, देश का पतन (पृ० २२) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण अवांछित है पर प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देकर वस्तुस्थिति को न आँकना अज्ञता है। पुरानी चीजें सब अच्छी नहीं, नई चीजें सब बुरी नहीं। समय की माँग है कि नीर-क्षीर विवेकी बन हम समाज को बदलें पर अक्ल से, नकल से नहीं।' लेखक को समाज की विभीषिकाओं को देख कर 'दर्द' हुआ है और उस दर्द का बहुत कुछ सही निदान भी उसने किया है। विधवा-विवाह से डरना तो कायरता है; परिस्थिति को देखकर गर्भिणी कुमारी को भी अङ्गीकार करना 'धर्म' है, उसको ठुकराना निकृष्ट समाज भीरुता। बेला के गर्भ रह जाता है। उस गर्भिणी का विवाह होता है सुधारवादी रमानाथ के साथ। रमानाथ के घर वाले बेला को निकाल देते हैं, पर पति अपनी पत्नी को निर्दोष मान कर उसे पुनः स्वीकार करता है। विवाह होने के पहले ही हार्डी की टेस गर्भिणी हो जाती है पर हार्डी उसे पवित्र ही मानता है। टेस का पति उसे ठुकरा देता है पर बेला का पति रमानाथ उसे पवित्र मान कर अङ्गीकार करता है। भोली-भाली निर्दोष स्त्रियों को हिन्दू-समाज ठुकराता जायगा तो यह अवनति और हीनता के अन्धकूप में गिरे बिना नहीं रह सकता।

स्त्री पुरुष की प्रतियोगिता का प्रश्न नहीं होना चाहिए—यही उपन्यास का निष्कर्ष है। पुरुष स्वार्थी है, नारी त्याग की मूर्ति। यदि नारी भी स्वार्थी बन गई तो समाज चौपट हो जायगा। 'पुरुष मगर , नारी मछलि।' उपन्यास की शैली सरल गर्भित है। उपन्यास रोचक और पठनीय है।

कुली—लेखक श्री मुल्कराज आनन्द, प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ४६०, मूल्य ६)

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त श्री मुल्कराज आनन्द का यह 'बहु प्रशंसित उपन्यास है' जिसका देश-विदेश की अनेकानेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इसका नायक ग्रामीण मुन्नू है जो कुली का काम करता हुआ चौदह पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही टी० बी० का शिकार होकर रंग-बिरंगी दुनिया को देखता हुआ अपनी इहलीला समाप्त करता है। अपने चाचा-चाची से उत्पीड़ित मुन्नू शहरों में आकर कई तरह की नौकरियाँ बजाता है। घर में बर्तन माँजने से लेकर शिमला में रिक्शा चलाने तक। एक ग्रामीण शहरों को किस तरह से मन लगा कर देखता है इसका बड़ा ही रोचक और सरस वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। किसी की डाँट फटकार, किसी का लाड़-प्यार, किसी मेम साहिबा का प्रणय—सभी कुछ उसको मिलता है और हम कुली का जीवन भी कई प्रवाह लेता है। उपन्यासों के नायक उच्चकुल के ही हों यह आज आवश्यक नहीं क्योंकि जनतन्त्र में मनुष्य का मनुष्य की हैसियत से महत्व है। सभ्य कहलाने वाले हम लोगों का इस विशाल मजदूर-समुदाय के साथ कैसा निर्दय एवं अमानुष व्यवहार है—इसी का यह जीता-जागता कच्चा चिट्ठा है। इस उपन्यास के दायरे में सभी कुछ आ गया है—प्रकृति, ग्राम, शहर, मालिक, नौकर, ठाकर, चाकर पर सबका केन्द्र है मुन्नू। लेखक का इन मजदूरों के साथ जैसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा हो—इतना मर्मद्रावक, सजीव चित्रण और इतनी सीधी-सादी अनलङ्कृत शैली—यह सब उपन्यास की खूबियां हैं। मुझ सरीखे कुली कितने साहबों,

निर्भीक, परिश्रमी होते हैं पर दुनिया से उनको मिलता क्या है—रोटी के बदले में पत्थर और ठोकर। कुलियों के जीवन के प्रति लेखक की अर्थशास्त्री की सी रूखी सहानुभूति नहीं, कवि की सी सहज और प्रखर समानुभूति है। मजदूरों की बढ़ती हुई चेतना का भी इसमें दिग्दर्शन है और साम्यवाद का बीजारोपण भी। गरीबों की दुनिया भी निराली ही है—नगर की हर्म्य अट्टालिकाओं से कम मनोरञ्जक नहीं। उपन्यास दुःखान्त है ठीक ही क्योंकि मजदूरों के जीवन का अन्त सुख में यहाँ अभी हुआ कहाँ? मजदूरों के जीवन का ऐसा सहज, करुण, हृदय द्रावक और मर्मस्पर्शी वर्णन अन्यत्र कम मिलेगा। पुस्तक सबके पढ़ने, गुनने योग्य है। मजदूरों की गरीबी का वर्णन करते हुए प्रेम को भी जैसे गरीबी का सामना करना पड़ा है। जैसे मजदूर कितने लँगड़ाते-लड़खड़ाते चलते हैं वैसे ही न जाने कितने प्रकार अपना आत्माभिमान खोकर इसमें सिर-कटे हो रहे हैं। मजदूरों का पक्ष लेते हुए भी लेखक जैसे निष्पक्ष सा होकर वस्तुस्थिति बता रहा है—इसीलिए इसमें कटुता और दुराग्रह कहीं नहीं है। स्वार्थ में मदान्ध हम मानवता का गला न घोंट दें—यही जैसे इस उपन्यास की 'टेक' हो।

विसर्जन—लेखक-श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ४०५, सजिल्द, मूल्य छः रुपये।

लेखक हिन्दी के प्रख्यात उपन्यासकार हैं। 'विदा', 'विकास', 'विजय', 'बयालीस'—इन पूर्व-प्रकाशित उनके उपन्यासों का हिन्दी जगत् में अच्छा स्वागत हुआ है। उनके नवीनतम उपन्यास 'विसर्जन' से लेखक का अगाध स्वदेश प्रेम स्पष्ट प्रतिभासित होता है। देश का प्रेम इन्होंने अपने पूर्वजों से विरासत के रूप में प्राप्त किया है। इस राजनीतिक और ऐतिहासिक उपन्यास में बयालीस के बाद के भारत का सजीव चित्रण हुआ है। गान्धीवाद के सिद्धान्तों का रोचक कथानक द्वारा स्पष्टीकरण ही इस उपन्यास का मन्तव्य रहा है, जिसमें लेखक को बहुत कुछ सफलता मिली है। 'लोकतन्त्र का आवरण ओढ़े पूँजीवाद' और 'प्रभुसत्ता को अपनाये जनवाद' दोनों धाराओं के समन्वय रूप में उन्होंने गान्धीवाद को परखा है और श्रद्धापूर्वक चाहा है। मिलमालिक और मजदूर का सम्बन्ध, अंग्रेजों की भारत में कूटनीति, अपमान के चित्र, अंग्रेजों के जमाने में न्यायालयों के रङ्ग ढङ्ग—यह सभी इस उपन्यास में मिलेगा। पूँजीवादियों की लोलुपता और चरित्रभ्रष्टता से ही उपन्यास शुरू होता है, पर सेठ वामनदास की लड़की बैरिस्टर कनक गान्धीवाद से प्रभावित हो अपनी सम्पत्ति ठुकरा कर गरीब उर्मिला से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करती है। मजदूरों का पक्ष लेने के कारण कनक और उर्मिला को काला पानी हो जाता है, पर अन्त में सत्य की विजय दिखाई गई है, जैसे गान्धीवाद की विजय से भारत स्वतन्त्र हुआ। इतिहास की पुस्तकों से कहीं अधिक सच्चा और हृदयग्राही वर्णन मिलेगा इस उपन्यास में। बयालीस के बाद के इतिहास का। 'In history every thing is false except names and dates, in fiction every thing is true except names and dates' वाली बात यहाँ बहुत कुछ चरितार्थ हुई है। मनोवैज्ञानिक विषयों पर पूरे निबन्ध के निबन्ध इसमें मिलेंगे जो उपन्यास को विचारोत्तेजक बनाने में योग देते हैं। श्रीवास्तवजी अगर स्वतन्त्र निबन्ध रचना करने लगें तो निश्चय ही हिन्दी को मौलिक चीज दे सकते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में कई जगह जीवन का अनुभव और सच्चा ज्ञान भरा है। उपन्यास सर्वथा पठनीय है। लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

अन्नपूर्णा—अनुवादक-श्री ओंकार शरद, प्रकाशक-न्यू लिटरेचर, जीरोरोड, इलाहाबाद। पृ० सं० २६२, मूल्य २)

विदेशी भाषाओं की मान्य कृतियों का राष्ट्र-भाषा हिन्दी में अनुवाद हो यह अत्यावश्यक और परम वाछनीय है। हिन्दी के अनुवाद साहित्य को अभी प्रौढ़ और विकसित होना है। चीनी जीवन पर लिखे गये प्रसिद्ध उपन्यास Good earth का यह हिन्दी अनुवाद है। इसकी लेखिका श्रीमती पलबक को इस पर नोवल पुरस्कार भी मिल चुका है। यह अमेरिकन महिला वर्षों चीन में रही हैं और वहाँ के सांस्कृतिक, समाजिक जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया है। इसका नायक वंगलुङ किस तरह धरती माता की सेवा कर गरीब से अमीर बनता है, फिर अमीर बनकर कैसे स्त्रियों के फर में पड़कर अपना सर्वस्व नष्ट करता है, फिर धरती पर ही भरोसा करके उठना चाहता है—इन्हीं का इसमें मार्मिक और हृदयग्राही चित्रण हुआ है। चीन की दासी प्रथा का रूप इसमें बहुत स्पष्ट हुआ है। भारत और चीन के जीवन में कितनी समानता है, यह सब भी इससे सहज ही मालूम होगा। पुस्तक अत्यन्त रोचक और पठनीय है। पलबक के सभी उपन्यासों का हिन्दी में सस्ता अनुवाद होना चाहिए। अनुवाद में स्वाभाविकता तो नष्ट नहीं हो पाई है, पर लिङ्गभेद की इसमें स्थान-स्थान पर इतनी अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं, कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। भाषा की स्वरूप रक्षा में इससे बड़ी क्षति पहुँची है। छपाई सफाई भी साधारण है। छपाई और लिङ्ग की भूलें कहीं-कहीं बड़ा अजीब तमाशा खड़ा करती हैं। अनुवाद भी सर्वत्र निर्दोष नहीं हुआ है—कुछ स्थलों पर प्रत्यक्ष अनुवाद सा लगता है, जो अनुवाद की सबसे बड़ी त्रुटि है। पर कुल मिलाकर पुस्तक सबके लिए संग्रहणीय है।

पशु और मानव—मूल लेखक-अल्डुअस हक्सले, अनु०-मोहनलाल एम० ए०, साहित्य रत्न, प्रकाशक-रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स चाँदनी-चौक, देहली। पृ० स २४०, मूल्य ३॥) रुपये।

प्रस्तुत उपन्यास अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक और विचारक हक्सले की नवीन कृति Ape and Essence का अनुवाद है। गान्धी की हत्या से लेखक के विचारों में जो विक्षोभ हुआ है, उसीका परिणाम है यह उपन्यास जिसमें वर्तमान सभ्यता का खोखलापन चित्रित हुआ है। उपन्यास में कथा नक न के बराबर है, विचारों की शृङ्खला भी सबके लिए सुबोध नहीं। साधारण पाठक के लिए इसकी व्यञ्जना समझ सकना टेढ़ी खीर है। ऐसी पुस्तक का आदर्श अनुवाद भी अत्यन्त कठिन कार्य है, फिर भी जैनेन्द्रजी के शब्दों में (जिन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है) 'प्रस्तुत अनुवाद लगभग उतना अच्छा हुआ है, जितना हो सकता है। परन्तु अनुवाद अच्छा होते हुए भी सब चाव से इस पुस्तक को पढ़ सकेंगे, इसकी आशा नहीं की जा सकती। उपन्यास शब्द से जो धारणा बनती है, वह इसमें है ही नहीं। इसको तो समझने के लिए बुद्धि का पूरा व्यायाम करना पड़ेगा, पर व्यायाम के पश्चात् बुद्धि को पूरा बल और साहस मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। वास्तव में यह पुस्तक साधारण पाठक के मतलब की नहीं है। बुद्धिवादी और विद्वान लोग इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो उन्हें इसमें अवश्य ही रस मिलेगा।

—प्रो० नागरमल सहल, एम० ए०

कहानी

लङ्का महारानिन—लेखक-श्री ओङ्कार शरद, प्रकाशक-न्यू लिटरेचर, जीरो रोड, इलाहाबाद। पृ० स० १६६, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के १७ स्केचों और कहानियों का संग्रह है। इन सबके कथा आधार के लिए शरद तथा कथित बड़े लोगों, नेताओं, अफसरों, पदाधिकारिओं—के पास नहीं जाता, वह अपने पास-पड़ोस की दुनिया को देखता है और

उन सामान्य लोगों के व्यक्तित्व में जो कुछ उसे 'महत्वपूर्ण' दिखाई देता है, उसे वह सम्हाल लेता है। अपनी भूमिका में वह यही कहता है—"इसी अनुभूति से प्रेरित हो कर इस 'लङ्का महराजिन' में काल्पनिक पात्रों के काल्पनिक चित्रण में जमीन आसमान के कुलावे मिलाने की परम्परा से हटकर अपने जीवन में घुले मिले जीवित पात्रों की ही बहुत सीधी सादी तस्वीरें खींचने की मैंने कोशिश की है।"

अतः इन स्कैचों और कहानियों को हम तस्वीरें ही कहेंगे। इन तस्वीरों में उसने अपने पात्रों के बाह्य आकार को तो बाँधा ही है, पर उनके अन्तस को भी निकाल कर रखने का प्रयत्न किया है। ये रेखा चित्र हैं जहाँ वर्णों की गहराई की अपेक्षा टेढ़ी मेढ़ी रेखाएँ ही मिलेंगी लेकिन वे इतनी सक्षम हैं कि पात्रों के जीवन के कुछ पहलू को उभार सकी हैं। लेखक अपने पात्रों के साथ संवेदनशील है जिसके कारण उसके स्केचों में नैसर्गिकता (naturalness) है। लंका महाराजिन, केदार, अम्मा आदि कितने ही पात्र हमारी आत्मा को जीत लेते हैं।

संकलन में जो कहानियाँ हैं वे भी रेखा चित्र के ही निकट हैं यद्यपि उनमें कथानक का आधार अधिक स्थूल है। कहानियों के रूप में वे अधिक सफल भी नहीं, पर उनकी मार्मिकता असंदिग्ध है।

दो बूँद आँसू—लेखक-प्यारेलाल 'टिकट', प्रकाशक—बाबू केदारनाथ, पुस्तक मन्दिर, पा० मोकामा घाट (पटना)। पृष्ठ ८८, मूल्य १।)

'दो बूँद आँसू' में 'टिकट' की १२ कहानियाँ हैं। प्रथम कहानी के शीर्षक पर पुस्तक का नामकरण किया गया है। कुछ कहानियाँ कहानियाँ नहीं हैं, कहानी लिखने की ओर लेखक का प्रयास है। 'प्रतिशोध', 'डाकू', 'स्वर्णमय जीवन' आदि रच- ... कोई विशेषता नहीं है। इन सब कहानियों में किसी समस्या का चित्र देखना असङ्गत होगा, कारण उनमें लेखक के 'टूटे सपने', 'नैराश्य', 'धोखा' आदि हैं। इन कहानियों की सफलता यही है कि टिकटजी अपनी बात आग्रहपूर्वक कहना चाहते हैं और पाठक उसे रोचकतापूर्वक सुन भी लेते हैं। आशा है, समय की गति के साथ उनकी अनुभूति में और भी तीव्रता आयगी।

—मोहनलाल एम० ए०, 'साहित्य रत्न'

बन्धनों की रक्षा—लेखक-आनन्दमोहन अवस्थी, प्रकाशक-लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर। पृष्ठ ८३, मूल्य १)

पुस्तक में २८ लघुकथाएँ संग्रहित हैं। सभी कथाएँ साधारण जीवन से सम्बन्ध रखती हैं परन्तु लेखक ने उन साधारण घटनाओं को दो और तीन पृष्ठ की इन छोटी कथाओं में इस प्रकार अंकित किया है कि एक ओर तो वे भावनाओं को उद्वेलित करती हैं और दूसरी ओर मानव हृदय पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ती हैं। भाषा-शैली आडम्बर हीन और स्वाभाविक है। लेखक ने इन सब घटनाओं को जीवन में जैसा अनुभव किया है उसको वैसा ही अंकित किया है परन्तु एक दो कथाएँ ऐसी भी हैं कि जिनके लिखने का उद्देश ही समझ में नहीं आता जैसे "एक आदमी का इतिहास"।

—दयाप्रकाश एम० ए०

श्री शङ्कराचार्य का आचार दर्शन—लेखक-डाक्टर रामानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० फिल, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य समेलन प्रयाग। पृष्ठ २२१, मूल्य ५)

शाङ्कर वेदान्त का भारत की विचार-धारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। साधारणतया शाङ्कर वेदांत मायावाद का पोषक माना गया है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' जगत को मिथ्या मान कर आधार का कोई महत्त्व नहीं रहता। परमार्थ और व्यवहार में अन्तर करके आचार को महत्ता दी

जाती है किन्तु परमार्थ की दृष्टि से आचार मिथ्या ही रहता है। वेदान्त के सिद्धान्त में दुरुपयोग भी काफी हुआ। अपने को त्रिगुणातीत समझ कर लोगों ने आचार की अवहेलना भी पर्याप्त मात्रा में की। ईसाई आलोचकों ने वेदान्त को अनाचार धर्म नहीं तो कम से कम निराचार धर्म कहा। लेखक ने इस आक्षेप के सामना करने के लिए पुरानी भित्ति से काम नहीं लिया। ब्रह्म और जगत् की व्याख्या एक नये दृष्टि कोण से की। उसमें वेदान्त सूत्रों के शारीरिक भाष्य मात्र पर शाङ्कर सिद्धान्तों से अवलम्बित न करके आचार्य की पूर्ण कृतियों पर आश्रित किया है। उनके आधार पर लेखक ने जगत के मिथ्यात्व को निराकरण का आचार का आत्मानुभव का साधन माना है। निष्काम कर्म द्वारा ही लेखक ने सत्त्व शुद्धि मानी है जो ब्रह्मानुभव में सहायक होती है। ब्रह्म और जीव की जगत के सम्बन्ध में लेखक के विचार इस प्रकार हैं —

"वेदान्त में ब्रह्म चरम सत्य है। वह समस्त सत्ता का अन्तर्निहित सत्य भी है, और उससे पृथक कोई वस्तु नहीं है। ब्रह्म में आरूढ़ रूप से कोई भी परिच्छिन्न पदार्थ मिथ्या नहीं है, ब्रह्म से (जिसमें सब की स्थिति है) पृथक कल्पित होने पर यह मिथ्या है। यदि गुण का अर्थ ब्रह्म को परिच्छिन्न अथवा निरूपित करना है तो ब्रह्म नितान्त निर्गुण है, किन्तु ब्रह्म में संस्थित होने के अर्थ में सभी गुण ब्रह्म में हैं। सभी परिच्छिन्न सत्त्व किसी न किसी अंश में ब्रह्म के ही प्रतीक हैं, यद्यपि ब्रह्म स्वयं सर्वातीत है"

यद्यपि यह विचार नितान्त मौलिक तो नहीं कहे जा सकते, नन्ददासजी की गोपियों के भी कुछ ऐसे ही विचार थे 'जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते। बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहो कहाँ ते'। हेगिल आदि के भी सिद्धान्त ब्रह्म को संश्लिष्ट और अतीत मानने के पक्ष में हैं। शाङ्कर वेदान्त के कुछ प्राचीन अनुयायी भी इसी पक्ष के बतलाये जाते हैं किन्तु लेखक ने अपने सिद्धान्तों को बड़ी मौलिकता और निर्भीकता से प्रतिपादित किया है और साथ ही आचार्य का भी पल्ला नहीं छोड़ा है। हम को ऐसे आलोचकों की आवश्यकता है जो प्राचीन विचार धारा और परम्परा को आगे बढ़ावें।

गजेन्द्रमोक्ष रहस्य—लेखक-श्री पण्डित राजबलि शास्त्री, प्रकाशक-स्वयं लेखक प० जगदीशचन्द्र हिमकर द्वारा। पृष्ठ संख्या ३२०, मूल्य ४)

भक्त लोगों में गजेन्द्रमोक्ष की कथा प्रसिद्ध है। सूर और तुलसी ने भगवान के स्तवन में इस कथा का अनेकों स्थानों में उल्लेख किया है। यह आख्यान भगवान की कृपा और शरणागत वत्सलता का द्योतक है। विद्वान लेखक ने इस कथा की व्याख्या में प्रपत्तियोग को संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों से पुष्ट किया है। यद्यपि इसमें विष्णु के अवतार स्वरूप राम और कृष्ण दोनों को समान महत्ता दी है, तथापि कृष्ण चरित वर्णन में लेखक कुछ अधिक भावुक दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने कृष्ण भगवान की ब्रज की लीलाओं के साथ गीतोपदिष्ट [illegible] भक्ति की बड़ी मार्मिक व्याख्या की है। पुस्तक भक्त लोगों के लिए विशेष महत्व की है।

ईशावास्यवृत्ति—सम्पादक-आचार्य विनोबा भावे, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ७६, मूल्य १)

मूल पुस्तक मराठी में लिखी गई है। उसका अनुवाद श्री कुन्दर दिवाण ने किया है। इसमें ईशावास्य उपनिषद पर वृत्ति लिखी गई है, और पाठकों में ईशावास्य (अर्थात् ईश्वर से सब व्याप्त है) मनोवृत्ति उत्पन्न की गई है। यह वृत्ति पुरानी वृत्तियों की ही रीति से लिखी गई है, और इसमें शङ्कराचार्यजी के भाष्य का पूरा पूरा आश्रय विनोबाजी के विचारों के साथ दिया गया है। इसमें पदों के विभिन्न पाठ और अर्थ भी दिये गये हैं। वृत्ति पश्चात् अन्त में एक बार फिर पाठ और

सरल अर्थ दे दिया गया है। यह उन लोगों के अर्थ है, जो विशेष पाण्डित्य के साथ अध्ययन नहीं करना चाहते। ईशावास्य उपनिषद् म भी गीता के कर्म योग का ही पाठ पढ़ाया गया है। निष्काम कर्म मनुष्य को बन्धन म नहीं डालते हैं।

—गुलाबराय

स्त्रियोपयोगी

पत्नी के पत्र—लेखिका-श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर, प्रकाशक—यूलिटरेचर, इलाहाबाद। पृष्ठ २१६, मूल्य ३)

श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर द्वारा लिखित 'पत्नी के पत्र' म नवविवाहिता पत्नी के अपने पति को लिखे गये पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों में पति पत्नी का प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शित किया गया है। विवाहोपरान्त जब स्त्री अपनी माँ के घर जाती है, तो उसमें आह्लाद और कसक का एक अद्भुत सम्मिश्रण रहता है, नवीन प्रणय की मधुर स्मृति उस परम आनन्द की शृङ्खला को तोड़ सी देती है। श्रीमती ठाकुर स्वयं स्त्री हैं, और स्त्री होने के नाते उन्होंने इस व्यथित—आह्लाद का सफल चित्रण किया है।

विवाह के पूर्व प्रत्येक बालिका चञ्चल और अल्हड़ होती है, किन्तु पश्चात् चाचल्य लुप्त हो जाता है, इसका निर्देश उन्होंने सुन्दरता से किया है।—इस पुस्तक म श्रीमती ठाकुर ने विशेषत तारावती के सुखी वैवाहिक जीवन का चित्र अंकित किया है, किन्तु नारी पर किये जाने वाले पुरुषों के अत्याचारों को भी स्वीकार किया है। इन अत्याचारों का निराकरण नारी न विवाह न करने से नहीं किया जा सकता, स्पष्टत तारावती ने मित्र रमा के मन का विरोध करते हुए कहा है, 'मैंने सुना है दूसरे देशों में लड़कियों ने विवाह का विरोध किया है, और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा क लिये उन्होंने स्वतन्त्र जीवन बिताना पसन्द किया है। इसको जानने के बाद भी अपने देश में अभी मैं इसकी आवश्यकता नहीं समझती।" अत्याचारों का दमन किस प्रकार किया जावे, इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। श्यामा के विषय में बातचीत होने पर संकेत मात्र मिलता है।

तारावती के सुखी जीवन के दिग्दर्शन के साथ-साथ बाल विधवा लक्ष्मी, विलासी और दुराचारी पति की पत्नी, श्यामा, मद्रासी पत्नी, पति परित्यक्ता दुर्गा की कष्टमयी कथा भी पाठक के हृदय म कसक उत्पन्न कर देती हैं यह पुस्तक केवल नारी से सम्बन्धित है, और नारी के ही मनोभावों का इसमें अङ्कन किया गया है। पत्र संग्रह होने के कारण नारी की मूक व्यथा, उसकी मार्मिक पीड़ा के हृदय स्पर्शी चित्र इसमें चित्रित नहीं किये जा सकते हैं, फिर भी प्रयास श्लाघनीय है।

—डा० किरनकुमारी गुप्ता एम० ए०

बालोपयोगी

मनोहर कहानियाँ—लेखक-पी० आर० श्रीनिवास शास्त्री। प्रकाशक-मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद, बसवन गुडी, बैंगलोर ४। पृष्ठ ६४, मूल्य ।=)

कहानियों की यह छोटी सी पुस्तक सद्विचार और सद्भावना प्रेरित करने के लिए बड़ी सुन्दर है। चौदह कहानियाँ इसमें हैं जो सभी आकर्षक हैं।

बच्चों के बापू—लेखक-डॉक्टर सत्येन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०, प्रकाशक-साहित्य रत्न भण्डार, आगरा। पृष्ठ ६०, मूल्य ॥)

महात्मा गान्धी के जीवन की झाँकी इस पुस्तक में संक्षेप में बच्चों के हितार्थ कराई गई है। विद्वान लेखक से जैसी सुन्दर पुस्तक की आशा की जा सकती थी, पुस्तक वैसी ही उत्कृष्ट है—पर गैट अप उतना आकर्षक नहीं है, जिसकी जरूरत थी।

परीक्षार्थी प्रबोध खण्ड १ की विषय-सूची

(साहित्य सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य अर्थात् २।) में)

१—काव्य-परिभाषा का विकास—डा० सत्येन्द्र एम० ए०
२—साधारणीकरण का शास्त्रीय विवेचन—श्री कन्हैयालाल एम० ए०
३—हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध काव्य का विकास—श्री हरनारायण वर्मा साहित्य-रत्न
४—आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान—श्री इलाचन्द्र जोशी
५—पृथ्वीराज रासो—श्री प० दशरथ शर्मा
६—सत साहित्य में योग-साधना—और ब्रह्मानुभूति—श्री बैजनाथ खेतान
७—हिन्दी साहित्य में विद्यापति—श्री गुलाबराय एम० ए०
८—नन्ददास का भँवर गीत— „ „
९—भ्रमर गीत में सूरदासजी— „ „
१०—केशव की अलकार योजना— „ „
११—बिहारी का काव्यपन—डा० सत्येन्द्र एम० ए०
१२—देव का काव्यत्व तथा आचार्यत्व—डा० सत्येन्द्र एम० ए०
१३—सेनापति का प्रकृति चित्रण—श्री गुलाबराय एम० ए०
१४—हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद का विकास—श्री शिवनन्दन प्रसाद बी० ए०
१५—हिन्दी कविता की नवीनतम प्रगति—डा० नगेन्द्र एम० ए०
१६—कबीरदासजी के दार्शनिक सिद्धान्त—श्री गुलाबराय एम० ए०
१७—'यशोधरा' एक सिंहावलोकन—श्री प्रो० बी० वी० योहन एम० ए० बी० ए० (आनर्स)
१८—सिद्धराज पर एक दृष्टि—श्री भगवत स्वरूप मिश्र एम० ए०
१९—चित्रलेखा—श्रीमती ऊषादेवी मित्रा
२०—श्री रामकुमार वर्मा के एकाकी नाटकों की रूप रेखा—श्री नर्मदाप्रसाद खरे
२१—सिन्दूर की होली में समस्या चित्रण—श्री कुमारी शकुन्तला सक्सेना एम० ए० विशारद
२२—'गरुड़ध्वज' पर एक दृष्टि—श्री ओंकार प्रकाश एम० ए० एल० एल० बी० रिसर्च स्कालर
२३—हिन्दी के प्रमुख निबन्धकार—श्री मोहनलाल चेजारा
२४—कुछ पर कुछ—श्री भगवत स्वरूप मिश्र एम० ए०
२५—हिमकिरीटनी पर एक दृष्टि—श्री चन्द्रभानजी राधे राधे
२६—महादेवी की रहस्य साधना—श्री विश्वम्भर दयाल एम० ए०
२७—चन्द्रा : एक आलोचनात्मक परिचय—श्री अनिलकुमार सा० रत्न
२८—उद्धवशतक में भक्तिकाल और रीतिकाल के सम्मिलित प्रभाव—श्री गुलाबराय एम० ए०
२९—युग कवि निराला' जी—श्री हरिशंकर उपा० विशारद
३०—लज्जा—डा० सत्येन्द्र एम० ए०

पृष्ठ संख्या लगभग ३०० मूल्य ३)

पता:—साहित्य सन्देश कार्यालय, ४ महात्मा गांधी रोड, आगरा।

परीक्षार्थी प्रबोध खण्ड २ की विषय-सूची

(साहित्य सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य अर्थात् २।) में)

पृष्ठ संख्या लगभग ३०० मूल्य ३)

पता:—साहित्य सन्देश कार्यालय, ४ महात्मा गांधी रोड, आगरा।

साहित्य संदेश

वर्ष १२] आगरा—मार्च १९५१ [अङ्क

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
…न्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
…हित्य रत्न भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य प्रेस, आगरा

मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश क ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक सख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक सख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छ आना और इससे पहले का ।।) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

हिन्दी का नया प्रकाशन : फर्वरी १९५१

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

तुलसी—माताप्रसाद गुप्त २)
अनुशीलन—शिवनाथ एम० ए० १।।)
उद्धव शतक परिशीलन—अशोककुमारसिंह २)
प्रसादजी का चन्द्रगुप्त—कृष्णप्रसाद सिन्हा २।।)
डा० वर्मा के शिवाजी—ध्रुवनारायणसिंह ।=)

कविता

गाधी गीता—श्री दामोदर शास्त्री ।।=)
अवकाश के क्षण-शकुन्तला सक्सैना एम. ए ।।।)

नाटक

बुझता दीपक—भगवतीचरण वर्मा २)

कहानी

फूलों भरा जनाजा—शिवनाथ अटेले ।—)

बालोपयोगी

चरित्र निर्माण—राधेश्याम विद्यार्थी ।=)
नए भारत क नेता—वेणीमाधव शर्मा ।=)
जीवन की झलक—नित्यानन्द एम० ए० ।=)
शूरवीर—वेणीमाधव शर्मा ।=)
मा का बेटा—विष्णु प्रभाकर ।।।)
बच्चो के बापू—सत्येन्द्र ।।)

ऐतहासिक

पजाब का इतिहास—धर्मवीर =)

राजनैतिक

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास—म० गाधी ३।।)
बापू के कदमों मे—राजेन्द्रप्रसाद ५)

विद्यार्थीपयोगी

मध्यमा प्रश्नोत्तर—नैमीचन्द जैन त्रिमूर्ति १।)
चन्दा एक विश्लेषण—परमेश्वरदत्त शर्मा ≡)

धार्मिक

रामचरितमानस का पाठ प्रथम भाग—माताप्रसाद गुप्त ४)
,, द्वितीय भाग— ,, ,, ४)
रामचरितमानस—माताप्रसाद गुप्त ६)

विविध

मोमबत्ती बनाना—प्रो० एफ० सी० योहन १।।)
आयना बनाना— ,, ,, ,, १)
सोडा कास्टिक बनाना— ,, ,, २)
सील मुहर करने की वस्तुएँ— ,, १।।)
हस्तलेख से चरित्र ज्ञान—कैलाशनाथ मिहिरा बी० ए० ।।)

निबंध

बारह बातें—प्रो० कपिल १)
बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली—झावरमल शर्मा बनारसीदास चतुर्वेदी १०)
बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ—,, ,, ५)

वर्ष १२] आगरा—मार्च १९५१ [अङ्क ९

हमारी विचार-धारा

श्रीमती होमवती का स्वर्गवास—

होमवतीजी आधुनिक साहित्य जगत की उज्ज्वल तारिकाओं में से थीं। साहित्य के दुर्भाग्य से गत ३ फर्वरी शनिवार को ४४ वर्ष की अल्पायु में उनका स्वर्गवास हो गया। वे उच्चकोटि की कहानी लेखिका और कवयित्री थीं। 'निसर्ग' और 'धरोहर' उनके कहानी संग्रह हैं और 'प्रतिच्छाया' 'उद्गार' और 'अर्घ' उनके काव्य के संग्रह हैं जो उनको चिरस्मरणीय बनाये रखेंगे। नारी होने के नाते उनके हृदय में स्वाभाविक करुणा थी जो उनके गीतों में प्रस्फुटित हुई और इसी नाते वे अपनी कहानियों में पारिवारिक जीवन के सच्चे और सजीव चित्र अङ्कित कर सकी हैं। लेखिका और कवयित्री होने के अतिरिक्त वे साहित्यिक जीवन और साहित्य सर्जना की एक बड़ी प्रेरिका शक्ति थीं। उनके प्रभाव और सूत्रधारत्व में मेरठ की दो साहित्य परिषदें साहित्य परिषदों के लिए दीर्घ काल तक उदाहरण बनी रहेंगी। साहित्य में ठोस कार्य करने और दिशा निर्देश करने के लिए ऐसी परिषदों की अब भी आवश्यकता है। देवीजी की स्मृति रक्षा के लिये हम उनके सुपुत्र और मेरठ के साहित्यिकों से यह अपील करेंगे कि वे प्रसाद परिषद् की भाँति मेरठ में 'एक होमवती हिन्दी काव्य परिषद' स्थापित करें, जिसके वार्षिकोत्सव में हर वर्ष साहित्यिक विचार विनिमय हुआ करे। साहित्यिकों के स्वागत के लिए उनका द्वार सदा खुला रहता था और वे आतिथ्य सत्कार में साक्षात् देवी अन्नपूर्णा का रूप धारण कर लेती थीं। दिल्ली की रेडियो कमेटी की सदस्या के रूप में स्त्रियों के प्रोग्राम के सम्बन्ध में आपके सुझाव बहुमूल्य होते थे। हमको उनके सुपुत्र श्री रामावतार से हार्दिक सहानुभूति है कि ऐसी कल्याणमयी देवी की छत्र छाया उनके ऊपर से इतनी शीघ्र ही उठ गई। होमवतीजी का स्वर्गवास उनके ही परिवार की क्षति नहीं है वरन् सारे हिन्दी जगत की क्षति है क्योंकि वे सभी साहित्यिकों से पारिवारिक सम्बन्ध निभाती थीं। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे!

श्रीमती होमवतीजी की स्मृति में 'साहित्य सन्देश' का एक विशेषाङ्क निकालने की बात विचाराधीन है, जिसकी पूरी रूपरेखा निश्चय होने पर प्रकाशित की जायेगी।

कहानियों के विषय—

हिन्दी में कहानी साहित्य की सृष्टि आजकल बहुत हो रही है। कोई पत्र-पत्रिका ऐसी नहीं जिसमें एक-दो कहानी न निकलती हों। अपने साहित्य के लिए यह शुभ लक्षण तो है, पर इन कहानियों के विषय सौ प्रतिशत नहीं तो नब्बे प्रतिशत प्रेम सम्बन्धी ही होते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे रोमांस के अतिरिक्त और कोई विषय रह ही नहीं गया है। उदीयमान देश के लिए यह कोई शुभ लक्षण नहीं है। प्रेम पर रचनाएँ हों ही नहीं—ऐसी बात नहीं है। हाँ, पर दूसरे विषय अछूते क्यों छोड़े जाँय? हमारे लेखकों की रुचि एकाङ्गी क्यों हो? अभी 'हिन्दुस्तान' की कहानी प्रतियोगिता में जिन चार कहानियों पर पुरस्कार मिला है—वे हमने पढ़ीं। बहुत सुन्दर रचनाएँ हैं वे। पर विषय चारों के रोमांस पूर्ण हैं। यही लेखक यदि वीरता की, युद्ध की, साहस की, देश पर बलिदान होने की, पर सेवा में जीवन उत्सर्ग करने की, बुराई मेटने के लिए स्वयं मर मिटने की, अत्याचारी से रक्षा करने वाले की, हिंसक जीवों के वध की, वैज्ञानिक अन्वेषण करने वालों की भौगोलिक पर्यटन या अनुसंधान करने में ख्याति प्राप्त करने वालों की, डाकुओं से मुठ भेड़ करने वालों की चर्चाएँ कहानियों में करते तो उससे देश का कुछ भला होता—यही क्यों और सैकड़ों विषय हैं जिन पर सुन्दर कहानियाँ लिखी जा सकती हैं, और विदेशी साहित्य में जिन पर ढेरों पुस्तकें लिखी गई हों। हिन्दी के लेखक उनके प्रति क्यों उदास हैं? अब तो हमारे देश ने करवट बदली है—उसे स्वस्थ साहित्य की जरूरत है। उसे ऐसा साहित्य, ऐसी कहानियाँ आज का नवयुवक नहीं देगा तो कौन देगा? क्या हम आशा करें कि हिन्दी के लेखक और प्रकाशक इस विषय पर गंभीरता पूर्वक विचारने और इस विचार को व्यवहार में लाने की चेष्टा करेंगे?

प्रसाद जयन्ती—

१२ फरवरी को प्रसाद जयन्ती हिन्दी जनता में बड़ी धूम धाम से मनाई गई। आधुनिक काल के कवियों में प्रसाद भी हरिश्चन्द्र की भाँति युग प्रवर्तक थे। उनसे हिन्दी का आधुनिकतम काल का श्री गणेश होता है। उनके साहित्य में वर्तमान समय की सभी प्रवृत्तियों जैसे छायावाद रहस्यवाद दुःखवाद तथा सांस्कृतिक गौरवमय देश-प्रेम आदि के दर्शन होते हैं। वे मुक्तककार तो थे ही किन्तु कामायनी के रूप में उन्होंने एक अमर प्रबन्ध काव्य भी दिया। वे प्राचीनता के उपासक थे और कामायनी में अतीत की सुदूर पृष्ठभूमि में पहुँच गये थे जहाँ कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लगते हैं। कामायनी में उन्होंने भारतीय ज्ञान इच्छा और क्रिया के समन्वय और श्रद्धा के प्राधान्य का उद्घाटन किया, उन्होंने अपने काव्य द्वारा 'श्रद्धावान लभते ज्ञानं' गीता की इस उक्ति को सार्थक कर दिया। उन्होंने नाटकों के क्षेत्र में भी युग-परिवर्तन किया। उनमें हमको द्विजेन्द्र की ऐतिहासिकता और रवीन्द्र की भावुकता दोनों के ही पूर्णरूपेण दर्शन होते हैं और उनके पात्रों की त्यागमयी कर्मनिष्ठा और सांस्कृतिकता के कारण गर्व से हमारा मस्तक ऊँचा हो जाता है।

प्रसादजी पूर्णरूपेण भारतीय थे और भारत को उन पर गर्व है। प्रसाद साहित्य के अध्ययन के लिए उनकी पुस्तकों पर और भी टीकाएँ और समालोचनाएँ निकलने की आवश्यकता है जिससे कि हमारी जनता उनकी कविता का मर्म भली प्रकार समझ सके।

साहित्यकार संसद—

फर्वरी के महीने में हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में साहित्यकार संसद ने विशेष आकर्षण प्रस्तुत किया। इस संसद के स्वाध्याय मंदिर तथा सर- [illegible] सदन का शिलान्यास २० फर्वरी को भारत के राष्ट्रपति

मा० डा० राजेन्द्रप्रसाद ने किया। साहित्यकार संसद का यह भवन प्रयाग नगर से लगभग १ मील दूर गंगा के किनारे रसूलाबाद नाम के एक छोटे से गाँव में निर्मित होगा।

साहित्यकार संसद आज से छः वर्ष पूर्व स्थापित हुई थी। यह संसद साहित्यकारों में उस प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप खड़ी हुई जो साहित्यकारों में सम्मेलन की राजनीति के कारण हुई थी। साहित्यकार को साहित्य-निर्माण के लिए सुविधा और अवसर प्रदान करना तथा उसे निजी चिन्ताओं से मुक्ति देना इस संसद का प्रधान धर्म माना गया था। संसद शनैः शनैः बल प्राप्त करके राष्ट्रभाषा के साहित्यकारों को ऊँचा उठाने और विश्व-साहित्य को वाञ्छित रूप देने की प्रेरणा और योजना में अवश्य सफल होगी ऐसा हमारा विश्वास है।

गुप्त और प्रसाद की महत्ता—

प्रसाद जयन्ती पर जो श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण की गईं उनमें हमारा ध्यान खिंच कर उन शब्दों की ओर जाता है जो 'प्रसादजी' के समान ही महान कवि डा० श्री मैथिलीशरण गुप्त ने साहित्यकार संसद भवन में प्रसादजी का तैल-चित्र उद्घाटन करते समय कहे—

"प्रसादजी भविष्य द्रष्टा थे। उन्होंने हिन्दी को और मानवता को अपने साहित्यिक कृतित्व द्वारा जो देन दी वह आज भी जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहेगी।" और इस प्रकार विचार करते हुए यह महाकवि अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में भी एक अभिमत तुलनात्मक दृष्टि से प्रकट कर गया। उन्होंने कहा—

"मेरा कार्य तो वर्तमान का था और शायद वह मेरे जीवन के साथ ही समाप्त भी हो जाय किन्तु प्रसाद जी का साहित्य अतीत की निधि के रूप में भावी पीढ़ियाँ बराबर सँजोती रहेंगी।" इस महाकवि के स्वाभाविक शील के अनुकूल ही ये शब्द हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' के साहित्य की भावभूमि का स्तर बहुत ऊँचा है, और वे वस्तुतः अमृत पुत्र हैं। 'प्रसाद' जैसे महाकवि के लिए आज मैथ्यू आर्नल्ड जैसे आलोचक की आवश्यकता है जो विश्व-काव्य में तुलनापूर्वक 'प्रसाद' के साहित्य का यथार्थ मूल्याङ्कन कर सके।

साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार—

पीलीभीत के प्रसिद्ध भूमिपति तथा उद्योग-पति साहू जगदीशप्रसादजी ने 'साहित्यकार संसद' को दस हजार की निधि प्रदान की है। इसमें से दसवर्ष तक एक हजार का एक पुरस्कार प्रतिवर्ष हिन्दी की सर्वोत्तम रचना पर दिया जाया करेगा।

इस वर्ष यह पुरस्कार श्री वृन्दावनलाल वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'मृगनयनी' पर दिया गया है। हमें इस पुरस्कार की सूचना से बहुत प्रसन्नता हुई है। वास्तव में 'मृगनयनी' उपन्यास आज ऐसे पुरस्कार के सर्वथा योग्य था, और इस समय इससे महान रचना इन दिनों दूसरी प्रकाश में नहीं आयी। वर्माजी ने 'मृगनयनी' में इतिहास और मानव, संगीत, कला तथा तक्षण, सौन्दर्य और शौर्य का जैसा अनोखा समन्वय प्रस्तुत किया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। बुन्देलखण्डी रंग की स्वाभाविक छाप ने इसे बहुत रोमानी सरस किन्तु सहज बना दिया है—और इतिहास के मृत पात्र सजीव होकर मांसल-सौन्दर्य तथा गति तथा उच्च-भाव भूमि के कारण अमर हो उठे हैं। वर्माजी पुराने साहित्यकार हैं—प्रेमचन्द युग के उपन्यासकार किन्तु अपनी देन में अद्भुत। और 'मृगनयनी' को उनके बुन्देलखण्डी उपन्यासों में सर्व श्रेष्ठ माना जा सकता है। वर्माजी इस पुरस्कार के सर्वथा योग्य थे। हम वर्माजी, संसद तथा पुरस्कार प्रदाता तीनों का इस कार्य के लिए अभिनन्दन करते हैं।

हिन्दी में कुछ नहीं है ?—

"इस बात से तो आज कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे देश में साहित्य-सेवियों का

जीवन अत्यन्त कष्टकाकीर्ण रहा है। जैसा कि आपने अपनी रिपोर्ट में लिखा है। "परतन्त्र तथा विदेशी भाषा से आक्रान्त देश में साहित्य सृजन सघर्ष साध्य ही होता है।" अतः जब तक हमारे देश में विदेशियों का राज्य था हमारे साहित्यकारों को अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। स्वतन्त्र होने के पश्चात् इस बारे में स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु आज भी वैसी स्थिति नहीं है, जैसी अच्छे साहित्य सृजन के लिये होनी चाहिये। यद्यपि हमने यह निश्चय कर लिया है, कि हमारा सार्वजनिक सभी राज-काज हमारे देश की भाषाओं में ही कुछ वर्षों के बाद चलेगा, किन्तु आज भी हमारे यहाँ के शिक्षा शास्त्रियों, शिक्षितों और शिक्षार्थियों के मन से अंग्रेजी भाषा का वह मोह नहीं छूटा, जो अंग्रेजी राज्यकाल में उसके प्रति पैदा हो गया था। जान में या अनजान में हमारे यहाँ के बहुसंख्यक शिक्षितों के मन में यह भाव घर किये हुए है, कि हमारी अपनी भाषाओं में वैसी उच्चकोटि का साहित्य न तो है और न हो सकता है, जैसा कि अंग्रेजी में है। और इस भावना के कारण आज भी उनका लगाव अपनी भाषाओं के साहित्य से कुछ अधिक नहीं है। हमारे साहित्यकारों को जो आर्थिक कठिनाइयाँ सहनी पड़ी हैं और सहनी पड़ रही हैं, उनका एक कारण यही मनोवृत्ति है। क्योंकि इसके कारण हमारे यहाँ उनकी कृतियों का शिक्षित वर्ग में वैसा प्रचार नहीं होता, जैसा कि अन्य देशों में वहाँ के साहित्यकारों की कृतियों का होता है।"

साहित्यकार-संसद प्रयाग में दिये राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी का उपरि-उद्धृत भाषणांश इस बात को प्रमाणित करता है, कि हमारे साहित्य की कठिनाइयों का अधिकांश कारण यह है कि लोगों की यह मनोवृत्ति दूर नहीं हुई है, कि जो कुछ है अंग्रेजी में है हिन्दी में कुछ नहीं है। हमारे अध्यापकों को यह मनोवृत्ति बदलने की बड़ी आवश्यकता है। हमारे साहित्य स्रष्टाओं का भी यह कर्तव्य है कि उत्तम साहित्य सृष्टि कर लोगों की इस धारणा को दूर करें।

कविताओं के रेकर्ड—

बन्धुवर श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी की मस्तिष्क-भूमि बड़ी उर्वरा और उनकी कल्पना बड़ी प्रखर है। हिन्दी साहित्य की उन्नति और हिन्दी प्रचार के लिए समय समय पर वे कितने ही सुझाव देते रहते हैं। अभी आपने एक सुझाव कविताओं के रेकर्ड सम्बन्धी दिया है जिसका हम समर्थन करते हैं—

"हमने किसी पत्र में पढ़ा था कि न्यूयार्क की एक संस्था (बोलिंगन फाउन्डेशन) ने आधुनिक अँगरेजी कवियों की अनेक कविताओं को उन्हीं के स्वरों में रेकर्ड पर लिया है। टी० एस० इलियट, औडिन और कमिंग्स आदि की कविताओं के रेकर्ड बन गये हैं। क्या ही अच्छा हो यदि हमारे यहाँ कोई साहित्यिक अथवा व्यापारिक संस्था इस उदाहरण का अनुकरण करे।"

"कविवर मैथलीशरणजी गुप्त, बच्चनजी, दिनकरजी भगवतीचरण जी वर्मा, गुप्तजी इत्यादि कवियों की चुनी हुई कविताओं के रेकर्ड तैयार करने में कुछ अधिक पैसा तो खर्च होगा नहीं और फिर जितना पैसा लगाया जायगा उससे कहीं अधिक मुनाफे में मिल सकता है। कविवर गुप्तजी से साकेत के सर्वोत्तम अंशों का पाठ कराया जा सकता है बच्चन जी से "वह पग ध्वनि मेरी पहचानी।" तथा "नीड़ का निर्माण फिर फिर" इत्यादि कवितायें पढ़वाई जा सकती हैं। दिनकरजी से हिमालय, और इसी प्रकार अन्य कवियों की कविताओं के रेकार्ड बनाये जा सकते हैं। कोई प्रगतिशील सिनेमा कम्पनी भी इस काम को आसानी से कर सकती है।"

रस-सिद्धान्त और कीथ

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

भारतीय साहित्य में उदात्त चरित्र को लेकर आदर्शोन्मुख रचनाएँ की गईं। पाश्चात्य समीक्षकों की मुख्य आपत्ति यह है कि भारतीय कविता जीवन से सबन्ध नहीं रखती; ब्रह्मानन्द-सहोदर रस काव्य को एकांगी बना देता है। काव्य का सीधा सम्बन्ध जीवन के चित्रण से है, न कि रस की उद्भावना से। रस के आस्वाद के लिए भारतीय नाटक और काव्य में ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये कि जिनसे कृत्रिमता आ गई। किसी भी असुन्दर वस्तु का चित्रण काव्योपयोगी नहीं है, यह धारणा बन गई। जीवन के भयानक तथा अप्रिय पक्षों का आदर काव्य में नहीं किया गया। साथ ही काव्य के लिए सामग्री का निर्देश इतना नपा-तुला और सीमित था कि कविगण जीवन-स्पर्शी काव्य न लिख सके। उन्होंने रस की सिद्धि के लिए आचार्यों द्वारा बताये हुए नियमों का अनुवर्तन किया जिससे मानव-जीवन की अवहेलना हो गई। रस की उद्भावना के लिये कवि-कर्म अत्यन्त सहज समझ लिया गया; विभाव-अनुभावादि की ऐसी स्थूल रेखा खींच दी गई कि कवि जीवन-द्रष्टा न बन सके। आनन्द-पर्यवसायी काव्य ही काव्य समझा गया। कीथ का यह भी कहना है कि रस-सिद्धान्त पर भारतीय दर्शन की छाप है। श्रेष्ठ कार्य का श्रेष्ठ और बुरे कार्य का बुरा फल मिलता है, इस कर्म सिद्धान्त का काव्य पर भी प्रभाव पड़ा। नियति का भयानक संघर्ष और प्रकृति की अज्ञेयता भारतीय नाटक और काव्य से बहिष्कृत कर दी गई। इस कारण भारतीय कविता रसमय तो रही पर जीवन स्पर्शी न हो सकी। अरस्तू ने भी काव्य के प्रयोजनों में मनोरञ्जन का उल्लेख किया है किन्तु यह मनोरञ्जन जीवन की अनुकृति से सम्बद्ध है। यही कारण है कि पाश्चात्य कविता बहुमुखी जीवन-अनुभूतियों को ग्रहण करती है। इसके विरुद्ध भारतीय काव्य में वैचित्र्यमयी ऊहात्मक कल्पनाओं का प्राचुर्य, जीवन की अवहेलना, मनोविज्ञान का अनादर और चरित्र चित्रण की उपेक्षा ही प्रायः देखी जाती है। श्री ए० बी० कीथ ने भारतीय नाटकों की आलोचना के सिलसिले में कालिदास जैसे विश्व-विश्रुत कवि के सम्बन्ध में भी अपने 'संस्कृत ड्रामा' में इस प्रकार के विचार प्रकट किये हैं—

'मानव जीवन के गंभीरतर प्रश्नों लिये कालिदास ने हमारे लिए कोई संदेश नहीं रख छोड़ा है और जहाँ तक हम देख सकते हैं, ऐसे गंभीरतर प्रश्नों ने उनके भी मस्तिष्क में कोई सवाल नहीं पैदा किया। ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त सम्राटों ने जिस ब्राह्मण धर्मानुमोदित समाज-व्यवस्था की स्थापना की थी, उसमें वे (कालिदास) पूर्णतया सन्तुष्ट थे और विश्व की समस्याओं ने कभी उन्हें उद्विग्न नहीं किया। शकुन्तला नाटक यद्यपि मोहक और उत्कृष्ट है तथापि वह एक ऐसी संकीर्ण दुनिया में चलता फिरता है जो वास्तविक जीवन की क्रूरताओं से बहुत दूर है। वह न तो जीवन की समस्याओं का उत्तर देने का प्रयत्न करता है और न उसका समाधान ही खोज निकालने की चेष्टा करता है। यह सत्य है कि भवभूति ने दो कर्तव्यों के विरोध के अस्तित्व की जटिलता और कठिनता के भाव दिखाये हैं और उस विरोध से उत्पन्न दुःख को भी दिखाया है पर उनके ग्रन्थों से भी इसी नियम का प्राबल्य दिखाई देता है कि सब कुछ का अन्त सामञ्जस्य में ही होना चाहिए। ब्राह्मण धर्मानुमोदित-जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों ने नाटकीय दृष्टिकोण में कितनी सङ्कीर्णता लादी है, इस बात को संस्कृत नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है।

यही नहीं, ब्राह्मण धर्मानुमोदित परम्परा को स्वीकार करने के कारण ही 'चण्ड कौशिक" जैसे नाटक लिखे जा सके हैं जहाँ एक अभागे राजा को दान शीलता से उत्पन्न ऋषि विश्वामित्र की विद्विसजनोचित प्रतिहिंसा से तर्क और मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोहाचरण हुआ है।" *

इस उद्धरण पर विचार करते हुए डा० द्विवेदी कहते हैं—"यह नहीं कहा जा सकता कि कीथ ने जो बातें कही हैं, वे गलत हैं। गलत है उनकी दृष्टि भङ्गी। सचाई गलत ढङ्ग से देखी जाने पर अवहेलनीय हो जाती है। जो मनुष्य मानता है कि यह ससार क्षणभगुर है, इस परिवर्तमान क्षणभगुरता के बाह्य आवरण के भीतर एक चिरन्तन सत्ता है जो सब सत्यों का सत्य है, और जिसे आश्रय करके ही बाह्य जगत् की सत्ता प्रतिभान हो रही है, वह जीवन के गभीरतर प्रश्नों की बात मानता ही कहाँ है कि उसका उत्तर देता फिरे ? उसके मन से तो जीवन के गभीरतर प्रश्नों का समाधान हो गया रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। जिसे जीवन कहा जाता है, वह भारतीय कवि की दृष्टि से कर्मबन्ध के भोग के लिए एक क्षणिक पड़ाव है। मनुष्य का शाश्वत निवास यह कर्म प्रपञ्चमूलक जगत् नहीं है। धन और यौवन की समस्याएँ जीवन के गभीरतर प्रश्न तो हैं ही नहीं, उनका मूल्य स्वप्न में देखे हुए सुख स्वप्न के समान नितान्त क्षणभगुर है। वास्तविक और गहन प्रश्न है इस लोक से बाहर का। भारतवर्ष का कवि उस पर ही दृष्टि जमाता है। वस्तुत यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस अनुभव करना चाहे तो उसे भारतवर्ष के इन चिरसञ्चित सस्कारों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। जब हम देश और काल के इन विश्वासों को ठीक-ठीक समझ लेंगे तभी उनके आधार पर रचित साहित्य के अनाविल रस रूप का परिचय पा सकेंगे। श्री कीथ जैसे विद्वान् को भी जब हम विचलित होते देखते हैं तो लगता है कि अभी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। एक क्षण के लिए सोचिए कि यदि आप भी ग्रीक ट्रेजेडी को उसी प्रकार भारतीय सस्कारों के चश्मे से देखें तो आलोचना कुछ इस प्रकार की होगी—

"ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार भी माया जन्य भ्रममूलक बातों को ही जीवन का गभीरतर प्रश्न समझते रहे। इस निरन्तर परिवर्तमान जगत् के भीतर भी एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय 'सत्' है जो प्रकृति के भासमान विकारों से एकदम निर्लिप्त है, यह सहज सी बात कभी उनके मस्तिष्क में आई ही नहीं। ट्रोजन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गए, वे कभी भी जीवन के वास्तविक गाम्भीर्य तक पहुँचे ही नहीं। वे और उन्हीं के आदर्श पर लिखे गये उत्तरकालीन अंग्रेजी नाटक, एक ऐसे उद्देश्यहीन मायाजाल में उलझे हुए छटपटाते रहे जहाँ पर पद-पद पर परस्पर विरुद्ध जाने वाले कर्तव्य द्वन्द्व उन्हें सताते रहे और अन्त तक वे किसी सामञ्जस्य-मूलक जागतिक व्यवस्था का पता न लगा सके। ग्रीक विचारधारा ने नाटकीय दृष्टि को कितना विशृङ्खल बना दिया है, इस बात को यूरोपियन नाटकों का समूचा इतिहास बड़े स्पष्ट रूप में दिखा देता है।"

कहना बेकार है कि इस प्रकार की आलोचना से हम ग्रीक साहित्य के सौन्दर्य को खो देंगे। सचाई भी गलत ढङ्ग से प्रकट करने पर झूठ हो जाती है।*

डा० द्विवेदी की भाँति काव्य साहित्य पर राष्ट्रीय सस्कारों की छाप का उल्लेख स्व० प्रसादजी ने भी किया है। यह निश्चय है कि काव्य में राष्ट्र की स्थायी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी ने इसका एक सुन्दर उदाहरण

* द्रष्टव्य 'साहित्य का मर्म' (श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० ३३

* द्रष्टव्य 'साहित्य का मर्म' पृ० ३४-३५

भी दिया है :—'यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है। इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है माया स्त्री धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।' देशान्तर और जात्यन्तर से इस प्रथा में भिन्नता भी पाई जाती है। इसलिए काव्य के देश-जाति-गत कुछ स्थायी उपलक्षण मानने पड़ते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में वैयक्तिक स्वाधीनता और सामाजिक विद्रोह की भावना अत्यन्त विरल है। इसका मुख्य कारण जन्मान्तर व्यवस्था तथा कर्मफलवाद में ढूँढा जा सकता है। "ईसवी सन् के आरम्भ में कर्मवाद का विचार भारतीय समाज में निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया था। जो कुछ इस जगत् में हो रहा है, उसका एक अदृष्ट कारण है, यह बात निःसंदिग्ध मान ली गई थी। जन्मान्तर-व्यवस्था और कर्मफलवाद के सिद्धान्त ने ऐसी जबरदस्त जड़ जमा ली थी कि परवर्ती युग के कवियों और मनीषियों के चित्त में इस भौतिक व्यवस्था के प्रति भूल से भी असन्तोष का आभास नहीं मिलता। जन्मान्तरवाद के निश्चित रूप से स्वीकृत हो जाने के कारण प्रचलित रूढ़ियों के विरुद्ध तीव्र सन्देह एकदम असंभव था। कवि कठिन से कठिन दुःखों का वर्णन पूरी तटस्थता के साथ करते थे और ऐसा शायद ही कभी होता था जब कोई कवि विद्रोह के साथ कह उठे कि यह अन्याय है, हम इसका विरोध करते हैं।"×

किन्तु आज समय ने पल्टा खाया है। आज हम ऐसे वैज्ञानिक युग में रह रहे हैं जहाँ वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण देश-गत दूरी अत्यल्प रह गई है। यातायात की सुविधा, रेडियो, प्रेस तथा अन्य आधुनिक सुविधाओं के कारण आज का साहित्यिक विश्व की विचार धाराओं से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। यह सच है कि प्राचीन भारतीय नाटकों और काव्यों में वर्गगत चरित्रों की ही सृष्टि अधिकांश में हुई है, किन्तु प्रसाद के नाटकों और काव्यों में, श्री अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' जैसे उपन्यासों में तथा श्री जैनेन्द्र का अनेक कृतियों में व्यक्तिगत चरित्रों की भरमार है। आधुनिक नाटकों में भी घटनाओं का घातप्रतिघात तथा अंतर्द्वन्द्व ही विशेष आकर्षण की वस्तु है। कीथ ने संस्कृत नाटकों और काव्यों के जिस अभाव की ओर संकेत किया था, उसकी पूर्ति आधुनिक साहित्य द्वारा हो रही है। श्री दिनकर के शब्दों में "छायावाद हिन्दी में उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट था। यह केवल साहित्यिक शैलियों के ही नहीं, अपितु समग्र जीवन की परम्पराओं, रूढ़ियों, शास्त्र-निर्धारित मर्यादाओं एवं मनुष्य की चिन्ता को सीमित करने वाली तमाम परिपाटियों के विरुद्ध जन्मे हुए एक व्यापक विद्रोह का परिणाम था और मनुष्य की दबी हुई स्वतन्त्रता की भावना को प्रत्येक दिशा में उभारने वाला था।" और फिर आधुनिक युग का प्रगतिवाद तो जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद पर प्रबल कुठाराघात कर रहा है। नवीन जैसा कवि तो जगपति तक का टेंटुआ घोंटने के लिए अपने विचार प्रकट कर चुका है। जिस दिन वह मनुष्य को लपक कर जूठे पत्ते चाटते हुए देखता है, उसके मन में इच्छा होती है, कि आज मैं इस दुनिया भर को आग क्यों न लगा दूँ। इतना ही नहीं, वह यह भी सोचता है—

"यह भी सोचा, क्यों न टेंटुआ,
घोंट स्वयं जगपति का।

× देखिए हिमालय संख्या २ में श्री दिनकर का लेख 'हिन्दी कविता में वैयक्तिकता का उत्थान' पृष्ठ २२

जिसने अपने ही स्वरूप को रूप,
दिया इस घृणित विकृति का।"

आधुनिक साहित्य में जो विद्रोह की भावना आज जग रही है, वह स्पष्ट ही वर्तमान युग का प्रभाव है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। प्राचीन साहित्याचार्यों ने नाटकों और काव्यों को नियमों की जिन मर्यादाओं में बाँध दिया था, आज के साहित्यकार उन्हें शृङ्खलाएँ समझकर छिन्न-भिन्न कर रहे हैं, और यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि किसी भी साहित्यकार पर युग का प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। आलोचना के भी नये-नये प्रकार आज चल रहे हैं, मनोविश्लेषण तथा मार्क्सवाद को लेकर साहित्यिक कृतियों का समीक्षण किया जा रहा है, समीक्षा के पुराने सिद्धान्तों की जड़ें हिल रही हैं, किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी रस-सिद्धान्त अपना सिर ऊँचा किये हुए है, उसकी नित नये ढङ्ग से व्याख्या हो रही है। भारतीय-समीक्षा में रस सिद्धान्त का वास्तव में बड़ा महत्त्व है। रस सिद्धान्त एक प्रकार से काव्यानन्द का ही सिद्धान्त है। पाश्चात्य समीक्षा काव्यगत आनन्द और नीति के ऊहापोह में व्यस्त रही किन्तु भारतीय आचार्यों ने आनन्द पक्ष को इतनी ऊँची भूमि पर पहुँचा दिया था कि नीति-सम्बन्धी संशय के लिए इसमें स्थान ही नहीं रह गया। आनन्द-पक्ष के अन्तर्गत ही नैतिक पक्ष का भी समाधान हो गया। इन विशेषताओं के होते हुए रस की कल्पना को एकांगी और संकीर्ण नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य समीक्षा भाव-पक्ष और कला पक्ष के समन्वय की समस्या में व्यस्त रही। बड़ी कठिनाइयों के बाद क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद वस्तु और रूप की एकता पर पहुँच सका किन्तु भारतीय आचार्यों ने रस सिद्धान्त के द्वारा रूप और वस्तु का समन्वय अधिक सुदृढ़ आधार पर किया है।

(पृष्ठ ३६२ का शेष)

को लक्ष्य कर नहीं चलती, न आज शत्रु को अभिभूत, अपमानित या पददलित करने में ही हम अपने वीर कर्म की इतिश्री समझते हैं। शत्रु के व्यक्तित्व के विरुद्ध नहीं, उसकी नीति के विरुद्ध ही हमारे युद्ध की घोषणा होती है। व्यक्ति रूप से तो आज सारा संसार हमारा बन्धु है—एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर। विश्व बन्धुत्व का यह आदर्श अभिनय छायावाद में सम्यक रूपेण मुखरित हुआ है। आज जब हमारी यह स्थिति है कि—

देखा दुखी एक भी भाई,
दुःख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे,
झट उमड़ वेदना आई।"

तो यह नितान्त असंभव है कि हम किसी व्यक्ति अथवा समाज विशेष से शत्रुता रक्खें, मुसलमान हमारे बन्धु हैं, अंगरेज हमारे मित्र। यदि हमारा विरोध है तो उनकी भूलों से—उनकी भ्रान्त नीति से। ठीक उतना ही जितना हमें अपनी कमजोरियों के प्रति विद्रोह है। इस चेतनाधार को लेकर चलने वाला वीर-काव्य कभी हिंसा का प्रतिपादन नहीं कर सकेगा और न उसमें कटुता ही होगी। वह उत्कृष्ट, श्रेष्ठ वीरता का उच्छ्वास होगा, जिसमें हिंसा के बदले आत्म बलिदान, विध्वंस के बदले निर्माण और द्वेष एवं कटुता के बदले प्रगतिशीलता तथा प्रेम की ही भावना का प्राधान्य होगा। हिन्दी कविता ने इस युग में इस उच्चादर्श को प्राप्त किया है।

इधर जो कविताएँ लिखी जा रही थीं उनमें 'जय हिन्द' के भावों का पूर्ण प्रभाव था और हिन्दी के सभी कलाकारों ने अपनी कविता का विषय इसे बनाया। इसके बाद गांधीजी और उनके सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक कविताएँ भी लिखी जाने लगीं और कई काल-ग्रन्थ भी निकले। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे वीर-काव्य पर राजनीति का विशेष प्रभाव पड़ा और सर्वदा पड़ता रहेगा। आशा है, हिन्दी का वीर काव्य अपने पथ पर अग्रसर होता रहेगा। एवमस्तु।

'डिंगल' शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास

श्री गणपतिचन्द्र गुप्त

राजस्थानी भाषा के प्राचीन शब्दों की व्युत्पत्ति के कारणों को लेकर समय-समय पर वादविवाद हुये हैं। 'रासो' 'डिंगल' आदि शब्द ऐसे ही हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा और उनकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना अपना अलग मत प्रगट किया। 'रासो' शब्द की समस्या तो फिर भी बहुत कुछ हल हो गई, पर डिंगल शब्द अभी तक अपनी डिंगलता पर अड़े चल रहा है। विद्वानों ने इसका सम्बन्ध डगल-पत्थर आदि शब्दों से लेकर महादेवजी तक स्थापित किया तो भी इसकी समस्या हल नहीं हो पाई है। विभिन्न विद्वान इसकी व्युत्पत्ति ढूँढने के लिये किस प्रकार कल्पना के पखों पर उड़े हैं, और फिर कितने हल्के या भारी तथ्य लेकर नीचे उतरे हैं, यह सब कुछ देखने के लिये हमें अब तक के उपस्थित सभी तर्कों एवं कारणों पर थोड़ी दृष्टि डालनी पड़ेगी।

सबसे पूर्व डा० एल० पी० टैसीटरी ने अपना मत देते हुए लिखा हैं कि—डिंगल शब्द का वास्तविक अर्थ है अनियमित अथवा गँवारू। यह भाषा व्रजभाषा की अपेक्षा अनियमित अथवा गँवारू है इसीलिये इसका यह नाम पड़ा। दूसरा मत श्री म० म० पं० हरप्रसादजी शास्त्री का है जिसके अनुसार डिङ्गल शब्द 'डगल' शब्द से बना है। आपने अपने मत की पुष्टि के लिये चौदहवीं शताब्दी के एक प्राचीन पद का अंश भी उद्धृत किया है जो उन्हें कविराजा मुरारीदान से प्राप्त हुआ था। तीसरा मत श्री गजराजजी ओझा का है जिसके अनुसार 'ड' अक्षर की प्रधानता ही डिंगल नाम का आधार है। चौथा मत श्री पुरुषोत्तदास स्वामी का है जिन्होंने 'डिंगल' को डिम् और गल दो टुकड़ों में बाँट कर उनसे डमरू और गला अर्थ सिद्ध किया है। डमरू महादेवजी का बाजा है और महादेवजी वीर-रस के देवता हैं अतः वीर-रस वाली भाषा का नाम डिंगल होना निश्चित ही था। इनके अतिरिक्त श्री मेनारियाजी ने इसका कारण यह बताया है कि चारणोंने इस भाषा में बहुत डींग हाँकी इसी लिये डिंगल नाम पड़ गया। श्री चन्द्रधरशर्मा गुलेरी के अनुसार इस शब्द का कोई अर्थ नहीं है केवल पिंगल के साम्य पर ही 'डिंगल' शब्द बना लिया गया है। पर उपर्युक्त सभी मतों की विवेचना करते हुये श्री उदयनारायणजी तिवारी ने इन्हें निराधार और न मानने योग्य ठहराया है। आपने 'वीर काव्य समह' में इन मतों के सम्बन्ध में जो मत प्रगट किया है वह सर्वथा सुसंगत मालूम पड़ता है। वास्तव में हम डिंगल भाषा को अशिक्षित मनुष्यों की भाषा नहीं कह सकते और नहीं डगल पत्थर या महादेव जी को इस नामकरण का उचित कारण ही कह सकते हैं। तो यह सब कुछ देखने पर स्पष्ट है कि इस शब्द का अर्थ और ही कुछ है।

वास्तव में एक भाषा के नाम सूचक शब्द की विवेचना करते समय एक महान् तथ्य की उपेक्षा न कर देनी चाहिये। वह सबसे बड़ा तथ्य जो प्रत्येक भाषा के नाम पर लागू होता है यह है कि भाषाओं के नाम उसके देश या स्थान विशेष के नाम पर बनते है। प्रमाण के लिए कुछ शब्द लीजिये:—

१—विदेशी भाषायें—इङ्गिलिश, फ्रैञ्च, फारसी, अरबी।

२—देशी भाषायें—बँगाली, गुजराती, अवधी, व्रज।

३—राजस्थानी भाषायें—मारवाड़ी, ढूँढाड़ी, आदि-आदि।

इसी तरह देखा जाता है कि बहुधा भाषाओं के नाम का आधार वहाँ का प्रदेश विशेष ही होता है। अतः 'डिंगल' शब्द का आधार भी राजस्थान का एक प्रदेश या स्थान विशेष का नाम ही है। राजस्थान में बहुत पहिले कोई 'डगल' नाम का अत्यन्त छोटा सा प्रदेश था जो अब शायद इतिहास के गर्त के कारण लुप्त हो गया है। इसी डगल के रहने वालों की भाषा डिंगल कहलाई। राजस्थान के इतिहास में कभी 'डगल' नाम का प्रदेश विशेष था या नहीं इसके प्रमाण के लिए हम श्री हरप्रसादजी शास्त्री वाला दोहा ले सकते हैं। यद्यपि शास्त्रीजी ने इस दोहे का अर्थ बताने का कष्ट नहीं किया पर हमारी समझ में उसका जो अर्थ हो सकता है वह नीचे दिया जाता है।

दोहा—दीसे जगल डगल जेथ जल बगल चाटै।
अनहुँता गल दिये गलहुँता गल काटै॥

शब्दों का अर्थ—

दीसे = दिखता है।
जगल = जंगल, बन।
डगल = प्रदेश या स्थान विशेष का नाम।
जेथ = जहाँ
जल = पानी
बगल = राजस्थान का एक पक्षी।
चाटै = चाटना
अनहुँता = अनहोनी बात। जो बात कभी नहीं हुई हो।
गलदिये = गल देना यानी कहना या प्रचारित करना।
गल हुँता = गले से। 'हुँता' शब्द अपादान कारक का विभक्ति चिह्न है।
गल काटै = 'गल' एक आभूषण विशेष का नाम है जो गले में पहिना जाता है जिसे कई स्थानों पर 'गल पटिया' भी कहते हैं। काटै यानी काटना।

प्रसंग—ऐसा मालूम होता है कि इन पंक्तियों का लेखक 'डगल प्रदेश' में कुछ समय तक रहा था। वहाँ उसे कई कटु अनुभव हुए जैसे राज्य की अव्यवस्था, पानी की कमी, अनर्गल बातों का प्रचारित होना, और जगह-जगह लूट पाट। इन्हीं कारणों से उसने डगल प्रान्त की निन्दा में ये पंक्तियाँ निर्मित कीं।

भावार्थ—

डगल प्रदेश जंगल के समान दीखता है। बगलें वहाँ पानी चाटती हैं (अतः भला मनुष्यों को पानी कहाँ से मिलेगा) लोग व्यर्थ में अनहोनी बातों को प्रचारित कर देते हैं (जो वहाँ के निवासियों के अन्ध-विश्वासी होने का प्रमाण है।) और (रास्ते चलते हुए) लोगों के गले से आभूषण (गल पटिये) काट लिये जाते हैं।

अतः दोहे के अर्थ से स्पष्ट है कि लेखक डगल-प्रदेश में रह चुका था। दूसरे यहाँ 'डगल' शब्द का अर्थ सिवा किसी प्रदेश विशेष के नाम के और कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। अतः हमें उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि डगल प्रदेश की बोली का नाम ही *डिंगल* है जो धीरे धीरे बहुत व्यापक बन गई है। बहुत सम्भव है कि यह डगल प्रदेश अब भी कहीं राजस्थान में इधर-उधर छोटे-मोटे गाँव के रूप में वर्तमान हो, या समय के अन्धकूप में पड़ कर सर्वथा विलीन होगया हो पर यह स्पष्ट है कि इतिहास में कई शताब्दियों पूर्व इसका जन्म अवश्य हुआ था।

अन्त में हम विद्वानों से आशा करेंगे कि वे अपना श्रम व्यर्थ की कल्पनाओं को दौड़ाने में न लगा कर उक्त स्थान (डगल) की स्थिति ऐतिहासिकता आदि-आदि खोज निकालने में लगावेंगे जो शायद ज्यादा श्रेयस्कर होगा।

हिन्दी का वीर-काव्य

श्री कृष्णकुमार सिन्हा

भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में आठ रसों का उल्लेख किया है—

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-भयानकाः ।
बीभत्साऽद्भुत संज्ञौ चे पष्ठी नाट्ये रसाः स्मृता ॥

इसके अतिरिक्त, उन्होंने अन्तर्धारा के रूप में सदा विराजमान रहने वाले मनोभावों का भी उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं—

रस	स्थायी भाव
शृङ्गार	रति
हास्य	हास
करुण	शोक
रौद्र	क्रोध
वीर	उत्साह
भयानक	भय
बीभत्स	जुगुप्सा (घृणा)
अद्भुत	विस्मय।

इन रसों में मुख्य—वीर शृङ्गार, रौद्र तथा बीभत्स हैं और इन्हीं से क्रमशः हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक रस की स्थिति मानी गई है। इन रसों में वीर रस का स्थान ऊँचा रहा है। वीर रस की सृष्टि आदि-काल में ही हुई, और उसकी मन्दाकिनी अब तक बह रही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शत्रु का उत्कर्ष, उसकी ललकार आदि से किसी व्यक्ति के हृदय में उसको मिटाने के लिए जो उत्साह उत्पन्न होता है, उससे वीर रस की उत्पत्ति होती है। ऐसे तो प्रत्येक रस में उत्साह की मात्रा विद्यमान रहती है, पर किसी भाव का वेग ही उत्साह नहीं है। वेग की दो धाराएँ हैं—एक सुखात्मक और दूसरी दुखात्मक। परन्तु सुखात्मक अनुभूति ही उत्साह है। रसों की व्यापकता उसके विस्तार से आंकी जाती है, और समस्त साहित्य के इतिहास का जन्म वीर-रस की कहानी से भरी हुई है। संसार साहित्य के शैशव-काल में—चाहे वह ग्रीक साहित्य हो या लेटिन साहित्य, संस्कृत हो या अरबी, अंग्रेजी हो या फ्रेन्च—सबमें वीरत्व का वैभव बिखरा हुआ है। केवल हिन्दी साहित्य के आदि काल में ही वीरता का नाद नहीं गूँजा बल्कि संसार के समस्त साहित्य का उद्भव—वीरता की गोद में हुआ है।

सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्यों में लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जब तक मनुष्य वर्बरावस्था में जीवन यापन कर रहा था तब तक आपस में मल्लयुद्ध करके अपनी वीर प्रवृति को शान्त किया। जैसे जैसे मानव सभ्यता के सोपान पर अग्रसर होने लगा, वैसे वैसे वीर-रस का भी क्रमिक विकास हुआ।

प्राचीन ग्रन्थों में वीर-रस को चार भागों में विभक्त किया गया है—युद्ध वीर, दानवीर, धर्मवीर, दयावीर। इसके अलावे और भी हैं, पर वे सब इन्हीं के अन्तर्गत अन्तर्भाव माने गए हैं। हमारी दृष्टि से यह भेद असगत प्रतीत होता है। कर्मवीर चाणक्य को हम युद्धवीर नहीं कह सकते, न सत्य-वीर हरिश्चन्द्र को धर्मवीर ही। यों तो हमारे साहित्य में इन चारों प्रकार के वीरों का वर्णन हुआ है, पर युद्धवीर का विशद-वर्णन है। युद्धवीर वर्णन में तो अनेक प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों की रचना हुई पर अन्य वीरों की प्रशस्तियाँ प्रबन्ध में नाम मात्र के लिए हुआ है।

राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार हिन्दी साहित्य का इतिहास चार कालों में विभाजित किया जाता है। वह इस प्रकार है—

क—आदिकाल (वीरगाथा काल, संवत् १०५० से १३७५)

ख—पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, सवत् १३७५ से १७००)

ग—उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, सवत् १७०० से १६००)

घ—आधुनिक-काल (गद्यकाल, सवत् १६०० से अब तक)

यों तो जिस काल में जिस साहित्यिक प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा, उसी पर नामकरण हुआ है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि इन कालों में वीर-काव्य की रचना नहीं हुई। इसका पूर्ण विवेचन काल विशेष में किया जाता है।

आदिकाल वीर गाथा-काल के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। रस की दृष्टि से इस काल की रचनाएँ वीर-रस प्रधान हैं। यह युग युद्ध का युग रहा, क्योंकि इसका जन्म ऐसे समय में हुआ जब क मुसलमानों के आक्रमण निरन्तर होते रहे। अन्तिम गुप्त सम्राट हर्ष की मृत्यु के अनन्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया तथा साम्राज्य-भावना देश से तिरोहित हो चली। फलस्वरूप अनेक छोटे-मोटे राजपूत-राज्य—गहरवार, चौहान चंदेल और परिहार आदि—पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित हो गये। वे सब अपने गौरव तथा प्रभाव की वृद्धि के कारण आपस में लोहा लिया करते थे। यह सिर्फ शौर्य प्रदर्शन के रूप में था। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तराग्य एक रणक्षेत्र बन गया। वीर अपने शौर्य को दरसाने में तल्लीन हो गये, तथा उन वीरों की प्रशस्ति लिखने वाले राज्याश्रित कवियों ने कीर्तिगान की बाँसुरी बजाई। वे अपनी कीर्तिगान की बाँसुरी से उनके शौर्य, पराक्रम और प्रताप का गुण-गान करते थे तथा अपनी वीर-रस से परिपूर्ण रचनाओं के द्वारा वीरों को उत्साहित किया करते थे। ये राज्याश्रित कवि चारण या भाट कहलाते थे। वे सब राज्य-दरबार में रहा करते थे, तथा अपने आश्रयदाताओं के विजयगान और विरुदावलियाँ गाया करते। इनकी रचनाएँ ख्यात ख्यात+ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस समय राजस्थान राजनीति का रङ्गमञ्च होते हुए भी साहित्य का रङ्गमञ्च था तथा उन ख्यातों की भाषा अधिकांश प्राचीन मारवाड़ी है। दृष्टान्त-स्वरूप यह पद्य है—

> धोम कुँवर मारियाँ राव नाहण रीसाणो।
> गौ आमल सींधला साँग सूँ द्रोह कहाँगो॥*

अर्थात्—"धोम ने कुँवर को मार डाला जिससे उसका पिता नाहड़ नाराज हुआ, इसलिए धोम की असल जाति सींधला में जा बसी और उसी समय से दोनों में द्रोह उत्पन्न हो गया।"

जब समय 'सन् १४०० के बाद कबीर का निर्गुण वाद, १५५० के बाद तुलसी और सूर का भक्ति प्रधान सगुणवाद प्रारम्भ हो गया था, तथापि उस समय भी राजस्थान में चारणों की वीर गाथा का अन्त नहीं हुआ था। इसी काल के प्रारंभिक भाग में हमें अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी का प्रथम रूप मिलता है जिसमें खुमान रासो और वीसलदेव रासो की रचना हुई।' इसका आदि-रूप नालन्दा तथा विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौधधर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार में मिलता है।× 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में से हुए हैं और वे अपने मत का संस्कार डालने के लिए सुसंस्कृत भाषा के प्रयोग के साथ साथ अपनी अपभ्रंश मिश्रित देश भाषा या काव्य भाषा का ही प्रयोग करते थे। यह भाषा

+ख्यात—राजपूताने की भाषा में ख्यात (ख्याति) का अर्थ इतिहास है।

* ख्यात मुहणोत नैणोत नैणसी Page 27. Prose Chronicles of Jodhpur collected by Dr. L. P. Testimoney.

× हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ—त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मग ही । इसका सर्व प्रथम कवि सरहपाद या सरहा है। मागधी से निकलने के कारण डा० विनयतोष भट्टाचार्य्य ने सरहा को बङ्गाली का प्रथम कवि माना है[1] पर नालान्दा तथा विक्रमशिला की भाषा स्पष्ट बिहारी है। इसके अतिरिक्त उनका कथन भ्रमपूर्ण है क्योंकि उपर्युक्त स्थान बङ्गाल में नहीं है। यह संध्या भाषा के नाम से प्रचलित है।[2] उदाहरण के लिए नीचे की पंक्तियाँ देखिये—

पंडिअ सअल सत्त वक्खाणइ।
देहहि बुद्ध वसन्त न जाणई।
अमणागमन ण तेन विखंडिअ।
तोपि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।
× × ×
नाद न विन्दु न रवि न शशि मण्डल।
चिअराअ सहावे मूकल।
उजुरे उजु छाड़ि मा लेहु के वंक।
निअहि वोहि मा जाहु रे लंक॥

पर काशीप्रसाद जयसवाल का कथन है कि सन्ध्या नामक भाषा मिथिला के निकट संवत् ६७ के आसपास प्रचलित रही और उसका साहित्यिक रूप संवत् ८०० के आसपास प्रकट हुआ।

हिन्दी का प्रारम्भिक रूप अपभ्रंश ही था और इसी में खुमान रासो और बीसलदेव रासो की रचना हुई। चारण काल वीर रस के काव्यों से भरा पड़ा है। ये रचनाएँ हमें दो रूपों में उपलब्ध हैं—एक मुक्तक रूप में और दूसरी प्रबन्ध रूप में। यह प्रबन्ध काव्य भी दो प्रकार के दिखाई देते हैं एक में लम्बे जीवन वृत्त हैं और दूसरे में वीरगीतों (Ballads) के रूप में। प्रबन्ध काव्य की श्रेणी के अन्तर्गत—खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक, जसचन्द्रिका आदि ग्रन्थ हैं और वीर-गीतों में—वीसलदेव रासो आल्हा आदि हैं। ये सब ग्रन्थ 'रासो' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग रासो का सम्बन्ध रसायन और कहीं-कहीं रास (आनन्द) से लगाते हैं। इसके अलावे इसका सम्बन्ध रहस्य से भी बतलाया गया है।

यहाँ एक बात और। इन वीर काव्यों में शृंगार का पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है, क्योंकि प्रायः किसी की सुन्दर कन्या का पता चलते ही वह उपहार स्वरूप माँगी जाती थी और न मिलने पर युद्ध की भूमि तैयार हो जाती थी। इसका अर्थ यह है कि ये युद्ध मूल में प्रेम द्वारा प्रेरित होते थे। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में 'प्रेम और युद्ध' (Love and War) की अनेक कथाएँ हैं उसी प्रकार हिन्दी वीर-काव्य में भी। हमारा हिन्दी का आदिकाल भी इसी को लेकर आगे बढ़ा।

नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' वीरगीत के रूप में है। इसमें वीर और शृङ्गार का संकट है। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता है, वीर रस का किंचित् आभास मात्र है। कवि ने सिर्फ संयोग तथा वियोग का ही गान गाया है—

कुँवरि कहइ सुणि, साँमरया राव।
काइँ स्वामी तू उलगइँ जाइ?
कहेउ हमारउ जइ सुणेउ।
थारइ छइ साठ अँतेवरी नारि॥
कड़वा बोल न बोलिस नारि।
तू मो मेल्हसी चित्त विसारि॥
जीभ न जीभ विगोयनो।
दव का दाधा कुपली मेल्हइ॥
जीभ का दाधा नु पाँगुरइ।
नाल्ह कहै सुणीजइ सब कोइ॥

ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी कोई घटना ठीक नहीं है, इसमें काव्यात्मक गुण का भी नितान्त अभाव है। इस पुस्तक की रचना सिर्फ गान के लिये हुई है।

[1] J. B& R. S. LX—XXLI, page 247
[2] काशीप्रसाद जायसवाल का भाषण

प्रबन्ध काव्य में 'पृथ्वीराज रासो' है। यह हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य है। यह महाकवि चन्दबरदाई का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ में ६६ समय अर्थात् अध्याय हैं। इसमें पृथ्वीराज का शोर्य शहाबुद्दीन से युद्ध, उसे पराजित कर अपनी उदारता तथा वीरत्व का आदर्श रख छोड़ना आदि का सुन्दर वर्णन है। इस पुस्तक की प्राचीनता पर बूलर ने सन्देह किया है। उसके अनुसार निम्न-लिखित आधार है—(क) जयनिक कवि रचित संस्कृत काव्य 'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर इसकी वर्णित घटनाओं में सत्य नहीं है। (ख) तिथियों में उलट फेर (ग) ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं मे भूल और (घ) भाषा की अर्वाचीनता। सुप्रख्यात इतिहासवेत्ता रायबहादुर श्री पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने भी इसकी प्राचीनता पर सन्देह किया है, पर मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने रासो के असली होने के पक्ष में अपने मत को प्रस्तुत किया है। खैर हमें इस विवाद ग्रस्त विषय के जाल में नहीं पड़ना है। पृथ्वीराज के समय मुहम्मद गज़नवी भारत पर चढ़ आया था, सोमनाथ का मन्दिर लूटा जा रहा था पर जनता आध्यात्मिक ज्ञान की साधना और उसके उपार्जन में लगी हुई थी। पृथ्वीराज शाह से लोहा ले रहे हैं। साह पराजित होते हैं। पकड़े जाते हैं। इसका सजीव वर्णन कवि ने यों किया है—

हुर य रंग रक्त वर भयो जुद्ध अति चित्त।
निस-वासर समुझि न परत न को हार नह जित॥
जीति भई पृथिराज की, पकरि साह ल संग।
दिल्ली दिसि मारगि लगौ, उतरि घाट गिरि गंग॥
वर गोरी पदमावती, गहि गोरी सुलतान।
निकट नगर दिल्ली गये, पृथीराज चहुँआन॥

'पृथ्वीराज रासो' के उपरान्त हमारी दृष्टि जगनिक रचित आल्हखंड पर पड़ती है। यह एक वीर-गीत काव्य है। यह इतना सर्वप्रिय हुआ कि इन वीर-गीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में—अधिकतर उन सब देशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत थे—हुआ। यह गीत आल्हा-ऊदल के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह विशेषतः ग्रामों में बरसात के दिनों में गाया जाता है। गाँवों में अभी भी 'ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीर हुँकार सुनाई' देती है—

बारह बरिस लै कूकर जीऐं
औ तेरह लै जिये सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं,
आगे जीवन के धिक्कार॥

कितनी जोशपूर्ण पंक्तियाँ हैं! हृदय के तार तार फड़क उठते हैं। वीरत्वपूर्ण वाणी की संगीतात्मक अभिव्यक्ति—जनता के कंठ में हुई है तथा जनता की जिह्वा पर उतर कर उसका रूप बदल गया। समय और परिस्थिति के अनुसार भाषा में परिवर्तन हुआ तथा वस्तु में भी बहुत अधिक उलट फेर हो गया है। अतुरां, इस काल की अन्य छोटी-मोटी साहित्यिक सामग्री तथा डाक्टर एस० पी० टेसीटरी द्वारा संकलित 'एडिसिक्प्टिव केटलॉग ऑफ़ बार्डिक एण्ड हिस्टारिकल मैन्युस्क्रिप्ट' (A discriptive catelogue of bardic and historical Manuscript) के अध्ययन के उपरान्त हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस युग के काव्यांगों पर राजनीतिक वातावरण का अप्रत्यक्षतः प्रभाव पड़ा है। इस युग में वीर-भावना का आधार है—राजा विशेष जिसके संरक्षण में चारण अपना जीवन यापन कर रहे थे। इन रचनाओं में वीर रस का प्राधान्य अवश्य रहा है, पर साथ ही-साथ उसमें चारण या भाट के संरक्षकों के व्यक्तित्व की प्रशंसा तथा उनका कीर्तिगान भी है। उन संरक्षकों की तुलना ईश्वर से की गई है। अतः इस प्रकार की भावना को हम वीर पूजा (Hero worship) कह सकते हैं। राज्याश्रित कवि के सम्मुख उनके संरक्षक ही सब कुछ है, यथा—

गरव करि ऊभो छड़ साँभरयो राव।
मो सरीसा नहीं उर भुवाल॥
म्हाँ घरि साँभर उग्गहई।
चिहुँ दिसि थाण जेसल मेर॥
—वीसलदेव रासो।

इन रचनाओं में जो भी हो, इससे हमें कोई सम्बन्ध नहीं। पर हमें यह भली भाँति विदित है, कि वीरता की यह ध्वनि शृङ्गार के प्रांगण में हो रही थी। एक तो आदि-काल का साहित्य उपलब्ध है ही नहीं, पर उसी के आधार पर यह कहना पड़ता है, कि इन राजाओं ने अपनी वासना की पूर्ति के लिए या राज्य-हरण की लालसा के कारण ही युद्ध किया है। यह स्पष्ट है कि भारत की वीर-भावना इतनी सुसस्कृत न हो पायी थी कि उसमें समग्र भारत का स्थान हो! यहाँ तो भारत का प्रत्येक नरेश अपने स्वार्थ में लिप्त था तथा इसी कारण देश में सर्वव्यापी संघर्ष और कलह थी। वे नरेश अपनी रक्षा स्वयं न कर सकते थे। तथा बेवस होकर उन्हें एक दूसरे नरेश के सामने सर झुकाना पड़ता था। और यही कारण है कि आदि-काल की रचनाओं में वीरत्व की भावना व्यक्तिगत है। उन्हें अन्य समुदायों से कोई सम्बन्ध नहीं था उसमें देश-प्रेम, देश-हित एव देश-सेवक का प्रश्न ही नहीं था।

वस्तुतः इस काल के वीर-काव्य को हम वीर-भास काव्य (*Pseudo-heroic*) ही कहेंगे, विशुद्ध वीर-काव्य नहीं।

भारत पर मुसलमानों का आक्रमण होता रहा इसी बीच आज़ादी चली गई। अब चारणों को आश्रय देने वाला कोई न रहा। जनता सांसारिक दुःखों के कारण भगवद्-भजन में लीन हो गई। समयानुसार भाव और विचार में परिवर्तन अवश्य हुआ। पर हमारा वीर-काव्य मन्द गति से आगे बढ़ता रहा। वीर-रस की परम्परा कहीं खण्डित न हो सकी। भक्तिकाल में भी इसकी कहानी भक्त-कवियों के द्वारा कही गई। इस रस की नप्पत्ति तुलसी के 'रामायण' और सूर के 'सूर-सागर' में बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से हुई है। रामायण में कुछ ऐसे पात्र हैं, जिनकी नसों में सर्वदा खून की गर्मी विद्यमान है। इस प्रकार के पात्रों में लक्ष्मण और परशुराम उल्लेखनीय हैं। उदाहरण-स्वरूप देखिये। धनुष-यज्ञ के अवसर पर लक्ष्मण परशुरामजी से कहते हैं—

'यहाँ कुम्हड़ बतिया कोई नाहीं,
जो तर्जनि देखत मरि जाँहि।'

इसके बाद कपि-भालुओं की सेना के समुद्र पार उतरने के समय राम से लक्ष्मण कहते हैं—

सघातेऊँ धनु विशिख कराला,
उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला।

वास्तव में तुलसी का वीर-काव्य अपने ढङ्ग का है और अवश्य ही उसमें परिवर्तन का नर्तन होना चाहिये और हम देख भी रहे हैं कि उसमें पर्याप्त परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से हो भी रहा है। इसीलिए वीर काव्य के पात्र राजन न बनकर देवता गण बन गये। तुलसी आपस की फूट को कदापि पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि वे आदर्शवादी मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त थे।

इतना ही नहीं, सूर ने भी वीर रस का चमत्कार अपने गीति-काव्यों में दिखलाया है। एक समय महाभारत में भीष्म ने श्रीकृष्ण से शस्त्र ग्रहण करवाने की प्रतिज्ञा की, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध में शस्त्र न ग्रहण करने का संकल्प किया था। देखिये—

आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गङ्गा-जननी को,
सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारत खण्डौं,
कपिध्वज सहित डुलाऊँ।

इतौ न करौं सपथ मोहि हरि की,
छत्रिय गतिहिं न पाऊँ ॥
पाँडव दल सनमुख ह्वै धाऊँ,
सरिता रुधिर बहाऊँ ।
सूरदास रण भूमि विजय बिन,
नियत न पीठ दिखाऊँ ॥

जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच भक्ति का काव्य प्रवाह उमड़ा, वह राजाओं या शासकों के प्रोत्साहन पर अवलम्बित न था। इस वीरत्व भावना की मन्दाकिनी को मन्द रूप से चलायमान रखने के लिए गग, केशवदास आदि प्रभृति कवियों का जन्म हुआ। गग ने वीर रस के कुछ रमणीय कवित्त लिखे हैं—

स्फुरत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एक न तें एक मानो सुषमा जरद की।
कहै कवि गग तरे बल की बयारि लगे,
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमडि चलीं,
रही न निसानी कहूँ मोह म गरद की।
गौरी गह्यौ गिरिपति, गनपति गह्यौ गौरी
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की॥

इस प्रकार केशवदास ने भी वीर रस के अनेक कलात्मक कवित्त लिखे हैं। इन्होंने अपनी पुस्तक 'रतन बावनी' म इन्द्रजीत के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता का छप्पयों में अच्छा वर्णन किया है। यही वीर रस का एक सुन्दर काव्य है। इस युग में वीर रस की कविताओं का लिखा जाना प्राय नहीं के बराबर था क्योंकि अपने पराजय के दिनों में वे अपने शौर्य एवं पराक्रम के गीत कैसे गाते ? इसके अनन्तर रीतिकाल का युग आया।

रीतिकाल में हमारे कवि मुसलमान सम्राटों के दरबार में रहकर अपना जीवन यापन कर रहे थे। इन दिनों का जीवन वैभव विलास के मध्य खेल रहा था। सब कवि प्रेम के तराने गा रहे थे। फलत इस युग की कविता शृङ्गार के सागर में लहराने लगी। इस प्रकार उनकी दशा नैतिक दृष्टि से अत्यन्त दयनीय हो गई। उनकी वीरता निश्चेष्ट होकर सो रही। जो कुछ वीरता शष रह गई थी, वह अदूरदर्शी औरङ्गजेब के अत्याचारों के रूप में रही। पर समाज पर कब तक इस प्रकार अनाचार और अत्याचार होता रहता। मानव की आत्मा कब तक पिञ्जर बद्ध रहती, वह अकुला उठी भारत के दक्षिण में शिवाजी का सिंहनाद गूँज उठा। भारतीय मानव की पीड़ित आत्मा दक्षिण की पहाड़ियों तथा कन्दराओं में बोल उठी। इस धर्मान्धता एवं अत्याचार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप 'गुरु गोविन्दसिंह', 'छत्रपति शिवाजी' और 'महाराज छत्रसाल' वीरता के प्रतीक बनकर आये। इन सबों ने स्वय रणचण्डी का अवतार लिया, तथा इसकी गाथा कवित्त और सवैया में गाई जाने लगी। इस युग में शृङ्गार का प्राधान्य रहा, पर जोधराज, भूषण, सूदनलाल आदि कवियों ने वीर बाँसुरी बजाई, वह ध्वनि देश के कोने कोने में गूँज पड़ी। वीर रस की ध्वनि भूषण और लाल कवि में अधिक है। भूषण ने अपने काव्य का विषय—दो वीर पुरुषों को बनाया, कारण यह था कि उन दोनों ने हिन्दू धम, सभ्यता और उसकी सस्कृति की रक्षा की। उन दो आत्माओं के प्रति तत्कालीन युग श्रद्धा एवं भक्ति दरसाता रहा, और यही कारण है कि भूषण की कविता जनता की गलहार बनी। भूषण की कविता में अपने आश्रयदाता का गुण-गान नहीं, बल्कि राष्ट्र के पालनहार का कीर्तिगान है। इसी से भूषण के वीर रस से प्लावित उद्गार सारी जनता जनार्दन में घर कर गए। अत भूषण की कविता हिन्दू भावना से ओत प्रोत हो गई। सघर्ष का सुन्दर रूप इन पक्तियों में देखिये —

वेद राखे विदित, पुरान राखे सारयुत
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में ॥

हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेउ राख्यो, माला राखी गर में ॥

× × ×

राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज ।
देव राखे देवल, सुधर्म राख्य घर में ॥

इसमें हिन्दू संस्कृति की चीत्कार है, वह अपनी रक्षा के लिए पुकार रही है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि इस युग में वीर-गाथा काल की व्यक्तिगत भावना रीतिकाल में आकर जाति भावना के रूप में परिवर्तित हुई। भूषण की इस भावना को जाति विद्वेष के रूप में प्रकट की हुई नहीं कह सकते हैं। कारण यह है कि उन दिनों मुसलमान विदेशी थे और उनके द्वारा देश की रक्षा के लिए इस प्रकार की कविता करना—जाति भावना के रूप में नह सकते। अपितु, तत्कालीन वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार यह देश भावना है। उस समय यह हिन्दू भावना ही देश भावना रही* एक बात और। भूषण ने 'तीन बेर खाती सो तीन बेर खावी है, नगन जड़ाता वे नगन जड़ाती हैं।' आदि कविताएँ लिखी हैं। उसका कारण यह है कि उन पर युग और परिस्थिति का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था, इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे शृङ्गारिक कवि थे।

यों तो रीतिकालीन कविता का विकास हो ही रहा था, पर वीर साहित्य के निर्माताओं का भी अभाव न था। भूषण के अतिरिक्त, जोधराज, सूदन, गोरेलाल आदि कवियों का आविर्भाव हुआ, पर उनकी कविताओं में साहित्यिक सौन्दर्य एवं वीर भावना का सुंदर ढङ्ग से निर्वाह न हो सका। भूषण के सदृश गोरेलाल ने युद्ध-वर्णन अत्यन्त ही मार्मिक ढङ्ग से किया है। 'छत्रप्रकाश'—लाल कवि की कीर्ति का एकमात्र स्तम्भ है। युद्ध वर्णन देखिये —

छत्रसाल हाडा तहँ आयो।
अरुन रँग आनन छवि छायो॥
भयो हरौल बजाय नगारो।
सार धार को पहिरन हारो॥
दौरि देस मुगलन के मारौ।
दपटि दिल्ली के दल संहारौ॥
एक आन सिवराज निबाही।
करै आपने चित की चाही॥
आठ पात साही झकझोरे।
सवनि पकरि दण्ड लै छोरे॥
कटि कटक किरवान बल, टिन जं तुरनि देहु।
ठादि युद्ध चहि रीति सों, नाँटि धारन घरि लहु॥

आदि पंक्तियां युद्ध स्थल का चित्र प्रस्तुत करती हैं। इस काल में सूदन कवि ने 'सुजान चरित', जोधराज ने 'हम्मीर रासो' आदि ग्रन्थों की रचना की, जो आज भी अजर अमर है। यह युग वीर काव्य युग के अर्थ में दूसरा युग है। इस समय अर्थात् समयानुरूप वीरता का अर्थ है, हिन्दू जाति, हिन्दू सभ्यता, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू धर्म के गौरव को बचाये रखना, जिससे हमारा इतिहास सर्वदा के लिए जीता जागता रहे। सुतरां यह भावना आधुनिक युग में खूब फली फूली।

रीतिकाल से पलायन कर वीरता की भावना भारतेन्दु की रचनाओं में यत्र-तत्र फूट पड़ी। हाँ, एक महत्वपूर्ण घटना घटी—अब तक हमारी वीरत्व भावना का आधार भूषण द्वारा प्रचारित

*His excessive nationalism has at times led him to write some unpleasant things abo. owe musl m breather but his rult would look to be excusable in view of the spirit and the tendencies of that age

Hindi selections, Book I by Sita Ram B. A., Page 83

'हिन्दुत्व' था, पर आज उसके स्थान पर 'भारतीयता' का शिलान्यास हुआ। इसका एक मात्र कारण है—१८५७ का विप्लव। इस विप्लव में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान दोनों ने अपना हाथ बटाया। हमें असफलता मिली, पर विजेताओं का संसर्ग हुआ। हमारी हार के बाद उनकी संस्कृति एवं सभ्यता की छाप हम पर पड़ी। हम उनके साहित्य से परिचित हुए और हमारे भीतर उसी प्रकार की भावनाएँ अठखेलियाँ करने लगीं, जिस तरह उन विदेशियों के भीतर। अंग्रेजी के वीरोल्लासपूर्ण काव्यों को पढ़कर एवं वहाँ के स्वतन्त्रमय जीवन और वातावरण को देख कर हम भी स्वच्छन्द होने की चेष्टा करने लगे। सैकड़ों वर्ष का गुलाम देश अपने को अच्छी तरह पहचान गया और उसने विप्लव के तराने को हिन्दी काव्य जगत में प्रस्तुत करना आरम्भ किया।

इस भारतेन्दु युग की वीरत्व भावना अखिल भारतीय भावनाओं से पूर्ण रूप से परिचित थी। राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव हुआ जिसके फलस्वरूप शासन करने की रूप रेखा में रद्दो बदल हुआ और सभ्यता एक नवीन सोपान पर अग्रसर होने लगी। हमारी सभ्यता तथा संस्कृति पर पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रभाव पड़ा और जन समाज की दृष्टि में राष्ट्र का रूप ही बदल गया। इस युग के सर्वप्रथम कवि भारतेन्दु ही थे, जिन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की और उसकी पृष्ठिभूमि के रूप में—अतीत गौरव की गाथा तथा वर्तमान का पतन था—यह उनकी स्वच्छन्द कल्पना (Romantic Imagination) की देन है। वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद का श्रेय सर्वप्रथम भारतेन्दु को ही मिला। उन्होंने कविता की धारा को मोड़ कर हमारे जीवन से जोड़ दिया। वे युग पुरुष के रूप में आये और उन्होंने हमारी नवीन आशा तथा आकांक्षा को सरस्वती की वाणी दी। उनकी देश भक्ति, सम्बन्धिनी भावनाओं का अवलोकन निम्नलिखित पंक्तियों में कीजिए—

आवहु ! सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी, कालरोग विस्तारी।
सब के ऊपर टिक्स की आफत भारी॥
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

इन पंक्तियों में अंग्रेजी शासन की प्रशंसा करते हुए भी उन्होंने विजेता के देश में धन जाने तथा कर की कड़ी आलोचना की है। भारतेन्दु की पुकार में भारत सुधार की प्रेरणा है। उन्होंने भारत की दयनीय परिस्थिति की ओर संकेत किया है—

सबै सुखी जग के नर नारी,
रे विधना, भारत हि दुखारी।
भारत दुर्दशा लखी न जाई॥

इस प्रकार हम देखते हैं, कि भारतेन्दु के हृदय में नारी के प्रति सहानुभूति है। और वे उनकी दयनीय तथा शोचनीय अवस्था का अवलोकन करना नहीं चाहते। भारतेन्दु ने अपनी देशगत वीरत्व भावना को प्रत्येक स्थल पर सजाया, यहाँ तक उनके नाटकों में यह भावना परिव्याप्त है। यों तो 'नील देवी' में इनका दृष्टिकोण कुछ संकुचित हो गया है। इनके देश प्रेम के ज्वलन्त दृष्टान्त भारत दुर्दशा, भारत देवी, तथा नीलदेवी है। सत्य हरिश्चन्द्र में भी इसका स्थान है। नाटक के अन्त में भारत वाक्य के रूप में राजा हरिश्चन्द्र के मुख से कहला दिया है। यथा—

खल जनन सों सज्जन दुखी,
मति होइँ हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत,
गहै कर दुख बहै॥

अन्तिम पंक्ति में भारत वर्ष को स्वाधीन होनेकी ओर निर्देश है। परन्तु वे अपने भावों को पूर्ण रूप

से प्रतिपादन न कर सके, कारण है—राजमय और राजदण्ड। दिनकरजी के शब्दों में भारतेन्दु ने भी यही माना है—

बंधा तूफान हूँ, चलना मना है,
बंधी उद्यम निर्झर धार हूँ मैं।
कहूँ क्या कौन हूँ? क्या? आग मेरी,
बंधा है लेखनी लाचार हूँ मैं॥

इसीलिए भारतेन्दु ने अपनी उद्दाम भावनाओं के साथ अपने नाटकों में राज्य-भक्ति भी प्रदर्शित की है। उदाहरण-स्वरूप—

भारत—[डरता और काँपता हुआ रोकर] हाय! परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी।

भारत-भाग्य—अब सोने का समय नहीं है। अँग्रेजों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। हा भारत, तेरी क्या दशा हो गई? हे करुणा-सागर भगवान्, इधर भी दृष्टि कर! हे भगवती राजेश्वरी इसका हाथ पकड़ो।—'भारत-दुर्दशा']

भण्डोचार्य—
हरि पद में रत होइ न दुख कोऊ कहँ व्यापै।
अँगरेजन की राज इस इत थिर करि थापै॥
—विषस्य विषमौषधम्]

इन अवतरणों को देखकर कोई भी कह सकता है कि उनके हृदय में भक्ति की दो ज्योति विद्यमान थी। वे हैं—राजभक्ति और देश-भक्ति, पर दोनों के बीच द्वन्द्व था। जोश, उमंग और खून खौलाने वाली वीरता का निरूपण 'विजय वैजयन्ती' में कर सकते हैं।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की दृष्टि में १८५७ का विप्लव देश के हित के लिए कोई अच्छी बात नहीं ठहरी। उन्होंने ब्रैडेला में इस विप्लव की घोर निन्दा करते हुए कहा—

सन सत्तावन माहिं जबहिं कुछ सेना बिगरी।
तबै राज दिशि रही सुदृढ़ है राजा प्रजा सिगरी॥
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हों।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निष्फल कीन्हों॥
ठौर-ठौर निज घर लुटवाये अरु फुँकवाये।
प्राण सों पर ब्रिटिश वर्ग के प्राण बचाये॥

इधर दूसरी ओर भारतेन्दु की भाँति वे जनता की निर्धनता एवं दरिद्रता पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं—

सर्वस लिये जात अँगरेज,
हम केवल लिकचर के तेज।
× × ×
अपनो काम आपने ही हाथ भल है ई।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई॥

यह भावना बहुत दिनों तक चलती रही। दिन ब दिन ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण उसके प्रति लोगों का अनुराग कम हो गया। देश में असन्तोष-भावना पूर्ण रूप से व्याप्त होने लगी। ब्रिटिश सरकार ने उन दिनों नये-नये कानून का निर्माण किया जिससे सरकार के प्रति जनसाधारण का विश्वास उठने लगा। अब स्वदेशी प्रचार और विदेशी मालों का बहिष्कार का आन्दोलन विशेष रूप से भारत में चल पड़ा। इन विशेष परिस्थितियों का सामञ्जस्य हमारी हिन्दी में भी हुआ। गत महायुद्ध के बाद जालियानवाला बाग काण्ड और खिलाफत के प्रश्न ने देश में एक हलचल पैदा कर दी। इसके फलस्वरूप वीर साहित्य में दो कोटि के कवि हुए। एक वे जो गाँधी वादी सिद्धान्त से प्रभावित रहे, दूसरे वे जो उग्रबन कर गुलामी की जञ्जीर को भस्मीभूत कर देना चाहते थे।

गाँधी युग का अटल तत्व है—आत्म सम्मान की जागृति, जीवन की सच्ची समस्याओं का हल तथा विचारों में सत्य, अहिंसा और सेवातत्व। इसका परिचालन काव्य क्षेत्र में गुप्तजी की इस ध्वनि—

'हम कौन थे क्या हो गये हैं,
और क्या होंगे अभी।'

ने किया है। इधर हरिऔध ने देश सेविका के रूप अपनी प्रियप्रवास' की राधा को प्रस्तुत किया। गुप्तजी के 'अनघ' में हम गाँधीवाद की सहिष्णुता-पूर्ण वीरत्व का निरूपण करते हैं। हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य पर वाद के विचारों की गहरी छाप पड़ी है। अब हमारा दृष्टि-कोण बदल गया। इस समय अत्याचारी का दमन प्रेम-भाव से किया जाता है। इसका दर्शन गुप्तजी की पंक्तियों में कीजिये। यथा—

पापी का उपकार करो,
हाँ पापों का प्रतिकार करो॥
× × ×
आग्रह करके सदा सत्य का,
जहाँ कहीं हो शोध करो।
डरो कभी न प्रकट करने में,
जो अनुभाव जो बोध करो।
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो,
दृढ़ता सहित विरोध करो।
किन्तु विरोधी पर भी अपने,
करुणा करो, न क्रोध करो॥

गुप्तजी की 'भारत-भारती' व 'स्वदेश संगीत' में हम सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति का अनुभव करते हैं। 'साकेत' में हमें सत्याग्रह और युद्ध दोनों ही पक्षों का उद्घाटन मिलता है। एक दिन चिरगाँव ने पूरी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करने की आकांक्षा प्रकट की—

मानस भवन में आर्य-जन,
जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में,
गूँजे हमारी भारती॥

निःसन्देह उसकी कामना फली फूली, उसकी भारती गूँजी, समूचे हिन्दी-भारत में। इसके द्वारा राष्ट्र के तरुण हृदयों के सोये भाव जाग्रत हुए और उनकी भारती का देश के कोने-कोने में प्रचार हुआ। ठीक उसी समय रुदन क्रन्दन, गूँज-गायन के स्थान पर विध्वंस का उग्र रूप आ उतरा और देश के नौजवानों को शहीद होने के लिए ललकारा। और शहीद होने के लिए बलिदान कैसा!

बिगुल बज गई, चला सब सैन्य,
धरा भी होने लगी अधीर;
खाइयाँ, खोदी रिपु ने हाय!
पार हो कैसे सैनिक वीर?
'पूर दें इनको मेरे शूर,
शरीरों से'—'दे दिये शरीर?'
इधर यों सेनापति ने कहा,
उधर दब गये सहस्रों वीर।
सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञान, दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए ऊँचा विचार,
नहीं केवल अपना बलिदान।
—माखनलाल चतुर्वेदी

अथवा—

चाहती हो बुझना यदि आज,
होम की शिखा बिना सामान।
अभय हो कूद पड़ूँ, जय बोल,
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान॥
—दिनकर : हुंकार

सचमुच 'भारतीय आत्मा' का आह्वान भारत के कन्द्राओं में गूँजा और देश में भारत-माँ की बलिवेदी पर बलिदानों का ताँता लग गया। माँ की बलिवेदी खून से रँग उठी। वस्तुतः उनकी वीरता उनकी आत्मा से ऐसी घुल मिल जाती है कि वे परमेश्वर की अर्चना करते हुए कहते हैं—

उठा दो वे चारों करकंज,
देश को लो छिगुनी पर तान।
और मैं करने को चल पड़ूँ-
तुम्हारी युगल मूर्ति का ध्यान॥

ठीक उसी समय छायावादी कवियों का ध्यान

भी उस ओर आकृष्ट हुआ। पन्त ने भी एक स्थल पर लिखा है—

नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन।
पावक पगधर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानव पन।
—गा, कोकिल।

इत्यादि कह कर पन्त ने प्राचीनता की चिता में नवनिर्माण के कर्मों को दिखलाया और दूसरी ओर निराला की लेखनी कापुरुषता को ललकार कर कहती है—

जागो फिर एक बार!
समर मे अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु से,
सिन्धु नद-तीर-वासी—
सैन्धव तुरगों पर
चतुरङ्ग चमू सङ्ग;
सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज नाम
जब कहाऊँगा।

उपर्युक्त पंक्तियों ने हमारी वीरत्वमय चेतना को सजीव वाणी दी। इन दो छायावादी कवियों के विपरीत भी नवीन ने क्रान्ति का आवाहन किया पर उसमें संयमता को निकट आने से दूर रक्खा—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
धरसे आग जलद जल जायें।
भस्मसात भूधर हो जायें॥
नाश नाश की महा नाश की
प्रलयंकर आँखें खुल जायें॥

नवीनजी की कविता में जो जागरण का गान है, उसमें जीर्णशीर्ण पुरातन को भस्म कर देने वाली क्रान्तिकारिणी चिनगारियाँ हैं, वैसी अन्यत्र नहीं। उदाहरण-स्वरूप 'अनिल-गान' की पंक्तियाँ भी पर्याप्त होंगी:—

अनल गीत सुनने दो, ओ
यौवन के मदमाते वीर-बली।
अब उठ, आज जला दे सत्वर,
निज व्यक्तित्व, मोह ममता।
माँग अनल से भीख कि तुमको
मिले ज्वलित पावक क्षमता।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'जालियाँवाला बाग में बसन्त' शीर्षक कविता में वसन्त को कहा है—

परिमलहीन पराग दाग सा बना पड़ा है,
हा! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है।
आओ, प्रिय ऋतु-राज! किन्तु धीरे से आना
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा खा कर,
कलियाँ उनके लिए चढ़ाना थोड़ी लाकर।
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं,
अपने प्रिय-परिवार-देश से भिन्न हुए हैं।

इस प्रकार के पदों में जहाँ देश के प्रति अनुराग परिलक्षित होता है, वहाँ वहाँ कहीं पर विश्व-बन्धुत्व का भाव भी आ उमड़ा है।

इसके अनन्तर हिन्दी के वीरकाव्यधारा के पौराणिक ग्रन्थ में एक नया जीवन आ जाता है। इसीलिए काव्य-क्षेत्र में उनका अपना इतिहास है, और वह नित्य नवीन शाश्वत और चिरन्तन है। हमारा 'दिनकर' आकाश का किरण नहीं बल्कि वह जीवन जगत का किरण है। आजतक भारत में जितनी क्रान्तियाँ हुईं उसने सबको काव्य का जामा पहनाया। इसके पूर्व किसी ने अपनी बाँकी झाँकी न दी। दिनकर का कवि सहज ही 'पौरुष का पुँजिभूत ज्वाल' है। उन्होंने भारत के अतीत के साथ अपने अन्तर की पीड़ा का सङ्कट कर कविता को एक नया परिधान दिया। इनकी कविताओं में विगत वैभव का गान तथा भविष्य के स्वर्ण विहान का स्वप्न है। 'दिनकर' गाँधीवादी सिद्धान्त से प्रभावित हो कर गाँवों की ओर लौटे जिसके फलस्वरूप

उन्होंने काव्य को जीवन दान दिया। आज हमारे क्रान्ति युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व, काव्य में, दिनकर कर रहा है—

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा,
स्वयं युग धर्म का हुँकार हूँ मैं।

कवि ने क्रान्ति को अपनी आँखों से देखा है और उसके संचालन का भार वहन करने के लिए युवक दल को उलाहना दिया है—

खेल रहे हिल मिल घाटी में
कौन शिखर का ध्यान धरे।
ऐसा वीर कहाँ कि शलभ्रह
फणों का मधुपान करे।

कभी-कभी कवि उन्हें चेतावनी देता है, कभी सचेत करता है—

लेना अनल किरीट भाल पर,
ओ आशिक होने वाले,
कालकूट पहले पी लेना,
सुधा बीज बोने वाले॥

इसके अनन्तर कवि मूल मन की सीख देता है, नित्य समान अपनाये रक्खे—

धर कर चरण विजित शृङ्गों पर,
झंडा वही उड़ाते हैं।
अपनी ही उँगली पर जो,
खञ्जर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच
मत तलवों से काँटे रुककर।
फूँक-फूँक कर चल न जवानी,
चोटों से बचकर झुककर॥

अब अन्तिम बार जय यात्रा के लिए उत्तेजित करते हुए कवि कहता है—

चल यौवन उद्दाम,
चल चल बिना विराम।
जन्म मरण के घात समर के,
बीच कहाँ विश्राम ?

इससे हालावादी 'बच्चन' का भी स्वर बदला और उसके काव्य में प्रगतिशीलता का रंग आ गया—

यह महान दृश्य है,
चल रहा मनुष्य है—
अश्रु स्वेद रक्त से लथ पथ, लथपथ,
अग्निपथ ! अग्निपथ ! अग्निपथ !

वस्तुतः हालावादी कवि का यह विकास अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है।

इसके अतिरिक्त सर्व श्री रामदयाल पाण्डेय, श्यामनारायण पाण्डेय, त्रिकट, सुधीन्द्र, सोहनलाल द्विवेदी, आदि इस धारा के कवि हैं। इन महान भावों का साहित्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। एक बात और। हमारे सामने न जाने कितनी मुसीबतें पहाड़ की तरह खड़ी हैं, उनका सामना करना अनिवार्य है। हम उसका समाधान करने का मार्ग खोजें, वह इस प्रकार—

क्या हार में क्या जीत में,
किञ्चित नहीं भयभीत मैं।
संघर्ष पथ पर जो मिले,
यह भी सही, वह भी सही॥

भविष्य की ओर संकेत—

आज हमारे साहित्य में वीर रस की भावना का आदर्श न व्यक्तिगत भावना है, न जाति भावना, न देश भावना अपितु विश्व भावना। आज इसके आश्रय-सेवक प्रत्येक जाति के हैं। हमारे साहित्य में इसका विकास उत्कृष्ट अवश्य हुआ है, पर उसमें गम्भीरता तथा संयम की कमी है। राष्ट्र के उत्थान के लिए राष्ट्र की उन्नति के लिए, राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए, जो कुछ भी हमारे मन में आया उसका कह डालना युक्तिपूर्ण नहीं है। आज की जो कविता है, उसमें विध्वंस का जोश तो है पर निर्माण की वह क्रियात्मक प्रेरणा नहीं, जो क्रान्ति के मूल में होनी चाहिए। अतः यह हमारी वीर भावना की प्रकृत भाव भूमि नहीं। आज की वीरता विध्वंस

(शेष पृष्ठ ३४८ पर देखिए)

पद्मावत की आध्यात्मिक विवेचना

नवीन दृष्टिकोण से

श्री सत्यपाल शर्मा स्नातक, साहित्य रत्न, एम० ए० पीयिवस

हिन्दी साहित्य के असीम सागर को स्नेहाप्लावित सुमधुर आलिङ्गनों से उन्मत्त करती हुई, उसके वश में सदा के लिये समाजाने वाली, भावों की मधुरिमामयी विविध धाराओं को अपने अन्तस्तल में लिये हुए अनवरत प्रवाहित होने वाली असख्य सरस सरिताओं में से महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी की काव्य-कालिन्दी प्रेम के अलौकिक सन्देश से सहृदयों के मानस को परिशिञ्चित करती हुई युगों तक अमर एव सरस बनी रहेगी। उन्होंने अपने पद्मावत "प्रबन्ध काव्य" में मसनवियों की प्रेम-पद्धति नाथ पन्थियों के हठयोग व भारतीय सस्कृति के मूल भूत रहस्यमय आनन्दात्मक आत्मतत्त्व का सुन्दर सम्मिश्रण करके हिन्दी साहित्य को जो अनुपम गति प्रदान की है, उसके लिये कौन सहृदय कृतज्ञ न होगा? हिन्दी साहित्य ससार के लिये अद्वितीय वरदान के रूप में समर्पित इस अनुपम काव्य में कवि ने ऐतिहासिक कथा के आधार पर मनोरञ्जक ढङ्ग से आत्म-तत्त्व का जो विवेकपूर्ण सुन्दर विवेचन एव विश्लेषण किया है। वह बहुत ही उत्कृष्ट एव मननीय है। उसी पर इस लेख में कुछ विचार किया जायगा।

जैसा कि सभी को विदित है, इस काव्य के कुशल एव भावुक रचयिता ने सूफीमत से प्रभावित होने के कारण—

"ईश्वर मे प्रियतम की भावना करके"

काव्य की रचना की है। इसी को स्पष्ट करने के लिये कवि ने अन्त में स्वय एक पद्य भी दिया है। जिसमें समस्त काव्य की रूपकात्मकता का स्पष्ट प्रतिपादन है। इसके अतिरिक्त मध्य में भी अनेकानेक "अलौकिक प्रियतम" व "अलौकिक सौन्दर्य" एव "माधुर्य" को अभिव्यक्त करने वाले भावमय सकेत उनकी अन्योक्ति को और भी परिपुष्ट करते हैं। अतः यदि इनके काव्य म रहस्यवाद की किसी अस्पष्ट छाया की अनुभूति सहृदयों को होती ही तो इसमें किसी को आश्चर्य अथवा संशय नहीं होना चाहिये।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है इनके आध्यात्मिक तत्त्व की विवेचना अतीव गम्भीर है और सम्भवत इसी गम्भीरता के कारण (?) प्राय अधिकतर समालोचक उसका विश्लेषण करने म असफल रहे हैं। इन्होंने केवल उत्तर पूर्वभाग को जिसमें कि—"रतनसेन व पद्मावती का" मिलन होता है। आध्यात्मिक सकेत से पूर्ण बतलाया है। सम्भवतः उनके ऐसा मानने का कारण यह है कि उन्होंने—

"पद्मावती को परमेश्वर का प्रतीक"

माना और ऐसे प्रसग में मन का पुन प्रत्यावर्तन उन्हे इष्ट नहीं था, क्योंकि उपनिषद् एसी अनुमति नहीं देती थी। "नस पुनरावर्त्तते" की अवाञ्छित बलि न द सकने के कारण उन्होंने इससे यथाशक्ति बचने व इससे दूर रहने का प्रयत्न किया, और परिणामत "पद्मावती रतनसेन भेंट" तक ही उनको आध्यात्मिक प्रसङ्ग मानना पड़ा। अतएव हम देखते हैं कि मान्यवर शुक्लजी ने भी इस कथानक का आध्यात्मिक पक्ष उपस्थित करते हुए केवल पद्मावती के मिलन तक ही उसकी विवेचना की है। तथा जायसी के 'मिलान' को ईश्वर प्राप्ति का रूप दिया है। यदि हम भूमिका के उस भाग को जहाँ कि जायसी के 'मिलान' की व्याख्या की है, ध्यान से पढ़ें तो हमें उन पंक्तियों में शुक्लजी

का सम्मिलित हृदय स्पष्ट दृष्टि-गोचर होगा। वे लिखते हैं:—

"साधक के विघ्नों का स्वरूप दिखाने के लिये ही कवि ने राजा रत्नसेन के लौटते समय तूफान की घटना का आयोजन किया है। लोभ के कारण राजा विपत्ति में फँसता है, और लंका का राक्षस उसे मिल कर भटकाने लगता है। वह लङ्का का राक्षस शैतान है, जो साधकों को भटकाया करता है।"

यहाँ पर कुछ प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं:—

१—प्रथम तो यह कि जब रतनसेन को पद्मावती प्राप्त हो गई, 'मिलान' पर रतनसेन पहुँच गया तो उसे फिर लौटने की क्या आवश्यकता?

२—दूसरे, "लौटते समय किया गया तूफान की घटना का आयोजन" यदि "साधक के विघ्नों का स्वरूप दिखाने के लिये है" तो निश्चित रूपेण वह अप्रासंगिक है। क्योंकि अब लौटते समय राजा साधक नहीं अपितु सिद्ध है। साधक तो पद्मावती की प्राप्ति तक था? अब पद्मावती मिल गई है।

३—तीसरे जो अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच गया फिर उसे लोभ करने का अवसर कहाँ कि उसे शैतान भटका ले जाय? और इस तरह उत्तरार्ध की कोई आवश्यकता नहीं?

इन सब कारणों से स्पष्ट है कि पद्मावती को ईश्वर का प्रतीक मानने पर काव्य की समासोक्ति सिद्ध नहीं की जा सकती, और यथा कथंचित् सन्तुष्टि एवं सान्त्वना के लिये काट छाँट कर उसको स्वीकार करना अपनी असमर्थता प्रकट करना है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी का "पद्मावती को ईश्वर का प्रतीक मानना"—

"····लक्ष्मी का भाव के से पति के पास जाना, और जीव का ईश्वर के पास जाना—दोनों में एक प्रकार के साम्य की कल्पना निर्गुणोपासक भावुक भक्तों में बहुत दिनों से चली आती है।"

इस वाक्य के पूर्व रेखाङ्कित भाग से मेल नहीं खाता? क्योंकि इसमें पद्मावती ईश्वर की प्रतीक न रहकर जीव की प्रतीक हो गई!

अतः हमें जायसी के इस काव्य के आध्यात्मिक तत्त्व की विवेचना के लिए उनके अन्तिम पद्य का अनुशीलन करना होगा।

उन्होंने अपने काव्य के अन्त में सम्पूर्ण काव्य का रूपक बाँधने के लिये यह पद्य दिया है:—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पद्मिन चीह्ना।
"गुरु सूआ जेहि पन्थ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बाचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत, सोई सैतानू।
माया अलादीन सुलतानू॥"

श्री शुक्लजी ने इसकी व्याख्या करते हुए जो कुछ लिखा है, उससे प्रतीत होता है कि वे भी पूरे काव्य में आध्यात्मिक तत्त्व को मानते हैं? परन्तु कथानक के साथ उसकी सङ्गति लगाते हुए वे 'मिलन' तक ही लगा पाये हैं। इसका कारण जैसा पूर्व कहा जा चुका है पद्मावती को ईश्वर मानना ही है। वस्तुतः वह ईश्वर नहीं—अपितु जायसी के अनुसार (बुद्धि पद्मिनी चीह्ना) एक ऐसा ज्ञान है। जिसके प्राप्त होने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है अथवा जो ज्ञान ईश्वर तक पहुँचाता है। मोटे शब्दों में हम इसको 'आत्म ज्ञान' कह सकते हैं। श्री शुक्लजी ने भी यही अभिप्राय लिया है—

"पद्मिनी ही ईश्वर से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि है, अथवा चैतन्यस्वरूप परमात्मा है।"

इसमें प्रथम वाक्यार्थ में जो कुछ कहा गया है वही ठीक है और कवि का अभिप्रेत है। परन्तु बाद के 'अथवा' ने सब किया कराया मिट्टी कर दिया है। अब पद्मिनी को बुद्धि या ज्ञान मान कर अनुशीलन करने पर हम देखेंगे कि समस्त काव्य कितने सुन्दर एवं अविकल रूप में आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता है।

विस्तार भय से संक्षेप में ऐतिहासिक कथा का कुछ संकेत देकर उसकी आध्यात्मिक विवेचना की जायगी। इससे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि आत्मा ही यद्यपि सब कुछ जानने व करने वाला है परन्तु मन के द्वारा करने के कारण यहाँ मन को कर्त्ता रूप में माना गया है।

१—सुआ से पद्मिनी का रूप सुनना और राजा का विह्वल होना:—

गुरु मुख से आत्म-ज्ञान व विशिष्ट आनन्दमयी (मधुमती) भूमिका का वृत्तान्त सुनने पर (शिष्य का) मन चञ्चल हो उठता है और उसके पाने को व्याकुल हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पद्मिनी एक ऐसी बुद्धि के रूप में मानी गई है जिसका वर्णन दर्शनों में 'विशोका ज्योतिष्मती' के रूप में किया गया है। अथवा चूँकि आत्मज्ञानी ही उस आनन्दमयी मधुमती भूमिका को प्राप्त होता है जिसको पाकर वृहदारण्यक के:—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते,
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"

के अनुसार परमात्मा व समस्त ब्रह्माण्ड के पूर्णत्व की अनुभूति करता है, और जिसको पाकर ईशोपनिषद् के—

"तत्र को मोहः कः शोक एक त्वमनुपश्यतः"

के सुमधुर सर्वेकत्वा के सन्देश की रचनात्मकता का अनुभव करता है अतः वह 'आत्मज्ञान' ही पद्मिनी का भाव है। योग के अनुसार भी इसी मधुमती भूमिका की प्राप्ति व आत्मज्ञान के बाद परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतः इसमें 'पद्मिनी' बुद्धि रूप में व उससे प्राप्त होने वाला 'आनन्द' परमात्मा रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

२—राजा का पद्मावती की प्राप्ति के लिए अनेकों विघ्नों का सहना और मध्य में सुआ और शिव की सहायता होना:—

मन उस आत्मज्ञान व मधुमती भूमिका की प्राप्ति के लिए अनेकों विघ्नों व आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाता है और कठिनता पड़ने पर—

"गुरुमेवाभिगच्छेत्"

के अनुसार गुरु के पास जाकर अथवा—

"अग्निरामार्थस्तव"

के अनुसार परमात्मा पर विश्वास रख कर उसी की प्रार्थना करते हुए उससे अनन्त साध्य एवं उत्साह प्राप्त कर 'अन्त.वृत्ति' के सन्मार्ग पर बढ़ने लगता है।

३—राजा का सिंहल के सातवें समुद्र पर पहुँचने पर पुलकित होना:—

मन जब प्रगति करता हुआ अनुपम आत्म-ज्योति की अस्पष्ट किरण का आभास पाता है तो जायसी के शब्दों में—

"गा अँधियार रैन मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी॥

के आशामय स्वर से निनादित हो उठता है। और उसके साथ ही सब इन्द्रियादिक "अस्ति अस्ति" कहकर आत्म तत्त्व के अस्तित्व की अस्पष्ट झलक पाते हैं।

४—पद्मिनी का मन्दिर में आना और रतनसेन का मूर्च्छित हो जाना—

परन्तु मधुमती भूमिका को प्राप्त करने से ठीक पहले मन अपनी "निद्रा" वृत्ति में प्रवृत्त हो जाता है और उसके कारण उसकी सारी साधना निष्फल हो जाती है। और वह उस ज्ञान को पाने से वञ्चित रह जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि "मन" के रूप में रतनसेन का चरित्रचित्रण बड़ा स्वाभाविक एवं मनोरम हुआ है। यह विघ्न 'अलब्धभूमिकत्व' के नाम से योगदर्शन में विदित है और प्रायः प्रत्येक साधक के मार्ग में आया करता है।

५—राजा का फिर अपने गुरु व शिव का स्मरण करके उनकी सहायता से पद्मावती को प्राप्त करना

इस प्रकार विघ्न उपस्थित होने पर ईश्वर प्रविधान आदि विधि द्वारा मन मधुमती भूमिका व आत्म ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

६—कुछ दिन आनन्दोपभोग करने के पश्चात् एक दिन पेड़ के नीचे उसे पक्षी का स्वर सुनाई पड़ता है और उसकी बोली सुनकर राजा को अपनी प्रथम पत्नी नागमती का स्मरण हो आता है और वह अपने देश लौटने के लिये व्याकुल हो जाता है।

यह विघ्न का दूसरा अङ्ग है। मधुमती भूमिका के प्राप्त करने पर भी मन के अपने स्वभाव के कारण साधक के मार्ग में 'अनवस्थितत्व' का विघ्न आता है। वह चचल होने के कारण पुनरपि बाह्य सृष्टि व तद्गत प्रकर्ष सुख के स्मृति पथ पर अकस्मात् आरूढ़ होने पर अध. पतित हो जाता है। मन अब अन्तर्वृत्ति को छोड़ कर बहिर्वृत्त हो जाता है। सृष्टयुन्मुख होता है।

७—लौटते हुए राजा को अनन्त द्रव्य मिलता है और उसके लोभ से वह अहकारी हो जाता है और माँगने पर समुद्र की भर्त्सना करता है। मध्य समुद्र में जाते हुए तूफान से घिर जाता है। पद्मावती बिछुड़ जाती है। राजा पुनरपि 'गुसाईं' की प्रार्थना करते हुए पश्चात्ताप करने लगता है—

अनवस्थित चञ्चल मन बाह्य सृष्टि में प्रवृत्त होने पर साधारण मानव से अपने आपको विभूतिमत् एव श्रेष्ठ पाकर अहङ्कारी हो जाता है अब तक की हुई साधना का उपयोग वह अपनी उच्चता स्थापित करने में करता है। इस प्रकार के लोभ एव अहङ्कार से गीता के—

ध्यायतो विषयान् पुंस सङ्गस्तेषूपजायते
सङ्गात्संजायते काम. कामात्क्रोधोभिजायेत
क्रोधाद्भवति संमोह संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो ....

के अनुसार मन से बुद्धि पृथक् हो जाती है और मन उस आनन्द से वञ्चित होने पर प्रभु स्मरण करने लगता है।

यहाँ यह स्पष्ट करदेना आवश्यक है कि पद्मावती की प्राप्ति की इच्छा से जब वह साधना सत्पथ पर अग्रसर हुआ वह मार्गगत सब विघ्नों का उपशमन अपने सामर्थ से करते हुए सब मनोविकारों पर विजय पाता रहा और लौटते हुए जब वह सांसारिकता की ओर उन्मुख हुआ पहिले ही पहल उसे लोभ और अहङ्कार ने आ घेरा और उनसे पराजित हुआ। इसीलिये—

'मोर मोर' कै खोराऊँ भूलि गरब अवगाह

कह कर उसने पश्चात्ताप किया। इसी प्रकार मन भी अन्तर्मुखी हो कर जब अनन्त ज्योति के प्रकाश की लालसा में बढ़ता है तब तो विजयी होता चला जाता है परन्तु बहिर्मुखी वृत्ति एव सृष्टयुन्मुख होने पर वह स्वय विकारों से पराजित होता चला जाता है।

८—परमात्मा से प्रार्थना करने पर समुद्र पद्मावती से उसे मिला देता है। उसे लेकर चित्तौर आता है। दोनों के झगड़ने पर—

'धूपछाँह दोउ पिय के रंगा।
दूनौ मिलि रहहिं एक संगा।"

कह कर उनको समझा बुझाकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। राघवचेतन या अलादीन भी उसका अब कुछ नहीं कर पाते।

मन ईश्वर प्रतिधानादिद्वारा पुनरपि बुद्धि को प्राप्त कर लेता और निष्कलङ्क होकर निष्काम रूप में सांसारिक समस्त व्यापार व्यवहार करता है। प्रकृति से संसर्ग होने पर भी उसके अन्दर माया ममता का अब उदय नहीं होता और इस प्रकार प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों को साथ लेकर वह अनन्त शान्ति का उपभोग करता है। इसी को ईशोपनिषद् ने कहा—

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदो भयछ सह
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

गीता ने भी—

'सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पंडिताः'

कह कर इसका अनुमोदन किया है। वस्तुत प्रकृति पुरुष, सत्य मिथ्या, यह सब धूपछाँह क सदृश हैं। जिस प्रकार अंधकार के विना प्रकाश का आभास या अनुभूति असम्भव है उसी प्रकार मिथ्याज्ञान के विना सत्य की अनुभूति असम्भव है। यदि समस्त '' सत्य ही होता मिथ्या न होती तो सत्य का अनुभव ही न हो पाता। जन्म से ही प्रकाशानुभव से वञ्चित दौर्भाग्यहत पुरुष के लिये क्या अंधतमस और क्या प्रकाश !! इसलिये सत्य के लिये मिथ्या ज्ञान आवश्यक है। आत्मज्ञान व मायाविच्छेद के लिये माया का ज्ञान होना प्रथम आवश्यक है। इसलिये विद्या और अविद्या दोनों को 'धूप छाँह' के समान एकसाथ ले चलने वाला मन या साधक कर्मी माया ममता का शिकार नहीं हो सकता। यही इस काव्य का मूलआध्यात्मिक तत्व है। और जैसा कि कहा जाचुका है इस आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि केवल मात्र एक अंश या भाग म न होकर सम्पूर्ण काव्य में है। अन्यथा—

१—नागमती को गोरखधंधा, राघवचेतन को शैतान व अलादीन को माया का रूपक देना,

२—रतनसेन का दक्षिण नायक होना,

३—'मोर मोर' के अहङ्कार में पड़ने व तूफान की घटना का आयोजन,

४—नागमती और पद्मावती को समझाना,

इत्यादि अनेक रूपकात्मक प्रसङ्गों का कोई अर्थ न होगा।

इस प्रकार अध्ययन, मनन, एव परिशीलन करने पर हमें स्पष्टत ज्ञात होगा कि जायसी क महाकाव्य में सांख्य और योग के तत्वों से सघटित दर्शन गीता, व उपनिषद् की आदर्श भावमयी त्रिवेणी, प्रकृति पुरुष और प्रेम की धाराओं को अपनी स्नेहमयी गोद में छिपाये हुए, परमपुरुष की ओर जाने के लिए व्याकुल कण्ठ से कलकलनाद करती हुई सतत प्रवाहित हो रही है जिसक कणमात्र क स्पर्श से भक्त का भावुक हृदय भक्ति क अतिशय आनन्द से और प्रेमी का कामनापूर्ण मानस मृदु माधुर्य से आप्लावित हो जाता है। यही महाकवि जायसी की परमरमणीय भावुकता व उनक काव्य की मधुरा स्वादमय आनन्दात्मक आध्यात्मिक तत्व की अनुभूति उनके प्रकाश को अमर एव समुज्वल रूप में सहृदयों के अन्तस्तल में प्रतिफलित कर रही है। और यह प्रकाश 'आचन्द्र तारक' इसी प्रकार साहित्य संसार म प्रदीप्त रहेगा इस में कोई सन्देह नहीं है।

हिन्दी कविता में भक्ति-भाव

श्री भगवतनारायण शर्मा

जब कोई व्यक्ति किसी वाह्य सत्ता के अस्तित्व अथवा गुणों से पराभूत होकर उसके प्रति अपना आत्म-समर्पण कर देता है तब उस व्यक्ति के हृदय में उस सत्ता के प्रति एक नवीन तल्लीनता का संचार होता है। यह तल्लीनता परिस्थितियों के माथ से उत्पन्न नहीं होती, वरन् इसका मूलाधार व्यक्ति की वाह्य एवं आन्तरिक प्रेरणा है। वह अपने चारों ओर अनन्त सृष्टि, अनन्त आकाश एवं अनन्त सागर को देखकर अनन्त सत्ता का आभास करता है। यह आभास व्यक्ति के विभिन्न दृष्टिकोणों पर अवलम्बित है। यदि वह उस सत्ता को कुतूहल तथा गम्भीरता के साथ देखता है, तो वह उसकी दार्शनिक ढङ्ग से विवेचना करता है। यदि उसका दृष्टिकोण उस सत्ता के प्रति मन-मोहक हुआ, ऐसी अवस्था में वह विवेचना तथा गम्भीरता में न पड़ कर आनन्दातिरेक से विह्वल हो नाचने लगता है। एक क्षण भर के लिए अपने को भूल-सा जाता है। यह तल्लीनता, विह्वलता एवं आत्म विस्मृति 'भक्ति' के पर्याय हैं। भक्ति के लिए विवेचन अथवा मस्तिष्क की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी विह्वलता तथा अनुभूति की। अब यदि कहा जाय कि यह विह्वलता अथवा अनुभूति सदैव परिस्थितियों से प्रेरित होकर ही होती है, तो यह कथन उचित नहीं। जहाँ मनुष्यों में विचार हों, भावनायें हों, वहाँ अनुभूति बिना निमन्त्रण दिए ही उपस्थित होगी। और सच तो यह है कि अनुभूति रहित मनुष्य का जीवन ही निरर्थक है। कभी कभी अवश्य परिस्थितियों से पराभूत होकर अनुभूति का उद्रेक होता है, पर ऐसा सदैव नहीं होता, और न ऐसी अनुभूति हमारे हृदयों में आनन्द एवं तल्लीनता का ही पूर्ण सञ्चार कर सकती है। अत भक्ति का मूल स्रोत परिस्थिति न होकर किसी 'अनन्त सत्ता' के प्रति तल्लीन हो जाने की अनुभूति है। परिस्थितियों से प्रेरित अनुभूति में जो विह्वलता और जो आत्म विस्मृति होगी, वह क्षणिक ही होगी। क्योंकि परिस्थितियों का अन्त होता है, और उस अन्त के साथ हमारी आत्मानुभूति का भी अन्त हो जाये, यह कहना यथार्थ नहीं। मनुष्य की आत्मानुभूति एवं आत्म तल्लीनता ऐसी दो अमल धवल धारायें हैं, जिनका आदि और अन्त उस हिमाद्रि से सम्बन्धित है जिससे वे प्रवाहित हुई हों। जब तक हिमाद्रि है, गंगा-यमुना की धारायें भी हैं। सूर्य के आतप अथवा कंकरीले पथरीले मार्ग पर प्रवाहित होने से उनकी धारा भले ही क्षीण हो जाये, पर वह सदा के लिए अपना अस्तित्व खो बैठे, ऐसा तो नहीं। इसी प्रकार व्यक्ति का जब तक अस्तित्व है, आत्मानुभूति और आत्म-तल्लीनता रहेगी। हाँ यह अवश्य है कि समय के आघात से उनका अस्तित्व कुछ दिनों के लिए क्षीण हो जाये। भक्ति का स्रोत अनादि एवं अनन्त है। अत यह कहना कि परिस्थितियों के प्रभाव से हिन्दी-कविता में भक्ति भाव जाग्रत हुए पूर्ण रूप से सत्य नहीं। परिस्थितियाँ तो साधन-मात्र रहीं। उन्होंने भक्ति के क्षीण हुए स्रोत को सावन भादों की वर्षा से परिपूर्ण कर दिया—यह अवश्य मान्य है।

ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार दक्षिणी भारत पर मुसलमानों के आक्रमण अधिक देर में हुए। दक्षिण पर सबसे प्रथम आक्रमण सन् १२९६ ई० में अलाउद्दीन 'खिलजी' की अध्यक्षता में देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) पर हुआ था। इसके बहुत पहले अर्थात् ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में सगुण भक्ति के दो महान् आचार्य—क्रमशः 'रामानुज' तथा 'मध्व' दक्षिण में उत्पन्न हो चुके थे। अत यह

तो निर्विवाद सिद्ध है, कि भक्ति की अमल धारा पहले से ही दक्षिण में प्रवाहित हो रही थी। अब यह जानना रह गया है, कि इस भक्ति-भाव के बीज हिन्दी कविता में कैसे आए? क्या परिस्थितियों—राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों—के प्रभाव से, अथवा स्वतन्त्र भक्ति-भाव के प्रसरित विचार-तन्तुओं से?

हमें हिन्दी-कविता में भक्ति-भाव के मूल बीज नामदेव की वाणी में ही सर्व प्रथम मिलते हैं। उन पर एक ओर तो नाथपंथियों तथा हठयोगियों की छाप थी, और दूसरी ओर भक्ति-पूर्ण भावना की। *एक स्थान पर वह तत्कालीन प्रसिद्ध नाथ-पन्थी* ज्ञानदेव से प्रभावित होकर कहते हैं—

"माइ न होती, बाप न होते, कम्म न होते काया।"

वहीं दूसरी ओर अपनी आन्तरिक-भावना एवं अनुभूति से प्रेरित होकर आनन्द-विभोर हो कीर्तन कर उठते हैं—

"भगत हेत मार्यो हरनाकुस,
नृसिंह रूप ह्वै देह धरयो।" आदि

भक्त नामदेव दक्षिण में उत्पन्न हुए थे। उनका समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने (सं० १३२८–१४०८) माना है। इस तिथि के अनुसार दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमण प्रारंभ हो चुके थे, यह तो ठीक है। पर क्या इन्हीं आक्रमणों से प्रेरित होकर ही नामदेव की भक्ति-भावना प्रस्फुटित हुई? यह एक सोचने का विषय है। यदि राजनीतिक परिस्थिति से भक्ति के दृढ़ तन्तु निर्मित होते तो उनका निर्माण उत्तर भारत में ही होना चाहिए था, दक्षिण में नहीं। क्योंकि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का प्रभाव दक्षिण की अपेक्षा उत्तर पर अधिक पड़ा था। मठ और मन्दिर मथुरा एवं काशी के ढा दिए गये थे, पर विठोबा (ठाकुर जी) का मन्दिर उस समय भी महाराष्ट्र देश में प्रतिष्ठित था। फिर मथुरा तथा काशी में भक्ति-भावना प्रस्फुटित न होकर विठोबा भगवान के चरणारविन्द पर ही हो, यह समझ में नहीं आता। वस्तुतः, इसका मूल कारण यही है कि भक्ति के स्थायी अणु पहले से ही मानव-अनुभूत्याकाश पर सचरण कर रहे थे, उनका एकीकरण दक्षिण के तीन आचार्य—'रामानुज', 'मध्व' तथा 'निम्बार्क' ने किया। बाद में इन आचार्यों का प्रभाव 'नामदेव', 'वल्लभाचार्य' तथा 'रामानन्द' आदि भक्तों पर पड़ा और अन्त के दो महापुरुषों ने उन एकत्र किए अणुओं को उत्तरी भारत में ले जाकर 'अणुबम' का रूप दिया, जो बाद में जाकर कुछ आत्म प्रेरणा तथा कुछ परिस्थितियों के कारण 'कबीर', 'तुलसी' तथा 'सूर', आदि भक्तों की अमर *वाणियों से आहत होकर फूटा और तत्कालीन राज*-नीतिक एवं धार्मिक नैराश्य के लिए बहुत-कुछ विनाशकारी सिद्ध हुआ।

कुछ भी हो हिन्दी कविता में भक्ति की भावना प्रधानत दो कारणों से जाग्रत हुई। प्रथम और सबसे प्रमुख कारण तो 'रामानुज' आदि भक्तों की भावनाओं में भक्ति का पहले से ही उपस्थित होना था। साधारण जनता जिसकी ओर पहले से ही आकर्षित हो चुकी थी। स्वयं आचार्य शुक्लजी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति काल के 'सामान्य परिचय' में लिखते हैं—"रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था, उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।" दूसरा कारण तत्कालीन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ थीं जिनकी प्रतिक्रिया एक नवीन आन्दोलन का रूप धारण कर हिन्दी साहित्य में अवतरित हुई। एक ओर इस आन्दोलन में सच्चे हृदयोद्‌गार तथा हृदय की उस अनन्त सत्ता (ईश्वर) के प्रति सच्ची स्नेहानुभूति थी, और दूसरी ओर मन्दिरों को ढा, मस्जिद बनाने की संकुचित एवं विषैली भावना तथा धार्मिक 'गोरख धन्धे' के विरुद्ध विद्रोह की एक प्रज्वलित चिनगारी थी। इस प्रकार भक्ति की जो लहर दक्षिण से उत्तर में आई, उपर्युक्त दो कारणों

से उसने धार्मिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया और तभी से हिन्दी कविता में भक्ति की अमल धारा बह पड़ी।

महाराष्ट्र भक्त नामदेव के पश्चात् हिन्दी कविता में भक्ति भावनाओं का समावेश सन्त कबीर ने किया। कबीर ने अपनी कविता म जिस भक्ति का निरूपण किया वह "व्यक्ति-गत ईश्वर (राम कृष्ण) के प्रति नहीं थी। कबीर 'निर्गुण" के उपासक थे, पर अनेक पदों म उन्होंने इसी 'निर्गुण' से व्यक्तिगत प्रेम का सम्बन्ध जोड़ लिया।" कभी प्रेम एवं भक्ति से विह्वल होकर वे 'हरि' को जननी कह उठते हैं—

'हरि जननी मे बालक तेरा।
काहे न औगुन बगसहु मेरा।"

कभी अपने राम की 'बहुरिया' बनकर प्रेमातुर होने लगते हैं—

"हरि मेरा पीव भाई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै, मेरा जाव॥"

और कभी अपने इष्टदेव के प्रति रति भावना से प्रेरित हो उठते हैं—

"बहुत दिनन मैं मैं प्रीतम पाए,
भाग बड़े घरि बैठे आए।"

भक्त के लिए भक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। कबीर का भक्त हृदय कभी कभी पुकारने लगता है—

"अब हरि हूँ अपनी करि लीनीं,
प्रेम भगति मेरौ मन भीनी।"

कबीर की इस 'निर्गुण भक्ति' में भाव व्यञ्जना तो थी, पर वह जन साधारण के लिए 'गुह्य' तथा 'रहस्यमयी' होने के कारण सुलभ न होकर अटपटी थी। 'नानक' तथा 'दादू' आदि सन्तों ने इसी भक्ति भावना का अनुकरण अपनी वाणियों में किया।

कबीर की 'निर्गुण भक्ति' के अन्तर्गत जायसी की 'प्रेम भक्ति धारा' हिन्दी-कविता में प्रवाहित होती है। इसमें फारस के 'सूफी मत' तथा भारत की भक्ति-भावनाओं का अपूर्व सम्मिश्रण कर भक्ति का एक 'सामान्य मार्ग' निकाला गया था। किस प्रकार एक प्रेमी (भक्त) अपनी प्रेमिका (ईश्वर) को प्राप्त करने के लिए बीहड़ बनों तथा अथाह समुद्रों को पार करता हुआ, उस तक जाता है, आदि भावनाओं का वर्णन करके सूफी कवियों ने हिन्दी-कविता में अद्भुत भक्ति भावों की व्यञ्जना की है।

पर हिन्दी-कविता में भक्ति भाव की सच्ची व्यञ्जना हमें 'सगुण भक्ति' में ही देखने को मिलती है, जब 'भक्ति काल' के दो प्रधान स्तम्भ तुलसी और सूर अपने अपने इष्टदेव राम और कृष्ण को लेकर हिन्दी साहित्य में अवतरित हुए।

तुलसी की भक्ति व्यक्तिगत ईश्वर (राम) की भक्ति है। तुलसी के राम 'भव भय हारी' तथा साधुओं (भक्तों) की रक्षा करने वाले हैं। भक्तों को निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि—

"जब जब होहि धरम कै हानी।
बाढहिं अधम असुर अभिमानी॥
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥"

और स्वय भगवान भी भक्तों को धैर्य बँधाते हुए कहते हैं—

"जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहिं लगि धरहउँ नर बेसा॥"

भगवान सर्वत्र व्यापक हैं। वे भक्त की रक्षा के लिए पत्थर से भी उत्पन्न हो जाते हैं—

'अतर्जामिहु तें बड़ बाहिर जामी हैं,
राम, जो नाम लिये तें।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु
पाहन तें, न हिये तें॥"

ऐसे भगवान के लिए यदि भक्त यह कामना करे कि—

"यहि जग महँ जहँ लगि
या तन की प्रीति प्रतीति सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों
होहु सिमिटि इक ठाई॥"

तो उचित ही है।

तुलसी की भक्ति बड़ी सुगम है। भक्त शुद्ध हृदय, सरल वाणी तथा सरल कर्म्मों से भगवान की भक्ति प्राप्त कर सकता है—

"सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर-प्रेम-प्रसूति॥"

आदि भक्ति-भावनायें भक्तों के हृदय मे पूर्ण भक्ति का सञ्चार कर देती हैं।

सूर की भक्ति मे भी यही भाव-प्रवणता आदि से अन्त तक भरी पड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के भक्त हृदय को न तो तत्कालीन समाज से ही कुछ विद्रोह है और न धार्मिक परिस्थितियों से ही अधिक ममता है। उसे यदि विद्रोह है तो अपने भगवान के साथ और ममता भी है तो उसी के साथ। सूर के भगवान भक्तों के वशीभूत हैं—

"हम भक्तन के भक्त हमारे,
सुनि अर्जुन परितिग्या मोरी।"

और भक्तों के लिए ही अवतार धारण करते हैं—

"भक्त हेतु अवतार धरयो।"

भक्त जब भगवान की ऐसी प्रतिज्ञा देखता है तो उसके प्रति अनन्य भक्ति करने लगता है—

"स्याम बलराम को सदा गाऊँ
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव को
स्वप्न हूँ माँहिं नहिं हृदय ल्याऊँ॥"

यह अखण्डित भक्ति एवं अनन्यता की चरम सीमा है। भक्त जो कुछ भी है—बुरा है अथवा भला है—भगवान का ही है और वह भक्ति के लिए भगवान से संघर्ष करेगा; क्योंकि उस भगवान को छोड़कर भक्त के लिए अन्य कोई आश्रय ही नहीं और यदि है भी तो उसे वह चाहता नहीं—

"तुम तजि और कौन पै जाऊँ ?
काके द्वार जाइ सिर नाऊँ,
पर हथ कहाँ बिकाऊँ ?"

भक्त की भक्ति-भावों से भरी विवशता उस पतिव्रता स्त्री जैसी है जो अपने पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष की कामना ही नहीं करती। पति से संघर्ष हो जाने पर भी वह उससे पृथक नहीं होना चाहती। वह तो केवल अपने पति की अटल भक्ति चाहती है। इसी प्रकार सूर का भक्त हृदय सब छोड़ कर भगवान की निरन्तर भक्ति की कामना करता है—

"अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु,
नाहिनै रुचि आन॥"

इसी प्रकार नन्ददास की भक्ति-विह्वला गोपियाँ भी भगवान की भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहतीं। वे भगवान के प्रेम में इतनी विह्वल हो जाती हैं कि उनकी तन्मयता के कारण कृष्ण (भगवान) उनके नेत्रों के समक्ष आ जाते हैं और तब भक्ति की चरम सीमा देखते ही बनती है—

"अहो नाथ श्री नाथ और यदुनाथ गुसाइं।
× × ×
काहे न फेरि कृपाल ह्वै,
गो ग्वालन सुधि लेहु।" आदि।

वस्तुतः, यह भक्ति-भाव की उत्कृष्ट अभिव्यञ्जना है।

भक्ति-भाव की जैसी अपूर्व एवं वेदनापूर्ण अभिव्यञ्जना हमें 'मरुस्थल की मोहिनी धारा मीरा' के भावों में मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं। मीरा की भक्ति भावना में एक टीस है, एक वेदना है और एक करुण पुकार है। प्रेमिका (भक्त) अपने प्रेमी (भगवान) के प्रेम (भक्ति) मे 'दिवानी' होकर अविकल हो उठती है—

"हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी,
मेरो मरम न जानै कोय।

फिर भी वह प्रेमिका (भक्त) धैर्य धारण किए है। क्योंकि—

"मीरा के प्रभु गहर गँभीरा,
घरे रहौ जी धीरा।
आधीरात प्रभु दरसन दैहैं,
प्रेम नदी के तीरा॥"

प्रेमी (भगवान) यदि मिलेगा, तो नीरव रजनी में प्रेम नदी (भक्ति) के किनारे और यह सोचकर प्रेमिका (भक्त) का धैर्य धारण करना विह्वलता की पराकाष्ठा है।

जिस प्रकार एक नवागता कुलवधू अपने लज्जा पूर्ण 'घूँघट' को खोले बिना अपने पति के मुखार विंद का मकरन्द पान नहीं कर सकती, उसी प्रकार माया-मोह के आवरण से आच्छादित भक्त का हृदय भगवान की चिरन्तन भक्ति का मधुर पान नहीं कर सकता। इसके लिए आवश्यकता है 'माया' के परदे से अनावरित होने की—

'घूँघट के पट खोल रे तोहि पिया मिलेंगे"

मीरा की भक्ति भावना की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी अपने कृष्ण (पति) के प्रति पूर्ण अनयता—ऐसी अनन्यता जिसके कारण उन्हें समस्त संसार स्त्री रूप में ही दिखाई देता है। यदि पुरुष है तो केवल वही नटनागर नन्द नन्दन गोपाल। वह कहती हैं—"कृष्ण के अतिरिक्त और पुरुष है कौन जिसके सामने मैं लज्जा करूँ।"

यदि सच पूछा जाय तो कृष्ण प्रेम विह्वला मीरा का सम्पूर्ण जीवन ही भक्ति भाव का प्रतीक है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी कविता में भक्ति भाव की पूर्ण व्यञ्जना हमें 'छछिया भर छाछ पर नाचने वाले माखन चोर' के भक्त 'रसखान' की कविता में देखने को मिलती है। भक्त के हृदय में त्याग और आत्म समर्पण की इतनी दृढ़ता है कि वह अपने भगवान के प्रति ही नहीं वरन् भगवान के संसर्ग में आने वाली वस्तुओं पर भी सर्वस्व छोड़ने को प्रस्तुत है—

या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।

वाहरे भक्त रसखान! कृष्ण की 'लकुटी' और 'कामरिया' पर ही तीनों लोकों का राज्य त्यागने पर तुल गये हो। भक्त का अपूर्व संतोष देखिए। उक्त पंक्ति में फूटा पड़ता है।

इस प्रकार अन्य भक्त-कवियों की भव्य भक्ति भावनाओं की उर्मियों से हिन्दी काव्य सागर लगभग तीन सौ वर्षों तक वेग गति से उद्वेलित होता रहा। परन्तु कालान्तर में उसमें शिथिलता आने लगी और उर्मियों में 'ज्वार' का स्थान 'विहार' ने ले लिया।

हिन्दी-कविता में रीति काल वासना पूर्ण भाव नाओं का युग था। इस काल में भक्ति की लहर का अस्तित्व तो रहा, पर उसमें वह उद्वेलन न रहा जो एक समय हुआ था। कुछ इने गिने कवियों ने ही भक्ति भावनाओं का हिन्दी-कविता में उद्रेक किया। कवि-हृदय मधुप जब नायक-नायिकाओं के सौंदर्य मकरन्द पान से छक गया, तभी उससे भक्ति भाव प्रस्फुटित हुए। यद्यपि इस युग में 'रामचन्द्रिका' जैसा विशाल ग्रन्थ राम के चरित में लिखा गया, पर उसमें भक्ति की वह सरस एव कोमल भावना न आ सकी जो तुलसी आदि में आई थी। उसका कारण केशव का भक्ति शून्य हृदय था। कुछ 'सेनापति' प्रभृत राम भक्त कवियों ने अवश्य अवसर पाकर अपनी कविता में भक्ति भाव भरे हैं—

"हरिजन पुञ्जनि में, वृन्दावन-कुञ्जनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर—तर जाय कै।"

भक्त के भावों में भगवान के प्रति आत्म समर्पण तथा भक्ति की अनुभूति तो है पर वह किसी के बोझ दबी-सी लगती है। फिर भी इस युग में भक्ति-भावनापूर्ण कुछ रचनाएँ हुईं जो अधिकाँश में हृदय की न रह कर परिस्थिति की ही रहीं।

भक्ति भाव की जो लहर वासनापूर्ण वातावरण में पड़ कर कुछ काल के लिए शिथिल पड़ गई थी

वह नवीन वायु के स्पर्श से पुनः चचल एव उद्वेलित हो उठी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश ने हिन्दी कविता मे जहाँ एक ओर प्रगति का आह्वान किया वहीं दूसरी ओर भक्ति-भावों की भी उसने समुचित व्यञ्जना की।

मैथिलीशरण 'गुप्त' गोपालशरणसिंह तथा अयोध्यासिंह 'उपाध्याय' ने राम तथा कृष्ण की भक्ति-भावना अपनी कविताओं में प्रस्फुटित की है। पर उस भावना के पीछे 'बुद्धिवाद' का भूत लगा है। केवल 'गुप्त' जी ही ऐसे कवि हैं जिनपर आधुनिक 'बुद्धिवाद' का कम प्रभाव पड़ा है। उनके भक्त-हृदय को राम और कृष्ण के ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास है वे 'रंग मे भँग' का आरम्भ राम के ईश्वरत्व की प्रार्थना से करते हैं—

"लोक-शिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया;
+ + +
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है।"

भक्त अपने भगवान की भक्ति के लिए किसी से कुछ कहने नहीं जाता। 'गुप्त' जी को भी 'बुद्धिवादियों' से कुछ कहना नहीं। उन्हें तो अपने आत्माराम पर दृढ़ विश्वास है—

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?
+ + +
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।"

भक्त की भगवान के प्रति सच्ची अनन्यता उपर्युक्त छन्द मे कैसी भरी पड़ी है! चाहे राम मनुष्य ही क्यों न हों, पर भक्त उनके अतिरिक्त अन्य किसी को ईश्वर मानने के लिए प्रस्तुत नहीं।

भक्त जब भगवान के रहते हुए भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं कर पाता तो चिल्ला उठता है—

"रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं!"

और तब भगवान असम्भव को सम्भव बनाकर भक्त से कहते हैं—

"हे पार्थ, प्रण पालन करो,
देखो अभी दिन शेष है।"

ऐसी अवस्था में अपना प्रण पूर्ण देखकर भक्त का हृदय भक्ति-भावना से गद्गद हो उठता है।

आधुनिक युग मे हिन्दी-कविता म एक नवीन भक्ति-भावना और सुन पड़ती है। उसे हिन्दी के कई विद्वान मरुस्थल की मोहिनी धारा मीरा की भक्ति-भावना के सन्निकट देख रहे हैं। निःसन्देह, इस भक्ति-भावना में टीस है, वेदना है और उस अदृश्य सत्ता के प्रति एक करुण पुकार है। पर वह मीरा की सगुण भक्ति से सर्वथा भिन्न है। 'प्रेम की पीर' तथा आत्मसमर्पण की इस दशा को—

'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।"

तथा प्रेमिका (भक्त) का प्रेमी (भगवान) से मिलने की इस घोर साधना—

"प्रिय पथ के ये शूल मुझे अति प्यारे ही हैं।"

को देखकर सहसा कवि के भक्त-हृदय की ओर मन आकर्षित अवश्य हो जाता है; पर साथ ही जहाँ—

"तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी-
देख लूँ उस ओर क्या है।

की भावना मे 'कुछ जानने' की इच्छा होती है, वहाँ 'भक्तिवाद' से 'बुद्धिवाद' का विरोध आ पड़ता है। भक्त तो भगवान के प्रति बिना कुछ जाने हुए ही अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। अस्तु, आधुनिक युग में हिन्दी-कविता में भक्ति-भावना की समुचित व्यञ्जना हमे 'गुप्त' तथा कुछ गोपालशरणसिंह की कविताओं में ही मिलती है।

साराश, हिन्दी-कविता म भक्ति-भाव की जो धारा दक्षिण में 'नामदेव' ने प्रवाहित की थी वह 'भक्ति-काल' मे पूर्ण वेग से बहती रही। 'रीतिकाल' के आने पर उसकी धारा में शिथिलता आने लगी। पर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में वह पुनः प्रवाहित होने लगी। आगे उसका क्या होगा यह भविष्य का विषय है।

आलोचना

काव्य में रहस्यवाद—लेखक—पंडित किशोरी दास वाजपेयी शास्त्री, प्रकाशक—हिमालय एजेन्सी कनखल । पृष्ठ संख्या ३२ । मूल्य ।=)

पण्डितजी ने इस छोटे ग्रन्थ में रहस्यवाद के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं । आरम्भ में ही आपने रहस्य शब्द का संबंध काम शास्त्र के रहस्य से जोड़ा है । भक्त लोग भी रहस्य शब्द का प्रयोग करते हैं श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरित मानस में भी यह शब्द आया है—उस अर्थ में क्यों न लिया जाय । वाजपेयीजी ने शुक्लजी की उक्तियों को दुहराते हुए उसका साहित्यिक वाद के रूप में खण्डन किया है और उसमें कोई दोष भी नहीं किन्तु उसके खण्डन में उसके साधकों सिद्धों और वर्तमान रहस्यवादी युवक कवियों के भ्रष्टाचार का अधिक सहारा लिया है । आचार्य शुक्लजी ने जहाँ रहस्यवाद और छायावाद को समझने का प्रयत्न किया है वहाँ उनकी भी निन्दा की गई है । आचार्य शुक्लजी ने छायावाद को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया कहा है । इस पर वाजपेयीजी बहुत रुष्ट हैं । सरसता का ये कोई मूल्य नहीं समझते हैं । हम इस बात में सहमत हैं कि रहस्यवाद की कविता उन्हीं लोगों को करना चाहिए जिनकी प्रवृत्ति कुछ ईश्वरोन्मुख हो । ढोंग के सभी खिलाफ हैं ।

साहित्य में प्रगतिवाद—लेखक—श्री सोहनमल लोढ़ा, प्रकाशक—नव जागरण प्रकाशनगृह जोधपुर । पृ० सं० ५२, मूल्य १)

लेखक के शब्दों में प्रस्तुत पुस्तक उनकी अप्रकाशित पुस्तक "जीवन और साहित्य में मार्क्सवाद" की प्रस्तावना व धुँधली झलक है किन्तु यह छोटी सी पुस्तक स्वतः पूर्ण है । लेखक प्रगतिवादी अवश्य है किन्तु संकुचित अर्थ में नहीं है । उसने बतलाया है कि मार्क्सवाद सामाजिक विकास की भाँति साहित्य की मूल प्रेरणा आर्थिक है । यह मार्क्सवाद की अपूर्णता और एकाङ्गीपन है । लेखक के मत से साहित्य पर कला की मूल प्रेरणा सिर्फ आर्थिक सम्बन्धों में ढूँढना उतनी ही भारी भूल को प्रश्रय देना है जितना फ्रायडनी यह बात मान कर कि कला मात्र द्वन्द्व पीड़न का सात्विक विकास है । लेखक पूरे जीवन को ही साहित्य का प्रेरक मानता है । जब मार्क्सवाद ही जीवन का अपूर्ण और अर्द्ध विकसित दर्शन है तो उससे प्रेरित और उससे गति का दान लेने वाली एक धारा—प्रगतिवादी साहित्य या कला का आधार बनने की योग्यता नहीं रखता । लेखक ने ठीक ही बतलाया है कि मार्क्स के सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी के भौतिकवाद पर अवलम्बित है किन्तु अब विज्ञान ने भी पलटा खाया है । संसार की उन्नति में आर्थिक कारणों की अपेक्षा विचार और आदर्श अधिक काम करते हैं । कार्लमार्क्स ने वर्ग के सामने व्यक्ति को नगण्य माना है किन्तु लेखक और हमारे मत से भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती । सच्चा साहित्य सृजन व्यक्तित्व की अपेक्षा रखता है । वह पार्टी या वर्ग के पूर्व आयोजित आदर्श पर नहीं चल सकता । नेपोलियन भी साहित्य को पूर्व निर्धारित आधारों पर चलाने में

असमर्थ रहा था। इस हिसाब से प्रगतिवाद की आलोचना के भाव हलके पड़ जाते हैं। प्रगतिवाद ने प्रेमचन्द, यशपाल और अज्ञेयजी के मूल्याङ्कन मे भूल की है। उनमें कलात्मक मूल्यों की उपेक्षा की गई है। पुस्तक आधुनिक प्रगतिवाद के मान बदलने के लिए एक चुनौती का काम देगी। —गुलाबराय

तुलसी—लेखक-डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए० डी० लिट०, अध्यापक हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्व विद्यालय प्रकाशक–साहित्य कुटीर, प्रयाग। पृष्ठ १५४, मूल्य २)

डाक्टर माताप्रसाद गुप्त 'तुलसी' के विशेषज्ञ हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से अध्ययन की ठोस वैज्ञानिक प्रणाली को प्रोत्साहन मिल रहा है, जिसमें शुद्धसार वस्तु को ही व्यवस्थित रूप से प्रकाश में लाया जाता है। डाक्टर गुप्त ने उसी प्रणाली में इस छोटी सी पुस्तक में तुलसी सम्बन्धी समस्त शोधों का उपयोग कर 'तुलसी' का अध्ययन किया है। इसमें १६ अध्याय हैं जिनमें तथाकथित जीवनियाँ, स्थानीय सामग्रियाँ, कृतियाँ, जीवन-वृत्त, गोसाई उपाधि, रचनाओं का काल क्रम, तुलसी पूर्व का राम साहित्य, मौलिकता, चरित्र चित्रण, तुलसी के राम, तुलसी के भरत, अन्यपात्र, आध्यात्मिक आधार, साधना, साधना का आदर्श तथा उपसंहार हैं। लेखक ने यथासम्भव वैज्ञानिक और न्यायदृष्टि का उपयोग किया है, फिर भी कहीं कहीं 'दृष्टिच्युति' मिल ही जाती है। उदाहरण के लिए 'सोरों' की सामग्री पर विचार करते समय 'सन्त तुलसी साहिब' के मत बाँदा गजेटियर के मत से प्राधान्य देना। 'तुलसी साहिब' की दी गयी तीन तिथियों में से एक तिथि ठीक उतरती है, और कौन कह सकता है कि यह भी दैवयोग से नहीं। तुलसी साहिब के पास निश्चय ही वैज्ञानिक साधन शोध के नहीं होंगे। बाँदा गजेटियर के शोधकर्त्ता नये युग और नये साधनों से काम ले रहे थे, और यह सुनिश्चित है कि सोरों से जाकर किसी ने राजापुर में यह प्रचलित नहीं कराया होगा कि तुलसी सोरों से आये थे। तुलसी साहिब ने उनका जन्म राजापुर माना यह तो बहुत साधारण धरातल की ही बात है, राजापुर से तुलसी का सम्बन्ध तो निश्चय ही रहा ही था। इसका किसी ने प्रतिवाद नहीं किया था, अतः जैसे सूरदास के रुनकुता में रहने की ख्याति से आज के युग में भी बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने उनकी जन्मभूमि भी रुनकुता में मान ली, वैसे ही तुलसी-साहिब ने स्वीकार करली हो तो आश्चर्य क्या? किन्तु सोरों से उनके सम्बन्ध की बात अन्यत्र कहीं न मिलकर भी मिलती है 'राजापुर' में—इसमें जो रहस्य है उसके महत्व को समझने का यत्न किया जाना चाहिए था, और सोरों की सामग्री को एक दम संदिग्ध दृष्टि से देखने की वृत्ति बदली जानी चाहिए थी। फिर भी लेखक ने निष्कर्ष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने दिया, उसने निश्चित रूप से न सोरों को न राजापुर को जन्म-स्थान माना है। इसी प्रकार 'गोस्वामी' के प्रयोग के सम्बन्ध में वे भूल गये हैं कि लिपि का जयकृष्णदास स्वयं लेखक है अतः गोस्वामी नहीं लिखता, जबकि अन्य विषयों में उनसे भिन्न व्यक्तियों ने लिखा है और इस शब्द का प्रयोग कर दिया है, जिससे जयकृष्णदास के प्रमाण का कोई मूल्य नहीं रहता। इसी प्रकार गहन समीक्षा से कुछ विचारणीय स्थल मिल सकते हैं, किन्तु उससे पुस्तक के मूल्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। स्पष्ट, संक्षिप्त और अधिकाँशतः निर्भ्रान्त वृत्त और विवरण तथा विचार यहाँ मिलते हैं।

रामचरित मानस का पाठ (दो भाग)—लेखक-डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए० डी० लिट्०, प्रकाशक–साहित्य कुटीर प्रयाग। पृष्ठ सं० ६३२, मूल्य ४)+४) = ८)

यह डा० माताप्रसाद गुप्त का मौलिक तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयत्न है। इसमें रामचरित मानस

तन्मयता की आवश्यकता होती है, कवि के पास उसकी अक्षय राशि है, फिर भले ही वह वैभव से अकिंचन क्यों न हो। जीवन की तृष्णा और अशांति के बीच वह प्रभु के चरणों में अपना 'लघु धाम' बना लेता है। यौवन और सौन्दर्य के आकर्षण से वह अनभिज्ञ नहीं है, किन्तु जीवन की असारता का ज्ञान होने के कारण वह भगद्भजन को ही इष्ट मानता है। रूप की वास्तविकता तो भुलावा है, अत उस पर जीना विनाश को निमन्त्रण देना है। उसे ऐश्वर्य की असलियत का भी पता है—

जिसकी मिट्टी भी पुजती थी,
वह मिट्टी में मिलते देखा।
थी सुमन सेज जिसकी कल तक,
वह आज पड़ा भू पर देखा।

ईश्वर 'स्वय सिद्धि' और 'अतुल ऋद्धि' है, उसमें कवि की जो आस्था है, वह वन्दनीय है, पर जीवन को 'भूल' के रूप में ग्रहण करना कहाँ तक वाञ्छनीय है, इस पर प्रश्न उठाया जा सकता है। जीवन एक अभिशाप नहीं, अत उसे "एक भारी भूल हूँ मैं" के रूप में ग्रहण करना उसके महत्व को विस्तृत करना है। इसीलिए शायद वियोगी हरि ने, इस पुस्तक के प्रारम्भ में दो शब्द लिखे हैं, कवि को मानव की सहज आराधना में लग जाने के लिए कहा है। इस पवित्र कामना का सभी समर्थन करेंगे, कारण कवि की ओर हम आशापूर्ण दृष्टि से देख सकते हैं।

—श्री मोहनलाल एम० ए०,

राजनीति

समाजवादी विचारधारा—लेखक–श्री बालकृष्ण बलदुवा, प्रकाशक–गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ। पृष्ठ ६४, मूल्य १॥)

बलदुवाजी के २८ चिन्तन कण इसमें तीन भागों में प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें लेखक की वह मानसिक स्थिति के चित्र हैं जो अमीरी-गरीबी के वैषम्य को देख कर उसकी प्रतिक्रियाएँ बनीं और जिसके परिश्रम में उसे अनुभूतियाँ हुईं—मानवी, मानव मानव की प्रतिष्ठा सम्बन्धी और मानवता की अप्रतिष्ठा के मूल से सम्बन्ध रखने वाली। लेखक ने पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट कर दिया है कि न अनुभूतियाँ समाजवादी विचारधारा बन गई हैं। किन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं कि इसमें आर्थिक समवितरण का ही राग अलापा गया है। लेखक ने मानवीय मूल्यों का ही अङ्कन करने का विशेष प्रयत्न किया है—इसीलिए प्रत्येक शब्द पठनीय हो गया है, शैली भी रोचक। आरम्भ में छोटे टाइप में एक मार्मिक समस्या की ओर संकेत कर दिया गया है, जिससे ध्यान मुख्य विषय पर केन्द्रित हो जाय। फिर स्थिति का विवेचन और अनुभूति का काव्यात्मक तथा कथात्मक शैली में निरूपण किया गया है। निरूपण संक्षेप में केवल आवश्यकता भर का किन्तु हार्दिक शब्दों में किया गया है। पुस्तक पठनीय है। —सत्येन्द्र

नाटक

सम्राट खारवेल—(तथा दूसरे तीन एकाकी नाटक) लेखक–जयन्तीप्रसाद जैन साहित्य रत्न, बिलराम, एटा, प्रकाशक श्री नवयुग जैन साहित्य मन्दिर, खतौली। पृ० स० ६८, मूल्य सवा रुपया।

यह एक संग्रह है, जिसमें जम्बू कुमार, अञ्जन, मुक्तियज्ञ तथा सम्राट खारवेल नाम के एकाकी हैं। 'मुक्तियज्ञ' कल्पना प्रसूत है, शेष तीन जैन चरित्रों और जैन इतिहास से सम्बन्धित हैं। लेखक का यह उद्योग प्रशंसनीय, किन्तु अभी लेखक को अधिक अभ्यास की आवश्यकता है। आज हिन्दी में एकांकियों का स्वर बहुत ऊँचा हो चुका है। —सत्येन्द्र

Licence No. 10
Licensed to Post without Prepayment

?3] आगरा—अगस्त १९५१ [अङ्क ?

·मम्पादक
लानराय एम० ए०
एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
? रज भण्डार, आगरा,

मुद्रक
।हित्य प्रेस, आगरा

[ल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

ऋतम्भरा—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या २॥)

हिन्दी की योग्यता कैसे बढ़ाएँ—
मोहनलाल श्रीवास्तव १॥)

लोक व्यवहार—सन्तराम, बी० ए० ६।

अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—
डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ६)

साहित्य और साधना—डा० भागीरथ मिश्र ४॥)

मकरन्द—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ३॥)

हिन्दी गद्य मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी ६)

हिन्दी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—
प्रो० ओमप्रकाश, एम० ए०

उद्धव शतक समीक्षा—
रामनारायण मिश्र एम० ए० १॥)

विविध

जाति विच्छेद—बी० आर० अम्बेडकर ।-)

नाटक

कल और आज—...ह, एम० ए० ।॥)

मृच्छ कटिक नाटक—
ब्यौहार राजेन्द्रसिंह एम० ए० २।)

नौहर—नारायण चक्रवर्ती ।≈)

स्वर्ग का पतन—डा० अरुण १)

गन्ध कवि—नारायण चक्रवर्ती १)

वैदिक-साहित्य

गायत्री—विद्यानन्द विदेह १॥)

वैदिक-योग पद्धति—आचार्य विदेह ।≈)

वैदिक बाल शिक्षा— " " ।≈)

आर्य समाज का साप्ताहिक अधिवेशन—
आचार्य विदेह ।≈)

सर्व भौम आर्य साम्राज्य— " " ॥)

विदेह आलाप— " " ।)

कहानी

नील अंगार—ब्रजेन्द्र ॥)

ग्रहण के बाद—नरेन्द्र ।)

मौन के स्वर—ब्यौहार राजेन्द्रसिंह ॥।)

नई कहानियाँ—अशान्त त्रिपाठी १॥)

मुक्ता हार—श्री वैजनाथ राय ।-)

टीकाएँ

मध्यमा हिन्दी पथ प्रदर्शक गाइड—
कुमुद विद्यालङ्कार ६)

सूर समह की टीका—केदारनाथ द्विवेदी २)

भ्रमण

सर्वोदय यात्रा—विनोबा— ॥)

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दूसरी प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मँगाने का पता—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

वर्ष १३] आगरा—अगस्त १९५१ [अङ्क २

तुलसी जयन्ती—

तुलसी जयन्ती का पुण्य पर्व नौ अगस्त को पड़ रहा है। हिन्दी के इस रस सिद्ध कवि की जयन्ती को धूम धाम से मनाकर हमारे पाठक गण अपनी कृतज्ञता को प्रकाश देने के साथ साथ जनता को तुलसी के ग्रन्थों के रसास्वादन की ओर भी प्रवृत्त करेंगे। रामचरित मानस के अतिरिक्त तुलसी साहित्य का बहुत कम अध्ययन होता है किन्तु तुलसी का प्रत्येक ग्रन्थ एक अमूल्य देन है। सभी स्कूलों और कालिजों को इस पुण्य पर्व के मनाने की आवश्यकता है जिससे कि हमारे विद्यार्थियों में अपने साहित्य के अमूल्य रत्नों के अध्ययन की ओर रुचि जाग्रत हो। इस अवसर पर तुलसी की छोटी छोटी प्रदर्शनियों की भी आवश्यकता है।

तुलसी के सम्बन्ध में निर्णय—

तुलसीदासजी के सम्बन्ध में हम एक उपेक्षित बात की ओर संकेत करना चाहते हैं। वह यह है कि तुलसी जन्म स्थान के सम्बन्ध में सोरों और राजापुर का विवाद अब बहुत [illegible] हो गया है। इस सम्बन्ध में अब इतनी सामग्री उपलब्ध है कि विधिवत् किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। हमारा सुझाव यह है कि उत्तर प्रदेश की सरकार भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन एक [illegible] लिक (कमीशन) न्याय मण्डल बनाये जो विधिवत् समस्त सामग्री का अध्ययन करे, प्रमाण तथा साक्षियों को [illegible] और निष्पक्ष निर्णय दे। अभी तक इस विषय में जो अध्ययन हुए हैं अथवा निष्कर्ष निकाले गये हैं वे वैयक्तिक हैं। इस साहित्य न्याय-मण्डल का हमारा सुझाव है कि कुछ इस प्रकार का सङ्गठन हो—

१—एक हाईकोर्ट का जज

२—डा० यदुनाथ सरकार

३—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

४—डा० अमरनाथ झा

५—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। अथवा इसमें ही कुछ शोध और निर्णय सम्बन्धी मान्यता [illegible] वाले व्यक्ति इसमें हों।

लल्लूजीलाल स्मारक—

लल्लूजीलाल का एक अनोखा व्यक्तित्व था। आधुनिक युग की नींव रखने वालों में ये प्रमुख थे। आधुनिक हिन्दी खड़ीबोली गद्य की प्रथम रूप रेखा इन्होंने प्रस्तुत की, और उसमें साहित्य भी रचा। इनकी साहित्य सेवा महान है। 'प्रेमसागर' भक्तों के गले का हार ही नहीं था, हिन्दी गद्य के अध्ययन की सीढ़ी भी था। ऐसे युग निर्माताओं के प्रति हम आज भी अकृतज्ञ हैं। न इनका कोई दिवस ही मनाया जाता है, न इनका कोई स्मारक ही खड़ा किया गया है। ये आगरा के निवासी थे, वहाँ इनके स्थान तक की सुरक्षा नहीं। आगरा निवासियों को इस दिशा में प्रयत्न शील होना चाहिए। आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा तथा मथुरा के ब्रज साहित्य मण्डल को ब्रज के ऐसे युग निर्माताओं के स्मारक के लिए कोई योजना प्रस्तुत करना चाहिए। आगरा पाठक भी ऐसे ही निर्माता थे। किंतु खेद की बात है कि इन युगपुरुषों पर हिन्दी में एक महत्व पूर्ण पुस्तक तक भी नहीं।

ऐतिहासिक अनुसंधान—

बङ्गाल के रोयल एशियाटिक सोसायटी ने दस दिसम्बर १९५० को ८१ वीं वर्ष गाँठ के अवसर पर इतिहास विज्ञान के महान आचार्य सर यदुनाथ सरकार का अभिनन्दन किया। उसमें माननीय सरकार ने स्वतन्त्र भारत के इतिहासकारों को कुछ महत्वपूर्ण बातें बतलाई थीं। आपने कहा कि अब तक हमारे विद्वानों को इतिहास की गवेषणा में अनुवादों पर निर्भर रहना पड़ता है। अब हम यह प्रणाली छोड़ देनी पड़ेगी। मूल ग्रन्थों का अध्ययन ही अनुसंधान कार्य में सच्ची सफलता दिला सकता है। इस भाषण में उन्होंने यह बतलाया कि सुदूर अतीत में हमारे सहस्रों धर्म ग्रन्थ चीन और तिब्बत ले जाये गये थे। उन देशों में हमारे इन ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था। आज वह भारतीय ग्रन्थ मूल रूप में न भारत में मिलते हैं न अन्यत्र। अतः हमें उन देशों की भाषाओं का अध्ययन करके उनमें मिलने वाले अपने ग्रन्थों के अनुवाद से ही अपनी मूल सम्पत्ति का सङ्कलन करना चाहिये। सर यदुनाथ सरकार का यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास अनुसन्धित्सु विद्वानों को भी इस सङ्केत से लाभ उठाना चाहिए। जितना शीघ्र ही वे इस दिशा में प्रयत्न शील होंगे उतना शीघ्र ही हिन्दी को उसके गौरव योग्य सामग्री मिल सकेगी।

मराठी का सन्देश—

'साहित्य सन्देश' इस बात की आवश्यकता सुझाता आया है कि हिन्दी लेखक को अपने देश की समस्त भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए—कुछ का सामान्य ज्ञान कुछ का विशेष। भारत भर की आत्मा आज राष्ट्रभाषा हिन्दी में व्याप्त हो जानी चाहिए। आज के हिन्दी उपन्यासकार, नाटककार, कवि अपने प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं में घिरा रह जाता है। अतः महाराष्ट्र के सबसे बड़े नाट्यकार श्री मामा वरेरकर का यह उपालम्भ हमें ध्यान से सुनना चाहिए। वे कहते हैं—

> 'हिन्दी लेखकों को चाहिये कि वे फारसी रोमांस को छोड़ कर भारतीय यथार्थता को देखें और उस पर लिखने के लिये अपनी कलम उठायें।
>
> हिन्दी की नयी पुस्तकों में एक समता है, विविधता नहीं—जो एक भारतीय भाषा के लिये बहुत जरूरी है। इसके लिये मराठी पुस्तकों का अनुवाद उनकी आँखें खोलने में सहायक होगा।" ('आज कल' से)

'मराठी' हमारे देश की समृद्ध भाषा है। इस सन्देश का स्वागत हिन्दी लेखकों को करना ही चाहिए—पर हम तो इस सन्देश को और भी व्यापक बनाना चाहते हैं। मराठी तो वैसे भी हिन्दी के

कितने ही लेखक पढ़ते लिखते हैं—पर उन भाषाओं की ओर दृष्टि जाना आवश्यक है जिनकी ओर अभी तक ध्यान नहीं गया।

तामिल और हिन्दी—

पी० ई० एन० में तामिल पर लेख लिखते हुये एम० आर० जगन्नाथन ने सब से आरम्भ में ही इस आशय की कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं।

> 'तामिल लोग यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी के द्वारा उसके ये पचे पारिभाषिक शब्द तथा मुहावरे तामिल में बलात सन्निविष्ट कराये जा रहे हैं। दक्षिण भारतीयों ने अब भी कितने ही अँग्रेजी शब्दों को आत्मसात् कर रक्खा है। और साधारण धारणा यह है कि यह अच्छा होगा कि यदि कायदन नये शब्द गढ़ने की अपेक्षा तामिल में अध्यात-लोक प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को ही अपनायें।"

इस मनोवृत्ति पर किसी को प्रसन्नता नहीं हो सकती। तामिल वासियों को हिन्दी में राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन करने की भावना जाग्रत करनी चाहिये। हिन्दी आज उतनी ही उनकी है जितनी कि तामिल—तामिल मातृ भाषा के नाते, हिन्दी राष्ट्र भाषा के नाते। शब्द चयन में अधिकारियों को आज प्रान्तीय दृष्टि और प्रान्तीय सुविधा को प्रमुखता देकर समस्त देश की आवश्यकता का ध्यान रखना चाहिए। बहुत सम्भव है जो अँग्रेजी शब्द तामिल में प्रचलित हैं वे भारत के अन्य क्षेत्रों में न हों। वे पचे अर्थात् अनगढ़ शब्द समय पाकर पच जायँगे और लोकप्रियता प्राप्त कर लेंगे।

उर्दू और संस्कृत शब्द—

भावलपुर में एक कालेज की उर्दू सभा बज्मे उर्दू के वार्षिक उत्सव पर माननीय डा० सैयद महमूद ने अधिवेशन के अन्तिम दिन सभापति पद से भाषण देते हुए उर्दू के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बातें कहीं—

१—उर्दू की मदद से भारत सुदूरपूर्व मध्यपूर्व, चीन, हिन्देशिया, पाकिस्तान, अरेबिया, मिश्र तथा मोरक्को के बहुत निकट आ सकता है।

२—उर्दू भाषा का जन्म साधारण लोगों में हुआ है। इसके ७५ प्रतिशत शब्द संस्कृत तथा तद्‌भूत शब्दों से आये हैं।

३—उन्होंने उर्दू लेखकों से आग्रह किया कि वे सर्व साधारण की भाषा में बोले जाने वाले संस्कृत शब्दों को आत्मसात् कर भाषा को जीवन के निकट लावें।

यह सभी बातें बहुत ही चतुराई के साथ कही गई हैं। पहिली बात में प्रलोभन है और पाकिस्तान के अतिरिक्त और किसी देश के लिए उर्दू की अपेक्षा हिन्दी का ही अधिक महत्व सिद्ध होगा। दूसरी बात उर्दू के जन्म के समय तो सत्य थी किन्तु स्थिति आज भिन्न है। तीसरी बात यदि उर्दू के लेखक स्वीकार कर लें तो हिन्दी तथा उर्दू में कोई भी भेद नहीं रह जायगा। भारत के उर्दू प्रेमियों को आज इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

अपेक्षित सत्य—

'दी इण्डियन पी० ई० एन० ने श्री के० आर० श्री निवास आयङ्गर के एक लेख की कुछ पंक्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। उनका यह लेख 'आर्यसमाज' के जून के अङ्क में प्रकाशित हुआ है। हम उसके एक वाक्य का हिन्दी रूपान्तर साहित्य सन्देश के पाठकों के लिए प्रेषित करते हैं। आयङ्गर लिखते हैं:—

> "निश्चय ही यह अपेक्षित है कि आर्थिक क्षेत्र में साम्य को मान्यता दी जाय, क्योंकि ऐसी मान्यता के बिना मानव कुटुम्ब विवेक रहित छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होने जाने की आत्मघातक दौड़ में अनिवार्यतः प्रवृत्त रहेगा। अतः यह परम आवश्यक है कि ऐसे मार्ग निर्मित हों जिनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की परिधि में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहे।

और विभक्त होकर नष्ट होने के भय को दूर करने के लिए यह उचित है कि परम्परागत मान्यताओं को, सजीव अतीत के यथार्थ को, सजीव विचारों की धारा के अमृतोपम गुणों को, सर्वयुगीन दार्शनिकता की शक्ति तथा पूर्ण सत्यता को पुनर्स्थापित किया जाय।"

इसमें जिस तथ्य का प्रतिपादन है, वह एक अनेक्षित ही नहीं आज तो उपेक्षित सत्य है।

हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य—

हिन्दी में 'विज्ञान नामक' पत्र बहुत समय से हिन्दी में विज्ञान सम्बन्धी साहित्य की पूर्ति की चेष्टा कर रहा है। इसके अप्रैल के अङ्क में हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य शीर्षक एक विचारणीय अग्रलेख प्रकाशित हुआ है। इसकी यह पंक्तियाँ हमारा ध्यान विशेषतः आकर्षित करती हैं—

> "सारांश यह है कि हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बहुत ही कम है, स्थिति बड़ी ही असन्तोष-जनक है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि संसार की ऐसी कोई समस्त भाषा नहीं जिसने वैज्ञानिक साहित्य के सृजन का प्रयास न किया हो या जिसका विज्ञान के विकास में एकाधिकार हो। अनेक देशों के सहयोग ने विज्ञान को इस सीमा तक पहुँचाया है। हिन्दी प्रेमी जनता, विद्वान, सरकार सभी को अपनी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बढ़ाने में अभी तक भगीरथ प्रयत्न करना बाकी है, और आशा ही नहीं विश्वास है कि सभी अपने इस दायित्व की ओर ध्यान देंगे।"

पाठकों में पुस्तक प्रेम—

२६ जुलाई के 'आर्यमित्र' में श्री गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय एम० ए० ने अपने पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी कुछ अनुभव लिखे हैं, जिनसे विदित होता है कि पुस्तक प्रकाशन में जितना रुपया उन्होंने व्यय किया उतना रुपया भी बिक्री से प्राप्त नहीं हो सका, लाभ की तो बात ही क्या। यह बात उन पुस्तकों के प्रकाशन की है जो एक गम्भीर विद्वान की भारत प्रसिद्ध पुस्तकों की हुई और उस समाज में जो पुस्तकें पढ़ने और खरीदने में बहुत आगे है। जब आर्यसमाज की पुस्तकों की यह दशा है तब दूसरे प्रकाशनों की क्या चर्चा की जाय। हिन्दी के पाठकों को यह स्थिति बदलनी चाहिए और पुस्तक खरीद कर पढ़ने और घर में एक छोटा मोटा पुस्तकालय रखने की आदत डालनी चाहिए। बिना इसके अच्छी हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन नहीं बढ़ सकता। आज तो दुःख है कि व्यक्तिगत रूप से हिन्दी पुस्तकें खरीदने वालों की बहुत ही कमी हो गई है।

'हिन्दुस्तानी' के स्थान पर 'हिन्दी'—

कुछ दिन पहले हमने 'साहित्य सन्देश' में यह लिखा था कि 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' का नाम अब 'हिन्दी प्रचार सभा' होना चाहिए। हमें प्रसन्नता है कि सभा ने इस ओर ध्यान दिया और अभी हाल ही में उसने यह निश्चय कर लिया है कि भविष्य में सभा का नाम 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ही होगा। हम इसके लिए सभा के सञ्चालकों को बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि इस निश्चय के बाद भाषा के रूप को भी वे हिन्दी बनाने की कृपा करेंगे।

श्री उमेशचन्द्र मिश्र का देहावसान—

हिन्दी के एक और प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रकार की मृत्यु का समाचार मिला है। हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के सुयोग्य सम्पादक श्री उमेशचन्द्र मिश्र का देहावसान ६ जून को हो गया। उमेशचन्द्र जी हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक, विचारक और सम्पादक थे। हिन्दी को, विशेषतः उसके पत्रकार क्षेत्र को, मिश्र जी से बहुत आशा थी, अभी उनकी आयु ही क्या थी, ४६ वर्ष की छोटी आयु में हिन्दी ने इस यशस्वी पत्रकार के उठ जाने से जो हानि हुई है, उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य विद्वान एवं शब्द शक्ति व्यञ्जना

प्रो० भोलाशङ्कर व्यास, एम० ए०, शास्त्री

पाश्चात्य विद्वान् व्यञ्जना जैसी शब्द-शक्ति नहीं मानते फिर भी व्यंग्यार्थ को अवश्य मानते हैं। पाश्चात्यों के 'एल्यूजन' तथा 'डबल सेन्स' को हम व्यंग्यार्थ का एक रूप मान सकते हैं। 'एल्यूजन' लाक्षणिक प्रयोग से विशेष सश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त होता है, तथा इसी में विशिष्ट लाक्षणिक प्रयोग की मनोवृत्ति निहित रहती है। फिर भी अरस्तू में अथवा एलेग्जेंड्रियन साहित्य शास्त्रियों में इस प्रकार का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। क्विंतीलियन ने 'एल्यूजन' के विषय में कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। क्विंतीलियन के मतानुसार यह प्रयोग उस प्रकार का विपरीतार्थक नहीं है, जैसा 'आइरनी' में होता है, किन्तु यह तो उसी वास्तविक अर्थ में निहित होता है, जिसकी प्रतीति कवि कराना चाहता है। दुमार्से में दो अलङ्कार ऐसे मिलते हैं, जो सामान्य रूप से 'एल्यूजन' से सम्बन्धित हैं। इनमें एक तो 'एलेगरी' है, दूसरा 'विशिष्ट प्रकार का एल्यूजन' (प्रॉपर एल्यूजन) है। इनके विषय में दुमार्से ने कहा है—'एलेगरी का मेटेफर से अत्यधिक सम्बन्ध होता है। यह वही नहीं है, जो कि मेटेफर से प्रतीत होता है। यह वह अर्थाभिव्यक्ति है जिसमें सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है तथा जिससे वे समस्त अन्य वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, जिनका प्रयोग कोई व्यक्ति मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिये करना है, साथ ही जो दूसरे अनभिनान्विन अर्थ की बुद्धि को उत्पन्न नहीं करता।"

एल्यूजन तथा शाब्दी क्रीड़ा (ल ज् द मो) का एलेगरी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एलेगरी में स्पष्ट रूप में तो एक अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु साथ ही किसी दूसरे अर्थ की मनोवृत्ति की भी व्यञ्जना होती है। यह व्यञ्जना अधिकतर एल्यूजन या शाब्दी क्रीड़ा के द्वारा ही होती है। यह व्यंग्यार्थ प्रतीति जो मुख्यतः किसी न किसी भाव (अर्थ) से सम्बन्धित है, मेटेफर पर आश्रित रहती है। यही 'एल्यूजन' है। इस प्रकार पाश्चात्यों के 'एल्यूजन' में हम लक्षणामूलक तथा अर्थमूलक व्यंग्यार्थ का समावेश कर सकते हैं। शाब्दीक्रीड़ा से जहाँ भिन्नार्थ प्रतीति भी होती है, उसे हम शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना के समकक्ष मान सकते हैं। फिर भी गौर से देखने पर प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ पर तथा द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोगों पर आश्रित व्यञ्जना ठीक उसी ढग पर पाश्चात्य साहित्य में नहीं मिलती। इसका प्रमुख कारण भाषाओं की अभिव्यञ्जना-प्रणाली तथा शब्द समूह का भेद है। संस्कृत भाषा इतनी अधिक सुगठित शब्दावली वाली है, तथा पर्यायवाची एवं विपरीतार्थक शब्दों में इतनी समृद्ध है कि इस प्रकार का काव्यकौशल दिखाने का वहाँ पर्याप्त साधन है, जो पाश्चात्य भाषाओं में नहीं। ठीक यही बात संस्कृत तथा हिन्दी के विषय में भी कही जा सकती है। व्यञ्जना तथा ध्वनि के भेदोपभेदों के उचित उदाहरण जैसे संस्कृत में मिल सकते हैं, वैसे कई भेदों के लिए हिन्दी में मिलना कठिन है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में फिर भी एक स्थान पर एक ऐसी शक्ति का संकेत मिलता है, जिसे हम व्यञ्जना के समान मान सकते हैं। वैसे शुद्ध रूप से यह वस्तु-शक्ति तो नहीं, किन्तु जिस प्रकार व्यञ्जना में वक्ता के अभिप्राय का विशेष ध्यान है, उसी प्रकार इसमें भी वक्ता के अभिप्राय का विश्लेषण हुआ है। यह शक्ति—यदि इसे शक्ति कहना अनुचित न हो तो—स्टाइक दार्शनिकों का 'तो लेक्तोन' है। इसका अनुवाद अधिकतर लोग

अर्थ या अभिव्यक्ति (मीनिंग और एक्सप्रेशन) से करते हैं। जेलर के मतानुसार "तो लेक्टोन विचारों का सार है - विचार का ग्रहण हम (यहाँ पर) अपने सीमित रूप में करते हैं, जब वह बाह्य पदार्थ से जिससे उसका सम्बन्ध है, भिन्न होता है, साथ ही उसकी व्यञ्जक ध्वनि (शब्द) से तथा उसको प्रकट करने वाली मनःशक्ति से भी भिन्न होता है।" जेलर वस्तुतः तो लेक्टोन का वास्तविक रूप देने में समर्थ नहीं हो सका है। स्टाइक दार्शनिकों ने इस शब्द का स्वरूप हमें कुछ बाद के लेखकों के उल्लेखों से ज्ञात होता है। अरस्तू के टीकाकार सामोनियस ने बताया है कि "जिस वस्तु को स्टाइक दार्शनिकों ने 'लेक्टोन' नाम दिया है, वह मन तथा पदार्थ के मध्य में स्थित है" एक दूसरे ग्रीक विद्वान् के मतानुसार "स्टाइक दार्शनिक तीन वस्तुओं को परस्पर सम्बन्धित मानते हैं:— 'प्रतिपाद्य' 'प्रतिपादक' तथा पदार्थ। इनमें प्रतिपादक तो शब्द (दिश्रो) है, प्रतिपाद्य वह वास्तविक वस्तु है जो शब्द से अभिव्यक्त होती है, वह वस्तु जो हमारी मानसिक स्थिति में विद्यमान रहती है। यह वह वस्तु है जो अनभिप्रेत व्यक्ति (दूसरे लोग) शब्द सुनते समय नहीं समझ पाते। तथा पदार्थ बाह्य उपकरण है। इनमें से दो वस्तुएँ (शब्द तथा पदार्थ) तो मूर्त (कॉर्पोरियल) हैं, किन्तु एक (लेक्टोन) अमूर्त है।"

वस्तुतः तो लेक्टोन मन तथा पदार्थ के बीच रहती है तथा यह मनः स्थिति पर आधारित है। तो लेक्टोन में हम भर्तृहरि के 'ज्ञान' की अभेद प्रतिपत्ति कर सकते हैं। इसे हम वे भवचित भाव मान सकते हैं, जिन्हें चेतन या अर्धचेतन रूप में, व्यक्ति अभिव्यञ्जित करना चाहता है। यही साहित्यशास्त्रियों की व्यञ्जना मानी जा सकती है। अरस्तू यद्यपि मानव मन की सम्बन्धित स्वाभाविक क्रियाओं को तथा आकस्मिक परिस्थितियों से जनित उनके परिवर्तनों को स्वीकार करता है, फिर भी वह विचार तथा पदार्थ के बीच की स्थिति को नहीं मानता। एपीक्यूरियन दार्शनिक भी वह विचार लेक्टोन जैसी वस्तु मानने के पक्ष में नहीं है। इसी बात को प्लूटार्च ने बताया है कि उन लोगों ने शब्द तथा पदार्थ को ही मानते हुए तथा प्रतीयमान वस्तु होती ही नहीं इसकी घोषणा करते हुए अभिव्यञ्जना के प्रकार से छुटकारा पाया है। उन लोगों ने दिक्, काल तथा स्थान जैसी वस्तुओं को जो व्यञ्जना के प्रकार हैं, 'सत्' की कोटि में नहीं माना है, जिनमें वस्तुतः समस्त सत्य निहित है, क्योंकि उनके मतानुसार ये (प्रकरण) कुछ होते हुए भी 'असत्' हैं। कहना न होगा कि भारतीय साहित्यशास्त्र की व्यञ्जना का आधार दिक्, काल जैसी वस्तुएँ ही हैं।

स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान् व्यंग्यार्थ जैसी वस्तु को खूब समझते हैं, चाहे वे इसकी अनुभूति के लिए अलग से शक्ति न मानते हों। काव्य में इस व्यंग्यार्थ की महत्ता को वे खूब समझते हैं। इसी सम्बन्ध में निबन्ध को समाप्त करते हुए अरस्तू के टीकाकार एमोनियस के शब्द उद्धृत कर सकते हैं:—"शब्द की दो स्थितियाँ होती हैं। एक उसके श्रोता की दृष्टि से, दूसरी उस वस्तु की दृष्टि से जिसका बोध वक्ता श्रोता को कराना चाहता है। श्रोता के सम्बन्ध की दृष्टि से, जिसके लिए शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है, यह शब्द अलङ्कारशास्त्र या काव्य के क्षेत्र में सम्बन्धित है, क्योंकि वे अधिक प्रभावशाली शब्दों को ढूँढा करते हैं, साधारण प्रयोग में आने वाले शब्दों को नहीं। किन्तु जहाँ तक शब्द का वस्तुओं से स्वयं से सम्बन्ध है, यह प्रमुखतः दार्शनिक के अध्ययन का क्षेत्र है, जिसके द्वारा वह मिथ्याज्ञान का खण्डन करता है तथा सत्य को प्रकट करता है।"

काव्य-समीक्षा में रहस्यवाद का युगोन्मेष

श्री लाल रमायदुपालसिंह एम० ए०, शास्त्री

घनसार-भरी घाटी का रहस्यवादी आलङ्कारिक आनन्दवर्द्धन, आज से कोई एक सहस्र वर्ष पूर्व, अपनी रजत तूलिका से शाश्वत नवचेतना का अमिताभ रूप अलङ्कार के पटल पर अङ्कित करने उठा था। काश्मीर की सौन्दर्य सुधा का आनन्दवर्द्धन ने आकण्ठपान किया था और उसने देखा था कि सौन्दर्य अक्षय है, सुन्दर भले ही क्षण-भङ्गुर हो। पात्र की नीरसता से पेय की सरसता क्षार नहीं हो जाती।

सत्य यदि सत्य है तो वह शाश्वत होकर रहेगा, सौन्दर्य को सौन्दर्य कहलाने के लिए शाश्वत होना पड़ेगा। सच बात तो यह है कि एक पत्ता चाहे सूखकर गिर जाय—यही नहीं अरबों-पदमों गिर सकते हैं—पर क्या विश्व रसरहित हो जायगा। राम-कृष्ण के भी मरने से मानवता नहीं नष्ट हो गयी।

कामनीयक के इसी शाश्वतत्व ने दसवीं शताब्दी विक्रमीय को साहित्य समीक्षा के राजकुमार के हृदय में एक नवीन चेतना, एक नूतन स्वप्न और एक अभिनव जागृति उँड़ेल दी। दर्शन में जो काम आत्मैक सत्तावादी (अध्यात्मवादी) करता है वही आनन्दवर्द्धन ने साहित्य-समीक्षा में उन्मिषित किया। एक चिरन्तन रमणीयता की काव्यगत अनुभूति उस सरस सहृदय के हृदय में साकार हो उठी। 'इण्डियन आइडियलिज्म' में डा० दासगुप्त ने लिखा है:—

Ideali·m Consists in maintaining that all reality is spiritual.

(अध्यात्मवाद इसी की उपपादना में निहित है कि समग्र सत्ता चैतन्यात्मिका है।) यदि काव्य-मीमांसा में इसी अध्यात्मवाद की अवतारणा होगी तो ग्रन्थकार यही कहेगा कि रसध्वनि अर्थात् काव्य की आत्मा सचेतोगत है; दूसरे शब्दों में काव्यत्व की सत्ता प्रमातृगत है प्रमेयगत नहीं। इससे स्पष्ट है कि ध्वनिवाद आलङ्कारिक अध्यात्मवाद था।

रहस्यवाद में त्रिकत्व जिस रूप में भी पाया जाता है ध्वनिवाद में वह यथातथ विद्यमान है। रहस्यवाद में साधक, साध्य और साधन का त्रिक होता है। साक्षात्कर्ता, साक्षात्कर्त्तव्य और प्रतीक की चर्चा सामने आती है। ध्वनिवाद में भी प्रमाता, प्रमेय और प्रमापक का त्रिक होता है; सहृदय व्यंग्य और व्यञ्जक की चर्चा होती है। इन्हें ध्वनिकार की निम्न प्रसिद्ध कारिकायें स्वतः स्पष्ट करती हैं—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया. तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

रहस्यवादी उस सत्य साक्षात्कार की अवस्था को तुरीय बताता है; ध्वनिवादी भी ध्वनि को तुरीयकक्षाविनिविष्ट। रहस्यवादी जागृति, स्वप्न व निद्रा के बाद की चौथी अवस्था प्रवद्धृत करता है। ध्वनिवादी अभिधा, लक्षणा, और तात्पर्य की कक्षाओं के पार व्यञ्जना की आस्थापना करता है।

रहस्यवादी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह होती है कि वह उस साक्षात्कार की किसी साधक विशेष को ही पात्रता प्रदान करता है। ध्वनिवादी भी इसे केवल सहृदय संवेद्य मानता है और सहृदय हैं—

'येषां विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

ध्वनिकार के शब्दों में:—

शब्दार्थशासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

रहस्यवादी उस परम प्रमेय परमसत् को तथा उसके प्रमापक प्रतीक को यत्नत. प्रत्यभिज्ञेय मानता है। ठीक उसी तरह आचार्य आनन्दवर्द्धन भी कहते हैं:—

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥

वह परमप्रमेय ध्वन्यर्थ और उसका प्रमापक व्यञ्जक ध्वनिवादी की दृष्टि में भी यत्नत. प्रत्यभिज्ञेय है। ये दोनों ही किसी कालिदास-जैसे महाकवि की कृतियों में ही उपलब्ध हो सकते हैं। रहस्यवादी भी 'अनलहक' की आवाज लगाने वाले किसी एक-दो बड़े साधक की ही दाद देता है। आज का लोकवादी युग कितना भी क्यों न चिल्ल-पों मचाये परन्तु यह शाश्वत और चिरन्तन सत्य है कि परम-सत् का साक्षात्कार किसी विरले व्यक्ति ही को हो सका है, हो सकता है और हो सकेगा। ऐसा कृती एक समूचे युग का गौरव होता है। रूस का जन मनः सम्मीलन में प्राप्त प्रतिष्ठ लेनिन व्याख्यावलित मार्क्सवाद कोटि-कोटि की तो बात ही क्या दो-चार भी कार्लमार्क्स और लेनिन या स्तालिन नहीं पैदा कर सका और न उम्मीद है। अस्तु, चेतना का समुन्मेष कोई दैनन्दिन घटना न होकर युगों की चिन्तामणि है।

ऐसी ही प्रतिभा के उद्‌भेद की ओर इशारा करते हुए राजानक आनन्दवर्द्धन ने ऊपर की कारिका पर वृत्ति लिखते हुए ये शब्द उपनिबद्ध किये.—

"अस्मिन् अति विचित्र कवि परम्परा वाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्रा.पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।"

उपनिषद् का उपनिषत्व, आरण्यककी आरण्य-कता और वेदान्तरहस्य की गोपनीयता का रहस्य भी यही है। इसी पर भारतीय दर्शन जो इतना अधिक जोर देता है, उसका कारण भी अविशेष यही है। व्यक्ति की प्रवृत्ति के वैशिष्ट्य को आज के मैकडूगल के चेले मनोवैज्ञानिक भी मानने को विवश हैं। इस मनोगत प्रवृत्ति वैशिष्ट्य के अध्ययन-चिन्तन ने ही दार्शनिक हृदय की परख की ओर हमारे शास्त्रकारों को उन्मुख किया। मनोयोग न देनेवाली सभा को ब्रह्मविद्या का पाठ देना अरण्य रोदन के अतिरिक्त और क्या हो सकता।

काव्य शास्त्र का रहस्यवादी भी यही कहेगा कि काव्यतत्व या ध्वनि केवल सहृदय-हृदयसंवेद्य है। किसी कवि के शब्दों में :—

इतरतापशतानि यदृच्छया
विलिखितानि सहे चतुरानन!
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

भारत अपने नाम से ही दार्शनिक है, मैं कहूँ परमार्थप्रिय अध्यात्मवादी है। भा अर्थात् प्रकाश या ज्ञान में रत रहने—लगे रहने—वाला राष्ट्र यह है। इसीसे यहाँ का साहित्यचिन्तक भी एक अप्रतिम अध्यात्मवादी प्रवृत्ति लेकर उसकी रमणी यता के यौवनमय प्रान्त काश्मीर के अञ्चल में दृष्टि परिपाक प्राप्त करने में समर्थ हो सका।

आनन्दवर्द्धन की ऐसी आलोकदृष्टि का विस्तार-प्रसार आचार्य अभिनव गुप्तपाद की रस-विवेचना में पाया जा सकता है। एक शैवाद्वैती रहस्यवादी की लेखनी ने पूरी आध्यात्मिकता उस ध्वनिवाद की नस-नस में अनुस्यूत कर दी। फलत: अपनी समीक्षा के क्षितिज पर उस रसब्रह्मवाद का मिहिरमार्ग उद्भासित हो उठा जिसकी प्रकाशकिरण पाने के लिए आज का देशदेशान्तरवासी समीक्षक समानधर्मा लालायित है। उस मिहिर मार्ग का उपआलोक आचार्य आनन्द वर्द्धन के साहित्य चिन्तन से प्रसूत हुआ। उस समीक्षाजगत् के सम्राट् के ज्योतिष्पथ पर ये शब्दसुमन विकीर्ण कर अपने को भाग्यशाली समझता हूँ; क्योंकि—

महतां समवाय एव गौरवाय।

पद्मावत का रूपक

प्रि० हृदयनारायणसिंहजी एम० ए०

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ मे प्रकाशित एक लेख में स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने यह प्रतिपादित किया था कि पद्मावत का रूपक कथा को विकृत करता है, और पद्मावत की कथा रूपक को विकृत करती है। कथा और रूपक एक दूसरे के नितान्त अनुपयुक्त हैं। यह मत डा० बड़थ्वाल का ही नहीं था, कुछ अन्य पाठकों और समालोचकों का भी है। प्रस्तुत लेख में इस मत के निराकरण की चेष्टा की जायगी।

पद्मावत की कथा समाप्त करते हुए उपसंहार में जायसी ने रूपक का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है।

'मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुप के घर माहीं॥
तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पन्थ देखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धन्धा।
बाँचा सोइ न यह चित बधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥'

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा को कवि ने रूपक सदृश बतलाया है। कथा में उल्लिखित विभिन्न पात्रों को उसने मनुष्य की विभिन्न मानसिक शक्तियों का प्रतीक अथवा प्रतिरूप माना है, और इस दार्शनिक मत की ओर सकेत किया है कि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार तन चित्तौर है, जहाँ के राजा रत्नसेन ने पद्मावती को प्राप्त किया था। संकल्प विकल्पात्मक मन राजा रतनसेन है। रागात्मक हृदय सिंघल है, जहाँ की राजकुमारी पद्मावती थी। शुद्ध बुद्धि पद्मावती है। मार्ग-प्रदर्शक गुरु हीरामन तोता और रतनसेन की प्रथम राजमहिषी नागमती सांसारिक मोह है। राघव चेतन जिसने रतनसेन से विश्वासघात कर अलाउद्दीन को चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया जीवात्मा को पथभ्रष्ट करनेवाला शैतान है और अलाउद्दीन जीव को परमात्मा से विमुख करने वाली शक्ति माया का प्रतीक है।

जायसी ने कथा के लिए जो रूपक की कल्पना की है, उसमें समालोचकों को दो-तीन बातें खटकती हैं।

पहली तो यह कि कवि ने कथा के प्रकरणों में इस रूपक का एक समान निर्वाह नहीं किया है। अधिकतर पद्मावती को परमात्मा और राजा रतनसेन को साधक जीवात्मा का रूपक दिया गया है।

करवत तपा लेंहि होइ चुरु।
मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदुरू॥

और,

देवता हाथ हाथ पगु लेहीं।
जहँ पगु धरैं शीश तहँ देहीं॥
माथे भाग कोउ अस पावा।
चरन कमल लेइ शीश चढ़ावा॥

इत्यादि पद्मावती के लिए और रतनसेन के लिए लिखा है।

तजा राज राजा भा जोगी।
औ किंगरी कर गहेउ वियोगी॥

ससार अनित्य है, और परमात्मा की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है।

किन्तु सदैव राजा ही साधक के रूप में और पद्मावती साध्य रूप में प्रदर्शित हों, ऐसा नहीं। एकाध स्थल पर पद्मावती स्वयं साधक हो जाती है, और जब अलाउद्दीन पद्मावती को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो वह भी जीवात्मा के रूप में दिख लाया गया है। जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न शील है।

उपसहार में सिंहल को हृदय का प्रतिरूप माना है, किन्तु पार्वती महेश-खण्ड में सिंहलगढ़ को पिंड का रूपक दिया गया है।

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा।
औ तहँ फिरहिं पाँच कोट वारा॥
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका।
अगम चढ़ाव बार सुठि बाँका॥

इत्यादि, यह बात पद्मावत के रूपक की समीक्षा के लिए अत्यन्त महत्व की है—कि अन्त में बतलाए गए रूपक का कथा के बीच में एक समान निर्वाह नहीं हुआ है।

दूसरी खटकने वाली बात यह है कि कुछ प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों में रूप गुण और प्रभाव का साम्य नहीं है। नागमती रत्नसेन की प्रथम विवाहिता रानी थी। उसे दुनिया धन्धा और पद्मावती को बुद्धि बतलाना भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं विदित होता। नागमती पतिव्रता स्त्री थी और राजा की मृत्यु के बाद सती हो गयी। उसे दुनिया धन्धा कहना ठीक नहीं मालूम होता।

अलाउद्दीन और माया म भी विश्वसनीय साम्य नहीं दिखलाई पड़ता। जब नागमती को दुनिया धन्धा कह दिया तो पुन अलाउद्दीन को माया कहना उसी रूपक को दुहराना है।

समालोचकों की दृष्टि से तीसरा दोष यह है कि अप्रस्तुतों के समवाय का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, और कार्य-व्यापार है वह प्रस्तुतों के पारस्परिक सम्बन्ध और कृत्यों की पूर्णत नहीं प्रगट करता और न उनके अनुकूल है। जब रूपक बाँधा जाता है, तो यह विचार रखा जाता है कि प्रस्तुतों का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, और उनका जो कार्य व्यापार है उसी के समान अप्रस्तुतों का भी पारस्परिक सम्बन्ध और कार्य व्यापार हो।

राजा रतनसेन कथा के नायक है, पद्मावती नायिका है नागमती उनकी प्रथम विवाहिता है चित्तौर उनकी राजधानी है और सिंहल उनकी प्रेमिका पद्मावती का जन्मस्थान है। हीरामन तोता ने रतनसेन को पद्मावती का और पद्मावती को रतनसेन का समाचार दिया था। रतनसेन के एक दरबारी राघवचेतन ने अलाउद्दीन को चित्तौर पर पद्मावती को हस्तगत करने के उद्देश्य से, चढ़ाई करने को उकसाया। देवपाल राजा का शत्रु था जिसने दूती द्वारा पद्मावती को राजा के बन्दी होने पर अपनी अङ्कशायिनी बनाना चाहा। इसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध अप्रस्तुतों में भी शरीर, मन, हृदय, बुद्धि, गुरु, दुनिया—धन्धा, शैतान, माया इत्यादि में होना चाहिए पर बात ऐसी नहीं है। कवि ने जब शरीर को चित्तौर कहा और पूर्व में जब यह संकेत किया कि चौदहों लोक मानव के शरीर में ही हैं तब सभी अप्रस्तुतों को शरीर के भीतर से ही चुनना चाहिए था। पर गुरु और शैतान, यदि माया को हम छोड़ देते हैं तो मनुष्य के बाहर के तत्व हैं। फिर मन हृदय, बुद्धि इत्यादि में वही सम्बन्ध नहीं है जो रतनसेन, सिंहल और पद्मावती में था। सासारिक जञ्जाल और माया का भी भेद स्पष्ट नहीं है और यदि दोनों में अन्तर भी स्थापित किया जा सकता है तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही नहीं होगा जैसा नागमती और अलाउद्दीन का है।

पद्मावत के रूपक के ये स्पष्ट दिखलाई पड़ने वाले दोष हैं। इसीलिए डा० पीताम्बरदत्त ने कहा कि पद्मावत का रूपक कथा को विकृत करता है।

यदि हम उपसहार में लिखे गये वाक्यों को ही पद्मावत का आधार और प्रेरक भाव और कथा को

समझने की कुञ्जी समझ लें तो उपर्युक्त मत का प्रतिपादन नितांत स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु ग्रन्थ के कथन का यह अर्थ लगाना समालोचना की एक बड़ी भूल है। वास्तव में जिस प्रकार अँग्रेज कवि स्पेंसर की 'फेअरी क्वीन' में सर वाल्टर रैले के नाम पत्र में दिया गया रूपक समस्त कथा का आधार और उसको समझने की कुञ्जी है उस प्रकार पद्मावत का उपर्युक्त संकेत नहीं। पद्मावत उस कोटि का रूपक काव्य नहीं है जिस कोटि के प्रबोध चन्द्रोदय, फेअरी क्वीन या पिलग्रिम्स प्रोग्रेस (गद्य में) हैं। इन ग्रन्थों में रूपक का निर्वाह प्रारम्भ से अन्त तक (फेअरी क्वीन अपूर्ण रचना है) किया गया है और रूपक के कारण उनका साहित्यिक सौन्दर्य बढ़ जाता है किन्तु पद्मावत में रूपक का ऐसा निर्वाह नहीं किया गया है।

रूपक काव्य में सभी प्रस्तुतों के लिए अप्रस्तुत नियोजित होते हैं किन्तु पद्मावत में ऐसा कहाँ किया गया है। देवपाल, कुमोदिनी कुटनी, गोरा-बादल गन्धर्वसेन इत्यादि के लिए उपमानों का कोई आयोजन नहीं है। यही नहीं, जैसा मैं पहले लिखा है, एक ही अप्रस्तुत के लिए कभी एक प्रस्तुत और कभी दूसरे का प्रयोग हुआ है।

मेरे विचार से जायसी का उद्देश्य रूपक काव्य लिखना नहीं था। यदि होता तो रूपक का निर्वाह करने में उन्होंने सावधानी और श्रम किया होता। वह तो मसनवी के ढङ्ग का एक प्रबन्ध काव्य लिखना चाहते थे और कथा कहने में ही वे रसमग्न दिखायी पड़ते हैं। पद्मावत की विशेषता रूपक का निर्वाह करने में नहीं है पर यत्र-तत्र अत्यन्त मनोहर रहस्यात्मक संकेत का विधान करने में है। ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही उन्होंने सुन्दर आध्यात्मिक संकेत करना प्रारम्भ किया है :—

'सिंहल दीप कथा अब गावौं।
औ सो पदमिनि बरनि सुनावौं॥
निरमल दरपन भाँति बिसेखा।
जो जेहि रूप सो तैसइ देखा॥

और बीच बीच में जीवन की असारता, जैसे—

'मुहमद जीवन जल भरन, रहँट घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति॥'

सारे विश्व का परमात्मा के लिए प्रयत्नशील होना,

'सरवर रूप बिमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहि लेइ॥

परमात्मा सारे जगत में व्याप्त है किन्तु पकड़ में नहीं आता, यथा—

'सरवर देख एक मैं सोई।
रहा पानि, पै पान न होई॥
सरग आइ धरती महँ छावा।
रहा धरति, पै धरत न आवा॥'

इत्यादि भावों की ओर संकेत करते चलते हैं। यह प्रवृत्ति पद्मावत की विशेषता है और इसी की परिणति उपसंहार में होती है। ग्रंथ के अन्त में कवि सारी कथा को एक दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रूप देना चाहता है और कहता है—मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। इत्यादि। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि कवि यह नहीं कहता कि कथा रूपक है और इसको समझने की यह विधि है पर वह कहता है कि पण्डित लोगों ने—मेरा अपना यह कथा विधान नहीं—सारी सृष्टि को—केवल इसी कथा के प्रकरणों और घटनाओं को नहीं—मनुष्य के घट में अन्तर्निहित बतलाया है।

उपसंहार को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह नहीं विदित होता कि रूपक कवि की प्रबन्ध रचना का आधार या आवश्यक अङ्ग है। जो कुछ जायसी ने अन्त में कहा है वह अपनी दार्शनिक आध्यात्मिक मनोवृत्ति के कारण।

यदि पद्मावत के रूपक पर प्रकाश डालने वाले कथन को एक विदग्धता पूर्ण आध्यात्मिक संकेत के

मृगनयनी

प्रो० देवीशरण रस्तोगी एम० ए०

'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी' और 'झाँसी की रानी' के उपरान्त वर्माजी का यह चौथा ऐतिहासिक उपन्यास है। अब तक वे अपने उपन्यासों में उन्होंने बुन्देलखण्ड के अतुल शौर्य और त्याग का चित्रण किया, पर इसमें उन्होंने ग्वालियर के मूक पाषाणों को सवाक् कर दिया है।

राजा मानसिंह तोमर सन् १४८६ से १५१६ तक ग्वालियर का राजा रहा। नवयुवक होने पर भी इस बीच में उसे एक साथ सिकन्दर, गुजरात के महमूद बघंरा और मालवा के गयासुद्दीन खिल्जी की कुमन्त्रणाओं तथा आक्रमणों का सामना करना पड़ा। इतना सब कुछ होते हुए भी किस प्रकार वह अपने दाम्पत्य-जीवन का आनन्द पूर्वक उपभोग करता हुआ जन सेवा और कला सृजन करता रहा, यही सब कुछ दिखाना लेखक का उद्देश्य रहा है। पर जैसा कि उपन्यास के नाम से स्पष्ट है लेखक का ध्यान मानसिंह की प्रेरक शक्ति और प्रेयसी-पत्नी मृगनयनी के चरित्रचित्रण की ओर विशेष रूप से रहा है।

भूमिका में लेखक ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है—'कुछ पाठक चाहेंगे कि मैं तत्कालीन आर्थिक स्थिति के समझाने के लिए आँकड़े दूँ, परन्तु अनेक पाठक कहानी चाहेंगे, इसलिए अब कहानी—बाकी फिर कभी।' अतएव उपन्यास का घटना-प्रधान होना स्वाभाविक है। वास्तव में उपन्यास है भी कथा साहित्य का अङ्ग ही। यह ठीक है कि आज 'भूतनाथ' और 'फसाने आज़ाद' वाली किस्सेबाजी का युग नहीं रहा, पर उपन्यास में धर्मोपदेशक या नेता की भाँति बड़े-बड़े भाषण देना अथवा मनोविश्लेषक बन कर कतिपय सिद्धान्तों के समर्थनार्थ अतिरञ्जित, एकाङ्गी तथा विकृतिपूर्ण कथानक गढ़ना बिलकुल भी अच्छा नहीं लगता। ऐसा कौन पाठक है जो इन शुष्क वर्णनों से ऊब कर पृष्ठ पर पृष्ठ न छोड़ता चला जाता हो? 'मृगनयनी' में कहानी कहने के साथ साथ लेखक को जो अवसर तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के लिए मिले हैं, उसने उन्हीं से पर्याप्त लाभ उठा लिया है। इस प्रकार 'मृगनयनी' हर प्रकार की अतिरञ्जना से मुक्त है। इससे अधिक आँकड़े बाजी अथवा कला बाजी करने से उपन्यास का मूल्य तो क्या बढ़ता, कथानक अवश्य ही कई गुना शिथिल हो जाता। केवल अन्तिम अध्यायों में जहाँ ग्वालियर के किले तथा बैजू बावरे ने गूजरी टोड़ी और मङ्गलगूजरी राग निकालने का वर्णन आता है, वहाँ पर अवश्य ही सर्वसाधारण ऊबने लगता है।

प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से कथानक को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) लाखी-अटल तथा मानसिंह—मृगनयनी की प्रणय कथाएँ।

(२) विजित जीव बघंरा और नसीरुद्दीन।

रूप में हम ग्रहण करें तो उपर्युक्त दोनों दोष स्वतः विलीयमान हो जाते हैं और ग्रन्थ का वास्तविक रूप और सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। पद्मावत का रूपक काव्य न सिद्ध होना कोई क्षति नहीं है। रूपक काव्य कोई उत्तम काव्य नहीं होता। उसमें कवि का कौशल अवश्य दर्शनीय होता है किन्तु उसी के साथ उसमें बहुत बौद्धिक व्यायाम भी होता है और काव्यगत प्रतीति को ठेस लगती है। पद्मावत एक अत्यन्त विदग्धता पूर्ण प्रबन्धकाव्य है। किन्तु वह रूपक भी है यह सिद्ध नहीं होता।

(३) जासूसी ताना-बाना बुनने वाले नट-नटनी।

कथानक का अत्यधिक रोचक भाग है—बर्रा। यह वर्णन 'मीराते सिकन्दरी' पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक है पर इसके प्रस्तुत करने में जिस तत्परता का परिचय वर्मा जी ने दिया है, वह बे जोड़ है। आज के युग में जब खाने को हवा और पीने को पानी ही बचा है, तो इस बर्रा का डील-डौल, खान-पान, बोल-चाल और भी अधिक आश्चर्य की बात बन जाती है। वर्माजी लिखते हैं—

'मूँछें इतनी लम्बी कि सिर पर उनकी गाँठ बाँधता था और दाढ़ी नाभि के नीचे तक फटकार मारती थी।'

'नौकर कलेवा ले आए—डेढ़ सौ पक्के केले, सेर भर शहद और सेर भर मक्खन।''' कलेवे के अलावा बर्रा दिन भर में एक मन गुजराती वजन का भोजन करता था जो इस गए गुजरे जमाने में बीस सेर के बराबर होता है।'

इससे भी अधिक मनोरञ्जक है वर्माजी का उसकी आवाज का बताना। खाते २ विभिन्न लोगों के साथ भिन-भिन प्रकार से बात करते समय भावावेश के अनुसार उसकी आवाज के उतार-चढ़ाव को जैसे जैसे विचित्र उपमानों से वर्माजी ने बताया है, वह एक ओर तो उनकी भाषा-शक्ति का परिचय देते हैं, और दूसरी ओर उनकी तीव्र श्रवण शक्तिका।

'पेट पर हाथ फेरकर बर्रा ने एक लम्बी डकार ली। जैसे बरसात में कोई कच्चा मकान गिरा हो।'

'रास्ता और घाट दिखाओ—बर्रा ने कहा, मानो मोटी भीगी दरी को किसी ने फाड़ा हो।'

'बर्रा ने मुलायम स्वर में कहा—फिर भी जान पड़ा जैसे कई फटे बाँस एक साथ बज पड़े हों।'

इससे भी अधिक विचित्र जीव है, अपने पिता गयासुद्दीन को विष द्वारा स्वर्गधाम पहुँचाकर सिंहासनारूढ़ होने वाला नसीरुद्दीन। पहिले दिन ही १५०० रानियाँ एकत्रित करने का प्रण किया। व्यवस्था के लिए वहीं खाते बने। मर्दुमशुमारी के लिए आदमी अलग रखे गए। एक दिन कालियादह में नग्न स्त्रियों की लज्जा से खिलवाड़ करते हुए दुर्घटना हो गई। कुछ स्त्रियों का दम फूल गया। शोर मचा—बचाओ-बचाओ। नवाब साहब के मुँह से भी निकल पड़ा—बचाओ। पास वाले नौकरों ने आकर प्राण बचाए। इनाम की प्रतीक्षा थी। आज्ञा हुई कि बिना हुक्म के हरम में घुस आने के जुर्म में नौकरों को कत्ल कर दिया जाए। फिर बड़े गमगीन होकर अपने मुसाहिब ख्वाजा मटरू से बोले—'ख्वाजा मटरू! सब मजा किरकिरा हो गया। कोई और शगल सोचो।' यह कर रानियों के डूबने लग जाने के कारण जहाँपनाह का जल विहार जो बीच में रुक गया। उन्हें इसी का गम था। शेष जो कुछ हुआ, मानो उनके लिए न होने के बराबर था। विश्वास नहीं होता कि मानव (!) की कामुकता, शक्ति के मद में, कभी इस सीमा को भी पहुँच सकती है!!

इन सामन्तों की बुद्धि का एक और नमूना देखिए। मृगनयनी को पाने के लिए गयासुद्दीन ग्वालियर पर तुरन्त आक्रमण करने की आज्ञा देता है। पता चला कि बरसात के कारण अभी आक्रमण नहीं हो सकता, बस फट पड़े—'इस कमबख्त बरसात के लिए क्या किया जाए! यह जो और तेजी के साथ बरस पड़ा। जैसे आसमान में छेद हो गए हों। धर्म के नाम पर यह राज्य विस्तार तो खूब करते थे, पर अपना स्वार्थ सामने आने पर धर्म के रहनुमाओं का क्या मूल्य उनकी आँखों में रह जाता था, यह भी देखने की चीज है। यही गयासुद्दीन लाखी को प्राप्त करने के लिए मन्दिर नहीं बरबाद कराता जिस पर मुल्लाओं को आपत्ति होनी स्वाभाविक थी। गयासुद्दीन बिगड़ उठे—गधा है! बेवकूफ है!! नालायक है!!! जाहिल है वह मुल्ला!!! मुल्ला नहीं कठमुल्ला है।'

धार्मिक संकीर्णता क्या कुछ कर सकती है,

प्रतीकात्मक रूप से स्वर्ण-चेतना कहा है........"
(मैं और मेरी कला—पंत, 'संगम' २१ मई सन् १९५०) उपरोक्त विचार को 'श्री अरविन्द दर्शन' शीर्षक कविता में अङ्कित करते हुए पन्तजी ने लिखा—

"आज लोक संघर्षों से जब मानव जर्जर,
अति मानव बन तुम युगसंभव हुए धरा पर ।
अन्न प्राण मन के त्रिदलों का कर रूपान्तर,
वसुधा पर नव स्वर्ण सँजोने आये सुन्दर ।"

कवि का विश्वास है कि वर्तमान संघर्षपूर्ण विश्व को यदि जीवित रहना है, विकास करना है तो उसे भारत की महान् विभूतियों—गांधी, अरविन्द आदि के जीवन दर्शन को अपनाना चाहिए। मानव की चेतना में आज एक प्रकार की जड़ता आ गयी है। पाशवता ने उसके देवत्व को दबा लिया है। एक मनुष्य दूसरे का गला काटने को तैयार बैठा है। मानव का अन्तर्मन सुप्त पड़ा है और बहिर्मन ने उसकी बुद्धि को कुण्ठित कर रक्खा है—

"बहिश्चेतना जाग्रत जग में,
अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित,
अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत ॥"

कवि वर्तमान दशा से सन्तुष्ट नहीं है और वह इसमें परिवर्तन लाना चाहता है—

"बदलेंगे हम चिर विपण्ण वसुधा का आनन
विद्युत् गति से लावेंगे जग में परिवर्तन ।"

यह परिवर्तन किस प्रकार सम्भव है ? अर्थ के समविभाजन से नहीं बल्कि जीवन के प्रति वर्तमान भौतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन ही इसका उपचार है। इसके लिए वर्तमान जीर्ण मन उपयोगी नहीं। अतः नवीन मन का सृजन करना पड़ेगा और कवि यही कहता है—

"सृजन करो नूतन मन।
प्रार्थी आज मनुज आत्मज मन
नव्य चेतना का भू पर
जिसकी स्वर्णिम आभा में
विकसित हो नव संस्कृत जीवन ।"

वर्तमान यांत्रिक युग ने हमारे भौतिक सुखों में वृद्धि अवश्य की है पर कवि की राय में वही सब कुछ नहीं। मानव की इच्छा पेट की ज्वाला शान्त करने तक ही नहीं, वह उससे भी आगे मन की तृष्णा भी शान्त करना चाहता है। यह तृष्णा बिना अन्तश्चेतना के शान्त नहीं हो सकती। कवि इसी-लिए सांस्कृतिक क्रान्ति को विशेष महत्व देता है। आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति तो उसकी दृष्टि में सांस्कृतिक क्रान्ति के महान् लक्ष्य की सोपान कही जा सकती है। वह सांस्कृतिक शीघ्र ही आने वाली है। उसे कोई रोक नहीं सकता, वर्तमान यान्त्रिक युग भी नहीं। कवि की राय में यह चिरन्तन 'सत्य' है—

"यान्त्रिक पशुबल से रोकोगे,
मानव का देवोत्तर विकास !"

कवि चाहता है कि मानव के सुप्त गुण जाग्रत हों—

"फिर श्रद्धा विश्वास प्रेम से
मानव अन्तर हो अन्तः स्मित ।"

मार्क्स की लाल क्रान्ति कवि की राय में भारत के लिए अनावश्यक और अहितकर है। पन्तजी का विश्वास है कि विश्व में भावी मानवता निर्माण करने की, पथ निर्देश करने की क्षमता महात्मा गाँधी और अरविन्द के जीवन-दर्शन में है। और उनका यह जीवन दर्शन ही पन्तजी की सांस्कृतिक क्रान्ति का आधार है।

यह माना जा सकता है कि अगर मानवता को वर्तमान विनाश से बचना है तो उसे ध्वंस के मार्ग, सृजन के पथ को अपनाना पड़ेगा। पर पन्तजी की यह सांस्कृतिक क्रान्ति कैसे हो ? कैसे मानव की अन्तर्चेतना जाग्रत हो ? क्या वर्तमान समाज व्यवस्था में यह सम्भव है ? नहीं। जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके श्रम का पूर्ण भाग नहीं मिलता तब तक सांस्कृतिक चेतना केवल कल्पना ही रहेगी और

इसी विचार को लेकर जब कुछ आलोचकों ने पन्तजी की इन नवीन रचनाओं की आलोचना की तो वे अत्यन्त क्षुब्ध हुए और उन आलोचकों को कम्युनिस्ट होने का फतवा दे दिया। 'ये आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं।" ('उत्तरा' की भूमिका)

'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की रचनाएँ ही नहीं बल्कि नामकरण भी पन्त को प्रगति के पथ से हटाकर उस कल्पना लोक में ले जाता है जिससे बचपन से ही उनका परिचय है। पन्तजी की नवीन रचनाओं की आलोचना करते हुए 'श्री बच्चनजी' ने लिखा है—"मनुष्यता सदा से स्वप्न देखने की आदी रही है। उसे अच्छे स्वप्न देखना आता है, चाहे वे स्वप्न अन्त में झूठे ही क्यों न साबित हों। पन्तजी की स्वप्नमयी कल्पना ऐसे तमाम लोगों के लिये निमन्त्रण है।" (उत्तर पथ—बच्चन, सगम, २१ मई सन् १९५०)

सांस्कृतिक क्रान्ति आवश्यक है यह तो स्वीकार किया जा सकता है पर बिना आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के वह किस प्रकार सफल हो सकती है इस पर विचार नहीं किया गया। पन्तजी वैज्ञानिक आविष्कारों के ध्वंसात्मक प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति ने मानव को अणुशक्ति से ही नहीं बल्कि उद्जन शक्ति से भी परिचित कराया है पर सृजन के लिये नहीं बल्कि संहार के लिए।" पर पन्तजी इस बात को भूल जाते हैं कि विज्ञान का संहारकारी प्रयोग वे मुट्ठी भर साम्राज्यवादी और पूँजीपति ही करते हैं जो अर्थ सत्ता को अपने अधिकार में रख कर करोड़ों व्यक्तियों का अधिकार और मुँह का कौर छीनना चाहते हैं। वैज्ञानिक उन्नति प्रतिगामी नहीं है, अन्तर व्यवहार में है। जहाँ राष्ट्रीयकरण है वहाँ वैज्ञानिक विकास व्यक्ति और समाज को अधिक से अधिक सुख और शान्ति प्रदान करता है। अशान्ति और दुःख का कारण तो वह तब बनता है जब कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का अधिकार छीन स्वय तो कोठियों में रहते हैं और उत्पादन करने वालों को अपने श्रम का पूर्ण भाग प्राप्त न होने के कारण सर्दी, गर्मी और बरसात में खुले आकाश के नीचे जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अतः सांस्कृतिक क्रान्ति और सांस्कृतिक चेतना मानव के लिये कल्याणकारी होते हुए भी बिना आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के असम्भव है। इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर सम्भव है, पन्तजी ने लिखा है—"मेरे हृदय में यह बात गम्भीर रूप से अङ्कित हो गई कि नवीन सामाजिक सगठन राजनीतिक आर्थिक आधार पर होना चाहिए। यह धारणा सर्व प्रथम सन् १९४२ में मेरी 'लोकायन' की योजनाओं में और आगे चल कर 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है।" (मैं और मेरी कला)

महात्मा गाँधी और अरविन्द का जीवन व्यक्ति के लिए उपयोगी और आदर्श हो सकता है पर जहाँ समाज का प्रश्न आता है वहाँ यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन में तप और एकान्तवास का नहीं बल्कि कर्म का महत्व अधिक है। अहिंसा का सिद्धान्त और तपस्या व्यक्ति के लिए शोभनीय हो सकता है पर समाज और देश की समस्यायें इनसे नहीं सुलझ सकती। गाँधीवाद भी सांस्कृतिक विकास में अभी आगे नहीं बढ़ा है। स्वयं पन्तजी ने 'उत्तरा' की भूमिका में इसे स्वीकार किया है—"गाँधीवाद का सांस्कृतिक चरण अभी पंगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुआ है।"

पन्तजी आजकल गद्य में नये प्रयोग कर रहे हैं और 'क्रमश' नामक उपन्यास की रचना में संलग्न हैं। आशा है कि मानवता का यह कवि अपनी लेखनी से युगानुरूप सामाजिक चेतना को अङ्कित कर प्रगति का नव प्रकाश विकीर्ण करेगा।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(एक अध्ययन)

श्री दुर्गाचरण मिश्र

आचार्य हजारीप्रसादजी हिन्दी के उन इने गिने चिन्तकों में से एक हैं जिनकी मूल निष्ठा प्राचीन भारतीय संस्कृति में है। लेकिन साथ ही साथ आप में नवीनता का एक अद्भुत एवं अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है। आपने जीवन के प्रारम्भिक काल में गवर्नमेण्ट-संस्कृत-कालेज, काशी में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की और साथ ही साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहचर्य्य से साहित्यिक प्रेरणा भी प्राप्त करते रहे। इस तरह एक प्रकार से आचार्य शुक्ल जी आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक गुरु हैं। काशी के अतिरिक्त हजारीप्रसादजी शान्ति निकेतन में हिन्दी भवन के अध्यक्ष भी रहे। शान्तिनिकेतन के रमणीय, सहज, आत्मीय एवं साहित्यिक वातावरण में रहकर आचार्य हजारीप्रसादजी को अपने पाण्डित्य का संस्कार करने का स्वर्ण अवसर मिला। वहाँ पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन के सरल साहचर्य्य में आपने बँगला साहित्य का गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन किया। साथ ही साथ इन महानुभावों के सरल एवं आत्मीय स्वभाव ने हजारीप्रसादजी को भी प्रकृति, पशु, पक्षियों, पौधों आदि से आत्मीयता स्थापित करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक व्यक्तित्व निर्माण में एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हाथ है तो दूसरी ओर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन का। इसी प्रकार अध्ययन में एक ओर संस्कृत के विशाल साहित्य-भण्डार का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य और विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों का गहन अध्ययन, उदाहरणार्थ जैन धर्म बौद्ध धर्म नाथ सम्प्रदाय एवं सिद्ध सम्प्रदाय आदि और दूसरी ओर बँगला साहित्य का विस्तृत ज्ञान। इसके अतिरिक्त आपका अपभ्रंश-साहित्य का भी विशेष अध्ययन उल्लेखनीय है। आचार्य हजारीप्रसादजी हिन्दी साहित्य में निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में विशेष विख्यात हैं।

निबन्धकार—निबन्धकारों में यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य शुक्लजी के पश्चात् आचार्य हजारीप्रसादजी का ही प्रमुख स्थान है। हम यह पहले कह आये हैं कि आचार्य शुक्लजी आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक गुरु हैं। अतः शुक्लजी की निबन्ध-शैली का हजारीप्रसादजी की शैली पर स्पष्ट प्रभाव है। हजारीप्रसादजी के हमें चार प्रकार के निबन्ध प्राप्त होते हैं—

१—शुद्ध साहित्यिक निबन्ध।
२—सांस्कृतिक निबन्ध।
३—खोज सम्बन्धी निबन्ध।
४—शिक्षा विषयक निबन्ध।

शुद्ध साहित्यिक निबन्धों में 'वसन्त आ गया', 'एक तोता और एक मैना', 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है' आदि हैं, जिनमें आप की विद्वता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। वसन्त आता है, हमारे आसपास का वातावरण, वनस्थली अनेक प्रकार के रङ्ग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित हो जाती है लेकिन हममें से बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उसे देखकर कुछ सोचते हैं। हजारीप्रसादजी उसे देखते हैं। उस पर विचार करते हैं और कहने के लिए बाध्य हो उठते हैं—"पढ़ा है हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमङ्ग नहीं इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूँ पेड़-पौधे और भी बुरे हैं।........वसन्त आता नहीं ले आया जाता है" (अशोक के फूल पृ० सं० १२)

इन निबन्धों को पढ़कर पाठक कुछ सोचने के लिये बाध्य होता है।

सांस्कृतिक निबन्धों म 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' 'भारतीय संस्कृति की देन' आदि प्रमुख हैं। जिनम हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति के व्यापकता की एक झाँकी मिलती है। साथ ही साथ उसका संसार की अन्य प्राचीन संस्कृतियों से एक तुलनात्मक अध्ययन भी प्राप्त होता है। जो हमें हमारी संस्कृति की विशेषता और उसके व्यापक प्रसार का ज्ञान कराते हैं। संस्कृति के बारे में इनका अपना जो मत है वह यह है — 'मैं संस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अङ्गीकृत नहीं हो सकी" (अशोक के फूल पृ० सं० ७३, भारतीय संस्कृति की देन) इस प्रकार ये सारे संसार की जातियों में सांस्कृतिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयास करते हैं।

खोज सम्बन्धी निबन्धों के लिये तो हजारीप्रसादजी हिन्दी में एक हैं। इनसे पहले इस प्रकार के निबन्धों का एक प्रकार से हिन्दी में बिलकुल अभाव ही था। सिद्ध साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन साहित्य, अपभ्रंश साहित्य आदि के व्यापक अध्ययन के बाद आपने इन सम्प्रदायों पर तथा उनके साहित्य पर जो निबन्ध लिखे वे हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के अन्तर्गत आपके इसी प्रकार के निबन्धों का सकलन है। इन निबन्धों से हिन्दी साहित्य के वास्तविक इतिहास को समझने और लिखने में विशेष सहायता मिली है। कबीर के ऊपर आपकी पुस्तक 'कबीर' हिन्दी साहित्य को अनुपम और नवीन देन है।

शिक्षा विषयक आपके बहुत कम निबन्ध हैं। लेकिन शिक्षा के बारे में आपका एक स्वस्थ दृष्टिकोण होने के कारण तद्विषयक निबन्धों में भी आपने शिक्षा को जनहित की दृष्टि से ढालने की एक नवीन दिशा सुझाई है, जिसका अनुसरण किया जाय तो राष्ट्र के उत्थान के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हो सकती है।

निबन्धों की भाषा और शैली में भी हजारी प्रसादजी अपनी विशेषता रखते हैं। भाषा सरल एवं चुस्त है। शब्द-चयन और वाक्य विन्यास कितना सुन्दर है, इसका परिचय आपको केवल एक उदाहरण से मिल सकता है। जैसे "नीम है, जवान है। मसें भींगी हैं और आशा तो है ही" "मल्लिका बुरी तरह चुप है" (अशोक के फूल—पृ० सं० ११—वसन्त आ गया) गम्भीर भावों के लिये भी आपने अपनी एक ही प्रकार की सरल भाषा का प्रयोग इस विदग्धता के साथ किया है, कि न भाषा में दुरूहता आने पाई है, और न भावों के व्यक्त होने में ओछापन ही आने पाया है। उर्दू एवं अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का एक प्रकार से बहिष्कार ही है। संस्कृत उद्धरण एव समास बीच बीच में मिलते हैं। शैली प्रवाह युक्त है। बंगला साहित्य और विशेषकर गुरुदेव के प्रभाव के कारण आपका वर्णन शैली में जो आत्मीयता बोधगम्यता एवं सरलता है वह हिन्दी के किसी भी निबन्धकार में नहीं पाई जाती। शुक्लजी की भाँति अपने मत को किसी के ऊपर बलपूर्वक लादने की इन्होंने कहीं भी कोशिश नहीं की है। कहीं व्यङ्ग भी किया है, तो बड़े आत्मीय ढङ्ग से उदाहरण के लिये 'एक तोता और एक मैना' नामक निबन्ध में मैना के ऊपर यह व्यङ्ग देखिये—"भले मानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते।" यही कारण है कि लेखक की आत्मीयता पाठक के साथ बराबर बनी रहती है। पाठक को इनके आचार्यत्व का भान किसी प्रकार खटकता नहीं। लेखक के भावों का पाठक के भावों के साथ तादात्म्य होता चलता है। उसे निबन्ध में एक अपनापन सा अनुभव होता है। हाँ इनके निबन्धों में शुक्लजी की भाँति तारतम्य

आद्योपान्त एक ही नहीं रहता। इसका कारण यह है कि ये विषय से हटकर बहुत दूर चले जाते हैं, और फिर घूम-फिरकर उस पर आते हैं। उदाहरण के लिये 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध को ही लीजिये। उसमें द्विवेदीजी अशोक के फूल के बारे में सोचते सोचते भारतीय संस्कृति और मानव-प्रकृति तक चक्कर काट आते हैं। और फिर अन्त में विषय पर आते हैं। इसलिये इनके अनेक निबन्ध निबन्ध न रहकर 'लेख' की श्रेणी में आ जाते हैं समझाने का ढङ्ग भी हजारीप्रसादजी का अपना है। विषय को समझाने के बाद पाठक को आप एक नाटकीय चरमसीमा पर लाकर छोड़ देते हैं कि वह कुछ सोचे। निबन्ध में आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि आप विषय के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालते चलते हैं। जिसके लिये आपको अनेक ऐसी बातें कहनी पड़ती हैं, जो विषय के बाहर की होती हैं। इससे पाठक का एक विषय के साथ साथ अन्य अनेक विषयों का ज्ञान भण्डार भी बढ़ता रहता है। पाठक की उत्सुकता बनी रहती है। वह एक के बाद दूसरे निबन्ध को पढ़ने की इच्छा करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हजारीप्रसादजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं।

आलोचक—'वाद' से तटस्थ रहकर साहित्य की सच्ची परख करने वालों में आचार्य हजारीप्रसादजी का नाम अग्रगण्य है। द्विवेदीजी में आलोच्यकृति की आत्मा को मापने की अद्भुत क्षमता है। एक ओर संस्कृत काव्य शास्त्रों का गहन अध्ययन और दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ की आलोचना शैली के प्रभाव से आपकी आलोचना की आधार-भूमि अत्यन्त ही दृढ़ है। उसमें न शुक्लजी की भाँति शास्त्र की कट्टरता है, और न शान्तिप्रिय द्विवेदी की भाँति कवि का बेमेल भावातिरेक। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय आपकी आलोचना में सभी स्थानों में प्रतिबिम्बित होता है। आज से कई वर्ष पूर्व आपकी आलोचनायें 'विशाल-भारत' में छपीं जिनमें आपने आधुनिक छायावादी काव्यों का विवेचन करते हुये आधुनिक-काव्य का विवेचन किया जो अपर्याप्त मात्रा में होते हुये भी अत्यन्त पुष्ट एवं आक्षेपरहित है। साथ ही साथ वह शास्त्रीय भी है। परन्तु हजारीप्रसादजी का ध्यान अब विशेष रूप से आलोचना की ओर न होने के कारण उनका आभार आलोचनात्मक साहित्य पर कम है।

आजकल हजारीप्रसादजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं, और हिन्दी-साहित्य की प्राचीन पुस्तकों की खोज तथा उसके प्रकाशन की ओर विशेष प्रवृत्त हैं। आशा है आप हिन्दी-साहित्य को अपनी अन्य खोजपूर्ण कृतियाँ देकर उसके भण्डार को भरेंगे।

आपकी कृतियाँ :—

१—विचार और वितर्क,
२—अशोक के फूल।
३—कबीर
४—बाणभट्ट की आत्म कथा,
५—हिन्दी साहित्य की भूमिका
६—नाथ सम्प्रदाय।

नोट—उक्त पुस्तकें हमारे यहाँ से प्राप्त हो सकती हैं।

'चिन्तामणि' के निबन्ध

श्री कुमार शम्भूसिंह भादवा एम० ए०

'चिन्तामणि' के निबन्धों की विशेषताओं का उल्लेख करने के पहले हमें निबन्ध-रचना तत्व पर विचार कर लेना चाहिये।

'गद्य कवीना निकष वदन्ति' के अनुसार यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध को गद्य की कसौटी कहा जा सकता है। वस्तुतः निबन्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ चाहे कुछ भी क्यों न हो—आज इसे अंग्रेजी के 'Essay' शब्द का ही पर्याय समझा जाता है। तथापि व्याख्या की दृष्टि से आचार्य रामकृष्ण शुक्ल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "निबन्ध एक ऐसी गद्य रचना है जिसमें किसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञात और ज्ञातव्य तथ्यों का सकलन उसकी बौद्धिक प्रतिपत्ति के लिये किया जाता है।" यहाँ हम निबन्ध के अनिवार्य उपकरणों पर विचार करेंगे।

वस्तुत निबन्ध में विचार और विचार शीलता आवश्यक तत्व हैं। निबन्ध म साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा विचार तत्व का प्राधान्य होता है, एव भाव तत्व गौण रहता है। भावना प्रवृत्ति मूलक हैं, एव विचार निवृत्ति-मूलक। निबन्ध में यह निवृत्ति प्रवृत्ति का ही नियमन करती है—तभी निवृत्ति प्रधान विचार भी हमारे लिये अतीव प्रयोजनीय हैं। अत. निबन्ध में विचार तत्व की प्रधानता आपेक्षिक दृष्टि से ही है—जो कि भावाश अथवा भाव तत्व को सयत रखता है। तद्विपरीत साहित्य के अन्य प्रकारों—उपन्यास, कहानी, आत्मकथा आदि में विचार तत्व की अपेक्षा भावाश प्रधान होता है। यों तो भाव और विचार प्राय परस्पर सलग्न से रहते हैं, तथापि निबन्ध म आपेक्षिक दृष्टि से विचार तत्व की प्रधानता—इसका साहित्य की अन्य विधाओं से पार्थक्य सिद्ध करती है।

निबन्ध की अन्य प्रमुख विशेषताओं में—प्रयत्नशीलता, वैयक्तिकता, सचितता, स्वतन्त्रता आदि हैं। स्वतन्त्रता से हमारा आशय विचारों की उच्छृंखल अभिव्यञ्जना से नहीं—प्रत्युत प्रतिपाद्य विषय पर अपने मौलिक ढङ्ग से सोचने, विचारने एवं उसे अपनी निजी अभिव्यञ्जना प्रणाली से अभिव्यक्त करने में है—जिसे हम पारिभाषिक पदावली में 'शैली' कहते हैं। वस्तुत निबन्ध में भावप्रेषणीयता नितान्त अनिवार्य है। भावप्रेषणीयता का अर्थ है, आत्माभिव्यञ्जन की सफलता और इसके लिये लेखक एव पाठक में पूर्ण तादात्म्य की आवश्यकता है। इस तादात्म्य अथवा सम्पर्क-स्थापन का माध्यम है, शैली। अत शैली निबन्ध का सर्वाधिक अनिवार्य गुण है, क्योंकि शैली के द्वारा ही लेखक अपने निबन्ध में वैयक्तिक तत्व (Per-onal element) और मानवीय तत्व (Hum1n element) को अभिव्यक्त करता है। कहानी, उपन्यास आदि में शैली इतना प्रमुख तत्व नहीं क्योंकि उनमें तो भावाश की प्रधानता होने से लेखक का व्यक्तित्व अन्यथा भी पहचाना जा सकता है, किन्तु निबन्ध एक विचार प्रधान रचना होने से इसमें लेखक का व्यक्तित्व तलस्पर्शी रहता है, अत निबन्ध में लेखक के भावनात्मक पक्ष को प्रस्फुटित करने का शैली ही एकमात्र साधन है।

निबन्ध के वैयक्तिक तत्व से हमारा आशय उस अश से है, जिसके द्वारा हम लेखक के व्यक्तित्व को अर्थात् उसके भावात्मक पक्ष को सरलता से देख सकते हैं। अत निबन्ध का वह तत्व जिसके द्वारा हम लेखक के साथ एक प्रकार के भावात्मक साहचर्य का अनुभव करते हैं—वैयक्तिक तत्व कहलाता है। तद्विपरीत मानवीय तत्व के सहारे लेखक अपने वर्ण्य

विषय को सबकी पठनीय वस्तु बनाता है, क्योंकि मानवीय तत्व सभी का समान रूप से अनुभूति का विषय होता है। निबन्ध के ये दो अतीव अनिवार्य तत्व हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि निबन्ध अपनी विचारशीलता, वैयक्तिकता, सहितता एवं शैली के कारण साहित्य के अन्य प्रकारों से सर्वथा एक विशिष्ट विधा है। उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में और निबन्ध में जो मौलिक अन्तर है, वह इन्हीं गुणों के कारण—जो शैली के द्वारा प्रकट होते हैं। शैली के इस प्राधान्य के कारण ही कहा जाता है—'Style is the man.'

निबन्ध के उपर्युक्त तत्वों के आधार पर अब हम 'चिन्तामणि' के निबन्धों पर विचार करेंगे। वस्तुतः 'चिन्तामणि' में संग्रहीत निबन्धों के हम स्पष्ट ही दो प्रकारों अथवा श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) एक श्रेणी में तो मनोविकारों अथवा मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध आते हैं। जिनमें 'श्रद्धा-भक्ति', 'लज्जा और ग्लानि' 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध', आदि हैं।

(२) दूसरी श्रेणी में हम विवेचनात्मक अथवा समीक्षात्मक निबन्धों को रख सकते हैं। इन समीक्षात्मक निबन्धों के भी स्पष्ट ही दो विभेद लक्षित होते हैं—

१—सैद्धान्तिक समीक्षा—जैसे 'कविता क्या है', 'काव्य में लोकमङ्गल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'मानस की धर्म भूमि'।

२—व्यक्ति विषयक समीक्षा—'भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्ति मार्ग'।

इस प्रकार 'चिन्तामणि' में स्पष्ट ही तीन प्रकार के—मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी अथवा समीक्षात्मक, एवं व्यक्ति विषयक निबन्ध मिलते हैं। इन सब निबन्धों के आधार पर हम शुक्लजी की कुछ निबन्ध-गत विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—

१—मनोवैज्ञानिक निबन्धों का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध.—आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में सर्वप्रथम इस विषय पर उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध तो लिखे ही साथ ही इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उन्होंने इन मानवीय भावों अथवा मनोविकारों—प्रेम, लोभ, ईर्ष्या, करुणा, भय, क्रोध आदि वृत्तियों को शुद्ध मनः शास्त्र के चश्मे से न देखकर साहित्य के स्थायी भावों के रूप में देखा है। एवं साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। फलतः इन निबन्धों को लिखते समय उनकी दृष्टि बराबर जीवन पर ही केन्द्रित रही—मनोविज्ञान के ग्रन्थों पर नहीं। उन्होंने इन वृत्तियों का अपने प्रत्यक्ष जीवन में ही अनुभव किया। एवं उसी अनुभव के आधार पर इनकी मीमांसा की है। दूसरे शब्दों में उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर ही इन वृत्तियों की मीमांसा पर जीवन को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि इनमें हमें अन्तः निरीक्षण, एवं बाह्य निरीक्षण का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनके मनोभावों अथवा मनोविकारों का उद्गम स्थान मनः शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ नहीं—प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन का कर्मक्षेत्र है। एवं जीवन के इसी विशाल वाङ्मय में कर्म सौन्दर्य के बीच बिखरे हुये सूक्ष्म भाव तन्तुओं को लेकर उ॰ ॰ । जीवन के ही समष्टि रूप कलेवर को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि हम इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों को एकान्ततः मनःशास्त्र की वस्तु कहकर टाल नहीं सकते। ये मनोशास्त्र की शुष्क सिद्धान्तजाल से गुम्फित एवं समाच्छन्न नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूतियों के स्पन्दन से अनुप्राणित हैं। शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की यह एक बड़ी भारी विशेषता है। जो इनके निबन्धत्व को कभी संदिग्ध नहीं होने देगी।

(२) भारतीय शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था—

वस्तुतः शुक्लजी के निबन्ध उनके गम्भीर अध्ययन, गहन मनन एवं मौलिक आत्म चिन्तन के परिणाम हैं। उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ही विविध विषयों की मीमांसा की है। तथापि उनके सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी निबन्धों की—जिनमें उन्होंने काव्य शास्त्र की दृष्टि से विचार किया है—सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि उन्होंने इन निबन्धों में जो आदर्श प्रतिष्ठित किया है वह सर्वथा भारतीय शास्त्र से सम्मत एवं भारतीय आदर्श भावना पर निर्धारित है। भारतीय शास्त्र के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा रही है। फलतः उनके सभी तात्मक निबन्धों—'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोक मङ्गल की साधनावस्था', 'मानस की धर्म भूमि' आदि में जो उन्होंने अपना मत अभिव्यक्त किया है, आदर्श स्थापित किया है—उसका सम्बन्ध सीधा भारतीय शास्त्र से ही है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर अपने प्रतिपाद्य विषयों का आधुनिक ढङ्ग से नवीन रूप में प्रतिपादन कर आचार्य ने समीक्षा पद्धति के क्षेत्र में एक पथ-प्रदर्शक अथवा नियामक का कार्य किया है। इनके ये निबन्ध मौलिक विवेचन एवं गहन आत्म चिन्तन से प्रसूत अवश्य हैं—तथापि शुक्ल जी की विचार-धारा की मूल पृष्ठभूमि भारतीय होने से इनके निबन्धों की आधार शिला भी वही है। उनकी उत्कट लोकादर्श भावना इसी का परिचायक है।

(३) विषय तथा व्यक्ति का अपूर्व सामञ्जस्य:—शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' की भूमिका में ही कहा है "इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं अथवा व्यक्ति प्रधान।" वस्तुतः इस कथन से उन्होंने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि इन निबन्धों में विषय एवं व्यक्ति के अपूर्व सामञ्जस्य का प्रयास किया गया है। दूसरे शब्दों में इनके निबन्ध विवेचनात्मक अथवा समीक्षात्मक होने के कारण विषय प्रधान तो हैं ही साथ ही इनमें व्यक्तित्व की भी अप्रधानता नहीं है। उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है अन्यथा उनके मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मनोविज्ञान के विषय होने से केवल विषय प्रधान कहलाते किन्तु शुक्ल जी ने उनमें यत्र तत्र अपने व्यक्तित्व की अतीव सुन्दर झलक दिखाकर विषय और व्यक्ति का अनूठा सामञ्जस्य स्थापित किया है। विषय के झीने अवगुण्ठन में से उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलक रहा है। इसीलिये न तो वे एकान्ततः विषय प्रधान ही कहे जा सकते हैं और न एकान्ततः व्यक्ति प्रधान ही—बल्कि वे दोनों का सुन्दर समन्वय हैं।

(४) एक प्रकार की प्रबल प्रेरक शक्ति अथवा भाव प्रेषणीयता :—यद्यपि शुक्ल जी के निबन्ध—जैसा कि हम कह आये हैं—इनके गहन अध्ययन मनन एवं चिन्तन के परिणाम हैं—किन्तु इनकी सर्वाधिक विशिष्टता अपने सचित ज्ञान को एक अत्यन्त प्रभावशाली शैली द्वारा अभिव्यक्त करने में है। क्योंकि यों तो हमें शुक्ल जी से कहीं अधिक सूक्ष्मदर्शी एवं मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करने वाले लेखक हिन्दी साहित्य में मिल सकते हैं—तथापि उनकी सी समर्थ अभिव्यञ्जना शक्ति हमें परवर्ती निबन्ध लेखकों में नहीं मिलती। उनमें एक ऐसी प्रेरक शक्ति है कि हम उनके सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिये सहसा प्रवृत्त हो जाते हैं—और इसी में निबन्धकार की सफलता है। अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धों को भी अपनी अपूर्व व्यञ्जना शैली द्वारा उन्होंने अत्यन्त सरल, सुबोध एवं सहज ग्राह्य बना दिया है। दुरूह विषयों की विवेचना करते समय उन्होंने बहुत छोटे एवं सारगर्भित सूक्ति-वाक्यों का प्रयोग किया है। जैसे—

'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।'

'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।'

अब भाव प्रेषणीयता की दृष्टि से इन निबन्धों की शैली अत्यन्त सफल है। इनकी इसी प्रेरणा शक्ति

के कारण इनका स्थान निबन्ध साहित्य में सर्वोपरि रहेगा। उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशाली (Impressive) एव विश्वसनीय (Convincing) तो है ही—साथ ही उसमें एक प्रकार की अशेष शालीनता (Grandeur) भी है।

(४) वैयक्तिक तत्व एव मानवीय तत्व — निबन्ध के ये दो अतीव महत्वपूर्ण तत्व हैं जो निबन्धकार की शैली द्वारा प्रकट होते हैं। वैयक्तिक तत्व (Human element) का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व के भावात्मक अंश से है एव मानवीय तत्व (Human element) के अन्तर्गत वह सब कुछ आ जाता है जो सबका समान रूप से अनुभूति का विषय (Matter of Common Experience) बन सकता है।

चिन्तामणि के निबन्धों में ये दोनों तत्व मिलते हैं। साहित्य के स्थायी भावों अथवा व्यक्ति मात्र की शाश्वत वृत्तियों (लोभ, प्रेम, क्रोध, प्रीति आदि) को वर्ण्य विषय मानकर चलने के कारण इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों म मानवीय तत्व तो हैं ही पर बीच बीच में वैयक्तिक तत्व (Personal touch) के भी यत्र तत्र अतीव सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार विचारों के शुष्क तन्तुवाय के भीतर से हम लेखक के विशुभ्र, कोमल, भावात्मक स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं। ऐसे वैयक्तिक तत्व के उदाहरणों में शुक्लजी के व्यग्य बड़े मार्मिक हैं। दो एक उदाहरण लीजिए—

(१) मोटे आदमियो 'तुम अगर जरा सा दुबला हो जाते—अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितनो ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।

(२) हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी पर ये लोग (स्वार्थी एव ढोंगी देशोद्धारक) बाघ की बोली भी बोल लेते हैं।

(३) सगीत के पेंच पाच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है उस समय बड़े बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बडे बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।

चिन्तामणि के निबन्धों की इन कतिपय विशेषताओं का अवलोकन कर हम कह सकते हैं कि हिन्दी निबन्ध साहित्य में क्या ऐतिहासिक एव क्या गवेषणात्मक दोनों दृष्टियों से आचार्य शुक्ल का स्थान अद्वितीय है। चिन्तामणि म सगृहीत इन निबन्धों में हमें निबन्ध के सभी अनिवार्य तत्व—विचारशीलता, सक्षिप्तता, वैयक्तिकता, प्रभाव प्रेषणीयता आदि मिल जाते हैं। हाँ, एक 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध अवश्य अपनी परिमिति का अतिक्रमण करता सा प्रतीत होता है—अन्यथा शेष सभी निबध प्राय. सक्षेप में ही हैं।

वस्तुत' आचार्य शुक्ल अपने निबन्धक्षेत्र के एकमात्र अधिपति हैं। यों हिन्दी साहित्य में इन्हीं विषयों को लेकर चाहे कितनी ही सूक्ष्म विवेचना—कितना ही गहन विश्लेषण क्यों न किया जाय, तथापि इससे आचार्य शुक्ल के निबन्धों का महत्व कभी कम नहीं हो सकता। कारण उनमें शुक्लजी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व ही सन्निहित है—एव साहित्य में व्यक्तित्व का स्थानापन्न होना कदाचित् सभव नहीं।

वीर सतसई : एक दृष्टि

श्री कुमार शम्भूसिंह भादवा, एम० ए०

वीर सतसई राजस्थान के अमर कवि सूर्यमल्ल की अमर कृति है। जिस समय बूँदी का यह बाल रवि अपनी प्रतिभा की प्रखर किरणों से, वीरत्व की तीक्ष्ण मयूखों से साहित्य के वाङ्मय को प्रलोकित कर रहा था—वह समय देश का महान् संक्रमण काल था विदेशियों की सार्वभौम सत्ता की उन्मुक्त कादम्बिनी भारतीय व्योम में विस्तरित होकर एक ओर सकल ऐश्वर्य की शीतल वृष्टि कर रही थी तो दूसरी ओर स्वतन्त्रता-सूर्य की ज्योति को सदा के लिए आवृत्त! इसीलिये तो समस्त भारत में प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम की उद्दाम ज्वाला फूट पड़ी। यह इतिहास प्रसिद्ध सन्, ५७ का तथाकथित विद्रोह था। ऐसे ही विषमकाल में सतसई के रचयिता ने अपनी वीर भावना से उद्वेलित होकर देश की सुप्त वीरता को उद्‌बुद्ध करने का बीड़ा उठाया। सतसई के दोहों में कवि ने जागरण का यही महामन्त्र फूँका है जिसका प्रत्येक स्वर कवि की इसी प्रबुद्ध कण्ठ-ध्वनि से निनादित है। सतसई का प्रारम्भ ही इसकी ओर संकेत करता है—

> बीकम बरसां बीतियाँ गुण चौ चन्द गुणीस।
> विसहर तिथि गुरु जेठ वदि समय पलट्टी सीस॥

समय के इस परिवर्तन को कवि ने भली भाँति समझा और तभी तो उसने देश के तत्कालीन सैनिक वीर राजपूतों का बड़ी ही ओजस्वी वाणी में आह्वान किया। क्योंकि कवि को सदैव ही मातृभूमि की रक्षा के निमित्त पद पद पर न्यौछावर होने वाले, शौर्य के साक्षात् प्रतीक एवं वीरता के वरेण्य दूत इन राजपुत्रों पर बड़ा गर्व था—बड़ी आशा थी। किन्तु उस समय ये नर सिंह अपने अभिजात्य पौरुष एवं पराक्रम को भूल कर विलासिता में लवलीन हो रहे थे। उनकी इस मोह-निद्रा को भङ्ग करना परम वांछनीय था। इसलिये कवि ने उनको अपने उज्ज्वल अतीत के विस्मृत गौरव का स्मरण दिलाकर उनके समक्ष एक ऐसे आदर्श वीर समाज का चित्र प्रस्तुत किया जो उन गहन निराशा में उद्‌भ्रान्त क्षत्रियों को किसी अक्षय आलोक स्तम्भ के समान अपने गतव्य की ओर प्रेरित कर सके। सतसई में चित्रित उस आदर्श वीर समाज का सबसे उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट अङ्ग है-वीर नारी! वह नारी जो स्वयं वीरता का मूर्त विग्रह है, त्याग की सजीव प्रतिमा है, उत्सर्ग का ज्वलन्त दृष्टांत है।

सतसई में इस तेजोमयी नारी को हम मुख्यतः दो रूपों में देखते हैं—वीर माता एवं वीर पत्नी। कवि जानता था कि वीर माता ही वीर पुत्र उत्पन्न कर सकती है। सिंहनी की कोख से ही सिंह-शावक जन्म लेते हैं। इसीलिये उसने वीरत्व की साक्षात् प्रतिमूर्ति वीर माता का अत्यन्त हृदय ग्राही वर्णन किया है। वीर माता को यदि किसी बात का सबसे अधिक ध्यान है तो वह है अपने दूध की लाज का। उसकी एकमात्र यही साध है कि उसका वीर पुत्र या तो अपने अतुल शौर्य एवं उद्भट पराक्रम से समर में जूझकर शत्रुओं पर विजय लाभ करे अन्यथा वह धारा तीर्थ में स्नान करता हुआ अपने प्राणों का विसर्जन। इनसे पृथक् अपने पुत्र का युद्धभूमि से जीवित पलायन वह कदापि नहीं देख सकती। देखिये उस वीर माता को अपने दूध की लाज का कितना ध्यान है—

> सहणी सबरी हूँ सखी दो उर उलटी दाह।
> दूध लजाणे पूत सम, बलय लजाणे नाह॥

वह दूध नहीं वरन् तीव्र हलाहल है जिसका पान कर उस वीराङ्गना का पुत्र कभी रणक्षेत्र

पराजित होकर नहीं लौट सकता। ऐसा ही था उन वीर माताओं का दूध जिसे पीकर उन वीरों को अपने देश की रक्षा के लिए हँसते हँसते उत्सर्ग हो जाने की महत्प्रेरणा मिलती थी।

साथ ही कवि को अजस्र प्रेरणा दायिनी वीर नारी का पत्नी रूप भी बहुत प्रिय है। जिस प्रकार वीर माता को अपने स्तन्य की लाज का ध्यान है उसी प्रकार वीर पत्नी को अपने चूड़े का। यही कारण है कि अपने पति के युद्धार्थ अभियान करते समय वह इन मार्मिक शब्दों में अपने स्वामी को विदा करती है—"हे नाथ! गज मुक्ताओं से मैंने आपकी पूजा की है, मुझ जैसी वीर बाला का आपने पाणि पीड़न किया है एवं आप पर खूब चँवर डुला कर मैंने आपकी अथक सेवा की है, अब युद्ध भूमि में भी मेरे इस चूड़े की लाज रखने का ध्यान आपको शक्ति देगा'—

पूजाणी गज मोतियाँ, मीडाणी कर मूझ।
वीजाणी घण चामरा हूँ चूडो बल तूझ॥

कितनी प्रेरणा प्रद पंक्तियाँ हैं!

यदि उस वीराङ्गना का पति समर में विजय लाभ कर लौटता है तो वह वीर बाला अत्यन्त उल्लास पूर्वक अपने विजयी पति की नीराजना करती है—आरती उतारती है। इसके विपरीत यदि कदाचित वह योद्धा युद्ध में धराशायी होकर वीर गति को प्राप्त होता है तो वह वीर पत्नी सम्भवतः उससे भी द्विगुणित उमंग से अपने दिवङ्गत पति के साथ सती होने का उपक्रम करती है। कैसी अपूर्व आकांक्षा है! एक ओर सहमरण की अनुरागिनी वीराङ्गना को सती होने का चाव लग रहा है तो दूसरी ओर उसके युवा पति की धारा तीर्थ में स्नान करने का। वृद्धा सास अपने पुत्र और पुत्र वधू की यह मरण उमङ्ग देख कर दङ्ग रह जाती है—

आज घरै सासू कहै, हरख अचाणक काय।
बहू बलेवा हूलसै, पूत मरेवा जाय॥

धन्य राजस्थान! तुम्हारे सिवा शायद ही कहीं मृत्यु का यों जय-जय कार किया जाता हो। मरण महोत्सव का इतना स्वागत! कवि ने सती प्रथा को वीरत्व का ही एक अभिन्न अङ्ग माना है—सर्वथा उज्वल एवं अनुपम। क्योंकि यह सहमरण नारी हृदय की वियोग-जन्य दुर्बलता का परिणाम नहीं वरन सती की उस अनुपम निष्ठा एवं अविचल आस्था का प्रतीक है जो इस पार्थिव जगत् के क्षणिक, सम्बन्ध से परे—उस अमरलोक में प्राप्य शाश्वत सयोग को ही अपने जीवन का एकमात्र ध्येय समझती है। उन वीर पत्नियों को अनन्य विश्वास था कि जब वे सोलह शृङ्गार से सुसज्जित होकर अपने पति के शव को गोद में लिए हुये चिता पर आरोहण करेंगी तभी तो उनका अपने पति के साथ चिरकाल के लिए मिलन होगा, वह मिलन जो कभी टूट नहीं सकता और इसी नित्य सयोग की मङ्गल कामना से प्रेरित होकर वे अपने अनित्य शरीर की तनिक भी ममता न रख सहर्ष ज्वलन्त-वसन में क्रीड़ा करती थी। उधर उन वीर योद्धाओं को विश्वास था कि युद्ध में वीर गति को प्राप्त होने पर वे सीधे स्वर्ग जावेंगे जहाँ स्वर्ग की वे अनिंद्य रूपवती अप्सरायें उनको अपने सुकुमार हाथों से आसव पिलायेंगी। इस प्रकार देश के युवक और युवतियों में मरण की सार्थकता का अमोघ मन्त्र फूँक फूँक कर कवि ने उन्हें देश रक्षा के निमित्त उत्सर्ग होने को आह्वान किया। सतसई के दोहों में मर मिटने की उत्कट भावना है, देश पर उत्सर्ग होने की महत् प्रेरणा है, हृदय को वीरत्व से उद्वेलित करने की अतुल शक्ति है एवं मृत्यु द्वारा ही गौरवपूर्ण जीवन निर्वाह करने का अमिट सन्देश है। कवि ने अपने इसी सन्देश को अत्यन्त मर्मस्पर्शी वाणी में व्यंजित किया है।

सतसई का काव्य सौष्ठव इस बात में है कि कवि ने वीरता के प्रतीक किन्हीं दो चार उपकरणों द्वारा ही वीर रस का मूर्तिमान् स्वरूप चित्रित किया है। देखिये ऐसे भूमि के अधिपतियों के रहते हुये

कौन उनकी भूमि का अपहरण कर सकता है—जिनके—

घर घोड़ा ढाला पटल भाला थम बणाय।
जे ठाकुर भोगे जमी, और किसा अपणाय॥

भला ऐसे शूरवीर अपनी मातृभूमि के लिए क्यों न न्यौछावर होंगे जिनको पालने में झुलाते हुये भी माँ ने लोरी गागा कर यही सिखाया था—

इला न देणी आपणी हालरिया हुलराय।
पूत सिखावे पालणे मरण बडाई पाय॥

वीर पुत्र ही क्यों अवसर पड़ने पर वीरबाला भी शत्रु से लोहा ले सकती है—

सिंहण जाई सिंहणी लीधी तेग उठाय।

इस प्रकार वीर सतसई में वीर रस से उद्वेलित करने वाले अत्यन्त सजीव चित्र मिलते हैं। वीर नारी के तेजोमय स्वरूप का दर्शन हम कर चुके—इसके अतिरिक्त योद्धाओं की स्वामि भक्ति, धरती प्रेम, प्रतिशोध भावना इत्यादि का भी कवि ने अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। वीर स्वामी वह नहीं जो अपने उद्दाम पराक्रम से शत्रु के सैन्य समूह को चीरता चला जाता है—वल्कि वह है जिसकी रक्षा के लिये उसके निज के ही सैनिक अहमहमिका से अपने प्राण दे देते हैं एवं स्वामी के घायल होकर गिर पड़ने पर जब चील्ह उसकी आँखों का भक्षण करने के लिये उस ओर झपटती है तो उस समय भी व वीर अपने कलेजे के टुकड़े टुकड़े काट कर उनकी ओर फेंककर अपने स्वामी के नेत्रों की रक्षा करते हैं—

मंड सो ही पहला पड़े चील्ह विलग्गा चैंक।
नैण बचावे नाह रा आप कलेजो फैंक॥

ऐसे स्वामि-भक्त योद्धाओं के घावों को भरने के लिये यदि रानियाँ स्वयं अपने हाथों से नीम पीसती थीं तो इसमें आश्चर्य ही क्या? ऐसे वीरों के साधारण झोंपड़ों पर राजाओं के रम्य रङ्गमहल भी न्यौछावर हैं जो विवाह के अवसर पर भी समर दुन्दुभि का घोष सुनकर तुरन्त रण के लिये प्रस्थान कर देते हैं—

वध सुणायो बींद नूँ पैंसन्ता घर आय।
चञ्चल माम्हे चालियो अञ्चल बंध छुडाय॥

वरण से भी अधिक मरण को महत्ता देने वाले इन शूरवीरों का रक्तदान देश के लिये परम गौरव एवं गर्व की वस्तु है—इनका जन्म और मरण दोनों ही धन्य हैं। जन्म लेकर इन्होंने जननी के भाल को उज्ज्वल किया एवं अपने को उत्सर्ग कर इतिहास को अमरत्व का अक्षय वरदान दिया है।

इस भाँति सतसई के इन दोहों में एक आदर्श वीर समाज का चित्रण कर कवि ने तत्कालीन क्षत्रिय समाज को उद्बोधित करना चाहा ताकि उनका सुप्त वीरत्व उद्वेलित होकर देश रक्षा के लिये समष्टि रूप में खड़ा हो सके। किन्तु आह! कवि द्वारा उत्तेजित किये जाने पर भी विलासी क्षत्रियों की मोह निद्रा भङ्ग नहीं हुई। ऐसी निराशाजनक स्थिति में कवि का मानस एक अतीव करुणा जनक अवसाद से समाहित हो गया। वीरत्व का स्रोत अवरुद्ध हो गया एवं निराशा की उस गहन तमिस्रा में वीरत्व की तरल विद्युच्छटा को अपने अन्तर्पट में छिपाये ही कवि की वाणी ने भी अकस्मात् मौन धारण कर लिया। देश पर पराधीनता की घनघोर घटा छा गई। ऐसी विषम परिस्थिति में कवि के मानस से केवल यही विषाद भरी उक्ति निकली—

जिण वन भूल न जावता गैंद गवय गिडराज।
तिण वन जम्बुक ताखड़ा ऊधम मंडै आज॥

इस प्रकार वीर सतसई में काव्य सौष्ठव के साथ साथ तत्कालीन परिस्थिति की ओर भी सकेत है। वस्तुत "वीर सतसई भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का काव्यमय उद्गार है।" हाय! जहाँ भूलकर भी गीदड़ पैर नहीं रखते थे आज वहीं वे निश्शङ्क होकर विचरण कर रहे हैं। जो कभी सिंह शावकों का रम्य क्रीड़ा हर्म्य था आज वहीं शूकर समूह विध्वंस का

कुटिल ताण्डव कर रहा है एव जहाँ जाते हुए मदोन्मत्त गजयूथ भी थर्राते थे आज वहीं वे उच्छृ खल होकर उत्पात मचा रहे हैं—

डोहै गिड थन बाडिया द्रह ऊँडा गज ढीह।
मींहग नेह सकैंक तो सहल भुलाणो सीह॥

इन पक्तियों म कितने गम्भीर विषाद की छाया है। आप तनिक सोचिये कि कवि को अपनी वाणी की विफलता पर कितना असह्य दुःख—कितनी तीव्र वेदना हुई होगी जब उसने देखा कि इस पुण्य भूमि भारत में जहाँ शान्ति और सौख्य का अटल साम्राज्य था एव स्वतन्त्रता का बाल सूर्य जहाँ अपनी समुज्ज्वल कान्ति विकीर्ण करता हुआ दिग दिगन्त को उद्भासित करता था—वही आज विदेशी आक्रान्ताओं की सघन मेघमाला से आच्छादित होकर यों अस्तमित हो रहा है। दैव की यह निर्मम विडम्बना कवि को सहन न हो सकी और यहीं उस स्वतन्त्रता के अमर पुजारी एव वाणी के वरद् पुत्र ने अपने वीर हृदय से निसृत उस सिन्धु-गर्जना को सदा के लिये अपने मौन में ही अव्यक्त रख कर काव्य-जगत से विदा ली—तथापि उसकी यह अधूरी रागिनी युग-युग तक भारतीय वाङ्मय को निनादित करती हुई देश प्रेम की भव्य भावना का मङ्गल उद्घोष करती रहेगी—इसम कोई सन्देह नहीं।

(पृष्ठ ६० का शेष)

प्रान्तों में उनके बीच शिक्षा के अभाव ने उन्हें इस सौभाग्य के उपभोग से भी वञ्चित रहने को विवश किया है। जिन महिलाओं ने इस दिशा म थोड़ी बहुत भी चेष्टा की है, वे निर्विवाद रूप से प्रस्तुत अनुष्ठान मे सफल हुई हैं यह मानने के पर्याप्त कारण हैं। होमवती के 'निसर्ग' तथा 'धरोहर' शीर्षक कहानी सग्रहों को पढ़कर तथा सौनरिक्शा के 'आदम खोर' को देखने से मैं अपनी मान्यताओं के समर्थन में विशेष बल का अनुभव करने लगा हूँ। उषा देवी मित्रा की कहानियों में से भी यही सिद्ध होता है। 'अतीत के चलचित्र' में महादेवी के सस्मरणों को जिन्होंने गौर से पढा है, उनकी राय समवत. मुझसे मिलती जुलती होगी। इसे आप दुराग्रह समझने का भ्रम न करें।

जब मैं प्रस्तुत तर्कों को सामने रखकर हिन्दी-साहित्य पर विचार करता हूँ, तो मेरा मस्तक गुप्तजी के चरणों पर श्रद्धा से झुक जाता है। जिन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी अपने लोक प्रिय महाकाव्य 'साकेत' मे 'पारिवारिक रस' का पूर्ण परिपाक किया है।

पारिवारिक कथा-साहित्य : (डायरी के पन्ने)

प्रो० बैजनाथप्रसाद खेतान, एम० ए०

मार्च सन् ५१ की ८ तारीख। मैंने विभूति भूषण वन्द्योपाध्याय की 'सान्त्वना' शीर्षक अनूदित कहानी (प्रतीक वर्ष ३, संख्या २, फरवरी १९५१) आज समाप्त की और अनायास ही सोचने लगा— क्या हिन्दी में पारिवारिक कहानियाँ नहीं लिखी जा सकतीं ? बहुत सोच समझ कर और अत्यधिक तर्क वितर्क के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि वर्तमान समय में इसके लिये अनुकूल परिस्थिति नहीं है। हिन्दी भाषी प्रान्तों में परिवार होते ही कहाँ हैं ? घूँघट और मर्यादा के बाह्याडंबर में हम मिले जुले रह कर भी अपनी सर्वथा स्वतन्त्र इयत्ता बनाये हुए हैं। इसी की यह स्वाभाविक परिणति है कि हमें चिन्तन का तो अवसर मिलता है, परिहास का नहीं। अतः हिन्दी वाले दार्शनिक अधिक होते हैं, व्यावहारिक कम। यह उनकी प्राकृतिक विशेषता है।

इसी प्रसंग में मुझे दो एक बातें और भी सूझीं। बंगाल के मध्यवर्गीय घरों में संगीत है, उनकी महिलाओं में थोड़ा बहुत शिक्षा का भी प्रचार है, इनकी तुलना में हिन्दी भाषी तथा कथित मध्य परिवारों में कलह है, उनकी स्त्रियाँ अनपढ़ हैं। इन परिस्थितियों को देखते हुए आप कलाकारों की मनःस्थिति का अनुमान कीजिए। बंगाल का कथाकार कृतिनिर्माण के सिलसिले में अपनी पत्नी से सहयोग की आशा करता है, लेकिन हिन्दी के कथाकार को तो ... लिखते हुए झुँझलाहट होती है। वे इस लायक भी नहीं कि प्रेस भेजने के लिये रचनाओं की प्रतिलिपि तक कर सकें। इस वातावरण में हिन्दी के कथाकारों से पारिवारिक कहानियों की उम्मीद करना दिवा स्वप्न नहीं तो और क्या है ? हम इसके लिए उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करनी होगी जब कि रवीन्द्र संगीत की तरह हिन्दी भाषी परिवारों में निराला संगीत मुखरित होने लगेगा।

बंग प्रदेश में उत्तराधिकार के जो नियम हैं, उनसे घर बार में शान्ति बनी रहती है, यह कानून का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। दायभाग सम्प्रदाय के अनुसार पैतृक सम्पत्ति पर व्यक्ति का जन्मना अधिकार नहीं होता, बल्कि पिता की मृत्यु के बाद ही वह बँटवारे की माँग कर सकता है। अतः वहाँ लड़के, कभी भी पिता से झगड़ने का दुस्साहस नहीं कर सकते, अन्यथा उन्हें सम्पत्ति से वंचित रह जाना पड़ेगा। हिन्दी भाषी प्रान्तों में इसके ठीक विपरीत परिस्थिति है। वे मीताक्षर सम्प्रदाय से अनुशासित होते हैं जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्ति का जन्मना अधिकार मान लिया गया है। यही कारण है कि हम आये दिन सुना करते हैं, कि पिता पुत्र में, भाई भाई में बँटवारे के लिये खून-खराबी तक हुई। इस गृह कलह के वातावरण में पारिवारिक कथा साहित्य की समृद्धि नहीं हो सकती, यह मानी हुई बात है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि पारिवारिक कहानियों का सम्बन्ध केवल अमन-चैन से ही क्यों जोड़ा जाय, गृह-कलह को भी तो केन्द्र मानकर रचनाएँ लिखी जा सकती हैं ? माना कि आपका सवाल अपनी जगह ठीक है, लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि कोई भी कलाकार यह नहीं चाहता कि उसके प्रशंसक यह समझने लगें कि लेखक का घर एक ऐसे विषैले धुएँ से भरा हुआ है जिसमें प्रतिभा का भी दम घुटने लगता है।

मनोविज्ञान का अध्ययन करुणा की ओर प्रवृत्त रहने के कारण नारी-जाति से यह आशा रख सकता है कि वे पारिवारिक कथा साहित्य को स्वस्थ बनाने का बीड़ा उठायें, लेकिन हिन्दी भाषी

(शेष पृष्ठ ८६ पर)

आलोचना

आधुनिक साहित्य—लेखक-श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक-भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ४१६, मूल्य ७)

हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर क्रम बद्ध रूप में बहुत कम लिखा गया है क्योंकि हम उसके बहुत निकट हैं। इतिहासकार साहित्य के साथ कदम मिला कर नहीं चल सकता। उसको समय चाहिए। उसको सोचने समझने और व्यापक दृष्टिकोण बनाने के लिए समय अपेक्षित है। इसीलिए विद्वद्वर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने स्फुट निबन्धों को 'निर्माण की पगडण्डियाँ' कहा है किन्तु ये पगडण्डियाँ काफी चौड़ी हैं, ऐसी ही पगडण्डियों पर रोलर फेर कर इतिहास का राज मार्ग बनाया जा सकता है। ये निबन्ध इतिहास नहीं हैं किन्तु इतिहासकारों के लिए मूल्यवान सामग्री अवश्य उपस्थित करते हैं। वास्तव में जो चीज इतिहास के निकट आती हो वह इसकी भूमिका और नई कविता शीर्षक निबन्ध है, उसमें बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अर्द्धशताब्दी के अन्त तक के साहित्य का प्रवृत्तिगत सिंहावलोकन किया गया है। उसी भविष्य में बनने वाले राजमार्ग के रमणीय विराम स्थलों की जैसे साकेत, कामायनी, कृष्णायन, कुरुक्षेत्र, प्रयोगवादी कविता के तारसप्तक, गोदान, त्यागपत्र आदि की झाँकी भी दिखा दी गई है। इन ग्रन्थों के आलोचनात्मक परिचय देने में लेखक ने बड़ी सुरुचि और सतुलन से काम लिया है, गुण और दोष दोनों ही लेखक के दृष्टिकोण से सामने लाये गये हैं। दृष्टिकोण में पूर्ण निरपेक्षता बहुत कठिन है। लेखक का प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कविताओं की अपेक्षा छायावाद की ओर अधिक झुकाव प्रतीत होता है किन्तु वे उसके अन्धप्रशंसक नहीं हैं। उसके सूक्ष्म सौन्दर्यबोध भाषा की लाक्षणिकता के हिमायती होते हुए भी वे उसके सामूहिक चेतना के अभाव को स्वीकार करते हैं। 'वाजपेयीजी अच्छी कविताओं के मूल में वे उलझी हुई संवेदनाओं और मानसिक कुण्ठाओं को स्थान नहीं देते हैं। उपन्यासों में भी लोक प्रतिष्ठित नैतिक भावनाओं का तिरस्कार करने वाले जैनेन्द्रजी के वैयक्तिक मनोविज्ञान के वे पक्षपाती नहीं हैं। प्रेमचन्द के प्रशंसक होते हुए भी उन्होंने गोदान को इतना महत्त्व नहीं दिया है जितना देना चाहिए। वे उसमें किसी व्यापक संघर्ष को नहीं देखते हैं। वास्तव में गोदान का संघर्ष व्यक्तिगत अधिक है। साकेत, कामायनी आदि की आलोचना में उन्होंने शुक्लजी की भाँति कुछ काव्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है जिनमें उन्होंने महाकाव्यों के प्राचीन मानदण्डों में परिवर्तन का अनुभव किया है।

इस ग्रन्थ में कहानी नाटक आदि के शिल्प विधान पर भी प्रकाश डाला है। नाटक के तत्वों में पश्चिमी और पूर्वी सिद्धान्तों को छोड़ दिया गया है। उनके समन्वय और पारस्परिक समावेश का प्रयत्न नहीं किया गया है। नाटकों के सम्बन्ध में कुछ अवस्थाओं अर्थ प्रकृतियों और सन्धियों के ऊपर नया प्रकाश डाला गया है। कुछ साहित्यिक समस्याओं पर, जैसे स्वच्छन्दता और परम्परा Romanticism and Classicism तथा यथार्थ और आदर्श का विवेचन किया गया है। रस और ध्वनि के सम्बन्ध में कोई नवीन बात नहीं कही गई है। क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद के सम्बन्ध में वाजपयी ने शुक्लजी की अपेक्षा अधिक सहानुभूति से काम लिया है। यद्यपि इस पुस्तक की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ उतनी पुष्ट और मौलिक नहीं है जितनी कि व्याव हारिक आलोचनाएँ तथापि इस ग्रन्थ में वाजपेयीजी के साहित्यिक अध्ययन का फल हमको एकत्रित मिल जाता है और हमको उनकी कठिन साधना से लाभ उठाना चाहिए।

सुमित्रानन्दन पन्त—काव्यकला और जीवन दर्शन—सम्पादिका-श्रीमती शचीरानी गुर्टू, एम० ए०, प्रकाशक-सर्व श्री आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ३०२ मूल्य ६)

प्रस्तुत पुस्तक श्री सुमित्रा नन्दन पन्त पर अधि कारी विद्वान द्वारा लिखे हुए निबन्धों का सग्रह है। किन्तु ये निबन्ध इस प्रकार सजाये गये हैं कि उनसे पन्तजी के व्यक्तित्व, कवित्व और उनकी भावधारा तथा अभिव्यञ्जना शैली का पूर्ण आभास मिल जाता है। निबन्धों के आरम्भ में सम्पादिका का एक छोटा सा प्राक्कथन भी है जिसमें कवि प्रतिभा का क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त विकास क्रम दिया हुआ है। लेखिका का मत है कि आलोचकों के मत पर उनकी प्रतिभा कुरी है और वे स्वय भी अपनी प्रतिभा का विश्लेषण नहीं कर सके हैं। उनके आत्मविश्लेषण में भी आलो चकों के मत की प्रतिध्वनि है। यद्यपि यह ठीक है कि कवि की प्रतिभा कुछ अश में आलोचकों के मत से प्रभावित होती है तथापि कवि उनके ऊपर भी रहता है कवि को आत्म प्रकाश और आत्म बोध का श्रेय न देना उनके साथ अन्याय है। पन्तजी के आत्मविश्लेषण में उन परिस्थितियों और प्रभावों का वर्णन मिलता है जिन्होंने उनकी प्रतिभा को गति दी है—किस प्रकार उनकी प्रतिमा प्रकृति प्रेम रहस्यमयी जिज्ञासा में परिवर्तित हुई, फिर वह वस्तुवाद की ओर गई और उसने आध्यात्म से समन्वय किया और अन्त में उसका सास्कृतिक रूप निखरा। पन्तजी के व्यक्तित्व पर दो लेख हैं एक शिवचन्द्र नागर का दूसरा बच्चनजी का। बच्चनजी का लेख बहुत कवित्व पूर्ण है। इन लेखों द्वारा पता चलता है कि पन्तजी को लोग जैसा आत्मलीन और असामाजिक समझते हैं वैसे वे नहीं हैं वे बड़े वाग्विदग्ध हैं। वे भावुक होते हुए भी ससार का ज्ञान रखते हैं—चिकित्सा शास्त्र की उनको अच्छी जानकारी है। वे पूजा नहीं वरन् प्रकृति और सर्वात्मा से साम्य भावना प्राप्त करने के लिए थोड़ी देर के लिए ध्यानमग्न भी होते हैं।

लेख सभी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं छायावादी दृष्टिकोण से और प्रगतिवादी दृष्टिकोण से भी। डाक्टर रामविलास जी ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से पन्तजी के स्वर्ण साहित्य की आलोचना की है। वे पन्तजी जो 'ग्राम्या' में प्रगतिवादियों के आदर्श कवि और गर्व के कवि थे आज उनकी निगाहों से गिर गये हैं। जो कुछ भी हो पन्तजी में पूँजीवाद के साथ समन्वय की गध पाना प्रगतिवादी भावाक्रान्तता का फल है। यह सब पन्तजी की सौन्दर्यानुभूति का फल है जो चारों ओर सोना ही सोना देखती है। सोना पूँजीवाद का ही प्रतीक नहीं है वरन सौन्दर्य का भी। अन्त में एक विनोद की बात कह देना चाहता हूँ जहाँ डाक्टर रामविलास शर्मा ने स्वर्ण किरण में 'चिर' के बाहुल्य की शिकायत की है वे भूल जाते हैं कि उस पुस्तक में 'चिर' गाँव के सन्त

का स्तवन भी है। पुस्तक का सग्रह सुरुचि पूर्ण और एक प्रकार से क्रमबद्ध भी है। भूमिका में भी यदि सब निष्कर्षों को यथा स्थान बैठा दिया जाता तो सोने में सुगन्ध की बात हो जाती। —गुलाबराय

मीरा, एक अध्ययन—लेखिका–सुश्री पद्मावती 'शबनम' प्रकाशक–लोकसेवक प्रकाशन, बनारस। पृ० स० २६४, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है—१–विषय प्रवेश, २–जीवन खण्ड, ३–उपासना खण्ड ४–आलोचना खण्ड और ५–परिशिष्ट। सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री परशुरामजी चतुर्वेदी के 'वक्तव्य' से पुस्तक का प्रारम्भ हुआ है। इस ग्रन्थ के पढ़ने पर लेखिका की शोध दृष्टि की छाप पाठक पर पड़े बिना नहीं रहती। मीराबाई के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक सामान्य धारणाओं पर लेखिका ने युक्ति और प्रमाणों का सहारा लेते हुए प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिये हैं। अध्ययनशील पाठक निश्चय ही अपने अपने ढङ्ग से इन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे और इस प्रकार मीरा सम्बन्धी अध्ययन को एक गति मिलेगी जिसकी वास्तव में अत्यन्त आवश्यकता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लेखिका मताग्रहित्व से अपने आपको बचा सकी है, ज्ञान के क्षेत्र को वह उन्मुक्त रखना चाहती है और वस्तुतः यही सच्ची शोध दृष्टि भी है। लेखिका ने एक पुस्तक लिख कर हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। 'चन्द्रसखी' और उसके भजनों पर भी यदि कोई शोधपूर्ण पुस्तक लेखिका प्रस्तुत कर सके तो एक बड़े अभाव की पूर्ति हो। स्व० पुरोहित हरिनारायणजी मीराबाई की चर्चा चलने पर अत्यन्त उल्लसित हो उठते थे। इस सम्बन्ध में करीब एक हजार भजनों का सग्रह उन्होंने मुझे दिखलाया था। 'मीरा एक अध्ययन' जैसी कृतियों से पुरोहितजी की स्वर्गस्थ आत्मा को भी शान्ति मिलती होगी।

—कन्हैयालाल सहल

काव्य

निराधार—लेखक व प्रकाशक–श्री विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०, बनवटा, मुरादाबाद। पृष्ठ ६६, मूल्य १।)

'निराधार' मानवजी द्वारा लिखित ६ गद्य गीतों का सग्रह है। लेखक ने ये गद्य गीत नारी जीवन के विभिन्न अङ्गों को छूते हुये लिखे हैं, जिसमें कहीं-कहीं देश की आर्थिक हीन अवस्था तथा साम्प्रदायिक भावनाओं का चित्र उपस्थित हो जाता है। प्रथम गद्य गीत 'भाभी' में जात पाँत और वात्सल्य प्रेम का एक सजीव द्वन्द्व है। 'चन्दा' और 'मीरा' दोनों में ही बालिका के सरल और निष्कपट हृदय का चित्रण है। 'नरगिस' में देश में फैली हुई साम्प्रदायिक भावनाओं की ओर लेखक का लक्ष्य है। 'महामाया' 'श्यामा' तथा 'सुषमा' में लेखक ने नारी हृदय की सरलता, प्रेम और बन्धनों की कहानी को रखा है। अन्तिम गीत 'आरती' में दार्शनिकता और काव्य की कसौटी पर नारी को परखने की चेष्टा की है।

लेखक ने अपने गद्य गीतों में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की अपेक्षा अपने भावुक हृदय को अधिक महत्त्व दिया है। जीवन की वास्तविकता से गीतों के पात्र दूर ही दिखाई पड़ते हैं और लेखनी द्वारा ही सञ्चालित प्रतीत होते हैं। गीतों में प्रवाह है, भावुकता है, किन्तु सजीवता नहीं। सामाजिक बन्धनों और परिस्थितियों से उत्पन्न वेदना और निराशा तो है किन्तु कहीं भी जीवन से समझौता नहीं है।

—दयाशङ्कर शर्मा

उपन्यास

अछूत—ले०–श्री मुल्कराज आनन्द, अनुवादक 'निष्काम' प्रकाशक (निष्काम प्रकाशन, मेरठ)। पृष्ठ १६५, मूल्य १॥)

इस छोटे से उपन्यास में भङ्गी-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलेगी। सवर्ण हिन्दुओं का

भङ्गियों के साथ कैसा अमानुषिक और क्रूर व्यवहार भारतवर्ष में रहा है यह सब भी। इसका नायक है बक्खा जो आधुनिक काल में भङ्गियों का प्रतिनिधि होकर आया है। उसमें जातीय गुण अधिक हैं, वैयक्तिक कम। उसके जीवन के उतार चढ़ाव में मानवोचित सभी आशाओं आकांक्षाओं का सञ्चार होता है पर रहता है वह समाज से बहिष्कृत ही। अन्त में गाँधीजी के व्याख्यान से प्रभावित होना दिखाया गया है। यह उपन्यास लेखक के अन्य उपन्यासों जितना रुचिकर नहीं बन पाया। मल मूत्र के वर्णनों की भरमार से बीभत्सता आ गई है और पाठक भी जैसे उसमें तन्मय होकर अपनी सवर्णता भूल नहीं पाता। इसे पढ़ कर पुरानी बात म बहुत कुछ सत्य लगा कि चाहे जो कोई काव्य का नायक हो जाय तो साधारणीकरण नहीं हो पाता। वैसे अनुवाद अच्छा हुआ है।

भावी समाज की भूमिका—लेखक-श्री बलभद्र ठाकुर साहित्याचार्य, प्रकाशक-शक्ति पब्लिकेशन्स फीरोजपुर शहर। पृष्ठ ४१८, मूल्य ४।।।)

'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का लेखक ने स्वयं अपने प्राक्कथन म तिरस्कार किया है। कला का वे नैतिक मानदण्ड मानते हैं मनुष्य को, समाज को सुधारना है कला का काम, बिगाड़ना नहीं। उपन्यास में यही नैतिक, आदर्शवादी दृष्टिकोण सामने आया है। 'अपने धूमिल जीवन म बहुत कुछ देखा, भीतर और बाहर की आँखों से' लेखक ने उन्हीं यथार्थवादी चीजों को कथासूत्र में पिरोया है। प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद म लेखक का विश्वास है। यह उपन्यास पढ़ते समय बार बार आरम्भिक कृति सा लगता है पर लेखक की सूझ बूझ को देखते हुए लगता है कि आगे जाकर वे साहित्य को अधिक सुगठित उपन्यास दे सकेंगे।

मृगजल—ले०-श्री अनन्तगोपाल शेवड़े, प्रकाशक-नीलाभ प्रकाशन गृह ५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद। पृ० ३३५, सजिल्द मूल्य ५)

मराठी भाषा ने हिन्दी को दो यशस्वी लेखक दिये हैं—आलोचक माचवे और कहानीकार शेवड़े। शेवड़े के दो उपन्यास 'निशागीत' और 'पूर्णिमा' पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इस उपन्यास का नायक है चित्रकार अशोक। कला की साधना में तन्मय रहने वाला अशोक मायादेवी, मरियम और अरुणा के क्रमिक प्रभाव में आता है। मायादेवी पूरी मायाविनी और धूर्त है—निर्लज्ज होकर वह अशोक से प्रेम का भीख माँगती है। नग्न चित्र खिंचवा कर उसे अपनी साधना से स्खलित भी करती है। मायादेवी से उलझ उलझ कर भी वह सुलझ जाता है। फिर मिलता है उसको मरियम का सहज, अकृत्रिम प्रणय। मरियम के गर्भ रह जाता है। अशोक का आगे जाकर विवाह हो जाता है आधुनिक रमणी अरुणा से, पर उनका गार्हस्थ जीवन सुखी नहीं रहता। अविवाहित गर्भिणी मरियम के पुत्रोत्पत्ति होती है। पुत्र को लेकर वह सब तरह के लाँछन सहती है। मायादेवी अशोक को फिर फँसाना चाहती है पर अशोक को निर्लिप्त देखकर वह स्वयं अपने को बदल लेती है, बुरी से एक दम भली बन जाती है। अरुणा अशोक को छोड़ कर चली जाती है और मायादेवी मरियम और अशोक को मिलती है। मरियम की मृत्यु हो जाती है। माया का आकस्मिक परिवर्तन खटकने वाला है क्योंकि चित्रकार अशोक इतने 'उज्ज्वल' नहीं कि वे माया की 'कालिमा' को पोंछ सकें। इन तीनों स्त्रियों में मरियम अविवाहित स्थिति में गर्भवती होने पर भी सर्वश्रेष्ठ चित्रित की गई है। वह हार्डी के टेस की याद दिलाती है। पूरा उपन्यास मेरीडिथ के Egoist का स्मरण दिलाता है वहाँ भी Sir Willoughby patlerne के इर्द गिर्द तीन स्त्रियाँ हैं। बाध्य होकर उसे तिरस्कृता Laetitia Dale को अन्ततोगत्वा अङ्गीकार करना पड़ता है। उपन्यास रुचिकर और सराहनीय है।

आखिरी दाँव—ले०-श्री भगवतीचरण वर्मा, प्रकाशक-भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृ० सं० २७२, सजिल्द मूल्य ३॥)

ससुराल वालों के बर्ताव से तङ्ग आकर एक हिन्दू स्त्री चमेली घर से बाहर निकल जाती है और कई ठोकरें खाने के बाद उपन्यास के नायक रामेश्वर के पास रहने लगती है। अपनी सारी सम्पत्ति खोकर रामेश्वर गरीबी का जीवन बिता रहा है पर आत्मसम्मान के साथ। न चाहते हुए भी चमेली को वह स्टूडियो में काम करने देता है। वहाँ सेठ शिवकुमार तथा सेठ शीतलप्रसाद आदि उसे कई तरह से फँसाने की चेष्टा करते हैं। रामेश्वर से अपमानित होकर शीतलप्रसाद उससे बदला लेने पर उतारू है चमेली रामेश्वर को सचेत भी करती है, रामेश्वर को और अपने को बचाने के लिए शीतलप्रसाद की हत्या भी कर देती है पर रामेश्वर जूआ खेलने में इतना तन्मय है कि वह चमेली की बात सुनी अनसुनी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप वह गिरफ्तार भी होता है यह कह कर "ले चलिये सार्जेण्ट साहब—आज मैं जिन्दगी का आखिरी दाँव हार चुका हूँ लेचलिये!" यह उपन्यास का अन्तिम वाक्य है और यही है इसके शीर्षक की सार्थकता। स्टूडियो में काम करने वालों का बड़ा तथ्यपूर्ण चित्रण हुआ है और अप्रत्यक्षरूप से जूए की हानियों का दिग्दर्शन भी जिसके कारण रामेश्वर जैसे दृढ़ एवं कर्मठ व्यक्ति को भी नीचा देखना पड़ता है। उपन्यास रुचिकर, सुगठित एवं सुगठन है।

सौभाग्य—ले०-श्री जानकीप्रसाद पुरोहित और 'प्रेरणा' प्रकाशक-नवजीवन पुस्तक माला मल्हारगञ्ज, इन्दौर। पृष्ठ ११२, मूल्य १॥)

यह 'एक था राजा जिनके न था कोई लड़का' के ढङ्ग की बूढ़ी दादी—नानी के मुँह से कही जाने वाली कहानी सी है। राजा के योगी के आशीर्वाद से लड़का हो जाता है—उधर दूसरे राजा के लड़की दोनों जङ्गल जाते हैं—वहाँ लड़की अरुणा कुमार अरुण के कुष्ठका दैवी उपचार सफलतापूर्वक करती है और दोनों का विवाह हो जाता है और पिताओं के राज्यों पर अधिकार कर लेते हैं। शैली प्रौढ़ है अन्यथा बच्चों के लायक कहानी अच्छी है। उपन्यास को संज्ञा इसे बेकार दी गई है।

मुक्ति के बन्धन—लेखक-श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रकाशक-भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ संख्या ३४६, सजिल्द मूल्य ४)

देश की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं कुमार और लक्ष्मी। दोनों चाहते थे अविवाहित रहना पर अन्त में दोनों परिणय के सूत्र में ग्रथित होते हैं। यही हैं मुक्ति के बन्धन। इस उपन्यास में कुमार के विकास-दर्शन के साथ साथ अनेक प्रश्नों की चर्चा हुई है। कच्ची-पक्की रसोई, ज्योतिष, अन्धविश्वास, आश्रम-जीवन, सत्याग्रह, उसका सरकार द्वारा दमन आदि आदि। कुमार का गायब हो जाना 'नेताजी' के जीवन का याद दिलाता है। उपन्यास में कई जगह अनावश्यक विस्तार है तथा सुगठितता का कहीं-कहीं अभाव सा है। उपन्यास सर्वत्र एकसा रुचिकर भी नहीं है। लेखक औपन्यासिकता को भूलकर अनेक जगह नैतिक-धार्मिक प्रश्नों के वितण्डा में पड़ गये से दीखते हैं जिससे कथा का प्रवाह मन्द पड़ गया है। फिर भी आजकल के नवीन-प्राचीन का सङ्घर्ष इसमें ठीक प्रतिफलित हुआ है। पुराने लोगों के आचार-विचार और उनकी मान्यताएँ आधुनिक युग में कहाँ तक मान्य हैं इनकी चर्चा अधिकतर हुई है।

—प्रो० नागरमल सहल एम० ए०

शिक्षा-विज्ञान

शिक्षण प्रविधि—लेखक-श्री विश्वनाथ सहाय तथा रानी माथुर, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ७६, मूल्य १॥)

पुस्तक एक सुन्दर, सरल एवं मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से शिक्षकों को एक विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान करने में सहायक होगी। लेखकों ने बड़ी

सावधानी से तथा बहुत ही सत्तेप में उन सब वृहद अनुभवों का निचोड़ संग्रह कर दिया है, जिनका जानना हर अध्यापक के लिये नितान्त आवश्यक है।

लेखकों ने नवीन शिक्षा प्रणालियों पर बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से प्रकाश डाला है। इस युग के शिक्षा प्रेमियों के लिए इस पुस्तक में प्रस्तुत किये हुए ढङ्ग बहुत हितकर सिद्ध होंगे। ये नवीन योजनाएँ उन अध्यापकों के सामने नया रूप प्रदर्शित करेंगी। जिनका उन्हें अभी तक भास भी न था। इस पुस्तक में बताई गई नीति द्वारा शिक्षक अपनी कक्षा के बालकों के लिये बहुत उपयोगी बन सकेगा।

—जे० पी० गुप्ता एम० ए०, एल० टी०

धर्म और दर्शन

गीता-मर्म—लेखक-श्री कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार 'गीतामर्मज्ञ', प्रकाशक-साहित्य निकेतन कानपुर और बरेली। पृष्ठ संख्या ६२५, मूल्य ७)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत ऊँचा स्थान रखती है। इसकी अनेकों टीकाएँ हुई हैं और प्रत्येक टीकाकार ने अपने अपने मत के अनुकूल अर्थ लगाये हैं। प्रस्तुत टीका आर्य समाजी दृष्टिकोण से लिखी गई है। इसमें गीता के निष्काम कर्म को मान्यता देते हुए अन्य सिद्धान्तों को आर्य समाज की मान्यता के अविरुद्ध बताने का प्रयत्न किया गया है। इसमें अवतारवाद, सगुणोपासना, मूर्तिपूजा आदि को आश्रय नहीं दिया गया है। गीता के एकात्मवाद को भी पूरी तौर से नहीं माना गया है वरन् प्रकृति को परमात्मा से स्वतन्त्र ही माना गया है। गीता को आर्य समाज की मान्यताओं के अनुकूल बनाने में अर्थ में काफी खींचतान करनी पड़ी है। भगवान कृष्ण को विष्णु का अवतार नहीं माना है वरन् योगेश्वर ही माना गया है, इसीलिए चतुर्भुज शब्द का चारभुजाओं वाला अर्थ नहीं माना है। वैसे तो गीता के अनेकार्थ और लोगों ने अर्थ भी लगाये हैं किन्तु वे लोग साधारणतया मान्य अर्थों को भी मान्यता देते हैं। इसमें बुद्धिवाद को अधिक स्थान देते हुए भी पर्याप्त उदार दृष्टिकोण रखा गया है।

भारतीय धर्म और दर्शन—लेखक-मिश्रबन्धु प्रकाशक—राष्ट्रभाषा प्रकाशन, चौक बाजार, मथुरा। पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य १॥)

डाक्टर शुकदेव विहारी मिश्र मूलतः इतिहासज्ञ हैं। इस ग्रन्थ में भारतीय धर्म और दर्शन का पूर्व वैदिककाल से लगा कर बीसवीं शताब्दी तक संक्षेप में परन्तु क्रम बद्ध रूप से परिचयात्मक और कुछ आलोचनात्मक भी इतिहास उपस्थित किया गया है। इस इतिहास का आधार यद्यपि शास्त्रीय है तथापि इसके निर्णय पाश्चात्य विद्वानों के मत के अनुकूल अधिक हैं। लेखक की इतनी ही ईमानदारी है कि इन निर्णयों को उसने अन्तिम नहीं बतलाया है वरन् उनको दिशा निर्देश मात्र कहा है। पाश्चात्य पण्डितों के अनुकूल ही लेखक ने माना है कि भारत में कोल द्रविड़ सभ्यता आर्यसभ्यता के पूर्वकी है और वैदिक कालमें इन दोनों सभ्यताओं में घर्ष रहा है।

वैदिक काल से लगा कर रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त तक लेखक ने आठ युग माने हैं। लेखक ने भारतीय धर्म और विज्ञान को यथा सम्भव वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया है। वास्तव में वर्तमान विज्ञान बहुत कुछ आध्यात्मवादी नहीं तो प्रत्ययवादी (Idealistic) अवश्य बनता जाता है और वह वेदान्त के निकट आगया है। फिर भी उसमें भौतिकता का प्राधान्य है। लेखक ने वेदान्त को अधिकांश में उपनिषदों के आधार पर ही माना है। शाङ्कर मत का यत्र तत्र ही उल्लेख किया गया है। वास्तव में एकात्मवाद के लिये मायावाद आवश्यक नहीं है। इस पुस्तक की सब मान्यताओं से हम चाहे सहमत न हों सकें किन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस पुस्तक से शास्त्रों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बढ़ जाती है।

Shahitya Shandesh, Agra.
AUGUST. 1951.

REGD. NO. A. 253.
Licence No 16
Licensed to Post without Prepayment

वर्ष १२] अक्टूबर–नवम्बर १९५१ [अङ्क ४-५

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम० ए०, पी एच० डी०

महेन्द्र

प्रकाशक

साहित्य-रत्न भण्डार, आगरा।

मुद्रक

साहित्य प्रेस, आगरा।

आवश्यक सूचनाएँ

१—विशेषाङ्क निकालने में जो विलम्ब हुआ है उसके लिए पाठकों से क्षमा चाहते हैं।
२—विशेषाङ्क की बहुत सामग्री रह गई है जो जनवरी के अङ्क में निकाली जायगी। यह इस विशेषाङ्क का परिशिष्टाङ्क होगा।
३—दिसम्बर के अङ्क में अधिकांश ऐसे लेखों का समावेश होगा जो परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी होंगे
४—अगले वर्ष विशेषाङ्क जुलाई में निकलेगा और वह अब बने हुए सभी ग्राहकों को तुरत मिलेगा
५—जिन ग्राहकों का मूल्य समाप्त हो गया है वे अपना मूल्य मनिआर्डर से तुरन्त भेजने की कृपा करें
६—जो सज्जन समर्थ हों वे १००) भेज कर स्थायी या सहायक ग्राहक बनने की कृपा करें।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को एक नई सुविधा

सहायक बनकर लाभ उठाइए

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों की सुविधा के लिए दीपावली २००८ से हमने एक नई योजना निकाली है। इस योजना के अनुसार हम साहित्य-सन्देश के कुछ ग्राहकों को उसका सहायक बनाएँगे। जो ग्राहक एकसौ रुपया हमारे कार्यालय में जमा करेंगे उन्हें दस महीने से साहित्य-सन्देश बिना मूल्य मिलेगा और जब तक उनका नाम सहायकों की श्रेणी में रहेगा तब तक वे साहित्य-सन्देश मुफ्त पाने के अधिकारी होंगे। जब वे सहायक श्रेणी से अपना नाम हटाना चाहेंगे, उनका सौ रुपया पूरा वापस कर दिया जायगा। आशा है इस सुविधा से हमारे अनेक पाठक लाभ उठाना चाहेंगे।

एक और विशेषता

सहायकों के साथ एक और विशेषता रहेगी। उनके लिए साहित्य-सन्देश का एक विशेष संस्करण निकाला जायगा जो रफ कागज पर न छाप कर अच्छे कागज पर छापा जायगा।

एक रियायत और

सहायकों के साथ एक रियायत और की जायगी। वे साहित्य-रत्न-भण्डार की कोई भी पुस्तक (पाठ्य पुस्तक छोड़ कर) कभी भी पौने मूल्य में मँगा सकेंगे। बाहर की पुस्तकों पर भी उन्हें विशेष रियायत की जायगी। आशा है इस रियायत से सभी ग्राहक लाभ उठाना पसन्द करेंगे।

व्यवस्थापक—

साहित्य-रत्न-भण्डार,

४ गांधी मार्ग, आगरा।
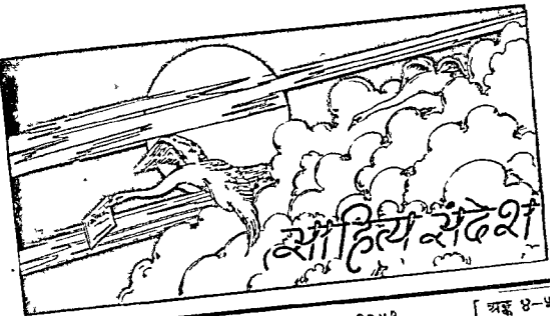
[अङ्क ४–५
आगरा—अक्टूबर-नवम्बर १९५१
वर्ष १३]

हमारी विचार-धारा

आलोचना का महत्व—

जब से साहित्य सृजन हुआ है तभी से प्रायः आलोचना का सूत्रपात हो गया है। हमारे यहाँ के साहित्य का श्रीगणेश क्रौञ्चवध के क्रूर कर्म की आलोचना में हुआ है—

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह तो थी कार्य की आलोचना किन्तु साहित्य की आलोचना भी भरत मुनि और उनसे पूर्व के आचार्यों से जिनका उन्होंने उल्लेख किया है आरम्भ हो गयी थी। हमारे यहाँ भरतमुनि और अग्निपुराण से लगाकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सैद्धान्तिक आलोचना की एक लम्बी परम्परा रही है, जिसमें व्यावहारिक आलोचना भी गुण दोषों के निरूपण रूप में साथ साथ ही चलती रही है। हमारे कविगण भी आलोचकों के विषय में सतर्क रहे हैं। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने भी अपने रघुवंश के प्रारम्भ में ही आलोचकों की ओर संकेत किया है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥
—रघुवंश १। १०

अर्थात् सत् और असत् को स्पष्ट करने के कारण स्वरूप, अर्थात् भले बुरे की परख रखने वाले सन्त लोग ही उस रघुवंश के वर्णन को सुनने के अधिकारी हैं, क्योंकि सोने का खरापन या खोटापन भी आग में डालने से ही मालूम होता है। कालिदास ने तो परीक्षा में निष्पक्षता का आदर्श भी उपस्थित कर दिया था। वे न तो सब पुराने को साधु ही कहते थे और न सब नये को निन्दनीय समझते थे। वे चाहते थे कि पाठक स्वयं परीक्षा करके देखें और अपना निर्णय करें। दूसरों के विश्वास पर चलने वालों को उन्होंने मूढ़ कहा है। वे मालविकाग्निमित्र की भूमिका में लिखते हैं:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥
—मालविकाग्निमित्र १।२

'दलति वज्रस्य हृदय' की उक्ति को सार्थक करने वाले महाकवि भवभूति भी आलोचकों से कुछ शंकित थे। उत्तर रामचरित की भूमिका में वे लिखते हैं—

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

अर्थात् दोष से रहितता कहाँ मिलती है? लोग स्त्रियों और वाणी की साधुता के सम्बन्ध में प्रायः दुर्जन ही होते हैं—आलोचकों से दुखी होते हुए भी वे अपने समानधर्मा के लिए अनन्त काल तक ठहरने को तैयार थे।

'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा।
कालोह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥
—मालती माधव १।८

राजशेखर ने तो भावक को कवि का स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य और आचार्य सब कुछ बतलाया है—

स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः॥

हिन्दी में 'स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा' प्रथित करने वाले कविकुल चूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजी भी आलोचकों की उपेक्षा नहीं कर सके थे—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो स्रम बादि बाल कवि करहीं॥

वे कविता की पूर्णता और शोभा भावक से ही मानते थे।

मनि-मानिक-मुकुता-छवि जैसी।
अहि-गिरि-गज मोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसे हि सुकवि कवित बुध कहहीं।
उपजहि अनत-अनत छवि लहहीं॥

इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल में आलोचक का महत्व काव्य की परीक्षा और उसकी व्याख्या के अर्थ था। आलोचक या भावक काव्य को कसने के लिए कसौटी भी देता था और उस पर कसता भी था। आज का आलोचक कवि की कृति के साथ साथ कवि के व्यक्तित्व और उसके बनाने वाली ऐतिहासिक, राजनीतिक सामाजिक और पारिवारिक परिस्थितियों को महत्व देता है।

आजकल की आलोचना पर आक्षेप—

कुछ लोग कवि का भक्तिपूर्ण आस्वाद मात्र लेना चाहते हैं और आलोचकों के झगड़े में नहीं पड़ना पसन्द करते। उन लोगों के मत से आलोचना रस को विरस बना देती है और काकदन्तन्याय निरर्थक है। वे कहते हैं कि हमको कवि की कविता से काम है या उसके इतिहास और मनोविज्ञान से। उन लोगों के मत से आलोचना कविता के क्षेत्र से हट कर ऐतिहासिक अनुसन्धान मनोविज्ञान, नृविज्ञान, समाज शास्त्र, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि विज्ञानों के क्षेत्र में अपनी शक्तियों का ह्रास कर रही है। इन आलोचकों के आलोचकों का कथन किसी अंश में ठीक अवश्य है क्योंकि बहुत से आलोचक रस सम्बन्धी आलोचना की उपेक्षा करने लगे हैं। हमको कविता के रसास्वाद के लिए सौन्दर्य सम्बन्धी आलोचना (Aesthetic Criticism) अवश्य चाहिए किन्तु आजकल की विभिन्न धाराएँ सब अपना अपना महत्व और उपयोगिता रखती हैं। ये सब चीजें कवि के व्यक्तित्व और उसके कार्य के सामाजिक मूल्य के आँकने में सहायक होती हैं। कवित्व या लेखक की कृति कला कृति अवश्य है और सौन्दर्य का भी मूल्य है किन्तु वह समाज से निरपेक्ष वस्तु नहीं है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के न्याय से कवि का व्यक्तित्व उसकी कृति में उतर आता है। यदि उस व्यक्तित्व का हम अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से भी पता लगा सकें तो हम कृति में आई हुई उसके व्यक्तित्व की क्षीण रेखाओं को और भी उभार में लाकर कृति

को भली प्रकार समझ सकते हैं। आजकल के आलोचकों का कार्य निष्फल नहीं गया है। सूर, तुलसी, मीरा, भूषण आदि के सम्बन्ध में हम जितना आज जानते हैं उतना पहले नहीं जानते थे। प्राचीन काल के कवियों का भावुकता पूर्ण रसास्वाद करने की हमारी शक्ति चाहे कम हो गई हो किन्तु अब जितना हमारा रसास्वाद होता है वह सकारण और विश्लेषण पूर्ण होता है। रस विधान के अनुकूल हमारे आलोचक प्राचीन साहित्य में से नये नये सञ्चारी और अनुभावों की भी खोज कर रहे हैं। ऐतिहासिक परिस्थितियों और कवियों के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक अध्ययन रुचि, पहुँच और सूझ-बूझ के अनुकूल चल रहा है। हमारे अनुसन्धान भी हमारी आलोचनाओं में योग दे रहे　इस लिए व्याख्यात्मक आलोचना का क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है और उसकी उपयोगिता में शङ्का करना उचित नहीं है। स थ ही हमको सौन्दर्य सम्बन्धी आलोचना का मूल्य न भुला दना चाहिए। आजकल के मयनात्मक और ऐतिहासिक आलोचक इसका उपेक्षा सी करते जा रहे हैं—यह प्रवृत्ति श्लाघनीय नहीं है।

मूल्य का प्रश्न—

जहाँ एक ओर सौन्दर्य सबन्धी मूल्यों पर बल दिया गया है वहाँ आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जा रही है, भले ही इनमें कहीं कहीं एकाङ्गिता हो। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने लोक मङ्गल पर विशेष बल दिया, प्रगतिवादी भी आर्थिक मूल्यों पर बल दे रहे हैं, यद्यपि वे आर्थिक मूल्यों के आगे साहित्यिक सौन्दर्य और शालीनता की परवाह नहीं करते। प्रगतिवादी क्षेत्रों में बुरी से बुरी कविता यदि पूँजीवाद के विरुद्ध कुछ कह देती है तो वह आदर पा जाती है। तथापि वे मानवता के आदर्शों से प्रेरित हैं। उनकी मानवता सङ्कुचित मानवता अवश्य है और वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मानवता-विहीन साधनों का भी पक्ष-समर्थन कर सकते हैं। हर्ष की बात है कि प्रगतिवादियों में भी शिवदानसिंह चौहान जैसे लोग प्रगतिवाद की एकाङ्गिताओं का विरोध करने लगे हैं।

हम काव्य का जीवन से सम्पर्क अवश्य चाहते हैं किन्तु पूर्ण जीवन से और जीवन के सभी क्षेत्रों से। हम जीवन की तात्कालिक समस्याओं की उपेक्षा नहीं करते वरन् उनको व्यापक मानवता के दृष्टिकोण से देखना चाहते हैं, किसी वर्ग विशेष को दूषित ठहराने के लिए नहीं। हम भेदों में अभेद चाहते हैं भेद को नाश करके सम्पन्नता हीन ऐक्य नहीं चाहते वरन् समन्वय और सामञ्जस्य पूर्ण सुसम्पन्न ऐक्य चाहते हैं। आर्थिक मूल्यों के साथ नैतिक और सौन्दर्य सम्बन्धी मूल्यों का मान करते हैं। शास्त्रीय मानों को उसी अंश तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वे सौन्दर्यवृद्धि और सौन्दर्यब - सहायक होते हैं। हम नवीन मानों और प्रतीकों का भी स्वागत करते हैं। प्रगति और विकास में हमारा विश्वास है। आलोचना में भी हम प्रगति चाहते हैं किन्तु वह ऐसी हो जो अतीत के संरक्षणीय तत्वों को साथ लेकर चले।

हमारी कुछ न्यूनताएँ—

जहाँ हम अपने आलोचना साहित्य पर गर्व करते हैं, वहाँ हम को अपनी न्यूनताओं की ओर भी ध्यान रखना चाहिए जिससे कि हम उनकी पूर्ति की ओर अग्रसर हो सकें। सैद्धान्तिक आलोचना के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा गया है और प्राचीन सिद्धान्तों को थोड़ी बहुत मात्रा में नये आलोक में आलोकित भी किया है, किन्तु अभी न तो प्राचीन सिद्धान्तों की पूरी तौर से व्याख्या ही हुई है, और न उसका मूल्याङ्कन ही। अभी ध्वनि सम्प्रदाय के बारे में यथोचित रूप से नहीं लिखा गया है और न अभी साधारणीकरण जैसी समस्याओं पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। वास्तव में हमारे पास सामग्री का भी अभाव है और उसके समझने के साधनों का भी। 'अभिनव भारती' जैसे ग्रन्थ जो रस-निष्पत्ति की व्याख्या के मूल स्रोत हैं—

सहज में उपलब्ध नहीं हैं, और उपलब्ध हैं तो उनका अनुवाद नहीं हुआ है। काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण आदि के अनुवाद अनुवाद मात्र हैं। ऐसी टीकाएँ नहीं हैं जिनके सहारे सिद्धान्तों का किसी बौद्धिक क्रम के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। हम लोगों में से बहुत से जिनमें इन पंक्तियों के लेखक भी सम्मिलित हैं निजी अध्ययन से काम लेने वाले नहीं हैं। हम लोग महाकवि कालिदास के शब्दों पर प्रत्यय नेय बुद्धि अधिक हैं। दूसरे के विश्वास पर अधिक चलते हैं। हम यह नहीं देखते कि दूसरे ने जो बात लिखी किस आधार पर लिखी। हमारे बहुत से पथ प्रदर्शक भी व्यापक चौका फेरने वाले कथन अधिक करते हैं—जैसे यशवत् या भूषण के लक्षण उदाहरणों से नहीं मिलते अथवा अमुक आचार्य कवि ने चन्द्रालोक या दण्डी के काव्यादर्श का आश्रय लिया है। लेकिन हमारे आलोचक विवरण देकर नहीं बतलाते कि किन किन अलङ्कारों के उदाहरण लक्षणों से नहीं मिलते या किन में लक्षणों का संकर किया गया है। (हम यह नहीं कहते कि उनमें ये दोष नहीं हैं, किन्तु वे दोष प्रमाणित नहीं किये गये हैं।) इसी प्रकार यह विश्लेषण नहीं किया गया है कि कौन से आचार्य कवि ने संस्कृत के किस कवि का कितनी मात्रा में सहारा लिया है, और कहाँ नहीं लिया है। रीतिकाल में यद्यपि संस्कृत के अलङ्कार शास्त्र का साविकास-क्रम नहीं है तथापि रसालजी और डाक्टर भगीरथप्रसाद के प्रबन्धों के और कहीं यह विश्लेषण नहीं मिलता कि किस आचार्य कवि की क्या देन है। हमारे बहुत से पण्डित मन्य अध्यापक ठीक ठीक अंगुलिनिर्देश करके यह नहीं बतला सकते कि केशव, देव और मतिराम के सिद्धान्तों में किस किस बात का अन्तर है, किस के लक्षण अधिक ठीक हैं या किसने किसका सहारा लिया है। हमने अपनी परम्परा को आगे बढ़ाने का बहुत कम प्रयास किया है। कुछ ने हाथ पैर पीटे अवश्य हैं, उनका कार्य सराहनीय है किन्तु मूल किनारे पर बहुत कम लोग पहुँचे हैं। बहुत से लोग प्राचीनों के प्रति आदर बुद्धि के कारण उस परम्परा में हाथ नहीं लगाते—यह ठीक नहीं। सत्प्रयत्न हमेशा अभिनन्दनीय रहेगा।

हम में पिछलगापन (जो बात जायसी ने शीलवश कही थी, हम में वास्तविक रूप से है) और उच्छिष्ट भोजन या जूठी पत्तल चाटने की प्रवृत्ति अधिक है (कुछ माननीय अपवादों को छोड़कर)। संस्कृत में कहावत है कि 'वाणोच्छिष्टं जगत्सर्वं' वैसे ही बहुत दिनों तक आलोचना के क्षेत्र में शुक्लोच्छिष्ट जगत्सर्वं की बात रही। अब जरा लोगों ने देखना शुरू किया है कि कहीं शुक्लजी भी गलती पर थे। इन पंक्तियों के लेखक को इस बात की आत्मग्लानि है कि उसने अपने सिद्धान्त और अध्ययन में एक स्थान में हावों की विवेचना करते हुए असावधानी के कारण शुक्लजी के मत का उलटा निरूपण कर दिया है। इस प्रकार उनके प्रति किये हुए घोर अन्याय के प्रायश्चित स्वरूप उनके विरुद्ध कुछ न लिखना ही मेरे लिए श्रेयस्कर होता, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि शुक्लजी आलोचना के परे नहीं हैं। उन्होंने जिन अतिशयोक्तियों को बिहारी में निन्दनीय और उपहासास्पद ठहराया है उन अतिशयोक्तियों की जायसी में उपेक्षा की है, शायद इस लिए कि उनको प्रबन्ध काव्य के प्रति कुछ मोह था। इसी प्रकार सूर की उपमाओं में जो अनुप्रास का दोष दिखाया वह दोष तुलसी में भी है किन्तु उस ओर उनका ध्यान नहीं गया। 'दोषा वाच्या गुरोरपि' हमें गुरु के भी दोष बताने में सङ्कोच न करना चाहिए। परन्तु यह होना चाहिए सप्रमाण और निष्पक्ष भाव से। बड़े बड़ों की पगड़ी उछालने की प्रवृत्ति से कोई समालोचक नहीं बन पाता। हम में मत्सरी आलोचकों की कमी नहीं किन्तु अब यह प्रवृत्ति कुछ कम होती जाती है। अब ऐसा देखा गया है कि बहुत से मत्सरी कहे जाने वाले आलो-

चक वास्तव में प्राचीन परम्परा के अज्ञानवश विपरीत आलोचना कर बैठते हैं। कुछ कवि मर्मों की प्रथा न जानने वाले कवि समय प्रधान वर्णनों में प्रकृति निरीक्षण का दोष देखने लगते हैं। भाषा की लाक्षणिकता से अनभिज्ञ भाषा को दूषित बताने लगते हैं। बहुत से लोग यह भी नहीं जानते कि काव्य में गद्य भी शामिल होती है। दण्डी के काव्यादर्श में गद्य का भी विवेचन है। गद्य को कवियों की कसौटी माना है। फिर भी एक आलोचक महोदय मेरी पुस्तक 'काव्य के रूप' के नामकरण पर आपत्ति करते हैं। वे काव्य को साहित्य कहना अधिक पसन्द करते हैं। हम में से बहुत थोड़े अपनी आलोचना कृतियों को कला कृतियाँ बना सके हैं। आचार्य शुक्लजी की यह महानता थी कि वे अपनी कृतियों को कलाकृतियों का रूप दे सके थे। हम में जो लोग आलोचना को कलाकृति बनाने का प्रयत्न करते हैं वे प्राय वैज्ञानिकता को खो बैठते हैं। कला और वैज्ञानिकता का समन्वय बड़ा दुर्लभ है। आलोचना में वैज्ञानिकता तभी आ सकती है जब उसमें पूर्ण सङ्गति के साथ पक्ष और विपक्ष का सन्तुलन हो। चौका लगाने वाले व्यापक कथन वैज्ञानिक नहीं कहे जा सकते हैं। कवियों और लेखकों पर दवाइ की बोतलों की सी चिप्पी लगाना या वर्गीकरण करना बड़ा कठिन कार्य है। वर्गीकरण केवल प्रवृत्तियों का ही हो सकता है। वर्गीकरण की व्यापकता में हम प्राय विशेषताओं को विलीन कर देते हैं।

हमारी आलोचनाओं में थोड़ी बहुत एकाङ्गिता भी रहती है। हम यदि प्रगतिवादी हैं तो प्राचीन शास्त्रीय मानों को कूड़ा-करकट समझने लगते हैं और यदि शास्त्रीय आलोचक हैं तो नवीनों को वृथा बकवास करने वाले बताते हैं। यदि हम किसी में सेक्स का प्राधान्य देखते हैं तो उसके विपक्ष की युक्तियों की अवहेलना कर जाते हैं। जीवन में जिस सन्तुलन की आवश्यकता है उसकी आलोचना में भी है। मैं प्रगति की गङ्गा को उलटना नहीं चाहता किन्तु यह अवश्य चाहता हूँ कि प्राचीनों के परिश्रम को भुला न दिया जाय। हम पर प्राचीन और अंग्रेजी आलोचना शास्त्र का बहुत सा ऋषि ऋण चढ़ा हुआ है। उसको ब्याज समेत अदा करने की आवश्यकता है। हमको आलोचनाओं में गम्भीरता और मौलिकता लाने की जरूरत है, फिर भी जो कुछ हम कर सके हैं वह गर्व करने की वस्तु है। हमको हीनता भाव की आवश्यकता नहीं किन्तु अभी बहुत सी गङ्गा पैरना बाकी है।

हमारा यह अङ्क—

इन कमियों के होते हुए भी हिन्दी में आलोचना साहित्य अब इतना बढ़ गया है कि उसको आत्मचिन्तन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। आलोचना में सुधार लाने और उसकी गतिविधि निश्चित करने के लिए यह आवश्यक हो गया है— हम उसके असली स्वरूप को समझें, उसके आदर्शों और प्रकारों से अवगत हों। पाश्चात्य देशों में आलोचना को प्रभावित करने वाले विभिन्न वादों का ज्ञान प्राप्त करें और अन्य प्रान्तों के आलोचना कार्य से परिचित हों। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर यह अङ्क निकाला गया है। इसके प्रकाशन में विद्वानों ने जो सहयोग दिया है उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। उन्होंने हमारी लेख याचना का उदारतापूर्वक क्रियात्मक उत्तर दिया है। हमने इसे हर प्रकार से सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी बहुत भी कमी रह गई है। अनेक लेखों को हम स्थानाभाव से नहीं दे सके हैं, क्योंकि इस अङ्क का कलेवर काफी बढ़ गया है और हम इस अङ्क के प्रकाशन में और अधिक देर नहीं करना चाहते थे। इसलिए हमने इसका एक परिशिष्टाङ्क निकालने का सङ्कल्प किया है। उसके कुछ लेखों की सूची अन्यत्र दी जाती है।

हमें आशा है कि पाठकगण इस अङ्क को ध्यान से पढ़ेंगे और अपनी सम्मति से हमें अनुगृहीत करेंगे।

आलोचना का व्यक्तिगत और प्रभावाभिव्यञ्जक पक्ष

श्री एस० टी० नरसिंहाचारी एम० ए०

सम्यक् आलोचना अर्थात् अच्छी तरह विचार कर लेना समालोचना है। लोग समझते हैं, शास्त्रीय पद्धति से गुण दोष विवेचन और एक निर्णय प्रकट करना तथा आलोच्य विषय की व्याख्या करना ही आलोचना का काम है। इस वैज्ञानिक कार्य में भावुकता की गुञ्जाइश नहीं हो सकती, समालोचक के व्यक्तित्व का कोई महत्व नहीं है। इस तरह की वैज्ञानिक प्रणाली को पहले पहल सामने करने वाले, उस तरह की आलोचना लिख कर उस पर जोर देने वाले हुए—डा० मौलर्टन, शेक्सपियर के प्रसिद्ध अँग्रेजी समालोचक। भारतीय आलङ्कारिक जहाँ शास्त्रीय पद्धति से गुण दोष निर्णय पर ध्यान देते हैं, डा० मौलटन ने वैज्ञानिक अन्वेषण और व्याख्या ही आलोचना का आदर्श माना। तरतम भाव का निर्णय नहीं, जातीय विभिन्नता स्पष्ट करना पूर्व निश्चित नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर मूल्याङ्कन नहीं। साहित्य सृजन के सिद्धान्तों को उसी पुस्तक विशेष के अनुसन्धान से प्राप्त करना (जैसे वैज्ञानिक प्रकृति के नियमों को उसी में ढूँढ़ते हैं, न कि नियमों को उस पर लागू करते हैं।) यही वैज्ञानिक आलोचना है। इस तरह न शास्त्रीय विधान को मानकर चलने वाले और न वैज्ञानिक व्याख्यात्मक प्रणाली को, आलोचक के व्यक्तित्व और उसके मन पर पड़े प्रभाव को विशेष महत्त्व देते हैं। यही मत अधिकतर आलोचकों को मान्य भी मालूम होता है, पर यह है भ्रमजनक ही।

किसी साहित्यिक रचना के अध्ययन से सहृदय पाठकों के मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसका स्पष्टीकरण ही आलोचना है। पाठकों के हृदय पर जो प्रभाव पड़ा, उस तरह के प्रभाव पड़ने के मूल-कारकों का अन्वेषण करते चलें तो वही सच्ची आलोचना होगी। प्रभाव की गहराई, व्यापकता और औचित्य उसका स्पष्टीकरण करना है। और कारणों को ढूँढ़ते हुए हम विषय का वह सार्वभौमिक सत्य जो कवि के साथ साथ पाठक की भी साधारणीकृत अनुभूति है, सौष्ठव की वह प्रतिपादन पद्धति जो हृदयों में दृश्य मूर्तिवत् खड़ा कर देती है और आनन्द देने की शक्ति जिससे आदर्शीकरण द्वारा सौन्दर्य दर्शन करावे साहित्य साहित्य कहलाता है। साहित्य की इन मूल विशेषताओं पर पहुँचते हैं।जो आलोचना की सच्ची पद्धति होगी। लेकिन यह सब करने के लिए परम आवश्यक हो जाता है कि आलोचक सहृदय हो, उसके उच्च संस्कार हों, उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व हो—गम्भीर चिन्तन और मननशील और मुख्यतया मनोविश्लेषण में अत्यन्त पटु। क्योंकि आलोचना पर उसके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ती है। नहीं तो कुपात्र के हाथ में पड़कर लाभ के बदले हानि होने की बहुत सम्भावना है। इस तरह मन पर पड़े प्रभाव या प्रभाव को अपने निर्णय के रूप में प्रकट करना हो या उस प्रभाव की व्याख्या—दोनों तरह की आलोचनाओं के मूल में व्यक्तिगत और प्रभावाभिव्यञ्जक शक्तियाँ काम करती दिखाई पड़ती हैं।

भारतीय शास्त्रीय विधान और पाश्चात्य व्याख्यात्मक पद्धति दोनों का सुन्दर समन्वय तथा गम्भीर विवेचन करने वाले प्रकाण्ड पण्डित और सर्वश्रेष्ठ आलोचक हुए प० रामचन्द्र शुक्ल। पर उनकी आलोचना पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि उसमें व्यक्तिगत और प्रभावाभिव्यञ्जक पक्ष जितना प्रबल है उतना शायद ही हिन्दी के और किसी समालोचक में हो। या यों कहना चाहिए कि आलोचना मूल रूप में बिना व्यक्तिगत और प्रभावाभिव्यञ्जक हुये उच्चकोटि की नहीं होगी। जब तक सहृदय पाठक कवि पर मुग्ध नहीं हुआ, उसकी कृति में

तन्मय नहीं होगया तब तक कवि की सच्ची शक्ति का रहस्य नहीं पा सकेगा। वह बुद्धि विश्लेषण व्याख्या से नहीं हृदय से ही जाना जा सकता है। "गोस्वामी तुलसीदास" में शुक्लजी का व्यक्तित्व गम्भीर पर भावार्द्र दृष्टि (केवल भावुकता नहीं) स्पष्ट पहचान सकते हैं। शुक्लजी की मनोमुग्ध दृष्टि ने, तुलसी का महत्व और प्रभावशालीनता किस बात में है—यह स्पष्ट कर दिया। उसके बाद तुलसी की न जाने कितनी आलोचनाएँ हुईं पर वैसी एक भी नहीं। कवि की शक्ति की पहचान और उसका अनुभव पाठकों को कराना और किसी से नहीं हो सका। इसीलिए रविबाबू ने कहा है कि आलोचना आराध्य की पूजा है। चाहे यह सर्वत्र लागू न हो पर महाकवियों की कृतियों की महानता स्पष्ट करने के लिये यह प्रशंसा दृष्टि परम आवश्यक है।

इस संदर्भ में हडसन का यह कथन ध्यान देने योग्य है—"आलोचना को विज्ञान-मात्र नहीं बना सकते। वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखने की बात करते हैं पर यह कहने का एक फैशन मात्र है। वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखना असम्भव है क्योंकि उन्हें हम अपने मन में ही देख सकते हैं और क्योंकि हमारे मन राग द्वेष से भरे रहते हैं, हम उन्हें अपने स्वभाव और प्रकृति के द्वारा ही देख सकेंगे। बहुत करके हम पक्षपात, अन्ध विश्वास और द्वेष से अपने को मुक्त करने की चेष्टा कर सकते हैं। बस उससे और अधिक नहीं। साहित्य का व्यक्तित्व से विकास होता है और व्यक्तित्व को ही अपील करता है। उसका प्रधान लक्ष्य है हम में सहानुभूति जगाना, भावनाओं का संचार करना और रागों को प्रदीप्त करना। इस तरह वह प्रभाव की मात्रा में न्यूनाधिक बदलने वाले तत्वों से अपील करता है और उत्तर में हम में जाग्रत संवेदनाओं में भी भिन्नता होना अनिवार्य है। इस निर्णय से हम बच नहीं सकते। आलोचना में व्यक्तिगत (प्रभावाभिव्यञ्जक) तत्व को निकाल नहीं सकते, और एक ही विषय पर विविध मतों के काम करने से उत्पन्न विभिन्नताओं को स्वाभाविक कहकर स्वीकार करना ही पड़ता है।"

आलोचना के इस व्यक्तिगत और प्रभावाभिव्यञ्जक पक्ष को ही सब कुछ मानने वाले आलोचक भी दिखायी पड़ते हैं। लोग स्पष्ट कहते हैं वही आलोचना अध्ययन योग्य है जिसमें उत्तम रचनाओं का एक प्रतिभाशाली और उच्च विद्या प्राप्त व्यक्ति के मन पर पड़े प्रभाव का कथन हो। इसी तरह अनातोल फ्रांस भी लिखते हैं, कि यदि सचाई के साथ कहना है तो यह कहने के बदले कि मैं शेक्सपियर या मिल्टन के बारे में कहता हूँ, कहना चाहिये कि मैं शेक्सपियर या मिल्टन के सम्बन्ध में अपनी बातों को आपके सामने रखता हूँ। इस रूप में यह कथन सब के लिये मान्य न हो, पर इसमें जिस तथ्य पर जोर दिया गया है उसे स्मरण रखना चाहिये। साहित्य के क्षेत्र में मन पर जो प्रभाव पड़ता है वही सब कुछ है; आनन्द का, साहित्य का जो ध्येय है, वही उद्गम है। आलोचक पर भ्रामक प्रभाव न हो, गलत धारणा न बने इसलिये उसकी प्रतिभा, योग्यता और उच्च संस्कारों पर जोर दिया गया है। समालोचक के इन गुणों पर ध्यान रखकर जब आलोचना पढ़ेंगे तब उससे सच्चा लाभ उठा सकेंगे।

इस पर प्रायः दो तीन तरह की आपत्तियाँ की जाती हैं। आलोचना के क्षेत्र में जो सन्तोष होता है, आनन्द मिलता है, प्रभाव पड़ता है, वह उतना मुख्य नहीं जितना यह विचार कर लेना कि उस तरह की भावनायें उत्पन्न होना कहाँ तक उचित है और लेखक की रुचि और अरुचि का आधार छोटी-छोटी बातों से पाठक का कोई सम्बन्ध नहीं होता। 'लोकोभिन्नरुचिः' कहकर अपने अपने 'रागात्म' पन से आलोचना के क्षेत्र में प्रामाणिकता नहीं आ जायगी। पाठक के रूप में अपनी अभिरुचि की बात दूसरी है और जब आलोचक होते हैं तो व्यक्ति अभिरुचि की बातों को कभी पीछे छोड़ देना पड़ता है। ये सब बातें किसी हद तक सत्य हैं। इसी

प्रभाव के स्पष्टीकरण में [ठीक मनोविश्लेषण] तथा पाठक की प्रतिभा एवं विद्वत्ता को [उतनी प्रधानता] दी गई है। औचित्य राग द्वेष और रुचि की छोटी मोटी बातों के लिये इतना ही कह सकते हैं कि विज्ञ पाठक पढ़ते समय उनके लिये जगह छोड़ सकते हैं। शुक्ल जी में भी हम ये बातें देखते हैं। प्रबन्धों को आदर्श स्वरूप मानने से वे सूर को इतना महत्व नहीं दे सके, और जायसी को आवश्यकता से बहुत अधिक ऊपर उठा दिया। सहानुभूति न होने के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक कवियों को समुचित स्थान नहीं मिला। इन न्यूनताओं के होते हुए भी इस तरह की आलोचना इसलिये मान्य होनी चाहिए कि इसी पद्धति से गुणों का समुचित उद्घाटन होगा। जो हानि होती है वह लाभ की तुलना में नगण्य है। अन्त में यह भी कह सकते हैं कि किसी मानदण्ड से नापने की नीरस क्रिया की अपेक्षा सचाई के साथ भ्रामक ही क्यों न हो अपना मत प्रकट करना अधिक मान्य होगा—अपने प्रति और आलोचना के प्रति भी। अपनी अनुभूति को किनारे रखकर जो आलोचना होती है वह आलोचना ही नहीं।

जैसा स्पष्ट किया गया है आलोचना केवल निगमन और प्रभावाभिव्यञ्जक नहीं होगी, बल्कि निर्णय या व्याख्या करते हैं उसके मूल में ये बातें काम करती हैं। इससे भिन्न प्रकार की आलोचनायें हो सकती हैं पर वे साहित्य के लिये सहकारी साधन ही होंगी, साहित्य में उन्हें स्थान नहीं मिल सका। विषय की वैज्ञानिक व्याख्या और विश्लेषण हो सकता है जो भूमिका के रूप में पुस्तक का पूरा प्रभाव बना लेने में सहायक होगा। शोध कार्य को अपनाकर विशेष दृष्टि से मूल्याङ्कन हो सकता है। इन दोनों की सहायता से क्रमशः ऐतिहासिक और तुलनात्मक आलोचना काम में लायी जा सकती है। इन सब के अतिरिक्त साहित्य का विवेचन, अनुसन्धान कार्य और कृति मूलक आलोचना है जो पूर्णतया वैज्ञानिक तथा विद्वत्ता परिचायक हैं। लेकिन किसी कवि की प्रतिभा, मौलिक महानता स्पष्ट करने के लिये इनसे काम नहीं चलेगा। वहाँ प्रभाव का विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। प्रथम श्रेणी के हर एक कवि की अपनी कुछ विशेषता रहती है, जो अन्य कवियों से उसे पृथक कर दिखाती है। उसकी रचना में अन्तर्निहित शक्तिशाली उस व्यक्तित्व को न किसी शास्त्रीय-विधान से अनुभव कर सकते हैं और न वैज्ञानिक अनुसन्धान से उसका पता लगा सकते हैं। उसके लिये कवि हृदय प्राप्त सहृदय ही चाहिये। उसके मानस में ही उसका प्रतिबिम्ब देख सकेंगे। जब युगान्तर करने वाली नूतन मौलिक सृष्टि होती है, तो ये प्रयत्न और भी बिलकुल व्यर्थ हो जाते हैं। कामायनी आलोचकों की पकड़ में नहीं आई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

यहीं पर प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रभावाभिव्यञ्जना के नाम पर यदि मनोमुग्ध दृष्टि से आलोचना शुरू करें तो वह आलोचना न रह कर साहित्य होगी। प्रतिभाशाली लेखक के हाथ में यह काव्य गुण सम्पन्न हो सकता है। पर इस क्षेत्र में अधिकतर अयोग्य व्यक्तियों की अनधिकार चेष्टा ही हुई। मुग्ध भाव से केवल प्रशंसा या कुत्सा करना और व्यक्ति वैचित्र्य के कारण यह आलोचना लोगों के तिरस्कार की पात्र हुई। समीक्षा के अपरिमित रूप सामने आने लगे—जितने आलोचक उतनी आलोचनायें। इस तरह मूल से असम्बद्ध, मनमानी बातें करना और सहास, सौन्दर्य आदि कह कर भाषा शैली का वाग्जाल फैलाना ही प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना समझी जाने लगी। प्रभाव की सच्ची अभिव्यञ्जना, मनोविश्लेषण और उस तरह प्रभाव पड़ने के कारणों का अन्वेषण—आलोचना का यह शुभ्र पक्ष शायद ही लोगों के सामने था। आलोचना के दुरुपयोग से खूब व्यङ्ग किया गया हो तो उसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। सच्ची आलोचना के लिये बहुत ही योग्य पाठक की

आवश्यकता है—आलोचक एक ओर सहृदय रस ग्राही हो तो दूसरी ओर उच्च शिक्षा प्राप्त भी।

आलोचक के प्रायः जो गुण बताये जाते हैं उन्हें देखें तो भी बुद्धि तत्व की अपेक्षा हृदय पक्ष की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। विषय की पूर्ण जानकारी, गम्भीर विद्वता, साहित्यशास्त्र में शिक्षा आदि आलोचक के लिए आवश्यक हैं ही। देशकाल के भेदों को आलोचना करते समय दृष्टि में रखते हुए भी; वैयक्तिक अभिरुचि, शिक्षा, दीक्षा धर्म सम्प्रदाय, पार्टी-वर्ग और जातिगत पक्षपात और संकीर्ण धारणाओं से ऊपर उठ कर, जैसा मैथ्यू आर्नोल्ड ने कहा था, वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखना आलोचक का कर्तव्य है। पर इन सब से अधिक मुख्य और प्रथम आवश्यकता है—विशेषकर किसी उत्कृष्ट रचना की विशेषता का उद्घाटन करने के लिये—आलोचक की सहृदयता और भावयित्री प्रतिभा। आलोचक में मानसिक जागरूकता, हृदय की विशालता, पैनी आन्तरिक दृष्टि, सभी तरह के भावों में तत्क्षण संवेदन शीलता, प्रधान विषय का सूक्ष्म महत्व आदि होना चाहिए। जैसा एक अंग्रेजी आलोचक ने कहा—पैनी अन्तर्दृष्टि, सहानुभूति, भावयित्री प्रतिभा और संवेदनशीलता, सामान्य विवेक बुद्धि ही आलोचक के सच्चे विशेषण हैं।

कवि की कारयित्री प्रतिभा से अलग भावयित्री प्रतिभा शास्त्रीय प्रतिपादन करने वाले प्रथम आलंकारिक राजशेखर हैं। कवि के अभिप्राय को पाठक से भावित कराने वाली, सहृदय की भावना ही भावयित्री प्रतिभा है। कवि केवल संकेत करता है, ध्वनित करता है और पाठक अपनी भावना से कल्पना कर लेते हैं। शुक्लजी के शब्द में "कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है, जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ ग्राहक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्तिविधान करना पड़ता है।" एबर क्रोम्बी के सहृदय पाठक की भावयित्री प्रतिभा और आनन्द में तथा समालोचक की शिक्षा से प्राप्त आलोचना करने की शक्ति में अन्तर किया जो युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होता। सहृदय पाठक ही अपने मन पर पड़े प्रभाव के विश्लेषण में तत्पर आलोचक हो जाता है।

सहृदयता और साहित्यिक अभिरुचि के विकास पर भारतीय तथा पाश्चात्य शास्त्रकारों ने जो इतना अधिक जोर दिया है वह स्पष्ट ही आलोचना के प्रभावाभिव्यञ्जक पक्ष को दृष्टि में रखकर ही। संस्कारों से, अनुभव से, काव्यानुशीलन से भावार्द्रता प्राप्त होती है। फिर काव्यानुशीलन से प्रभावित होना—भावार्द्र होने की क्षमता ही सहृदयता है। उस स्थिति में पाठक की काव्यात्मा कलाकृति से एक स्वर में होती है। "एषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदी भूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भवन योग्यता ते हृदय संवाद भाजः सहृदयाः।' ध्वन्यालोक—लोचन। ये "सुमनस" ही साहित्य के सच्चे अधिकारी हैं।" "अधिकारी मात्र विमल प्रतिभानशालि हृदय." —अभिनव भारती।

जब पढ़ते हैं तो कुछ अच्छे लगते हैं और कुछ नहीं, फिर बुद्धि काम करने लगती है। उस विषय के बारे में सोचने लगते हैं। इस तरह पहले अभिरुचि और बुद्धि—दोनों के संयोग को आलोचना कह सकते हैं। अभिरुचि में विवेक बुद्धि (descrimination) की बहुत आवश्यकता है। क्योंकि अभिरुचि प्रथमावस्था में संस्कार और विकास की अपेक्षा रखती है। पहले शुद्ध साहित्य और सामयिक तथा पत्र-पत्रिकाओं की रचनाओं के अन्तर पर ध्यान दें। साहित्य के विद्यार्थी के लिये उनका कुछ भी महत्व नहीं, मूल्य नहीं। लोकप्रियता ही उत्तमता की कसौटी नहीं है यद्यपि सब कालों के और सब देशों के सुसंस्कृत आलोचकों से समान रूप से प्रशंसित होना उत्तम रचना होने का सबल प्रमाण है। इसलिये साधारण रचनाओं को किसी भी स्थिति में

कुछ भी महत्व नहीं देना चाहिए। इस प्रकार उत्कृष्ट अभिरुचि का क्रम विकास भी होता है। सरल सुरुचि पूर्ण साहित्य के सरल जीवन आदर्शों से (जैसे प्रेमचन्दजी के उपन्यास) मन जीवन की गहन गम्भीरता में (कङ्काल, शेष प्रश्न इत्यादि) अधिक लगता है। कला प्रौढ़ता से क्रमशः भावात्मक तन्मयता की ओर रुचि जाती है। यद्यपि विविधता और नवीनता का पूरा नहीं छोड़ सकते। इस तरह अभिरुचि एक दूसरे में अन्तर करने की, उत्कृष्ट से निकृष्ट तथा उनमें तरतम भेद करने की शक्ति है। एडिसन के शब्दों में 'Taste is that Faculty of soul which discerns the beauties of an author with pleasure and the imperfections with dislike." सुसंस्कृत अभिरुचि तभी कहलायगी जब उन आदर्श classic पुस्तकों के अध्ययन में असमानान्द इसे उद्रेक हो।

यद्यपि अभिरुचि एक तरह जन्म और संस्कार प्राप्त है फिर भी उसका विकास और उन्नति हो सकती है। पहले उन आदर्श रचनाओं को पढ़ने से उनकी मौलिक महानता, शक्ति और सौन्दर्य से, हर समय और अधिक प्रभावित होने से, उसमें नित्य नवीन सौन्दर्य दर्शन से, उनकी विचारधारा और पद्धतियों से प्रभावित होकर। जैसा आर्नाल्ड ने कहा है कुछ आदर्श वाक्यों को चुनकर मूल्याङ्कन शुद्धि मात्र नहीं मालूम होगा और सम्भव भी नहीं। उत्तम और महान् पंक्तियों से घनिष्ठता उसके महान् गुणों को औरों में भी स्वभावतः ही पहचानने में सहायक होगा। उन आदर्श रचनाओं का जो अविनाशी प्रभाव पड़ा है उसकी तुलना से समसामयिक साहित्य का मूल्याङ्कन कर सकेंगे। और जैसा आर्नाल्ड ने कहा है ग्रीक और लैटिन, अंग्रेजी जैसी भिन्न परिवारों की भाषाओं से परिचित होना आवश्यक है। उससे अभिरुचि का विस्तृत विकास और संस्कार होगा। दूसरी बात है प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सम्पर्क में रहना। यहाँ कवियों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण और उनकी अपनी विशेषताओं को समझ सकते हैं और अपनी रुचि और दृष्टि की तुलना कर देख सकते हैं। और अन्त में प्राचीन तथा नवीन उत्तम रचनाओं पर उत्तम आलोचनाएँ पढ़ना। उत्तम आलोचक केवल नियमों को लागू न करके या वैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या में न लग कर लेखक का शक्तिशाली व्यक्तित्व और आत्मा का अनुभव करावेंगे। इस तरह रुचि का संस्कार और विकास होगा।

अन्त में इतना ही कहना है कि आलोचना साहित्य है, उसकी एक शाखा है। (अनुसन्धान विषयों को छोड़कर), विज्ञान नहीं है। साहित्य जीवन में जो कुछ आकर्षक है उसकी सृष्टि है। व्यक्तित्व जीवन में सर्वाधिक आकर्षक विषय है। एक महान कलाकार का व्यक्तित्व स्पष्ट करने की आलोचक की चेष्टा स्वयं साहित्य होगी। और उस तरह करने में उसका अपना व्यक्तित्व भी प्रस्फुट होता है। किसी एक उत्कृष्ट आलोचक की आलोचना कभी वैयक्तिक, असन्तोषजनक होने पर भी उसके व्यक्तित्व के प्रकाशन के रूप में (लेखक को समझने के रूप में नहीं तो) उसका महत्व और आकर्षण रहेगा ही। इस तरह आलोचना भी साहित्य की तरह जीवन से ही प्राण, श्वास ग्रहण करती है, यद्यपि कुछ भिन्न प्रकार से। साहित्य की तरह आलोचक में भी सृजनात्मक आनन्द मिलता है। सृजन मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट कार्य है, उसे उसमें सच्चा सुख मिलता है। यह आनन्द और कार्यों में तथा आलोचना में भी है। नहीं तो कुछ कवियों को छोड़कर शेष मानवता मनुष्य के इस सर्वोच्च आनन्द से वंचित हो जायगी। नवीन दृष्टि से देखने में, मौलिक विचार करने में, नये विचारों आदर्शों और भावनाओं के प्रचार में, आलोचना के इस तरह के कार्यों में सचमुच नूतन सृष्टि करने का आनन्द मिलता है।

आलोचक की आत्मिकता

श्री शिवनाथ एम० ए० (शान्तिनिकेतन)

आलोच्य विषय या व्यक्ति के निर्माण की शर्त बाह्य सभी परिस्थितियों की सम्यक् मीमांसा के पश्चात् उसकी विशेषताओं का, और यदि कमियाँ हों तो उनका भी, उद्घाटन किया जाय, तो शिष्ट समीक्षा का एक रूप सामने आ सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचक द्वारा प्रस्तुत ऐसी समीक्षा में तटस्थता अवश्य रहेगी, और समीक्षा के क्षेत्र में तटस्थता का बहुत बड़ा महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार की समीक्षा में एक और तत्त्व निहित मिलेगा, जो है समीक्षकगत परात्मिकता ('ऑब्जेक्टिविटी') । जब समीक्षक उक्त पद्धति का अनुसरण करता है तब जान पड़ता है कि उसमें कठोर निस्संगता है, वह सारी चीजों को सही सही देख कर लेखा-जोखा ले लेता है बस, उसका अस्तित्व जैसे रहता ही नहीं, अपना हृदय, मन, अपनी रुचि आदि को जैसे वह कहीं रखकर समीक्षा प्रस्तुत करता है। यह बात सिद्धांत की है, व्यवहार में इस तरह की निस्संगता के दर्शन अत्यल्प होते हैं। समीक्षा में ऐसी निस्संगता की संभावना भी मुझे बहुत कम दिखाई पड़ती है।

आलोचना के क्षेत्र में जो लोग निस्संगता या तटस्थता के सिद्धांत की चर्चा करते हैं वे खुद दो विरोधी बातें करते सुने जाते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोच्य के साथ तटस्थता बरतते हुए भी उसके प्रति रुझान की बात कही है उन्होंने कहा कि आलोचक की आलोच्य के प्रतितटस्थ रुझान (edisinterested interest) हो। साफ है कि आलोचक की आलोच्य के प्रति तटस्थ रुझान की बात में विरोधी तत्त्व हैं। रुझान होने के साथ ही समीक्षक कठोर परात्मिकता की सीमा से अलग होकर आत्मिकता (सब्जेक्टिविटी) की सीमा का स्पर्श करता है, यह बात दूसरी है कि आत्मिकता का अंश उसमें कितना रहता है। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इस आत्मिकता का अंश समीक्षा में जितना थोड़ा हो उतना ही अच्छा है, अन्यथा समीक्षा-समीक्षा न रहकर या तो पूरी प्रशंसा हो जायगी, अथवा कोरी निंदा और कोरी प्रशंसा अथवा कोरी निन्दा तो समीक्षा नहीं है। हिन्दी साहित्य में देव बिहारी का झगड़ा, मेरी समझ से, समीक्षागत इसी आत्मिकता की रुझान के असंतुलित हो जाने के कारण तूल पकड़ गया था।

समीक्षकगत सहानुभूति (सिम्पेथी) की जो बात की जाती है उसमें भी आत्मिकता लिपटी हुई है, और यह आत्मिकता स्वयं सिद्धांत बनाने वाले की है। सहानुभूति होने के साथ ही तटस्थता में कुछ अंशों की कमी हो जायगी। ऐसी स्थिति में बुद्धि के साथ हृदय भी चलता हुआ दिखाई पड़ेगा, और आत्मिकता का सन्निवेश होता दिखाई पड़ेगा। तो, समीक्षकगत सहानुभूति के सिद्धांत में दो तरह आत्मिकता की संनिहित है। इस सिद्धांत के बनाने वाले में भी, ऐसी स्थिति में, आत्मिकता दिखाई पड़ती है, क्योंकि यह आलोच्य के प्रति सहानुभूति दिखाने की बात करता है, जो उसकी खुद की आत्मिकता का द्योतक है, और सिद्धांत बनाने वाले द्वारा निर्देशित समीक्षक में भी इसके समावेश की बात सामने आती है।

समीक्षा की ही एक शाखा आलोच्य की विशेषताओं का बखान (अप्रिसिएशन) है, जिसके अन्तर्गत आलोच्य की विशेषताओं का उद्घाटन, इनकी विशेषताओं की प्रशंसा, इनका रस लेना और ।

प्रकार पाठक से भी इनमें रस लेने की सिफारिश करना आदि आते हैं। यह बखान साहित्यकार के रचना-कौशल से भी संबद्ध हो सकता है और उसके जीवन-दर्शन से भी सम्बद्ध हो सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की जायसी की समीक्षा में इस प्रकार के बखान के तत्व अधिक दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार की रचना-प्रशंसा में समीक्षकगत तटस्थता हटती और उसकी आत्मिकता काफी उभरती दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार की मीमांसा में हमारा पक्ष यही है कि आलोचना के क्षेत्र में आलोचक आत्मिकता के साथ प्रविष्ट होता है, अपने व्यक्तित्व को वह छोड़कर इस क्षेत्र में आए और कार्य करे, यह संभव नहीं है। तटस्थता, निस्संगता, आदि की कसम खाकर इस क्षेत्र में काम करने वालों में भी रुझान, सहानुभूति, प्रशंसा आदि के तत्व मिलते हैं, जो आत्मिकता के कोई न कोई पहलू ही होते हैं। समीक्षा-सिद्धांत कायम करने वालों ने समीक्षक की रुचि (टेस्ट) का भी उल्लेख किया है; इसका संबंध भी उसकी आत्मिकता और व्यक्तित्व से है। समीक्षक के अध्ययन मनन, अध्ययन मनन की उसकी विशेष दिशा, उसके चारों ओर के वातावरण, किन्हीं अंशों में उसके परंपरित संस्कार, आदि तत्वों के मिलने से उसकी रुचि का निर्माण होता है। काफी तटस्थता बरतने वाले शिष्ट समीक्षकों में भी जो किसी न किसी रूप में मिलती ही हैं। स्मरण रखने की बात यह है कि रुचि समीक्षक के व्यक्तित्व में एकदम घुली मिली चीज होती है, इन दोनों चीजों को किसी भी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी हालत में समीक्ष्य वस्तु अथवा व्यक्ति की समीक्षा में यह प्रत्यक्षतः तो कभी दिखाई नहीं भी पड़ सकती, परन्तु परोक्षतः यह प्रधान रूप से तथा सदैव काम करती दिखाई पड़ती है। समीक्ष्य वस्तु या व्यक्ति में निन्दा या स्तुति का कायल होकर भी शिष्ट समीक्षक तक कभी विवश होकर यह कहता दिखाई पड़ता है कि "जो हो, मुझे तो यह रचना या कवि नहीं अच्छा लगता, अथवा अच्छा लगता या लगता है।" समीक्षक में इस प्रकार की विवशता रुचि ही उत्पन्न कर देती है।

मगर आलोचना के क्षेत्र में रुचि की भी कोई हद होनी चाहिए। समीक्षा में यदि विवेचना न होगी, और समीक्षक सर्वत्र रुचि के घनघोर वशीभूत हो रायजनी करता चलेगा, तब समीक्षा असली समीक्षा न रह जायगी, वह सम्मति अथवा रायजनी हो जायगी। समीक्षा के क्षेत्र में रुचि अपने मूल और सात्विक रूप में तो बहुत ही महीन और छिपे ढंग से काम करती है, और वह स्पष्ट भी होती है, तो विवशतापूर्वक आखिर में पूरी विवेचना के बाद। जब रुचि विवेचना को छोड़ रखेगी, एकदम उभर कर काम करती दिखाई पड़ेगी तब वह अपने स्थान से च्युत होकर समीक्षक को भी नीचे गिराएगी। तात्पर्य यह कि रुचि आलोचक की आत्मिकता और उसके व्यक्तित्व का प्रमुख अंग है, अतः समीक्षक को उससे अलग नहीं किया जा सकता, मगर वह काम करती है बराबर छिपकर ही। जब वह उभर कर काम करती है तब अपनी उद्दंडता के कारण स्वयं गिरती और समीक्षक को भी गिराती है।

समीक्षा के सभी शिष्ट तत्वों का उपयोग ईमानदारी के साथ कर समीक्षा प्रस्तुत कर देने के बाद समीक्षक के सम्मुख मूल्यांकन (वेलुएशन) का प्रश्न आता है। मूल्यांकन ही समीक्षा का आखिरी और असली रूप है, जब समीक्षक शिष्टतापूर्वक वस्तु या व्यक्ति का साहित्य के क्षेत्र में मूल्य या महत्व निर्धारित करता है। इसमें संदेह नहीं कि यह मूल्यांकन पूरी और सम्यक् विवेचना के बाद होता है, अर्थात् विवेचना ही मूल्यांकन की स्थिति में आलोच्य वस्तु या व्यक्ति को रखती है, मगर मूल्य निर्धारण में समीक्षक की संपूर्ण चेतना काम करती दिखाई पड़ती है, उसकी रुचि जिससे अलग नहीं है। कहीं कहीं होता तो यह है कि समीक्षक मूल्यांकन करते समय निज रुचि प्रेरित सम्मति का उपयोग करता है। इस प्रकार समीक्षा का आखिरी और असली तत्व मूल्यांकन समीक्षक की रुचि की प्रेरणा का परिणाम है, जो मूल्यांकन विवेचना के आधार पर

३] आगरा—जनवरी १९५२ [अङ्क ७

सम्पादक
ाबराय एम० ए०
, एम० ए०, पी एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
रत्न भण्डार, आगरा।

मुद्रक
द्र प्रेस, आगरा।

ूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के प्रथम सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४ किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

हिन्दी का नया प्रकाशन : दिसंबर, १९५१

इस शीर्षक से हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

काव्य की परिभाषा—प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव चन्द्र १)
नाटककार प्रसाद और चन्द्रगुप्त—बैजनाथ विश्वनाथ २।।)
झाँसी की रानी : एक दृष्टि—श्याम जोशी १।।।)
उपन्यास सिद्धान्त— " " ।।।)
ब्रजभाषा की विभूतियाँ—प्रो० देवेन्द्र शर्मा एम० ए० ३।।)
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय २।।)

उपन्यास

वे तीन—अयोध्याप्रसाद झा १।≈)
विगत और वर्तमान—शम्भूनाथ सक्सैना १।।)
अमृत कन्या—अज्ञात एम० ए० ४)
मरुप्रदीप—अञ्चल ३।।)
आत्मदान—विजयकुमार पुजारी ३)

कहानियाँ

गुफा से महल—विश्वमोहन सिन्हा २)
बसेरा—मोहनलाल महतो 'वियोगी' २)
भारत के युद्ध—कमलचन्द्र व्यास १)

उर्वशी—बालकृष्ण बलदुआ ।।≈)

नाटक

गुरु दक्षिणा—जनार्दन मिश्र ।।)
ययाति—गोविन्दवल्लभ पन्त १।।)

राजनीति

भूदान—आचार्य विनोबा भावे ।)
हमारी समस्याएँ भाग १—पं० जवाहरलाल नेहरू ।।)
हमारी समस्याएँ भाग २— " " ।)

जीवनी

एक आदर्श महिला—देवदास गांधी १)
महावीरप्रसाद द्विवेदी—प्रेमनारायण टण्डन १)
वीर कुँवरसिंह—जगदीश झा विमल ।।)

दर्शन

रामकृष्ण उपनिषद्—राजगोपालाचार्य १।।)

बालोपयोगी

बालकों के आचार— ।≈)
बालकों की रीति नीति— ।≈)
गांधी की शिक्षा भाग १— ।)

हिन्दी का नवीन साहित्य

सन् १९५१ में प्रकाशित नवीन पुस्तकें

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

आलोचना

हिन्दी नाटकों का विकास—शिवनाथ एम० ए० २॥)
कल्पलता—हजारीप्रसाद द्विवेदी २॥)
वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना—
रामनरेश वर्मा एम० ए० ३॥।)
दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ—
प्रो० कपिल ३॥।)
कुरुक्षेत्र की अन्तरात्मा—उत्तमचन्द्र जैन ।≈)
आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी—शैलकुमारी ७)
अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन—
कपिलदेव द्विवेदी १२)
हमारे प्रमुख साहित्यकार—रामनारायण मिश्र २॥)
हिन्दी कहानी और कहानीकार-प्रो० वासुदेव ३॥)
रोमांटिक साहित्य शास्त्र—
श्री देवराज उपाध्याय ३॥।)
प्रेमचन्द—हंसराज रहबर ५)
महादेवी वर्मा—शचिरानी गुर्टू ६)
कबीर साहित्य का अध्ययन—परशुराम ४)
काव्य की परिभाषा—
प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव चन्द्र १॥)
उपन्यास सिद्धान्त—श्याम जोशी ॥।)
ब्रजभाषा की विभूतियाँ—प्रो० देवेन्द्र शर्मा ३॥)
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय २॥)
कबीर साहित्य की भूमिका-रामरतन भटनागर २)
साहित्य का मर्म—हजारीप्रसाद द्विवेदी १)
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय-बड़थ्वाल ७)
हिन्दी गद्य के युग-निर्माता—जगन्नाथ शर्मा ३॥।)
हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार—
ठाकुरप्रसाद सिंह २)
हिन्दी साहित्य की झाँकी-पं० यदुनन्दन मिश्र २)
काव्य चिन्तन—डा० नगेन्द्र ३)

आधुनिक कवियों की काव्य साधना—
राजेन्द्रसिंह गौड़ ३)
हमारे लेखक— " " ३)
हिन्दी गीति-काव्य—
ओमप्रकाश अग्रवाल एम० ए० ३)
निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट—
श्रीगोपाल पुरोहित २॥)
दृष्टिकोण—विनयमोहन शर्मा ४)
सियारामशरण गुप्त—डा० नगेन्द्र ४)
हिन्दी साहित्य की प्रवृतियाँ—जयकिशन ४॥)
रस अलङ्कार पिङ्गल—शम्भुनाथ पाण्डेय २॥)
आधुनिक कवि हृदय—प्रो० प्रभूनारायण शर्मा १।)
संस्कृति सङ्गम—आचार्य क्षिति मोहन सेन २॥)
आधुनिक कवि—प्रो० सुधीन्द्र २)
हिन्दी गद्य और उसकी शाखाएँ—
प्रभूनारायण शर्मा १॥)
रीतिकाल और रत्नाकर—कृष्णकुमार २॥)
कहानी कला और उसका विकास—
छविनाथ त्रिपाठी ३)
कबीर बीजक—कबीर साहेब ५॥)
सुमित्रानन्दन पन्त—शचिरानी गुर्टू ६)
राम-कथा—फादर कामिल बुल्के डी० फिल ८)
कला कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र ४।)
झाँसी की रानी : एक दृष्टि—श्याम जोशी १॥।)
आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी ५)
नाटककार प्रसाद और चन्द्रगुप्त—
बैजनाथ, विश्वनाथ २॥।)
अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—
डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ६)
साहित्य और साधना—डा० भागीरथ मिश्र ४॥)
मकरन्द—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ३॥)

हिन्दी गद्य मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी ६)
उद्धव शतक समीक्षा—रामनरायण मिश्र १॥)
ऋतम्भरा—सुनीति कुमार चाटुर्ज्या २॥)
सूरदास की वार्ता—प्रभूदयाल मीतल १॥)
साहित्य समीक्षा—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार २॥)
साहित्य और सौन्दर्य—डा० फतेहसिंह १॥।≈)
सुमित्रा नन्दन पन्त—रामरतन भटनागर ३॥)
प्रसाद के नाटक— ,, ,, ४)
महादेवी वर्मा— ,, ,, ४)
कलाकार प्रेमचन्द— ,, ,, ४)
उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—
श्री परशुराम चतुर्वेदी १२)
साहित्य निर्माण—किशोरीदास वाजपेयी २)
आधुनिक कविता की भाषा—
श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी ६)
सूफी काव्य संग्रह—सं० परशुराम चतुर्वेदी ३)
पन्त की काव्य चेतना में गुञ्जन—
प्रो० वासुदेव एम० ए० ३)
सुमित्रा नन्दन पन्त—विश्वम्भरनाथ मानव ४)
मीमांसिका—शिवनाथ एम० ए० २॥)
आधुनिक गीति-काव्य—
सच्चिदानन्द तिवारी एम० ए० २॥)
काव्यालोक—पं० गोपीनाथ शर्मा १)

कविता

प्रदक्षिणा—मैथिली शरण गुप्त १)
अञ्जलि और अर्घ्य—,, ,, ॥)
मेरे बापू—श्री तन्मय बुखारिया २॥)
पञ्च प्रदीप—शान्ति एम० ए० २)
सुबेला—शम्भुनाथ शेष २)
जन राष्ट्र आकांक्षा—कृपाशङ्कर शर्मा १)
सीता परित्याग—रामस्वरूप टण्डन ४)
कञ्चन घट—उग्र १॥)
दीप जलेगा—उपेन्द्रनाथ अश्क ३॥)
रूप दर्शन—हरिकृष्ण प्रेमी ६)
किरन—महेन्द्रप्रताप १॥)

अग्नि शस्य—नरेन्द्र २॥)
प्रतिध्वनि—रघुवीरशरण मित्र ३)
सवेरा और साया—'अरुण' १॥)
मुक्ति मार्ग—भारतभूषण अग्रवाल १॥)
काव्य धारा—इन्द्रनाथ मदान ३॥)
स्याम सँदेसो—अमृतलाल चतुर्वेदी ३)
रविबाबू के कुछ गीत—रघुवंशराम २॥)

कहानी

शरणागत—वृन्दावनलाल वर्मा १)
राजपूती कथाएँ—प्रभूदयाल मीतल ॥)
मेवाड़ की अमर कथाएँ—,, ,, ॥)
दुष्यन्त और शकुन्तला—शान्तिस्वरूप गौड़ २)
जय दोल—अज्ञेय ३)
जब सारा आलम सोता है—उग्र १॥)
धरती का राजा—डा० महादेव साहा २)
अङ्गारे न बुझे—राँगेय राघव २॥)
खरगोश के सींग—प्रभाकर माचवे ३)
गहरे पानी पैठ—गोयलीय २॥)
मैं मरूँगा नहीं—यशपाल जैन २॥)
आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत-राहुल २)
कादम्बरी कथा सार—अनु० ऋषीश्वरनाथ भट्ट ४)
ग्रहण के बाद—नरेन्द्र २)
मौन के स्वर—ब्यौहार राजेन्द्रसिंह एम० ए० ॥)
गङ्गा किनारे—श्री हरिवल्लभ बी० ए० १)
काश्मीर पर हमला—कृष्ण मेहता २॥)
श्री रामचन्द्र—सत्यनारायण १॥)
रेल का टिकट—भदन्त आनन्द कौशल्यायन २॥)
हमारे गाँव—शान्ति टौंग्री १॥)
आहुति और अन्य कहानियाँ—
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' ॥)
परन्तु—प्रभाकर माचवे १॥)
गुफा से महल—विश्वमोहन सिन्हा ३)
बसेरा—मोहनलाल महतो वियोगी २)
भारत के युद्ध—कमलचन्द्र दास १)
दर्नशी—नालकृष्ण बल्दुआ ॥≈)

नए चित्र—रामस्वरूप दुबे १)
काँटों के राही—इन्द्रचन्द्र एम० ए० १॥)
चित्रा—हरिशङ्कर शा० रत्न ०)
टूटी चूड़ियाँ—शीला शर्मा १॥)
रेखाएँ बोल उठीं—देवेन्द्र सत्यार्थी ३)
जीवन पराग—विष्णु प्रभाकर १)
सम्राट रघु—इन्द्र विद्या वाचस्पति १)

उपन्यास

समूर—धर्मेन्द्र एम० ए० ०॥)
अन्धेर नगरी—मन्मथनाथ गुप्त ३)
कभी हँस कर कभी रो कर—कैलाश ३)
अनबुझी प्यास—दुर्गाशङ्कर ७॥)
धरती माता—ताराशङ्कर ४)
रायकमल— ,, ०)
मृगजल—अनन्त गोपाल सेवड़े ४)
पी कहाँ—रतननाथ सरसार ३)
आखिरी दाँव—भगवतीचरण वर्मा ३॥)
मुक्ति का बन्धन—गोविन्दवल्लभ पन्त ४)
रात्रि की दुलहिन—रघुवीरशरण मित्र ६)
हृदय मन्थन—सीताचरण दीक्षित ५)
इन्सान—यज्ञदत्त शर्मा ४)
शिशु और सखी—के० एम० मुन्शी २)
प्रगति की राह—गोविन्दवल्लभ पन्त ४॥)
घाट का पत्थर—गुलशन नन्दा ३)
डाक्टर देव—अमृता प्रीतम २)
बीरबल—श्री रामचन्द्र ठाकुर ४॥)
आत्म बलिदान—इन्द्र विद्या वाचस्पति ३)
वे तीनों—अयोध्याप्रसाद झा १।≈)
विगत और वर्तमान—शम्भूनाथ सक्सेना १॥)
अमृत कन्या—अज्ञात एम० ए० ५)
मरु प्रदीप—अञ्चल ३॥)
आत्मदान—विजयकुमार पुजारी ३)
करुणा—डा० नरेशचन्द्र सेन गुप्त ३)
मोहन सीरीज १५ भाग—शशधरदत्त प्रत्येक १॥)
कुली—मुल्कराज आनन्द ६)
प्रियदर्शी अशोक—हरिभाऊ उपाध्याय ५)

नाटक

जहाँदार शाह—वृन्दावनलाल वर्मा ॥)
सीता की माँ—रामवृक्ष बेनीपुरी १)
समर्पण—जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द १॥)
अमिट रेखाएँ—विन्ध्याप्रसाद गुप्त १)
बुझता दीपक—भगवतीचरण वर्मा २)
मृच्छकटिक—व्यौहार राजेन्द्रसिंह एम० ए० २)
जौहर—नारायण चक्रवर्ती ।≈)
सपथ—हरिकृष्ण प्रेमी ०॥)
मैंने कहा—गोपालप्रसाद व्यास—हास्य ३)
ध्रुवतारिका—रामकुमार वर्मा १)
गुरुदक्षिणा—जनार्दन मिश्र ॥)
ययाति—गोविन्दवल्लभ पन्त १॥)
राजा परीक्षित—प्रो० गौरीशङ्कर मिश्र १॥)
संघ मित्रा और सिंघल विजय—रामवृक्ष बेनीपुरी १॥)

निबन्ध

प्रबन्ध सागर—पं० कृष्णानन्दन पन्त ४॥)
राजनीति से दूर—पं० जवाहरलाल नेहरू २॥)
नव निबन्ध—परशुराम चतुर्वेदी ३)

जीवनी

श्री जमनालालजी—हरिभाऊ उपाध्याय ६॥)
आधे रास्ते—के० एम० मुन्शी ४॥)
अज्ञात जीवन—अजितप्रसाद ३)
वीर कुँवरसिंह जगदीश झा विमल ॥)
महावीरप्रसाद द्विवेदी—प्रेमनारायण टंडन ॥)
एक आदर्श महिला—देवदास गांधी १)
महासती चन्दनबाला—शान्तिस्वरूप गौड़ ३)
सोलह सती—कविवर मुनि श्री अमरचन्दजी २)
सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा—म० गांधी ५)

राजनीति

बात बात में बात—यशपाल २॥)
भारतीय शासन परिचय—रमेश्वरीलाल गुप्त २॥)

सर्वोदय तत्व दर्शन—गोपीनाथ धरवन ७)
बापू की सीख—संग्रह ।।)
बापू के आश्रम में—हरिभाऊ उपाध्याय १)
भू दान—आचार्य विनोबा भावे ।)
हमारी समस्याएँ भाग १—ज० ला० नेहरू ।।।)
,, ,, भाग २ ,, ,, ।)
बापूजी घर में—चतुरसेन शास्त्री १)
मेरे समकालीन—महात्मा गाँधी ५)

धर्म और दर्शन

कृष्णायन (अवतरण काण्ड)—
द्वारिकाप्रसाद मिश्र ७)
भागवत् धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय ५।।)
वेदान्त—राजगोपालाचार्य १)
उपनिषद्— ,, १।)
ज्ञान गङ्गा—नारायणप्रसाद जैन ६)
गीतामर्म—कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार ४।।)
जातक कथा—श्री भिक्षु धम्म रक्षित ६)
रामकृष्ण उपनिषद्—राजगोपालाचार्य १।।)
भारतीय विचारधारा—अनु० मधुकर २)
अयोध्याकाण्ड—श्यामसुन्दरदास ३।।)
उज्ज्वल वाणी—श्री रत्नकुमार जैन ३)

मनोविज्ञान शिक्षा सिद्धान्त

मनो विश्लेषण—सन्तोष गार्गी २)
मनोविज्ञान और जीवन—लालजीराम शुक्ल ५)
शिक्षा सिद्धान्त—आर० एम० मेहरोत्रा ।।।)

ऐतिहासिक

भारत का राष्ट्रीय इतिहास—
श्यामकिशोर मालवीय एम० ए० ८३)
भारतीय वीरता—रजनीकान्त गुप्त २।।।)
प्राचीन भारतवर्ष की जन सत्ता और संस्कृति—
वेनीप्रसाद वाजपेयी ३।।।)
प्राचीन भारतीय वेषभूषा—डा० मोतीचन्द्र १०)
मैंने देखा—भगवतशरण उपाध्याय ५)
सभ्य मानव का इतिहास— ,, ५)
भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ—
भाग १ व २ प्रत्येक ५)
भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास—
डा० ब्रजेश्वर वर्मा १।।)
आधुनिक भारत—डा० ईश्वरीप्रसाद ५)
भारत का सांस्कृतिक इतिहास—
हरिदत्त वेदालङ्कार ३।।)
भारत का सांस्कृतिक इतिहास—
रामकृष्ण माथुर ३)

स्त्रियोपयोगी

विश्व की महान महिलाएँ—शचिरानी गुर्टू ५)
नई नारी—रामवृक्ष बेनीपुरी १।।)
आज की पत्नियाँ—व्यथित हृदय २।।)
आधुनिक विनाई—आदित्य किशोरी भार्गव ६।।)

स्फुट

लोक व्यवहार—सन्तराम बी० ए० ६)
धरती माता—सूरज १)
नवीन भारत के पब्लिक स्कूल—
जगदीशचन्द्र शास्त्री १।)
हिन्दी सेवी संसार—प्रेमनारायण टण्डन ७।।)
सफल जीवन—प्रो० रामचन्द्र शर्मा ३)
दूध पिलाने वाले जानवर—शुकदेव नारायण ३)
प्राकृतिक जीवन की ओर—
अनु० विट्ठलदास मोदी ३।।)
जीने की कला— ,, ,, ,, १।।)
रवीन्द्र साहित्य—
अनु० धन्यकुमार जैन भाग २० प्रत्येक २।)
धातु विज्ञान—डा० दयास्वरूप ६)

बालोपयोगी

सचित्र अक्षर ज्ञान—श्री रामलाल पुरी १।।)
महाभारत की कहानियाँ—राजबहादुरसिंह १)
झाँसी की रानी— ।।।)
नीति प्रमोद—आनन्दकुमार १।।)
सचित्र रामायण रंगीन— १।।)
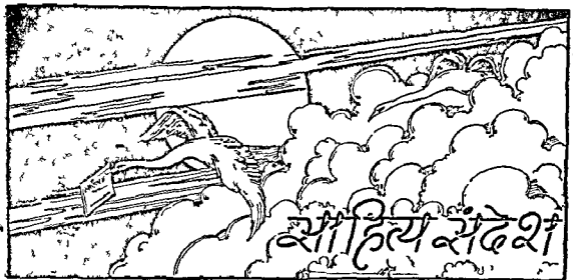
वर्ष १३] आगरा—जनवरी १९५२ [अङ्क ७

हमारी विचार-धारा

हमारा आलोचनाङ्क—

इस वर्ष का हमारा विशेषाङ्क 'आलोचनाङ्क' नवम्बर के अन्त में प्रकाशित हुआ। यह अङ्क अक्टूबर-नवम्बर का था। सितम्बर का अङ्क सितम्बर के शुरू में निकल जाने से विशेषाङ्क ग्राहकों के पास करीब करीब तीन महीने बाद पहुँचा। इतना विलम्ब हो जाने से पाठकों का व्याकुल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। यही कारण है कि इस बीच में हमारे पास शिकायतों के सैकड़ों पत्र आए जिनका पृथक-पृथक उत्तर देना हमारे लिए सम्भव नहीं था। हमारे पाठकों को इस प्रकार जो असुविधा हुई—उसका हमें बड़ा खेद है। परन्तु हमें इस बात की प्रसन्नता अवश्य है कि हम उन्हें आलोचनाङ्क के रूप में ऐसी चीज दे सके जिसका आदर सभी ने किया है। इस अङ्क की ठोस सामग्री को यदि पुस्तकाकार छापा जाता तो एक महत्वपूर्ण पुस्तक तैयार हो जाती जिसका मूल्य तीन रुपये से कम न होता। वैसे साहित्य सन्देश के साधारण अङ्कों में भी जो लेख निकलते हैं उनका भी जनता में बड़ा आदर है और उसके पुराने अङ्कों की बड़ी माँग रहती है। हालत यह है कि आज हमारे कार्यालय में साहित्य सन्देश के पुराने अङ्क प्राय सब समाप्त हो गए हैं। और हम उन्हें दुबारा छाप सकें तो वे हाथों हाथ बिक जायँ। हमें खेद है कि हमारे यहाँ पुराना विशेषाङ्क भी कोई नहीं बचा है। भारतेन्दु अङ्क' जो गत वर्ष प्रकाशित हुआ था, उसकी थोड़ी सी प्रतियाँ शेष हैं और आलोचनाङ्क की तो इतनी माँग है कि वह शायद दो तीन महीने में ही समाप्त हो जायगा।

परिशिष्टाङ्क—

आलोचनाङ्क जैसा हम निकालना चाहते थे वैसा नहीं निकाल सके। उसके लिए विशेष रूप से लिखाए गए भी कई लेख उसमें न जा सके। इसीलिए हम उसका एक परिशिष्टाङ्क निकाल रहे हैं। परिशिष्टाङ्क मार्च में निकलेगा और वह आलोचनाङ्क का पूरक होगा। इसका पूर्ण विवरण हम अगले अङ्क में देंगे।

हमारी एक कठिनाई—

इस अवसर पर अपने पाठकों को हम अपनी एक कठिनाई बता देना आवश्यक समझते हैं। इधर कागज पर कण्ट्रोल हटने से उसका मूल्य ही नहीं बढ़ गया है, अब वह अप्राप्य भी हो गया है। १४) में मिलने वाले सफेद कागज का रिम अब २५) में भी नहीं मिलता। इच्छा न रहते हुए भी इसी कारण लाचार होकर हमें साहित्य सन्देश में घटिया रफ कागज लगाना पड़ रहा है। परन्तु रफ कागज का भाव भी इधर एक वर्ष में बहुत बढ़ गया है। जो कागज ६) रिम था, वह अब १६), १७) रिम है। इस प्रकार कागज का व्यय बहुत बढ़ जाने से पत्र में जो उन्नति हम करना चाहते थे वह नहीं कर पाये। हम अपने सभी लेखकों को अच्छा पारिश्रमिक देना चाहते हैं, परन्तु नहीं दे पाते। कागज अच्छा नहीं लगा पाते, गेट अप सुन्दर नहीं कर पाते। इन सबके लिए रुपया चाहिए और रुपए के लिए यदि मूल्य बढ़ाया जाय तो उसका असर हमारे ग्राहकों पर पड़ेगा जो अधिकतर गरीब हैं। यद्यपि साहित्य सन्देश का चार रुपया मूल्य इतना कम है कि लोग आश्चर्य करते हैं—साहित्य सन्देश से सस्ता कोई दूसरा ऐसा पत्र नहीं है—फिर भी हम उसका मूल्य बढ़ाना नहीं चाहते। लेकिन वर्तमान परिस्थिति में काम चलाना भी कठिन हो चला है। अतएव हम पाठकों से परामर्श लेना चाहते हैं—हम क्या करें? आशा है पाठक अपनी अपनी सम्मतियाँ भेजने की कृपा करेंगे।

पाठक क्या कर सकते हैं ?

इस बीच हमारे प्रेमी पाठक और ग्राहक अनुग्राहक हमारी सहायता नीचे लिखे भाँति कर सकते हैं :—

१—प्रत्येक पाठक साहित्य-सन्देश के कुछ ग्राहक बढ़ाने की चेष्टा कर सकता है। साहित्य सन्देश की माँग बहुत है। एक एक सज्जन चाहें तो चार-चार पाँच-पाँच नए ग्राहक बना सकते हैं। एक ग्राहक बनाना तो बड़ा सरल है। तो यदि एक एक पाठक एक एक ग्राहक भी और बना दें तो हमें बड़ा बल मिले। जो समर्थ हों वे अधिक ग्राहक भी बना सकते हैं। इसके लिए हम इसी अंक में एक पोस्टकार्ड भेज रहे हैं। हम आशा करते हैं प्रत्येक पाठक उसका उपयोग करके साहित्य-सन्देश की सहायता करेगा। ऐसे नए ग्राहकों का मूल्य मनिआर्डर से भेजा जाय तो हमें सुविधा होगी, और ग्राहक बनने वाले की भी बचत होगी।

२—जो सज्जन हमारे पुराने ग्राहक हैं वे अपना मूल्य समाप्त होने पर वी० पी० पाने की प्रतीक्षा न करके रुपया मनिआर्डर से भेज दिया करें। मनिआर्डर भेजने वाले सज्जन मनिआर्डर फार्म पर अपनी ग्राहक संख्या लिखना न भूलें। यदि ग्राहक संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' शब्द अवश्य लिखें।

३—जो पुराने ग्राहक आगे ग्राहक नहीं रहना चाहते हों, वे एक कार्ड भेजकर हमें उसकी सूचना पहले से दे दें। जिससे वी० पी० भेजने में हमारा पैसा और परिश्रम व्यर्थ न जाय।

४—हमारे जो ग्राहक समर्थ हों वे हमारे सहायक या स्थायी ग्राहक बन जाँय। ग्राहकों को १००) एक बार देना पड़ेगा, और उनका यह रुपया हमारे यहाँ जमा रहेगा। जब वे ग्राहक न रहना चाहें यह रुपया वापस मंगा सकते हैं। ऐसे ग्राहकों को चार रुपया वार्षिक नहीं देने पड़ेंगे। उन्हें पत्र एक प्रकार से मुफ्त मिलेगा जब तक उनका १००) हमारे यहाँ जमा रहेगा। ऐसे ग्राहक हम अधिक नहीं बना सकेंगे। अतः जो सज्जन इस सुविधा से लाभ उठाना चाहें तथा हमें सहयोग देना चाहें, वे कृपा करके ३१ जनवरी तक १००) भेज कर हमें आभारी करें। रुपया मिलने पर यहाँ से उसकी टिकिट लगी रसीद भेज दी जायगी।

५—हम और क्या कर सकते हैं, और हमारे ग्राहक हमें किस प्रकार अपना सहयोग दे सकते हैं—इस पर जो सज्जन प्रकाश डाल सकें—डालने की कृपा करें। साहित्य-सन्देश हिन्दी-साहित्य की

और हिन्दी के विद्यार्थियों की सेवा और सहायता अधिकाधिक कर सके—हमारा उद्देश्य केवल यही है।

हमारी गोत्र-वृद्धि—

हिन्दी साहित्य में आलोचना—शुद्ध आलोचना का पत्र आज से कोई २० वर्ष पहले श्री कृष्णविहारी मिश्र ने 'समालोचक' नाम से निकाला था। यह त्रैमासिक पत्र एक दो वर्ष चल कर बन्द हो गया। उसके बाद वैसे पत्र और अधिक नहीं निकले—'साहित्य-सन्देश' एक अपवाद है। आज अपने सगोत्री 'आलोचना' को देख कर हम बड़ी प्रसन्नता है। इसे दिल्ली से श्री शिवदानसिंहजी चौहान ने निकाला है। इसका प्रथम अङ्क इसकी श्रेष्ठता, गम्भीरता और महत्ता का परिचायक है। हम बड़े प्रेम से इसका स्वागत करते हैं और आशा करते कि यह पत्र चिरजीवि होगा। आलोचना का वार्षिक मूल्य १२) है, एक अङ्क का ३) प्राप्ति स्थान १ फैज बाजार, दिल्ली।

'भारतीय आत्मा' का अभिनन्दन—

हिन्दी के यशस्वी कलाकार और मा भारती के सच्चे सपूत माननीय प० माखनलालजी चतुर्वेदी की हिन्दी सेवाएँ किससे विदित नहीं हैं। हमें जान कर हर्ष हुआ कि पिछले दिनों आपके अभिनन्दनार्थ इन्दौर के मालव हिन्दी विद्यापीठ ने एक महत्त्वपूर्ण समारोह किया था। हम इस प्रकार के समारोहों का हार्दिक स्वागत ही नहीं करते इसे आवश्यक भी समझते हैं। अपनी ओर से भी हम माननीय चतुर्वेदीजी के प्रति अपनी प्रेमाञ्जलि भेट करते हैं।

बम्बई में हिन्दी—

बम्बई प्रदेश की सरकार ने यह घोषणा की है कि आगामी ३ वर्ष के भीतर सरकार के प्रत्येक कर्मचारी को किसी भी हिन्दी प्रचार सभा द्वारा आयोजित हिन्दी की एक उच्च परीक्षा पास करना अनिवार्य होगा। जो नई नियुक्तियाँ होंगी उन्हें भी तीन वर्ष के भीतर कोई न कोई हिन्दी की परीक्षा पास करनी होगी और १ अप्रैल १९५४ के बाद कोई नियुक्ति ऐसी न होगी जिसमें व्यक्ति हिन्दी पढ़ा न हो। बम्बई सरकार के इस आदेश का हम स्वागत करते हैं और उसके इस निर्णय के लिए उसे बधाई देते हैं।

हैदराबाद में हिन्दी—

हैदराबाद की सरकार ने भी हिन्दी के लिए अभिनन्दनीय आदेश दिए हैं। हैदराबाद के सभी मिडिल और हाई स्कूलों में हिन्दी अनिवार्य कर दी गई है। अध्यापकों के लिए हिन्दी जानना आवश्यक कर दिया गया है। सभी सरकारी 'साइनबोर्ड' हिन्दी म रहेंगे। वहाँ के उस्मानिया विश्व विद्यालय ने भी शिक्षा का माध्यम उर्दू के स्थान पर हिन्दी करने की घोषणा करदी है। हम इस सब के लिए वहाँ के अधिकारियों को बधाई देते हैं।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी—

३० जनवरी १९५१ को हिन्दी के अनन्य सेवक और प्रचारक प० बनारसीदास चतुर्वेदी की साठवीं वर्ष गाँठ थी। चतुर्वेदीजी के पूज्य पिता हमारे पिताजी क गुरु रहे हैं और उस नाते चतुर्वेदीजी हमसे पैतृक स्नेह मानते हैं। ऐसी दशा में इस अवसर पर उन्हें बधाई देना हमारा विशेष अधिकार है। पर इस निजी सम्बन्ध को छोड़ कर सार्वजनिक जीवन में भी हमारी चतुर्वेदीजी की बहुत घनिष्ठता रही है और उस नाते से भी हमारा यह विश्वास है कि चतुर्वेदीजी ने पिछले तीस वर्ष से हिन्दी की जो सेवा की है उसके लिए वे बधाई ही नहीं अभिनन्दन के पात्र हैं। चतुर्वेदीजी ने अपने एक मित्र को लिखा है कि अपने पिता के समान वे भी ९० वर्ष जीना चाहते हैं। अतः अभी ६० वीं वर्ष गाँठ पर उन्हें बधाई देने की जरूरत नहीं है। हमारा निवेदन है और भगवान से यही प्रार्थना है कि चतुर्वेदीजी ९० नहीं पूरे सौ वर्ष जीवें—'शतञ्जीवी' हों। फिर भी ६० वीं वर्ष गाँठ पर यदि हिन्दी वाले उन्हें बधाई दें या उनका सम्मान करें तो उसे वे क्यों अस्वीकार करें। वे कई अभिनन्दनों के लिए स्वयं उत्तरदायी

हैं, अतः वे इस सम्मान से भागें नहीं, क्योंकि प्रचार और प्रोत्साहन के क्षेत्र में चतुर्वेदीजी का कार्य अनुपमेय है और उनकी सेवाओं का असली मूल्य आज आँका नहीं जा सकता। साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी चतुर्वेदीजी ने बहुत काम किया है, पर हिन्दी संसार उनसे इस क्षेत्र में और अधिक की अपेक्षा रखता है। चतुर्वेदीजी के पास कई लेखकों के संबंध की बहुमूल्य सामग्री संग्रहीत है, उसका सदुपयोग करके वे कुछ पुस्तकें लिख दें तो हिन्दी का बड़ा हित हो। परन्तु मालूम होता है चतुर्वेदीजी शतायु होने के विश्वास में उस आवश्यक काम को टाल रहे हैं। हमारा निवेदन यह है कि वे इधर का काम अभी पूरा कर दें बाकी जीवन में और कार्य करने को उन्हें बड़ा चैन मिलेगा, उसकी चिन्ता न करें। हम आशा करते हैं कि वे अपने जीवन के आगामी ४० वर्ष में १२० वर्ष का कार्य पूरा करेंगे। —महेन्द्र

उर्दू का प्रश्न—

परतन्त्र भारत में जब-जब हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने की आवाज उठायी गयी, तभी तभी 'उर्दू' को किसी न किसी रूप में सामने खड़ा किया गया। उस काल में उर्दू को मुसलमानी संस्कृति का वाहक माना गया और उसी के आधार पर साम्प्रदायिक भावनाओं को अधिकाधिक उत्तेजित किया गया। भारत स्वतन्त्र हुआ, पाकिस्तान बना, बहुत उद्योग और चेष्टाओं के उपरान्त हिन्दी को उसका जन्म सिद्ध अधिकार मिला। हिन्दी का विरोध फिर भी लोगों के अन्तर्मन में रहा, और जैसे ही कुछ व्यवस्था और निरुद्वेग वातावरण बना कि फिर उस विरोध को कहीं किसी बहाने कहीं किसी बहाने प्रकट किया जाने लगा। समय समय पर इसी पत्र के इस स्तम्भ में प्रकाशित विचारों से उस विरोध का स्वरूप हम स्पष्ट करते रहे हैं। अभी हाल में डा० जाकिरहुसैन महोदय ने लखनऊ में कुछ उद्गार प्रकट किये हैं—जिनका मर्म यह है कि भाषा के प्रश्न को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। सेकिण्डरी शिक्षा तक हिन्दी एक अनिवार्य विषय रहना चाहिए, जिसे सभी को पढ़ना चाहिए। उत्तर प्रदेश में उर्दू को भी हिन्दी के साथ राज भाषा मान लेना चाहिए, तथा कालेज में हिन्दी को विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य नहीं करना चाहिए। इन बातों के अर्थ स्पष्ट हैं, हिन्दी राष्ट्र-भाषा स्वीकार की गयी है, उसे यदि केन्द्र में पछाड़ना है तो पहले उसके घर में ही पछाड़ो; घर में ही जब हिन्दी के साथ उर्दू राज-भाषा मान्य होगी तो केन्द्र को भी उसे मानने के लिए विवश होना पड़ेगा। इससे राष्ट्र में 'द्विधा' उत्पन्न होगी, और राष्ट्र दुर्बल बनेगा। हिन्दी उर्दू की द्वैध मान्यता फिर घूम फिरकर दो राष्ट्रों के सिद्धान्त की जड़ को सींच सकती है। प्रत्येक भाषा को अपने साहित्य की श्रीवृद्धि करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु उसकी वह समृद्धि भी 'भारतीयता' के भावों को लेकर ही होनी चाहिए। प्रत्येक भाषा को अपनी जड़ भारत की भूमि में पनपानी है। प्रत्येक भाषा का धर्म है कि जहाँ तक राष्ट्र-भाषा का प्रश्न है वहाँ तक वह राजनीति से अपना कदम उठाले, और भारत के राष्ट्र के ऐक्य को यथार्थता और दृढ़ता प्रदान करने के लिए संसद द्वारा स्वीकृत 'राष्ट्रभाषा' हिन्दी को ही वह मान्यता दे, और उसी नाते हिन्दी को अपनी समझकर उसके साहित्य को भी राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुकूल समृद्ध करने की चेष्टा करे। यही बात हमें उर्दू से भी कहनी है। उससे हमें विशेषतः कहनी है, क्योंकि समस्त भारतीय भाषाओं में, दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम तक की समस्त भारतीय भाषाओं में केवल 'उर्दू' ही एक ऐसी भाषा रही है, जिससे दो संस्कृतियों, दो राष्ट्रों की भावना को उत्तेजना दी गयी, और यही एक मात्र वह भाषा रही जिसको भारतेतर प्रदेशों से रस मिला है, और जिसने देश की प्रवृत्ति को छोड़ विदेश की प्रवृत्ति को विशेष महत्व दिया है। भारत भर की 'उर्दू' को अपने भारत राष्ट्र के गौरव के अनुकूल अपना रूप बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

साहित्य की यथार्थवादी परिभाषा

प्रो ।णेशदत्त शास्त्री, एम० ए०, एल०-एल० बी०

मानवीय उत्कर्ष में साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य जब पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है तभी उन्नति की ओर अग्रसर होता है। इस उन्नति-यात्रा में मनुष्य का आधार उसकी बुद्धि है, और इस बुद्धि का व्यापक रूप उसकी वाणी की क्षमता से ही प्रकट होता है। यदि मनुष्य बुद्धि-विहीन होता तो वह पशु से किस बात में भिन्न होता, और यदि उसमें बुद्धि के होते हुये भी वाणी या वाक्य की क्षमता न होती तो वह क्या कर पाता। मनुष्य के विकास की आधार शिला केवल उसके वाक् सामर्थ्य पर ही अवलम्बित है। मनुष्य अपने विचारों को, अपनी कल्पना को, अपने हृदयाङ्गन भावों को, शब्द द्वारा प्रकट कर सकता है और इस प्रकार उन्हें न केवल एक स्थायी रूप प्रदान करता है वरन् उनका व्यापक प्रसार करने में भी समर्थ होता है, और यही जिसे हम साहित्य कहते हैं उसका मूलस्रोत है।

भाषा का ही परिपाक साहित्य में होता है। वाणी द्वारा मनुष्य अपने आन्तरिक विचारों को प्रकट करता है और इसी के द्वारा वह अन्य पुरुषों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। वाणी ही मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार का माध्यम है। वाणी का उपयोग उसको अपनी और नैसर्गिक विशेषता है। मनुष्य का चेतन स्वरूप शब्द द्वारा ही प्रकट होता है। शब्दों द्वारा मन में उठने वाले भावों तथा विचारों को प्रकट करते रहना उसका स्वाभाविक गुण है। अपनी इच्छापूर्ति के लिये उसे वाध्य होकर वाणी द्वारा अपनी आवश्यकताओं को दूसरों के आगे कहना पड़ता है। यदि इस प्रकार मनुष्य प्रकृति द्वारा वाध्य न किया गया होता, तो सम्भव है कि वाणी युक्त होते हुये भी वह भाषा शून्य रह जाता। संसार की भाषा-विभिन्नता तथा उनका पारस्परिक वैषम्य भी इसी कारण उत्पन्न होता है। जिन जातियों ने प्रकृति से प्रेरणा पाकर या अन्य कारणों से प्रेरित होकर भाषा के उपयोग का अधिक व्यवहार किया है, वे अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक समुन्नत हो गयीं।

मनुष्य का भाषा-प्रयोग अपने मनोगत विचारों को दूसरों तक पहुँचाने के लिये ही आरम्भ होता है, और फिर इस चेष्टा में उसे जो आनन्द मिलता है उसकी पूर्ति के लिए वह अपने लिये भी यही व्यापार करने लगता है। इस प्रकार के प्रयत्नों का ही फल साहित्य है। साहित्य के मूल में मनुष्य की यही इच्छा काम करती है। मनुष्य अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करता है, इसलिये कि दूसरे उसके अनुकूल आचरण करें या उसकी इच्छापूर्ति करें। इस प्रकार के व्यापार के लिये साक्षात् व्यवहार जब असुविधाजनक होने लगा तब मनुष्य ने लेखन प्रणाली का आविष्कार किया। केवल मुख से उच्चरित शब्दों का स्थायित्व बहुत ही स्वल्प होता है। उसकी परिधि सुनने वालों तक ही सीमित रहती है और उसका अन्त भी उसी क्षण हो जाता है। पर जब उसे लिपिबद्ध कर दिया जाता है तब उसे अमरत्व (अक्षरत्व) प्राप्त हो जाता है। वह स्थायी-रूप में प्रकट हो जाता है। मनुष्य का मनोभाव जब शब्द द्वारा प्रकट होकर लिपिबद्ध हो जाता है तब साहित्य की नींव पड़ती है।

दूसरों के साथ मनुष्य का व्यवहार शब्दों के द्वारा होता है। मनुष्य स्वभाव से ही एकान्तसेवी न होकर जन-प्रेमी तथा समाजेच्छुक है। वह अकेला न रह सकता है और न रहना पसन्द करता है। अपने ही समान व्यक्तियों से आविष्ट मनुष्य अपने

दुख सुख में दूसरों से इस बात की आशा रखता है कि वे उसके साथ अच्छा व्यवहार करेंगे, उसके दृष्टिकोण को समझेंगे तथा उसके साथ सहानुभूति करेंगे। इसी भावना से प्रेरित होकर वह शब्दोन्मुख होता है। शब्द द्वारा मनुष्य अपने आन्तरिक रूप को ही प्रकट करता है। ऐसा करने के लिये उसे उसकी सामाजिक प्रवृत्ति ही अनुप्रेरित करती है। यही उसका स्वभावजन्य गुण है। इस कृति में उसे जो आनन्दानुभव होता है, वही साहित्य की जननी है। अपने इच्छाओं की अभिव्यक्ति तो बाध्य होकर ही मनुष्य को करनी पड़ती है, पर इस अभिव्यक्ति का परिणाम मनुष्य के कलात्मक रूप में प्रकट होता है।

मनुष्य की जिज्ञासा का अन्त नहीं। वह अपने को दूसरों के आगे प्रकट करता रहता है। उसकी प्रवृत्ति दूसरों के सुख दुख को जानने तथा अपने सुख दुख को दूसरों का जनाने की होती है। अपने अनुभवों को दूसरों को सुनाना तथा दूसरों के स्वानुभवों को जानने की इच्छा मनुष्य का एक साधारण गुण है। इस गुण का जब कलात्मक रूप भाषा में प्रकट होता है तब साहित्य का सृजन होता है। बिना भाषा का साहित्य नहीं, और बिना अभिव्यक्ति के भाषा नहीं, और बिना अनुभूति के अभिव्यक्ति नहीं, भाषा और अनुभूति का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जब कलाकार अपने भावों को शब्दों द्वारा प्रकट करता है और उन्हें एक स्थायी स्वरूप प्रदान कर देता है तो उसी क्षण साहित्य का उदय होता है।

साधारण रूप से साहित्य मानवीय ज्ञान का समुच्चय है। अपने विशालतम अर्थ में साहित्य सम्पूर्ण ज्ञान का समावेश करता है। मनुष्य ने जो कुछ भी शब्दों द्वारा प्रकट किया है वह उसकी साहित्यिक प्रवृत्ति का द्योतक है। इस प्रकार शब्दात्मक ज्ञान को ही हम साहित्य कह सकते हैं। पर इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष तो है ही, यह स्पष्टतः अव्यवहार्य भी है। इस व्यापक अर्थ में साहित्य के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। ज्ञान, विज्ञान, कला कौशल जिसको भी शाब्दिक रूप हम दे सकें, इस अर्थ में साहित्य में निहित हो जायगा, और उसका अपना अस्तित्व न रह जावेगा। ज्ञान तो ब्रह्म का ही रूप है और यह अनन्त है। मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि से इस अनन्त ब्रह्मस्वरूप ज्ञान का खण्ड रूप से ही परिचय पा सकता है और इसी प्रकार ज्ञान का विभागीय वर्गीकरण करके ही वह उन्नति कर सकता है। विज्ञान तथा साहित्य, ज्ञान के ही स्थूल रूप हैं। साहित्य का विशिष्ट अर्थ विज्ञान से परे मानवीय ज्ञान है। वाह्य जगत् से मनुष्य का सम्बन्ध एक रहस्यमय प्रबन्ध है। इस भौतिक जगत् में मनुष्य अपने को एक रहस्य के बीच पाता है। उसे अपने मन का बोध तो है ही, इन्द्रिय द्वारा जिस जगत् का वह अनुभव करता है, उसका भी उसे परिज्ञान होता है और उसकी बुद्धि उसे इस रहस्य मय प्रपञ्च के भेद को समझने की ओर प्रेरित करती है। जगत् का यथावत् ज्ञान सम्पादन करने की दिशा में जब मनुष्य अग्रसर होता है तब विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इस विज्ञान क्षेत्र में मनुष्य यथार्थता का मापदण्ड लेकर ही आगे चलता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण भौतिक वास्तविकता का होता है। वैज्ञानिक जो वस्तु जैसी है उसे उसको यथार्थ रूप में देखना तथा समझना चाहता है। इस प्रकार उसका आधार निजी वैयक्तिक न होकर वस्तुवादी तथा, प्रमाणापेक्षी होता है, और यही मनुष्य के वैज्ञानिक तथा कलात्मक रूप का आधार है। विज्ञान में मनुष्य तथ्य गवेषणा में प्रमाणों का आधार लेता है और प्रत्यक्ष से ही सम्बन्ध रखता है, उसे सत्य पदार्थ ज्ञान से ही प्रयोजन रहता है, बुद्धि द्वारा अग्राह्य कल्पना का यहाँ स्थान नहीं, और न ऐसे विचार का ही जिसका प्रत्यक्षीकरण न हो सके। इसके विपरीत कलात्मक अभिव्यक्ति में मनुष्य अपना वैयक्तिक अस्तित्व अक्षुण्ण रखता है। वह प्रथम स्वयम् सत्य है, तत्पश्चात् अन्य किञ्चित। साहित्य इस प्रकार की कलात्मक चेष्टा का ही जिसके द्वारा

मनुष्य वाह्य जगत् तथा अपने बीच व्याप्त रहस्य को निजी रूप से समझने तथा समझाने का प्रयत्न करता है, नाम है। विज्ञान यथार्थ रूपी तथा भौतिकवादी है, कला जिसका साहित्य एक अङ्ग है, आदर्शवादी तथा कल्पनात्मक।

कला की आधारशिला वस्तुवादी न होकर कल्पनात्मक तथा आध्यात्मिक होती है। कला में मनुष्य जिस सत्य का दर्शन करता है वह इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न होते हुए भी आन्तरिक चेतन को तुष्ट करने वाला तथा मन को शान्ति तथा आह्लाद प्रदान करने वाला होता है। वैज्ञानिक गवेषणा प्रकृति के मूल रूप को यथार्थ-भाव से परिग्रहण करना चाहती है कलात्मक प्रवृत्ति प्रकृति के रहस्य को हृदयङ्गम करने के लिये मनस्तोष को ही आधार मानती है। प्रथम प्रयास में बुद्धि का ही अवलम्बन है और वस्तुस्थिति ही मार्ग का निर्धारण करती है और प्रत्येक पथिक के लिये एक ही मार्ग तथा समान साधन है। इसके विपरीत कला की सेवा कल्पना के द्वारा ही होती है और साध्य की ओर जाने के लिये कलाकार को अपनी ही भावना तथा अनुभूति का आश्रय लेना पड़ता है। यह आवश्यक नहीं कि वह परमुखापेक्षी हो। विज्ञान में अनुसधान तो सहयोग तथा पारस्परिक आदान-प्रदान के सर्व सम्मत आधार पर ही हो सकता है। जहाँ तक अनुसन्धान हो चुका है, उसके बाद ही अग्रिम गवेषणा होगी। वैज्ञानिक की दृष्टि अंतर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होती है। और इसका फल भी ससार के लिये सुलभ तथा प्रत्यक्ष है। विज्ञान की कसौटी उसकी यथार्थता तथा उपयोगिता है। जो कुछ भी विज्ञान देता है, उसका व्यवहारिक मूल्य है। विज्ञान प्रदत्त विद्या का उपयोग ही उसकी विशेषता है, विज्ञान का चरम लक्ष्य चाहे जो कुछ भी हो उसका मूल हेतु व्यवहार्य ज्ञानप्राप्ति ही है। और यहाँ पर कला के साथ उसका विभेद उत्पन्न हो जाता है, कला की उपयोगिता साधारण अर्थ में उसके महत्व का कारण नहीं, कला का अभिप्राय सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करना तथा मन को शान्ति देना ही है। इस अर्थ में कला उपयोगी सामग्री भले ही हो पर इस प्रकार की उपयोगिता कला का लक्ष्य नहीं, कला सृष्टि के भेद को अवगमन करने का एक विशिष्ट साधन है, इसका लक्ष्य 'सत्यं' तथा आधार 'सुन्दरम्' है और फल 'शिवम्'।

मनुष्य की ज्ञान राशि ग्रन्थों में निहित है। जो कुछ भी मनुष्य ने देखा सुना या समझा उसे उसने शब्दात्मक रूप देकर अपने तक ही सीमित नहीं रक्खा। वह अपने ज्ञान को भाषा द्वारा प्रकट कर रचनात्मक सृष्टि का निर्माण करता है। ग्रन्थों के द्वारा ही मनुष्यों के बीच पारस्परिक विचार का आदान प्रदान होता है। ग्रन्थकार अपने ज्ञान को लिपिबद्ध कर अपनी सामाजिक प्रवृत्ति की ही पूर्ति करता है। ग्रन्थ द्वारा ही ज्ञान राशि समृद्ध होती है पर ज्ञान अनन्त तथा असीम है। विषय भेद से ग्रन्थों में भी विभिन्नता आजाती है। प्रत्येक विषय का विशिष्ट क्षेत्र है और तत्सम्बन्धी पुस्तकों का एक विशेष वर्ग। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकों का भिन्न भिन्न कक्षा में विभाजित कर सकते हैं। साहित्य का रूप ज्ञानात्मक होते हुए भी सब विषयों की पुस्तकों का इसमें समावेश करना अनुचित तथा उच्छृङ्खल होगा। साधारण रूप से साहित्य में केवल ऐसी रचनाओं का ही समावेश होगा जो किसी विषय विशेष से सम्बन्धित न हों। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का अपना क्षेत्र तो है ही और उस विषय पर लिखी गयीं पुस्तकें उसी विषय की कही जायँगी। उस विषय से सम्पर्क रखनेवाला व्यक्ति ही, या उस प्रकार के ज्ञान में अभिरुचि रखनेवाला पुरुष ही, उस विषय की ओर आकृष्ट होगा। सर्वसाधारण को उसमें अभिरुचि कम हो या न हो पर साहित्य का संबंध साधारण जन से है। इसका विषय किसी प्रकार का पदार्थ बोध या विशिष्ट ज्ञान नहीं है जिसे खास तरह के विद्वान ही समझ सकें या जिसे समझने में किसी विशेष

मनोवृत्ति की आवश्यकता पड़े। इस प्रकार के ग्रन्थ विषय ज्ञान से अनुप्रेरित होने के कारण केवल ऐसे ही लोगों के लिए ही होते हैं जो उन विषयों के या पदार्थों के जिज्ञासु हों। सर्व साधारण के लिये तो ऐसे ग्रन्थों में कोई *विशेष आकर्षण नहीं।* साहित्य में केवल एसी ही रचनायें आती हैं जिनका आकर्षण मनुष्यमात्र के लिए समानरूप से हो। पर केवल आकर्षण ही साहित्य का आधार नहीं।

आकर्षण कई प्रकार से हो सकता है। लाभ दृष्टि से हम एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं। विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी हमारा झुकाव किसी ओर हो सकता है। जब किसी विषय की ओर हम प्रवृत्त होते हैं तब इस प्रकार के किसी विशेष स्वार्थ साधन की ओर हमारा लक्ष्य हो सकता है। साहित्य का आकर्षण ज्ञान विशेष के कारण नहीं होता। मनुष्यमात्र में जो समान रूप से अपने प्रति तथा अपने ही सदृश अन्य पुरुषों के प्रति सहज अनुराग है, और जिस साधारण अनुराग से प्रेरित होकर वह अपने सुख दुःखात्मक अनुभूति को समाज के सम्मुख उपस्थित करता है वही कला के उत्पत्ति का कारण है। साहित्य की पृष्ठभूमि यही मानवीय प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति से उत्प्रेरित मानवीय उद्योग जब शाब्दिक रूप धारण करता है तब उसे हम साहित्य कहते हैं। इस प्रकार का प्रयास अनेक रूपों में प्रकट हो सकता है। मनुष्य अपने भावों तथा विचारों का प्रदर्शन हाव भाव, चेष्टा नृत्य गीत द्वारा भी करता है। अन्य उपायों में यथा मूर्ति निर्माण, चित्रलेखन तथा तद्वत् अन्य साधनों से भी मनुष्य अपने इस अभीष्ट की पूर्ति करता है। कला के इस प्रकार अनेक रूप प्रकट हो जाते हैं। पर इन विविध कलाओं में समान रूप से वही एक मानवीय प्रवृत्ति है जिसके वश में हो कर मनुष्य अपनी परिकल्पना को साक्षात् रूप प्रदान करता है।

शब्दों द्वारा प्रकटित मानवीय परिकल्पना ही साहित्य का रूप धारण करती है। इस प्रकार की परिकल्पना का आश्रय लेकर कलाकार अपने रागात्मक अन्तर्जगत् का ही सृजन करता है और जब इस शाब्दिक सृष्टि का हम पर इसप्रकार प्रभाव पड़ता है कि हम हर्षित होते हैं तो वही साहित्य *की श्रेणी में आ जाता है। ग्रन्थ तो* अनेक हैं पर विषय भेद से सब अपने अपने विषयात्मक श्रेणी में विभक्त हो जाते हैं। जिनका लक्ष्य केवल किसी एक प्रकार के ज्ञान का ही प्रतिपादन है वे साहित्य की श्रेणी में नहीं समाविष्ट होंगे। यहाँ ग्रन्थों के महत्व का तथा उनके उपयोगिता का प्रश्न नहीं है। साहित्य का सम्बन्ध केवल मानव से है, मानव विशेष से नहीं, साहित्य के अन्तर्गत केवल ऐसी ही रचनाओं का समावेश होता है जिनका उद्देश्य शब्दों द्वारा मानवीय प्रवृत्तियों को इस प्रकार प्रकट करना है कि उनके द्वारा जनसाधारण का स्थायी मनोरञ्जन हो। कलाकार की सृष्टि का कारण ही उस प्रयास में होने वाला आन्तरिक आल्हाद है। उसे जो आनन्द अपने मानसिक जगत् को भाषात्मक रूप देने में आता है वह उसी तक सीमित नहीं रहता। यदि ऐसा हुआ तो उसका प्रयास विफल है। कला का प्रतिफल तो भावुक के हृदय में उठने वाला उल्लास है। इसलिये साहित्य के अन्तर्गत केवल ऐसे ही ग्रन्थ आते हैं जिनके द्वारा मनुष्यमात्र की अनुरञ्जनात्मक प्रवृत्ति की तृप्ति होती है। साहित्य मानवीय हृदय का क्रीड़ाक्षेत्र है। कल्पना द्वारा प्रसूत अन्तरङ्ग भावों का जब सुन्दरतम भाषा में प्रकटन होता है तब साहित्य का उदय होता है। साहित्य भावमय भाषा का ही प्रयोग है, जिसके सहारे मनुष्य अपने मानसिक जगत् को बाह्यरूप देकर एक निश्चित आदर्श की ओर अग्रसर होता है। साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भाषा से है और भाषा के द्वारा कलात्मक रसोत्पत्ति ही इसका प्राण है। उन समस्त रचनाओं का जिनके द्वारा इन उभय लक्ष्य की सिद्धि हो साहित्य में समावेश होता है।

भारतेन्दु युगीन रंगमंच : स्वर्गीय गहमरीजी की साक्षी

डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

भारतेन्दु युग और नाटक—भारतेन्दु युग से हिन्दी का आधुनिक काल आरम्भ होता है, इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने हिन्दी में नाटकों के प्रणयन की ओर कदम उठाया भारतेन्दु युग से पूर्व हिन्दी में कुछ संस्कृत नाटकों के अनुवाद हुए थे। इनमें से हिन्दी अनुवादकों को प्रबोध चन्द्रोदय तथा हनुमानाटक विशेष प्रिय थ। प्रबोध चन्द्रोदय के कितने ही अनुवाद हुए। 'शकुन्तला' की भी उपेक्षा नहीं की गयी। मालती माधव नाटक के आधार पर 'माधव विनोद' सोमनाथ ने लिखा। ये संस्कृत नाटकों के अनुवाद तो थे पर नाटक नहीं थे। इनमें नाटकत्व का अभाव था। यथार्थ में ये काव्य-शैली में लिखे गये थे। यही कारण है कि नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेन्दु जी ने हिन्दी का सबसे प्रथम नाटक 'नहुष' को माना है। यह नाटक भारतेन्दुजी के पिता गिरिधरदासजी का लिखा हुआ था। यह अनुवाद नहीं था, साथ ही नयी शैली की ओर झुकाव भी था, यद्यपि 'व्रजभाषा' का माध्यम इसे नयी शैली के योग्य नहीं बनाता। विन्ध्येश्वरी तिवारी गोरखपुर निवासी का 'मिथिलेश कुमारी' तथा रामगया प्रसाद दीन अयोध्या निवासी के रामलीला नाटक तथा प्रह्लाद चरित्र नाटक इस 'नहुष' नाटक से पूर्व लिखे गये, किन्तु इनमें भी यदि नाटकत्व रहा होता तो भारतेन्दुजी इन्हें आरम्भिक नाटकों की श्रेणी में अवश्य रखते और 'नहुष' को हिन्दी का प्रथम नाटक न कहते। भारतेन्दुजी से पूर्व तो राजा लक्ष्मणसिंह भी 'शकुन्तला नाटक' का अनुवाद प्रस्तुत कर चुके थे। महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' भी भारतेन्दु से पूर्व लिखा जा चुका था। भारतेन्दु जी ने इसे भी नहुष के साथ पूर्व के नाटकों में परिगणित किया है। शुक्ल जी ने तो भारतेन्दु पूर्व के नाटकों में इसी 'आनन्द रघुनन्दन' को नाटकत्व से युक्त माना है। यह भी व्रजभाषा में था और अनुवाद था। इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व नाटक साहित्य अत्यन्त दरिद्रावस्था में था। भारतेन्दु जी ने हिन्दी में नाटकों का आरम्भ किया। यह सभी जानते हैं कि उन्होंने सबसे पहले सं० १९२५ में बंगला से 'विद्यासुन्दर' नाटक का अनुवाद किया। इस अनुवाद से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि भारतेन्दु जी की प्रेरणा की दिशा किधर थी। नाटक रचना की दिशा में भारतेन्दु जी में हमें स्पष्टतः तीन प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है।

एक ओर तो भारतेन्दु जी संस्कृत नाटक और नाट्यशास्त्रों के अनुशीलन में प्रवृत्त थे। अपनी भारतीय परम्परा में नाटकों के स्वरूप को समझने के लिये ही उनका यह उद्योग रहा होगा। 'नाटक' नाम की पुस्तक में उन्होंने अपनी इस भारतीय नाट्य परम्परा के ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। 'भारतेन्दु' जी का 'नाटक' हिन्दी का प्रथम नाट्यशास्त्र है। संस्कृत के नाटकों के अनुवाद में भी भारतेन्दुजी की एक स्पष्ट दृष्टि दिखायी पड़ती है। उन्होंने चाहे जिस नाटक का यों ही अनुवाद नहीं कर डाला। ऐसा होता तो वे पहले कालिदास भवभूति के नाटकों को ही हाथ लगाते, किन्तु इनको तो उन्होंने छुआ भी नहीं। वे भारतीय परम्परा में नाटकों के विविध भेदों उपभेदों के उदाहरण प्रस्तुत कर देना चाहते थे, जिससे नाटकों की विविधि शैलियों से हिन्दी के नवीन रचयिता परिचित हो सकें और आवश्यकता हो तो प्रेरणा भी ग्रहण कर सकें। भारतेन्दु जी स्वयं भी हि[illegible]ी की प्रकृति के अनुकूल और सामयिक प्रभाव का[illegible]नी के लिए नये स्वरूप की प्रतिष्ठा करने के लिए व्यग्र थे। वे समस्त नाटकीय

सामग्री का अनुशीलन इसी दृष्टि से कर रहे प्रतीत होते हैं। अपना भारतीय सपत्ति के इस अनुशीलन से पहले ही उन्होंने बङ्गाली भाषा के नाटकों पर भी दृष्टि डाली थी। उनमें उन्हें नवीन शैली का परिचय मिला था अंग्रेजी नाटकों से भी परिचित थे। यह उनकी दूसरी प्रवृत्ति था जिसके द्वारा वे वर्तमान की नवीनतम शैली को समझने की चेष्टा कर रहे थे।

और, तब प्राचीन नवीन दोनों का समायण कर उन्होंने समन्वय पूर्वक हिन्दी स्वभाव के अनुकूल मौलिक नाटकों का भी निर्माण किया। इस प्रकार भारतेन्दुजा ने हिन्दी के नाटकों की प्राण प्रतिष्ठा की। उनकी प्रेरणा उन्हें बङ्गाल से मिली, क्योंकि इस युग में बङ्गाल म नाटक साहित्य का काफी उत्कर्ष हुआ था। और, इसी बङ्गाल में रङ्गमञ्च का भी पर्याप्त विकास हो चुका था।

नये रङ्गमञ्च का आरम्भ : बङ्गाल—नये रङ्गमञ्च का भारत में आरम्भ अंग्रेजों के मनोरञ्जन के लिए हुआ। यह बगाल में जम जाने के उपरान्त ही हुआ। पहले क्लबों और नृत्यश लाओं से काम चलाया गया, फिर नाट्यशाला की स्थापना की गयी। १७५३ ई० तक 'ओल्ड प्ले हाउस' नाम से विख्यात एक नाट्यशाला विद्यमान हो चुकी थी। इसमें अंग्रेजी खेल ही अंग्रेजों के लिए होते थे। १७६० में 'दी कैलकटा अथवा इङ्गलिश थियेटर' नाम के एक नये रङ्गमञ्च का उद्घाटन हो चुका था। इन रङ्गमञ्च के निर्माण तथा अभिनय कला में उस समय के इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध अभिनेता डेविड गैरिक का सहयोग प्राप्त हुआ था। बहुत सी सजावट और दृश्य सज्जा उसने इङ्गलैण्ड, भेजी थी। अपने परिकर का एक अभिनेता बर्नार्ड मेसिंक (Bernard Messinch) भी उसने भेज दिया था। इन अंग्रेजी प्रयोगों से रङ्गमञ्च के प्रति आकर्षण बढ़ चला था। अंग्रेजों का यह मनोरञ्जन उन्हीं तक सीमित नहीं रह सकता था।

तब हेरेसिन लेड्बेफ (Heresin Ledbeff) नाम के एक रूसी ने बङ्गाली के लिए एक नाट्यगृह स्थापित किया। इस 'भारतीय थियेटर' का उद्घाटन शुक्रवार, २७ नवम्बर सन् १७९५ में हुआ। इस आरम्भ से शनैः शनैः विदेशी तथा देशी दोनों व्यक्तियों ने नये नये नाट्यगृह स्थापित किये। धीरे धीरे इस नाट्यकला का विकास बङ्गाल में हुआ। भारतेन्दु के समय तक बङ्गाल इस दिशा में पर्याप्त समुन्नत हो चुका था। यहाँ तक कि पारसी व्यवसायिक रङ्गमञ्च की स्थापना हिन्दी में हो चुकी थी।

हिन्दी रङ्गमञ्च—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र एक बार ऐसी ही व्यावसायिक कम्पनी के रङ्गमञ्च पर एक नाटक देखने गये। उस बाजारू नाटक से उन्हें घोर वेदना हुई, तभी उन्होंने अपनी दृष्टि से सुन्दर नाटक लिखने तथा उसे खेलने के लिये स्टेज रङ्गमञ्च की स्थापना करने का निश्चय किया। 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक इसी सङ्कल्प का परिणाम था और हिन्दी के इस साहित्यिक रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में शुक्ल जी से हमें इतना ही विदित होता है।

"भारतेन्दुजी, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी उद्योग करके अभिनय का प्रबन्ध किया करते थे और कभी कभी स्वय भी पार्ट लेते थे। पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मङ्गल नाटक' का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेन्दुजी ने पार्ट लिया था। यह अभिनय देखने काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह भी पधारे थे और इसका विवरण ८ मई १८६८ के 'इण्डियन मेल' में प्रकाशित हुआ था। प्रतापनारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिए मूँछ मुँड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है।" यह स्पष्ट है कि ये उद्योग सराहनीय थे, फिर भी हिन्दी रङ्गमञ्च पनप नहीं सका, विकसित न हो सका। भारतेन्दु युगीन उद्योग असफल रहे।

इसके कई कारण हैं, जिनका सकेत यहाँ कर देना चाहते हैं।

१—हिन्दी साहित्यकारों में नाटक सम्बन्धी चेतना विकसित होने से पूर्व ही हिन्दी-क्षेत्र में व्यव-

स्थायी रङ्गमञ्च चल पड़ा। यदि आरम्भ से ही यह रङ्गमञ्च हिन्दी के साहित्यकारों के हाथ में आया होता तो जड़ जम जाती।

२—हिन्दी में नाटक चेतना जिस समय उदय हुई उसी समय सुधारवादी आदर्श प्रबल हो उठे थे। आर्य समाज की चरित्र-सम्बन्धी धारणा ने रङ्गमञ्च की ओर होने वाले आकर्षण को अवरुद्ध कर दिया।

३—हिन्दी नाटककारों को आर्थिक सहायता का अभाव था, इससे वे नाटक-कला में दक्ष व्यक्तियों का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकते थे।

४—हिन्दी वाले अनुदार थे। नाटकों के अभिनयों तथा उनके अभिनेताओं के विषय में तत्कालीन पत्रों ने कोई विशेष उल्लेख नहीं किया। बङ्गाल में साधारण से साधारण नाटकों के अभिनयों की जोरदार चर्चा होती थी। ये कुछ कारण थे जिनसे जन्म के समय से ही हिन्दी रङ्गमञ्च दुर्बल रहा, और आजतक भी वह कोई रूप नहीं पा सका। भारतेन्दु युग के नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में आज भी हमें गहरी शोध करनी है। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों से इस युग के नाटकों के सम्बन्ध में संस्मरण हमें लिपि बद्ध करा लेने चाहिये थे। मैंने यह प्रयत्न करने की चेष्टा की थी, किन्तु उसे पूर्णता नहीं दे सका।

स्वर्गीय गोपालराम गहमरी के संस्मरण—मेरे इस साधारण अधूरे प्रयत्न का यह फल हुआ था कि श्री गोपालराम गहमरीजी से मैं इस सम्बन्ध के कुछ संस्मरण प्राप्त कर सका था। गहमरीजी ने भारतेन्दु कालीन नाटकों के अनुवादों की परम्परा प्रचलित रखी थी। शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है कि "सं० १६५० के पीछे गहमर (जि० गाज़ीपुर) के बाबू गोपालराम ने 'बनवीर' 'बभ्रु वाहन', 'देशदशा', 'विद्याविनोद' और 'रवीन्द्र बाबू के चित्राङ्गदा' का अनुवाद किया। गहमरीजी का जीवन भारतेन्दु युग से आरम्भ होकर वर्तमान युग तक चला आया था। वे विशेषतः जासूसी उपन्यासों के लेखक की भांति प्रसिद्ध हैं, पर नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया।" जिससे यह सिद्ध है कि उन्हें नाटकों से रुचि अवश्य थी। इसीलिए मैंने एक प्रश्नावली उनकी सेवा में भेजी थी जिसका उत्तर स्वर्गीय गहमरीजी ने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक दिया था। उनके पत्रों को मैं यहाँ आज प्रकाशित करा रहा हूँ, जिससे पाठकों को लाभ होगा।

प्रश्नावली—स्टेज कैसी होती थी? वह किसके अनुकरण पर बनायी गयी? उसके लिए धन कहाँ से आता था? अभिनय की शिक्षा का क्या प्रबन्ध होता था? कैसे कैसे दृश्य दिखाये जाते थे? उनमें किस वस्तु का विशेष ध्यान रखा जाता था? अभिनेता कौन-कौन तथा किस कोटि के होते थे? किस किस ने अपने अभिनय में और अभिनय की किस विशेषता में विशेष नाम पाया था? उन अभिनयों के सम्बन्ध में साधारण मत क्या होता था? वे अधिक प्रचलित क्यों न हुए? कौन कौन और कहाँ कहाँ उनकी कम्पनियाँ या पार्टियां खुलीं? कहाँ कहाँ अभिनय हुए?

प्रिय महाशय,

आपका कार्ड ता० २४-२-३८ का पढ़ा। आप भारतेन्दु कालीन नाटकों का अभिनय जानना चाहते हैं। उस समय के स्टेज और अभिनेताओं की बात पूछते हैं। मुझसे आप यह समझ कर कि मैंने उन दिनों के नाटक देखे होंगे और आजकल के भी देखते होंगे आपकी इच्छा और अनुमान, दोनों का मैं स्वागत करता हूँ। लेकिन अफसोस की बात यह है कि मैं दोनों ही से दूर रहा। उन दिनों भी मैं नाटक नहीं देखता था और आज भी नहीं देखता। इसका अभिप्राय यह नहीं कि मुझे उनसे अरुचि या घृणा रही हो, न यही मतलब है कि मुझसे पाठक ऐसे छुआछूत ही नहीं है।

उन दिनों भी कोई आग्रह अथवा सम्मान से ले गया तो चला गया। अब किसी सङ्गति में पड़ा तो चला गया। हाँ! उन दिनों कलकत्ता, बम्बई या हरद्वार कुम्भादि पर्व पर नाटकों में जाना

पढ़ा और यहाँ दस-बारह वर्ष से हूँ लेकिन कुल पाँच या छः बार गया हूँ।

उस समय को तो मैं हिन्दी नाटकों का आदि-युग समझता हूँ। जैसा कि सरस्वती-सम्पादक ने हिन्दी लेखकों की तीन पीढ़ी कह कर आजकल को तीसरी पीढ़ी बतलाया है बहुत ठीक कहा है। यह विभाजन मैं नाटकों में भी उचित समझता हूँ।

उस पीढ़ी में नाटककार उँगलियों पर गिनने योग्य थे—भारतेन्दुजी मुख्य थे ही। सर्व श्री प्रतापनारायण मिश्र बद्रीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, प० देवकीनन्दन त्रिपाठी (प्रयाग समाचार सम्पादक) इन्हीं के लिखे नाटक मैंने पढ़े और देखे। वस्तुत स्टेज के लायक इन्हीं के नाटक थे भी।

अभिनय मैंने भारतेन्दु की मंडली का बलिया में देखा था—सत्य हरिश्चन्द्र, भारत जननी, अंधेर नगरी, देवाक्षर चरित्र। इन्हीं का खेल बलिया में हुआ था। वह भारतेन्दु की जिन्दगी का अन्तिम वर्ष था। अन्तिम वर्ष नहीं अन्तिम महीना ही समझ लीजिये। सन् १८८४ ई० के जाड़े की सर्दी की शुरू थी। इन्हीं दिनों उनकी मंडली ने अभिनय किया था। साथ में बाबू राधाकृष्णदास (उनके फुफेरे भाई) भी थे। और सज्जन भी थे। मेरी उम्र १८ वर्ष की थी। लेकिन हिन्दी साहित्य में प्रवेश काल ही था। बहुत कम समझ थी, अनुभव का भी अभाव था। वहाँ से अभिनय देखकर हम लोग घर गये। भारतेन्दुजी भी काशी लौटे। महीना बीता, दूसरा नहीं पूरा हुआ होगा कि उनके मरने का स्यापा अखबारों में आ गया। मंगलवार छठी जनवरी सन् १८८५ ई० को उन्होंने स्वर्ग पयान कर लिया।

उन दिनों हिन्दी नाटकों का स्टेज तो देहात और नगरों में खेलवाड़ ही था। बड़े शहरों में भी इन्दर सभा, गुलबकावली आदि के खेल हुआ करते थे। हम लोग जब कभी जाते तब यही सुनते कि इन्दर सभा देखने चलते हैं।

हाँ! कलकत्ते में बङ्ग भाषा के नाटकों का स्टेज उन्नत था। स्टार मिनरवा और क्लासिक बड़े जोरों पर था। गिरिशचन्द्र घोष, क्षेत्रमोहन, विद्याविनोद और अमृतलाल आदि नाटककारों में प्रधान थे। हिन्दी नाटक उन दिनों वही इन्दर सभा, चतरा बकावली और भूल भुलैया पारसी नाटक मंडलियों में खेले जाते थे।

बम्बई में भी पारसी नाटक मंडलियों द्वारा ही इन्दर सभा, चों चों का मुरब्बा, भूल भुलैया, कमरलजमाँ के नाटक खेले जाते थे। गुजराती लड़के अभिनय करते थे। विक्टोरिया नाटक मंडली, पारसी थियेटर, अलफ्रेड नाटक मंडली—यही खेलने वाले थे। गुजराती नाटक मंडली में कभी कभी हिन्दी नाटक खेले जाते थे।

उन दिनों कलकत्ता बम्बई को छोड़कर और नगर पटना, बनारस, आगरा में स्टेज या पर्दों का उतना ठाठ नहीं था। मथुरा की रास मंडलियाँ इधर आकर अपनी लीलाओं का दर्शन देहात में करातीं "जमुना जी के तीर पर दरशन दिया करो" यही अलापा जाता था। उनमें कौन अभिनेता किस विशेषता का था यह सब सवाल ही नहीं उठता।

हिन्दी नाटकों के दूसरे युग में आने पर इन बातों के खोज का अवसर मिलता है। हिन्दी नाटककारों में श्री प० राधेश्याम, आगा हश्र काश्मीरी और नारायणप्रसादजी बेताब ने कहर मचा दिया। अच्छे अच्छे नाटकों का स्टेज हुआ, न्यू अलफ्रेड, कोरेन्थियन थियेटर आदि ने बङ्गभाषा के रङ्गमञ्चों का मुहासरा लेना शुरू किया। यह लोग बहुत ऊँचे गये। हिन्दी का नाट्य समाज भी खूब परिमार्जित हुआ। दस वर्ष और टॉकी के आने में देर होती तो हिन्दी-नाटक आसमान में उड़ने लगते। लेकिन इस तीसरी पीढ़ी में तो टाकी वालों ने चित्र, रूपवाणी में उतरकर *सब पर पानी फेर दिया। आज* वह दिन है कि कलकत्ते के स्टार, मिनर्वा, आदि

सबका कायापलट हो गया। अब सबके सब टॉकी हाउस हो गये, और 'चित्रा' ने सबको चित्रवत् खड़ा कर रखा है। बायस्कोप के मूक प्रदर्शन तक नाटकों का जो इतना साहित्य के नभ मण्डल में एरोप्लेन का-सा शान बाँध रहा था वह सब मानो टॉकी की टिटकार पर जापान ने जहरीले गैस से सबका सफाया कर डाला। अब अभिनय करने वाली कम्पनियों का तो कोई नाम भी साहित्य-प्रेमी नहीं लेता। हाँ! देहातों में धनुष यज्ञ आदि के खण्ड काव्य प० राधेश्याम की तर्ज पर नाटकों के रूप में खेले जाते हैं। इनमें मथुरा की रास मण्डलियों का परिश्रम अलबत्ते अब सराहने योग्य है।

मैं इन टॉकियों में नहीं जाता केवल आँखों की तकलीफ बचाने के लिये नहीं बल्कि इसलिये कि अब इनमें भारतीय जीवन की नवका अच्छे स्रोत में बहाने का तो कुछ काम होता नहीं, और न इस तरह के उपादान से उनका उद्गम ही होना है। वहाँ तो सीता, सति सावित्री आदि का अभिनय होने पर भी विलिमोरिया, माधुरी, कञ्चन, मेहरुन्निसा के ला जवाब हाव भाव और आकर्षक अभिनय की ही तूती बोलती है। नाम भारत के पौराणिक युग का देकर, किस्सा भारतीय जवाहरलाल की झोली से निकालकर विलायत के ठग, लुटेरे और बदमाशों की काली करतूतों के जामे पहनाये जाते हैं। वहाँ समय खोना मैं पसन्द नहीं करता। बाजारू प्रेम की पच-पचाहट में लदफद होकर लुढकने के सिवाय और कुछ नहीं है।

मुझे खेद है कि आपकी ऊँची अभिलाषा की पूर्ति मैं नहीं कर सका। आपकी जो ऊँची जिज्ञासा, माननीय गवेषणा से भरी है इसका समाधान मैं न कर सका। इसके लिये क्षमा करेंगे ऐसी मुझे आशा है। मैंने अपनी जानकारी भर की जो कुछ याद है वही कहा है।

भवदीय—गोपालराम गहमर निवासी।

पुन.—एम० ए० पास करके हिन्दी की ओर इतना झुकाव मेरे लिये बड़े आनन्द की वस्तु हुई। आजकल की शिक्षा में यह भाव शुभ के लक्षण हैं। आप में वही उच्च आत्मा है। परमात्मा से प्रार्थना है कि आपका साहित्यानुराग दिन-दिन बढ़े। वहाँ कूआँ-वाली गली में प० जवाहरलाल चतुर्वेदी हैं। वहाँ वह हैं या नहीं?

—गोपाल

इस पत्र को पाकर मुझे प्रसन्नता हुई और मैंने एक और पत्र 'प्रयाग समाचार' के सम्बन्ध में उन्हें लिखा, जिसका उत्तर इस प्रकार प्राप्त हुआ—

प्रिय मैत्रीशील,

आपका कार्ड २२-६-३८ का पहुँचा है। प० देवकीनन्दन की जीवनी मैं अधिक नहीं जानता। 'प्रयाग समाचार' उन्हीं का साप्ताहिक पत्र था प्रयाग से निकलता था सन् १६०४ में प० जगन्नाथ शर्मा राजवैद्य ने उनके मरने पर जारी रक्खा था। सन् १६०६ तक जारी रहा।

उसका आरम्भ बीस वर्ष पहले से हुआ था। प० देवकीनन्दन त्रिपाठी का नाटक जयनारसिंह बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। महाअन्धेर नगरी नाटक प० विजियानन्दन का भी बहुत प्रसिद्ध था—मेरा विद्याविनोद नाटक अब कहीं बाजार में नहीं नागरी-प्रचारिणी में वह मिला साथ ही मेरी नाटिका यौवने भोगिनी भी मैंने केवल एक कापी देखने और नकल करने को पायी थी। देवकीनन्दन त्रिपाठी की अधिक बातें शायद प० अमरनाथ शर्मा वैद्य B A., B L. आयुर्वेदीय इलाहाबाद से पूछें तो पता चले।

—भवदीय गोपाल

आज गहमरीजी हमारे बीच में नहीं। किन्तु उनके पत्रों में व्याप्त सहृदयता, प्रेम और प्रोत्साहन का भाव आज भी मुझे उनका कृतज्ञ बनाये हुए हैं।

हिन्दी रङ्गमञ्च के विषय में गहरी शोध की आवश्यकता है।

बा० राधाकृष्णदास

प्रो० सिद्धेश्वरनाथ मिश्र, बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०

रीतिकाल के पश्चात् हिन्दी साहित्य का वह युग आता है जिसे 'भारतेन्दु युग' कहते हैं। भारतेन्दु युग नवचेतना, नवजाग्रति एवं नवीन स्फूर्ति का सन्देश वाहक बनकर हिन्दी साहित्य में उपस्थित हुआ। इस युग के प्रमुखतम व्यक्ति भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्रजी थे। उन्हीं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप साहित्यकारों का एक ऐसा मण्डल प्रस्तुत हो गया जिसने तत्कालीन समाज, देश तथा राजनीति को दृष्टिकोण में रख कर साहित्य सृजन प्रारम्भ किया। इन साहित्यकारों का लक्ष्य हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान की उन्नति करना था। साहित्य के विभिन्न अङ्गों द्वारा इन साहित्यकारों ने अपने लक्ष्य की पूर्ति की। भारतेन्दु मण्डल के उज्ज्वल नक्षत्रों में श्री प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सजीवता, परस्वार्थ और जाग्रति की भावना इन साहित्यकारों में सर्वत्र उपलब्ध होती है। विदेशी राज्य के प्रति विद्रोह भावना भी इन महानुभावों के हृदय में लहरें करती हुई दिखाई पड़ती हैं। भारतेन्दु युग के इन सभी साहित्यकारों ने साहित्य के प्रत्येक अङ्ग की पूर्ति करने का प्रयत्न किया, बा० राधाकृष्ण दासजी का साहित्य भी इस कथन की पुष्टि करता है।

दासजी, भारतेन्दुजी के फुफेरे भाई थे। १० मास की छोटी अवस्था में ही इनके पिता बा० कल्याणदासजी का काल कवलित होना बा० हरिश्चन्द्रजी के सम्पर्क में ले आया। इनके लालन पालन एवं शिक्षा का भार भी भारतेन्दु जी पर ही था। उन्हीं के प्रबन्ध एवं निरीक्षण में दासजी ने अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और बङ्गला भाषा में अच्छी योग्यता प्राप्त करली। बचपन से ही भारतेन्दुजी के पास उठना बैठना तथा रहना उनका नियम बन गया था। 'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्'। बाबू साहब के सम्पर्क से तथा साहित्य चर्चा के बीच में रहते हुए दासजी की रुचि साहित्य की ओर झुकी। फलतः भारतेन्दु युग तथा भारतेन्दु मण्डल के उच्च कलाकारों में अपना स्थान पाने में सफल हो सके।

साहित्यकार अपने युग के समाज एवं उसकी समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर पाता। किसी न किसी रूप में वह प्रभावित अवश्य होता है। भारतेन्दु-काल के प्रायः सभी लेखक दो विरोधी धाराओं—राजभक्ति धारा तथा देश-भक्ति धारा का विकास कर रहे थे, जिसके प्रतिनिधि थे, भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र। प्राचीन परम्पराओं के परिष्कृत रूप के सङ्गम से ही इन नवीन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ था। फलतः इस काल के लेखकों में जहाँ हम प्राचीन परिपाटी का अनुसरण पाते हैं वहाँ नवीन प्रणाली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। बा० राधाकृष्णदासजी इसके अपवाद स्वरूप न थे। उनका व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में नाटककार, उपन्यासकार, निबन्ध लेखक, इतिहास लेखक, जीवनी लेखक तथा कवि रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

हिन्दी नाटकों की परम्परा भारतेन्दुजी के समय से मानी जाती है। उन्होंने ही सर्व प्रथम देशकाल तथा परिस्थिति के अनुसार हिन्दी नाट्य साहित्य को पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के सिद्धान्तों की ओर प्रेरित किया। जिससे नांदी, प्रस्तावना, भरत वाक्य आदि की अवहेलना होने लगी। परन्तु दासजी ने प्रायः प्राचीन नाट्य परम्परा को ही अपनाया है। 'महाराणा प्रताप' तथा 'महारानी पद्मावती' में उन्होंने

प्रस्तावना, नादी, भरत वाक्य का विधान रक्खा है। उनके नाटकों में अभिनेयता का गुण भी विद्यमान है। 'दु:खिनी बाला' आपका सर्व प्रथम रूपक है। जिसको सामाजिक कुरीतियों के निवारणार्थ ही लिखा है। 'धर्मालाप' में विभिन्न मतावलम्बियों के सवादों को एकत्र किया है और सनातन धर्म को प्रधानता दी है। भारतेंदु तथा प्रसाद के बीच के नाटकों के अभाव काल में दासजी के 'महाराणा प्रताप' को अधिक ख्याति रही तथा सफल अभिनय भी हुआ। इस प्रकार जहाँ वह ऐतिहासिक सामाजिक तथा पौराणिक नाटकों की रचना में सफल हुए वहाँ हिन्दी के नाटकों के बीच की कड़ी को भी पूरा किया।

'नि:सहाय हिन्दू' शीर्षक उनका एक मात्र उपन्यास हिन्दुओं की दशा का प्रतीक है। इस उपन्यास में उन्होंने एक मुसलमान को हिन्दुओं का साथी बनाकर यवनों को अपराधी सिद्ध किया है। मूल में गोवध निवारण की समस्या को लेकर यवनों के ऐक्य तथा हिन्दुओं के अनैक्य का बड़ा बुद्धिमानी से चित्रण किया है। अन्त में 'शूरता' परिच्छेद लिखते हुए स्त्रियों के धर्म का निरूपण करना भी नहीं भूले हैं। इस उपन्यास में लेखक ने प्रकृति के सुंदर चित्र तो प्रस्तुत किए ही हैं, गन्दी नालियों तथा कोठरी के टाटों के वर्णन से भारतीय उपन्यास साहित्य में पहला सराहनीय प्रयास भी किया है। उनके इस एक मात्र उपन्यास में हमें यथार्थवादी परम्परा का वह बीज दिखलाई पड़ता है जो आगे चलकर प्रेमचन्दजी द्वारा विकास को प्राप्त हुआ।

निबन्ध लेखक के रूप में उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुए अपने विचारों का परिचय दिया है। उनके निबन्धों में जहाँ हम विचारों की प्रधानता पाते हैं, वहाँ उनकी शैली में प्रवाह तथा रोचकता के कारण आनन्द भी मिलता है। 'हिन्दी क्या है', 'मुसलमानी दफ्तरों में हिन्दी', 'हिन्दी होने से मुसलमानों को सुबीता होगा', 'कुछ प्राचीन भाषा कवियों का वर्णन', 'विक्टोरिया शोक प्रकाश', 'पञ्च', 'स्वर्ग की सैर', 'लार्ड कर्जन' 'भाषा कविता की भाषा' तथा 'पुरातत्व' शीर्षक निबन्धों में उनके व्यक्तित्व के साथ सफलता लक्षित होती है। 'होली है' शीर्षक निबन्ध में उनके शिष्ट हास्य का रूप दिखलाई पड़ता है।

जीवन चरित्र लिखने का कार्य साधारण नहीं है। लेखक को साहित्य क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही नायक का चरित्र लिखना होता है। उसमें व्यर्थ तथा अनपेक्षित सामग्री जोड़ने का उसे अधिकार नहीं रहता। दासजी ने इस क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके जीवन चरित्रों के नायक या तो कोई ऐतिहासिक पुरुष है अथवा साहित्यिक कवि या लेखक। उनके 'जीवन चरित्रों' में बहुधा प्रामाणिक सामग्री का ही आधार लिया गया है। 'सूरदास', 'तुलसीदास', 'कविवर बिहारीलाल', 'नागरीदास का जीवन चरित्र' आदि उनके जीवन चरित्र इसके प्रमाण हैं। 'बाप्पारावल', 'ईश्वर चन्द्र विद्यासागर' शीर्षक से महापुरुषों के जीवन चरित्र भी शिक्षाप्रद हैं और लेखक ने इन्हें नीतिशिक्षा के उद्देश्य से ही लिखा था। उनकी ख्याति उनके 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन चरित्र' पर आधारित है, कारण भारतेन्दुजी का विस्तृत तथा प्रामाणिक जीवन-चरित्र इनके द्वारा लिखा गया है, जिसमें लेखक ने अपेक्षित तथा अनावश्यक किसी भी बात पर उपेक्षा दृष्टि नहीं रक्खी है।

दास जी का इतिहास प्रेम प्रसिद्ध ही है। आपको इतिहास का अभाव खटकता था। 'पुरातत्व' शीर्षक लेख में उन्होंने इतिहास के खोज के कुछ नियम दिए हैं तथा आशा भी प्रकट की है कि जीवन चरित्रों तथा लेखों में उन्होंने इतिहास के अभाव के कारण जो-जो कठिनाइयाँ अनुभव की हैं, व्यक्त की हैं। इसी कारण उन्होंने 'सामयिक पत्रों के इतिहास' लिखने का प्रण ठाना था और उसे पूर्ण भी किया। उनका यही विचार था कि यदि ५० ६० वर्ष के इन समा-

चार पत्रों के पुराने इतिहास का सङ्कलन न हुआ तो सम्भवत भविष्य में लोगों को इसका अभाव कष्टप्रद हो और समयादि निर्णय में उन्हें कठिनाई पड़े। आपने अपने इस 'सामयिक पत्रों के इतिहास' में केवल समाचार पत्रों की गणना मात्र ही नहीं की है, वरन् साथ में उनका आरम्भकाल, अन्तकाल, सम्पादक का नाम तथा मूल्य आदि का विवरण भी दिया है। साथ में तत्कालीन समाचार पत्र सम्बन्धी सरकारी नियमों का भी उल्लेख दिया है।

दासजी की प्रतिभा का परिचय हमें उनके गद्य साहित्य में ही नहीं वरन काव्य रचना में भी प्राप्त होता है। स्पष्ट भारतेन्दु काल का साहित्य गोष्ठी साहित्य है। उस समय प्रबन्ध काव्य तथा महाकाव्य की रचना का प्राय अभाव था। तत्कालीन कवियों के सामने देश की दयनीय दशा थी तथा सामाजिक अस्त व्यस्तता। इसी कारण उनके काव्य में देश के पतन, पतन के कारण, अंग्रेजी राज्य की सुविधाओं और कष्टों, सामाजिक, धार्मिक पतन और विविध सुधारों तथा तत्सम्बन्धी अपने विचारों, भाषा, स्वदेशी प्रचार, स्वाधीनता, भारतमाता की रक्षा सदृश विविध विषय सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है। दासजी प्राय 'सरस्वती', 'कवि वचन सुधा' आदि पत्रिकाओं में लिखा करते थे। 'मकडानल पुष्पाञ्जलि', 'विजयिनी विलाप', 'पृथ्वीराज प्रयाण', भारत बारहमासा', 'जुबिली', 'प्रताप विसर्जन', 'कृषक की विदाई नए वर्ष की बधाई' शीर्षक उनकी कविताएँ सर्वगुण सम्पन्न हैं। भक्ति तथा शृङ्गार की ओर भी उनकी रुचि थी। 'रामजानकी', 'विनय', 'जानकी जयमाल' आदि कविताएँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। नीति व उपदेश देने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप रहीम के दोहों पर आपकी कुण्डलियाँ 'रहिमन विलास' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'देश दशा' शीर्षक कविता में देश की दुखद अवस्था में सुधार का एक मात्र आश्रय ईश्वर को ही ठहराया है। यह आपकी खड़ी बोली की एक कविता है।

भाषा पर दासजी का सदैव ध्यान रहा। अपने समय के उठे हुए ब्रजभाषा व नाम खड़ी बोली के आन्दोलन के समय भी आपका एक तावरा ही पक्ष था। आप 'भाव अनूठ चाहिए भाषा कोऊ होय' के मत को मानते थे। 'भाषा कविता की भाषा' शीर्षक लेख में आपने अपने मत की पुष्टि की है। प्राय आप ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखते थे, जिनकी सुन्दरता देखते ही बनती है। आपकी भाषा प्रौढ़ तथा व्याकरण सम्मत रही है। खड़ी बोली की एक मात्र कविता 'देश दशा' को छोड़ कर सभी कविताएँ 'ब्रजभाषा' में ही लिखी हैं। गद्य साहित्य में आपने खड़ी बोली का प्रयोग किया है। च्युत संस्कृति दोष जो उस काल के प्राय सभी लेखकों में मिलता है, इनकी भाषा में नहीं पाया जाता।

वस्तुत दासजी का भारतेन्दु युग के साहित्य में ही नहीं वरन् हिन्दी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है। आपने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भिक समय में लिखना प्रारम्भ किया था और मध्यकाल तक साहित्य सेवा करते रहे। उपन्यास क्षेत्र में उन्होंने यथार्थवादी परम्परा का बीजारोपण किया ही, साथ में 'सूरदास', 'नागरीदास' आदि के जीवन चरित्रों द्वारा हिन्दी साहित्य में समालोचना के मार्ग को भी प्रशस्त किया। 'महाराणा प्रताप' नाटक पर तो आपकी ख्याति आधारित ही है। अस्तु, वह सभी प्रकार से आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में सहायक हुए, जिसके लिए हिन्दी संसार उनका ऋणी रहेगा। 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना का श्रेय भी दासजी को ही है। सभा के प्रथम सभापति एवं 'सरस्वती' पत्रिका के प्रथम सम्पादक मण्डल में स्थान रखने के कारण भी उनकी कीर्ति साहित्य संसार में विद्यमान है और रहेगी।

काव्य में छायावाद

प्रो० जवाहरचन्द्र पटनी एम० ए०, बी० टी०

रीतिकालीन काव्य जीवन के बाह्य सौन्दर्य के छलकते चित्र चित्रित कर पाया था उसमें अन्तरंग सौन्दर्य नहीं था। उस समय कवि भाषा, अलङ्कार तथा छंद योजना से कविता-कामिनी को सजाने में लगा हुआ था, इसीलिए हम देखते हैं कि मतिराम, देव, बिहारी तथा पद्माकर की भाषा सुषमा और अलङ्कार पटुता से रीतिकालीन कविता का बाह्य रूप निखर गया था, पर भीतर कंकाल मात्र था। अवश्य कविवर मतिराम, पद्माकर तथा बिहारी के काव्य में हम कहीं कहीं आत्मा का दिव्य प्रकाश पाते हैं पर ऐसे स्थल कितने हैं? 'चमचमात चञ्चल नयन, बिच घुंघट पट झीन' में नारी के रूप का कलात्मक चित्र भले ही हो, पर उसमें नारी के अन्तर्भावों का, उसके अन्तरङ्ग रूप का तथा समस्याओं का विवरण कहाँ है? कनक लता सी कामिनी में कोमलता तथा लचक भले ही हो, पर उसमें अ०रंग सौन्दर्य का अभाव सा ही है। रीतिकालीन काव्य धारा संकुचित क्षेत्र में प्रवाहित थी। उसके पश्चात् हरिश्चन्द्र युग ने काव्य को जीवन के क्षेत्र में मोड़ने का प्रयास किया। फिर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली का परिष्कार किया। उस समय हिन्दी साहित्याकाश के देदीप्यमान प्रदीप गुप्तजी तथा हरिऔध' जी ने अपनी अमर वाणी द्वारा हिन्दी साहित्य को नव जीवन दिया। अब भाषा में ओज आ गया था, माधुर्य और प्रसाद गुणों से प्रभूत कवियों ने इसको सुवाणी बना दी थी, पर उसमें इतनी गहराई नहीं थी। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से नवीन विचारक ऊब गए थे, उधर बँगला साहित्य की प्रतीक शैली (Symbolism) एवं नव रचनाओं से नवीन साहित्यकार प्रभावित हो गए थे। उनकी दृष्टि स्थूल से सूक्ष्म की ओर गई। सांध्य गगन की अरुणिमा और प्राची में उषा का हिम हास कवि को अंतर के सन्देश देने लगे। झरनों के कल गान जीवन के ही गान हो गए। कवि ने अब तुहिन बिन्दुओं को अपनी संवेदनशील आँखों से विरहिणी रजनी के अश्रुरूप में देखा। यही स्थूल से सूक्ष्म की ओर देखने की प्रवृत्ति तथा बाह्य से अंतर में देखने की वृत्ति काव्य में छायावाद कहलाई।

छाया को संस्कृत साहित्य में लावण्य कहते हैं। मोती में आन्तरिक तरलता होती है, वही उस मोती की कान्ति है। शब्द में भी कान्ति होती है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। महाकवि 'प्रसाद' के मतानुसार यही "रम्यच्छायान्तर स्पर्शी वक्रता" वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक का कथन है कि यह उज्ज्वल छाया ही काव्य में रमणीयता लाती है। यही काव्य की कान्ति है, इसी कान्ति को लावण्य कहते हैं। यह लावण्य ही हिन्दी साहित्य में छायावाद के नाम से प्रचलित हुआ। छायावादी कवियों ने अपनी प्रतिभा से सूक्ष्मतम भावों का वर्णन करने के लिए स्वर्णकार की तरह भाषा को भी हृदय की ज्वाला में जलाकर स्वर्णिम बनाया। भाषा का सौष्ठव, भाव प्रवणता, ध्वन्यात्मक एवं लाक्षणिक अभिव्यञ्जना छायावाद की विशेषताएँ हैं।

छायावाद में प्रकृति—जब कवि की दृष्टि अंतरंग सौन्दर्य के निरूपण की ओर गई तब उसे अपनी भावना को मूर्त रूप देने के लिए प्रकृति की मनोहारिणी छटा की ओर जाना पड़ा। प्रकृति को मानव के रूप में उसने देखा। प्रकृति के मधुरतम

गीतों को भी उसने सुना। विहगों के मधुरतम गीत तथा सरित बालाओं के चाँदनी रात में नृत्य कवि को आत्म विभोर करने लगे।

कविवर 'प्रसाद', पन्त, निराला, तथा सुश्री महादेवी की कविता ने हिन्दी साहित्य को नव जीवन दिया। 'आँसू' सा सुन्दर काव्य, कामायनी सा रूपक, नीरजा से अश्रु भींगे गीत, पल्लविनी के कोमल पल्लव तथा 'गुञ्जन' के उन्मन गुञ्जन किसको आत्म विभोर नहीं करेंगे। कामायनी में 'श्रद्धा सुन्दरी का कितना अनुपम वर्णन हुआ है। प्रकृति के सुन्दर चित्रों में सुन्दरी के सौन्दर्य की मनमोहक छटा तो देखिए.—

> "कौन हो तुम बसन्त के दूत
> विरस पतझड में अति सुकुमार,
> घन तिमिर में चपला की रेख,
> तपन मे शीतल मन्द बयार,"
>
> —'कामायनी'

छाया या माया:—छायावादी कवि ने प्रकृति का दूसरा रूप भी लिया है। प्रकृति ब्रह्म की छाया है। यह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, इसीलिए उसमें इतनी रमणीयता तथा कोमलता है। सुश्री महादेवी ने छायावाद में सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से इसको आत्मा का सजीव गान बना दिया है। प्रकृति के अणु और परमाणु में उस परोक्ष सत्ता का रूप निखरा हुआ है। प्राची के तथा सन्ध्या के अरुणिमा आकाश में किस चित्रकार ने मनोहर चित्र बनाए हैं ? फूलों में सौरभ तथा ओसकणों का मन्द मन्द हास क्या उस परोक्ष का परिचय नहीं देते ? इस तरह कवि का हृदय विश्व की लघु से लघु वस्तु के प्रेम पाश में बँध जाता है। यही छायावाद की विशेषता है। कवियित्री महादेवी की इन पंक्तियों में विश्वात्मा मे लीन होने की कैसी सुन्दर अभिव्यञ्जना है:—

> मैं मतवाली इधर-उधर,
> प्रिय मेरा अलबेला है
> मेरी आँखों में ढलकर
> छवि उसकी मोती बन गई,
> उसके घन प्यालों में है
> विद्युत सी मेरी परछाई
>
> —'आधुनिक कवि'

प्रकृति के इस रूप को छायावादी कवि ने अपनाया है, पर छायावाद रहस्यवाद मे आत्मा की छाया मात्र है।

व्यक्तित्व प्रधान काव्य.—छायावादी कविता व्यक्तित्व प्रधान (Subjective) कविता है। कवि किसी भी भाव, घटना अथवा विषय का वर्णन करता है, उसमें उसके हृदय का ही रङ्ग होता है। रामायण की कहानी आदि कवि वाल्मीकि रामायण में वर्णित है, तुलसी के 'मानस' में भी 'साकेत' में भी तथा केशव की रामचन्द्रिका में भी, पर उन सबमें कवि के व्यक्तित्व की झलक विशेष तौर पर पाई जाती है। इस काव्य में कवि का आत्म प्रकाश (Intution) जहाँ-जहाँ चमकता है। भक्तिकाल के कवियों में यह आत्म प्रकाश (Intution) था, इसीलिए सीधी और सरल भाषा में भी भक्त कवि दादूदयाल ने ईश्वर के रहस्य को कितनी सुन्दरता से बता दिया:—

> "केते पारिख पचि मुए, कीमत कही न जाय।
> दादू सब हैरान हे, गूँगे का गुड खाय।"
>
> —'दादू'

रीति कालीन कवियों में यह 'आत्म प्रकाश' नहीं था, इसीलिए कविता में माधुर्य होते हुए भी, आत्म प्रकाश के अभाव के कारण वह जीवन के आंतरिक सौन्दर्य से हीन थी।

छायावाद में शृङ्गार.—छायावाद रहस्यवाद नहीं है। हाँ इसमें लौकिक एवं अलौकिक शृङ्गार का सुन्दर समन्वय हुआ है। महादेवी के शब्दों में "स्थूल एवं सूक्ष्म की सामञ्जस्य वृति" छायावाद की विशेषता है। छायावादी कवि ने नारी के अतींद्रिय

रूप को अपनाता है। 'आँसू' काव्य में कवि 'प्रसाद' ने लौकिक प्रेम को अलौकिक रूप दिया। कवि के विरह में सिन्धु बुलबुलों के मिस रो रहा है तथा वसुन्धरा अपने बालों को नभ मण्डल में बिखरा कर विरहिणी नारी की भाँति विरह में लीन है।

बुल बुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी
—'आँसू' (प्रसाद)

इस तरह छायावाद में लौकिक से अलौकिक प्रेम का सुन्दर समन्वय हुआ है।

छायावाद में भाषा का रूप.—छायावाद के कवियों ने रसानुकूल शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही भाषा में ध्वन्यात्मक सौन्दर्य भी विशेष तौर पर पाया जाता है। 'नौका विहार' में ऊर्मियों पर नौका के तिरने का ध्वनिमय अनुपम चित्र तो देखिये :—

मृदु मन्द मन्द मन्थर मन्थर
लघु तरणि हँसनि सी सुन्दर।
—नौका विहार

लहरों का थोड़े से शब्दों में एक 'सुन्दर,चित्र' कैसा बन गया है :—

'चाँदी के साँपों सी रल मल'
—'नौका विहार'

इसी तरह से प्रलय काल के तूफान का एक भयङ्कर वर्णन कितना रसानुकूल बन गया है:—

"उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रहीं फेन उगलती,
फन फैलाए व्यालों सी।"
—कामायनी (चिंता सर्ग)

गरजतीं हुईं सिन्धु लहरियों को फन फैलाये डसने वाले भयङ्कर सर्पों के समान बताकर प्रलय काल के चित्र को कितना सजीव बना दिया है।

इसी तरह से भाषा में सकेतता (Suggestivenesa) छायावाद की विशेष देन है। जैसे:—

'बिन्दु में थी तुम सिन्धु अनन्त,
एक स्वर में समस्त सङ्गीत।'
—(पल्लविनी)

यह उक्ति बिहारी की गागर में सागर भरने वाली उक्ति से भी अधिक सुन्दर है।

कुछ भ्रान्तियाँ—

छायावाद के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ भी फैलीं। इसका कारण यह था कि कुछ मनचले कवि सस्ती भावुकता में बहने लगे; उसमें सुरबालाओं के गान तथा मधुशाला के छलकते प्याले दिखाई देने लगे, इसलिए कुछ लोग इसे 'हालावाद' समझने लगे। यह केवल भ्रान्ति ही थी क्योंकि छायावाद शुद्ध काव्य है और इस काव्य का सृजन विदग्ध कलाकार ही कर सकता है। जिस कलाकार ने बुद्धि तथा हृदय का सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया, जिसने बाह्य और आन्तरिक जगत को अपनी प्रतिभा से तथा हृदय के रङ्ग से नहीं रङ्गा, वह सच्चे काव्य का सृजन कर ही नहीं सकता। 'हालावाद' शुद्ध काव्य नहीं है। उसमें मधुबालाओं की चञ्चल आँखें, तथा बासना के जलते दीप भले ही हों, पर उसमें काव्य की आन्तरिक रमणीयता कहाँ है?

दूसरी भ्रान्ति छायावाद के लिए यह फैली हुई है कि वह पलायन् प्रवृत्ति (Escapi - Mentality) है। अँग्रेजी में 'प्रतीक' साहित्य (Symbolism) को भी पलायनवाद कह कर उसका उपहास किया गया था, पर उसके महान् कवि योटस (Yeats) के सुन्दर काव्य को जब लोगों ने पढ़ा तो वे मन्त्र मुग्ध हो गए। कवि एक सुन्दर जगत् की कल्पना करता है, वह जीवन को सौन्दर्य में डूबा देखना चाहता है, वह जीवन की मधुर भावना पला-

यन वृत्ति नहीं कही जा सकती। एक किसान हरे भरे खेत में जब जीवन के एकाकीपन से ऊब जाता है, तब वह किसी झुरमुट में बैठ कर प्रेम गीत गाता है, उसके कठिन जीवन में उस गीत से सरसता आती है। एक गड़रिया भेड़ चराते हुए किसी पहाड़ी की चट्टान के तले बैठ कर रसीली प्रेम कहानी को कहता है, जीवन का नया दीप जलता है, और वह आत्म विभोर होकर जीवन की कठोरता को भूल जाता है। छायावादी कवि इस दृष्टि से स्वप्न द्रष्टा है।

आचार्य शुक्ल छायावादी काव्य को शैली का प्रकार मानते हैं। पर मैं इसमें उनसे सहमत नहीं हूँ। आँग्ल साहित्य के प्रतीकवाद (Symbolism) अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) स्वच्छन्दतावाद (Naturalism) आदि शैली के प्रकार हैं, ऐसा छायावादी काव्य नहीं। छायावादी कविता हृदय की स्वाभाविक अनुभूति से एवं आत्मा की प्रेरणा से सृजित हुई है। इसलिए यह शुद्ध काव्य है।

छायावादी कवि पर यह आक्षेप है कि वह साहित्य-परम्परा को निभा नहीं सका है, परन्तु यह बात असत्य है। छायावादी काव्य में भक्तिकाल के दिव्य सुमन हैं तथा रीतिकालीन भी। भारतीय दर्शन की छाप भी छायावाद में अमिट है। जो सच्चे कलाकार हैं वे अपनी प्रतिभा से उत्तम साहित्य का सृजन कर सके हैं और जो कवि का हृदय नहीं रखते, वे रस विरसे मिट्टी के खिलौने ही बनाते हैं। ये खिलौने कवि के विरह स्रोत में बह जाते हैं, उसकी संवेदना में उनका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। कवि के केवल वे मर्मस्पर्शी गीत हृदय में रह रह कर गूँजते हैं, जो वेदना से ओतप्रोत हों। जैसा कि महाकवि 'शैले' ने कहा है —

"Sweetest are the songs, that tell of saddest thoughts."

"हमारे मधुरतम गीत वे हैं जो वेदना से भरे हुए हों।" छायावाद में यही संवेदनशीलता है, ये ही वेदना के मधुरतम गान हैं।

(पृष्ठ २०६ का शेष)

अपने विषय का पूर्ण ज्ञान है। अपने मत रखने में उन्हें झिझक नहीं। बात यह है कि विवेच्य विषय का उन्हें क्लियरकट आइडिया (निर्भ्रांत विचार) जो रहता है। 'प्रगति शील' रचनाओं तथा 'मनोविश्लेषण' के विषय में उनके विचार 'सावधानी की आवश्यकता' में पठनीय हैं।

'बिना किसी झिझक के यहाँ कह दूँ कि मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ जिनमें संसार को नये सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प न हो'।

× × ×

सत्य सार्वदेशिक होता है। मनोविश्लेषण शास्त्र मनुष्य की उद्भावित विचार निधियों का एक अकिंचन अंश है।'

आचार्य डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी आज हिन्दू विश्व विद्यालय, काशी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं, जहाँ से आप तत्व बोधक चिन्तनशील समीक्षाओं का सृजन ही नहीं, समीक्षकों का निर्माण भी करते रहेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। हिन्दी की सेवा करने के हेतु, द्विवेदीजी के लिए वेद वाणी में हम प्रार्थना करते हैं 'जीवेत् शरद शतम्।'

आलोचक प्रवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रो० शिवबालक शुक्ल एम० ए०

"इस तृतीय-उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों के आगे की विशेषताओं और उनकी अन्तः प्रकृति की छान बीन की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, दीनदयाल गिरि और कबीरदास की विस्तृत आलोचनाएँ पुस्तकाकार भूमिकाओं के रूप में निकलीं।" आ० शुक्ल इस कथन में अपनी, दीन, डा० बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित पुस्तकों की ओर संकेत कर मौन हो गये। किन्तु टेनीसन के शब्दों में—

Old order changeth yeilding place to new के अनुसार शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के सफल पथिक रहे गुरुवर डा० बड़थ्वाल और श्रद्धेय डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। द्विवेदीजी ने अपने व्यापक विवेक, उद्‌भावना प्रवण हृदय, अनुसंधित्सु मस्तिष्क एवं तत्वग्राहिका प्रतिभा का प्रश्रय ले सूर कबीर, नाथ सम्प्रदाय पर गंभीर गवेषणा पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के द्वारा सन्त-साहित्य का, जो काल की धूमिल पटी में विलीन होता जा रहा था (है) संरक्षण-प्रयास किया।

आधुनिक युग पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के हेतु प्रख्यात है। द्विवेदीजी आपाद मस्तक संस्कृत परिधान युक्त हिन्दी साहित्य में आये। गुरु परिपाटी का सम्यक्‌ शिक्षण सांस्कृतिक केन्द्र से हुआ और बोलपुर के शान्ति-निकेतन में गुरु के रेणुरंजित चरण सरोज पर उनका मस्तक टिक गया। शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर वे चले अवश्य हैं पर गम्भीर अध्ययन और मौलिकता को साथ लिये हुए। बङ्गाली गुरु और बङ्ग समाज के सान्निध्य का प्रभाव उन पर पड़ा और उनकी कृतियाँ संवेदना-पूर्ण हो गईं। जबकि इसी विचार-धारा के आलोचक डा० नगेन्द्र और बाबू गुलाबराय का शास्त्रीय संस्कार अंगरेजी सम्पर्क से रोमांटिक हुआ।

उनके अध्ययन और मौलिकता के प्रमाण में मैं उन्हीं के शब्द उद्‌धृत करूँगा। 'अशोक के फूल' पुस्तक में आप कहते हैं—

'अच्छा समझिए या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से भी तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय। —'मेरी जन्म-भूमि' शीर्षक लेख

सचमुच 'कबीर' जैसे रुक्ष कवि पर आपकी दोष-पूर्ण पुस्तक उक्त कथन का अनुमोदन करती है। कबीर के रेत में से स्वर्ण-कण की तो बात ही क्या स्वर्णराशि एकत्र करना द्विवेदीजी की सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति का परिचायक है। कबीर विषयक निम्न पंक्तियाँ निरर्थक सिद्ध हुईं।

'कहा जाता है कि कबीर में रेत अधिक है, ढूँढ़ने से बड़ी कठिनाई से कहीं कोई स्वर्ण कण मिल पायेगा।' —श्री बल्देवप्रसाद नौटियाल

निर्णयात्मक समीक्षा के पोषक, तत्वबोधक आलोचक द्विवेदीजी भारतीय समालोचना-सिद्धान्त के सफल समर्थक हैं। अपने 'विचार और वितर्क' निबन्ध संग्रह में एक स्थान पर आप लिखते हैं:—

'प्राचीन निर्णयात्मक समालोचना (जुडीशियल क्रिटीसिज्म) के विरोध में इसका नाम दिया गया है अभ्यूहमूला समालोचना (inductive criticism)'

असल में सवाल जुडीशियल या इनडक्टिव आलोचना का नहीं है, सवाल है एक सामान्य निर्णायक साधन का। भारतवर्ष के पण्डितों के अनेक रगड़-झगड़ के बाद एक सामान्य साधन

(कॉमन स्टैंण्डर्ड) बनाने की चेष्टा की थी, पर काल परिवर्तन के साथ वह अब भी थोथा हो गया है फिर भी उनके सुझाए हुए मार्ग से नये स्टैंडर्ड का उद्भावन किया जा सकता है, किन्तु दुर्भाग्यवश अपने आलोचकों को मैथ्यू आर्नल्ड से फुर्सत ही नहीं मिलती, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट की सुने कौन ?

द्विवेदीजी की दृष्टि बड़ी पैनी है। उनके सूक्ष्मदर्शी नेत्रों में प्राच्य प्रणाली का गुणरूपी अञ्जन लगा हुआ है। पश्चिमी चश्मे से (अनडिवेटेबिल नंबर के कारण) छोटा बड़ा देखने में अन्तर पड़ सकता था। 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'नाथ-सम्प्रदाय', 'प्रायश्चित की घड़ी', 'मेरी जन्मभूमि', 'पुरानी पोथियाँ' आदि से स्पष्ट है कि वे भावुक से अधिक अन्वेषक और आनुसन्धानिक हैं। पुरातत्व की भाँति वे कवित्व का भी स्थापत्य स्थापित करते हैं। अतः उनकी शैली प्रतिपादन की ओर है। उनकी खोज-भूमि हृदय की रमणीक स्थली है अत: प्रतिपादन शैली में भी चारुता है। उनमें पाण्डित्य और वैदग्ध्य का संयुक्तीकरण है। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में शिल्पी लेखक का कौशल परिलक्षित है।

द्विवेदीजी की भाषा में उर्दू ज़ुबान की शीरीं कलामी एवं लचक है, साथ ही बँगला की सहज मिठास और स्निग्धता भी। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसमें संस्कृत के शब्दों का अभाव है। कहना न होगा कि उनके निबन्धों में संस्कृत तत्सम शब्दावली का प्रयोग साधारण से कुछ अधिक है। 'अशोक के फूल' के प्रकाशक के शब्दों में 'कहीं-कहीं पर कठिन शब्दों का प्रयोग सामान्य पाठक को खटक सकता है, लेकिन प्रत्येक शब्द के साथ कुछ ऐसा वातावरण रहता है कि कभी कभी कठिन शब्दों के प्रयोग से बचा नहीं जा सकता।" हाँ उर्दू और अँगरेजी के पारिभाषिक और दैनिक बोलचाल के शब्द उसी भाँति बे रोक टोक प्रयुक्त हुये हैं जैसे बहन के घर भाई का प्रवेश। उदाहरण के लिए उनके 'कबीर' ग्रंथ के दो उद्धरण पर्याप्त होंगे।

"कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना की ग्रन्थि या इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स पाया जाता है। वे मानों लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि है, मानों चिलमन पर रुकने वालों के आक्रोश हैं।"

अँगरेजी पठित समाज के समक्ष इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स आदि शब्द व्याख्याता शैली के परिचायक प्रतीत होते हैं। और आगे बढ़िये—

'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। और वे वाणी के डिक्टेटर थे ······ ······इस प्रकार का काव्यत्व, उनके पदों में फोकट माल है, बाई प्रॉडक्ट है'।

अब अँगरेजी के उन शब्दों को लीजिए जिनको आमन्त्रित किये बिना लेखक पाठकों को अपने भावों का मानवीकरण न करा पाता। वे उन शास्त्रीय विचारों से सर्वथा मुक्त थे जो सामाजिक जीवन को स्थितिशील (स्टेटिक) देखने में ही समाज का कल्याण समझते हैं। × × × उसमें उनके आत्मविश्वास को भी आक्रामक (एग्रेसिव) बना दिया था और उनकी लापरवाही को रक्षणात्मक (डिफेन्सिव)।

अँगरेजी विशेषण और हिन्दी विशेष्य की गङ्गा यमुनी 'हिस्टीरिक प्रेमोन्माद' जैसे शब्द युग्म में द्रष्टव्य हैं'। संस्कृत तत्सम शब्दावली युक्त भावुकता भरित यह अवतरण पठनीय है—

'उस समय मैं एक बार याद करता था उन लाख लाख अनुद्गत यौवना कुमारी ललनाओं को जिन्होंने अनादि काल से अभिलाषित वर की कामना से गङ्गा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख मांगल्य-दीप बहा दिये होंगे। फिर याद आई मुक्तिकाम महात्माओं की जिनके तप.पूत ललाट का असंख्य प्रतिपात मङ्गा

की प्रत्येक तरङ्ग ढोती जा रही थी। और अन्त में याद आई गुप्तकाल की ललनायें जिनके बदन चन्द्र के लोध्र-रेणु से नित्य गङ्गा का जल पाटुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चञ्चल लीला विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा'। —'गतिशील चिन्तन'

उर्दू के शब्दों महसूस, गोया, आजमाया, मनूत, कतइ का प्रयोग यत्र तत्र सर्वत्र है। सलीस उर्दू की रवानगी के साथ भाषा सम्बन्धी उनके विचार मननीय हैं।

'हम भाषाओं की एक लस्टम पस्टम रेलपेल न खड़ी कर दें जो भविष्य में हमारी सभी योजनाओं के लिए घातक साबित हो। × × × हमें ऐसी भाषा बनानी है जिसके द्वारा हम अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा निवृत्ति का सन्देश दे सकें। हम मानें या न मानें दुनियाँ बुरी तरह से छोटी होती जा रही है, आँख मूँद लेने से ही अँधेरा नहीं हो जाता'।

मुहाविरों का प्रयोग भी उनकी भाषा में हुआ है—

'सौ बात की बात यह है', 'मानो अट्टहास करती हुई बिजली को बिजली मार गई हो', 'आसमान में मुक्का मारना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं माना जाता बिना लक्ष्य के तर्क करना भी बुद्धिमानी नहीं'

अब उनकी शैली पर आइए। शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति का अनुसरण द्विवेदीजी अपना कर्त्तव्य समझते हैं। निर्णय और कारण पर वे अधिक बल देते हैं। एकाङ्गी समालोचना के वे विरोधी हैं। न वे डा० रामविलास शर्मा तथा श्री शिवदानसिंह की भाँति कोरा मार्क्सवादी दृष्टिकोण रखते हैं और न छायावादी और रसवादी समीक्षा में डा० नगेन्द्र और श्री इलाचन्द्र जोशी की भाँति मनोविश्लेषण के महत्त्व को ही मानते हैं और न अपने समाजवाद की ही प्रतिष्ठा करते हैं। हाँ वे साहित्यिक सम्प्रदाय का आश्रय अवश्य लेते हैं। साहित्य के दो अङ्ग हैं आत्माभिव्यक्ति और परबोध। द्विवेदीजी आत्माभिव्यक्ति के साथ परबोध की अनिवार्य आवश्यकता समझते हैं इसीलिए 'समालोचकों की समीक्षा' शीर्षक निबन्ध में 'सुमन' और 'गिरीश' की समीक्षा शैली के अभाव इस प्रकार दिखाये हैं—

'सुमनजी को कवि की दृष्टि प्राप्त है। इसीलिए वे कवि के अन्तर में प्रवेश कर सके हैं, यह समझ में आ जाता है। सवाल यह रह जाता है कि वह अन्तर में प्रवेश करा सके हैं या नहीं।'

'गिरीशजी की पुस्तक में विश्लेषण और निर्णय तो है पर उसके बाद जो क्यों, कैसे आदि के प्रश्न आधुनिक पाठक के चित्त में अपने आप उठते हैं इनका कोई सन्तोष जनक उत्तर नहीं मिलता।'

सुयोग्य अध्यापक की भाँति वे बात को इस प्रकार समझा देते हैं कि नचिकेता पाठक (जिज्ञासु पर अनवगत) के सन्देह दोल पर डोलने वाले मन की प्रत्येक शङ्का का समाधान आप ही हो जाय। ऐसा क्यों है—वह पूछ ही न सके। अथवा सफल अभिभाषक की भाँति आपके प्रमाण अकाट्य और दलीलें तर्कातीत तथा मार्के की होती हैं। बेचारे न्यायाधीश और विरुद्धी वकील को कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, शास्त्रीय समीक्षा शैली उन्हें अतिप्रिय है। 'साहित्य का मर्म' में उनके सशक्त संकेत ऐसी समीक्षा की ओर मिलेंगे। विषय प्रतिपादन में वे पहले आधार का वर्णन करते हैं। 'द्विवेदीजी की देन शैली' लेख में शैली भेद के तीन प्रमुख कारण बताये हैं।

(क) स्वभाव संस्कार और शिक्षण की भिन्नता (ख) खास युग और खास वस्तु (ग) शास्त्रीय उपस्थापन—इस शास्त्रीय उपस्थापन में (१) वक्तव्य वस्तु के बौद्धिक (२) भावावेश मूलक और (३) सामञ्जस्य बोध मूलक उपकरण शामिल हैं।

'प्रेमाश्रम का प्रतिपाद्य' शीर्षक निबन्ध ही लीजिए। आलोचना के पूर्व सिद्धान्तों का उल्लेख

करते हुए ग्रन्थ समझने के लिए छः वस्तुओं का निर्देश करते हैं—

उपक्रमो प सहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्,
अर्थवादो पपत्तीच लिंग तात्पर्य निर्णये।

फिर आलोचना का प्रारम्भ इस प्रकार होता है। 'मूल कथा का न तो उपक्रम ही है न उपसहार ही।'

उनके निबन्धों, को कई रूपों में विभाजित किया जा सकता है। पर इस विभाजन में परिवर्तन हो सकता है।

(१) सस्मरणात्मक (वर्णन प्रधान) एक कुत्ता और एक मैना, अशोक के फूल, बसन्त आ गया है।

(२) चिन्तनात्मक अनुसधान एव (गाम्भीर्य युक्त) ये निबन्ध शोध प्रेरक हैं प्रायश्चित की घड़ी 'मेरी जन्म भूमि' पुरानी पोथियाँ।

(३) व्यावहारिक समीक्षात्मक—प्रेमचन्द का महत्व, प्रसादजी की कामायनी, दादू (पुस्तक समीक्षा) प्रेमाश्रम का प्रतिपाद्य।

(४) सैद्धान्तिक—मधुर रस की व्यञ्जना।

(५) सास्कृतिक—मेरी जन्म भूमि, हमारी सस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध, भारतवर्ष की सास्कृतिक समस्या, भारतीय सस्कृति की देन।

(६) ज्योतिष सम्बन्धी—नया वर्ष आ गया, पण्डितों की पञ्चायत, भारतीय फलित ज्योतिष।

(७) व्यक्तिगत कहानी जैसे निबन्ध—गतिशील-चिन्तन।

मुझे द्विवेदीजी के कुछ निबन्ध आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और कुछ भी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की शैली जैसे लगे हैं। जैसे 'हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री', 'पुरानी पोथियाँ' आदि लेख स्व० आचार्य द्विवेदी के 'योरप के विद्वानों के सस्कृत लेख और देवनागरी लिपि' तथा 'अग्रेजों का साहित्य प्रेम' सदृश हैं। 'अशोक के फूल' और 'बसन्त आ गया है' में बख्शीजी का 'रामलाल पण्डित' जैसा कौशल मुझे मिला। 'बसन्त आ गया है' निबन्ध के अन्त में आप लिखते हैं।

'मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मजाक ही है। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि बसन्त आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार।

द्विवेदीजी की प्रवृत्ति आनुसधानिक है। विषय गम्भीर है ही और इस गाम्भीर्य के कारण जटिल गुत्थियों को उन्हें सुलझाना पड़ा है। उन गुत्थियों के सुलझाने में सम सामयिक अन्य समीक्षकों की भाँति वह पाठक को उलझन में नहीं डाल देते। डा० नगेन्द्र और शुक्लजी में यह दोष हम यत्र-तत्र पाते हैं। अपने कथन की सम्पुष्टि वे सस्कृत के आचार्यों और देशी विदेशी विद्वानों के उद्धरण देकर करते हैं। वे प्रत्येक बात में बाल की खाल निकालने वाली प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। 'कुन्झटिका छन्न आकाश में दूर तक' उड़ने की चाह है जो उन्हें। कहीं-कहीं उद्धरण लम्बे अवश्य हो गये हैं पर सकारण। 'वैष्णव कवियों की रूपोपासना' शीर्षक निबन्ध में (विचार और वितर्क पृष्ठ ७,८) श्री रवीन्द्रनाथ का एक लम्बा उद्धरण 'जो लोग ... ... पर्व है।' दिया है। आप उसके नीचे लिखते हैं—

'इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक स्वरूप से उतर कर भावात्मक रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गई है।

जुलाहा शब्द की व्युत्पत्ति 'कबीर' ग्रन्थ में तथा कन्दुपक्व शब्द में पाव रोटी के पर्याय का भ्रम निवारण अपने गाँव के कोंदू जाति के भड़भूंजे कन्दु को सम्बद्ध बताकर किया है। विविध जातियों का नाम वैसा क्यों है इसके कारण विचारपूर्ण हैं।'

गम्भीर विषयों के प्रतिपादन का ढङ्ग आचार्य शुक्ल की भाँति ही सरस है कारण कि उनकी कृतियाँ हास्य और व्यग्य से युक्त होती हैं। यह बात नगेन्द्रजी में बहुत खटकती है। उनके हास्य का उदाहरण उनकी निम्न पंक्तियों में मिलता है।

'.......ऐसा न मान कर ऐसा मानने वालों की परस्पर विरोधी उक्तियों पर अगर कोई सचमुच गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसके लिए शीघ्र आपके बगल में जो पागलखाना है उसमें शरण लेनी पड़ेगी'। और आप निश्चित मानिए कि यदि ऐसे लोग कुछ अधिक संख्या में आगरे के उस गृह में जाने लगे तो आपको महत्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखों की कमी भी नहीं पड़ेगी। और यदि पाठकों ने भी उन विचित्र मतों को गम्भीरता पूर्वक स्वीकार करना शुरू किया तो आगरे के अधिकारियों को स्थान बढ़ाना पड़ेगा। पर आपको आगरे के बाहर से लेख माँगने पड़ते हैं, यही इस बात का सबूत है कि कोई साहित्यिक आलोचनाओं को गम्भीरतापूर्वक पढ़ता नहीं।

यह पढ़कर स्मित हास बिखेरते हुए अधर खुल पड़ेंगे। तथ्य निरूपण में आपके इस हास्य विनोद ने (साहित्य सन्देश के) सम्पादक-त्रय को हँसा अवश्य दिया होगा।

स्मित से कुछ बढ़े हुए हास की चाँदनी यहाँ, चलिए—'मैं रथी रूप में आसीन हुआ, सारथी ने अवज्ञ के साथ अपना पिता पुत्र सम्बन्ध स्मरण करते हुए चाबुक सँभाला।

यहाँ रेखाङ्कित शब्दों में गुलेरीजी के अमृतसरी इक्केवाले याद आ जाते हैं जो घोड़े की नानी से अपना सम्बन्धनैकट्य निदर्शित करते हैं।

कौतूहलपूर्ण हास्य की भी कमी नहीं है। 'विचार और वितर्क' की भूमिका में आप लिखते हैं—

'एकाध लेख व्योमकेश शास्त्री के हैं। फिलहाल वे मेरे ही नाम छप रहे हैं क्योंकि जिन मित्रों की प्रेरणा से ये लेख संगृहीत हुए हैं उनका पक्का मत है कि शास्त्री के विचार और हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार वस्तुतः एक ही हैं। मैंने मित्रों के मत में बाधा करना उचित नहीं समझा।'

इङ्गितकोविद पाठक समझ गये होंगे कि यह रहस्य क्या है? यह व्योमकेश महाशय कौन हो सकते हैं?

अब उनके इन्द्रायणी व्यंग्य का एक नमूना देखिए। व्याजनिन्दा परक यह अवतरण पठनीय है—

'आसमान में मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है, और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रिलोक विकम्पित। यह क्या कम साधना है।'

—क्या आपने हमारी रचना पढ़ी है

द्विवेदीजी प्रतिपाद्य विषय में व्यक्ति और विषय दोनों का सन्तुलित आकलन चाहते हैं। कृति की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षा उन्हें प्रिय है। आलोच्य लेखक या कवि की रचना से उनका सम्बन्ध अधिक रहता है लेखक से वे उतने ही अंश में सम्बद्ध हैं जितने में उनका काम चलता है। आज के कुछ समीक्षक कभी-कभी लेखकों की रचना की समीक्षा न कर लेखक के व्यक्तित्व पर आक्षेप करने लगते हैं। श्री मोहनलाल द्विवेदी ऐसे आलोचकों के लक्ष्य बन चुके हैं। द्विवेदीजी लेखक और कवि के प्रति उदार दृष्टिकोण और सहानुभूति रखते हैं और इस प्रकार Author Fallacy (व्यक्तिगत दोष निर्देश) से वे नितान्त बचे हैं। समीक्षा में गुण ग्राह्य दोषा त्याज्या का सिद्धान्त उन्हें सर्वथा मान्य नहीं पर श्री रामनरेश त्रिपाठी के यह लिखने पर कि 'सत्य शिव सुन्दरम्' संस्कृत का प्राचीन वाक्य है, आप अपने शील का परिचय देते हुए लिखते हैं, 'त्रिपाठीजी से जरा सी गलती हो गई है.....'

उनकी शैली पर रवीन्द्र की शैली का प्रभाव है जो काव्यमय है, पर है वह अति स्पष्ट और बोधगम्य। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसा मरुस्थल में शाद्वल उगाने का प्रयास उनमें अवश्य नहीं है। उन्हें

(शेष पृष्ठ ३०४ पर)

गुप्तजी के आलोचक

श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम० ए०

आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी साहित्य सेवा से हिन्दी का ही नहीं, समस्त देश का मस्तक ऊँचा किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के उद्धार की चिन्ता ने इस अमर साहित्य स्रष्टा को इतिहास के पृष्ठों में से श्रेष्ठतम कथानकों के चुनाव के लिए प्रेरित किया है। यही कारण है कि महाभारत, रामायण, बौद्ध, राजपूत, सिक्ख, मुस्लिम आदि कालों की संस्कृति की विचार-धारा को व्यक्त करने के लिए उसने अपने महाकाव्यों और खण्ड काव्यों का सृजन किया है। इसके साथ ही उसका हृदय निरन्तर वर्तमान परिस्थिति से भी प्रभावित होता रहा है। गान्धीवादी विचारधारा ने कवि को उसी प्रकार प्रभावित किया है जिस प्रकार उपन्यासकार प्रेमचन्द को उस विचार-धारा ने प्रभावित किया था। गद्य में प्रेमचन्द और पद्य में मैथिलीशरण गुप्त दोनों को मिलाकर गान्धीवादी संस्कृति के पूर्ण और व्यापक इतिहास के आधार बन सकते हैं। गत चालीस वर्षों से सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक प्रतिक्रिया को काव्य में प्रतिबिम्बित कर समय के साथ कदम मिलाकर चलने वाले इस महाकवि के काव्य पर आलोचनाएँ भी खूब हुई हैं। आधुनिक युग में उनसे अधिक पाठक भी किसी दूसरे कवि के नहीं।

अब तक उनके सम्बन्ध में जो आलोचनात्मक पुस्तकें निकली हैं उनमें से प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—

१—गुप्तजी की कला—डा० सत्येन्द्र
२—गुप्तजी की काव्यधारा—गिरिजादत्त शुक्ल
३—गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा—धर्मेन्द्र
४—मैथिलीशरण गुप्त—सरस्वती पारीक
५—मैथिलीशरण गुप्त : एक अध्ययन—रामरतन भटनागर
६—साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र
७—गुप्तजी की कृतियाँ—श्यामनन्दनप्रसादसिंह
८—यशोधरा : एक समीक्षा—वासुदेवनन्दनप्रसाद
९—गुप्तजी की यशोधरा—कृष्णकुमार सिन्हा

इन पुस्तकों का वर्गीकरण किया जाय तो तीन प्रकार की श्रेणियाँ होंगी—१—गुप्तजी की समग्र साहित्यिक कृतियों के सम्यक निरूपण वाली कृतियाँ, (२) गुप्तजी के काव्य की एक विशेषता को उद्घाटित करने वाली कृतियाँ और (३) गुप्तजी की विशिष्ट पुस्तकों पर आधारित कृतियाँ। पहले प्रकार की पुस्तकों में गुप्तजी की कला, गुप्तजी की काव्य धारा, मैथिलीशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त : एक अध्ययन आदि पुस्तकें आती हैं, दूसरे प्रकार की पुस्तकों में गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा का समावेश होगा, और तीसरे प्रकार की पुस्तकों में शेष पुस्तकों की गणना होगी। यों तो सभी पुस्तकों में सामान्य रूप से गुप्तजी के जीवन तथा साहित्य का परिचय मिल जाता है, परन्तु विशेष दृष्टिकोण से लिखी पुस्तकों में उस दृष्टिकोण की प्रधानता है। इन कृतियों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में नवीन तथा प्राचीन काव्य धारा के समर्थक कवियों तथा कालिज के प्रोफेसरों, पत्रकारों तथा अन्य-साहित्य सेवियों ने गुप्तजी के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे हैं, और लिख रहे हैं। उनमें उनके जीवन, साहित्य साधना तथा कृति विशेष पर आलोचना रहती है।

जो पुस्तकें पृथक रूप से गुप्तजी की रचनाओं को दृष्टि में रखकर लिखी गई हैं, उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों के लिए सरलतम अध्ययन प्रस्तुत करना रहा है। 'गुप्तजी की कृतियाँ' के लेखक ने 'दो शब्द' में जो लिखा है वही सबके लिए सत्य है। उन्होंने कहा है कि "विद्यार्थी समाज के लाभ और हित की दृष्टि

में रखकर ही उसे लिखा गया है।" इस दृष्टिकोण के कारण इन पुस्तकों से किसी गम्भीर विवेचन की आशा करना व्यर्थ है। विभिन्न पुस्तकों की कथा वस्तु, उनके पात्र, उनकी भाषा शैली, उनका महत्त्व आदि विषयों पर परीक्षोपयोगी दृष्टि से विचार किया है। आरम्भ में संक्षिप्त कवि परिचय, उसकी कृतियों का उल्लेख और साहित्य में उसके स्थान की भी चर्चा है। ऐसी पुस्तकों में सर्व श्रेष्ठ कृति डा० नगेन्द्र की 'साकेत : एक अध्ययन' है। यद्यपि उद्देश्य उसका भी साकेत' के मर्म का उद्घाटन है तथापि उसका गाम्भीर्य उसे इन सबसे भिन्न बना देता है। यह गुप्तजी की एक कृति पर लिखी सबसे प्रथम पुस्तक है और नगेन्द्रजी ने इसके विवेचन में बड़ी परिश्रमशीलता का परिचय दिया है। 'साकेत' गुप्तजी की कीर्ति का अविचल स्तम्भ है, इस बात को दृष्टि में रखकर सावधानी के साथ नगेन्द्रजी ने साकेत की कथावस्तु, उसके भाव पक्ष, पात्रों के चारित्रिक विकास, उसके सांस्कृतिक आधार, भाषा और शैली की विशेषताओं पर ऐसा विचार किया है, जैसे किसी परीक्षार्थी को दृष्टि में रखकर नहीं वरन् विद्वानों और काव्य प्रेमी समुदाय को दृष्टि में रख कर करना चाहिए। इस दृष्टि से यह पुस्तक गुप्तजी की समस्त विचार धारा और सांस्कृतिक सूत्रों के रहस्य को खोलती है और एक विशेष कृति पर लिखी होने पर भी कवि के समग्र व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में समर्थ है। इसमें कवि का विस्तार से परिचय और कृतियों के रचनात्मक तथा विषय की चर्चा नहीं है पर कवि की साधना के केन्द्रीय विचार का परिचय अवश्य मिलता है, जो उसकी रचनाओं के मर्म तक हमें ले जाता है।

जो पुस्तकें गुप्तजी की समस्त कृतियों को दृष्टि में रखकर, उनका साहित्यिक मूल्याङ्कन करने की दृष्टि से लिखी गई हैं उनमें रामरतन भटनागर की पुस्तक में भूमिका रूपमें द्विवेदी युग की कविता और गुप्तजी के काव्य पर विस्तार से विचार किया गया है। यह विश्लेषण बड़ा स्पष्ट और जानकारी से भरा हुआ है और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ऐसा विवेचन अन्य पुस्तकों में नहीं मिलेगा। भटनागर जी की शेष पुस्तक में गुप्तजी के महाकाव्यों, खण्ड काव्यों तथा अन्य स्फुट कृतियों का परिचय दिया गया है। एक दृष्टि से यह पुस्तक परिचयात्मक है। श्रीमती सरस्वती पारीक की पुस्तक यद्यपि आकार में छोटी है और भटनागरजी के ढङ्ग की ही है पर वह सुविचारित (Well planned) है। कवि, उसका युग, उसकी कृतियाँ, रूपान्तरकार, धार्मिक तथा जातीय और राष्ट्रीय कवि, नाटककार आदि पर विचार करके लेखिका ने कवि के मुक्तक काव्य तथा प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य तथा महाकाव्य का अविच्छिन्न परिचय और अन्य पुस्तकों की संक्षिप्त चर्चा करके अन्त में उनकी कला पर विचार किया है। जैसा कि हमने कहा है, इस पुस्तक में नवीनता की दृष्टि से कोई बात नहीं है, केवल थोड़े में गुप्तजी के कृतित्व का पूर्ण परिचय इसकी विशेषता है। 'गुप्तजी की कारुण्य धारा' में लेखक ने स्वयं कहा है—"प्रस्तुत निबन्ध में गुप्तजी के काव्यों में जो कारुण्य की धारा' प्रवाहित हो रही है, उसकी समीक्षा की जायगी।" इस घोषणा के अनुकूल लेखक ने गुप्तजी की रचनाओं के स्फुट, नाटक और प्रबन्ध काव्य ये तीन भेद करके प्रत्येक भेद के अन्तर्गत आनेवाली रचनाओं में करुणा के तत्व का विवेचन किया है। इस विवेचन में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अधःपतन की ओर जहाँ लेखक ने संकेत किया है, वहाँ सांस्कृतिक देन को भी स्पष्ट किया गया है। इसमें गुप्तजी की सभी कृतियों का परिचय आगया है। इस परिचय में भी गाम्भीर्य की रक्षा सर्वत्र की गई है। 'पृष्ठभूमिका' के रूप में गुप्तजी के व्यक्तित्व, खड़ी बोली के विकास में गुप्तजी का स्थान, गुप्तजीकी कला में उपयोगितावाद, गुप्तजी की काव्य कला, गुप्तजी राष्ट्रीय कवि अथवा जातीय, गुप्तजी का समन्वयवाद, गुप्तजी का प्रकृति पर्यवेक्षण, आदि पर विद्वत्तापूर्ण विचार

व्यक्त किए गए हैं। इस पुस्तक के लेखक ने बड़े अध्ययन तथा मनन के पश्चात् गुप्तजी के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है। इन्होंने बड़ी निर्भीकता से गुप्तजी को जातीय कवि कहा है—'मैथिली शरण गुप्त में वह क्षमता नहीं कि वे वर्तमान युग का काव्य कलेवर खड़ा करें। अतीत के अस्थिपञ्जर में जान फूँकना और बात है, वर्तमान का जीवित चित्र अङ्कित करना और।' ऐसा कहकर उन्होंने गुप्तजी को आंशिक राष्ट्रीय कवि माना है क्योंकि उन्होंने प्राचीन कथाओं में आधुनिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं को व्यक्त किया है। केवल 'किसान' ही उनका युग का काव्य है। उसके आधार पर लेखक इस महाकवि को राष्ट्रीय कवि ... कहना चाहता। यह कहाँ तक ठीक है, यह विवेचन करना यहाँ अभीष्ट नहीं। हमारा तो कहना केवल यह है कि उसकी तर्कप्रणाली और निष्कर्ष दोनों ऐसे हैं कि उन पर गम्भीर अध्ययन मनन की गहरी छाप है।

'गुप्तजी की कला' तथा 'गुप्तजी की काव्यधारा' ये दो पुस्तकें निश्चय ही गुप्तजी की काव्यकला के स्पष्टीकरण के लिए लिखी गई हैं। 'गुप्तजी की कला' के लेखक में दो तत्वों की प्रधानता है। एक तो ऐतिहासिक दृष्टि से गुप्तजी की कृतियों का मूल्याङ्कन और दूसरा समस्त कृतियों में एक साथ भाव तथा कला के समान सूत्रों की खोज और समन्वय के द्वारा उनके सांस्कृतिक स्तर की एकता का उद्घाटन। गुप्तजी की कला, विषयों का चुनाव, उनका दृष्टिकोण, शैली की विशेषता, कवि का सन्देश, स्त्रियों का स्थान आदि के विवेचन में गुप्तजी की कृतियों की एक साथ विभिन्न रूपों में आलोचना हो गई है। अन्त में द्वापर पर एक अलग अध्याय जोड़ा गया है जो आलोच्य कृति पर विस्तृत समीक्षा तो प्रस्तुत करता है, पर है अनावश्यक। पूरी पुस्तक के अध्ययन पर पता चलता है कि लेखक के मस्तिष्क में पुस्तक लिखने से पूर्व कोई रूपरेखा नहीं थी। यद्यपि गहराई लेखक में है पर अध्यायों के विभाजन में तारतम्य नहीं है। कला और उसके मर्म के लिए अलग अलग अध्यायों में विचार हैं। ऐसे ही वस्तु और उसके उद्देश्य पर भी। एक साथ यदि इन पर विचार होता तो अध्याय कम होते और विषय का विवेचन स्पष्ट। हमारी यह धारणा है कि यदि लेखक इसके अध्यायों की संख्या आधी करके इस पुस्तक को दुबारा लिखे तो गुप्तजी पर यह श्रेष्ठ कृति हो जाय।

'गुप्तजी की काव्यधारा' के लेखक ने अवश्य रूपरेखा बना कर कार्य किया है। इसमें कवि के जीवन, रचनाओं की प्रवृत्तियाँ, उनकी सामाजिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि, भाषा, शैली, छन्द, कला, उनके काव्य में गीतितत्व तथा रहस्यवाद छायावाद का समावेश आदि पर अच्छा विवेचन किया है। जैसे सत्येन्द्रजी ने द्वापर पर विस्तार से लिखा है, वैसे ही गिरीशजी ने साकेत पर सौ पृष्ठ लिखे हैं। रङ्ग में भङ्ग, जयद्रथ वध और यशोधरा पर भी अलग विचार किया गया है। इस प्रकार इसमें भी सन्तुलन की कमी है। इस पुस्तक में शास्त्रीय दृष्टिकोण अधिक अपनाया गया है, जब कि 'गुप्तजी की कला' में आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर कवि के मानस-जगत की झलक देने का प्रयत्न किया गया है।

अब तक गुप्तजी पर जो कृतियाँ निकली हैं, उनमें जो श्रेष्ठ हैं, उनमें भी किसी में कुछ और किसी में कुछ कमी है, जैसा कि हम देख चुके हैं। गुप्तजी के पाठक को सभी पुस्तकों के पढ़े बिना सन्तोष नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बात की है कि अब तक की प्रकाशित सभी पुस्तकों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् कोई आलोचक पर्याप्त समय और शक्ति लगा कर एक उत्कृष्ट आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत करे। वैसे उपलब्ध कृतियों में भी खोजने वाले पाठक को गुप्तजी की साधना का मर्म मिल जायगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

साहित्य और राष्ट्रीयता

श्री कामेश्वरप्रसाद वर्मा

साहित्य शब्द 'सहित' शब्द से बना है। यह वह शब्द है जिसमें मानव कल्याण की भावना निहित है। उसमें उसके सभी तरह के हित का सामञ्जस्य है और वह 'साहित्य' की भावना से दूर—कोसों दूर रहता है। अगर हम साहित्य की इस विचारधारा को न मानकर, उसे जनता जनार्दन की चीज न समझ कर, उसे मानव हितार्थ न जान कर उसे कोरी कला की ही चीज समझने लग जायँ, तब वह साहित्य न होकर 'राहित्य' हो जायेगा। जिसका अर्थ होगा लोक कल्याण की भावना का अभाव और जब ऐसे कल्याण की भावना का अभाव होगा तब वह कैसे एक स्वस्थ्य समाज का निर्माण कर सकता है, एक सबल राष्ट्र का? एक दिन 'हंस' में प्रेमचन्दजी ने लिखा था "साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता के व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस ज़ाहिरी भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भाँति, छिपा हुआ है। जब मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है जहाँ Reality अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है।" इस तरह 'सहित' की भावना से ओत प्रोत होने के कारण ही वह समाज का दीपक तथा दर्पण कहलाता है। वह ऐसा दीपक जलाता है, जिसके आलोक में एक राह मिलती है, एक नई दिशा।

और इस तरह एक विशेष परिधि के अन्तर्गत समाज की समन्वित भावनाएँ राष्ट्रीयता का रूप लेती हैं और समाज का वह दीपक साहित्य अपने को उस भावना से अलग नहीं रख सकता, नहीं रखता।

देश और काल के अनुसार राष्ट्रीयता की परिभाषा भी बदलती रहती है। एक युग के समाज की जो समन्वित भावनाएँ उस युग के विशेष में रहती हैं, वे दूसरे में नहीं रह पातीं, क्योंकि दूसरे युग में समाज ही दूसरा हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन के कारण उनकी समन्वित भावनाओं में परिवर्तन होता है और इस प्रकार जो कल की राष्ट्रीयता थी, वह आज की राष्ट्रीयता नहीं रह जाती।

साहित्य का सम्बन्ध राष्ट्रीयता से रहा है बराबर से एक दर्पण के रूप में, एक दीपक के रूप में और इसीलिए किसी भी साहित्य व इतिहास में राष्ट्रीयता की खोज मानदण्ड विशेष को लेकर चलने से नहीं सकती। एक युग के साहित्य में राष्ट्रीयता का जो रूप मिलेगा, वह दूसरे युग के साहित्य में नहीं। हम साहित्य के अध्ययन से किसी भी जाति अथवा राष्ट्र की राष्ट्रीयता, उसकी सामाजिकता एवं उसके सांस्कृतिक विकास का क्रमबद्ध इतिहास मालूम कर सकते हैं।

राष्ट्रीय होने का कोई एक ही आदमी दावा नहीं कर सकता। वे सभी व्यक्ति राष्ट्रीय हैं, जिनमें चेतना है, भावना है, अपने देश तथा मानवता के प्रति प्रेम है। वह व्यक्ति कदापि राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता जो केवल अपने ही देश के मङ्गल की कामना करे, उसे ही हरा भरा, फूला फला देखना चाहे। वह कदापि राष्ट्रीय नहीं जो स्वयं अपने देश से प्रगाढ़ प्रेम रखते हुए भी अन्य देशों की स्वतंत्रता की ओर हिंसक पशुओं की भाँति अपनी लपलपाती हुई विषाक्त जीभ को फैलाये। जो दूसरे राष्ट्र की तीव्र निन्दा कर राष्ट्रीयता का चोगा धारण करता है, उसके लिए तो डा० जॉनसन के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि "Patriotism is the last resort of Scoundrels."

बल्कि, वह अपने देश से सिर बाहर निकाल कर देखे। वह पायेगा कि उसका हृदय कितना विशाल, कितना उदार होता चला जा रहा है। वह कितना राष्ट्रीय हो रहा है। कितना मानवता के सन्निकट चला आ रहा है। किस तरह विश्व बन्धुत्व का नाता जोड़ रहा है। वह अपने देश से महादेश में आयेगा और चिल्ला उठेगा—

"आज एशिया के अन्तर में,
सुलग उठी है जो चिनगारी,
नई आग है, नई आग।"

और जब वह ऐसा समझने लग जायेगा, तब वह अपने को असली रूप में राष्ट्रीय कहने का दावा कर सकेगा। इस तरह, जब राष्ट्रीयता की पराकाष्ठा पर पहुँच जायेगा, तो वह समझने लग जायेगा—

"उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

साहित्य तथा राष्ट्रीयता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य ही राष्ट्रीयता को निर्धारित करता है और राष्ट्रीय भावना को जगाता है। साहित्य लोगों में राष्ट्रीयता का शंख फूँकता है और उनकी सुषुप्त धमनियों में रक्त का सञ्चार करता है। वे फड़क उठते हैं और देश की पुकार पर अपने को न्योछावर करने को प्रस्तुत हो जाते हैं।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु काल के पहले तक साहित्य तथा राष्ट्रीयता वाटर टाइट कम्पार्टमेन्ट में बाँट दी गई थीं। अगर एक ओर साहित्य नायिका की आँचल से बँधा हुआ था, तो दूसरी ओर राष्ट्रीयता केवल कुछ बौद्धिक लोगों की ही चीज समझी जाती थी और जन साधारण इन दोनों के बीच खड़ा अपने कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर सका था, उसी समय उन्हें एक व्यक्ति मिला जिसने राष्ट्रीयता और साहित्य में साम्य स्थापित किया और लोगों ने पहली बार सुना—

'आवहु सब मिलिकै रोवहु भारत भाई,
हा हा, भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"

और इधर मैथिलीशरण गुप्तजी अपनी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करने लगे—

"भगवान, भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।"

निस्सन्देह भारती गूँजी। उसका गुञ्जन सुन कर माखनलालजी जेल ही में भावुक बन बैठे —

"कोकिल बोलो तो,
क्या देख नहीं सकती, जञ्जीरों का पहना।
हथकड़ियाँ क्यों ?
यह ब्रिटिश राज्य का गहना
तेरा नभ भर में सञ्चार,
मेरा दस फुट का संसार।"

अब साहित्य ने देश में राष्ट्रीयता की आग सुलगादी है। उसे अब—

"औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललाति।
बीचहिं सूखि गुलाबगौ, छींटो छुयो न गात॥"

जैसे शृङ्गारिक गीत रिझा नहीं सकते। वह तो उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज बुलन्द करेगा और अपना हँसते हँसते बलिदान करेगा। नर-नारी सभी चौखला उठे हैं —

"न होने दूँगी अत्याचार,
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान
मातृ मन्दिर में हुई पुकार
चढ़ा दो मुझको हे भगवान।"

उसे तो अब सुख समृद्धि की आकांक्षा नहीं। फूल को ही लीजिए। वह अब नायिका के गले का हार तथा प्रेमिका का प्यार बनना नहीं चाहता।

"चाह नहीं मैं सुर-बाला के
गहनों में गुथा जाऊँ।"

बल्कि चाह यह है —

"मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर तू देना फेंक,
मातृभूमि हित शीश चढ़ाने
जिस पथ जाते वीर अनेक।"

और देवी सुभद्रा के समक्ष भी यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि ऐसे सुअवसर के बसन्त को वह

किस प्रकार मनाने को कहे—

"गलबाँही हो, या हो कृपाण
चल चितवन हो, या धनुपबाण
हो रस विलास, या दलित त्राण,
हो रही समस्या है दुरन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त।"

और परोक्ष रूप से राष्ट्रवादियों को वसन्त मनाने का संकेत कर दिया। अब जन साधारण मस्त है, राष्ट्रीय-भावना से परिपूर्ण हो कर देश के कल्याणार्थ कुछ भी करने को प्रस्तुत है।

कोई भी साहित्यकार जो राष्ट्रीय है, अपने अन्तर चक्षु से सारी भावी चीजों को देख लेता है और लोगों से राष्ट्रीय कल्याण की अपील करता है।

"कुछ आरजू नहीं है, कुछ आरजू यही है।
रखदे कोई जरासी, खाके वतन कफन पै॥"

या

"कहीं से माँग कर दे, मोल करदे, चुरा करदे।
जो इन्सा है तो हक इन्सानियत का तू अदा करदे॥"

और ब्रजनन्दन 'आजाद' के शब्दों में ये पद केवल जलूसों ही में गाये जाते थे। पाठशालाओं तथा विद्यालयों तक इन्हें पहुँचाने का जो साहस करता था, उस पर बेतों की मार पड़ती थी। भला इन्सानियत का हक अदा करने में भी कोई कविता है! कविता तो है वीणा के तार तोड़ने और पागल प्रेमियों क पुका फाड़ कर रोने में।" लेकिन नहीं, अब तो जमाना जाता रहा। अब तो कवि के लिए यह आदर्श होना चाहिए—

"वंशी के होठों पर अपना
निर्मम शंख बजा दे आज"

और वह एक ऐसी क्रान्तिकारी कामना करता है जो जन जन के राष्ट्रीय भावना की प्रेरक शक्ति हो। उसका जीवन तो राष्ट्र के लिए समर्पित है। उस पर तो उसका कोई अधिकार नहीं। और वह गरज पड़ता है—

"फेंकता हूँ लो, तोड़-मड़ोड़
अरी निष्ठुरे! बीन के तार
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव हुङ्कार।
नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।"

इस तरह बेनीपुरी के शब्दों में 'राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा 'भारतेन्दु' से प्रारम्भ हुई, उसकी परिणति हुई 'दिनकर' में।' और आज सचमुच हिन्दी-साहित्य जगत में उसका प्रतिनिधित्व दिनकर ही कर रहा है।

हमारे हिन्दी साहित्य में तो कितने ही राष्ट्रीय कवि हो गये हैं। 'प्रसाद' जी ने तो साक्षात् स्वतन्त्रता का चित्र ही खींच दिया था—

"हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती।"

उर्दू कवि 'इकबाल' की ये पंक्तियाँ राष्ट्रीय भावना को किस प्रकार व्यक्त कर रही हैं—

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं इसकी, यह गुलसिताँ हमारा।"

अँग्रेज कवि शैली ने भी राष्ट्रीय कविता की, लोगों को स्वतन्त्रता की महिमा बतलायी और सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में लाया।

इस तरह हम देखते हैं कि विश्व में जितनी भी क्रान्तियाँ होती हैं, जितने भी राष्ट्रीय बलवे होते हैं या जितने भी महत्वपूर्ण कार्य होते हैं, उनपर उस देश तथा उस काल के साहित्य का प्रभाव पड़ता है। वह उसका निर्देशन करता है और प्रशस्त मार्ग दिखा कर बुराइयों से बचाता है। यही राष्ट्र के विभिन्न अङ्गों का समीकरण है और अन्त में यह कहा जा सकता है कि साहित्य तथा राष्ट्रीयता में घनिष्ट सम्बन्ध है और रहेगा।

आलोचना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लेखक-श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० लिट०, प्रकाशक–साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ २१६, मूल्य २॥)

भारतेन्दुजी का हिन्दी में जो स्थान है उसके अनुरूप हिन्दी में आलोचना साहित्य प्रस्तुत नहीं हो सका है। वार्ष्णेयजी की प्रस्तुत कृति यद्यपि संक्षिप्त है तथापि प्रकाशक के शब्दों में गागर म सागर उप स्थित करने का प्रयत्न करती है। इसके चार भाग हैं—पहले में जीवनी दूसरे में ग्रन्थ रचना, तीसरे में आलोचना, और चौथे में संग्रह। भारतेन्दु काव्य में तीन धाराएँ प्रमुख रूप से देखने में आती हैं। एक भक्ति प्रधान, दूसरी री धान और तीसरी देश भक्तिमय राज भक्ति। विद्वान लेखक ने भारतेन्दुजी की तीनों हो प्रवृत्तियों पर यथोचित प्रकाश डाला किन्तु वार्ष्णेयजी ने रीतिकालीन कवियों से भारतेन्दुजी को पृथक करने में विशेष विश्लेषण बुद्धि का परिचय दिया है। लेखक महोदय भारतेन्दुजी की पद्यमयी रचनाओं की आलोचना में ही अधिक सीमित रहे हैं। संग्रह भाग में उदाहरणों में भी पद्य के ही उदाहरण दिये गये हैं, गद्य के नहीं। भारतेन्दुजी की गद्य शैली का थोड़ा विवरण अवश्य आया है किन्तु वार्ष्णेयजी की गद्य में विशेष गति है। पाठक उनसे कुछ अधिक जानकारी की आशा रखते थे। नाटकों का अवश्य अच्छा विवेचन हुआ है। वह सभी विद्यार्थियों को उपयोगी है। भारतेन्दुजी में रस (विशेषकर शृङ्गार के संयोगाङ्गों का) छन्द, अलङ्कारों और भाषा का अच्छा विवेचन हुआ है। रस वर्णन में उनने हरिश्चन्द्र के करुणात्मक दृश्यों का उल्लेख नहीं किया है। भारतेन्दुजी की शृङ्गारिक कविताओं में भी वार्ष्णेयजी एक आध्यात्मिक सांके तिकता देखते हैं। उसमें तो विद्यापति की सी शृङ्गा रिकता अधिक है। यद्यपि राधाकृष्ण के सम्बन्ध में होने के कारण उसमें भक्ति पुट भी आ जाता है। वार्ष्णेयजी ने उनको सन्धियुग का कवि कहा है और उन्होंने सन्धिकालीन उभयपक्षी प्रवृत्तियों का अच्छा उद्घाटन किया है। लेखक महोदय ने भारतेन्दु की मौलिकता पर भी प्रकाश डाला है। यह आव श्यक था क्योंकि बहुत से आलोचक उनको रस स्रष्टा न मान कर रस का प्रचारक मानते हैं। भारतेन्दुजी के अन्य आलोचकों के बारे में भी कुछ अधिक समीक्षा हो जाती तो सोने में सुगन्ध की बात चरितार्थ होती।

सियारामशरण गुप्त (श्री सियारामशरण के साहित्यिक और कृतित्व का अध्ययन)—सम्पादक–डा० नगेन्द्र, प्रकाशक–गौतम बुक डिपो, दिल्ली। पृष्ठ २१३, सजिल्द, मूल्य ४)

प्रस्तुत ग्रन्थ में यद्यपि विभिन्न लेखकों के लेख हैं तथापि वे एक क्रम से और एक आयोजना के अनुसार लिखाये गये हैं, इसलिए इसको संग्रह ग्रन्थ नहीं कह सकते हैं। इसके तीन भाग हैं, पहले में जीवन वृत्त और व्यक्तित्व है। इन लेखों में एक लेख श्री मैथिलीशरणजी गुप्त का भी है। वह कवि के घरेलू जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है। दूसरे में सियारामशरणजी की विभिन्न प्रवृत्तियों (कविता, कहानी, उपन्यास और निबन्ध) की कुछ व्यापक

रूप से आलोचना है और तीसरे भाग में उनकी विभिन्न कृतियों की अलग-अलग आलोचना है। प्रायः सभी लेखों में एक विशेष स्नेह और भक्ति का अन्तःस्रोत बहता हुआ दिखाई देता है किन्तु इसने आलोचकों की दृष्टि को किसी प्रकार की अनुचित रंगीनी नहीं दी है। वह दृष्टि कवि को ठीक कोने से और परिस्थिति म देखने में सहायक हुई है। कवि की चारों मुख्य प्रवृत्तियों में कवि के कोमल व्यक्तित्व को निखार में लाने का प्रयत्न किया गया है। श्री विष्णु प्रभाकर बड़े कौशल स उनकी कहानियों में निहित मानववादाद को प्रकाश म लाये हैं, और यह भी दिखलाया है कि वह मानवता प्रगतिवाद के कहाँ तक साथ जाता है और कहाँ उसका साथ छोड़ देता है। उनमें ससार मे व्याप्त बुराइयों की चेतना है किन्तु उनके प्रति कटुता नहीं है, और सवर्ष की उत्तेजना है। यही बात उनके उपन्यासों में है। इस सम्बन्ध में डाक्टर देवराज ने बतलाया है उनमें समाज की उग्र शल्य क्रिया नहीं वरन् प्राकृतिक चिकित्सा है। उनके कथा-साहित्य की प्रवृत्ति उनके छायावाद के निकट आने वाले कवित्व से मेल खाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके व्यक्तित्व के आलोक में उनकी कृतियों का रहस्य समझ में आता है और कृतियों द्वारा उनका व्यक्तित्व निखार में आता है। सियारामशरणजी की कला और भावों के समझने में यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

—गुलाबराय

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—लेखक-श्री परशुराम चतुर्वेदी एम० ए०, प्रकाशक-भारती-भण्डार, प्रयाग। पृष्ठ ८००, मूल्य १९)

श्री परशुराम चतुर्वेदी बलिया निवासी हिन्दी के ठोस साहित्य-साधक हैं। उनकी इस साधना का साक्षी है यह प्रस्तुत वृहद ग्रन्थ, जिसमें सात अध्याय और परिशिष्ट में आरम्भ से आजतक गाँधीजी तक को सम्मिलित करते हुए सन्तमत पर खोजपूर्ण अधिकारिक विवरण और विचार दिये हैं। प्रथम अध्याय में चार विभाग हैं, जिसमें भूमिका स्वरूप सन्तमत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि १२५ पृष्ठों में विस्तार पूर्वक दी गयी है। दूसरे अध्याय में 'कबीर साहब' पर विचार किया गया है। उत्तरी भारत की यथार्थ सन्त परम्परा इसी महापुरुष से आरम्भ होती है। लेखक ने इस अध्याय मे परिस्थिति परिचय, जीवन-वृत्त, मत आदि पर लिखा है। तृतीय अध्याय का सम्बन्ध कबीर साहब के समसामयिक सन्तों से है, चतुर्थ अध्याय में पन्थ निर्माण के सूत्र-पात की विशद चर्चा है, जिसमें विशेषत. कबीरपन्थ तथा नानक पन्थ का विस्तृत वर्णन है, उनकी शाखाओं तथा सम्प्रदायों का भी, तथा ४ अन्य फुटकर सन्तों का। पञ्चम अध्याय में पन्थ-निर्माण की प्रवृत्ति निरूपण करते हुए साध-सम्प्रदाय, लाल-पन्थ, दादू-पन्थ, निरञ्जनी सम्प्रदाय, बावरी पन्थ, मलूक-पन्थ पर विस्तृत विवेचन है। षष्ठ अध्याय समन्वय की प्रवृत्ति पर विचार करते हुए बाबालाली सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, सतनामी, धरनीश्वरी, दरियादासी, दरिया-पन्थ शिवनारायणी, चरणदासी गरीब पन्थ, पानपन्थ, रामसनेही आदि सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। सप्तम अध्याय में आधुनिक युग के साहिब पन्थ, नामी सम्प्रदाय, राधास्वामी सत्सङ्ग, स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गाँधी आदि का समावेश हुआ है। परिशिष्ट में कबीर के जीवन तथ महात्मा गाँधी की जीवन निर्माण कला पर विचा है। सहायक साहित्य की एक अच्छी सूची अन में है और शब्दानुक्रमणी से तो पुस्तक और भ उपयोगी हो गयी है।

इस पुस्तक में आये प्रत्येक प्रसङ्ग के विषय ं लेखक ने सप्रमाण विचार किया है, और जितनी भ सामग्री उसे प्राप्त हो सकी है सब को यथास्था. उद्धरण पूर्वक उसने नियोजित किया है। पाद टिप्पणियों में ऐसे निर्दशित ग्रन्थों का आवश्यक ब्यौरे अथवा आवश्यक उद्धरण दिये गये हैं। लेखक भरसक यह प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कथन सप्रमाण

हो, और उसकी विचार कोटि वैज्ञानिक रहे। पुस्तक पर गम्भीर और विस्तृत विचार करने की अपेक्षा है जो पीछे कभी होगा। सन्तपरम्परा में गाँधीजी को सम्मिलित करने की बात ठीक नहीं समझ पड़ी।

हिन्दी कहानी और कहानीकार—लेखक-प्रो० वासुदेव एम० ए०। प्रकाशक-वाणीविहार, बनारस। पृष्ठ २१८, मूल्य ॥)

इस पुस्तक में प्रथम छियासठ पृष्ठों में कहानी की परिभाषा स्वरूप, सफल और श्रेष्ठ कहानी, प्राचीन तथा आधुनिक कहानी, हिन्दी कहानी का विकास, कहानीकारों का वर्गीकरण, तथा हिन्दी के कहानी सम्राटों पर विचार दिये गये हैं। इसके उपरान्त प्रसाद, गुलेरी, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, रायकृष्णदास तथा महादेवी वर्मा का कहानी कला पर विचार है। इसमें लेखक ने अधिकांशतः विभिन्न विषयों पर प्राप्त पुस्तकों के उद्धरणों का उपयोग किया है, और अपना मत भी दिया है। अतः इसमें साधारणतः मौलिकता भले उतनी नहीं, फिर भी एक स्थान पर विविध लेखकों के मतों को समह कर देना और उनमें नयी व्यवस्था से विषय का परिचय करा देने की मौलिकता अवश्य है। जिन कहानीकारों को लेखक ने लिया है, उनके अतिरिक्त अन्य भी हिन्दी के कहानीकार हैं जो अपना महत्व रखते हैं। उनको इसमें सम्मिलित न करना 'मेरी बात' में दिये कारण के बावजूद भी समझ में नहीं आया। पुस्तक में विचार करते हुए कहानीकारों में किसी क्रम का न रखना भी श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी सम्मति में लिखा है कि इस 'लेखक में वह अन्तर्दृष्टि और अध्यवसाय विद्यमान है जो आलोचक को बड़ा बनाते हैं' और हम इस सम्मति को समीचीन समझते हैं।

आधुनिक कविता की भाषा—लेखक-श्री ब्रज किशोर चतुर्वेदी, बार एट ला, प्रकाशक-गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा। पृष्ठ ५७२, सजिल्द, मूल्य ६)

यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। इसमें गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा पर प्रथम भाग में, माखनलाल चतुर्वेदी, इलाचन्द्र जोशी, प० केशव प्रसाद मिश्र, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, श्यामनरायण पाण्डेय, गोपालशरणसिंह, गुरुभक्तसिंह, सोहनलाल द्विवेदी, बच्चन दर्शन पर द्वितीय भाग में, गुप्त, हरिऔध, सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल महतो वियोगी, अञ्चल, शिवमङ्गलसिंह सुमन की कुछ अन्य रचनाओं पर तथा मनवचित, साहित्य समीक्षा, सजीव कविता पर तृतीय भाग में विचार किया गया है।

इस पुस्तक में लेखक के समय समय पर प्रकाशित निबन्ध हैं। इसमें लेखक के ही शब्दों में 'लेख किसी ऐतिहासिक क्रम से नहीं लिखे गये हैं। जो काव्य ग्रन्थ सामने आया' उसी पर आलोचना लिख दी गयी, और किसी पत्र को भेज दी गयी। ऐसे ही लेख अब इस पुस्तक रूप में प्रकाशित किये गये हैं। लेख कवियों पर नहीं उनकी किसी न किसी कृति पर हैं, और उस कृति की 'भाषा' के मुहावरे, सौन्दर्य और सामर्थ्य पर ही विशेषतः विचार किया गया है। लेखक ने प्रत्येक कथन सप्रमाण देने की चेष्टा की है, और बहुधा उदाहरण पहले देकर तब निष्कर्ष पर ले जाया गया है। किसी शब्द या मुहाविरे के सौन्दर्य सामर्थ्य अङ्कन की कसौटी बहुधा लेखक की अपनी ही है, जिससे पाठक असहमत भी हो सकता है और स्थान-स्थान पर यह भी अनुभव कर सकता है कि लेखक 'शब्दों' के साहित्यिक मर्म तक नहीं पहुँच पाया है, फिर भी लेखक ने अध्यवसायपूर्वक ऐसे शब्दों, मुहाविरों और वाक्यों को एक स्थान पर सङ्कलित करने और उन्हें अपनी विचार कोटि में सुश्रृङ्खलित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। इसमें 'शब्द' और 'साहित्य' के घनिष्ठ सम्बन्ध पर नयी तरह से दृष्टि जाती है। लेखक में किसी कवि के प्रति कोई पूर्वग्रह अथवा माजिन्य नहीं, और उसने बड़े से बड़े और छोटे-से छोटे लेखक के शैथिल्य को निस्सङ्कोच उद्घाटित किया है। 'वस्तु' की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं। कामायनी तथा 'हल्दीघाटी' पर विचार

करते समय शब्द निर्माण पर भी विचार किया गया है। पुस्तक पठनीय और मननीय है—विशेषत: कवियों और सृष्टाओं को तो इसे अवश्य ही पढ़ना चाहिए। —सत्येन्द्र

कविता

विराग—लेखक-धन्यकुमार जैन 'सुधेश', प्रकाशक-भारत वर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी मथुरा। पृष्ठ ७२, मूल्य १)

भगवान महावीर का जीवन आदि से अन्त तक तप और त्याग पूर्ण था। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने उन्हीं के जीवन के एक अंश का चित्रण खण्ड काव्य के रूप में किया है। कविता में प्रवाह है पर भावों में गम्भीरता और चिन्तन की कमी है। सारी पुस्तक वर्णनात्मक है, विचारात्मक नहीं। फिर भी स्थान-स्थान पर ज्ञान वैराग्य और करुणा के भाव मिलते हैं। और उनसे भगवान महावीर की एक धुन्धली तस्वीर हमारे सामने आती है। भगवान महावीर के वास्तविक और महान रूप का चित्रण करने में लेखक को पूरी सफलता नहीं मिली है।

हास्य

मैंने कहा—लेखक-श्री गोपालप्रसाद व्यास, प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६। पृष्ठ १२२, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ३)

श्री गोपालप्रसाद व्यास हिन्दी के तरुण लेखक हैं। अपनी हास्यमयी लेखिनी से अल्प काल में ही उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में हास्य लेखकों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। आज वे निस्सन्देह हास्य लेखकों में अग्रगण्य हैं। इस पुस्तक में उनके १५ गद्य लेखों का संग्रह है। इसमें पाँच लेखों में व्यासजी ने अपनी स्त्री और अपने ऊपर लेकर घर गृहस्थी का चित्र खींचा है और वह बहुत अंश में हमारे घरों का सही चित्रण है। 'झूठ बराबर तप नहीं' और 'खुशामद भी एक कला है'—यह दोनों लेख मनुष्य-प्रकृति और वर्तमान समाज का चित्रण करते हैं। 'कवि सम्मेलनों का धन्धा' 'हे हिन्दी के आलोचकों' 'साहित्य का भी कोई उद्देश्य' और 'पत्रकार की पहचान'—यह चार लेख साहित्यिक व्यक्तियों को लक्ष्य कर लिखे गए हैं। सभी लेखों में भाषा का चमत्कार और विचारों में मौलिकता पद पद पर मिलती है। व्यंग गहरे होते हुए भी कुरुचि पूर्ण और कटुता वर्द्धक नहीं हैं। पढ़ते-पढ़ते हृदय में गुदगुदी पैदा होती है और लेखक की क्षमता देखकर सहसा उसे बधाई देने की इच्छा होती है।

गाँधी जी का भूत—लेखक-श्री बेढब बनारसी, प्रकाशक-लोकसेवक प्रकाशन, बनारस। पृष्ठ ६६, मूल्य १॥)

यह भी हास्य पूर्ण १४ कहानियों का संग्रह है। यह निबन्ध या कहानियाँ हास्य की हैं पर इनमें रस का परिपाक पूरी तरह नहीं हो पाया है। पहला ही लेख गाँधीजी का भूत न तो कहानी की दृष्टि से ही ऊँचा है न हास्य की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। अन्तिम लेख 'सम्पादक का अनुभव' भी ऐसा ही है। कहानी तो उसे कहें ही कैसे, हास्य भी उच्चकोटि का नहीं। 'विवाह का बात' में स्वाभाविकता चाहे न हो पर हास्य खूब है। 'सिपाही का प्रेम' अधूरे प्रेम का चित्रण है। 'माई साहब' में कालेज में पढ़ने वाले युवकों का चित्र है। प्रायः सभी कहानियाँ प्रेम से सम्बन्ध रखती हैं और हास्य मिश्रित हैं। परन्तु बेढबजी से हम इससे बढ़कर चीज की आशा करते थे, क्योंकि हम उन्हें हास्य के अग्रणी लेखकों में गिनते हैं। —म

सामाजिक

पुरुष स्त्री—लेखक-श्री रघुवीरशरण दिवाकर, प्रकाशक—मानव साहित्य सदन, मुरादाबाद। पृष्ठ १७५, मूल्य २॥)

स्त्री और पुरुष पूर्ण मानव के दो अङ्ग हैं जो संसार संघर्ष में एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं,

प्रतिद्वन्दी नहीं। लेखक ने इसी दृष्टिकोण को लेकर पुरुष और स्त्री सम्बन्धी भिन्न भिन्न समस्याओं पर विचार किया है। इनमें यौन निर्वाचन, दाम्पत्य, तलाक, सन्ततिनिरोध, व्यभिचार, वैश्यावृत्ति, सह शिक्षा और कामशिक्षा आदि सभी प्रमुख समस्याएँ आगई हैं जिनके विवेचन में लेखक ने पर्याप्त गम्भीरता से काम लिया है।

लेखक हिन्दुओं के इस विचार को अप्राकृतिक मानता है कि विवाह अविच्छेद्य है पर साथ ही साथ वह तलाक की खुली छूट का भी विरोधी है। वह मध्यम मार्ग से ही तलाक को विवाह संस्था का अङ्ग मानता है।

पाप या बुराई का मापदण्ड समाज की व्यवस्था है, वह व्यवस्था च हे कुछ भी हो। सुव्यवस्था से लेखक का क्या तात्पर्य है इसे लेखक ने स्पष्ट नहीं किया। समाज व्यवस्था को हानि पहुँचा कर काम परितृप्ति हो ही नहीं सकती। उसे तो व्यभिचार कहना ही पड़ेगा।

लेखक की विचार धारा वैज्ञानिक आधारों को लेकर पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती हुई प्रतीत होती है। यदि लेखक ने पूर्व और पश्चिम के समन्वय से मध्यम मार्ग का अनुसरण किया होता तो अच्छा था।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान—लेखक-श्री रघुवीरशरण दिवाकर, प्रकाशक-मानव साहित्य सदन, मुरादाबाद। पृष्ठ ४०, मूल्य ।॥)

हिन्दी साहित्य और संस्कृत धर्म ग्रन्थों में उपलब्ध स्त्री निन्दा की सामग्री को एकत्र कर लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दुओं में नारी को केवल निकृष्ट स्थान ही मिला है। इस ओर लेखक ने अत्यन्त परिश्रम किया है तथा वेद एवं स्मृति आदि दूसरे धार्मिक ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। सम्पूर्ण पुस्तक का दृष्टिकोण एक पक्षीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक जिस गलती को इङ्गित करना चाहता है, वर्तमान युग के वातावरण में वह स्वयं भी उसी गलती को कर रहा है।

पुरुष का नारी के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण के स्थान पर वह पुरुष का नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण लेकर चला है—हैं दोनों ही पुरुष के दृष्टिकोण। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने नारी को माता का उच्च स्थान भी दिया है।

"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणाति रिच्यते"

और माता की आज्ञा पिता से बढ़कर थी परन्तु आज का पुरुष नारी को आर्थिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्रलोभन से अपनी वासना के साधन का माध्यम बना रहा है। इस सत्य पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। लेखक ने इस दृष्टिकोण को बिल्कुल छोड़ दिया है। —दयाप्रकाश एम०ए०

ज्ञान गङ्गा—सम्पादक-श्री नारायणप्रसाद जैन, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ लगभग ८००, सजिल्द, मूल्य ६)

'ज्ञान गङ्गा' में महान आत्माओं के लिखे विभिन्न विषयों पर उपयोगी वाक्यों का संग्रह है। जिन विषयों पर ये वाक्य संग्रह किए गये हैं उनकी सूची पुस्तक के प्रारम्भ ० पृष्ठों में दी गई है। इसके दो विषयों पर दिये गये वाक्यों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

सन्देह—"जिसे सन्देह है उसे कहीं ठिकाना नहीं। उसका नाश निश्चित है। वह रास्ते चलता हुआ भी नहीं चलता है क्योंकि वह जानता ही नहीं मैं कहाँ हूँ।" —गाँधी

"सन्देह सच्ची दौलत का हलाहल है।" —आगस्टाइन

विद्वत्ता—"संसार के महान व्यक्ति अक्सर बड़े विद्वान नहीं रहते और न बड़े विद्वान महान व्यक्ति हुए हैं।" —होमस

"तू विद्वान है तो इतनी डींगें क्यों मारता है! क्या विद्वता की यही पहचान है!" —अज्ञात

"विद्वता का अभिमान सबसे बड़ा अज्ञान है।" —जैरेमीटेलर

इस प्रकार यह पुस्तक पाठक के लिए एक ज्ञान कोष का काम देगी। इसका नाम 'ज्ञान गङ्गा' बहुत ही उपयुक्त रक्खा गया है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक बहुत पसन्द की जायगी। —म

समाज और जीवन—ले०-श्री जमनालाल जैन, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल। पृष्ठ ११३, मूल्य १)

पुस्तक में भिन्न भिन्न विषयों पर श्रमण संस्कृति सम्बन्धित तेरह लेख संग्रहीत हैं। समाज और जीवन में अनेकों ऐसी घटनायें आती हैं जिनके कारण मनुष्य विकास का अवसर ही प्राप्त नहीं कर पाता। लेख भावनापूर्ण और उपदेशप्रद हैं।

जीवनी

साधकों के जीवन पथ पर—लेखक-श्री विजयशङ्कर मुन्शी बी० ए०, प्रकाशक-स्वरूप 'आदर्श' इन्दौर। पृष्ठ ७६, मूल्य १)

पुस्तक में भारत के ही नहीं विदेशी साधकों की भी जिन्होंने अपने-अपने स्थलों को चुनकर निर्भय हो उसे पूरा करने में अपने को समर्थ समझा है, जीवनी है। राजनीति में प० जवाहरलाल नेहरू, समाजवादी मेक्सिमगोर्की, विज्ञान में मि० रमन, साहित्य में प्रेमचन्द आदि का प्रभावशाली लेखनी में वर्णन किया गया है। —प्रतापचन्द्र

दर्शन

वायु महापुराण—अनुवादक-श्री रामप्रताप त्रिपाठी, प्रकाशक-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ ५४७, मूल्य १२)

चतुर्वेद और षड्दर्शन के गम्भीर दार्शनिक तत्वों की विवेचना जन-सामान्य की बौद्धिक पहुँच से परे है। तत्व-ज्ञान, ज्ञान मीमांसा और विश्व की व्याख्या-सम्बन्धित उनके विचार सूक्ति रूप में अभिव्यक्त होने के कारण सहज ही नहीं समझे जा सकते। विशुद्ध भावना की अभिव्यक्ति भी एक विशेष मानसिक स्तर की वांछना करती है। और जब इन्हें सूत्र-रूप में ग्रहण करना होता है तो कार्य और भी कठिन हो जाता है। किन्तु जब इन्हीं गम्भीर सिद्धान्त-सूक्तियों की विवेचना कथानक द्वारा अभिव्यक्त की जाती है, तो मानव मन उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है। पुराण भी ऐसी ही विवेचना हैं। पुरातन महर्षियों ने पुराणों में दर्शन जैसे गूढ़ विषय को जनसुलभ बनाने का प्रयास किया था।

हिन्दी में वायु पुराण के अनुवाद का यह प्रथम प्रयास है। तत्कालीन दार्शनिक विचार तथा भारतीय-संस्कृति को समझने में पुस्तक अत्यन्त सहायक है। धार्मिक रुचिवालों के लिए भी अपनी पिपासा शान्ति का अच्छा साधन है।

किन्तु प्रस्तुत पुस्तक के विषय में मुझे कुछ विशेष रूप से कहना है। प्रस्तुत पुस्तक के अनुवादक के शब्दों में "अनुवाद राष्ट्रीय हित और समाज की उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए सर्वजनीन सरल सुबोध भाषा और कथानक शैली में करने का प्रयास किया है।" (पृष्ठ १७) प्रकाशकीय में दावा किया गया है कि "न केवल धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से ही वरन् शुद्ध जिज्ञासा एवं तत्व-पिपासा की दृष्टि से भी इसका अध्ययन विशेष मनोरञ्जक होगा।" अनुवादक तथा प्रकाशक अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफलता लाभ कर सके हैं, एक विचारणीय प्रश्न है।

अनुवाद इतनी सुबोध भाषा में नहीं हुआ कि पुस्तक सार्वजनीन बन सके। देखिए "वाणी उस सृष्टि तत्त्व तक मन के साथ ही अपनी गति प्राप्त न करके निवृत्त हो जाती है। जिस प्रकार अव्यक्त परोक्ष एवं दुरधिगम्य है, उसी प्रकार सृष्टि के विषय भी परोक्ष एवं दुरधिगम्य हैं।...संसृति के कार्यजाल निवृत्त हो जाते हैं, उस समय पुरुष प्रकृति में साधर्म्य से अवस्थित होता है, प्राणियों के व्यक्ताव्यक्त धर्माधर्म भी विलीन हो जाते हैं। गुण सत्व में सत्वमात्रात्मक धर्म प्रतिष्ठित होता है, तमोगुण

में तमोनात्रात्मक गुण प्रतिष्ठित होता है।" (पृष्ठ ४८६) दार्शनिक भावों को सरल भाषा में अनूदित करना बहुत आसान नहीं है, फिर भी इसे कुछ और सरल बनाना चाहिए था। कथामय उद्धरण ले लीजिए— 'सूतजी बोले—अब पृथ्वी के नीचे और ऊपर के मार्गों का प्रमाण सुनिये। यह पृथ्वी मृत्तिका, वायु, आकाश, जल और ज्योति स्वरूप पंचभूतों से परिव्याप्त है।" (पृष्ठ १५६) जो पाठक इन उद्धरणों की संस्कृतमय पदावली को भलीभाँति समझ सकता है, वह वायुपुराण के मूल को भी समझने की क्षमता रखेगा। संस्कृत की क्रियाओं को हिन्दी में रूपान्तरित कर देना, सफल अनुवाद नहीं कहा जा सकता।

आमुख के विषय में एक बात और। Impressionistic ढङ्ग की आलोचना आमुख में शोभा नहीं देती। "विश्व साहित्य की अक्षय निधियों में अठारह पुराण सर्वश्रेष्ठ १८ रत्न हैं।" शब्दों का चयन यदि सँभल कर किया जाये तो अच्छा हो। अनुवादक ने अत्यधिक भावुकता का परिचय न दिया होता तो उचित होता। "भविष्य में होने वाले कल्कि अवतार की सत्यता से सहसा इन्कार इसलिए नहीं किया जा सकता कि घटनाओं की सत्यता उत्तरोत्तर प्रमाणित होती जा रही हैं।" ये वाक्य एक धर्म प्रचारक के लिए उचित हैं, अनुवादक के लिए आमुख में लिखना उचित नहीं। "समाज के अन्तर्वाह्य कलेवर को शुद्ध बनाकर सत्य शिव सुंदर के निकट पहुँचाने का सामर्थ्य पुराणों में अब भी है। किन्तु उससे उपयोग की कला सीखनी चाहिए।" आमुख में प्रामाणिक कथन ही देना चाहिए।

इसी तरह विश्वामित्र और मेनका वर्षों तथा नदियों आदि को वेद के चमत्कारिक पदार्थ मानव रूढ़िवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं। (देखिए पृष्ठ ८) और इससे भी तो अधिक आश्चर्य यह है कि आमुख लेखक ने उपरोक्त विचारों को स्वयं ही काट दिया है। (देखिए पृष्ठ ११) धर्म आचार शास्त्र की आधारशिला है, अन्ध विश्वास नहीं है।

ग्रन्थ का नाम, लेखक, ग्रन्थ में उपलब्ध दर्शन, ग्रन्थ का रचना काल आदि के विषय में आमुख लेखक पूर्ण मौन रहा है। इस दृष्टि से श्री दीक्षित की Some Aspects of the Vayu Purana सुन्दर पुस्तक है। पुस्तक के आधार पर तत्कालीन सामाजिक चित्रण भी दिया जाता तो अच्छा होता। डा० पाटिल की Cultural History from the Vayu Purana इस विषय में सुन्दर पुस्तक है।

यह कमियाँ होते हुए भी पुस्तक का महत्व घटता नहीं है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने संस्कृत के ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कराने का प्रबन्ध किया है—इसके लिए वह बधाई का पात्र है।

—हरिनारायण वर्मा एम० ए०

गीतायण—लेखक-श्री दि० पा० मार्डीकर (माऊकवि)। प्रकाशिका-श्रीमती सौभाग्यवती चन्द्रिका देवी मार्डीकर। पृष्ठ ११७, मूल्य २।)

श्री मद्भगवद्गीता के कई पद्यानुवाद निकले हैं। प्रस्तुत अनुवाद की यह विशेषता है कि रामायण की भाँति यह दोहा चौपाइयों में है और अपेक्षाकृत स्वतन्त्र है। इस पर गांधीवाद का प्रभाव है। लेखक श्री भगवान मायानन्दजी चैतन्य के अनुयायी हैं। उनको बीसवीं शती का कृष्णावतार माना गया है। लेखक ने गीतानुवाद के बीच में उनके नाम का भी श्रद्धापूर्वक समावेश किया है—

'कृष्ण रूप मायानन्द धारा।
बीस शतक में भा उजियारा'

अच्छा होता यदि पद्य भाग में लेखक शुद्ध गीता तक ही अपने को सीमित रखते। इस से कम पढ़े लोगों को यह जानना कठिन हो जायगा कि कितना लेखक का अंश है, कितना मूल गीता का। गीतायन की भाषा अवधी और खड़ी बोली का मिश्रण मालूम होती है। इसकी गद्य भूमिका विचारपूर्ण है। इसमें विश्व दर्शन को अधिक महत्व दिया गया है। —गुलाबराय

व्यावहारिक हिन्दी—लेखक-श्री ना० नागप्पा एम० ए०, प्रकाशक-दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मदरास। पृष्ठ २६४, सजिल्द मूल्य ४)

दक्षिण भारत और दूसरे अहिन्दी भाषी प्रान्तों के हिन्दी सीखने वाले व्यक्तियों के हितार्थ यह पुस्तक तैयार की गई है। इसमें पहले भाग में तीस पाठ हैं जिनमें अँग्रेजी के सहारे हिन्दी सिखाई गई है। अनेक विषयों पर हिन्दी वाक्य और उनका अँग्रेजी अनुवाद साथ साथ दिया है। दूसरे भाग में सभी प्रकार का पत्र व्यवहार कैसे हो यह अँग्रेजी के साथ सिखाया है। तीसरे भाग में कुछ निबन्ध दिए हैं और प्रत्येक निबन्ध के आगे उसी विषय पर कुछ अँग्रेजी के वाक्य हिन्दी अनुवाद करने के लिए दिए गए हैं। चौथे भाग में अँग्रेजी से हिन्दी और हिन्दी से अंग्रेजी शब्द कोष है। पुस्तक में आदि से अन्त तक नित्य व्यवहार में आने वाली बातें हैं। —म०

प्राप्ति स्वीकार

हिन्दी भाषा का विकास—लेखक-श्री उत्तमचन्द जैन, प्रकाशक-श्री छेदालाल श्रीवास्तव २५ महारानी रोड, इन्दौर। पृष्ठ १०, मूल्य ।)

हिन्दी और उससे सम्बन्धित भाषाओं का चार्ट।

आधुनिक कवि—लेखक तथा प्रकाशक-श्री मातादीन चतुर्वेदी औरैया, इटावा। पृष्ठ ५८, मू० ॥)

आज के कवियों की पद्य में आलोचना।

कीर्तिकृत भक्ति साहित्य—लेखक-श्री चिरञ्जीलाल माथुर 'पङ्कज', प्रकाशक-श्री भवानीलाल माथुर रजनी प्रकाशन-जोधपुर। पृष्ठ ३७, मूल्य ॥=)

लेखक ने रानी कीर्तिदेवी को हिन्दी जगत में मीरा के रूप में रखा है और उनकी आलोचना की है।

बापू के विचार—सम्पादक-श्री अद्भुत शास्त्री, प्रकाशक-बापू प्रकाशन रतनगढ़। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

का संग्रह है।

त्रिवेणी—लेखक-सुदामाप्रसाद चतुर्वेदी एम० ए०, प्रकाशक-मीतल पब्लिशिङ्ग हाऊस, मथुरा। पृष्ठ १२०, मूल्य १॥)

इसमें सिद्धराज, पथिक और कुणाल तीनों पुस्तकों की आलोचना लिखी गई है। पुस्तक परीक्षोपयोगी है। विवेचन अच्छा है।

जनमेजय का नागयज्ञ : एक समीक्षा—लेखक-डा० सुधीन्द्र, प्रकाशक-हिन्दी भवन लश्कर। पृष्ठ ३१, मूल्य ॥)

लेखक ने श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' रचित 'जनमेजय का नागयज्ञ' पर नाटकीय तत्वों के साथ समीक्षा की है। पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

आधुनिक वादों की स० रूपरेखा—लेखक-कृष्णसहाय वर्मा, उत्तमचन्द जैन गोयल। प्रकाशक-श्री छेदालाल श्रीवास्तव २५, महारानी रोड इन्दौर। पृष्ठ ४८, मूल्य ||।)

आज का युग वादों का है। जीवन में भिन्न-भिन्न चेतनाएँ विचार विशेष में प्रवाहित रहती हैं। जिस विशेष वाद की ओर चेतना का प्रवाह होगा, समझ लीजिए कि वह अमुक वाद का अनुयायी है। उक्त पुस्तक में साहित्यिक वादों से लेकर राजनैतिक वादों तक सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला है।

हिन्दी शुद्ध लेखन—लेखक-श्री यशचन्द्रजी, प्रका०-विद्याग्रन्थ प्रकाशन, वर्धा। पृष्ठ ६०, मूल्य ॥=)

हिन्दी भाषा में शुद्ध प्रयोग के लिए व्याकरण के नियमों का ज्ञान कराना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी—लेखक-श्री महेशचन्द्र चतुर्वेदी, प्रकाशक-ज्ञान मन्दिर पटकापुर, कानपुर। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

पुस्तक में द्विवेदी जी का जीवन तथा उनकी हिन्दी की सेवाओं का वर्णन है।

मि० ह्य ूम की परम्परा—लेखक-प० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री, प्रकाशक-हिमालय एजेंसी, कनखल। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

कांग्रेस के पिता मि० ह्यूम को लोग भूल न जावें इसीलिए यह उनकी सुपाठ्य जीवनी लिखी गई है।

श्री सुभाषचन्द्र बोष—लेखक-श्री किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक-राष्ट्र भाषा परिष्कार परिषद कनखल। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥।)

देश के मान्य नेता श्री सुभाषचन्द्रजी का जीवन-वृत्तान्त रोचक ढङ्ग से दिया गया है।

पूर्णिमा—लेखक-श्री प्रदीप, प्रकाशक राधेश्याम स्वामी, प्रताप प्रेस मथुरा। पृष्ठ २२, मूल्य ॥)

पहले आठ पृष्ठों में लेखक का परिचय और १६ पृष्ठों में उनकी कविताओं का संग्रह है। अधिकांश कविताएँ प्रेम सम्बन्धी हैं।

प्रथमा प्रश्नोत्तरी—लेखक-श्री गुलाबचन्द जैन, प्रकाशक-साहित्य साधना कुटीर, इन्दौर। पृष्ठ ६८, मूल्य ॥।)

इस पुस्तक में प्रथमा परीक्षा के साहित्य विषय के स० २००७ के प्रश्न-पत्र हल सहित दिये गये हैं। पूरक परीक्षा के प्रश्नों का भी सक्षिप्त उल्लेख है।

कुरुक्षेत्र की अन्तरात्मा—लेखक-श्री उत्तमचन्द्र जैन 'गोयल' तथा सुश्री शारदादेवी, प्रकाशक-साहित्य साधना कुटीर, इन्दौर। पृष्ठ २२, मू० ।≈)

उक्त पुस्तिका में कवि दिनकर के प्रबन्ध काव्य 'कुरुक्षेत्र' पर आलोचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत किया है। इसमें सक्षेप में कवि, उसकी रचनाओं तथा 'कुरुक्षेत्र' के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला गया है।

वीर कुँवरसिंह—लेखक-श्री जगदीश झा 'विमल'। प्रकाशक-बाल शिक्षा समिति, पटना। पृष्ठ ५०, मूल्य ॥)

यह जीवनी बिहार के प्रसिद्ध देश भक्त बाबू कुँवरसिंह की है। सुपाठ्य, सुन्दर छपाई में अच्छी बालोपयोगी पुस्तक है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—लेखक-श्री प्रेमनारायण टण्डन। प्र०-बालशिक्षा समिति, पटना। पृ० ४२, मूल्य ॥)

हिन्दी के आधुनिक काल में द्विवेदीजी ने भाषा के निर्माण और और हिन्दी की उन्नति के लिए जो कार्य किया है इस पुस्तक को पढ़कर भली भाँति जाना जा सकता है।

भारतीय इतिहास और वेद—ले०-शिवपूजन सिंह कुशवाहा, प्रकाशक-जयदेव ब्रदर्स, आत्माराम बड़ौदा। पृ० १६, मूल्य ≠)

लेखक डा० राजवली पाँडेय के 'प्राचीन भारत' नामक ग्रन्थ के कुछ सिद्धान्तों से असहमत हैं। आपने इस छोटी सी पुस्तक में वेदों से कुछ श्लोक उद्धृत कर पाँडेयजी के सिद्धान्तों को निर्मूल सिद्ध करने का प्रयास किया है।

पञ्चवटी-परिचय – ले० श्यामसुन्दरदास, प्र०-दीनानाथ बुकडिपो, इन्दौर। पृ० २४, मूल्य ।)

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के पञ्चवटी खण्ड-काव्य का इस पुस्तक में समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

हिन्दी भाषा और लिपि-परिचय—ले० व प्र०-वि० आ० चौधरी रा० मा० प्र० मण्डल सांगली। पृ० १६, मूल्य ≈)

हिन्दी के परीक्षार्थियों के लिए उपयुक्त है।

साहित्यिक लेख—ले०-लक्ष्मीदत्त शर्मा, प्र०-श्री भारतीय विद्या भवन कोटा। पृ० २०, मूल्य ।-)

शर्माजी ने इस पुस्तक में दो लेख—आलोचना क्या है? और कामायनी एक अध्ययन—प्रस्तुत किये हैं। दोनों ही लेख परीक्षोपयोगी हैं।

परीक्षार्थी प्रबोध भाग २

का

द्वितीय संस्करण छप गया
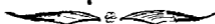
परीक्षार्थी प्रबोध पाठकों ने इतना पसन्द किया है कि उसका पहला भाग तो एक ही महीने में समाप्त हो गया था। इसका दूसरा संस्करण भी समाप्त हो गया फिर हमें तीसरा संस्करण निकालना पड़ा। इसी प्रकार दूसरे भाग का पहला संस्करण भी समाप्त हो गया और बहुत से आर्डर कैन्सिल करने पड़े—अब दूसरा संस्करण छप कर तैयार हुआ है।

परीक्षार्थी प्रबोध के तीसरे भाग का प्रथम संस्करण इसी नवम्बर मास ४ में छपा था जिसकी थोड़ी सी प्रतियाँ ही शेष हैं।

पृष्ठ संख्या प्रत्येक की ३०० है और मूल्य प्रत्येक का ३) पोस्टेज अलग।

विषय सूची मुफ्त मगायें।

साहित्य सन्देश के ग्राहकों को परीक्षार्थी प्रबोध पौने मूल्य में मिलेगा। अतः जो साहित्य सन्देश के ग्राहक नहीं हैं वे आज ही उसके वार्षिक मूल्य के ४) मनीआर्डर से भेज कर ग्राहक बन जायँ।

प्रकाशक—

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

Sahitya Sandesh, Agra

JANUARY 1952

REGD NO A 263.

Licence No 15.

Licensed to Post without Prepayment

वर्ष १३] आगरा—मार्च १९५२ [अङ्क

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.

महेन्द्र

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक

साहित्य-प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का।≈)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के द्वितीय सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

हिन्दी का नया प्रकाशन : फरवरी, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं

आलोचना

हिन्दी कवियों की काव्य साधना— प० दुर्गाशङ्कर मिश्र ४।।)
भाषा विज्ञान—भोलानाथ तिवारी एम० ए० ५)
पन्त का युग और काव्य—यशदेव ५)
चन्द्रगुप्त—फूलचन्द्र पान्डेय २।।)
दिनकर—प्रा० शिवबालकराय एम० ए० ५)
तुलसी व्यक्तित्व और विचार— श्रीहरिकृष्ण अवस्थी १)
साहित्य समीक्षा— प्रा० देवेन्द्रनाथ शर्मा एम० ए० २।।।)

निबन्ध

निबन्ध रत्नाकर— सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी० २।।।)

कहानी

इन्सान पैदा हुआ—राँगेय राघव २।।।)
पद्म तन्त्र—सत्यकाम विद्यालङ्कार ३।।)
नरक का न्याय—मोहनसिंह सेंगर २।।)

राजनीति

संविधान की रूपरेखा—श्रीपालचन्द्र जैन ।।)

इतिहास

भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास— सुख सम्पतिराय ८।।।)

उपन्यास

चीवर—राँगेय राघव ५)
प्रतिदान— ,, २।।)
क्रौंचवध—वि० स० खाँडेकर ३)

विविध

विलुप्त जीव जन्तु—जगपति चतुर्वेदी २)
समुद्री जीव जन्तु— ,, २)
वनस्पति की कहानी— ,, २)
बिजली की कहानी— ,, २)
कारागार से पिता के पत्र—देवकीनन्दन विभव २)
मानसिक शक्ति के चमत्कार— सत्यकाम विद्यालङ्कार २।)
नूरजहाँ की टीका—रामखेलावन चौधरी २।)
सटीक कबीर वचनावली—तेजनारायण टन्डन २।।)
आत्मकथा सार— ,, ,, ।।।)
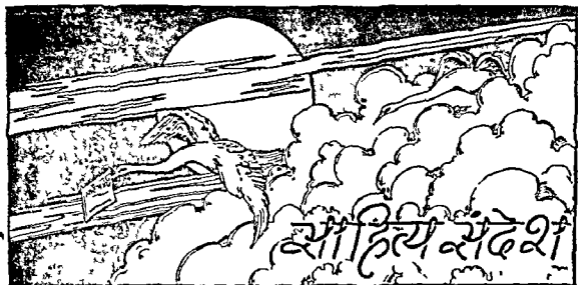
वर्ष १३] आगरा—मार्च १९५२ [अङ्क ९

हमारी विचार-धारा

कवियों की स्मृति का प्रश्न—

कवियों की स्मृति का प्रश्न बहुत पुराना है। हिन्दी में इस विषय में कभी प्रबल आन्दोलन चला था। किन्तु यहाँ प्रत्येक बात क्षणिक महत्व प्राप्त करके समाप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में हम एक निजी पत्र में से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। पत्र पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का है। वे लिखते हैं—

"२४ फरवरी सत्यनारायण का जन्म-दिन है। ना० प्र० सभा द्वारा यह दिवस मनाया जा सकता है।" यह खेद का विषय है कि 'हृदयतरंग' की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए कोई विशेष उद्योग नहीं किया गया। और मेरी सत्यनारायण की जीवनी अब अप्राप्य है, क्या अपने कवियों को स्मरण रखने की यही विधि है ?'

साथ ही 'नईधारा' से ये पंक्तियाँ भी ध्यान आकर्षित करती हैं :—

"प्रसादजी पूजा के पात्र थे, आज भी हम उनकी जन्म और निधन तिथि मना कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं। उनकी पुस्तकें स्कूलों, कालिजों के लिए स्वीकृत हुई हैं; अतः उन पर, उनकी कृतियों पर लिखे ग्रन्थों की कमी नहीं। किन्तु, जब जब उनकी याद आती है, एक बात हृदय में बड़ी कसक पैदा करती है। अभी तक प्रसादजी के जीवन पर कोई ऐसी पुस्तक नहीं निकल सकी जिससे उनके अलौकिक व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश पड़ सके।"

एक तो सत्यनारायण कविरत्न के सम्बन्ध में समस्या यह है कि उनकी रचनाओं को सुलभ कराने का कोई प्रयत्न नहीं, तथा उन पर लिखी जीवनी का नया संस्करण कराने की कोई चेष्टा नहीं।

दूसरे प्रसाद के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि कोई अच्छी जीवनी नहीं। हमारा तो यह विचार है कि प्रसादजी की रचनाएँ विश्वविद्यालयों में पाठ्य-ग्रन्थ हैं, इससे उन पर कोई उनके कृतित्व का यथार्थ मूल्यांकन करने वाली रचनाएँ भी नहीं लिखी गयीं। प्रत्येक लेखक के समक्ष कालेज के विद्यार्थियों की ही आवश्यकता पूर्ति का दृष्टिकोण रहा है। इस दृष्टिकोण ने साहित्य के मौलिक और महत्त्वपूर्ण अध्ययन में बहुत बाधा डाली है, और साहित्य-कर्म बहुत कुछ क्षुब्ध हुआ है, उसका स्तर ऊँचा नहीं उठ सका है। हिन्दी सेवकों को इधर ध्यान देने की आवश्यकता है।

श्री जोहून ऑफी की योजना—

जोहन ऑफी की योजना का मर्म यह है कि जब कोई पाठक किसी पुस्तकालय से पुस्तक ले तो उससे एक पैनी ली जाय। यह पैनी उस पुस्तक के लेखक को भेज दी जाय। इस प्रकार लेखक के प्रति होने वाले अत्याचार का कुछ परिमार्जन हो सकता है। इस योजना की ओर संकेत करते हुए 'दी इण्डियन पी० ई० एन०' में लिखा है कि यह भारत में विशेष उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि भारतमें जो पुस्तक कहीं से उधार मिल सकती है उसे खरीदने का मन नहीं किया जाता।

यदि यह योजना भारत में चलाई जाय और यह सफलता पूर्वक चल सके तो लेखकों के लिए अवश्य ही लाभदायक सिद्ध होगी, और अन्ततः साहित्य के लिए भी। किन्तु दरिद्र भारत में यह भी सम्भव है कि फिर पुस्तकालयों की भी उपेक्षा होने लगे।

एक भविष्यवाणी—

प० बनारसीदास चतुर्वेदीजी ने आगामी पन्द्रह वर्षों को हिन्दी साहित्यिकों के लिए घोर सङ्कट का बताते हुए, यह भविष्यवाणी की है:—

'लीडरबाजी खूब पनपेगी, साहित्य-क्षेत्र में चोर बाजारी का साम्राज्य रहेगा, सत्तात्मक राजनीति के चक्कर में पड़कर बीसियों लेखक आत्मसम्मान खोदेंगे और सजीव कवियों को भोजन के भी लाले पड़ जायँगे—चोर बाजारी ही नहीं साहित्य में गिरह कटी और डाकेजनी के भी नये रूप खड़े होंगे। पारिश्रमिक का प्रलोभन देकर आप से लेख लिया जायगा, और फिर आपके पत्रों तक के उत्तर नहीं दिये जायँगे इधर-उधर के प्रश्न जोड़कर आपसे उनके उत्तर लिए जायँगे, लिखकर या आपके बहुमूल्य समय पर छापा मारकर और उसे प्रश्नकर्त्ता अपना लेख बनाकर प्रकाशित करायेंगे तथा पारिश्रमिक और रायल्टी स्वयं लेंगे, आपके प्रकाशित अप्रकाशित लेखों को आपसे पूछ के या बिना पूछे संग्रहों में सम्मिलित करेंगे, और स्वयं सम्पादक बनकर रायल्टी अपनी गाँठ बाँधेंगे। ये ठगने का कार्य लेखक ही लेखकों के प्रति करेंगे। बिना श्रम के धन, नाम और यश सभी मिले तो किसे बुरा लगेगा! इस स्थिति से देखें उद्धार का मार्ग कब निकलता है! बिना उद्धार हुए हिन्दी साहित्य उज्ज्वलता, प्रकाश और ऊँचा स्तर नहीं प्राप्त कर सकता।

प्रयोगशील साहित्य—

प्रयोगशील-साहित्य को कई नाम देकर व्याख्या की गयी है—शिवदानसिंह चौहान इसे 'प्रतीकवादी' साहित्य कहते हैं। इन्होंने इसमें 'बिम्बवाद' भी माना है—'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' के नाम पर 'प्रतीकवाद' (सिम्बालिज्म) और 'बिम्बवाद' (इमेजिज्म) की जो मिली जुली प्रवृत्ति, विशेषकर इन दिनों, हिन्दी काव्य की एक विशेषधारा बनती जा रही है।'.....आदि। शमशेर बहादुरसिंह प्रयोगवाद लफ्ज को गलत बताते हुए प्रयोगवाद से जो समझा जाने लगा है उसे सिंबालिज्म तथा फार्मेलिज्म का कोई भी रूप मानते हैं।

'प्रयोगशील' साहित्य आज विशेष चर्चा का विषय बना है, 'अज्ञेय' के व्यक्तित्व के कारण। अज्ञेयजी ने पहले एक 'तार सप्तक' प्रकाशित किया, और उसके कुछ वर्षों बाद अब 'दूसरा सप्तक' नाम का एक संग्रह प्रकाशित किया। इन सप्तकों की भूमिका में उन्होंने प्रयोग की चर्चा की। बस, इन चौदह कवियों की इन कुछ कविताओं के इस प्रकाशन से यह चर्चा आरम्भ हुई है, इसने अनेकों साहित्य महारथियों को व्यस्त किया है। इन कविता के प्रयोगों को 'प्रयोगवाद' का नाम भी दिया गया है। वाद के घेरे में बाँध देने से स्थिति भयंकर हो उठी है। यों अज्ञेयजी ने भूमिकाओं में यह बताने की चेष्टा की है कि इन रचनाओं में 'प्रयोग' है, प्रयोगवाद नहीं। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है 'प्रयोग' द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी जान सकता है, और अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर

सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फल प्रद होता है।

इन रचनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत करने और इस प्रकार की भूमिका देने में कोई आपत्तिजनक बात नहीं दिखायी देती है। प्रत्येक ऐसे कवि की ऐसी रचनाएँ जो किसी परम्परा अथवा प्रचित-पथ अथवा स्थिर मतवाद के अनुकूल नहीं; तथा जो किसी अहङ्कार के साथ भी वस्तुत नहीं की गयी, पर जिनमें कुछ चमक है, 'प्रयोगशील' रचनाएँ ही कही जायेंगी। इन दोनों सतकों में साधारणतः ऐसे ही प्रयोग संग्रहीत हैं—वस्तु तथा रूप दोनों में। किन्तु जब इन समस्त प्रयोगों' की पृष्ठभूमि में अज्ञेयजी के व्यक्तित्व और उनकी भाव धारा की कल्पना प्रतिष्ठित करली जाती है, तो स्थित बदल जाती है। तब जिन्हें अज्ञेयजी की कला-दृष्टि से ही असन्तोष है, और जो यह समझकर कि यह 'प्रगतिवाद' की शुष्क रचना-प्रक्रिया को काव्य रस से युक्त करने की चेष्टा भी है, भयभीत भी होते हैं; क्योंकि वे समझते हैं—कि इस प्रकार 'वस्तु' की ओर से दृष्टि हटाकर 'रूप' की ओर प्रवृत्त का जा रही है। वे इसमें प्रतीकवाद और विषयवाद की झलक पाकर और प्रेषणीयता की कमी पाकर इस पर आक्रमण करते हैं।

प्रयोगशील सम्बन्धी नवीन उद्वेलन की यह वस्तु स्थिति है; इसे पाठक हृदयङ्गम करलें।

हिन्दी के विकास की सरकारी योजनाएँ—

'सम्मेलन पत्रिका' का नया रूप अभिनन्दनीय और पठनीय है। उसमें हिन्दी के विकास की सरकारी योजनाओं पर जो सम्पादकीय टिप्पणी है वह ध्यान देने योग्य है। हम उसे यहाँ अविकल देते हैं:—

भारत सरकार ने जैसे अन्य क्षेत्रों में विकास की पंच वार्षिक योजना बनाई है वैसे ही भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास के लिए भी एक योजना बनाई है। इसके लिए वह पाँच वर्षों में १७,०८,००० रुपये व्यय करेगा।

हिन्दी को वैज्ञानिक, सांस्कृतिक और शासन-सम्बन्धी तात्पर्यों की अभिव्यक्ति का योग्य साधन बनाने के प्रयत्नों को प्राथमिकता दी जायगी। अहिंदी भाषी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए विशेष प्रयत्न किया जायगा। सरकारी योजना के अनुसार दिल्ली में एक केन्द्रीय संस्था होगी जिसके अधीन चार प्रादेशिक सङ्गठन होंगे। केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय में एक हिन्दी विभाग खोला जायगा। केन्द्रीय सरकार के अहिन्दी भाषी कर्मचारियों को हिन्दी सिखाने के लिए कक्षाएँ खोली जायँगी तथा एक एक हिन्दी पुस्तकालय भी स्थापित किया जायगा। इसके अतिरिक्त देवनागरी वर्णमाला में सुधार करने, वैज्ञानिक शब्दकोषों का निर्माण करने, श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद करने तथा उच्च कोटि की मौलिक रचनाओं पर पुरस्कार देने की भी योजना है।

हिन्दी में तार—

डाक एवं तार विभाग ने अपने अधिकांश फार्मों को हिन्दी में उपलब्ध करके इस दिशा में जनता के लिए एक सुविधा कर दी। इसके साथ ही हिन्दी में तार भेजने की मोर्स पद्धति के आविष्कार के बाद से इस ओर तेजी से प्रगति हुई है तथा उन नगरों की संख्या बराबर बढ़ती गई है जहाँ से तार हिन्दी में भेजे और मँगाये जा सकते हैं। जबलपुर शिक्षण केन्द्र में हिन्दी टेलीप्रिंटर को नवीन एवं विकसित रूप देने की भी चेष्टा की जा रही है। इन कार्यों में जनता से यथेष्ट सहयोग नहीं मिल रहा है परन्तु जब तक सभी स्थानों में हिन्दी में तार देने की व्यवस्था नहीं होती इसमें विशेष सफलता की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि तार देने वाली जनता के लिए सदा उन स्थानों के नाम याद रखना जहाँ तार हिन्दी में भेजे जा सकते हैं, कठिन ही है।

सेना में हिन्दी—

पर इस दिशा में सबसे अच्छा काम तो भारतीय सेना में किया जा रहा है। हमारे प्रधान सेनापति श्री करिअप्पा अहिन्दी भाषा भाषी होते हुए भी

अच्छी हिन्दी बोल लेते हैं और उनकी नागरी हस्त लिपि बहुत सुन्दर होती है। वह राष्ट्रभाषा के प्रेमी हैं। सेना विभाग में हिन्दी का अपनाना कठिन होते हुए भी वह उसमें हिन्दी प्रचार के लिए बराबर चेष्टा कर रहे हैं। रक्षा सचिवालय (मिनिस्ट्री आव डिफेंस) ने आदेश प्रचारित किया है कि भारतीय सेना में काम करने वाले सभी स्थायी अफसरों को १ जुलाई १९५२ तक हिन्दी में एक परीक्षा अनिवार्य रूप से पास करनी पड़ेगी और ३१ सितम्बर १९५२ तक सभी लोगों को देवनागरी लिपि सीख लेनी आवश्यक होगी। १ अक्तूबर १९५६ के बाद प्रमाणपत्र वाली सभी सैनिक परीक्षाएँ देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा में ली जाया करेंगी। अनेक सैनिक छावनियों एवं शिक्षण केन्द्रों में हिन्दी के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया है और पाठ्यक्रम में हिन्दी की कई पुस्तकें भी रखी गई हैं। इस वर्ष जल सेना में भी हिन्दी सिखाने की व्यवस्था की जा रही है और अधिक से अधिक १९५३ तक जल सेना के सम्पूर्ण अफसरों के लिए नियत परीक्षाएँ पास कर लेना आवश्यक होगा। वायुसेना के अफसरों के लिए भी हिन्दी सीख लेने की अवधि अक्तूबर १९५२ तक है। रक्षा विभाग ने यह भी निश्चय किया है कि आगे से शिक्षण सम्बन्धी सब पुस्तिकाएँ हिन्दी भाषा एवं देवनागरी लिपि में ही प्रकाशित की जायँगी। इसके लिए एक सैनिक शब्दकोश भी तैयार कराया जा रहा है।

अन्य कार्य—

रेलवे सचिवालय ने डा० रघुवीर की सहायता से रेलवे में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों के लिए हिन्दी कोष तैयार करवाया है और इन हिन्दी शब्दों के प्रयोग व प्रसार की चेष्टा शीघ्र ही की जायगी। संसदीय विभाग में भी इस तरह का कुछ कार्य हो रहा है।

राज्य सरकारों एवं विश्वविद्यालयों ने भी इस दिशा में कुछ प्रगति की है। साहित्य निर्माण के उद्देश्य से बिहार सरकार ने पिछले दो वर्षों से बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की स्थापना कर रखी है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री शिवपूजन सहायजी इसके मन्त्री हैं। हमें खेद है कि उत्तर प्रदेश में हिन्दुस्तानी एकेडेमी उसी पुराने एवं शिथिल ढङ्ग से चलाई जा रही है—जब हमारे प्रान्त के शिक्षा मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द सरीखे प्रखर विचारक लेखक और हिन्दी तथा संस्कृत के गहरी निष्ठा रखनेवाले महानुभाव हैं। पंजाब एवं पेप्सू राज्यों में अफसरों के लिए हिन्दी का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया है पुस्तकालयों में हिन्दी के पत्र एवं पुस्तकें रखी जा रही हैं। त्रावनकोर कोचीन राज्य ने स्कूलों में राष्ट्र भाषा प्रचार को गति देने के लिए एक विशेष हिन्दी शिक्षाधिकारी की नियुक्ति की है। मैसूर विश्वविद्यालय ने बी० ए० के विषयों में हिन्दी को स्थान दिया है। पञ्जाब में मैट्रिक परीक्षा के लिए हिन्दी अनिवार्य कर दी गई है तथा इंटर, बी० ए० एवं एम० ए० में उसे वैकल्पिक विषयों में स्थान दिया गया है। उस्मानिया विश्वविद्यालय ने हिन्दी में श्रेष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद एवं प्रणयन की योजना बनाई है। उसकी देख रेख में अंग्रेजी हिन्दी शब्दकोष भी बनाया जा रहा है। कुछ विषयों में हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने की योजना बनाई गई है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने भी हिन्दी माध्यम से शिक्षण आरम्भ कर दिया है। यू० पी० बोर्ड भी दिन दिन हिन्दी को अधिकाधिक महत्व दे रहा है।

इस प्रकार सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी संस्थाएँ राष्ट्रभाषा के प्रचार एवं विकास के कार्य में धीरे धीरे आगे बढ़ रही हैं। यद्यपि हमारे राष्ट्र की विशालता को देखते हुए सरकार के हिन्दी सम्बन्धी कार्य की गति बहुत धीमी है फिर भी हम इस शुभारम्भ पर उसे बधाई देते हैं। यदि सच्ची निष्ठा एवं लगन से कार्य किया गया और इन कार्यों में उन सब संस्थाओं का हार्दिक सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गई जिन्होंने आज तक इस दिशा में कार्य किया है तो कोई कारण नहीं कि विधान में निश्चित अवधि के पूर्व ही हिन्दी अपने पद पर अधिष्ठित न हो।

साधारणीकरण पर पुनर्विचार

श्री भोलाशङ्कर व्यास, एम० ए०, शास्त्री

शुद्ध ध्वनिवादी पद्धति की दृष्टि से काव्य के वास्तविक 'चमत्कार' (आत्म स्वरूप) रस का विशद विवेचन किसी भी हिन्दी पण्डित के द्वारा नहीं किया गया है। वैसे इन सभी पण्डितों के मत अभिनव गुप्त के मत से कम या अधिक रूप में प्रभावित तो हुए हैं, पर वे शुद्ध रूप में अभिनव गुप्त पादाचार्य के मत का प्रतिपादन नहीं। सर्वप्रथम कई हिन्दी के पण्डितों ने रस तथा साधारणीकरण को अभिन्न मान लिया है। उनके मतानुसार साधारणीकरण की स्थिति ही रस की स्थिति है, जो वस्तुतः अभिनवगुप्त को पूरा न समझने के कारण हुआ है। कुछ विद्वान् रस स्थिति को योग की मधुमती भूमिका से जोड़ने की चेष्टा करते हैं, तो दूसरे रस की (१) दो उत्तम तथा मध्यम स्थितियाँ स्वीकार करते हुए अपने नीतिवादी मत के कारण व्यक्ति-वैचित्र्य को साधारणीकरण से भिन्न सिद्ध करते हैं। तीसरे विद्वान् रस में केवल विषयपक्ष को प्रधानता देते हैं तथा विषय पक्ष का सर्वथा तिरस्कार करते से जान पड़ते हैं। ऐसा जान पड़ता है यह सारा गड़बड़ झाला रस सिद्धान्त में प्रयुक्त इस 'साधारणीकरण' शब्द को न समझने के कारण हुआ है। 'साधारणीकरण' शब्द को अधिकतर ध्वनिवाद के सम्बन्ध में भी लोगों ने ठीक नहीं समझा है, जो भट्ट नायक का 'साधारणीकरण' व्यापार, जिसके लिए उसने दो शक्तियों की कल्पना की थी। पर अभिनव का साधारणीकरण इससे कुछ अधिक है। साधारणीकरण को न समझने के ही कारण कई पण्डितों ने, जिन्होंने वस्तुतः रस के मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विषयों पर लेखें की हैं, इस विषय में, जहाँ तक अभिनव गुप्त के रस सम्बन्धी 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रश्न है कन्नी काट ली है। वे केवल भट्ट नायक के इस सम्बन्ध में साधारणीकरण का विवेचन कर आगे बढ़ गये हैं। उदाहरण के लिए डॉ० राकेश के डी० फिल्० उपाधि वाले निबन्ध में, जो 'रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' है, हमें साधारणीकरण पर विशेष आशा थी, किन्तु पृष्ठ ७०-७१ पर वे आचार्य शुक्लजी के मत का उल्लेख कर चुप हो गये हैं।[१] वस्तुतः शुक्लजी जिस प्रकार 'साधारणीकरण' तथा रस के विषय में डॉ० राकेश को अन्धकार में छोड़ गये हैं, उसी प्रकार डॉ० राकेश भी हमें अन्धकार में ही छोड़ गये हैं।

अभिनवगुप्त की व्यञ्जनावादी रस पद्धति को पूरा न समझने का खास कारण उसकी दार्शनिक विचार-धारा से परिचय न होना है, जो इस पद्धति की जान है। अभिनवगुप्त की रस-पद्धति को कुछ शाङ्कर वेदान्तियों की दार्शनिक पद्धति तथा कुछ सांख्यों की पद्धति से जोड़ते हैं। वस्तुतः ये दोनों ही मत असमीचीन हैं। डॉ० राकेश ने अभिनवगुप्त की रस मीमांसा को सांख्य दर्शन पर आधारित मानते हुए कहा है:—

"अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में वह (अभिनवगुप्त) स्पष्टतः सांख्यों के सिद्धान्तों का अनुसरण करता है जो यह मानते हैं कि मानसिक शान्ति से ही समस्त सुख, सविदविश्रान्ति तथा समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं।"[२] सांख्यों की दार्शनिक पद्धति वस्तुतः द्वैतवादी है। वे प्रमाता तथा प्रमेय—पुरुष तथा प्रकृति को भिन्न मानते हैं। दूसरे सांख्यों का पुरुष एक न होकर अनेक हैं। तीसरे सांख्यों का

१—डॉ० राकेश 'साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस' (१९५०), पृ० ७०-७१

२—वही, पृ० ६७

प्रमाता निष्क्रिय है, तथा उसका प्रमेय (प्रकृति) जड़। अभिनवगुप्त का प्रमाता व प्रमेय अद्वैत है, वे दोनों क्रियाशील हैं, चेतन हैं। साथ ही यहाँ प्रमाता केवल एक है, अनेक नहीं, अनेकता केवल आभासमात्र है। इसलिए अभिनवगुप्त के रस विवेचन को समझने के लिए हमें शैवों के अद्वैत दर्शन की आवश्यक पद्धति से परिचय प्राप्त करना होगा। शैवों की इस दार्शनिक पद्धति की खोज म० म० पं० गोपीनाथ कविराज तथा डॉ० पाण्डेय जैसे व्यक्तियों ने की है और यह आवश्यक है कि हम इस शुद्ध दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक सामग्री का उचित उपयोग करें। इसके अतिरिक्त हम अभिनवगुप्त की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा'—कारिका की टीका 'विमर्शिनी' आदि का भी प्रयोग कर सकते हैं।

ध्वनिवादियों की सौन्दर्य-सम्बन्धी मतसरणि का अध्ययन करते समय मेरा शोपेनहावर की सौन्दर्य शास्त्रीय पद्धति की ओर भी ध्यान आकृष्ट हुआ, जिसका कला-सम्बन्धी मत उसके दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक मत पर आधारित है। जिस प्रकार शोपेनहावर के दार्शनिक मत ने ही काव्य तथा कला के क्षेत्र में 'प्रतीकवाद' (Symbolism) को जन्म दिया,[१] ठीक उसी तरह शैवों की दार्शनिक सरणि ने 'ध्वनिवादी' सौन्दर्य शास्त्र को जन्म दिया। पर जैसा कि हम देखेंगे शोपेनहावर के दार्शनिक मत की अपूर्णता ने 'प्रतीकवादी' को भी अपूर्ण रहने दिया जब कि शैवों की दार्शनिक सरणि की पूर्णता ने 'ध्वनिवादी' रस-सिद्धान्त को पूर्ण तथा 'एक मात्र सौन्दर्य का वास्तविक मापदण्ड बना दिया जिस पर सभी काव्य प्रकारों की परीक्षा हो सकती है। प्रतीकवादी कविताएँ तथा सौन्दर्य शास्त्री मापदण्ड एकाङ्गी है। जबकि रसवादी कसौटी एक ही नहीं है। उसका आनन्द शृङ्गार' तक ही सीमित है, वह जीवन के रस से अछूता है, पर रसवाद ऐसा नहीं। रसवादी का रसानुभव बीभत्स, भयानक, रौद्र तथा करुण में भी होता है। प्रगतिवादी आलोचन प्रतीकवाद को 'पलायनवाद' घोषित कर सकता है, पर रसवाद को ऐसा कहने से पहले उसे रुकना होगा। जिस प्रकार कालिदास का दुष्यन्त या भट्ट का वर्णन हमें रसमग्न कर सकता है, ठीक उसी तरह ध्वनिवादी के मत में प्रेमचन्द का होरी, गोर्की के पावेल तथा निलोवना एवं पर्लबक के ईवान तथा एनलान के वीर चरित्र भी हमें रसमग्न करके प्रभावित करने में समर्थ हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रतीकवादी की आलोचनसरणि काव्य तक ही सीमित है, वह नाटक या, उपन्यास या कहानी के क्षेत्र में काम नहीं आ सकती, किन्तु रस सिद्धान्त एक मात्र आलोचन-पथ है, जिसका मापदण्ड सभी स्थानों पर काम में आ सकता है, इसे शुद्ध ऐतिहासिक भौतिकवादी भी अस्वीकार न करेगा। हाँ वह रस के अलौकिकत्व में कुछ हेर फेर करना चाहे।

शोपेनहावर के Volantatism तथा Manifestationism के साथ-साथ शैवों के 'स्वातन्त्र्य वाद' तथा 'आभासवाद' का अध्ययन हमें यह बताने में सहायक सिद्ध होगा कि किस प्रकार साधारणीकरण वस्तुतः रसानुभूति में एक अवस्था विशेष है, जहाँ स्थायिभाव का साधारणीकरण होता है। रस की आनन्दात्मक स्थिति साधारणीकरण वाली अवस्था के आगे की सीढ़ी है और यह भी आवश्यक नहीं कि साधारणीकरण सदा रस में ही परिणत हो, वह भाव या रसाभास ही बना रह सकता है, जिस दशा में चमत्कार इसी अवस्था में है, वास्तविक रस वाली अन्तिम अवस्था वाला चमत्कार नहीं। यह समझ लेने पर यह भी सिद्ध हो जायगा कि जहाँ शुक्लजी व्यक्ति वैचित्र्य मानते हैं, वहाँ शीलद्रष्टा वाला रूप वह साधारणीकरण की स्थिति है जो किन्हीं विघ्नों के कारण रस न [illegible] सकी है। शुक्लजी का व्यक्तिवैचित्र्य या तो भावध्वनि होगा या रसाभास ध्वनि।

१—देखो मेरा लेख 'काव्य में प्रतीकवाद' (सा० स० आलोचनाङ्क)

क्रमी, के भरत या हनुमान् के चरित्र में हम भाव-ध्वनि का अनुभव करेंगे, रावण के चरित्र में रसाभास का। ठीक यही प्राकृतिक दृश्यों के अनुभव में होगा, जहाँ हम भावध्वनि का ही अनुभव करेंगे। साथ ही सम्पूर्ण प्रमाताओं में एकता, सम्पूर्ण प्रमेयों की एकता हो जाने पर भी प्रमाता व प्रमेय वाला द्वैत साधारणीकरण की स्थिति तक बना ही रहता है, रस की स्थिति में वे एक हो जाते हैं, विषयी या विषय का भेद नहीं रहता। पर जो साधारणीकरण रस की अवस्था में परिणत नहीं हो पाता, वहाँ वाला आनन्द सच्चा आनन्द न होकर आनन्दाभास होता है, वह ठीक वैसा ही है जैसा सांख्यों के पुरुष तथा प्रकृति के द्वैत तत्त्व का अनुभव। यहाँ हम यह भी कह दें शोपेनहावर का काव्य या कला वाला आनन्द इसी कोटि का आनन्दाभास है, जहाँ साधारणीकरण तो हो गया है, लेकिन प्रमाता व प्रमेय का भेद नहीं गया है। प्रमाता प्रमेय का भेद मिट जाने पर 'मैं' (अहमिति) केवल इसी रूप का अनुभव होता है, वहाँ विश्व भी 'मैं' हो जाता है, 'मैं' का आभास मात्र (Menifestation) नहीं रहता, जो वस्तुतः शैव वेदान्ती के लिए दूसरी प्रक्रिया है, वास्तविक तत्त्व नहीं। कहना न होगा शोपेनहावर विश्व को 'मैं' न मान कर 'मैं' का आभास (Die welt ist meine Vorstellung) मानता है। यही कारण है कि प्रतीकवादी का काव्य सच्चा रस न होकर ध्वनिवादी के मतानुसार 'आनन्दाभास' है, वह भाव ध्वनि है। तभी तो कविवर प्रसाद ने हिन्दी प्रतीकवाद (रहस्यवाद) को 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का प्रयत्न माना है, दोनों का समन्वय नहीं।[१]

शैव, अद्वैत परम शिव तत्त्व केवल एक मानता है, जहाँ प्रमाता तथा प्रमेय—शिव तथा शक्ति का भेद नहीं रहता। शैव अद्वैतवादी इसकी पर्वाह नहीं करेगा कि आप उस तत्त्व को प्रमाता कहें; या प्रमेय कहें। वह दोनों है, फिर भी अखण्ड 'एक' है, दो नहीं। यही कारण है कि आनन्द का अनुभव न कर वह स्वयं 'आनन्द' है, 'अनुभव' शब्द के प्रयोग से तो अनुभावक तथा अनुभाव्य के द्वैत की पूर्वसिद्धि हो जाती है। यही 'आनन्द' की स्थिति शैवों ने 'मैं' के विमर्श में समस्त कर दी है।[१] यह स्थिति वह है, जब कि 'मैं' (परम शिव) में केवल चित् तथा आनन्द ही है, कोई इच्छा नहीं। इच्छा के अभाव के कारण ही उसे विषयी तथा विषय के द्वैत की आवश्यकता नहीं, वह 'एक' के आभास 'द्वैत' (शिव तथा शक्ति) के ज्ञान से सर्वथा रहित है, क्योंकि उसमें इच्छा शक्तिजनित ज्ञान का अभाव है, जो 'तुम' और 'मैं' के भेद का कारण है। यही स्थिति पूर्ण निराभास कहलाती है। इसके बाद जब इच्छा का उदय [illegible] है, जो वस्तुतः परम शिव तत्त्व की 'स्वतन्त्रा इ[illegible]' है, तब शिव तथा शक्ति-प्रमाता तथा प्रमेय का आभास उत्पन्न होता है, जो दूसरा तत्त्व है। यह परम शिव की 'स्वतन्त्रा इच्छा' ही 'कामायनी' के प्रसाद का 'काम' है। साधारणीकरण की स्थिति में प्रमाता यह शिव तत्त्व (न कि परमशिव तत्त्व) बन जाता है, तथा प्रमेय शक्ति तत्त्व बन जाता है, जो आभास तथा इच्छा के क्षेत्र के अन्तर्गत है। इस दशा तक 'मनु' का 'इड़ा' (ज्ञान शक्ति) साथ नहीं छोड़ती है। वह यह अवश्य अनुभव करने लगता है कि शक्ति मेरा आभास है, किन्तु 'मैं' ही हूँ यह नहीं। 'मैं' तथा 'मेरा' में बड़ा भेद है। सच्चा तत्त्व दोनों का एकीकरण है शिव भी है, शक्ति भी।[२]

१—दे० प्रसाद : 'काव्य और कला एवं अन्य निबन्ध' पृ० ६६

१—विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानमपि परीकरोति, उभय एकीकरोति एकीकृत द्वय मपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः ॥

—ई० प्र० वि० पृ० २१२

२—निराभासात् पूर्णा दहमिति पुरा भासयति यद्

डॉ० पाण्डेय ने एक स्थान पर बताया है कि 'आभास' शैव दर्शन की परिभाषा में Universal Idea है। इस प्रकार इसे हम शोपेनहावर का 'प्लेटोनिक आयडिया' मान सकते हैं, जिसे शोपेनहावर समस्त कलाओं का प्रतिपाद्य मानता है। अतः इस 'Universal Idea' के भाव को समझने के लिए दोनों दर्शनसरणियों को थोड़ा समझ लेना होगा। शोपेनहावर के मत से यह समस्त विश्व 'अह' का 'वोर्स्तेलूँग' (आभास) है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दवर्ल्ड एज विल एण्ड आयडिया'' की प्रथम पुस्तक 'द वर्ल्ड एज आयडिया' में वह हमें बताता है कि 'विचार' दो प्रकार के हो सकते हैं—अनुभव गम्य विचार तथा ज्ञानगम्य विचार। कान्त के मतानुसार अनुभव गम्य विचार ही दृश्यमान् जगत् हैं, जो किन्हीं विशेष अवस्थाओं में निबद्ध रहते हैं। कान्त ने यह भी बताया कि प्रथम कोटि के विचार न केवल अवस्थानिबद्ध रूप में ही, अपितु अवस्था नवच्छिन्न रूप में भी हमारे अनुभव के विषय बन सकते हैं। ज्ञानगम्य (abstract) विचार अनुभव से सम्बन्धित न होकर तर्क से सम्बन्धित हैं। किन्तु अनुभवगम्य विचार स्वतः प्रकाश ज्ञान (Intuition) के विषय, स्वतः पूर्णरूप में तथा किसी बाह्य अनुभव से स्वतन्त्र रूप में बन सकते हैं।[1] कान्त का यही Idea of perception अफलातूँ का 'एइडे' (eidy) है जिसे वह शाश्वत विचार तथा अपरिवर्तनीय आकृति मानता है। प्लेटो ने कहा है,

'इस विश्व के पदार्थ जो हमारी इन्द्रियों के विषय बनते हैं, सत्य नहीं, वे सदा बनते हैं, हैं नहीं। उनकी केवल आपेक्षिक सत्ता है, यह सत्ता केवल एक दूसरे के सम्बन्ध में तथा सम्बन्ध के कारण है। इसी कारण इन्हें हम अविद्यमान कह सकते वास्तविक तत्व, ये शाश्वत विचार एवं समस्त के मौलिक आकार हैं, जिनकी ये सब इन्हीं शाश्वत विचारों के सच्चे शब्दों में (ओन्तोस् ओन्) कहा जा सकता है, सदा विद्यमान रहते हैं, न तो इनकी उत्पत्ति ही है, न विनाश ही।'[1]

इन शाश्वत विचारों का अनुभव व्यक्ति ही कर सकता है। प्रतिभा ही वह जिसके कारण वैयक्तिक वस्तुओं का ही ज्ञान न उन वस्तुओं के 'विचार' (Idea) का ज्ञान है। इसी कारण प्रमाता भी स्वयं उस सम्बन्धित हो जाता है, वह व्यक्तित्व को शुद्ध प्रमाता बन जाता है (and thus longer an individual, but the subject of knowledge)।[2]
अनुभव करने की शक्ति (Genius) कम अधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान कलाकार की कलात्मक कृति में यही विचार प्रति है। कला कृति का वास्तविक सौन्दर्य यही नि है। शोपेनहावर इसी सम्बन्ध में 'सुन्दर' का विवे करता हुआ कहता है :—

'जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु 'सुन्दर' है हम यह मानते हैं, कि वह हमारी सौन्दर्यानुभूति विषय है और इसके दो अर्थ हैं। एक ओर यह अर्थ है कि उस वस्तु का दर्शन हमें। बना देता है अर्थात् उसके मनन में व्यक्ति के रूप में भूल जाते हैं, अर्थात् इच्छारहित प्रमाता रह जाते हैं। दूसरी ओर यह अर्थ है कि हम उस विषय में, वस्तु के को न पहचान कर, केवल विचार (Idea पहचानते हैं। यह तभी हो सकता है, जबकि मनन तर्क के द्वारा नियन्त्रित नहीं है, साथ

दिशाला माशासते तदनु च विमक्तु निजरुशाम्।
स्वरूपा उन्मेषप्रसरणानिमेषस्थितिजुषस्
तदद्वैत वन्दे परम शिव शक्त्यात्म निखिलम् ॥
—वही पृ० १

१–शोपेन० भाग १, पुस्तक १, पृ० ७–८।

१–वही भाग १, पुस्तक ३, पृ० २२१–२२।
२–वही पृ० २५१।

नहीं मानी जा सकती। लेकिन इस स्थिति में भी यह उसी परम तत्त्व का आभास है।

हमारी मनोवैज्ञानिक सरणि को हम स्मृति से आरम्भ कर सकते हैं जिसमें हमें वासनात्मतया स्थित पूर्वानुभूति वस्तु का स्मरण होता है। इस स्मरण में यह काय स्मृति शक्ति का है। आगे बढ़ कर यही स्मृति शक्ति ज्ञान शक्ति की सहायता करती है और हमें सविकल्प ज्ञान का अनुभव होता है। इसी सविकल्प ज्ञान को हम विकल्प विमर्श की दशा में पाते हैं। यहाँ तक ज्ञानशक्ति उस परम तत्त्व को अरोहित कर देती है। इसकी विजय कर लेने पर ही प्रमाता परम तत्त्व बन सकता है। 'इड़ा' को छोड़ कर ही 'श्रद्धा' के आश्रय से 'कामायनी' का 'मनु' आनन्द तत्त्व बना है। इतना होने पर भी यह ज्ञान तथा विकल्प विमर्श वाली दशा उस अन्तस्तत्त्व का आभास है।[1] शुद्ध आनन्द तत्त्व की स्थिति का वर्णन कविवर प्रसाद ने यों किया है—

हम अन्य न एव कुटुम्बी हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो जिसम कुछ नहीं कमी है।

× × ×

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख-सुख को दृश्य बनाता।
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ',
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
—(आनन्द सर्ग)

अब तक की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि के लिए पाठक से क्षमा प्रार्थना करता हुआ अब मैं ध्वनि वादी की रसपद्धति की ओर आता हूँ। चूँकि रस को समझने को कुछ पूर्वज्ञान अपेक्षित था अत इतना विवेचन किया गया है। जैसा कि स्पष्ट है "विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस निष्पत्ति होती है।" (विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः)। व्यञ्जनावादी के मत 'संयोग' का अर्थ 'व्यंग्यव्यञ्जकभाव' है तथा का अर्थ है 'अभि॰व्यक्ति'। अर्थात् विभावादि स्थायिभाव रस रूप में अभिव्यक्त होता है। सबसे पहले काव्य में सहृदय या सामाजिक विभाव, अनुभाव तथा संचारी बनते हैं। विभाव व अनुभाव चक्षुरिन्द्रिय के विषय बनते हैं व्यभिचारियों में कई तो चक्षु के कई स्मृति एवं म के। यहाँ तक ये सर्वथा वैयक्तिक रूप में ही आ हैं। इनका वास्तविक अस्तित्व है, यहाँ तक ये डॉ नगेन्द्र की कोरी 'मानसिक सृष्टि' नहीं। इसके प्रतिभा एवं कल्पना के उदय के कारण ये स विभावादि वैयक्तिकता छोड़कर 'आभासमात्र' (ह •यमात्र) बन जाते हैं, शकुन्तला यहाँ 'नायिकामा तथा शकुन्तला विषयक क्रीड़ा 'क्रीडामात्र' बन ज है। इसी प्रकार उद्दीपन विभाव भी, यथा मालि तट, देश तथा काल से सीमित न रहकर 'उद्दे स्थान मात्र' या 'काल मात्र' रह जाता है। विभ वादि की इस निर्वैयक्तिकता के लिए यद्यपि नायक 'साधारणीकरण' का प्रयोग करता है, तथ अभिनव के मत में, मैं इन्हें 'आभासमात्र' क उचित समझता हूँ। 'साधारणीकरण' शब्द को 'स्थायिभाव' के लिए रिजर्व रखना चाहता हूँ 'स्थायिभाव' के साधारणीकरण की सीढ़ी 'आभासमात्र' के बाद की सीढ़ी है। यहाँ यह कह दिया जाय कि ध्वनिवादी ने रसानुभूति अवस्था को 'असंलक्ष्यक्रम' माना है, अर्थात् ध्वनिभेदों की भाँति यहाँ व्यञ्जक से व्यंग्य तक चने का क्रम ज्ञात नहीं होता। इसका 'स्पष्ट तात् यह है कि यहाँ 'क्रम' है तो सही, पर वह इ द्रुतगति से होता है कि हमें पता नहीं लगता। हमने द्रुतगति वाले उसी क्रम को बताया है। असंलक्ष्य क्रम को ध्वनिवादी ने से स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

विभावादि का 'आभास' हो जाने पर

[1]—एवं स्मृतौ विकल्पे वाप्यपोहनपरायणे।
ज्ञाने वाप्यन्तराभास स्थित एवेति निश्चितम्॥
—वही का १६६, पृ॰ ३३३

भाव का 'साधारणीकरण' होता है। मन के द्वारा जब विभावादि विशेषाभाव रूप में आते हैं, तब वे अव-चेतन मन के अन्दर वासनात्मतया स्थित स्थायि भाव के साधारणीकृत रूप को उद्बुद्ध करते हैं। यहाँ हम साधारणीकरण का अर्थ यह लेते हैं कि इस दशा में आकर विभावादि का भी लोप हो जाता है, केवल स्थायिभाव के 'साधारणीकृत' रूप का ही अनुभव प्रमाता को होता है। इसके बाद जाकर यदि स्थायिभाव की रसनिष्पत्ति में कोई विघ्न नहीं तो वह रस बनकर स्वयं प्रमाता में समाहित होकर उसे भी रसस्वरूप, आनन्दस्वरूप बना देता है। यहाँ यह भी कह दिया जाय कि 'साधारणीकृत' स्थायिभाव ही होता है, तथापि उपचार से 'साधारणीकृतत्व' विभावादि के 'आभास' का भी मानते हैं। वैसे 'साधारणीभावना' में विभावादि केवल साधन हैं।[१]

यहाँ हम अभिनव के द्वारा नाट्यशास्त्र की व्याख्या 'भारती' में उदाहृत प्रसिद्ध पद्य को लेकर रसानुभव की इन असलक्ष्यक्रम स्थितियों को उसी के आधार पर निर्दिष्ट करेंगे। इस पद्य में दुष्यन्त के बाण के डर से भागते हुए हरिण का चित्र है, जो सहृदय में भयानक रस को व्यक्त करता है। यहाँ यह भी कह दिया जाय कि सहृदय को रस की स्थिति में 'यह भयानक है' इस प्रकार का अनुभव न होकर, 'रस है' ऐसा भाव होता है, किन्तु उपचार से शृङ्गार रस, वीर-रस इस प्रकार का व्यवहार होता है।

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति,
स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्,
भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैः, रर्धावलीढैः श्रमविवृत,
मुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा;
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं
स्तोकं मुर्व्यां प्रयाति॥

इस पद्य के रस की स्थिति को हम अभिनव के मत में यों विभक्त कर सकते हैं:—

१—काव्य-वाक्य से वाक्यार्थप्रतीति,

२—उस वाक्य में प्रयुक्त देशकालादिविभाग से रहित मानसी प्रतीति का प्रत्यक्ष (साक्षात्कारात्मिका); —(डॉ० नगेन्द्र की मानसिक सृष्टि)

३—मृगपोत के विशेषाभाव रूप के कारण, तथा भयकर्ता के अपारमार्थिक होने पर 'यह डरा है' (भीत इति) इस ज्ञान के अभाव के कारण, केवल देशकालानवच्छिन्न 'भय' ही का अनुभव,

—(साधारणीकरण दशा)

४—तब, 'मैं भीत हूँ', 'यह शत्रु, वयस्य या मध्यस्थ भीत है' इस प्रकार के सुख दुःख वाले भाव से (जिसमें कई विघ्न होते हैं) विलक्षण, निर्विघ्न-प्रतीतिग्राह्य, 'भय' ही, हृदय के सम्मुख ठीक उसी तरह जैसे मानों आँखों के आगे नाचता हुआ; —'भयानक' रस है। —[रस स्थिति][१]

यहाँ 'साधारणीकरण' दशा तीसरी दशा है, जिसमें स्थायिभाव का ही साधारणीकरण होता है, जिस साधारणीकरण के साधन वस्तुतः विभावादि का सामान्यीभूत रूप ही है। अतः विभावादि का सामान्यीभूतत्व ही साधारणीकरण है, यह मत

१—साधारणीभावना च विभावादिभिः। (न तु विभावादीनाम्) अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८७, (कोष्ठक के शब्द मेरे हैं)।

१—तस्य च 'ग्रीवाभंगाभिरामं' मित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका-पहसिततद्वाक्योपात्तदेशकालादिविभागा तावत् प्रतीति रूपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष रूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं, तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतभानादिविघ्नान्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यां विलक्षणं निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषो रिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः।—अभिनवभारती पृ० २८०

अपूर्ण है। डॉ० नगेन्द्र अपनी 'रीतिकाव्य की भूमिका' में यही विभावादि का सामान्यीभूत रूप साधारणीकरण मानते हैं, जो अभिनवगुप्त की ऊपर की नं० २ वाली प्रतिज्ञा है। वे लिखते हैं —

हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे हमको किसी प्रकार का सङ्कोच करने की आवश्यकता हो वह कवि की मानसिक सृष्टि है, अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस, इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं, वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है।

स्पष्ट है डा० नगेन्द्र भी अभिनव की साधारणीकरण वाली सरणि को न समझ पाये हैं। ऊपर का 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' डा० नगेन्द्र का प्रतिपाद्य हो सकता है अभिनवगुप्त का नहीं। डा० नगेन्द्र का मत विषयिनिष्ठ है, वे विषय का पूर्णतः तिरस्कार करते जान पड़ते हैं। शायद इसका कारण क्रोचे तथा रिचर्ड्स की विषयिनिष्ठ आलोचन पद्धति हो जिसका प्रभाव डा० नगेन्द्र की अन्य आलोचनात्मक कृतियों तथा निबन्धों में स्पष्ट है। डा० नगेन्द्र का सौन्दर्यशास्त्री मत पूर्णतः विषयिनिष्ठ (Subjective) तथा आदर्शवादी (Idealistic) है, जबकि अभिनव का मत विषय विषयिनिष्ठ (Objecto Subjective) तथा वस्तुवादात्मक आदर्शवाद (Realistic-Idealism) है, इसे कभी नहीं भूलना होगा। उसकी अनुभूति का विषय समस्त जड़ या चेतन के रूप में बाह्य विश्व में भी प्रतिफलित हो रहा है, केवल कवि की मानसिक सृष्टि नहीं। हाँ वह कवि की मानसिक सृष्टि की

२—डॉ० नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ५०

उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि उसकी रसानुभूति में यह भी एक स्थिति है। पर इसमें एक बात और समझ लें। डा० नगेन्द्र कवि को महत्व देते हैं, पर शैवों की रस स्थिति में तो कवि, श्रोता, पाठक या सामाजिक में कोई भेद नहीं रहता, सभी को 'सहृदय' के नाम से पुकारा जा सकता है। और मानसिक सृष्टि कवि की बपौती न होकर 'सहृदय' मात्र के अवचेतन मन की सृष्टि है, हाँ कवि उस सृष्टि के लिए मिट्टी जुटा देता है, पर वह कुम्भकार नहीं, कुम्भकार तो अवचेतन मन है। शैव वेदान्ती भी 'महेश्वर' के रूप में अवचेतन मन को स्वीकार करता है, जो सारे विश्व में एक है तथा प्रातिम अनुभवों का प्रत्यक्ष यही 'महेश्वर' करता है।[1] यद्यपि विषय इसी महेश्वर का अङ्ग है, फिर भी वैयक्तिक मन से स्वतन्त्र होने के कारण उसका निजी अस्तित्व (Real) भी माना जायगा, यह बात ध्यान देने की है।

प्रश्न उठता है रस दशा में पहुँचने तक हमारा 'विषय' क्या है? काव्य, या विभावादि। शैव ध्वनिवादी के मत में दोनों ही मत ठीक नहीं। काव्य या विभावादि दोनों हमारे 'विषय' के प्रत्यक्षीकरण के साधन हैं। उदाहरण के लिए अँधेरे में एक घड़ा पड़ा है। यद्यपि वहाँ घड़ा विद्यमान है, तथापि उसके प्रत्यक्ष के लिए 'ज्ञापक' कारण की आवश्यकता होती है। दीपक यह ज्ञापक कारण है। ठीक इसी तरह हमारे अवचेतन मन में वासनात्मक रूप में स्थायिभाव छिपा है, उसे प्रत्यक्ष कराने के साधन ये काव्य या विभावादि हैं। वाल्मीकि की सीता, या कालिदास की शकुन्तला,

(१) तदैक्येन बिना न स्यात् संविदां लोकपद्धतिः।
प्रकाशैक्यात् तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितम्॥
स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः॥
—ई० प्र० का० १, ८, १०-११ पृ० ४२१

जिन्हें डॉ० नगेन्द्र रसानुभूति का विषय मानते जान पड़ते हैं, विषय न होकर विषयरूप 'रति स्थायिभाव' के साधन (अभिव्यञ्जक) हैं जिसका प्रत्यक्ष वे 'सहृदय' को कराते हैं। यह स्पष्ट होने पर न तो सीता या शकुन्तला से 'रति' करने का दोष ही लगेगा, न पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति रसानुभूति के लिए दोष की कल्पना ही करनी पड़ेगी। सहृदय किसी से रति न कर केवल 'रति' का अनुभव करता है। अभिनव इस विषय में लेश मात्र भी सन्देह नहीं रखते कि साधारणीकरण प्रमाता के विषय (स्थायिभाव) का होता है, और यही विषय, विषयी में समाहित हो जाने पर 'रस हो जाता है —

'रति नामक स्थायिभाव की प्रतीति हम तटस्थ रूप में करते हैं, उसमें नियतकारणता नहीं रहती, साथ ही परात्मता के नियत रूप का भी मान नहीं रहता जिससे दुःख तथा द्वेष का उदय होता है। इस प्रकार एकमात्र संवित् के द्वारा प्रयत्नोत्पन्न साधारणीभूत रति ही शृङ्गार है। यह साधारणीकरण विभावादि के कारण होता है (अर्थात् ये उसके साधन (व्यञ्जक) हैं)'।[१]

सौन्दर्यशास्त्र की यही 'साधारणीकरण' दशा शैवों की शुद्ध दार्शनिक पद्धति में 'समरसानन्द' कहलाती है, जिसका वर्णन शैव आगमों में निम्न रूप में मिलता है —

जातं समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥

इस 'समरसानन्द' की दशा में भी 'जीवात्मा' का साधारणीकरण तो हो जाता है, फिर भी सर्वथा वह अपने आपको 'परमात्मा' में समाहित नहीं करता। शोपेनहावर का कलाकार या कवि इसी दशा तक पहुँचता है, जहाँ वह 'अमृतोपम' द्वैत का ही अनुभव करता है। वैसे यह दशा आनन्दमय अवश्य है इसका स्पष्ट निर्देश 'द्वैतमप्यमृतोपमम्' के द्वारा हुआ है। यहाँ जलालुद्दीन रूमी का लोहे का गोला आग तो हो जाता है, पर लौहत्व नहीं छोड़ता। फ्रेन्च कवि वालेरी इसी दशा का उल्लेख यों करता है —

न अ त पा स आक्त टॉद्र
दूसो दुन ए द नअ पा
का जै वसी द यु ज़ तॉद्र
ए मों कार न्हैत के वो पा॥[१]

शीघ्रता न करो यह कोमल क्रिया,
अस्तित्व एवं अनस्तित्व का माधुर्य,
क्योंकि मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा करनी पड़ी,
और मेरा हृदय केवल तुम्हारी पदध्वनि था॥

इन पंक्तियों में वालेरी ने बताया है कि जब उसकी प्रिया आकर उसका चुम्बन करेगी, तो वह रहेगा भी नहीं भी रहेगा। रूमी के ही मत का दूसरे ढङ्ग से कथन है।

इसके बाद यदि कुछ विघ्न नहीं, तो यह स्थिति रस में बदल जाती है। अभिनव ये रसविघ्न ७ प्रकार के मानता है —

(१) सम्भावना विरह,
(२) स्वगतत्व देशकालविशेषावेश,
(३) परगतत्व देशकालविशेषावेश,
(४) निजसुखादिविवशीभाव,
(५) प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्वाभाव,

१—अतएव तटस्थतया रत्यवगमः, न च नियत कारणतया, न च नियत परात्मगततया येन दुःखद्वेषाद्युदयस्तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्ते रेकस्या एव वा संविदो गोचरीभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणी भावना च विभावादिभिरिति।

—भारती पृ० २६७

१—Na Late pas cet acte tendre,
Douceur d'etre et de n'etre pas,
Car j'ai ve'cu de vous attendre
Et mon caur n'etait que vos pas.
(Paul Valery)

(६) अप्रधानता,

(७) संशययोग।

अभिनव की वह भावध्वनि या रसाभासध्वनि से रस नहीं बन पाती, इसी तालिका में से किसी एक या अधिक विघ्न के कारण। रस दशा को अभिनव सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित् मानता है, जिसे वह चमत्कार, रस, स्फुरत्ता आदि कई नामों से अभिहित करता है। इस दशा में शैवों की विमर्शदशा का अनुभव सहृदय करता है। इस विमर्श दशा का वर्णन शैवागमों में किया गया है। इस दशा में देशकाल से रहित चमत्कार तथा आनन्द का अनुभव होता है तथा इस दशा को शैव वेदान्ती 'परमेष्ठी' (परम शिव) का हृदय मानता है।[1] शैव ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों के मतानुसार यही काव्यानन्द की 'रस दशा' है अब 'सहृदय' 'अहं' का अनुभव करने लगता है। एक स्थान पर रसदशा' के इसी भाव को यों कहा गया है—

> या स्थायिभावरति रेव निमित्तभेदा
> च्छृङ्गार मुख्यनवनाट्यरसीभवन्ती।
> सामाजिकान् सहृदयान्नट नायकादी
> नानन्दयेत् सहजपूर्ण रसो ऽसौ सो ऽहम् ॥
> (स्वात्मयोगप्रदीप)

इस निबन्ध में यहाँ तक मैंने अभिनव के ही शब्दों में उसके व्यक्तिवादी रससम्बन्धी मत को रक्खा है, जो उसकी दार्शनिक सरणि पर निर्मित हुआ है। भविष्य में 'रसदशा के बाद' नाम से मैं अपना रससम्बन्धी मत भी साहित्यिकों के सम्मुख रखने की चेष्टा करूँगा।

१—सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदय परमेष्ठिन ॥
—ई० प्र० का० १५-१४।

शंकुक का रस-सिद्धान्त

प्रो० आनन्दप्रकाश दीक्षित, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

आचार्य शंकुक के रस-सिद्धान्त का नाम अनुमिति-वाद के नाम से प्रचलित है। शंकुक न्याय-दर्शन के अनुयायी थे। अतएव न्यायानुमोदित अनुमान-प्रमाण को ही स्वीकार करते हुए उन्होंने रस को अनुमेय माना। इससे पूर्व कि हम उनके रस सम्बन्धी विचारों पर दृष्टिपात करें यह उचित होगा कि हम अनुमान-सिद्धान्त को समझ लें।

[illegible] किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने [illegible] वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराने में जो साधक वस्तु काम में आती है, उसे लिंग अथवा हेतु कहा जाता है। लिंग के द्वारा होने वाला ज्ञान ही अनुमान ज्ञान कहलाता है। लिंग-परामर्शी अनुमान—यह अनुमान तीन प्रकार का होता है:—१—पूर्ववत्, २—शेषवत् तथा ३—सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान वहाँ होता है जहाँ भविष्यत् कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से होता है जैसे, दृश्यमान मेघ से होने वाली वृष्टि का अनुमान। २—शेषवत् अनुमान कार्य देखकर विगत कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे, कोई नदी की गंदी तथा वेगवती धारा को देखकर विगत वृष्टि का अनुमान करे। ३—सामान्यतोदृष्ट अनुमान इन दोनों से भिन्न प्रकार का है। उपरिलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन दोनों के साधन-पद तथा साध्य पद के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध विद्यमान रहता है। किन्तु सामान्यतोदृष्ट में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। इसको उदाहरण के द्वारा यों समझा जा सकता है कि—समय समय पर देखने से ज्ञात होता है कि चन्द्रमा आकाश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहता है। इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष नहीं भी देखकर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि चन्द्रमा गतिशील है। इस अनुमान का आधार यह है कि अन्यान्य वस्तुओं के स[illegible] परिवर्तन के साथ-साथ उनकी गति का भी प्र[illegible] होता है।

अनुमान में कम से कम तीन बातें अनि[illegible] मानी गई हैं:—१-पक्ष, २-साध्य तथा ३-[illegible] पक्ष अनुमान का वह अङ्ग है जिसके लिए अनु[illegible] की सृष्टि होती है। साध्य वह है जो पक्ष के स[illegible] में सिद्ध किया जाता है। जिसके द्वारा पक्ष सम्बन्ध में साध्य सिद्ध किया जाता है, वह [illegible] कहलाता है। वाक्यों द्वारा व्यक्त करते समय [illegible]मान का निम्न क्रम रहता है। सबसे पहले पक्ष [illegible] सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता [illegible] जैसे:—पर्वत वह्निमान है। तदुपरान्त उसका [illegible] बतलाया जाता है। जैसे:—क्योंकि पर्वत धू[illegible] है। अन्त में साध्य के साथ हेतु का अवि[illegible] सम्बन्ध बताया जाता है। जैसे—जहाँ जहाँ [illegible] है वहाँ वहाँ आग है, जैसे चूल्हे में।

अनुमान के लिए दो बातें परम आवश्यक [illegible] १-पक्ष में हेतु का होना अर्थात् पर्वत में धुएँ होना। २-हेतु और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध [illegible] अर्थात् धुआँ और आग का अविच्छेद्य सम्बन्ध होना।

अन्य व्यक्ति को समझाने के लिए अनु[illegible] पञ्चावयव वाक्य से काम लिया जाता है। यह [illegible] क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा [illegible] हैं। जैसे:—

१—राम मरणशील है। (प्रतिज्ञा)
२—क्योंकि वह मनुष्य है। (हेतु)
३—सभी मनुष्य मरणशील हैं। जैसे आदि। (उदाहरण)
४—राम भी मनुष्य है। (उपनय)

।—अतः वह मरणशील है। (निगमन)
तिज्ञा का अर्थ यहाँ किसी विशेष बात का है। हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा का कारण स्पष्ट किया है। उदाहरण स्पष्ट ही है। उपनय इस बात तक है कि उक्त उदाहरण प्रस्तुत विषय में भी होता है। निगमन को निष्कर्ष कहा जा है।

ब हम शंकुक के मत को समझने का प्रयत्न। अनुमान के तीन भेद पूर्ववत् आदि का किया जा चुका है। उ— । दृष्टि में रखते त ये शंकुक तथा अभिव्यक्तिवाद के प्रबल- महिम भट्ट के अनुसार कहा जा सकता है भाव, अनुभाव और सचारियों के द्वारा रस ति होती है, अर्थात् यह रस के लिए कारण- हैं। इनको क्रमशः कारण, कार्य तथा सह म ना जायगा। उदाहरणतः सीता आदि न विभाव तथा उप न, चन्द्रिका आदि विभाव रति स्थायी भाव के कारण माने। तथा भौंह की गति तथा कटाक्ष आदि उसी अनुराग के कार्य स्वरूप हैं एवं लज्जा, दि सञ्चारी भाव रति के सहकारी समझे इस प्रकार विभाव रूपी कारण के द्वारा ी कार्य की सिद्धि होती है। अतएव यह अनुमान से भिन्न नहीं है। रति कार्य सिद्ध ने पर शेषवत् से भिन्न नहीं है। तथा सञ्चारी कारी होना सामान्यतोदृष्ट का ही स्वरूप है। यह कि जब कहीं सुन्दर, स्वच्छ चन्द्रिका में द्वारा सीता के दर्शन का वर्णन, कटाक्ष। निरूपण तथा लज्जा, हास आदि का। दर्शन होता हो तो हम झट से अनुमान अमुक के हृदय में रति का उद्बोध हुआ है। विषय न्याय से इसे इस प्रकार समझाया —

—सीता के हृदय में राम के प्रति रति उत्पन्न प्रतिज्ञा)

२—राम को देखकर सीता ने प्रेम भरी दृष्टि से मुस्कराते हुए दृष्टिपात किया। (हेतु)

३—जिसे राम से रति नहीं, वही इनकी ओर इस प्रकार दृष्टिपात नहीं करती, जैसे—मन्थरा। (उदाहरण)

४—सीता विलक्षण कटाक्षादि से युक्त है। (उपनय)

५—अतः सीता, राम विषयक रति से युक्त है। (निगमन)

इस मत के स्वीकार करने में जो कठिनाई परवर्ती आचार्यों को हुई, वह यह कि अनुमान के अनुसार रस की प्रतीति स्थायी का अनुमान कर लेने पर सम्भव हो सकेगी। अर्थात् हम पहले भाव का अनुमान करते हैं। तब रस का आस्वाद लेते हैं। दूसरे शब्दों में इन दोनों में कारण कार्य भाव है। किन्तु, एक तो रस की प्रतीति में इस प्रकार के क्रम-ज्ञान की सम्भावना नहीं की जा सकती वह तो पानक रस के समान है जिसमें गुडादि का मिश्रण होते हुए भी यह सब अलग अलग अपना स्वाद नहीं देते बल्कि एक विचित्र ही स्वाद देने लगते हैं। दूसरे, भाव का अनुमान हो जाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि रस की प्रतीति हो ही। क्योंकि एक तो रसानुभूति का सम्बन्ध सहृदय से ही है दूसरे अनुमान की सिद्धि में परम आवश्यक व्याप्ति भी यहाँ घटित नहीं होती। उक्त अनुरागज्ञान सदा रस के साथ नहीं रहता। पुराने वेदपाठी तथा वेदान्ती आदि रति का अनुमान तो कर लेते हैं, किन्तु उनके शुष्क हृदय पर इसका कोई भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। अतएव, भाव के अनुमान मात्र से रस प्रतीति सम्भव नहीं। सारांश यह कि व्याप्ति से विभावादि के द्वारा रामादि गत अनुरागादि का ज्ञान हो सकता है किन्तु वह ज्ञान रस रूप हो यह आवश्यक नहीं। अतएव अनुमान के द्वारा रस प्रतीति का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

इसी सम्बन्ध में शंकुक के चित्र तुरग-न्याय-

सिद्धान्त पर भी विचार कर लिया जाय। उनका मत है कि अनुमान के मूल में यही न्याय है। अर्थात् जिस प्रकार चित्रलिखित घोड़े को दर्शक घोड़ा ही कहता है और चित्र देखते समय इस बात का विचार भी नहीं लाता कि यह वास्तविक घोड़ा नहीं है, उसी प्रकार नाटक देखते हुए प्रेक्षक भी नटादि को ही वास्तविक समझकर उनकी रति आदि के अनुमान से रसास्वाद करने में समर्थ होता है। अर्थात् अनुमित स्थायी वास्तविक के अनुकृत रूप मात्र हैं। मूलतः भाव वास्तविक पात्र में ही होता है। नटादि माध्यम मात्र हैं।

प्रस्तुत मत के खण्डन में यह कहना भी पर्याप्त होगा कि चित्र लिखित घोड़े को देखकर उसे घोड़ा ही कहना व्यवहार में इस कारण अनुचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ लक्षणा शक्ति से काम लिया जाता है। और इस प्रकार उसे चित्रलिखित घोड़ा ही माना जाता है। अतएव रस-प्रतीति के लिए यह उदाहरण संगत नहीं।

शंकुक ने इस न्याय को स्वीकार करते हुए, एक प्रकार से, अनुकरण सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है। किन्तु, किसी के भावों का अनुकरण सम्भव नहीं माना जा सकता। जिन नटों ने रामादि को कभी नहीं देखा वह अनुकरण कर सकेंगे, यह तो दूर की बात है, किन्तु यह मानना कि प्रेक्षक उन्हें वही अनुमान करके रसास्वाद करेंगे, और बड़े अविवेक का परिचय देना है। अनुमान मा[त्र] जैसा कि कह आए हैं, कभी अनुभूति उत्पन्न [नहीं] होती। यदि होती तो मुझे लड्डू खाते देखकर स्वयं लड्डू खाने का अनुमान कर लिया करते उसी से आपको आनन्द मिल जाया करता। ऐसा होता कब है? फिर, अलौकिक कार्यों देवतादि के कार्यों की अनुकृति भी नट द्वारा नहीं। ऐसी स्थिति में किसी और तर्क की लेनी होगी और अनुकरण स्वयं विला जाय साथ ही करुण दृश्यों का सुखद अनुभव कैसे इसका उत्तर देने में भी यह मत असमर्थ है। के अनुमान से आनन्द होना तो सम्भव ही नहीं तात्पर्य यह है कि शंकुक का यह मत नट, प्रेक्षक की दृष्टि से रसास्वाद के सिद्धान्त पर कोई प्रकाश नहीं डालता। उनकी बात से यह तो प्रतीत होता है कि रसास्वाद में नटादि के नय-कौशल का कम हाथ नहीं है किन्तु यह निःसंदिग्ध रूप से माना जायगा कि उन्होंने की स्वानुभूति को स्थान न देकर सिद्धान्त को ही रह जाने दिया।

कन्त। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

पिय सगमि कउ निद्दडी,
पियहों परोक्खहो केव।
मइँ बिन्नवि बिन्नासिया,
निद् न एँव न तेव॥

(प्रिय के सङ्गम में नींद कहाँ और पिय के परोक्ष में भी क्योंकर आवे? मैं दोनों प्रकार से विनाशिता हुई अर्थात् गई—न यों नींद न त्यों।)

अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिए कवि हेमचन्द्र ने भट्टी के समान एक 'द्वयाश्रय काव्य' की भी रचना की है जिसके अन्तर्गत 'कुमारपाल-चरित' नामक एक प्राकृत काव्य भी है। इस काव्य में भी अपभ्रंश के पद्य रखे गये हैं।

सोमप्रभु सूरि—ये भी एक जैन आचार्य थे। इन्होंने स० १२४१ में 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक एक गद्य पद्यमय संस्कृत प्राकृत काव्य लिखा, जिसमें समय-समय पर हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिये जाने की कथाएँ लिखी हैं। यह ग्रन्थ अधिकांश प्राकृत में ही है—बीच बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आये हैं। अपभ्रंश के पद्यों में कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ दूसरे कवि के बनाये हैं। प्राचीन के दो दोहे देखिए:—

रावण जायउ जहि दिअहि,
दह मुह एक सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि,
कवणु पियावउँ खीरु॥

(जिस दिन दस मुँह-एक शरीर वाला रावण पैदा हुआ उसी दिन माता चिन्तित हुई कि किसमें दूध पिलाऊँ।)

पिय हउँ थक्किय सयलु,
दिणु तुह विरहग्गि किलंत।
थोड़इ जल जिम मच्छलिय,
तल्लोविल्लि करंत॥

(हे प्रिय! मैं सारे दिन तेरी विरहाग्नि में वैसे ही कड़कड़ाती रही जैसे थोड़े जल में मछली तलवेली करती या तड़फड़ाती है।)

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग—इन्होंने स० १३६१ में 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ भोज-प्रबन्ध के ढङ्ग का बनाया, जिसमें बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान संगृहीत किए। इन्हीं आख्यानों के अन्तर्गत बीच बीच में अपभ्रंश के पद्य भी मिलते हैं जो बहुत पहले से चले आते थे। कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुञ्ज के कहे हुए हैं। मुञ्ज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। इन्होंने प्रेममय रचनाएँ भी की थीं। दो प्रेममय दोहा देखिए:—

झाली तुट्टी किं न मुउ,
किं न हुएउ छारपुंज।
हिंडइ दोरी बँधीयउ,
जिम मंकड तिम मुंज॥

(टूट पड़ी हुई आग से क्यों न मरा? क्षारपुञ्ज क्यों न हो गया? जैसे डोरी में बँधा बन्दर वैसे घूमता है मुञ्ज।)

मुंज भरगइ मुणालवइ!
जुव्वण गयुं न झूरि।
जइ सक्कर सय खण्ड थिय,
तो इस मीठी चूरि॥

(मुञ्ज कहता है—हे मृणालवति! गये हुये यौवन को न पछता। यदि शर्करा सौ खण्ड हो जाय तो भी वह चूरी हुई ऐसे ही मीठी रहेगी।)

नल्लसिंह भट्ट—ये स० १३५५ में वर्तमान थे। इनका 'विजयपाल रासमो' नामक एक ग्रन्थ मिलता है जिसमें स० १०९३ में होने वाले करौली के विजयपाल राजा के युद्धों का विवेचन है। यह भी प्राकृत या हिन्दी अर्थात् अपभ्रंश में है। यह अभी अप्रकाशित है।

शार्ङ्गधर—इस धारा के ये सर्वश्रेष्ठ कवि थे। ये अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे। इन्होंने एक ग्रन्थ 'शार्ङ्गधर पद्धति' के नाम से बनाया और

अपना परिचय भी दिया है। इस ग्रन्थ में बहुत से शावरमन्त्र और भाषा चित्र काव्य दिये हैं जिनमें बीच बीच में देशभाषा के वाक्य आये हैं।

परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने हम्मीर-रायसो' नामक एक वीरगाथा-काव्य की भी भाषा में रचना की थी।

अपभ्रंश की रचनाओं की परम्परा अब यहीं से समाप्त होती है। यद्यपि पचास साठ वर्ष पीछे विद्यापति ने बीच-बीच में देशभाषा के भी कुछ पद्य रखकर अपभ्रंश में दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखी पर उस समय तक अपभ्रंश का स्थान देश भाषा ले चुकी थी। जिस समय जार्ज ग्रियर्सन विद्यापति के पदों का संग्रह कर रहे थे उस समय इन्हें पता लगा था कि 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नाम की दो पुस्तक भी उनकी लिखी हैं, पर उस समय इनमें से किसी का भी पता न चला। लगभग २५ वर्ष हुये प० हरप्रसाद शास्त्री नेपाल गये थे। वहाँ राजकीय पुस्तकालय में 'कीर्तिलता' की एक प्रति मिली, जिसकी नकल उन्होंने ली। इस पुस्तक में तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की वीरता एवं उदारता का वर्णन किया गया है। इसमें देषभाषा के पद्य, अपभ्रंश के दोहे, चौपाई, छप्पय, छन्द भी मिलते हैं। इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पूर्वी अपभ्रंश है।

दूसरी विशेषता विद्यापति के अपभ्रंश की यह है कि वह प्रायः देश-भाषा कुछ अधिक लिये हुये है और उसमें तत्सम संस्कृत शब्दों का वैसा बहिष्कार नहीं है।

अपभ्रंश की कविताओं के जो नये पुराने उदाहरण अब तक मिल चुके हैं उनसे इस बात का ठीक या पूर्ण रूप से अनुमान हो सकता है कि काव्य भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से कितनी बँधी हुई चलती रही। बोलचाल तक के तत्सम संस्कृत शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाता है। 'उपकार', 'नगर', 'विद्या', 'वचन' ऐसे प्रचलित शब्द भी 'उअआर', "नअर", 'विज्जा', 'वअण' बनाकर ही रक्खे जाते थे। विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का सामसाधिकरण अपभ्रंश काल में कृदन्त विशेषणों से बहुत कुछ उठ चुका था, पर प्राकृत की परम्परा के अनुसार अपभ्रंश की कविताओं में कृदन्त विशेषणों में मिलता है। इस परम्परा पालन का निश्चय शब्दों की परीक्षा से अच्छी तरह हो जाता है। जब हम अपभ्रंश के पद्यों में 'मिट्ठ' और 'मीठा' दोनों का प्रयोग पाते हैं तब उस में 'मीठी' शब्द के प्रचलित होने में क्या सन्देह हो सकता है?

ध्यान देने पर यह बात भी लक्षित होगी कि ज्यों ज्यों काव्य भाषा, देश भाषा की ओर प्रवृत्त होती गई त्यों-त्यों तत्सम संस्कृत शब्द रखने में संकोच भी घटता गया। शार्ङ्गधर के पद्यों एवं कीर्तिलता में इसके प्रमाण मिलते हैं। इस काल का इतिहास यहीं से समाप्त हो जाता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश काल के बाद अन्य कालों का किस प्रकार प्रवेश होता है? 'इतिहास' शब्द का क्या अर्थ होता है? अथवा प्रत्येक काल किन विभिन्न शाखाओं में विभक्त हुआ है? इन सबों का संक्षिप्त विवरण, अपभ्रंश साहित्य के साथ ही साथ जान लेना मुझे तो अति आवश्यक प्रतीत होता है इसलिये यहाँ पर इन सबों का संक्षिप्त उल्लेख देना उचित समझता हूँ।

'इतिहास' का अर्थ—यद्यपि 'इतिहास' शब्द का अर्थ होता है घटनाओं का संग्रह, किन्तु इसे इतिहास न कहकर वृत्ति मात्र ही कहना चाहिये। प्राचीन काल के इतिहास लेखक इसी वृत्ति के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते चले आ रहे थे किन्तु बाद में उन्होंने घटनाओं और प्रभावों का वर्णन भी प्रारम्भ कर दिया। इसीलिये इतिहास के अन्तर्गत मानवी चित्तवृत्तियों का भी घटनाओं के साथ समन्वय किया गया है। साहित्य तो जन-वृत्तियों का सङ्कलित प्रतिबिम्ब होता है। अतः यह निश्चित है कि उन वृत्तियों के परिवर्तन से साहित्य में स्वरूपान्तर होता गया। अतः आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-

त्तियों की परम्परा को परखते हुये साहित्य परम्परा के साथ उनका समन्वय करना इतिहास कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य का इतिहास लिखते समय राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखना अति-आवश्यक होता है। इन्हीं बातों का ध्यान रखकर हिन्दी साहित्य के ६०० वर्षों का इतिहास निम्नाङ्कित धाराओं में विभक्त किया गया है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

- आदि (वीर गाथा)
  - प्रबन्ध धारा
  - मुक्तक
- पूर्व मध्य (भक्ति)
  - निर्गुण
    - ज्ञानमार्गी
    - प्रेममार्गी
  - सगुण
    - रामाश्रयी
    - कृष्णाश्रयी
- उत्तर मध्य (रीति)
  - रीतियुक्त
    - अलङ्कारवादी
    - रसवादी
  - रीतिमुक्त
- आधुनिक
  - पद्य
    - प्राचीन
    - आधुनिक
      - इतिवृत्तात्मक
      - लाक्षणिक
      - गीतात्मक
  - गद्य
    - प्राचीन
    - आधुनिक
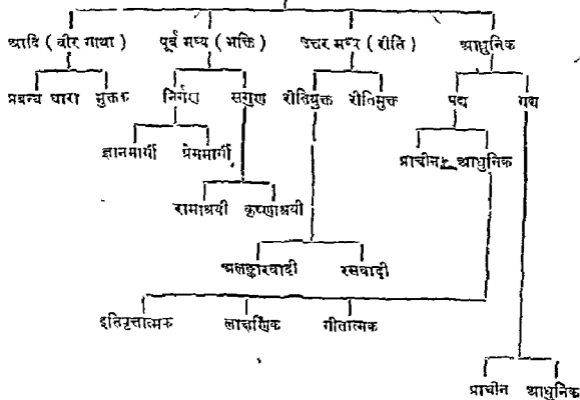
इन्हीं धाराओं पर अपने ज्ञान-राशि को दौड़ाते हुए आचार्य प० रामचन्द्र शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के सबसे पुराने लेखक मि० गारसीदत्ता (फ्रेन्च लेखक) थे। इनके बाद डा० जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा और पुनः इनके बाद शुक्लजी ने इस इतिहास के लेखक बनकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र को उन्नतिशील और उज्ज्वलमय बनाया है।

भक्तवर सूरदास की लोक-संग्रह भावना

श्री वजभूषण सुब्रह्मण्यम्

हमारे यहाँ भक्ति शाश्वत तथा स्वस्थ जीवन-दर्शन के तत्वों के आधार पर चिरन्तन कल्याणकारी सौन्दर्य देखने की सदा आदी रही है। स्व० आ० रामचन्द्रजी शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं—'प्रेम और श्रद्धा अर्थात् पूज्य बुद्धि दोनों के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पड़ता है, वहीं श्रद्धा टिकती है। धर्म ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है, उस स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास अखिल-विश्व की स्थिति में मिलता है। पूर्ण भक्त व्यक्त जगत् के बीच सत् की इस सर्व-शक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का—धर्म की इस मङ्गलमयी ज्योति के स्फुरण का—साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के प्रकाश में सत् के अनन्त रूप सौन्दर्य की भी मनोहर झाँकी उसे मिलती है। लोक में जब कभी वह धर्म स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है, तब मानो भगवान उसकी दृष्टि से, उसकी खुली हुई आँखों के सामने से, ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अन्धकार फाड़कर धर्म की ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है, तब मानो उसके प्रिय भगवान का मनोरम रूप सामने आ जाता है, और वह पुलकित हो उठता है। भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है, तब 'आनन्द' का आविर्भाव होता है और 'सदानन्द' की अनुभूति होती है।' इसी से गो० तुलसीदास कहते हैं—

> भनति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ,
> राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
> विधु-बदनी सब भाँति सँवारी,
> सोह न बसन बिना बर नारी॥

जब 'राम नाम' ही लोक में धर्म की मङ्गलमयी ज्योति के दर्शन का एक मात्र साधन है, तब उस राम नाम के बिना सचमुच कोई चीज किसी काम की नहीं रह सकती है। निश्चय ही वह वसनहीन नारी की ही भाँति अश्लीलता और अमङ्गल की निधि है। अस्तु।

भक्तवर सूरदास अपने समय के बहुत बड़े भक्त ही नहीं, लोक में धर्म की मङ्गलमयी ज्योति के स्फुरण' के लिये सदा विरहाकुल रहने वाले प्राणी भी थे। राजसी और तामसी प्रवृत्ति के कारण, उचित सम्मान, धर्म कर्म, राज्य आदि से भ्रष्ट, अशान्त और निराश अपने समय के सम्मुख, मधुर एवं लोक-रञ्जनकारी कृष्ण भगवान का रूप रखकर अपनी स्वस्थ तथा वैज्ञानिक निदान-शक्ति का जो परिचय इस प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) कलाकार ने दिया, वह सर्वथा स्तुत्य और प्रशंसनीय है।

बात यह है कि मनुष्य का मन जहाँ स्वतः पतनोन्मुख रहता है, वहाँ वह आदत-प्रिय भी होता है, जो कभी सहसा अपनी पूर्व आदत को छोड़कर किसी नयी बात के ग्रहण के लिये तैयार नहीं रहता। अतः उसे उसकी प्रिय आदतों में बद्ध पतनोन्मुखता अथवा प्रवृत्ति की राजसता और तामसता से हटाकर उत्थान या सात्विकता की ओर ले जाना कोई सहज कार्य नहीं होता। ऐसी अवस्था में बल्लभाचार्यजी की प्रेम लक्षणा भक्ति ही उसे उत्थान की ओर ले जाने का पूरा सामर्थ्य रखती है, क्योंकि इसमें यमादि नियमों का पालन आवश्यक और अनिवार्य होने पर भी हास विलास की बातें निषिद्ध या त्याज्य न होने के कारण उसके लिये (पतन के

लिये) स्वाभाविक आकर्षण रहता है और इसमें आकर पहले जो अपने आराध्य का आलम्बन मात्र बदल करके अपनी शेष सभी आदतों को पूर्ववत् रखें-कर चलता है, वही बाद में—कालान्तर में—अपने को एक दम बदल लेता है, अपनी राजसी या तामसी प्रवृत्ति को सात्विक कर डालता है। आखिर उस सामत्य का भी तो कोई प्रभाव होता है, जिसके कारण जल भी—

'होइ जलद जग जीवन दाता'

सूरदासजी ने इसी प्रेम लक्षण भक्ति के द्वारा भोगवासना आदि से पतित अपने समय (जो आ० शुक्लजी के अनुसार सवत् १५४० और १६२० के बीच में पड़ता है) तथा मानव हृदय को परिमार्जित करने का सफल प्रयत्न किया था। इनकी गोपिकायें तथा कृष्ण लोक व्यवस्था और लोक मर्यादा से अवश्य शून्य हैं, पर वे पतित को पावन बनने का सुगम रास्ता बतलाते हैं, जो मानव स्वभाव के अत्यधिक निकट रहकर उसकी (पतित की) प्रवृत्ति में सात्विकता लाने को प्राथमिकता देते हैं और इस प्रकार लोक-हित और लोक व्यवस्था का मार्ग सरल बनाते हैं। इनकी भी भक्ति में काम, क्रोध, लोभ आदि से मुक्ति, निर्मोहता, विवेक, दैन्य, आदि की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि गो० तुलसी दास आदि की भक्ति में है। देखिये, ये अपने आराध्य से क्या कहकर कृपा भिक्षा मांगते हैं—

प्रभु मेरे गुण अवगुण न विचारो।
कीजै लाज सरन आये की
रवि-सुत त्रास निवारो
जोग जग्य जप तप नहिं कीयो,
वेद विमल नहीं भाख्यो
अति रस लुब्ध स्वान जूठनि ज्यों,
यहू नहीं चित राख्यो
जिहि जिहि जोनि फिरयो सकट बस,
तिहि तिहि यहै कमायो
काम, क्रोध, मद, लोभ ग्रसित भये,
परम विषय विष खायो
जो गिरिपति-मसि घोर उदधि में,
लै सुरु तरु निज हाथ
ममकृत दोस लिखै बसुधा भर,
तऊ नहीं मित नाथ
कामी, कुटिल, कुदरसन,
अपराधी मति हीन
तुमहि समान और नहिं दूजो,
जाहि भजौ है दीन
अखिल अनन्त दयालु दयानिधि,
अविनासी सुखरास
भजन प्रताप में नहीं जान्यौं,
पर्यो मोह की फाँस
तुम सर्वग्य सबै विधि समरथ,
असरन सरन मुरारि
मोह समुद्र 'सूर' बूडत है,
लीजौ भुजा पसारि

भागवत् की कथा का, विशेष कर दशम स्कन्ध की कथा का अपनी पूरी तन्मयता तथा तत्परता के साथ सुन्दर और मनोहर पदों में सूर ने जैसा हृदयग्राही गान किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं किया। आ० रामचद्र शुक्ल लिखते हैं—"सूर सागर में वास्तव में भागवत् के दशम स्कन्ध की कथा ही ली गयी है, उसीको उन्होंने विस्तार से गाया है। शेष स्कन्धों की कथा सक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदों में कह दी गयी है। सूर सागर में कृष्ण-जन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त विस्तार से फुटकल पदों में गायी गयी है। भिन्न भिन्न लीलाओं के प्रसङ्ग लेकर इस सच्चे रस-मग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों की झड़ी सी बाँध दी है। इन पदों के सम्बन्ध में सब से पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सब से पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी

प्रगल्भ और काव्याङ्गपूर्ण है, कि आगे होने वाले कवियों की शृङ्गार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती है।" नीचे के पद में सरल मातृत्व और भोली बाल्यावस्था का कैसा हृदयग्राही चित्र खींचा गया है—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो
मो सों कहत मोल को लीनों,
तू जसुमति कब जायो
कहा करौं अब रिस के मारें,
खेलन हौं नहिं जातु
पुनि पुनि कहत कौन है माता,
को है तुमरो तातु
गोरे नन्द जसोदा गोरी,
तू कत स्याम सरीर
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब,
सिखै देत बलबीर
तू मोही को मारन सीखी,
दाऊहि कबहुँ न खीजै
मोहन को मुख रिसि समेत लखि,
जसुमति सुनि सुनि रीझै
सुनते कान्ह बलभद्र चबाई,
जनमत ही को धूत
'सूरस्याम' मो गोधन की सौं,
'हौं माता तू पूत'

इस पद का विशेष चमत्कार तब जान पड़ता है, जब इसे भागवत् कथा के प्रति श्रद्धालु जन पढ़ते या सुनते हैं। वे 'मो सों कहत मोल को लीनों, तू जसुमति को कब जायो', 'गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर' आदि में अपने सर्वान्तरयामी और सर्वज्ञ भगवान के ही इस साधारण बालक के रूप में दर्शन पाकर आनन्द विभोर हो जाते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि 'स्याम सरीर' कृष्ण सचमुच 'गोरे नन्द' और 'गोरी' यशोदा के यहाँ उत्पन्न न होकर वसुदेव, और देवकी के यहाँ उत्पन्न हुए थे।

सूर ने 'हास विलास की तरङ्गों से परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य के समुद्र' अपने आराध्य कृष्ण तथा राधा आदि उनकी अनुचरियों का शृङ्गार रसपूर्ण रूप भी लोक के अत्यन्त निकट रखा है। उनमें वही प्रेम-भावना, वही विलास या भोगवृत्ति, वही तन्मयता आदि मिलती है, जो हम लोक में देखते सुनते हैं। सच पूछा जाय तो वह आकर्षण कृष्ण के इस प्रकार के सर्वथा लोक-विदित रूप में ही रह सकता है, जो स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक रीति से पतित का ध्यान उत्थान की ओर आकृष्ट करता है। एक उदाहरण पर्याप्त है :—

आँखिन में बसै, जियरे में बसै,
हियरे में बसत निसि दिन प्यारो
मन मे बसै तन में बसै रसना में बसै,
बसै अङ्ग-अङ्ग मे बसत नन्द वारो
सुधि में बसै बुधिहू में बसै,
बरजन मे बसत प्रिय प्रेम दुलारो
'सूरस्याम' बनहूँ मे बसत रंग ज्यों,
जल रंग न होत नियारो

अपनी वाणी तथा भक्ति के प्रसार के लिए सूरदासजी ने मौखिक गीतों की परम्परा को अपनाया है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में 'जीवन के कैसे कैसे योग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आये हैं, और भाषा की किन किन पद्धतियों पर वे अपने गहरे भावों की व्यञ्जना करते आये हैं—इसका ठीक पता हमें बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतों से ही लग सकता है।' अतः स्पष्ट है कि कोई कवि सामान्य जनता के हृदय के पास जाना चाहेगा, तो अवश्य इन गीतों की परम्परा को अपनायेगा। सूरदास ने मौखिक गीतों की परम्परा को अपनाया ही नहीं, प्रत्युत उसका अपनी कला और कण्ठ में अभूतपूर्व विकास भी किया।

इसके अतिरिक्त गो० तुलसीदासजी ने जिस प्रकार 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग' कहकर, 'ईश्वर को अन्तस्थ मान कर अनेक प्रकार की अन्तस्साधनाओं में प्रवृत्त करने वाले' योग आदि की

भर्त्सना की, उसी प्रकार सूर ने भी अपनी गोपिकाओं के मुँह से 'जोग जोग हम नाहीं' कह कर ईश्वर की उपासना में गुह्य और रहस्य की धारणा लाने वाले हृदयपद्म शून्य हठयोग आदि को अप्रशस्त और नीरस माना है। मन, कर्म, और वचन की सरलता से की जाने वाली जो भक्ति तुलसीदासजी के लिए मान्य और स्वीकार्य थी, वही इन सूरदास के लिए भी मान्य और स्वीकार्य थी। देखिये, 'भ्रमरगीत' की गोपिकायें अपने हठयोग के उपदेशक उद्धव से क्या कहती हैं—

ऊधौ, जोग जोग हम नाहीं
अबला सार ग्यान कहा जानैं, कैसे ध्यान धराहीं
तेइ ए मूँदन नैन कहत हैं, हरि मूरति जा माहीं
ऐसी कथा कपट की मधुकर हमते सुनी न जाहीं
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु, ए दुखनी न समाहीं
चदन तजि अँग भसम धतावत, बिरह अनल अति दाहीं
जोगी भरमत जेहि लगि भूले, सो तो है अपु माहीं
'सूरस्याम' ते न्यारे न पल छिन, ज्यों घट ते परछाहीं

सारांश यह कि भक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर भी सूरदास लोकपक्ष को नहीं भूले, बल्कि जिस दृष्टिकोण ने भारत में अवस्था और प्रवृत्ति के भेद से वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की, और स्त्री-पुरुषों के विविध कर्तव्यों तथा विधि-निषेधों के निर्माण किये, उसी सनातन, वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण से इन्होंने कृष्ण के मधुर एवं मनोहर रूप की उपासना कर और करवाकर अपने समय तथा मानव मात्र के उद्धार का मार्ग साफ किया था और इस प्रकार ये भक्त शिरोमणि लोक में अपने प्रिय भगवान अर्थात् 'धर्म की मङ्गलमयी ज्योति के स्फुरण के साक्षात्कार' के लिए सदा तड़पते रहे।

इनकी यह सच्ची और रसमग्न तड़पन सफल और सार्थक भी कम नहीं हुई थी। अनेक शास्त्रार्थ पटु, अक्खड़, उद्दण्ड, और भोगी लोग कृष्ण के अनन्य भक्त बन गये। स्वामी, हीतस्वामी, और रसखान ने इस बात को कुछ नये रङ्ग में कहा है, जिसे समझा जाना चाहिये।

सूर की यह भक्ति या उपासना और भी सार्थक और सफल बनती, यदि आगे होने वाले कवि भी इसका ठीक-ठीक मर्म समझ कर दुरुपयोग न करते। पर खेद है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने इसे 'लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय वासनापूर्ण' लोगों के मनोविनोद का ही विषय बनाया था।

(पृष्ठ ४०४ का शेष)

मनोरञ्जक सामग्री भी दे देते थे। एक बार जब ये खजुराहे के मन्दिर देखकर लौटे, तो तुरत ही डेरे पर आपने डायरी में निम्न पद रचकर रख दिया।

माई कहि न जाय का कहिए।
देखत ही रचना विचित्र अति,
समुझि मनहिं मन रहिये।
तल तें शिखर शिखर ते तल लों
जहँ जहँ हम हेरे।
लिलकर ठौर दिखात कहूँ
कहिं जहाँ न चित्र घनेरे।
विश्व निकायी मनहुँ दिखायी,
शिल्पकार उत्साहे।
चन्देलन की यश चन्द्रिका,
छिटकाई खजुराहे।
विविध भाँति के चित्र
क्षिति पर अनुपम ओज समेत।
रुचि सँवारि सुघर सदनन में,
धाये हरि वृष केतु॥

ठाकुर जगमोहनसिंह इस प्रदेश के साहित्यकारों के मार्ग दर्शक गिने जाते हैं। इनका रचनात्मक कार्य शान्त और गम्भीर है। यह बात प्रत्यक्ष है कि इनकी रचनात्मक प्रणाली से, हिन्दी के कई होनहार कवियों की सृष्टि हुई और आजीवन उनका उत्साह बढ़ाया था।

खेद है कि आज ऐसे श्रेष्ठ कलाकारों की कृतियाँ अन्धकारों में छिपी हुई हैं।

—(आकाशवाणी नागपुर के सौजन्य से)

सम्भव, हंसदूत, शिलनका बन्दी।

इन्होंने पद्य में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली का सहारा लिया है किन्तु इनकी हिन्दी शैली एक नवीन धारा से प्रवाहित होती है। इनकी भाषा शैली व शब्दशोधन अनुप्रासयुक्त था। भाषा में जीवन का माधुर्य और हृदय में जमनेवाले सुन्दर शब्दों के चयन विशेषता रखते हैं। भाषा की प्रकृति की इन्हें पूरी परख थी। इनकी कविता में अधिकतर प्रेम और शृङ्गार मिलता है किन्तु गद्य में उसकी प्रचुरता नहीं है। इनकी साहित्यिक अभिरुचि भारतेन्दु की मित्रता से ही वृद्धिगत हुई है। इनकी साहित्य साधना के सम्बन्ध में स्व० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव क्षेत्र तक ही सीमित थी। प्रकृति के ऊपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहनसिंह ने नरक्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेले में देखा है। क्या ही अच्छा होता यदि इस शैली का हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से विकास होता। तब तो बङ्ग साहित्य में प्रचलित इस शैली का शब्द प्रधान रूप जो हिन्दी पर कुछ काल से चढाई कर रहा है ...और अब काव्य क्षेत्र का अतिक्रमण कर कभी कभी विषय निरूपक निबन्धों तक अर्थ ग्रास करने दौड़ता है—शायद जगह न पाता। प्राचीन संस्कृत साहित्य के अभ्यास और विन्ध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूप माधुर्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति ठाकुर जगमोहनसिंह में थी, वैसी उस काल के किसी हिन्दी कवि या लेखक में नहीं पायी जाती। अपने हृदय पर अङ्कित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्यामास्वप्न' में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि संस्कार के साथ-साथ भारत भूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसाने वाले हिन्दी के पहले लेखक थे।"

इनकी प्रथम कविता शायद हमें ऋतुसंहार में ही मिलेगी। उसमें भारत की वन्दना की गयी है जैसे—

सुवमधि जम्बूद्वीप द्वीप मम अति छवि छायो।
तामे भरतखण्ड मनहुँ विधि आपु बतायो॥
ताह में अतिरम्य आर्यावर्त मनोहर।
सकल कर्म की भूमि धर्मरत जह के नरवर॥
मनु वाल्मीकि व्यासादि से पूजनीय जहँ के प्रमित।
भे मनुज अबौं जग के सत्य मानत जिनकी आननित
जहँ हरलिय अवतार राम कृष्णादि रूपधर।
जहँ विक्रम बलि भोज धरमनृप भे कीरतिकर॥
जहँ की विद्या पाय भरा जग के नर मिच्छित।
जहँ के दाता सदा करत पूरन मन इच्छित॥
जहँ गङ्गा सी पावन नदी हिम सो ऊँचो शैलवर।
जहँ रत्नखानि अगनित लसत
मानहुँ मनिमय सरलधर॥

जगमोहनसिंह के पूर्व हिन्दी के अधिकांश कलाकार शृङ्गार और भक्ति के मार्ग से जाते हुए दिखायी देते हैं, किन्तु विदेशी सम्पर्क ने उन्हें वैज्ञानिक तौर पर सोचने और समझने का अवसर दिया और उससे हमारा साहित्य भी प्रगति की ओर बढ़ने लगा। ठाकुर साहब की रचनाओं में हमें कवि और दार्शनिक दोनों गुणों का असर मिलता है। इनकी पहली रचना ऋतुसंहार है जो कि संस्कृत का अनुवादित ग्रन्थ है और वह सन् १८७६ में बनारस में छपा था। इसके दो वर्ष पूर्व इनकी लिखी हुई, प्रमिताक्षरदीपिका पिंगल छपी थी। इसी तरह सन् १८७४ में पं० रामलोचनप्रसाद का जीवन वृतान्त और मेघदूत का हिन्दी अनुवाद छपे हैं। मेघदूत की भूमिका में ठाकुर साहब ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मित्रता और सहायता का उल्लेख किया है। इनके समय में भी हिन्दी और उर्दू की तानाकशी जारी थी और स्वयं ठाकुर साहब भी इससे ~ न थे। इन्होंने संस्कृत के कवियों को फारसी का...

से श्रेष्ठ ठहराने का प्रयास किया है। उन्होंने कवि निज़ामी की लैला मजनू काव्य से कालिदास के मेघदूत को ऊँचा दिखलाया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने श्री इलिफिन्स्टन साहब की पुस्तक का एक अवतरण भी दिया है जिसमें उन्होंने कालिदास की सराहना की है। इसके अतिरिक्त ठाकुर साहब ने श्री जेम्स श्रटकिनसन के अंग्रेजी अनुवाद लैला, मजनू से तीन अवतरण लेकर उसकी तुलना कालिदास की उपमाओं से की है। उनका यह बताने का प्रयास है कि निज़ामी से कालिदास की सूझ कितनी पैनी है। तभी ठाकुर साहब ने अन्त में लिखा है कि ऐसे गुणों की समालोचना फारसी वालों को कटु लगेगा, पर मैं बिना लिखे न रह सका।

काव्यों के सम्बन्ध में ठाकुर जगमोहनसिंह की धारणा यह थी कि जिसके श्रवण से मनोवृत्तियों पर आनन्दप्रद संस्कार हों और उसका रस सहज में ही अन्तःकरण में भिद जाय। फिर पद रचना में यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि न भी हों तो कोई हर्ज नहीं। इनकी कविता बड़ी सरस होती थी।

आई शिशिर सरोरुह शालि अरु उपजत सतुल धरती।
प्रमदा प्यारी ऋतु सुहावनी क्रौंच रोर मनहरनी॥
मूँदे मन्दिर उदर झरोखे भानु किरन अरु आगी।
भारी बसन इसन मुखवाला नवयौवन अनुरागी॥

ठाकुर साहब की भाषा वही है जो सतपुड़ा और विंध्य की घाटियों से व्याप्त मध्यप्रदेश के १४ ज़िलों में बोली जाती है और उसका प्रचार मराठी भाषियों में भी है। खड़ी बोली और पुस्तकी हिन्दी में भेद का अन्तर नहीं है केवल व्याकरण की शुद्धता का अन्तर है। मध्यप्रदेश की हिन्दी के शब्द समूह में न तो शुद्ध संस्कृत शब्दों की अधिकता है और न उर्दू की। कुछ शब्द अवश्य ही मराठी से आये हुए जान पड़ते हैं जो स्वाभाविक हैं। इसी भाषा को सँवार कर इन्होंने अपनी गद्य की पुस्तकों में लिखा है। इनकी वाक्य रचना ज़रा बोझिल हो गयी है। जिसे पाठकों को समझने में देर लगती है। इनकी शैली के विषयों में पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कहा है—'जगमोहनसिंह ने अपनी भाषा में स्व० प० बदरीनारायण की साहित्यिक भाषा का अनुकरण किया है परन्तु उनके वाक्य अधिक लम्बे हो गये हैं और वाक्य के भीतर वाक्य लपेट आकर उसको जटिल बना देते हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने जिस प्रकार प्राकृत दृश्यों का वर्णन किया है वह संस्कृत कवियों के गम्भीर निरीक्षण का स्मरण दिलाता है।'

इनके गद्य ग्रन्थों में 'श्यामा स्वप्न' प्रमुख गिना जाता है। इस उपन्यास में चरित्र चित्रण तो नाम मात्र का है किन्तु प्रकृति का वर्णन अधिक है। इस प्रदेश के कुछ रमणीय स्थलों का वर्णन भी मिल जाता है। राजसी बू आचरण में टपकती थी। उनको अपने प्राचीन वैभव का स्मरण आ जाता था तब उनकी हृदय की टीस बाहर निकल पड़ती थी।

राजरहित सरसुति सहित रहत गङ्ग के तीर
आगे वे कहते हैं—
जा को सदा निवास है परदेस हिं में नित।
परवस गेह विहीन निसिदिवस पठन में चित॥

बनारस से विद्या पा लेने पर सरकार ने इनको मध्यप्रदेश में तहसीलदार नियुक्त किया और आजीवन उसी पद पर बने रहे। स्वतन्त्र राजसी प्रकृति होने के कारण उनकी पदवृद्धि न हो सकी। ये प्रदेश के कई स्थानों में तहसीलदार रहे। इनका देहान्त ४ मार्च सन् १८९९ में हुआ।

ठाकुर जगमोहनसिंहजी स्वभाव से विनोदी और आशुकवि थे। स्व० डा० हीरालालजी कहा करते थे कि एक बार उनके इजलास में मुकदमे की पैरवी करने के हेतु एक बड़े तोंदवाले वकील हाज़िर हुए। उनके पेट को देखकर तुरन्त उन्होंने एक कविता रच डाली और उसको सुना देने के बाद मुकदमे की कार्यवाही शुरू हुई। ठाकुर साहब कभी-कभी मन की तरङ्ग में कविताएँ रचकर बैठक के लिये

(शेष पृष्ठ ३६८ पर देखिए)

आलोचना

हिन्दी काव्य म प्रकृति चित्रण—लेखिका—डा० किरणकुमारा गुप्ता, एम० ए०, पी एच० डी०, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ सख्या ४८४, मूल्य ६)

अपने ही सुख दुख, भाव अभाव, विस्तार सङ्कोच से प्रभावित न होकर जब मनुष्य ऐसी मानसिक भूमि पर पहुँच जाता है जहाँ मानव मात्र क सुख दुख आदि उसके सुख दुख आदि बन जाते हैं, तो उसका हृदय कवि हृदय कहलाता है । कवि हृदय केवल मानव जगत् के ही लिए नहीं खुला रहता प्रत्युत मानवेतर जगत् की अनुभूतियों को भी ग्रहण कर सकता है, और क्योंकि मानव जगत् की अपेक्षा मानवेतरजगत् अधिक पूर्ण है इसलिए सभी कवि प्रकृति के साथ तन्मय होते देखे गये हैं ।

समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर जब कोई व्यक्ति स्नेहमयी जननी की गोद में बैठता है, तो जननी उसके मुख पर अपने को न्योछावर कर देती है, परन्तु समाज से खिन्न एव विपन्न सन्तान को छाती से चिपटाकर माता का हृदय स्वयं गद्गद् हो उठता है। ठीक यही दशा प्रकृति की है । जिन दिनों हमारा समाज सुखी एव सम्पन्न था हमारे कवि प्रकृति से आशीर्वाद लेने जाते थे या अपने सुख से उसके चित्त का रञ्जन करने । परन्तु जब हमारा समाज विपद्ग्रस्त एवं क्षुब्ध है हमारे कवि या तो माता की अपनी विपत्कथा सुनाने जाते हैं या उससे कुछ याचना करने। जैसा कि स्वाभाविक है यह पिछली घटना ही अधिक द्रावक है। और यह हर्ष की बात है कि एक सहानुभूतिपूर्ण सहृदय [illegible] द्वारा इसका अच्छा विश्लेषण हुआ है ।

वर्तमान युग में ज्यों ज्यों हम रे कवि प्रकृति [illegible] गोद में अपना भार हलका करने जाने लगे त्यों [illegible] विद्वानों ने भी उनके मार्ग के मानचित्र बनाने परन्तु जितनी सहृदयता से हमारी लेखिका ने [illegible] कार्य में सफलता प्राप्त की है उतनी अन्यत्र न मिल सकेगी। निश्चय ही लेखिका के सिद्धान्तों से सब लोग सहमत न हो सकेंगे, निश्चय ही आलोचना मत वैभिन्य को सदा गुञ्जायश रहती है, परन्तु [illegible] की सरसता, भ षा का प्रवाह, तथा विश्लेषण [illegible] सफलता लेखिका की सवेदनशीलता का अपूर्व [illegible] चय देती है। कुछ वाक्य तो काव्य का सा [illegible] देते हैं। दृष्टिकोण का विश्लेषण करते करते [illegible] किरणकुमारी स्वय उसी दृष्टि से देखने लग जाती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के दो खण्ड हैं । प्रथम खण्ड उन सभी सिद्धान्तों का व्यापक विवेचन है [illegible] जानकर ही काव्य में प्रकृति चित्रण का [illegible] अध्ययन हो सकता है, इस खण्ड में लेखिका का दृष्टिकोण भावुक न रहकर बुद्धिवादी बन गया है जो स्वय एक गुण है। दूसरे खण्ड में हिन्दी के वि[illegible] कवियों के काव्यों में चित्रित प्रकृति के रूप का [illegible] कराया गया है। दूसरे खण्ड को ऐतिहासिक [illegible] पर कालानुस र अध्यायों में विभक्त कर दिया [illegible] है हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों पर तो [illegible] मिलता ही है ठाकुर, आलम आदि सामान्य परन्तु सरस कवियों का भी सुन्दर विश्लेषण है। इस प्रकार

वर्तमान पुस्तक विद्वानों के काम की तो है ही, विद्यार्थियों के लिए भी बड़ी उपयोगी है।

पुस्तक में केवल एक बात की कमी दिखलाई पड़ती है कि हिन्दी के दूसरे आलोचकों ने जो अध्ययन किया है उसकी चर्चा नहीं की गई, इसका कारण यह है कि वह चर्चा प्रस्तुत सीमित के लिए विषयान्तर बन जाती। पुस्तक का अन्तिम अध्याय पुस्तक को उपयोगिता की ओर ला बढ़ा देता है।

—डा० ओम्प्रकाश

कविता

रूपदर्शन—लेखक-श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ २६८, मूल्य ६)

हो, न देकर एक किशोर की अनुभूति के गीत देगा, यह आश्चर्य की बात है। किसी सुन्दरी के रूप का आकर्षण कवि की आत्मा में हलचल मचा गया। वह उसे पाने की आशा में रहा पर वह न मिली। केवल इतनी सी बात पर कवि ने १३४ गीत लिखे हैं। जहाँ आग और आँधी पानी वाली कविताओं की माँग करने वाले को इन गीतों से निराशा होगी वहाँ शुद्ध कला के पारखी इस बात से अवश्य प्रसन्न होंगे कि प्रेमीजी की प्रतिभा को ताजगी अभी युगों तक बनी रहेगी। हमें तो वस्तुतः इस कृति से प्रेमीजी की कवित्वशक्ति का ही प्रमाण मिला। बच्चनजी के निशा निमन्त्रण के गीतों में जो पूर्णता है, वही प्रेमी जी के रूपदर्शन के गीतों में है। इन गीतों का अंतिम 'बन्द' बड़ा चुभता हुआ है। गीत बड़े सरल और सीधे सादे हैं। इसके छन्द के विषय में स्वयं कवि ने कहा है—"उर्दू गजल और हिन्दी गीत का सम्मिश्रण मैंने इन रचनाओं में किया है। गीत की प्रत्येक दो पंक्तियों का जोड़ा अपने आप में पूर्ण है लेकिन अपूर्ण भी है क्योंकि आगे की पंक्तियों से सम्बन्ध की एक मता है।" अपने इस प्रयोग को उन्होंने 'बचरन' कहा है पर हमारी सम्मति में उनका यह प्रयोग स्तुत्य है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए—

> किसे मालूम था दिन दिन
> झलमता जायगा जीवन,
> बनी है वल्लरी विस्तृत
> कथा नव जात छोटी-सी।
> चुभा करती सदा दिल में
> किसी की बात छोटी सी।
>
> × × × ×
>
> घोल मसि में दर्द दिल का
> लिख दिए हैं छन्द मैंने,
> खूब अपनी जिन्दगी का
> कर लिया निर्माण मैंने।

आँसुओं को घोलने का
दे दिया वरदान मैंने।

इतना अवश्य है कि इन गीतों के अत्यधिक सारल्य ने ही इन्हें कुछ हलका कर दिया है। यदि कथन की कुछ भगिमा लेकर प्रेमीजी चले होते तो इनमें और भी जान आ जाती। फिर भी हम प्रेमीजी को इस रचना के लिए साधुवाद देते हैं।

प्रतिध्वनि—लेखक-श्री रघुवीरशरण 'मित्र'। प्रकाशक-अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन परिषद, मेरठ। पृष्ठ स० १५२, मूल्य ३)

श्री रघुवीरशरण 'मित्र' हिन्दी के जाने माने कवि हैं। उनके एक सौ एक गीतों का यह सग्रह मरण के निशा-निमन्त्रण की भाँति अपनी आत्मा की सगिनी के बिछुड़ने पर लिखा गया है। वह, जिसे कवि ने पाया था, रूप का समुद्र था। कवि उसे पाकर धन्य हो गया था। लेकिन वह अधिक दिन तक साथ न रह सका। कवि का हृदय टूट गया और उसका जीवन शून्य हो गया। उसने गीतों द्वारा उसकी स्मृति, उसके सौन्दर्य, उसकी प्रेरणा और उसके सम्मोहन का अङ्कन किया है। जीवन और जगत की क्षणभगुरता पर कवि के उद्गार बड़े स्वाभाविक हैं। इसके साथ ही जग की उसकी निष्ठुरता के लिए कवि ने जिस प्रकार धिक्कारा है वह बड़ी मार्मिकता लिए है—

मेरे प्राण बन गए आँसू,
मन चाही होगई तुम्हारी
जो अब जो भर खूब हँसो तुम,
वह तो सह सह स्वर्ग सिधारी

और कवि की यह गर्वोक्ति देखिए—

मेरे गीत नहीं मरने के
तुम तो कल ही मर जाओगे
मेरी बीती हुई कहानी
मत छेड़ो तुम थक जाओगे

जीवन की परिभाषा देते हुए कवि कहता है—

अरे यह जीवन है जिसमें
अन्तर्ज्वाला का प्रकाश है।
पी जाओ तुम पाप धरा का,
अरे नहीं तो व्यर्थ प्यास है।

ऐसे ही उद्गारों से यह गीत भरे हैं। लेकिन कुछ गीत भरती के हैं। 'जाने वाले मेरी बिगड़ी बात बनाता जा' (७३) वाली पक्ति का गीत और ऐसे ही कई दूसरे गीत इतने हलके हैं कि वे अच्छे गीतों की सुन्दरता को भी कम कर देते हैं। हमारा कवि से अनुरोध है कि ऐसे गीतों को आगामी सस्करण में निकाल दें। वैसे मित्रजी को अपने प्राणों की पीड़ा को गीतों में उतारने में असाधारण सफलता मिली है।

दीपिका—ले०-श्री ललितकुमारसिंह 'नटवर'। प्रकाशक-बम्बई बुकडिपो १६५/१, हरिसन रोड, कलकत्ता। पृष्ठ स० ६६, मूल्य २॥)

श्री ललितकुमारसिंह 'नटवर' बिहार के पुराने साहित्य महारथी और समाज सेवी हैं। वे एक ही साथ कवि, नाटककार, अभिनेता और सस्था संचालक हैं। उन्हीं की ४६ कविताओं का सग्रह 'दीपिका' में किया गया है। इससे पूर्व उनके 'ललित राग सग्रह', 'गुलाल' और 'बाँसुरी' तीन सग्रह और प्रकाशित हो चुके हैं। इस चौथे सग्रह में जो कविताएँ सग्रहीत हैं, आधुनिक छन्दों में भी हैं और कवित्त सवैयों में भी। उनमें भाषा भी विविध प्रकार की मिलती है। कहीं कहीं तो खड़ी बोली और ब्रज तथा पूर्वी भाषा का एक ही साथ चमत्कार दिखाया गया है। यही नहीं उर्दू की शायरी का भी बीच-बीच में समावेश है। 'दीपिका' एक ऐसा 'गुलदस्ता' है, जिसे कोई माली बिना यह सोचे कि वह कैसा लगेगा, विभिन्न रङ्गों के छोटे बड़े फूलों से सजा देता है। इसकी कविताओं में कवि के हृदय के सारल्य की झलक ही ऐसी विशेषता है कि जिसके कारण यह सग्रह काव्य-रसिकों को आनन्द विभोर करने में समर्थ होगा।

कृष्णायन (सटीक)—टीकाकार—श्री विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक—प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड, वर्धा रोड, नागपुर। पृष्ठ सं० १२५, मूल्य २)

श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र रचित 'कृष्णायन' महाकाव्य आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ काव्य कृतियों में गिना जाता है। इसी अति प्रशंसित महाकाव्य के प्रथम काण्ड (अवतरण काण्ड) का यह सटीक संस्करण है। इसके टीकाकार हिन्दी के विख्यात आलोचक और काव्य मर्मज्ञ श्री विनयमोहन शर्मा हैं। कृष्ण जन्म से लेकर उनके अक्रूर के साथ मथुरा-गमन तक की कथा वाले इस अवतरण काण्ड की टीका करके विद्वान टीकाकार ने हिन्दी जनता का भारी हित किया है। टीका बड़ी सरल और भावपूर्ण है। पाद टिप्पणी में अन्तर्कथाओं और कठिन स्थलों के मर्म का उद्घाटन करके टीकाकार ने पाठक के लिए इस महान ग्रन्थ को और भी बोधगम्य बना दिया है। हमारा विश्वास है कि इस सटीक संस्करण से कृष्णायन और भी अधिक लोकप्रियता प्राप्त करेगा। आशा है, कृष्ण-कथा के प्रेमी इस ग्रन्थ के पारायण द्वारा अपने जीवन को ऊँचा उठाने का अवसर प्राप्त करेंगे। टीकाकार विद्वान हमारी बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने बड़ी योग्यता और परिश्रम से इस ग्रन्थ को जनता-जनार्दन तक पहुँचाने का यत्न किया है। —'कमलेश'

उपन्यास

वे तीनों—ले०—अयोध्याप्रसाद झा, प्रकाशक—बाल शिक्षा समिति, पटना। पृ० सं० ११६, मू० १=)

नन्दू, श्याम, बीरू हैं 'वे तीनों'। [illegible]री महाराज [illegible] कबड्डी खेलते समय नोट पा जाता है। तीनों उनकी निःस्वार्थ सेवा करते हैं जिसमें सीरी का हृदय परिवर्तन होता है और यह भी बालसंघ का सदस्य बन हिन्दुओं के आक्रमण से मुसलमानों की रक्षा करता है और जेल में सजा पा आता है। किशोरोपयोगी 'उपन्यास' की संज्ञा इसे व्यर्थ ही दी गई है। उपदेश का पुट लिये हुए यह किशोरोपयोगी साधारणतः रुचिकर कहानी है। मैत्री, ऐक्य, ममता, साहस, सहानुभूति आदि गुण इसमें आदर्श रूप में देखने को मिलेंगे।

इन्दु—ले०—व्रजबिहारीशरण एम० ए०, बी० एल०, प्रकाशक—अनिल बिहारीशरण एम० बी० ई० बक्सर। पृ० २२७, मूल्य २)

यह वर्षों पहले का लिखा हुआ उपन्यास है जिसके लेखक हैं वयोवृद्ध बिहार के श्री व्रजबिहारी शरणजी। विभिन्न चरित्रों की आत्मकथाओं के रूप में इसका गठन हुआ है। मिस होप या इन्दु के कई प्रेमी हैं—चन्द्रिकासिंह (पूषण), लीआ, राबर्ट्स। इन्दु पूषण विवाह करना चाहते हैं पर लीओ इन्दु को उड़ा ले जाता है, पूषण उसका पीछा करता है तथा सन्यासी की सहायता से उसे अन्त में बचा लेता है। वर्तमान जीवन व प्रेम द्वेष का कारण है पूर्व जन्म के सञ्चित संस्कार। यही सिद्ध करने के लिए कुछ नीरस सा प्रभाव विहीन अन्तिम अध्याय है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त सही ही होगा पर इसका निरूपण बौद्धिक हो पाया है, न कि कलात्मक। मेस्मरिज्म तथा अति प्राकृत तत्वों का इसमें समाहार है। सोचा, कारन, पात, राती आदि न जाने कितनी अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। विचार, शैली सब में पुरातनता है।

आत्म-बलिदान ('सरला की भाभी' का तीसरा भाग) ले०—इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्र०—विजय पुस्तक भण्डार, श्रद्धानन्द बाजार, दिल्ली। पृ० २९६, मूल्य ३)

सन् १९३४ के प्रसिद्ध बिहार के भूकम्प की कथा से यह शुरू होता है जिसमें जमींदारों के बटवारे सम्बन्धी झगड़ों की चर्चा है। पढ़ने लिखने में शिथिल रामनाथ बिहार के भूकम्प में जोखम भरा काम कर एक बच्ची को बचाता है। उसको लेकर सरला तथा

उसकी 'मामी' चम्पा के परिवार का अतरंग बन जाता है। रामनाथ का प्रतिद्वन्दी है बनवारीसिंह और डाक्टर कैलाश। पर अन्त में विवाह करने की इच्छा न होते हुए भी मामी की खुशी के लिए सरला रामनाथ से विवाह कर लेती है। पति के उग्र स्वभाव के कारण सती साध्वी सरला को घोर कष्टों का सामना करना पड़ा। दोनों पति-पत्नी काँग्रेसी हैं पर घर के जीवन और समाज के जीवन में कितना पार्थक्य है! सरला जुलूस को नेत्री बनकर पुलिस की गोली की शिकार होती है—पति से छुट करे का यही उपाय उसके पास शेष था। खराब पति के कारण अच्छी से अच्छी पत्नी का जीवन कैसा नरक बन जाता है इसी का इसमें 'करुण रस भीना' चित्रण हुआ है। बुरे स्वभाव की पत्नी के कारण पति का जीवन भी चाहे दूभर हो जाय पर उग्र पति के मारे तो स्त्री का जीवन बिल्कुल ऊसर हो जाता है। उपन्यास समाज की चेतना को स्पर्श करने वाला रुचिकर और सुपाठ्य है।

विगत और वर्तमान—लेखक-श्री शम्भुनाथ सक्सेना, प्रकाशक-गङ्गा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ। पृ० सं० ११०, मू० १II)

यह एक छोटा सा मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। मानव अपने खोये हुए निजत्व को फिर पा सकता है—"The Great tne Sinner, the Greater the Saint" इसी का इसमें सार्थक निदर्शन है। भूला भटका मानव शाम को घर लौटकर दिन भर की आवारागर्दी को याद करता है। यही नव यौवन का सम्पादक नितनी इस उपन्यास में करता दिखाया गया है—कैसे वह घर से रुपया लेकर भागा था, फिर जुआरी, वेश्यागामी सब कुछ हुआ। मील में हड़ताल करवाई, जूतों के पालिश की, कुली गिरी की। शुरू में बीबो से प्रेम किया पर हिन्दू-मुसलमान का विवाह कैसे होता? फिर बीबो की याद करता है पर बीबो का विवाह हो चुका है। एक दिन आमना सामना भी हो जाता है पर कोई बात नहीं होती। 'बीबो नितनी के जीवन में बसन्त सी आई और पतझड़ सी चली गई'। सुनेला और अवनीन्द्र का अस्पष्ट कथानक उपन्यास के प्रभाव को बढ़ाता नहीं है, घटाता भले हो। 'परिस्थितियों की प्रतिकूलता हमारी कमजोरियों का इश्तहार है।' उपन्यास आशावादी है। बुरे से बुरा आदमी भी ऊँचा उठ सकता है इसलिए किसी को किसी भी हालत में हताश नहीं होना चाहिए। दुनियाँ का खट्टा-मीठा चख कर ही स्थायी सुबुद्धि आती है—यही इसका मनोविज्ञान है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने भूमिका में ठीक ही लिखा है कि इस लेखक की भाषा में 'वही चुभन और सजीवता' है।

प्रगति की राह—लेखक-श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, प्रकाशक-राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई। पृष्ठ २६७, सजिल्द मूल्य ४II)

"जहाँ प्रगति की प्रेरणा मानव-मस्तिष्क के लिए प्रकृति की स्वाभाविक देन है, वहाँ प्रगति की दिशा उसके लिए एक गम्भीर पहेली है।" इसी तरह भटकते हुए दो व्यक्तियों की यह रोचक, विचारोत्तेजक कहानी है। नटखट लड़कियाँ और पण्डितजी दोनों अपनी अपनी समझ में प्रगति की राह पर हैं पर प्रगति का केन्द्र बिन्दु है कहाँ? कुमाऊँ को मानना प्रगति है या उसे छोड़ना, ग्रामीण प्रगतिशील है या नागरिक; आज का 'जेंटलमैन' प्रगतिशील है या शुद्ध आचरण वाला दम्भ रहित सीधा व्यक्ति—ये सब बड़े साकार प्रश्नचिह्न के रूप में चित्रित हुए हैं। लछमियाँ ने प्रगति के लिए मान छोड़ा, सिनेमा, परी और बम्बई का साथ किया पर उसको दुर्गति मान वापिस आ गया अपने गाँव की सीमा में ही।

'जो जहाँ पर है ठीक है। आगे बढ़ने के लिए पीछे हटना ही पड़ता है" यही उसका और उपन्यासकार का निष्कर्ष मालूम होता है। पण्डितजी ज्ञान की खोज में शिवलिंग आकर गूँगे हो जाते हैं पर ज्ञान ला पता ही जाता है। दोनों कथाएँ साथ शुरू होकर अलग अलग मार्गों में जा कर अन्तिम अध्याय

में रिर मिल जाती हैं और गूँगे पण्डितजी लड़कियों की बात का मौन अनुमोदन करते हैं—'बढ़ना चक्कर ही में है। सीधी रेखा पर नहीं' और समाज की स्वार्थहीन सेवा में भगवान् का वास है। छल छद्म का विकास प्रगति नहीं, मनसि अन्यत् वचसि अन्यत् प्रगति नहीं आज का जीवन अनिवार्यतः प्रगतिशील नहीं। अपरिवर्तनीय स्थायी मूल तत्वों का विघटन न प्रकृति है, न प्रगति।

हृदय-मन्थन—लेखक-श्री सीताचरण दीक्षित, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ २८८, सजिल्द मूल्य ५)

१६४२-४५ के कारावास काल में लेखक के हृदय में जो उथल-पुथल हुई उसी का परिणाम है—'हृदय-मन्थन'। लेखक के ही शब्दों में प्रेम विलास का नहीं, त्याग का मूल मन्त्र है, मोह की नहीं, बोध की राह दिखाता है, निवृत्ति का नहीं, प्रवृत्ति का पथ प्रदर्शक है—इस उपन्यास में इसी का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। गांधीजी के राष्ट्रनिर्माण कार्यक्रम के मूलमन्त्र अस्पृश्यता निवारण, स्वावलम्बन शिक्षा तथा सेवाधर्म-बोध थे। इन्हीं उद्देश्यों के प्रतीक चरित्र इस उपन्यास में हैं। हरिजन बालिका चञ्चला तथा जीवन बालसखी हैं। उनका परस्पर सहज प्रेम है पर कई उलझनों के कारण चञ्चला का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हरीश से हो जाता है। उसके हृदय को ऐसा गहरा धक्का लगता है कि गर्भिणी हो कर वह टी० बी० से मर जाती है। जीवन चञ्चला का चित्र रख कर उसी को गुरुवत् समझ अपना सेवा धर्म का, कार्यक्रम बढ़ाता है। चञ्चला के साथ निर्मला, प्रमुधा, जया, मीनाक्षी आदि कई लड़कियाँ पढ़ती थीं। उन सबका मनोवैज्ञानिक चित्रण अच्छा हुआ है। उधर जीवन के साथ सरस्वती, लीला, यमुना आदि पढ़ती हैं। करुणाशङ्कर के षड्यन्त्र से जीवन घायल होता है और निष्कलङ्क होते हुए भी उसके चरित्र के सम्बन्ध में गलतफहमी होती है—उसी के कारण चञ्चला और जीवन संयुक्त नहीं हो पाते। इसका कथानक रोचक एवं विचारोत्तेजक है। इसका अगर चल चित्र बनाया जाय तो अच्छी सफलता मिल सकती है।

इन्सान—लेखक-श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ २४७, सजिल्द मूल्य ४)

इस उपन्यास का प्रारम्भ भारत-विभाजन से हुआ है और प्रारम्भ में उसी का हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित किया गया है। भारत विभाजन के परिणाम स्वरूप ऐसी घटनाएँ घटी हैं कि 'Facts are stranger than fiction' वाली बात लेकर वस्तुस्थिति का चित्रण ही पाठक को रोमाञ्चित करने के लिए पर्याप्त है। शान्ता और रमेश परस्पर अनुरक्त हैं पर उनको पृथक् हो जाना पड़ा। शान्ता अध्यापिका बन जाती है; रमेश 'इन्सान' पत्र की स्थापना करता है। गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित वह इन्सान है, न हिन्दू, न मुसलमान और वही इस उपन्यास का नायक है। रमेश का साथी आज़ाद पाकिस्तान में कम्यूनिस्ट विचार-धारा से प्रभावित हो कर 'इन्सान' के सम्पादक की हत्या करना चाहता है। शान्ता से रमेश को इसका पता चल जाता है और वह स्वयं आज़ाद से मिलने चला जाता है। रमेश रशीदा से आर्थिक मदद पाकर ही 'इन्सान' पत्र चलाता है। रशीदा अमरनाथ से विवाह कर लेती है पर यह विवाह असफल होता है और रशीदा का विवाह फिर आज़ाद से ही करवा दिया जाता है। उपन्यास का कथानक बहुत कुछ यथार्थ होते हुए भी पूरा 'रोमांटिक' लगता है। राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक सभी तत्वों का इसमें समावेश हुआ है। उपन्यास सामयिक है इसलिए कहीं-कहीं उपन्यास सा न लग कर इतिहास का सा रूप धारण करता मालूम होने लगता है। उपन्यास रोचक और सुपाठ्य है।

अमृतकन्या—ले०—'प्रशांत' एम० ए०, प्रकाशक—गङ्गापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ। पृष्ठ सं० ३४१, सजिल्द मू० ५)

यह राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपन्यास १५ अगस्त, १६४७ के ६ महीने पूर्व का जीता जागता चित्र है। श्री दुलारेलाल के शब्दों में 'यह उपन्यास चरित्र-चित्रण में चारु, कथोपकथन में कमनीय, भाषा शैली में भव्य है। भाषा में प्रवाह है, पाठक कहीं भी ऊबता नहीं।' उपन्यास में कोई तीस पात्र हैं तथा कथानक इतना विस्तृत और कहीं कहीं उलझा हुआ है कि लेखक ने 'उपन्यास की सारभूमि' के रूप में उसका सारांस देना आवश्यक समझा है। फिर भी उपन्यास अत्यन्त रोचक, रोमांचक और हृदय-द्रावक है। गिरिराज और झरना का विवाह होते ही पाकिस्तानी गुण्डे बरात पर आक्रमण कर देते हैं। गिरिराज घायल होता है और झरना को मंसूर ले जाता है। मसूर के साथ निकाह करके वह निष्कलङ्क खिड़की से कूद पड़ती है। घरवाले झरना को स्वीकार नहीं करते—मुसलमान के घर में रह आई इसलिए! झरना गिरिराज का पता अन्त तक नहीं पा सकी और उसकी मृत्यु हो जाती है। गिरिराज उसी समाधि पर पहुँच कर १५ अगस्त ४७ को समाप्त हो जाता है। ऐसे ही नरगिस-कीरत का आख्यान है। दोनों का विवाह नरगिस के चाचा नहीं होने देते। कीरत की हत्या हो जाती है। नरगिस को एक सरदार खरीद कर हिन्दुस्तान ले आता है। नूरमुहम्मद-शबनम, स्वर्णलता-नीलकमल, विजयलक्ष्मी-अब्बासी आदि की कथाएँ अपनी गति से बढ़ने में उत्सुकता बराबर बनी रहती है। पात्रों और घटनाओं का घटाटोप जरूर है पर भाषा में ओज और शैली में प्रवाह बराबर बना रहा है।

—प्रो० नागरमल सहल, एम०ए०

राजनीति

संविधान की रूप-रेखा—लेखक—श्रीयुत श्रीपाल जैन, प्रकाशक—अशोक पुस्तक मन्दिर, बाग मुजफ्फरखाँ आगरा। पृष्ठ ५५, मूल्य ॥)

इसमें लेखक महोदय ने नागरिक शास्त्र की आवश्यक रूप से ज्ञातव्य बातें बतलाकर भारतीय संविधान की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त लेखक ने भारत की वर्तमान समस्याओं का उल्लेख कर वर्तमान सरकार ने उनके हल का जो प्रयत्न किया है उसका भी दिग्दर्शन कराया है। वर्तमान चुनाव में जिन राजनीतिक दलों ने भाग लिया है उनके चुनाव चिन्हों के साथ उनके कार्यक्रम का परिचय भी कराया गया है।

स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक नागरिक को अपने देश का शासन विधान जानना परमावश्यक है जिससे कि वह अपने देश की राजनीतिक गति विधि में सक्रिय भाग ले सके। इस दृष्टि से यह पुस्तक राजनीति के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए परमोपयोगी है।

—गुलाबराय

सर्वोदय-तत्व-दर्शन—लेखक—श्री गोपीनाथ धावन, प्रकाशक—सस्ता-साहित्य मण्डल, दिल्ली। पृष्ठ सं० ३८३, सजिल्द मूल्य सात रुपये।

राजनीति शास्त्र के विद्वान डा० गोपीनाथ धावन ने गाँधीवाद का राजनीतिक एवं दार्शनिक पक्ष स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। संसार के अनेकों वादों से गाँधीवाद की तुलना करके एवं मनोवैज्ञानिक मान्यताओं की कसौटी पर उसे कस कर डाक्टर साहब ने सफलता पूर्वक गाँधी-विचार-धारा की श्रेष्ठता और महानता को प्रमाणित किया है। महात्मा गाँधी ने कभी भी अपने विचारों को कोई राजनीतिक वाद का रूप देने का प्रयास नहीं किया था। उनको समय-समय पर अहिंसा के प्रकाश में जो कुछ भी ठीक और सत्य प्रतीत हुआ वह उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया। इसी कारण लोगों को गाँधी वाद में अनेकों विरोधा-

मास तथा वैज्ञानिक दृष्टि कोण से त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। लेखक ने इन सब का समाधान किया है। सबसे महत्व पूर्ण बात है कि लेखक ने अकथ परिश्रम करके उद्धरणों का सकलन किया है जिससे पाठक को लेखक से कहीं भी मतभेद का अवसर नहीं मिलता है। यही नहीं अनेकों पश्चिमी विद्वानों के उद्धरण पढ़ कर पाठक यह जान कर आश्चर्यान्वित हो जाता है कि गाँधीवाद कितना व्यापक है तथा इसके विकास की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है।

पहिले दो अध्यायों में अहिंसा की परम्परा और आध्यात्मिक विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्याय में नैतिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत साध्य और साधन की एकरूपता तथा निषेधात्मक अहिंसा में भेद दिखाया है। फिर सत्याग्रही नेता के ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अभय, अस्तेय आदि गुणों का निरूपण किया है। शरीर श्रम, सर्व धर्म-समभाव की आवश्यकता प्रमाणित की गई है।

छठे अध्याय में यह दिखाया है कि सत्याग्रही किन किन अवसरों पर और कैसे सत्य का निर्णय आन्तरिक प्रेरणा से करता है तथा उपवास आदि से वह उनका अनुसंधान करता है। सत्याग्रह-जीवन-नियम के रूप में एक सुन्दर अध्याय है यहाँ पर सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेजिस्टेन्ट) में भेद बताया है। इस प्रकार सत्याग्रह केवल सामूहिक प्रतिरोध पद्धति नहीं है, वास्तव में सामूहिक प्रतिरोध पद्धति के रूप में अजेय होने के लिये यह आवश्यक है कि सत्याग्रह का अभ्यास दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य में हो।

सामूहिक सत्याग्रह की राजनीति के समस्त दृष्टिकोणों से विवेचना की गई है। अन्तिम अध्याय में अहिंसक राज्य संगठन का वर्णन है, इसमें भौतिक अपरिग्रह का औचित्य, राज्यरहित जनतन्त्र, बहुमत और अल्पमत आदि की सुन्दर विवेचना है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाँधीजी को पूर्णरूप से समझने के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक के अन्त दी हुई अनुक्रमणिका इस उपयोगिता को और भी बढ़ा देती है।

—वाजपेयी एम० ए०

नागरिक और राज्य—लेखक-प्रो० केदारनाथ प्रसाद एम० ए०, प्रकाशक-पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ ४६४, मूल्य ८)

हिन्दी में अर्थ शास्त्र और राजनीति शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें कम हैं। जो हैं उनमें प्रस्तुत पुस्तक विवेचनात्मक और गम्भीर है जिसको लेखक ने बी० ए० के विद्यार्थियों के योग्य बनाने का प्रयास किया है। दूसरे भाग में राज्य की विवेचना में विजय के अनुसार अनेक प्रसिद्ध विदेशी लेखकों के मत दिये गये हैं।

राज्य निर्माण के भिन्न-भिन्न मतों पर विशद प्रकाश डालते हुए अराजकता, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फेबियनवाद और गांधीवाद आदि की अच्छी और क्रमबद्ध व्याख्या है। गांधीवादी विचार धारा की भूलानी, समाजवादी तथा साम्यवादी विचार धाराओं से तुलना की गई है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस तरह गांधीवाद पीड़ित मानवता को प्रेमरूपी अमृत पिलाने के लिए साम्यवाद से भी आगे की वस्तु है।

विद्यार्थियों की विशेष सुविधा के लिए लेखक ने राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता, भारतीय ग्रामों का पुनर्निर्माण तथा भारत के वर्तमान विधान पर तीन अध्याय जोड़ कर सोने में सुहागे का काम किया है।

पुस्तक की भाषा विषयानुसार है और सभी स्थानों पर अंग्रेजी के पर्याय दे दिये गये हैं।

—दयाप्रकाश एम० ए०

Sahitya Sandesh, Agra.
MARCH 1952

REGD. NO. A. 263.
License No. 16
Licensed to Post without Prepayment

३१ मार्च को आर्थिक वर्ष समाप्त हो रहा है

अतः

कालेज, लाइब्रेरियों व अन्य शिक्षा संस्थाओं

को

अपूर्व अवसर

इस महीने में सरकारी वर्ष समाप्त हो रहा है। यदि आपने अपने बजट की पुस्तकें अभी तक न खरीदी हों तो आप हमें अपनी पुस्तकों की सूची भेज दें। हम अपने यहाँ से उन पुस्तकों को आपके पास भेज-देंगे।

यदि आपको सूची बनाने का भी समय न हो तो आप हमें केवल यह लिख भेजें कि आपके बजट का रुपया कितना शेष है हम उतने ही रुपये की नई से नई और अच्छे लेखकों की पुस्तकें इसी मास के अन्दर आपको भेज देंगे।

हमारा भण्डार हिन्दी पुस्तकों का सबसे बड़ा भण्डार है।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

वर्ष १३] आगरा—मई १९५२ [अङ्क ११

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम ए., पी-एच डी

महेन्द्र

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक

साहित्य प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

वर्ष १३] आगरा—मई १९५२ [अङ्क ११

हमारी विचार-धारा

सूर जयन्ती—

अभी २६ अप्रैल को हिन्दी के महाकवि सूरदास की जयन्ती भारत भर में समारोह पूर्वक मनाई गयी। यह जयन्तियाँ अधिकांशतः साहित्यिक और शिक्षण संस्थाओं के द्वारा मनाई गई हैं। आल इण्डिया रेडियो ने भी सूर जयन्ती का विशेष प्रोग्राम किया। सूर और तुलसी हिन्दी के ऐसे महाकवि हैं जिनकी जयन्तियाँ केवल साहित्यिकों के ही आकर्षण की वस्तु नहीं रहनी चाहिये, जन जन को इन कवियों और इनकी रचनाओं का परिचय कराने की आवश्यकता है। ब्रज साहित्य मण्डल ने सूरदासजी के निधन स्थल पारासौली में इस वर्ष जो महोत्सव किया वह इस दृष्टि से बहुत उल्लेखनीय रहा। पारासौली के पार्श्ववर्ती गाँवों के लगभग तीन-चार हजार स्त्री पुरुष इस समारोह में सम्मिलित हुए। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड मथुरा ने गोवर्द्धन से पारासौली जाने वाले मार्ग को 'सूर मार्ग' का नाम दिया और इसी २६ तारीख को इस नाम की घोषणा की गई। यह भी एक अत्यन्त उचित और स्तुत्य कार्य हुआ। उत्तर प्रदेश की सरकार ने पारासौली में जो एक छोटा किन्तु भव्य सूर स्मारक निर्मित कराया है उसका उद्घाटन भी पारासौली में सूर जयन्ती के अवसर पर हुआ। सूरदास जैसे महाकवि के योग्य जैसा महान् स्मारक होना चाहिये, आशा है ब्रज साहित्य मण्डल के उद्योग से सरकार द्वारा आरोपित इस बीज के आधार पर वह शीघ्र ही किसी न किसी दिन खड़ा हो सकेगा और भारत की विद्वत्ता और संस्कृति की उसमें इतनी अनुकूलता होगी कि वह देश विदेश के साहित्य प्रेमियों के लिए साहित्यिक तीर्थ का स्थान प्राप्त कर लेगा। माननीय शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्दजी के इस अवसर पर भेजे गये सन्देश से भी यह विदित होता है कि उत्तर प्रदेश की सरकार भी सूरदास के योग्य स्मारक प्रस्तुत कराने में आगे भी रुचि रक्खेगी और सहायता प्रदान करेगी।

तुलसी का जन्म-स्थान—

तुलसी के जन्म स्थान के सम्बन्ध में इधर पुनः ध्यान आकर्षित हुआ है, ब्रज साहित्य मण्डल के हाथरस अधिवेशन के एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव द्वारा। साहित्य सन्देश के इन्हीं स्तम्भों में गत वर्ष 'अगस्त

'१९५१' के अङ्क में हमने एक टिप्पणी दी थी जिसकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान पुनः आकर्षित करते हैं।

सोरों ब्रजमण्डल के अन्तर्गत है ब्रज साहित्य-मण्डल के कार्यकर्त्ताओं को यह बात विशेषतः ध्यान में रखनी होगी कि वह दृढ़ता पूर्वक पक्षपात विहीन निर्णय करने की चेष्टा करें। इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक विचार करने के लिए वे आगामी तुलसी जयन्ती के अवसर पर सोरों में विद्वानों का एक सम्मेलन बुलायें, तुलसी सम्बन्धी सामग्री की प्रदर्शिनी करें और विद्वानों को जमकर, उसकी छानबीन करने का अवसर दें। फिर ऐसा ही दूसरा सम्मेलन राजापुर में कराया जाय।

साहित्यिक और राजनीति—

साहित्यिक और राजनीति पर आजतक अनेकों दृष्टिकोणों और मतवादों से विचार होता रहा है। हम यहाँ उस दृष्टि से किसी सैद्धान्तिक विवाद का विषय इन पंक्तियों में नहीं करना चाहते। हम यह भी जानते हैं कि इन नये चुनावों से पूर्व भी कई लेजिस्लेचरों तथा मन्त्रिमण्डलों में साहित्य-सेवियों ने स्थान पाया है। पर इन नये चुनावों में जो साहित्यकार निर्वाचित हुए हैं, उन्हें हम बधाई देना चाहते हैं। विशेषतः पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री दिनकर तथा डा० रघुवीरसिंह को। हमें आशा है कि ये राजनीति में भाग लेते हुए साहित्य के सम्मान को बढ़ाने में प्रयत्न शील होंगे। यह उत्तर-दायित्व इन पर ही आकर पड़ा है कि ये सिद्ध करें कि साहित्य राजनीति को प्रभावित कर सकता है।

राज्यपरिषद् और कौन्सिल में—

हमारे राष्ट्रपति ने राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को राज्यपरिषद् का और उत्तर प्रदेशीय राज्य-पाल ने श्रीमती महादेवी वर्मा और सम्पादकाचार्य श्री अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी को कौन्सिल का सदस्य मनोनीत करके हिन्दी प्रेमियों को प्रसन्नता और सन्तोष का ही अवसर नहीं दिया है प्रत्युत अपनी गुण ग्राहकता का भी परिचय दिया है। हम इन नियुक्तियों पर हृदय से राष्ट्रपति और राज्य पाल महोदय को बधाई देते हैं और हिन्दी प्रसार की ओर से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दस हजार के पुरस्कार और—

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने निम्न सज्जनों को उनकी पुस्तकों पर और पुरस्कृत किया है—

वैशाली की नगर वधू—आचार्य चतुरसेन शास्त्री, १०००)। पूर्वोदय—जैनेन्द्र कुमार, ७००)। गुरु-दक्षिणा और भोजराज—डा० रामशङ्कर शुक्ल ८००) मुक्ति पथ—इलाचन्द्र जोशी, ६००)। मैंने कहा—गोपालप्रसाद व्यास, ६००)। अमृत कन्या—अज्ञात, ६००)। विहावलोकन—यशपाल ५००)। इन्सान—पद्मदत्त शर्मा, ५००)। त्रिवेणी, भटकती आत्मा और सरल बाल मनोविज्ञान—कुमारी कञ्चनलता सब्बरवाल, ५००)। धरती की आँखें—लक्ष्मी-नारायण लाल, ३००)। बच्चों की दुनिया में—शम्भू-नाथ सक्सेना, ३००)। सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, ६००)। कुलवधू—हरदयालसिंह, ५००)। अशोक वन और गाँधी गौरव—गोकुलचन्द्र शर्मा, ७००)। चालुक्य कुमारपाल—लक्ष्मी शङ्कर व्यास, ७००)। साहित्य विवेचन—क्षेमचन्द्र सुमन तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक, ५००)। जीवविज्ञान की रूपरेखा—डा० महावीर प्रसाद, ६००)।

नवलकिशोर पुरस्कार—

'साहित्य सन्देश' के गत अङ्क में 'नवलकिशोर पुरस्कार' का संक्षिप्त उल्लेख हो चुका है। हाथरस बिजली कम्पनी के अध्यक्ष श्री रामबाबूजी ने यह पुरस्कार अपने पिताजी के नाम पर दिया है। श्री रामबाबूलाल तथा उनके पिताजी इस विषय में हिन्दी और ब्रज भाषा क्षेत्र के धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पुरस्कार के सम्बन्ध में हम दो शब्द कह देना चाहते हैं। अभी तक इस पुरस्कार के सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। हम यह चाहते हैं कि इस पुरस्कार के सम्बन्ध में पुरस्कार दाता तथा ब्रज साहित्य-मंडल के अधिकारी कुछ विशेष बातों पर ध्यान दें १—यह पुरस्कार ब्रज भाषा-विज्ञान, ब्रज-समाज विज्ञान, ब्रज संस्कृति तथा ब्रजलोक साहित्य, ब्रज के प्राचीन साहित्य ग्रन्थों के शास्त्रीय सु सम्पादन पर तथा प्राचीन ब्रज साहित्य के अध्ययनों आदि पर, आलोचनाओं के ग्रन्थों पर प्रदान किया जाय। ऐसे ग्रन्थ किसी भी देश तथा किसी भी भाषा में क्यों न लिखे गये हों। २—ब्रजसाहित्य मण्डल, इस वर्ष को छोड़ कर आगे के वर्षों के लिए दो वर्ष पूर्व पुरस्कार के लिए लिखी जाने वाली पुस्तकों के विषयों की एक सूची प्रकाशित कराये, उनकी संक्षिप्त रेखायें भी देदें तो और अच्छा हो। इन्हीं विषयों पर लिखी जाने वाली पुस्तकों पर यह पुरस्कार दिया जाय। अभिप्राय यह है कि यह पुरस्कार चाहे जिस रचना पर नहीं दिया जाय, वरन उसी रचना पर दिया जाय जो इसी पुरस्कार के लिए निर्धारित विषय पर लिखी गयी है। अतः यह नियम इसमें नहीं रहे कि प्रकाशित पुस्तकों पर ही विचार होगा, पाण्डुलिपियों पर भी विचार हो सकता है। हाँ एक दो वर्ष यह पुरस्कार प्रकाशित ग्रन्थों पर ही दिया जा सकता है।

केन्द्रीय शिक्षा विभाग—

बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २३ वें अधिवेशन के अध्यक्ष पद से श्री छविनाथ पांडेय ने केन्द्रीय शिक्षा विभाग के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं उनकी ओर हम माननीय शिक्षा मन्त्री, केन्द्रीय सरकार संसद के सदस्य गण और सर्वाधिक माननीय श्री नेहरूजी का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इस तरह की आशङ्काएँ हिन्दी वालों के हृदय में पैदा होना विभागीय कार्यों के ही परिणाम स्वरूप होगा। अतः हम विशेष कुछ न लिखकर पांडेयजी के ही निम्न वाक्यों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं:—

'हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के बाद भी, केन्द्रीय सरकार का शिक्षा विभाग इस बात के लिए जी तोड़ परिश्रम कर रहा है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत नहीं होने दिया जाये और उसे उक्त गौरवमय पद से अपदस्थ कर दिया जाये" ! "मैं तो कहता हूँ कि न तो यथार्थ में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित ही किया गया है और न इसका भविष्य ही प्रकाशमय है।'

'मुझे तो ऐसा लगता है कि देश के बहुतेरे व्यक्तियों के दिमाग में, खासकर शासन सूत्र-धारियों के दिमाग में, अँगरेजों के अभाव में अँगरेजी भाषा के प्रति एक नया ममत्व पैदा हो गया है या पुराना मोह ही बहुत ज्यादा बढ़ गया है।'

'शासक और सरकारी अधिकारी स्वयं अपनी कठिनाइयों और असुविधा के कारण राष्ट्रभाषा को न अपनाकर अँगरेजी का ही दामन पकड़े रहना चाहते हैं। कई राज्य सरकारों ने हिन्दी को राजभाषा घोषित कर दिया है; लेकिन उस घोषणा को कार्यान्वित करने की दिशा में उचित प्रयत्न नहीं किया है।'

हिन्दी विश्व-विद्यालय हैदराबाद—

हैदराबाद राज्य की प्रसिद्ध उसमानिया यूनीवर्सिटी को केन्द्र ने बनारस विश्व विद्यालय तथा अलीगढ़ विश्व विद्यालय की भाँति अपने प्रबन्ध में ले लिया है। साथ ही यह निश्चय किया है कि इस विश्व विद्यालय को हिन्दी विश्व-विद्यालय बनाया जाय। केन्द्र का यह निश्चय ऊपर से अवश्य ही स्वागत योग्य है परन्तु इसमें हमें एक खतरा दीखता है। हिन्दी विश्व विद्यालय की आवश्यकता हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के समय से विशेषतः अनुभव की

जा रही थी, किन्तु इसके लिए हैदराबाद उपयुक्त स्थान नहीं मालूम होता। हिन्दी का जो रूप विधान में स्वीकार किया गया है उस रूप की रक्षा हैदराबाद में होनी सम्भव नहीं है, न वहाँ वैसा वातावरण ही है। हमें तो यह सन्देह है कि वे वहाँ की उर्दू प्रधान परम्पराओं को भुला सकेंगे। हमको वहाँ एक नई खिचड़ी भाषा के पोषण की आशङ्का है। इस कारण उस प्रयोजना के स्वागत में हमें हिचकिचाहट है।

श्री गुलाबरायजी का सम्मान—

बाबू गुलाबरायजी हिन्दी की वह विभूति हैं जिस पर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। आपने द्विवेदी युग से (आज से ४० वर्ष पूर्व) लिखना आरम्भ किया और उस समय से आज तक निरन्तर राष्ट्र भाषा हिन्दी की सेवा में प्रवृत्त रहे हैं। दर्शन, साहित्य शास्त्र व समालोचना के क्षेत्र में आपने अपने गहरे अध्ययन और प्राच्य और पाश्चात्य के मौलिक समन्वय का प्रतिपादन करते हुये हिन्दी को जो ग्रन्थ रत्न भेंट किये हैं उनमें "सिद्धान्त और अध्ययन" का अपना एक विशेष स्थान है। साहित्यकार संसद ने इन बाबू गुलाबरायजी को 'साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार' के साथ सम्मानित किया है। साहित्यकार संसद की ओर से इस सम्मान के लिए इलाहाबाद में विद्वानों का एक विशेष समारोह हुआ। बाबू गुलाबराय जैसे सरल सात्विक वयोवृद्ध साहित्य सेवी को ऐसा सम्मान बहुत पहले ही मिलना चाहिये था। इस समय दो ही व्यक्ति तो ऐसे हैं जिनकी सेवायें हिन्दी के लिए महान हैं, और जो द्विवेदी युग से निरन्तर साहित्य सेवा में रत रहे हैं। एक हैं सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार, दूसरे हैं स्वयं बाबू गुलाबराय। हिन्दी के साहित्यकार नये और पुराने यदि अपने वयोवृद्ध साहित्यिकों का आदर करना जानते होते तो साहित्य का भी गौरव बढ़ता और साहित्यकार का भी। बाबू गुलाबरायजी केवल समालोचना के क्षेत्र में ही अद्वितीय नहीं, निबन्ध कला और शिष्ट-हास्य के विकास में भी बाबूजी का बहुत योग रहा है। हम साहित्यकार संसद को बधाई देते हैं कि उसने बाबू गुलाबरायजी का सम्मान करके प्रत्येक हिन्दी भाषा भाषी का गौरव बढ़ाया है।

जापान में हिन्दी—

अभी मार्च के महीने में नागपुर की किसी सभा में बोलते हुए जापान के संस्कृत के एक प्रोफेसर महोदय ने कहा था कि वे जापान लौटकर यह चेष्टा करेंगे कि जापान के प्रत्येक विश्व विद्यालय में हिन्दी का अध्ययन कराया जाय। राजनीति की दृष्टि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, पर साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से प्रोफेसर महोदय का उद्योग अत्यन्त श्लाघनीय माना जायगा। सामान्य दृष्टि से यह विदित होता है कि एशिया की संस्कृति मूलतः एक है। युगों की दासता और प्रमाद ने भारत को ही नहीं समस्त एशिया को बेसुध कर दिया था। इस नये जागरण में, नयी आवश्यकता के अनुरूप उस सांस्कृतिक ऐक्य का नवीन संस्करण प्रस्तुत होना चाहिए। उसका सीधा सा मार्ग यही है कि एशिया के प्रत्येक देश की भाषा का विभिन्न एशियायी राष्ट्रों में अध्ययन अध्यापन कराया जाय। एशिया की सांस्कृतिक एकता में यदि प्राण पड़ गये तो विश्व में शान्ति का मार्ग अधिक सुगम हो जायगा। हम उस दिन की कामना करते हैं जब उक्त प्रोफेसर महोदय अपने इस स्तुत्य उद्यम में सफल हो जायेंगे।

काव्य और वृत्तियाँ

साहित्याचार्य 'राजयोगी' साहित्यरत्न

प्रत्येक सजीव वस्तु की कोई न कोई वृत्ति अवश्य होती है; जिसे हम स्वभाव भी कह सकते हैं। स्वभाव शब्द का साधारण अर्थ होता है वह विशेष भाव जिसे किसी ने अधिकाधिक प्रयोग में लाकर उसे अपना बना लिया हो। जैसे—किसी अपरिचित व्यक्ति को देख कर भौंक उठना कुत्ते का स्वभाव है। कुत्ते में स्वामि भक्ति, सूँघकर पहिचानना आदि अनेकानेक और भी भाव हैं, पर उनके होते हुए भी उसने अपरिचित व्यक्ति को देखकर भौंकने को ही विशेष रूप से काम में लाकर उसे अपनापन प्रदान कर दिया है। अत वह स्वभाव बन गया है। और इससे भौंकना कुत्ते की वृत्ति बन कर प्रवृत्ति बन गया। ठीक इसी प्रकार काव्य भी अपनी कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ रखता है जिन्हें विद्वानों ने 'वृत्ति' कहा है।

काव्य निर्जीव वस्तु होते हुए भी वह निर्जीव नहीं माना जाता, उसमें एक प्रकार की सजीवता रहती है जो रस के रूप में अदृश्य होकर प्रवाहित होती रहती है और यही उसकी सजीवता है। अभिनवगुप्त तथा तत्कालीन रस सम्प्रदाय ने यह स्वीकार किया है कि वह काव्य निर्जीव है जिसमें रसधार प्रवाहित न हो, अत. काव्य का सजीव होना प्रमाणित है और इसलिए उसकी वृत्तियाँ होना भी युक्तिसङ्गत हैं। इसी आधार पर काव्य में वृत्तियों की उत्पत्ति को सभी काव्यकारों ने स्वीकार किया है।

'वृत्ति' शब्द वृत्वर्तने धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। वर्तन का अर्थ है जीवन, और वृत्ति जीवन की सहाय जीविका है। वृत्ति का साधारण है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार, अर्थात् वह व्यापार जो जीवन में सार्थकता उत्पन्न करता है। वृत्ति का साम्राज्य समस्त संसार में है, परन्तु सांसारिक वृत्तियों का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण वे प्रत्येक सहृदय मानव की दृष्टि में नहीं आ सकती। काव्य में उन्हें पाठक इसलिए तनिक अभ्यास करने पर देख सकता है कि उसमें संसार के सुन्दर मनोभावों का चित्रण कवियों तथा कलाकारों द्वारा किया रहता है। काव्य में कोई भी वर्णन व्यापार शून्य नहीं रहता, इसीलिए वृत्तियों का साम्राज्य काव्य जगत में अबाध रूप से रहता है। जिस प्रकार विस्तीर्ण स्थान की अपेक्षा सीमित स्थान में वस्तुओं की अथवा मनुष्यों की एक सीमित संख्या को भली भाँति देखा जा सकता है उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में वृत्तियाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। अभिनवगुप्त का भी यही कथन है कि समस्त संसार भी वृत्तियों में और वृत्तियाँ संसार में व्याप्त हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि कब से जगत वृत्तियों का आश्रय लेकर चल रहा है। उनका कहना है कि संसार की समस्त क्रिया वृत्तियों के आधार पर ही गति शील है। केवल काव्य और नाटक को ही वृत्ति का क्षेत्र मानना उनके विचार में पुनरुक्ति मात्र है। हाँ इस क्षेत्र में उनके दर्शन सुलभ हो जाते हैं।

वृत्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस बात का पता लगाने के लिए हमें प्राचीन संस्कृत काव्य तथा नाट्य साहित्य की ओर देखना पड़ता है। वृत्तियों का अलङ्कारों से घनिष्ट सम्बन्ध है इसीलिए वृत्तियों का वर्णन सबने अलङ्कार ग्रन्थों में ही किया है और अलङ्कार शास्त्र की सर्व प्रथम उत्पत्ति नाट्य शास्त्र के एक सहायक शास्त्र के रूप में हुई। भरत मुनि के अनुसार अभिनय चार प्रकार का माना गया है—(१) आङ्गिक, (२) सात्त्विक, (३) वाचिक (४) आहार्य। इनमें अलङ्कार साहित्य का सम्बन्ध वाचिक से है। भरत मुनि ने स्वयं अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक

वाले अलङ्कार नाटक के ही अङ्ग भूत हैं। कथोर-कथन में सुन्दरता लाने और दर्शकों अथवा श्रोताओं के हृदय में रस की जाग्रति के लिए ये अलङ्कार परम आवश्यक हैं, इसीलिए अपने नाट्य शास्त्र के १७ वें अध्याय में इनका वर्णन वाचिक अभिनय के साथ किया है। अलङ्कारों के लिए उस समय नाटक ही उपयोगी क्षेत्र था और उसमें भी उनके लिए काव्य स्थल सुन्दर स्थान थे जहाँ अलङ्कार अपना पूर्ण रूप प्रकट कर पाते थे। गद्य की अपेक्षा पद्य अलङ्कारों के लिए अधिक उचित और उपयोगी स्थल होता है। कालान्तर में धीमे धीमे नाटक पद्य अथवा काव्य को छोड़ कर अधिकतर गद्य को अपनाने लगा इसीलिए अलङ्कार भी पद्यों के साथ साथ नाटक छोड़ कर अलग होने लगे और धीरे धीरे काव्य जब नाटकों से अलग हो गया तो अलङ्कार शास्त्र ने भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। इस प्रकार अलङ्कार शास्त्र नाट्य शास्त्र से पृथक होकर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विद्वानों के लिए अध्ययन का विषय बना, इसी के साथ नाट्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले अनेक साहित्यिक सिद्धान्त जिनका अलङ्कारों से गठबन्धन था अलङ्कार शास्त्र गृहीत हो गये, क्योंकि कोई भी शास्त्र अपने मूल भूत शास्त्र की विचार धारा से प्रभावित हुये बिना नहीं रहता अथवा उससे मुक्त नहीं हो सकता। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अलङ्कार शास्त्र पर नाट्य शास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। आज चाहे उसका अपना स्वतन्त्र साम्राज्य काव्य क्षेत्र में भले ही हो पर उसकी प्राचीन जन्म भूमि नाट्य प्रदेश ही है। अब देखना यह है कि वृत्तियों की उत्पत्ति उस क्षेत्र में कैसे हुई। साहित्य समाज का दर्पण है। उसमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं, अथवा यों कहिये कि साहित्य अपने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों तथा उसमें तरङ्गित होने वाली लहरों, तरङ्गित होने वाली घटनाओं तथा सघर्षों का चित्र है, जिसे देखकर उस समय के समाज की मनोवृत्ति का पता लगाया जा सकता है। वृत्तियों के जन्म काल के समय समाज में दो धार्मिक दलों का होना प्रतीत होता है, और उसी के आधार पर तत्कालीन साहित्य के कुछ सिद्धान्त भी दो भागों में विभाजित हैं अथवा एक ही सिद्धान्त दोनों दलों में अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनाया गया है। वृत्तियों की उत्पत्ति के विषय में भी दो मत प्रधान हैं एक वैष्णव मत और दूसरा शैव मत। भरतमुनि का मत वैष्णव मत कहलाता है पर उन्होंने अपने मत के साथ साथ शैव मत का वर्णन भी अपने नाट्य शास्त्र में किया है। तदनन्तर शारदातनय ने भी अपने ग्रन्थ 'भाव प्रकाशन' में इन दोनों मतों का वर्णन किया है। यह शैव मत की उत्पत्ति किसी व्यास-नामक व्यक्ति के मतानुसार बतलाते हैं। कुछ भी हो पर यह तो निश्चय ही है कि उस समय समाज में वैष्णव तथा शैव मत की दो धारायें अवश्य प्रवाहित थीं। संभवतः यह काल रामायण काल के आस पास रहा हो अथवा उससे भी पहले। क्योंकि रामायण में दोनों का समन्वय उसी प्रकार होता दीख पड़ता है जिस प्रकार दो दलों में युद्ध के पश्चात् सन्धि हो जाती है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में वृत्तियों की उत्पत्ति वैष्णव मतानुसार बड़ी रोचकता पूर्ण ढङ्ग से दी है। वे लिखते हैं कि 'प्रलय काल में जब जगतीतल पर केवल जल की ही सत्ता सर्वत्र विद्यमान थी—सर्वत्र समुद्र ही समुद्र था तब भगवान नारायण शेषनाग की सुखद शैया पर योग निद्रा में लीन थे। उनके नाभि कमल के ऊपर ब्रह्मा विराजमान थे। उसी समय रस विराग, वीर्य के दर्प से उन्मत्त मधु कैटभ नामक दो असुर युद्ध के लिए विष्णु भगवान को चुनौती दे रहे थे। ब्रह्माजी ने विष्णुभगवान को जगाया और भगवान ने असुरों का संहार किया। इस भयङ्कर युद्ध के अवसर पर भगवान ने जो जो चेष्टायें प्रदर्शित कीं उन्हीं से इन वृत्तियों की उत्पत्ति हुई। ये वृत्तियाँ संख्या में चार हैं—(१) भारती (२) सात्वती (३)

कैशिकी (४) आरभटी। युद्ध करते समय भगवान् विष्णु ने पृथ्वी पर जब ज़ोर से पैर रक्खा तब उसके भार से भारती वृत्ति उत्पन्न हुई। जब उन्होंने दीप्त, दोलिकर, बहुयुक्त तथा मदरहित जो वीर रसोचित चेष्टायें कीं उन से सात्वती की उत्पत्ति हुई। भगवान के विचित्र, ललित, लीला समन्व आंगिक सञ्चालनों के साथ जो शिखा अथवा केश बाँधे उसी से कैशिकी वृत्ति का जन्म हुआ। भगवान ने आवेग युक्त होकर नाना प्रकार के पद-सञ्चालनों (पैतरों) का प्रयोग किया और जो वीरता पूर्ण प्रहार किये उस समय उनके महान् योद्धापन से आरभटी वृत्ति प्रगट हुई। ब्रह्मा की आज्ञा से मुनियों ने इन वृत्तियों का नाट्यमय प्रयोग किया। संभव है यही घटना लेकर इन चारों अवस्थाओं का अनुकरण करते हुए इस पर नाटक लिखा गया हो और तभी से इन चारों वृत्तियों का प्रयोग में आना आरम्भ हुआ हो। भरत मुनि इन चारों वृत्तियों का सम्बन्ध चारों वेदों से बतलाते हैं और ब्रह्मा के चारों मुखों से भी। उनकी सम्मति में भारती वृत्ति का उद्गम ऋग्वेद से, सात्वती का यजुर्वेद से, कैशिकी का सामवेद से तथा आरभटी का अथर्व वेद से है। यह औचित्य पूर्ण भी जान पड़ता है। यह भरत मुनि का वैष्णव मत है।

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में एक अन्य परंपरा का उल्लेख किया है, उनका कहना है कि जब ब्रह्मा शिव पार्वती को नृत्य करते देख रहे थे तब उनके चारों मुख से चारों वृत्तियाँ चार प्रधान रसों के साथ उत्पन्न हुईं। पूर्व मुख से कैशिकी वृत्ति शृङ्गार रस के साथ, दक्षिण मुख से सात्वती वीर रस के साथ, पश्चिम मुख से आरभटी रौद्र रस के साथ तथा उत्तर मुख से भारती वृत्ति बीभत्स रस के साथ उत्पन्न हुई। यह शैव मत है। परन्तु नाट्य शास्त्र में प्रथम अध्याय में भी वृत्तियों का उत्थान भगवान शंकर के नृत्य के साथ हुआ लिखा गया है। उसके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि भारती, सात्वती और आरभटी ये तीन वृत्तियाँ जो पुरुष के स्वभाव से सम्बन्ध रखती हैं पहले शङ्कर के नृत्य से उत्पन्न हुईं और इनके बाद पार्वती के लास्य नृत्य से कैशिकी (केशों वाली पार्वती की) वृत्ति उत्पन्न हुई जिसकी नाटक में परम आवश्यकता थी। इस प्रकार वृत्तियों की उत्पत्ति के विषय में ये दो परम्पराएँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं।

नाट्य दर्पण के रचयिता रामचन्द्र का कहना है कि भरत ने वृत्तियों का जो निरूपण किया है वह तो केवल उपलक्षण मात्र है, क्योंकि वृत्तियाँ अभिनय योग्य काव्य के समान अभिनयहीन काव्य में भी हो सकती हैं। संसार के मानव समाज का ही नहीं प्राणीमात्र का कोई ऐसा व्यापार नहीं जो वृत्ति के आधार से शून्य हो। हर प्राणी की चेष्टा में किसी न किसी वृत्ति का आधार अवश्य होता है और वृत्ति स्वयं एक प्रकार से चेष्टा का रूप है। अतः दृश्य-काव्य के पात्रों की चेष्टाओं के समान श्रव्य-काव्य में निर्दिष्ट वर्णन या चेष्टायें भी उसी प्रकार वृत्ति रूप हैं, अतः वृत्ति का क्षेत्र व्यापक तथा विस्तृत है। वास्तव में काव्य अथवा नाटक का निर्माता काव्य अथवा नाटक की रचना करने से पहले अपने हृदय को वृत्तियों से अभिभूत कर लेता है तभी उसकी लेखनी काव्य रस को उत्पन्न करती है अतः भरतमुनि, रामचन्द्र तथा अभिनवगुप्त आदि विद्वानों ने इन्हें काव्य अथवा नाट्य की मातायें कहा है। इन्हें विभिन्न रसों की पयस्विनी धारा भी कहा जा सकता है। विभिन्न वृत्तियाँ विभिन्न रसों की उत्पत्ति करती हैं।

इनके नामकरण के विषय में भी अनेक विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भारती वृत्ति की व्युत्पत्ति भरत-मुनि ने नाट्यशास्त्र में दो प्रकार से की है। प्रथम मधु कैटभ संहार के अवसर पर इन दोनों राक्षसों ने जिस प्रलापमयी वाणी का प्रयोग किया उसी से इसका जन्म हुआ। इस प्रकार यह करुण तथा अद्भुत रस प्रधान ठहरती है। द्वितीय—मधु कैटभ के साथ संग्राम करते समय भगवान विष्णु ने पृथ्वी पर ज़ोर से जो अपना पैर रक्खा, उससे पृथ्वी पर जो अत्यन्त भार पड़ा उससे इस वृत्ति का जन्म हुआ।

इसमें भी यह रौद्र तथा भयानक रस प्रधान रहती है। धनञ्जय ने इसका सम्बन्ध नाटक में भाग लेने वाले नटों से जिन्हें भरत भी कहते हैं बताया है। वे इसे इन्हीं भरतों के वाणी-विलास से उत्पन्न हुई मानते हैं। कविराज विश्वनाथ ने अपने सा० दर्पण में इसकी व्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए इसे 'वाग् व्यापारो नराश्रयः" कहा है। वे इसे नटाश्रयः न कह कर नराश्रय बताते हैं।* भारती वृत्ति के चार भेद माने गए हैं.—(१) प्ररोचना (२) आमुख (३) वीथी और (४) प्रहसन। स्थानाभाव से इनका वर्णन फिर किसी समय किया जायगा।

सात्वती वृत्ति का नामकरण सत्व शब्द के योग से हुआ है। सत्वशाली पुरुषों अथवा पुरुषों के सत्व से उत्पन्न होने से काव्य यह वृत्ति सात्वती कहलाती है, भरतमुनि के मतानुसार इसमें न्याय व सत्वगुण की प्रधानता रहती है तथा यह शान्त एवं वीर प्रधान कही जा सकती है। इसमें शोक का तथा करुणा का अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि सच्चे बलशाली पुरुष की जो धीर भावात्मिका चेष्टायें हैं उन्हीं के आधार पर इस वृत्ति की स्थिति रहती है। इसके भी चार भेद माने जाते हैं :— (१) उत्थापक (२) परिवर्तक (३) संलापक (४) संघात्क।

कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति केश शब्द से मानी गई है। भरत मुनि ने भगवान विष्णु के उस केश विन्यास से इसकी उत्पत्ति का वर्णन किया है जो उन्होंने मधु कैटभ के संहार के समय बनाया था। इस वृत्ति में सुन्दर वेशों वाली स्त्रियों की प्रधानता है। सौन्दर्य इसकी सम्पत्ति है, नृत्य, प्रेम और उपभोग इसके प्रधान कर्तव्य हैं। इसके भी चार भेद हैं। (१) नर्म (२) नर्म स्फूर्ज (३) नर्म स्फोट नर्म गर्भ।

---

* इसमें धनञ्जय और विश्वनाथ के मत में ही अधिक व्यापकता प्रतीत होती है।

आरभटी वृत्ति आरभट शब्द से ही उत्पन्न हुई है जिसका अर्थ उद्दण्ड, साहसी तथा वीर पुरुष से है। भरत मुनि के मतानुसार जिस वृत्ति में माया जनित इन्द्रजाल का सा वर्णन हो, गिरने, कूदने, उछलने, लाँघने, पटकने, फोड़ने, तोड़ने आदि की अद्भुत योजना हो उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं:—(१) संक्षिप्तक, (२) अवपातक, (३) वस्तु स्थापन, (४) संफेट।

इस प्रकार वृत्तियाँ नाटक तथा काव्य में रस संचार में सहायक ही नहीं उत्पादिका होती हैं। कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृङ्गार तथा हास्य में, सात्वती का उपयोग शांत, वीर तथा अद्भुत रसों में आरभटी का भयानक, रौद्र और वीभत्स में तथा भारती का उपयोग करुणा, अद्भुत आदि रसों में, किया जाता है। नाट्य शास्त्र में ये वृत्तियाँ नाटक के साथ अपना अस्तित्व बनाये हुए दृष्टिगोचर होती हैं। काव्य में आने पर इनमें धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आने लगा और मम्मटाचार्य के समय तक इनका रीतियों (वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली) के साथ समन्वय कर दिया गया। उद्भट ने इन्हें अलङ्कारों के साथ समन्वय करते हुए परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या वृत्ति नाम दे दिया। जो वृत्ति 'ल' कार प्रधान, 'क' कार प्रधान तथा रेफ युक्त हो वह ग्राम्या वृत्ति कहलाती है। कोई कोई विद्वान इसे कोमलावृत्ति भी कहते हैं। जिसमें प्रत्येक वर्ग के पञ्चम (सानुनासिक) वर्ण के साथ उसी वर्ग के अन्य वर्णों के संयोग का सन्निवेश रहता हो उसे उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। जिसमें रेफ, स, श, ष वर्णों के 'ट' वर्ग तथा रेफ के साथ मिश्रण होने वाले संयुक्ताक्षरों का बाहुल्य हो वह परुषावृत्ति कहलाती है। इस प्रकार वृत्तियों का काव्य तथा दृश्य काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है। तथा साहित्य इनकी सार्थकता को पूर्णरूपेण स्वीकृत करता है।

प्रौढ़ोक्ति-चर्चा

श्री चन्द्रभान एम० ए०

वैसे 'प्रौढ़ोक्ति' को अलङ्कारत्व तो अब पीछे मिला है, यानी कि इसका लक्षण-निर्णय आदि जयदेव, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ही किया है। इन्हीं तीन आचार्यों ने इसको पृथक अलङ्कार माना है। पर प्रौढ़ोक्ति की चर्चा अन्य अलङ्कारिकों ने भी की है, चाहे वह चर्चा अलङ्कार मान कर न की हो। प्रधानतः इन तीन आचार्यों से पूर्व ध्वनि सम्प्रदाय ने इसकी चर्चा छेड़ी है। इसी चर्चा पर एक दृष्टि पात।

'वामन' ने अपने 'काव्यालङ्कार सूत्र' में ३२ अलङ्कारों का विवेचन किया है। इन अलङ्कारों में दो नव आविष्कृत अलङ्कार हैं। व्याजोक्ति और वक्रोक्ति। 'वामन' के पश्चात् ही वक्रोक्ति को लेकर एक सम्प्रदाय उदय हुआ। जिसके आचार्य थे आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तल। आनन्द वर्द्धन ने ध्वनि सम्प्रदाय को जन्म दिया। इन्हीं आचार्य का लिखा 'ध्वन्यालोक' सम्प्रदाय-ग्रन्थ मान्य हुआ। विदित है कि काव्य के सूक्ष्म तन्तुओं का—विशेषतः व्यञ्जना-व्यापार—का इतना विशद विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। अनेक तत्वों के भेद-प्रभेद यथास्थान पाये हैं। अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य, असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम, शब्द-शक्त्युद्भव तथा अर्थशक्त्युद्भव, अलङ्कार तथा रस, अभिधामूल और लक्षणामूल, अर्थान्तर सङ्क्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृत, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, 'वस्तु' तथा 'अलङ्कार' आदि के सूक्ष्म भेदों पर वैज्ञानिक विशद विचार मिलता है। 'वस्तु' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है। किसी पदार्थ, सत्य अथवा घटना को ज्यों का त्यों चित्रित कर देना 'वस्तु' है। इसके चित्रण में कवि प्रतिभा का योग नहीं होता। * 'अलङ्कार' और 'वस्तु' का प्रधान मूल-गत अन्तर यह है कि अलङ्कार 'विच्छित्ति' के ऊपर आधारित रहता है। वस्तु में 'विच्छित्ति' का नितान्त अभाव होता है। † ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों ने वस्तु और अलङ्कार दोनों को ही कभी अभिधा द्वारा, कभी व्यञ्जना द्वारा सम्प्रेषणीय माना है। जब वह अभिधा द्वारा व्यक्त होता है तो अभिधा उसका प्रथम अर्थ होता है। द्वितीय अर्थ उसके ही आधार से व्यञ्जित होता है। अतः प्रथम अर्थ बोधक तत्वों को व्यञ्जक और व्यञ्जित अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। 'व्यञ्जक' तत्वों को शास्त्रकारों ने फिर दो भागों में विभाजित किया है। स्वतः संभवि तथा कवि प्रौढ़ोक्ति निष्पन्न। इन दोनों का भेद भी ध्वनि-शास्त्रों का प्रमुख भेद है जिस पर विद्वानों ने कम ही लिखा है।

जिस वस्तु का कवि चित्रण करता है, यदि उसका अस्तित्व इस बाह्य भौतिक जगत् में भी हो—उसका आविष्कार कवि हृदय की सूझ बूझ का परिणाम न हो—उसको स्वतः संभवि कहा जाता है।

---

* यत्र तु विच्छित्तिविरहस्तेन प्रकारो न्यस्त, वस्त्वे-नोच्यते।

[ध्वन्यालोक, (लोचन की टीका) काशी संस्कृत सिरीज १३५]

† अलङ्कारो विच्छित्तिः इत्येव खलु वस्त्वलङ्कार-योर्विभागकथा। यदा जातिगुणादिकोऽर्थो वैचित्र्य-विरहाल्लौकिकभावेन व्यवस्थितस्तदा वस्तुमात्रमुच्यते तदेव सविच्छित्तिकमलङ्कार इति।

[काव्य प्रकाश पर सम्प्रदाय प्रदर्शिनी टीका खण्डः १, पृ० १५२ (T.S.S. Edition)]

अपनी कल्पना द्वारा व्याख्या की है। यह माना जाता है कि कवि की रचना ब्रह्मा की रचना से भिन्न होती है। किन्तु व्याख्या इस प्रकार की है कि इससे मिलती जुलती घटना कवि मानस के बाहर घटित नहीं होती। इसी प्रकार अन्य अलङ्कार भी प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार मम्मट ने अलङ्कारों को कभी कभी प्रौढ़ोक्ति सिद्ध माना है। पर उसकी रूप-रेखा ध्वनि सम्प्रदाय के समान ही रही। केवल कवि कल्पना की उपज है, उससे मिलती जुलती घटना यथार्थ जगत् में नहीं मिले।

भट्टनायक ने भी 'प्रौढ़ोक्ति' पर कुछ प्रकाश डाला है। भट्टनायक इस विचार का था कि ध्वनि या व्यञ्जना का अस्तित्व तो है, पर वाच्य के द्वारा वह स्पष्ट होने का विषय नहीं है। वह कथन से परे की वस्तु है। जो कवि इस अकथनीय की येन केन प्रकारेण परिभाषा देने तथा उसके चित्रण का प्रयत्न करता है, तो वह कथन प्रौढ़ है। अकथनीय का कथन करने के प्रयास में ही कवि का 'प्रौढ़त्व' है। कवि की इसी 'प्रौढ़ि' में वह यह शक्ति मानता है कि वह व्यञ्जना या ध्वनि को स्पष्ट कर सकती है। भट्ट नायक के काव्य सम्बन्धी विचारों का सार 'अलङ्कार' सर्वस्वकार ने इस प्रकार दिया है : भट्टनायक प्रौढ़ोक्ति द्वारा ध्वनित 'व्यंग्य' को काव्य का एक प्रमुख तत्व मानता है। प्रौढ़ोक्ति के आधार से व्यञ्जना का जो व्यापार होता है, वही प्रमुख है : शब्द-अर्थ गौण हैं।[१] किन्तु प्रौढ़ोक्ति के द्वारा 'व्यंग्य' ग्रहण करने का क्या अभिप्राय है? इसका स्पष्टीकरण 'जयरथ' ने अलङ्कार-सर्वस्व की टीका में इस प्रकार किया है। कथन की कोई परिभाषा या व्याख्या न दी जाय। यही कथन प्रौढ़ माना जाता है। एक वस्तु को सत्य मान कर ग्रहण तो कर लिया जाता है, पर उसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती।[२]

अब हम उन आचार्यों के प्रौढ़ोक्ति सम्बन्धी विचारों को देखें जिन्होंने इसे अलङ्कार तो नहीं माना, पर इसकी चर्चा अवश्य की है। जयदेव, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज ने इसे अलङ्कार माना है जयदेव ने प्रौढ़ोक्ति अलङ्कार का लक्षण यह दिया है। प्रौढ़ोक्ति में कवि एक वस्तु को वह क्षमता प्रदान करता है जो वस्तुतः उसमें नहीं होती। इसका उदाहरण कालिन्दी के तीर पर खड़े हुए सरल वृक्ष के ले हैं—

प्रौढ़ोक्ति स्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम्।
कलिन्दजा तीर रुहाः श्यामला सरल द्रुमाः।

[चन्द्रालोक : गुजराती गुजराती प्रिंटिंग प्रेस पृ० ५३]

वस्तुतः कालिन्दी के तीर में यह शक्ति नहीं कि वह 'सरल' वृक्षों को काला करदे। यह कवि प्रदत्त क्षमता है। अप्पय दीक्षित का मत यह है : प्रौढ़ोक्ति में कवि एक वस्तु की विशेषता का कारण एक दूसरी वस्तु में कल्पित करता है। उदाहरण केश इन तमाल वृक्षों के समान काले हैं जो कालिन्दी के तीर पर खड़े हैं:—

प्रौढ़ोक्तिरुत्कर्षा हेतौ तद्धतुत्वप्रकल्पनम्।
कचाः कलिंदजातीर तमालस्तोममेचकाः॥

[कुवलयानन्द : निर्णय सागर : पृ० १३५]

इन दोनों आचार्यों के मत भी समान हैं और उदाहरण भी लगभग एक से हैं। दोनों ही एक वस्तु की विशेषता का कारण दूसरी वस्तु को निरूपित करते हैं। इस कारण कल्पना का आधार सम्पर्क संसर्ग है। 'अमुक वस्तु का गुण एक दूसरी वस्तु के संसर्ग का परिणाम है'—यह बात व्यञ्जित है वाच्य नहीं। पर लक्षण करने के समय इस बात को दोनों आचार्यों ने उपेक्षित कर दिया। इसका स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक था कि यदि यह कारण बताना वाच्य हो जाय, तो अलङ्कार प्रौढ़ोक्ति न होकर

१—भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढ़ोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवतान्यग्भावित शब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्य मुक्तम्।
[अलङ्कार सर्वस्व, निर्णय सागर की प्रति: पृ० १०]

२—वही, पृ० १०

समालङ्कार हो जायगा। यह स्पष्टीकरण पण्डित राज ने कर दिया। एक वस्तु का गुण दूसरी यथार्थ गुण वाली वस्तु के संसर्ग का परिणाम है—यह बात व्यञ्जित ही होनी चाहिए। वाच्य होने पर वह समालङ्कार हो जायगा। ‡ इतना स्पष्ट करने के बाद पण्डितराज ने प्रौढ़ोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया एक वस्तु में यथार्थतः एक गुण है कवि उस गुण का आरोप किसी दूसरी वस्तु में करना चाहता है। अथवा उस वस्तु में वह गुण पहली वस्तु के कारण है, यह दर्शाना चाहता है। ऐसा करने के लिए कवि उन दोनों वस्तुओं के बीच एक काल्पनिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी काल्पनिक सम्बन्ध का परिणाम एक वस्तु की कोई विशेषता है, यह ध्वनित होता है। यही प्रौढ़ोक्ति का तत्त्व दर्शन है।* पण्डितराज ने उदाहरण यह दिया है —

> मन्थाचलभ्रमणवेगवशंवदा ये
> दुग्धाम्बुराशिलहरीणाम् सुधायाः।
> तैरेकतामुपगतैर्विविधौषधीभि—
> र्धाता ससर्ज तव देव दयादृगन्तान्।

यहाँ तक प्रौढ़ोक्ति के सम्बन्ध में जो चर्चा अलंकार शास्त्रों में मिलती है उस पर प्रकाश डाला गया है। पर इस चर्चा की समाप्ति से पूर्व प्रौढ़ोक्ति से सम्बन्धित एक समस्या की ओर देख लेना आवश्यक है। पहले के प्रायः सभी आचार्यों ने प्रौढ़ोक्ति सिद्ध को स्वतः सम्भवि तथा कवि प्रतिभानिर्वर्तित से भिन्न माना है। पर हेमचन्द्र तथा माणिक्यचन्द्र ने इन दोनों के भेद को मिटा सा दिया है। इनके अनुसार स्वतः सम्भवि में भी प्रौढ़ोक्ति का अस्तित्व रहता है। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'प्रतिमा' और 'प्रौढ़ि' में भी कोई अन्तर नहीं है। 'प्रौढ़ि' और 'प्रतिभा' का एकीकरण स्वभावोक्ति के एक प्रकार 'जाति' अलङ्कार की व्याख्या करते हुए किया गया है।

संक्षेप में इनकी विचार पद्धति कुछ इस प्रकार की है, कवि की प्रतिभा निर्विकल्प प्रत्यक्ष होती है। इस प्रतिभा के प्रधानतः दो कार्य हैं। संसार के पदार्थों में कुछ तो सामान्य गुण होते हैं जो उस जाति के समस्त पदार्थों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं और जिनको सभी लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। इन्हीं पदार्थों में कुछ आन्तरिक विशिष्ट गुण होते हैं जो साधारण लोगों को प्रत्यक्ष नहीं होते। उनका प्रत्यक्ष केवल प्रतिभा शील कल्पना सकुल मस्तिष्क ही कर सकता है। इन्हीं विशिष्ट गुणों का दर्शन करके उनका चित्रण करना 'जाति' अलङ्कार होता है। इन्हीं विशिष्ट गुणों को 'स्वभाव' कहा जाता है। इसी का चित्रण स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है। यदि स्वतः सम्भवि वस्तु इसी 'स्वभाव' या विशिष्ट गुणों के चित्रण का नाम है, तब इसमें भी कवि प्रतिभा का योग रहता है। इस प्रकार विशिष्ट गुणों स्वभाव का परिज्ञान का एक कार्य हुआ। किन्तु कभी कभी कवि का काम न सामान्य गुण वर्णन से चलता है और न केवल कवि प्रतिभा प्रत्यक्ष विशिष्ट गुणों से। तब उसे अपने अभिप्राय के अनुसार किसी वस्तु विशेष में नितान्त कल्पित गुणों और विशेषताओं की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। अतः कवि प्रतिभा का दूसरा कार्य अभिप्राय के अनुकूल किसी वस्तु में नितान्त कल्पित गुणों का स्थापना करना है। पहले के अलङ्कारिक इन दोनों शक्तियों में अन्तर करते थे पहली को प्रतिभा तथा दूसरी को कवि प्रौढ़ि की संज्ञा दी गई थी। हेमचन्द्र इन दोनों के बीच इतना पर्याप्त अन्तर नहीं मानता कि इन दोनों का अलग निरूपण किया जाय। हेमचन्द्र की इस विचार पद्धति पर महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक'

(शेष पृष्ठ ४६६ पर देखिए)

‡ अत्र च धर्मिणि रोपमलक्षणतिशयो धार्येऽन्यत्वतो यथागुणवि विषयस्वदेवायमलङ्कारः। वाच्यतया तत्र तु कृतत्वेनाभिहितश्चेत् समालङ्कारस्यैव विषयः [रसगङ्गाधर निर्णयसागर पृ० ६७१]

* वही, पृ० ६७२

ऐतिहासिक उपन्यासकार वर्माजी का प्रकृति चित्रण

प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०

वीर बुन्देलखण्डी जीवन को जिह्वादान करने वाले ख्याति सहित पुरस्कार प्राप्त करने वाले भी वृन्दावनलालजी वर्मा का स्थान हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सबसे ऊपर है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं—(१) रोमांच-युद्ध एवं प्रीति का उत्तेजनात्मक पाणिग्रहण है। (२) उन्होंने इतिहास की वास्तविकता एवं रूप है की यथा-सम्भव रक्षा की है। (३) बुन्देलखण्डी जीवन के मार्मिक चित्रों का उद्घाटन बड़ी सफलता एवं सरलता से हुआ है, तथा (४) उनके उपन्यासों में प्रकृति परी का मुग्ध वेशविन्यास एवं उसकी हृदय हारी क्रीड़ाएँ हैं।

पर प्रकृति का यह चारु-चित्रण न तो सुनी सुनाई बातों के आधार पर हुआ है; न पुस्तकों से पढ़कर जूठन को दूसरों के सामने फेंका है और न ही वर्षा की बहार, राजप्रासाद के प्रांगण में बैठ फव्वारों के उछलते रूप में देखी है। उन्होंने प्रकृति के चरणों में बैठ, उसकी गोद में लोट, और उसके मनोहर मुख के सामने बैठ उसको ध्यान पूर्वक निहारा है। अपनी ही आँखों से, अपनी ही ऐनक से। दुनाली को कंधे पर झुलाकर वे जङ्गल या पहाड़ पर पहुँच जाते हैं। वे वन जहाँ दिन के प्रकाश में भी उल्लू खेलते हैं, वे सरिताएँ जो प्रेमी पाषाण हृदयों की निष्ठुरता की उपेक्षा कर आगे बढ़ जाती हैं; वे ऊँची पर्वत श्रेणियाँ जहाँ बादल बिजली आँख मिचौनी खेलते हैं; वर्माजी की तीर्थभूमियाँ हैं। घटों वहाँ सुध-बुध खोकर, समाधिस्थ होकर उस सुन्दरी का अप्रतिम लावण्य अपलक नयन-चषकों से पीते नहीं अघाते। दायें-बायें से, ऊपर-नीचे से, चरणों में नतमस्तक हो, गोद में उछल-उछल कर, वक्षस्थल से आलिङ्गन बद्ध हो, कंधों पर सवार हो—अनेक दृष्टियों एवं दिशाओं से आन्तरिक एवं बाह्य छवि को देख देख पुलकित होते हैं।

संयम और सौन्दर्य का सौहार्द्र है। जहाँ संयम है वहीं सौन्दर्य, संयम का बाँध टूटने ही सौन्दर्य क्षत-विक्षत हो कुरूप बन जाता है। वर्माजी ने भी कहीं-कहीं संयम का हाथ छोड़ दिया और साथ ही सौन्दर्य भी कुछ हीन बन गया। गढ़ कुंडार के प्रथम अध्याय में गढ़-कुण्डार की चौकियों के वर्णन से कई पृष्ठ भर दिये। पढ़ते पढ़ते ऊब पैदा हो जाती है। क्या ही अच्छा होता यदि वर्माजी संयम से काम ले इन्हें संक्षिप्त एवं सुन्दर बना देते। जहाँ भी वर्माजी ने वर्णन की झोंक में सुषमा का मुख फैलाकर संयम को पीछे छोड़ा है, वहीं सुन्दरता भी दूर जा खड़ी हुई है। भला यही है कि ऐसे स्थल मात्रा में बहुत कम हैं।

वर्माजी ने प्रकृति को खुली आँखों से देखा और चतुरता पूर्वक उसका चित्रण भी किया। सामने के दृश्य की सूची मात्र न बना, उसका संश्लिष्ट प्रकाश-अङ्कन किया है। छोटी और बड़ी सभी वस्तुओं का सूक्ष्म निरीक्षण किया। पहाड़ जैसा विशाल शरीर और ऊँचा वृक्ष देखा तो उसके पास का नाला, उसके पास की भैंसे भी देखे। साथ ही घास पर भी ध्यान गया कि वह सूखी है या हरी। इस प्रकार प्रकृति का यथा तथ्य सूक्ष्म चित्रण उनमें प्राप्त होगा।

"बिर थाई से लगे हुए ३-४ महुए के पेड़ थे। महुआ के पीछे से एक चक्कर दार नाला निकलता था। दूसरी ओर वह पहाड़ी थी जो भुआवनी घाटा कहलाती है। एक ओर बीहड़ जङ्गल।...... अहीर की कुछ भैंसे नाले के पास चर रही थी। एक लड़का कुछ धूप में, कुछ छाया में सोता हुआ जानवरों की देखभाल कर रहा था। घास अब भी हरी आधी सूखी

थी। करधई के पत्ते पीले पड़-पड़ कर गिरने लगे थे। नाले का पानी अभी नहीं सूखा था—कुछ भैंसे उसमें लोट लोट कर शब्द कर रही थीं। चिड़ियाँ इधर से उधर उड़कर शोर कर रही थीं। सूर्य की किरणों में कुछ तेजी और हवा में थोड़ी उष्णता आगई थी। (विराटा की पद्मिनी)

कैसा फोटू सा खींच दिया है। केवल स्थूल वस्तु ही नहीं दिखाई पड़ी, आधी सूखी व आधी हरी घास पर भी नजर पड़ी। ऐसे वास्तविक चित्रण वर्माजी के उपन्यासों में अनेक प्राप्त होंगे। यह प्रकृति का जैसा का तैसा रूप है। इसके अतिरिक्त वर्माजी ने प्रकृति में सुन्दरता एवं कोमलता को भी निहारा, प्रकृति की प्रसन्नता एवं आनन्द से नाचती गाती मुद्रा को भी छूकर देखा। प्रभात का मुस्कराता मुखड़ा देखा तो बसन्त का आनन्दातिरेक में नृत्य करता एवं गीतोन्माद में पुलकित होता यौवन भी अपनी आँखों से पिया'—

"प्रभात नक्षत्र क्षितिज के ऊपर उठ आया। दमक रहा था और मुस्करा रहा था। वनराजि और नीचे की पर्वत श्रेणी पर उसका मन्द मृदुल प्रकाश फैल सा रहा था।

"चैत लग गया था। बसन्त ने पत्थरों और कङ्कड़ों तक पर फुलवारियाँ पसार दी थीं। टेसू के फूलों ने क्षितिज को सजा दिया। समीर और प्रभञ्जन में भी महक समा गई थी। रात और दिन सङ्गीत से पुलकित हो उठे। (विराटा की पद्मिनी)

पहिला तो कैमरे द्वारा उतारा फोटू था, तो ये चतुर चितेरे के कोमलता एवं प्रसन्नता सम्पन्न चारु चित्र हैं। फोटू में जो कुछ सामने है, उसे कागज पर उतार लिया जाता है। चित्र में चित्रकार कुशलता का परिमार्जन भी कर देता है और चित्र को अधिक सुन्दर एवं मनहर बना देता है। प्रकृति का यह परम रम्य रूप है।

किन्तु वर्माजी उपासक हैं किसी और ही वेश के; उनके मन में रमा है प्रकृति का काला और भयावना रूप। उनके मन को अधिकतर मोहती है रात्रि की कमनीय कालिमा; सन्ध्या समय का प्रगाढ़ होता अन्धकार एवं वर्षाकालीन भव्य भयानकता। वे चाँद के मुस्कराते मुख को मेघ अवगुण्ठन के पीछे से देखने के अधिक इच्छुक हैं। गढ़कुण्डार में लेखक दिवाकर के मुख में अपने शब्द रख कर कह भी रहा है:—

'पानी के किनारे एक घास के टीले के सहारे टिक कर वह पलोथर की पहाड़ी के विकट सुनसान सौन्दर्य को देखने लगा। इससे पहिले दिवाकर बुन्देलों के अनेक मनोहर पर्वत, झील वन, और नदियाँ देख चुका था, परन्तु एक ही स्थान में प्रकृति की ऐसी भयानक छटा देख कर उसका चित्त मस्त हो गया। उसने अपने आप कहा—इस सुन्दर देश के लिए प्राण देना बड़े गौरव की बात होगी।"

अतः वर्माजी ने प्रातःकालीन उषा के गुलाबी गाल के स्थान पर सन्ध्याकाल के सूनी ललाट पर अधिक लट्टू हैं; भास्कर भगवान की प्रखरता की उपेक्षा कर काली रात की कलङ्क कालिमा को सराहते हैं। इसी प्रकार शरद् श्री की अपेक्षा उन्हें वर्षा का भयङ्कर वैभव अधिक प्रिय है। ऐतिहासिक उपन्यासकार, जो युद्ध और रक्तपात के स्पष्ट चित्र खींच रहा है, यदि इन रौद्र-रूपों को पसन्द करे तो इसमें आश्चर्य की बात भी क्या? सन्ध्या का अन्धकार और उसके पीछे की चीत्कार पर ही उनका ध्यान खिंच जाता है—

"सन्ध्या हो चुकी थी। पश्चिम दिशा का क्षितिज सुनहले रङ्ग से भर चुका था और पूर्व की ओर से अन्धकार के पहाड़ के पहाड़ नदी की स्वर्ण रेखा पर मानो धावा बोलने वाले थे। मन्दिर के चारों ओर नदी की प्रखर धाराएँ अन्धकार और वन्य पशुओं के चीत्कारों से 'कुमुद' की एकान्तता को भयानक सा कर रही थीं। (विराटा की पद्मिनी)

इस श्यामता एवं भयानकता में ही वर्माजी ने अपनापन पाया। कुँअरसिंह के समान वर्माजी का

केवल पृष्ठ भूमि के रूप में नहीं जोड़े गये हैं। पृष्ठ भूमि इनसे बनती अवश्य है। ये दृश्य और मानव जीवन साथ साथ घुलमिल कर चलते हैं, वे एक ही साथ कई काम करते हैं। पृष्ठ भूमि बनाते हैं, वातावरण का सृजन करते हैं, घटना या चरित्र को गतिमान करते हैं और हृदय में उत्सुकता पैदा करते हैं। दूध और पानी की नाईं सम्मिलित हो ये दृश्य और घटनाएँ समस्त ऐतिहासिक वातावरण को युग से ला खड़ा कर देते हैं। प्राकृतिक दृश्य एवं घटना के साथ उत्सुक वातावरण का निर्माण निम्न पंक्तियों में कितना सुन्दर है—

"नदी से एक टीले के नीचे एक बड़ा पेड़ था जिसकी गुम्मट और शाखें ऊपर तक छाई थीं। इसकी छाया में वे किसान पहरा देते सो उठे थे। लाखी उत्सुकता के साथ बैठ गई। उसकी आँखों में नींद या ऊब का लेश मात्र भी न था।

थोड़ी देर बैठी रह कर वह खड़ी हो गई। कंगूरों के झरोखों से होकर नीचे की ओर देखा। अतुल अन्धकार। निबिड़ बन का कोई भी अंश नहीं दिखलाई पड़ रहा था। ऊपर तारे छिटके हुये थे। दूर की पहाड़ियाँ काली काली मोटी सी जान पड़ती थीं। टेढ़ी तिरछी बहती हुई सांक नदी की पतली रेखा जरूर झांई सी मार रही थी। दूरी पर डेरा डालने वालों के डेरे की आग सुनगसुनग कर राई गढ़ी व महुट का जगा जगा रे रही थी। वैसे राई की खोंग से नाहर इत्यादि जङ्गली जानवर रात में प्रायः बोला करते थे, परन्तु आक्रमण कारियों की होहा पीटी के मारे वे बहुत दूर खिसक गये थे। सिवाय झींगुरों की चीं ची के और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था। सुनसान को छेदती कभी कभी गढ़ी के भीतर 'जागते रहो, जागते रहो' की पुकारें भर सुनाई पड़ जाती थीं।" (मृगनयनी)

पर हम मो लाखी के खड़ा होने के साथ अपने कानों को खड़ा करके सुनने का प्रयत्न करते हैं कि इस सुनसान एवं शान्त वातावरण के पीछे क्या है।

और तभी 'लाखी को उन शून्य वेधी पुकारों के ऊपर कंगूरों के नीचे सघन अन्धकार के पेट में कुछ खसखसाहट सुनाई पड़ी।" हम सांस रोककर इस वातावरण के रहस्य को जानने का प्रयास करने लगे।

इस वातावरण के पीछे उत्सुकता है। एक ओर प्रकृति और घटना के साथ अनुस्यूत दृश्य देखें। इसमें उत्सुकता उतनी नहीं जितनी गति है। दोनों भागे जा रहे हैं।

"आगे निर्जन मार्ग। अगाध अँधेरा। झींगुर झङ्कार रहे थे। उनके ऊपर घोड़ों की टापों की आवाज हो रही थी। सब ओर सन्नाटा छाया हुआ था। पीछे झाँसी में आगें लग रही थीं और आवाजें आ रही थीं। आगे अन्धकार में जङ्गल और गढ़मऊ का पहाड़ लिपटे हुए दबे हुए से दिखलाई पड़ते थे। चिड़ियाँ पेड़ों पर से भड़भड़ा कर उठतीं और घोड़े को चौंका देतीं। घोड़े जल्दी चलाए जाने के कारण ठोकरें ले-ले पड़ते थे। आगे का मार्ग भयंकर पूर्ण और भविष्य तिमिराच्छन्न ज्यों-त्यों करके भाण्डेर नामक ग्राम के पास से यह टोली आगे बढ़ी। पहूज नदी मिली। लोगों ने चुल्लुओं से पानी लिया और आगे बढ़े।

(झाँसी की रानी—लक्ष्मीबाई)

प्राकृतिक दृश्यों द्वारा निर्मित इस वातावरण में उतनी उत्सुकता नहीं, जितनी गति है। ऐसे ही विराटा की पद्मिनी में एक ऐसे गत्यात्मक चित्र में वातावरण बनाया गया है जिसमें गति के साथ सावधानी है। इसमें युद्ध से पूर्व का वातावरण सजीव हो बोल उठा है—

"रात होगई, खूब अन्धकार छा गया। जगह-जगह लोग आक्रमण रोकने की योजना में लग गये। गाँव में खूब हल्ला गुल्ला होने लगा मानों असंख्य सैनिक किसी स्थान पर आक्रमण कर रहे हों। कुञ्जर, सिंह, नरपति के मकान के बाहर वेश बदले शस्त्र सज्जित टहल रहा था। पहरे वालों की टोलियाँ,

इस मकान के सामने कुछ क्षण के लिये खड़ी होकर "अम्बा की जय, दुर्गा मय्या की जय" कहती हुई गुजर जाती थी। (विराटा की पद्मिनी)

प्रकृति का अंधकार यहाँ पृष्ठ भूमि को बना रहा है। वर्माजी का सबसे सुन्दर गत्यात्मक चित्रण भी विराटा की पद्मिनी में ही है। मेरी समझ में यह सबसे सुन्दर एवं मनमोहक है। कारुण्य की एक चीख पर द्रुत धारा के साथ यह दौड़ कर हृदय को झकझोर देता है। यह चित्र हिन्दी साहित्य में बेजोड़ सा है। अपनी द्रुत गति से यह मन की गति पर हावी हो अवाक् छोड़ झट भाग जाता है। अलीमर्दान कुमुद (वर्माजी की सभी पात्रियों में सबसे अधिक सुन्दर एवं कोमल पुष्प) के पीछे पकड़ने के लिए दौड़ता है। पापात्मा क्या उस स्वर्गीय कुसुम को दबोच लेगा ? प्रकृति के दृश्यों-पहाड़ सूर्य रश्मि, और नदी की सहायता से घटना में गति लाकर एक अद्वितीय और अप्रतिम छवि-भर दी गई है।

"कुमुद चट्टान की टेक पर खड़ी हो गई। ऐसा मालूम होता था कि मानो कमलों का समूह उपस्थित हो गया हो या प्रकाश पुंज खड़ा कर दिया गया हो। पैरों के पैंजनों पर सूर्य की स्वर्ण रेखा फिसल रही थी। पीली धोती मन्द पवन के झकोरों से दुर्गा की पताका की भाँति धीरे धीरे लहरा रही थी। बड़े बड़े काले नेत्रों की बरौनियाँ भौंहों के पास पहुँच गई थीं। आँखों से झरती हुई प्रभा ललाट पर से चढ़ती हुई उस निर्जन स्थान को आलोकित सा करने लगी। वे चट्टानें और पठारियाँ, वह दुर्गम नीली धार वाली बेतवा, वह शान्त भयावना सुनसान, वह हृदय को चञ्चल करने वाला एकान्त और चट्टान की टेक पर खड़ी हुई अतुल सौन्दर्य की मूर्ति।

अलीमर्दान और कुमुद के बीच में अभी कई हाथों का अन्तर था।

कुमुद शान्त गति से ढालू चट्टान के छोर पर पहुँच गई। अपने विशाल नेत्रों की पलकों का उसने ऊपर की ओर उठाया। उँगली में पहने हुई अगूठी पर किरणें फिसल पड़ी। दोनों हाथ जोड़कर उसने धीमे स्वर में गाया:—

मलिनिया, फुलवा ल्याओ नन्दन वन के
बीन बीन फुलवा लगाई बड़ी रास।
उड़ गए फुलवा रह गई बास ॥

उधर तान समाप्त हुई, इधर उस अथाह जल-राशि में पैंजनी का "छम्म" शब्द हुआ। धारने अपने वक्षस्थल को खोल दिया और तान समेत उस कोमल कंठ को सावधानी से अपने कोश में रख लिया। ठीक उसी समय वहाँ अलीमर्दान भी आ गया। घुटना नवाकर उसने कुमुद के वस्त्र को पकड़ना चाहा, परन्तु बेतवा की लहर ने मानो उसे फटकार दिया।" (विराट की पद्मिनी)

प्रकृति गतिमान और मुखर उठी है। प्रकृति एवं घटना के मणिकांचन संयोग ने कैसा सुन्दर गत्यात्मक चित्र खींच दिया है। यही वर्माजी की अपनी प्रमुख विशेषता है।

(पृष्ठ ४६४ का शेष)

का स्पष्ट प्रभाव है। महिमभट्ट ने स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलङ्कारत्व प्रदान किया था। हेमचन्द्र की विचार धारा महिमभट्ट की इसी स्वभावोक्ति-व्याख्या से प्रभावित है। हेमचन्द्र अपने 'काव्यानुशासन' में महिमभट्ट का एक लम्बा उद्धरण भी देता है।[1] इन दो एक आचार्यों के अतिरिक्त सभी पूर्व के आचार्यों ने दोनों में अन्तर किया है चाहे कितना ही हलका अन्तर इनमें हो, पर है अवश्य।

१—काव्यानुशासन : निर्णयसागर : पृष्ठ ३३०।

पूर्व की ओर

श्री कन्हैयालाल शर्मा एम० ए० साहित्यरत्न

'पूर्व की ओर' नाटक के लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके उपन्यास इतिहास की शोध पर आधारित होते हैं। उनमें ऐतिहासिक रोमांस पाया जाता है। यही ऐतिहासिक उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति वर्माजी की जब नाटक लिखने जाती है तब इतिहास को उनके साथ कर देती है। प्रस्तुत नाटक अश्वतुङ्ग के जीवन के उत्थान-पतन के साथ ही साथ ऐतिहासिक शोध द्वारा तत्कालीन अनेक तथ्यों का भी उन्मीलन करता है। वह तत्कालीन नाग द्वीप (निकोबार) के जीवन पर तो प्रकाश डालती ही है; उसमें पल्लवकालीन भारतीय संस्कृति के दर्शन भी पाठकों या दर्शकों को होते हैं। उसका कथानक उस युग के जीवन की अनेक प्रथाओं और परम्पराओं पर प्रकाश डालता चलता है।

कथानक—प्रस्तुत नाटक का कथानक ऐतिहासिक है। इसका नायक अश्वतुङ्ग है। कथा का आरम्भ गोतमी और कन्दर्पकेतु से होता है। गोतमी विहार के भिक्षु प्रथम स्थविर के पास उपसम्पदा ग्रहण करने के लिए पिता द्वारा लाई जाती है, पर उसका मन चञ्चल है अतएव उपसम्पदा नहीं प्राप्त कर पाती। वह मठ के सम्मुख अश्वतुङ्ग को खिड़कियों से देखती है; जो अपने अश्वारोहियों के साथ रसायन-द्रव्य प्राप्त करने आया है। अश्वतुङ्ग का अभिन्न मित्र गजमद भी उसके साथ है। वे भिक्षु को दक्षिणा देकर भी पुस्तक प्राप्त नहीं कर पाते। तदनन्तर अश्वतुङ्ग कांची पर आक्रमण की सम्भावना बतला कर चन्द्रस्वामी से धन अपहरण करना चाहता है, पर असफल ही रहता है। वह एक नकली ताम्रपत्र लेकर प्रतिष्ठान को ठगना चाहता है, पर महानाविक इस पत्र को नकली समझता है, अतः उसकी अवहेलना करता है। इस पर अश्वतुङ्ग उसको अपने साथियों द्वारा बन्दी बनाना चाहता है, पर इसी बीच महादण्डनायक धीरवर्मा का आज्ञापत्र दिखला कर अश्वतुङ्ग को बन्दी बना लेता है। अश्वतुङ्ग तथा उसके साथियों का भाग्यनिर्णय धीरवर्मा द्वारा होता है और उन्हें देश निष्कासन का दण्ड मिलता है। चन्द्रस्वामी के पोत में वे सब 'पूर्व की ओर' ले जाये जाते हैं। जिस समय वे पोत में आ रहे थे उस समय एक भयङ्कर तूफान उठता है और वे नाग द्वीप के तट पर फेंक दिये जाते हैं।

नाग द्वीप में यह प्रथा है कि जो व्यक्ति द्वीप-वासियों के पंजे में फँस जाता है उसको जीवित जला दिया जाता है—नरमेध किया जाता है। तट पर पड़े हुए सभी व्यक्ति अश्वतुङ्ग, गजमद, चन्द्रस्वामी, महानाविक आदि द्वीपवासियों द्वारा पकड़े जाते हैं, पर प्रथम तीन को छोड़ कर शेष छूट भागते हैं। इन तीनों की रक्षा भी मारा के द्वारा हो जाती है, क्योंकि वह अश्वतुङ्ग से प्रेम करने लग जाती है। तुम्बी मारा की प्रतिद्वन्द्विनी बनती है।

उक्त तीनों व्यक्तियों को तीन वर्ष का समय द्वीप वासियों में व्यतीत करना पड़ता है। इस बीच में मारा द्वीप की रानी बन जाती है और तुम्बी मारा की शरण ग्रहण करती है। इसके पश्चात् महानाविक का, स्थविर, गोतमी और कन्दर्पकेतु का पोत द्वीप तट पर आकर लगता है। उसी पोत में अश्वतुङ्ग, गजमद तथा चन्द्रस्वामी मारा सहित यवद्वीप का प्रस्थान करते हैं। तुम्बी स्थायी रूप से द्वीप की रानी बना दी जाती है। पोत में गोतमी का वर्षों पुराना प्रेम अश्वतुङ्ग पर प्रकट होता है, पर जब वह देखता है कि अश्वतुङ्ग अब मारा का हो गया है तब वह उन दोनों से घृणा करने

जाती है और चप से उन सम्पदा महत्व कर लेती है।

इधर अश्वघुस नायक द्वीप पहुँचकर द्वीप वासियों के जीवन में काया कल्प कर देता है। उनके द्वीप में नहरें बनाता है, और अन्न उत्पादन की व्यवस्था करता है। द्वीपवासी उसे अपना राजा घोषित करते हैं, और धारा को महारानी का सम्मान मिलता है। यहीं कथा की समाप्ति हो जाती है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु का निर्माण ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर किया गया है समस्त घटनायें पल्लव काल की हैं, उनको एक देशकाल में एकत्र कर दिया गया है। इतिहास को व्यक्त करने के परिणाम स्वरूप कथावस्तु अधिक लम्बी हो गई है। ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने की वासना लेखक के मन में रहने के कारण नाटक को अत्यधिक विस्तार प्राप्त हो गया है। प्रस्तुत नाटक का नायक अश्वघुस है तथा नायिका धारा। नाटक में नायक के दर्शन प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य में नहीं होने पाते हैं वह दूसरे दृश्य में सामने आता है। गौतमी को प्रथम ही दृश्य में पाकर तथा दूसरे दृश्य में नायक के जीवन से उसका सम्बन्ध देखकर उसको नायिका समझने का भ्रम पाठक को हो जाना स्वाभाविक है। अतएव अश्वघुस तथा धारा से सम्बन्धित घटनावलियाँ आधिकारिक कथा कही जा सकती है और गौतमी तथा तुम्बी की कथा में प्रासंगिक कथा में पताका और प्रकरी कही जा सकती हैं, जिनकी विकृति आधिकारिक कथा का आगे बढ़ाने के साथ ही साथ अनेक ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालती हैं। नाटक की घटनावली में प्रेम की त्रिकोणता (Triangularity of love) दिखलायी गई है। धारा, गौतमी और तुम्बी तीनों अश्वघुस से प्रेम करती हैं, पर धारा ही उसमें सफल होती है।

नाटक की कथावस्तु को कार्य की अवस्थाओं की कसौटी पर कसते हैं तो ज्ञात होता है कि नायक का फल राज्य प्राप्ति करना है। जिसका प्रारंभ प्रथम अंक से हो जाता है और यत्न का स्वरूप भी प्रथम अंक में दिखलाई पड़ता है। प्राप्त्याशा नायक को नाक द्वीप में होती है जहाँ द्वीप की स्वामिनी धारा तुम्बी को हराकर सच्ची प्रेमिका के रूप में अश्वघुस को सर्वस्व समर्पण करके विवाह का प्रस्ताव करती है, पर यहाँ नायक सफल नहीं होता। द्वीप पर गौतमी, महानाविक आदि का पोत आकर घटनावली को दूसरी ही दिशा में मोड़ देता है। नियताप्ति का स्वरूप वहाँ समझना चाहिए जहाँ अश्वघुस वारुण द्वीप में लोगों के हित के लिए अधिक परिश्रम करके उनके हृदयों पर विजय पाता है। इस बीच में तुम्बी और गौतमी भी उसके प्रेम के मार्ग से हट जाती है। और जब वह द्वीप का राजा घोषित कर दिया जाता है तब फलागम समझना चाहिए।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नाटक की वस्तु ऐतिहासिक और कलात्मक है। उसकी घटनावली में कार्य कारण सम्बन्ध पाया जाता है। कथा सम्बन्धी उत्सुकता अन्त तक पाठक को बनी रहती है। हाँ तुम्बी और नाक द्वीप का परिणाम जानने के लिए पाठक अन्त तक भी उत्कण्ठित ही रहता है।

चरित्र चित्रण:—प्रस्तुत नाटक के कुछ चरित्र तो बर्बर जाति के हैं जिनका मानसिक विकास पूर्ण रूपेण नहीं हो पाया है और कुछ सभ्य भारतीय। तुम्बी प्रथम प्रकार की स्त्री पात्र है तथा अश्वघुस, गजानन्द, चन्द्रस्वामी, गौतमी, कन्दर्पकेतु तथा जय स्थविर दूसरे प्रकार के। धारा को दोनों के मध्य में रक्खा जा सकता है।

जय-स्थविर—दूसरे प्रकार के चरित्रों में जय-स्थविर साधारण मानव से ऊपर उठे हुये हैं, जिनमें दूसरों को भी उठाने की कामना और क्षमता है, इसी उद्देश्य को लेकर वे वारुण और नाक द्वीप में जाते हैं। वे शान्त गम्भीर, मितभाषी, चतुर और सहिष्णु हैं। अश्वघुस के अत्याचार उन्हें विचलित नहीं करते। क्षमाशील होने के नाते वे अश्वघुस के अपराधों को क्षमा कर देते हैं कुलवाद को प्रधानता देने के कारण गम्भीर रहना इनकी चारित्रिक

विशेषता बन गई है। भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अहिंसा में उन्हें पूर्ण विश्वास है, जिसमें वे बर्बर जाति को सुधारने की शक्ति पाते हैं। वे आत्म-तोषी भी हैं।

अश्वतुङ्ग—अश्वतुङ्ग नाटक का नायक है। वह वीर वर्मा का भतीजा है। आरम्भ में वह वीर-महत्वाकांक्षी, अहंकारी, लालची, धूर्त, चालबाज और अत्याचारी रूप में सामने आता है। प्रतिष्ठान को हड़पना, जय स्थविर को दण्ड देना, चन्द्रस्वामी की सम्पत्ति का अपहरण और किसानों की फसलें उजाड़ना, उसकी एक मनोवृत्ति के परिचायक कार्य हैं। किन्तु देश निष्कासन के पश्चात् उसके जीवन में एक दम परिवर्तन आता है। वह सच्चे शूर-वीर की वीरता को लेकर समस्त भावी संकटों को सहन करता है। गजमद उसे जिस हँसी का मूल मन्त्र देता है उसे वह जन्म भर नहीं छोड़ता। वह वीरता में हँसी का संयोग मणि-कांचन का संयोग है। यह अद्भुत संयोग उसके जीवन में अन्तर्द्वन्द्व और भरतों को जन्म देता है। धारा के प्रेम का आलम्बन बनकर वह कुशल, चतुर तथा व्यवहार पटु व्यक्ति रूप में सामने आता है। उन चारित्रिक बुद्धि बर्बर द्वीप वासियों के बीच में तीन वर्ष का सफल सञ्चालन निकलना उन चारित्रिक पहलुओं का प्रमाण है। मातृभूमि प्रेमी होते हुए भी वह दृढ़ प्रतिज्ञ है अतएव वह बाल्यकाल नहीं लौटना चाहता। वह कुशल व्यवस्थापक भी है। वाक्य तथा नक्षत्र वासियों के जीवन में जो कायापलट हुआ है वह अश्वतुङ्ग की कुशाग्र बुद्धि द्वारा की गई व्यवस्था का ही परिणाम है। धारा का वह उदार प्रेमी है अतएव बर्बर स्त्री से साथ वह विवाह ही नहीं करता, अपितु उसे धीरे धीरे सभ्य भी बना देता है।

गजमद—इस चरित्र की अवतारणा नाटक में विदूषक रूप में की गई है जो अनेक स्थलों का उद्घाटन भी करता है। गजमद स्वभाव कायर और चाटुकार है। कवियों का यह लक्षण विद्यमान है। बात को सीधे कह देना उसे आता ही नहीं है। उसकी कविता उसका साथ सुख में ही देती है। विपत्ति में उसकी कायरता उसे पीछे डाल देती है। उसके कायर स्वभाव का परिचय वीर वर्मा के सम्मुख साक्षी रूप में तथा नाक द्वीप वासियों द्वारा पकड़े जाने पर भली प्रकार मिल जाता है। वह दुख में विक्षिप्त हो जाता है। शारीरिक यातनाओं को सहन करने की शक्ति उसमें नहीं है। पर उसमें आत्माभिमान अवश्य है।

चन्द्रस्वामी:—चन्द्रस्वामी दर्पपूर्ण धनपति है जिसे अपने धन से अत्यधिक प्रेम है। कायरता, लालचीपन, एक व्यापारी के चारित्रिक गुण उसमें विद्यमान हैं। धर्म के कार्य की ओर प्रवृत्ति उसमें संकट काल में ही दीख पड़ती है, अन्यथा तो 'चमड़ी जावे पर दमड़ी न जावे' सिद्धान्त का ही वह प्रतीक है। उसको जो प्राणों का मोह है वह तो पकड़े जाने पर प्रकट होता ही है, पर धन का मोह भी उससे कम नहीं है। शारीरिक यातनाओं को सहन करने की शक्ति उसमें नहीं दीख पड़ती है पर वह कृतज्ञ अवश्य है और वाक्य द्वीप में अश्वतुङ्ग को अपना अतिथि बनाकर इसका प्रमाण देता है। सेनाव्यय के लिए रुपया देकर वाक्य द्वीप वासियों की सहायता करना भी बाद में उसने सीख लिया है।

गौतमी—कन्दर्पकेतु की पुत्री गौतमी चञ्चल तथा जिज्ञासु लड़की है। समुद्र यात्रा की आकांक्षा उसके हृदय में विद्यमान है। अश्वतुङ्ग के सौन्दर्य में आसक्त हो गई है। पर जब वह देखती है कि अश्वतुङ्ग धारा का प्रेमी है तब उसकी स्त्री सुलभ ईर्षा जाग्रत हो उठती है। वह धारा को घृणा की दृष्टि से देखने लगती है। यही ईर्षा उसे उच्छृंखला व्यवहार करने को फुसलाती है।

धारा—जिष्णु की पुत्री धारा भारतीय होकर भी नाक द्वीप में जीवन व्यतीत करने के कारण बर्बरता युक्त हो गई है। वह नाटक की नायिका

है। द्वीप की प्रथाएँ, परम्पराएँ और वहाँ का अविकसित जीवन इसे पूर्णरूपेण प्रभावित कर देता है, इसलिए उसमें सोचने समझने की शक्ति कम है। बर्बर जातियों की चणिक बुद्धि उसे द्वीप के वातावरण से प्राप्त हुई है। वह अश्वतुङ्ग पर उसके शारीरिक सौन्दर्य पर आसक्त होकर उसे प्रेम करने लगती है और सच्ची प्रेमिका के रूप में उसका नरमेध तो होने ही नहीं देती उसकी जीवन-सङ्गिनी बन कर रहती है। अश्वतुङ्ग का संसर्ग उसके भारतीय संस्कारों को जगाता है और मनोवृत्तियों को परिष्कृत करता है। इसलिए विवाह के सम्बन्ध में वह द्वीप वासियों की प्रथाओं को स्वीकार नहीं करती। अश्वतुङ्ग की प्रेमिका बन कर वह उसे पूर्ण समर्पण कर देती है और उसी के इङ्गित पर तूम्बी से सन्धि कर लेती है। गोतमी पर आक्रमण करना उसकी बर्बरता का द्योतक है। अश्वतुङ्ग का सम्पर्क उसके गुण धारा में ला देता है। अतएव वह हास्यप्रिय और कुशाग्र-बुद्धि बन जाती है।

तूम्बी—बर्बर जाति की स्त्री है। वह लड़ाकू तथा चणिक बुद्धि है। वह प्रेमिका भी है, पर वह बर्बर प्रेम ही जानती है। कन्दर्पकेतु एक व्यापारी है। उसकी विचारशीलता अपनी पुत्री के लिए उसे चिन्तित रखती है। महानाविक, निर्भीक, वीर तथा कुशाग्रबुद्धि है। परिस्थिति को समझना और उससे लाभ उठाना उसे भली प्रकार विदित है।

कोई भी नाटककार चरित्र-चित्रण के लिए चार प्रणालियों का उपयोग करता है। प्रथम दो या अधिक पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप द्वारा, द्वितीय किसी अन्य पात्र द्वारा किसी चरित्र की कोरई आलोचना द्वारा, तृतीय पात्र के स्वगत कथन द्वारा तथा चतुर्थ पात्र के क्रिया-व्यापार द्वारा। नाटक में द्वितीय प्रकार से किया गया चरित्र चित्रण श्रेष्ठ प्रकार का नहीं कहा जा सकता। क्योंकि नाटक दृश्य-काव्य है। दर्शक या पाठक यहाँ व्याख्या या सम्मति नहीं चाहता अपितु उस वृत्ति को मञ्च पर चरितार्थ होता देखना चाहता है। अतएव कुशल नाटककार इस उपकरण को यथा सम्भव कम उपयोग में लेते हैं। वर्माजी का उपन्यासकार रूप सामने आकर इस प्रणाली का भी उपयोग करता है। अन्यथा चरित्र चित्रण सर्वथा निर्दोष, मनोवैज्ञानिक और कलापूर्ण है। पात्र स्वयं अपना मार्ग खोजते चलते हैं; नाटककार के संकेत पर नहीं नाचते हैं। देश-कालानुरूप चरित्र चित्रण भी इस नाटक की विशेषता है।

रस—प्रस्तुत नाटक में तीन रस मुख्य रूप से पाये जाते हैं—वीर, शृङ्गार तथा हास्य। भयानक और रौद्र रसों की भी सामग्री यत्र तत्र बिखरी पड़ी है। नाक द्वीप वासिनी बर्बर धारा की रति की वृत्ति परिस्फुट अवस्था तक आरम्भ में नहीं पहुँच पाई है। आरम्भ में उसमें कामुकता और सङ्कोच अधिक है, परन्तु—अश्वतुङ्ग द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा भारतीय संस्कारों की प्रतिष्ठा के परिणाम स्वरूप वह उदात्त होता दीख पड़ता है। समाज के संस्कृत-स्वरूप में वह भी संस्कृत हो उठता है। नाटक में हास्यरस के लिए नाटककार को अधिक अवकाश मिल गया है। गजमद का चरित्र तो हास्य रस की सृष्टि के लिए ही नाटक में अवतरित है और चन्द्र स्वामी भी स्थान-स्थान पर इसमें योग देता है। इन रस के उपयोग द्वारा नाटककार ने कई ऐतिहासिक तथ्यों की विकृति करके भी नाटक में शिथिलता नहीं आने दी।

प्रस्तुत नाटक का प्रधान रस कौन सा है; इसका निर्णय नाटक के कार्य द्वारा ही किया जा सकता है। नाटक का कार्य है—अश्वतुङ्ग के द्वारा राज्य-स्थापना। नाटक इसके लिए आरम्भ से ही प्रयत्नशील है और अन्त में उसको इसकी प्राप्ति हो जाती है। उसका अदम्य उत्साह वारुण द्वीप में राज्य स्थापना करने में दीख पड़ता है। ऐसी दशा में नाटक का प्रधान रस वीर है; शृङ्गार रस उसका अङ्ग बन कर आया है। शृङ्गार रस की नाटक में

ख्याति उसे प्रधान रस समझने का भ्रम उत्पन्न कर सकती है।

कथोपकथन —कथोपकथन नाटक का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है इसी के द्वारा नाटककार वस्तु, चरित्र, देशकाल, उद्देश्य आदि तत्वों पर प्रकाश डालता है। अतएव किसी भी नाटक का कथोपकथन अत्यन्त प्रभाव शील, वास्तविक तथा स्वाभाविक होना चाहिए। 'पूर्व की ओर' नाटक में पात्रों के अनुरूप कथोपकथन की योजना की गई है। गजमद वाचाल और कवि है अतएव उसके कथन अपेक्षाकृत लम्बे और अलङ्कार युक्त (काव्यमय) हो गये हैं। उधर इस चरित्र के ठीक विपरीत जय स्थविर का चरित्र है। जिसमें शब्दों तथा विचारों की मित व्ययिता देखी जाती है। धारा के आरम्भिक कथनों में उसके विचारों की कङ्गाली तथा भाषा पर अनधिकार प्रदर्शित होता है, पर बाद के कथन सजीव तथा मार्मिक है। पात्रों के अनुकूल वाक्य रचना में भी समय समय पर अन्तर दिखलाई पड़ता है। जहाँ पात्रों का अवकाश होता है, वहाँ बातें बढ़ती हैं और नाटक में वर्णनात्मकता अधिक आ जाती है, पर जहाँ पात्र क्रिया व्यापार में उलझे होते हैं वहाँ कथोपकथन छोटे और मूल विषय पर प्रकाश डालते चलते हैं।

कथोपकथन तीन भागों में बँटा हुआ होता है— नियत भाव्य, सर्व भाव्य और अभाव्य (स्वगत कथन) वर्माजी ने प्रस्तुत नाटक में नियत भाव्य कथोपकथन का उपयोग नहीं किया और अभाव्य कथोपकथन के भी अवसर नाटक में एक दो ही आ पाये हैं।

नाटक दृश्य काव्य होने के नाते दर्शकों को सर्वथा भुलाकर नहीं चल सकता अत न इसमें दार्शनिक कथनों के लिए अधिक अवकाश है और न अलंकृत भाषा के लिए, न इसमें लम्बे भाषणों की आवश्यकता है न अत्यधिक वास्तविक अप्रासंगिक कथनों की। प्रस्तुत नाटक इन दोषों से मुक्त दीख पड़ता है। पात्रों की प्रकृति के अनुकूल लेखक इधर उधर झुकता है, पर यह उसका दोष नहीं, पात्र स्वयं उसे इधर खींच ले जाते हैं। गजमद वर्माजी के हाथों में पड़ कर या रङ्ग-मञ्च का ध्यान रखकर अपनी प्रकृति तो नहीं बदल सकता, पर वह उससे लम्बे काव्यमय भाषणों को मञ्च पर खेलते समय सँभाल लेने की क्षमता अपनी विदूषकवृत्ति के कारण रखता है। संक्षेप में नाटक के कथोपकथन नाटकीय हैं।

देशकाल —'पूर्व की ओर' नाटक पल्लव राजा वीर वर्मा के काल्प वातावरण को हमारे सामने लाता है। समस्त घटना चक्र एक लम्बी अवधि को समेट कर चलता है अतः इसमें काल सङ्कलन अचिन्त्य है श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने इस नाटक में देशकाल सम्बन्धी भूलों को नहीं आने दिया है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों को भलीभाँति सँवार कर उन्हें नाटकोपयोगी बना दिया है। उस समय नाक द्वीप के लोग वल्कल से शरीर ढकते थे, विवाह के समय दूल्हा भाग जाता था, उसे पकड़ कर लाया जाता था और दुलहिन की गोद में बिठलाया जाता था। वहाँ नरमेध के लिए लोगों को लट्ठों पर बाँधकर लाया जाता था। किसी के विदा होते समय उसका हाथ फूँकना तथा मिलने पर रोना, उनके अन्धविश्वास आदि सभी ज्ञातव्य बातों पर लेखक का ध्यान रहा है। उस समय वे नाविक स्थल का पता लगाने के लिए कौवे का उपयोग किया करते थे तथा बौद्ध भिक्षुओं का भोजन सूखे चावल और इमली का पानी होता था। इसी प्रकार की अनेक बातों का पता नाटक से लगता है। तत्कालीन नाक द्वीप वासियों की भाषा, उनकी संस्कृति आदि भी नाटक में देखने को मिलती है। नाटककार ने न केवल बाह्य बातों को देश काल के अनुरूप बनाया है, अपितु यह भी ध्यान रक्खा है कि उस समय के मनुष्य की मनोवृत्ति किस प्रकार की थी, भावों और मनोविकारों का परिष्कार भारत तथा नाक द्वीप में कितना हो चुका था आदि।

भाषा शैली—नाटक में खड़ी बोली का व्याकरण सम्मत रूप ही अपनाया गया है। सभी पात्रों

या नाटक की भाषा खड़ी बोली है। पात्रों की भिन्नता विभिन्न भाषा भाषी होने में नहीं दिखलाई गई है, अपितु एक भी भाषा को विभिन्न पात्रों द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रयोग करने में दिखलाई गई है। कहीं कहीं वाक्य रचना भी उर्दू के ढङ्ग की हो गई है। पुस्तक में बोलियों के अप्रचलित दो चार शब्द भी मिल जावेंगे। संस्कृत पदावली का उपयोग पुस्तक में मिलता है।

गीत या छन्द नाटक में दो ही स्थलों पर आये हैं जो प्रसङ्गानुकूल हैं। इनमें दुरुहता नहीं है और न वे दीर्घ ही हो पाये हैं।

उद्देश्य—प्रस्तुत नाटक में नाटककार का मूल रूप से तो एक ही उद्देश्य दिखलाई पड़ता है। वह है—अश्वतुङ्ग या वीरवर्म्मा के काल को और तत्कालीन नाकद्वीप वासियों के जीवन के ऐतिहासिक तथ्यों को पाठक या दर्शक के सम्मुख रखना पर इसके साथ ही साथ एक आदर्श राज्य की स्थापना की कामना भी नाटक में देखी जाती है। वारुण तथा नाकद्वीपों में अश्वतुङ्ग द्वीप की शासन व्यवस्था को इसी ओर ले जाता है। श्रम तथा संपत्ति का मेल करवाकर वर्तमान समय में बढ़ते हुए पूँजीपतियों और श्रमिकों के विरोध का भी शमन नाटक में दिखलाया गया है। साथ ही भारत के नौका-नयन की प्राचीनता तथा उसकी समृद्धि से भी पाठक प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता।

अभिनेयता—नाटककार ने नाटक को मञ्चोपयोगी बनाने पर दृष्टि रख कर ही लिखा है, पर ऐतिहासिक शोध का मोह वह संवरण नहीं कर सका अतएव नाटक अधिक लम्बा हो गया है। पूरे नाटक में चार अङ्क और कुल मिला कर ३० दृश्य हैं जिनका अभिनय ५-६ घण्टे बिना सम्भव नहीं है।

नाटक के कुछ अंश वर्णनात्मक अधिक हो गए हैं—अतएव व्यापार की शिथिलता मञ्च पर खटकने वाली बन सकती है। अश्वतुङ्ग, गजमद आदि का द्वीप में प्रवेश होने से निकलने तक का कथांश वर्णनात्मक अधिक है। वहाँ व्यापार की कमी है। ऐसे दृश्यों को मञ्च पर खेलना तथा दर्शकों का ध्यान आकर्षित किए रखना कठिन हो जाता, पर नाटककार ने स्थान-स्थान पर हास्य का पुट देकर नाटक को सँभाल लिया है।

नाटक में हास्य के अतिरिक्त शृङ्गार तथा वीर रसों का अभिनय सर्वथा मञ्चोपयोगी है। प्रस्तुत नाटक में ये ही तीनों रस मुख्य हैं। जो क्रिया व्यापार में किसी प्रकार का अभाव नहीं आने देते।

भाषा पात्रों के अनुकूल और सरल होने के कारण नाटक दर्शकों को सहज ही समझ में आ सकता है वह प्रसाद के नाटकों के समान दुर्बोधता के कारण रुकावट बनकर दर्शक और पात्र के बीच में खड़ी नहीं हो जाती। गजमद को छोड़ कर अन्य कोई भी पात्र लम्बे कथन बकने का आदी नहीं है। पर गजमद तो नाटक का विदूषक है अतः उसमें लम्बे कथनों को भी सँभालने चलने की शक्ति और क्षमता है।

नाटक का वातावरण प्राचीन होने के कारण तथा नौका आदि के दृश्य प्रस्तुत करने के कारण नाटक के सूत्रधार को अधिक सतर्क रहना पड़ेगा। नाटक में वन प्रदेश के दृश्य अधिक होने के कारण तनिक हेर फेर से सभी दृश्य सरलतापूर्वक मञ्च पर सजाये जा सकते हैं, पर नौका और स्थल का दृश्य साथ साथ दिखलाने में तनिक सावधानी आवश्यक है।

प्रस्तुत नाटक में यत्र तत्र कतर छाँट करके तथा कुछ दृश्यों के सौन्दर्य को अक्षत रखते हुए हटा कर नाटक को मञ्च पर खेला जा सकता है। नाटककार द्वारा दिये गये विस्तृत मञ्च संकेत इसे रङ्गमञ्चोपयोगी बनाने में विशेष सहायक सिद्ध होंगे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्माजी का यह नाटक कुशल नाटक है जो प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों जैसी छायावादी शैली, दार्शनिक संवादों और काव्यमय कथनों के अभाव के कारण रङ्गमञ्च के अधिक निकट है, पर मनोदशा के पारखी प्रसाद जी फिर भी वर्मा जी के नाटकों से अपनी विशेष भिन्नता और महत्व रखते हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता

श्री मुक्तिनाथ ठाकुर एम० ए०

परिस्थिति के प्रति कलाकार की प्रतिक्रिया चार प्रकार की हो सकती है। वह परिस्थितियों के आघात से एकदम भाग सकता है। इस प्रतिक्रिया से कल्पना चित्रों, रोमान्टिक अथवा रहस्यमय गाथाओं की उत्पत्ति होती है।

दूसरा, वह परिस्थिति के आघात का साहस पूर्वक सामना करके निराश और भग्नाकांक्ष हो सकता है, जिसका परिणाम कठोर और नग्न यथार्थ वाद होगा।

तीसरा, वह असुन्दर तथा कठोर परिस्थितियों में से सुन्दरता को ढूँढ़ सकता है और उसकी महत्ता प्रतिपादित कर सकता है। इस सपमित विद्रोह का चिन्तन शील आशावाद का दृष्टिकोण है, जिससे बहुधा उत्तम काव्य पैदा होता है।

चौथा, वह परिस्थितियों को निष्क्रिय भाव से स्वीकार कर सकता है, उनसे पराहत और जड़ित हो सकता है। इसमें भाग्यवादी, भोगवादी (Hidonist) सिनिक्स (Cynics) या साधारण तथा सभी तरह के निराशावादी हैं।

आज की अधिकांश कविता पहली और चौथी श्रेणी में रखी जा सकती है। अर्थात् यों कहें आधुनिक कवि या तो परिस्थिति से भाग जाता है या उसके आगे पराहत हो जाता है, चिन्तन शील आशावादियों की तथा यथार्थवादी की संख्या बहुत कम है। दस्यु यथार्थता की चोट इसका कारण है। प्रतिक्रिया अति की सीमा पर पहुँच चुकी है आज हमारा जीवन परिस्थितियों की टक्कर से चूर सा हो गया है। हमारे युग को 'अभद्रता का युग' कहा जा सकता है।

अपने अपने झुकाव के बल पर आधुनिक कवियों को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) सौन्दर्योपासक, (२) रहस्यवादी, (३) सुखपरस्त और (४) भाग्यवादी।

सौन्दर्योपासक वर्ग के कवि सौन्दर्य लोक में लगे रहते हैं। ये यथार्थवाद का सम्मान नहीं करते हैं, सुरक्षित शान्त और प्रायः अनुल्लेख्य जीवन बिताते हैं। अपनी अन्तरात्मा प्रकृति में, रस और रूप में रमा देते हैं—

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है,
नव वसन्त जिसका शृङ्गार,

इसके प्रतिनिधि कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं। पन्तजी पर वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) की कविता की गहरी छाप है। पर प्रकृति के नाते, वर्ड्सवर्थ से कई दोष भी अपना लिये हैं, जैसे चेष्टा से लायी गई सरलता तथा यत्न से लाया गया भोलापन। आज के अनेक कवियों की भाँति पन्तजी भी वेदना के गीत गाते हैं—पर अनुभव नहीं कल्पित हैं। सौन्दर्योपासक साधारण तथा अपूर्ण विकसित (Subnormal) व्यक्ति होता है। उसकी वासना शक्ति बहुत क्षीण है। वह पूँजीभूत नहीं होती, निरन्तर असंख्य छोटे छोटे आकर्षणों में बिखरती रहती है। कवि कभी उपवनों के नवोढ़ा फूलों को अपने यौवन प्याले में भरकर अपने प्रिय मधुकर को पिलाते देखकर मुग्ध होता है और कभी इन्द्रधनुषी दल का रेशमी घूँघट बादल पर आकर्षित कर देता है। सौन्दर्योपासक की प्रतिमा स्वयं उसके आस पास चक्कर काटती है। वह सदा आत्मोपासक होता है। पन्तजी स्वभावतः शैशव के कवि हैं। शैशव ही एक स्नेह की वस्तु है। अब पन्तजी में चिन्तन की मात्रा बढ़ती जा रही है।

दूसरा वर्ग रहस्यवादियों का है। विश्वास के रूप में यह एक विशाल वस्तु खिलौना या पड़ोस

होता है। रहस्यवादी समर्पित व्यक्ति है। उसकी एक अनवरत खोज है—वह है अनन्त और असीम की खोज। ससीम और असीम के सम्मिलन का नियमन करने वाली एक मात्र शक्ति साधन की एकाग्रता या तीव्रता ही है। इसलिये रहस्यवादी एक क्षण में प्रिय मिलन के सुख का वर्णन करता है तो दूसरे क्षण वात्सल्य से भरी माँ की शरण में जाने वाला शिशु बनता है। इसकी प्रतिनिधि कवयित्री 'महादेवी वर्मा' हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा असीम की चेतना की ओर आकर्षित सी दीख पड़ती हैं। कभी आत्मा की सान्त्वना की खोज में दीखती हैं, कभी शिशु की भाँति माँ की गोद के लिये उदास हो जाती हैं, कभी प्रिय मिलन के लिए उत्कण्ठित सी जान पड़ती हैं। इनकी कविता में कहीं विश्वास, अभिमान, कहीं आत्मदान का परिचय मिलता है। इनकी कविता संगीतमय होती हुई भी एक रसता लिये होती है (Monotony)।

तीसरा वर्ग बुतपरस्त वालों का है। (Pagan) अर्थात् 'काफिर' प्रतिमा पूजक आदि शब्दों से इसका अभिप्राय निकाल सकते हैं। इसके प्रतिनिधि कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी हैं। ये सच्चे अर्थ में रोमान्टिक कवि हैं। इनमें तीव्र अनुभूति का अनुभव होता है। इन्होंने जोश के आगे सूक्ष्म अभिव्यञ्जना को बलिदान कर दिया है। 'नवीन' जी की कविता की एक विशेषता है—स्थूल भौतिकता के प्रति उनका आग्रह। वे प्रेम को आध्या-रिमक और काल्पनिक बनाने की प्रकृति से विद्रोह करते हैं। यौवन और जीवन, जीवन और यौवन ही इनके गीत का अभिघोष है। कभी कभी प्रश्न भी पूछ बैठते हैं :—

"कुछ छिन, कुछ दिन, कुछ मास और कुछ
बरस, यही है क्या जीवन ?"

इसके बाद भाग्यवादी कवियों का वर्ग आता है। अन्य तीनों वर्गों में परिस्थिति के प्रति एक ही प्रकार की सूझ है। तीनों में एक ही प्रकार के पलायन (escape) से बच भागने की प्रवृत्ति है। उन भाग्यवादियों में भोगवादी और निराशावादी शामिल है। इसके प्रतिनिधि कवि श्री हरिवंशराय बच्चनजी हैं। इनका विचार समाज के और साधारणतया अस्तित्व मात्र के प्रति नाकारात्मक है।

उनकी एक उक्ति है—

जब उठा हो भार जीवन।
तब लगाया ओठ प्याला॥

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी कविता में साधारणतः गहराई तथा विशालता की कमी है। विराट कविता का सर्वश्रेष्ठ रस जनता का रक्त ही है, फिर भी हमारे कवि जनता से खिंचे रहते हैं। आज जन साहित्य की उत्पत्ति के लिये कृत्रिम साधनों का उपयोग होने लगा है। हिन्दी में जीवन, प्राण और उत्साह है, जो जन साहित्य के लिये उपयोगी हैं।

प्रसादजी और रस-सिद्धान्त

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

कविता, दार्शनिकता और विद्या की त्रिवेणी का प्रवाह-स्थल है प्रसाद का व्यक्तित्व। वे एक साथ ही कवि, दार्शनिक और पण्डित थे। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' जो उन्होंने लिखे हैं, वे उनके तलस्पर्शी पाण्डित्य का सबूत भर रहे हैं। किन्तु उनके पाण्डित्य पर भी उनकी दार्शनिकता की छाप प्रायः सर्वत्र दिखलाई पड़ती है। प्रसाद द्वारा किए हुए रस सिद्धान्त के विवेचन को ही लीजिये। वैदिक काल के प्रारम्भ से ही वे आनन्द तथा विवेक की दो धाराएँ मानकर चले हैं। आनन्दवाद की धारा के प्रतीक थे इन्द्र तथा विवेकवाद की धारा के प्रतीक थे वरुण। परवर्ती काल के अनात्मवादी बौद्ध इसी विवेकवादी धारा को अग्रसर करने वाले हुए। आगे आने वाले भक्ति-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में भी प्रसादजी की धारणा है कि वे अनात्मवादी बौद्धों के ही पौराणिक रूपान्तर हैं अपने ऊपर एक शासनकर्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखाभिभूत-दर्शन का ही परिणाम है। उधर उपनिषदों में आनन्द सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई तथा साथ ही प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना की गयी जो आनन्द सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हुआ, वहाँ दूसरी ओर प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द के सिद्धान्त का भी प्रचार होता रहा। आगे चलकर आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना पद्धति में प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्य सम्प्रदाय कहते थे।

प्रसादजी ने आनन्दवादी तथा विवेकवादी दो धाराओं के आधार पर साहित्य की भी दो कोटियाँ स्थिर की हैं। रस-सम्प्रदाय को वे आनन्दवादी धारा से प्रभावित मानते हैं तथा अलङ्कार, रीति एवं वक्रोक्ति—सम्प्रदाय उनकी दृष्टि में विवेकवादी धारा से प्रभावित है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "इस प्रकार का कोटि विभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परिचायक है। हिन्दी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में यह प्रायः अभूतपूर्व है।"

नाटकों में भरत के मत से चार ही मूल रस हैं—शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी गयी। शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक। प्रसादजी के मतानुसार आनन्द सिद्धान्त के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्व-साधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य रसों की उद्भावना की थी। रसों का विवेचन भी अभेद और आनन्द को लेकर किया गया। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट तथा सामाजिक एवं नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक सामान्य प्रकाश—आनन्दमय आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई भट्ट नायक ने साधारणीकरण व्यापार द्वारा जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी, अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मक तथा स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्द स्वरूप हो जाती हैं। उनका आत्मवाद अद्वैतवाद के तुल्य होता है।"

भरत के प्रसिद्ध रस सूत्र में कहा गया है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रश्न यह है कि रस के रूप में निष्पन्न होने वाली वस्तु क्या है।

ऊपर अभिनव गुप्त के उद्धरण में स्पष्ट किया गया है कि रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा आनन्द स्वरूप हो जाती हैं, और ये वृत्तियाँ स्थिर या स्थायी भाव हैं जैसा कि अभिज्ञान शाकुन्तल के निम्नलिखित दार्शनिक छन्द से प्रकट है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः॥
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं।
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥"

इस सम्बन्ध में स्वयं भरत ने भी लिखा है—"विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रस नाम लभते" (नाट्य शास्त्र अ० ७) अर्थात् मूल स्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व को प्राप्त होती हैं।

रसानुभूति किसे होती है? यह प्रश्न भी प्रसाद ने उठाया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं प्रत्युत नटों में भी है। हाँ, रस विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं कि कवि में साधारणीभूत जो संवित है—चैतन्य है वही काव्य पुरस्सर होकर नाट्य व्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित् परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस विवेचना में संवित् का साधारणीकरण निवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।"

भारतीय साहित्य में दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध क्यों किया गया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रसाद कहते हैं कि 'संभवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध भी किया गया क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। फिर विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। अभिज्ञान शाकुन्तल इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद ने रस सिद्धान्त की अपने ढङ्ग से अनूठी व्याख्या की है। अभिनवगुप्त द्वारा किये हुए निरूपण का सर्वाधिक प्रभाव प्रसादजी की इस व्याख्या पर है। आनन्द-सिद्धान्त का काव्यात्मक रूप जहाँ प्रसादजी की 'कामायनी' में प्रकट हुआ है, वहाँ इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन प्रसादजी के रहस्यवाद तथा रस सम्बन्धी निबन्धों में हुआ है।

महादेवी के जीवन दर्शन और काव्यकला पर परम्परा का प्रभाव

श्री शैलेन्द्र मोहन झा, एम० ए०

करुणा की आराधिका महादेवी का आधुनिक काव्य जगत में उत्कृष्ट स्थान है। अपने काव्य को वेदना की कल्याणी वाणी प्रदानकर उन्होंने जिस भावलोक की सृष्टि की है वह उनकी काव्य कला की अभिनव वस्तु है। श्रीमती महादेवी वर्मा जी का हिन्दी के कलाकारों में प्रमुख स्थान है। छायावाद के गिने चुने कवियों में उनकी गिनती है। उनके काव्य का स्वय व्यक्तित्व है। उनकी जैसी कवयित्री पर परम्परा का बहुत बड़ा प्रभाव देखा जाता है और यह छायावाद के प्रति अज्ञात कुलशीलता का भ्रम करने वालों के लिए चुनौती है।

महादेवी के अनुभव और काव्य सृष्टि का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि उनमें अतीत का गहरा मोह है। वह निरपेक्ष होकर काव्य रचना नहीं करतीं। अतः उन परम्पराओं पर विचार करना अनिवार्य है जो उनकी काव्य सृष्टि को प्रभावित करती है और उन परिस्थितियों पर ध्यान देना समुचित है जिसमें उनकी भावधारा प्रवाहित होती है।

लेखक या कवि को यह गर्व रहता है कि उसकी रचना रूढ़ि ग्रस्त नहीं है और परम्परा की जञ्जीर से जकड़ी नहीं है। रूढ़ि ग्रहण अवश्य बुरी चीज है और इसके अनुसरण से मौलिकता की हत्या होती है। पर परम्परा से सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक है। यदि व्यक्तिगत प्रतिभा की सहायता से उसे नवीन रूप दिया जाय तो वह वाँछनीय है। प्राचीन साहित्य से सम्पर्क बनाये रखने के विषय में Eliot ने एक स्थान पर कहा है—Not merely with his own generation at his bones but with the feeling of the whole of the literature of Europe from Homar and within the whole of the literature of his own country has a simultaneous order

प्राचीन साहित्य से उसी प्रकार सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए जिस प्रकार युग से। महादेवी का काव्य हमारे प्राचीन गौरवमय साहित्य का विशेष ऋणी है। उनका दर्शन, उनकी भावधारा, उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति, सभी पर परम्परा की मुहर लगी है—और इसे महादेवी ने भी माना है।

महादेवी का जीवन दर्शन शिराओं में बहने वाले रक्त के समान उनके काव्य में सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है। इस क्षेत्र में उन्होंने परम्परा से प्रेरणा प्राप्त की । साहित्य का मूल उत्स वैदिक साहित्य से प्रारम्भ करने पर देखते हैं कि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से महादेवी पर इसका प्रभाव है।

महादेवी रहस्यवादी कवि हैं। आज हम रहस्यवाद के जिस रूप को ग्रहण कर रहे हैं वह परम्परा से आती विभिन्न विचारधाराओं की विशेषताओं से समृद्ध है। 'उसने परा विद्या से पार्थिवता ली, वेदान्त से अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बाँधकर तथा प्रेममार्गी सूफी सन्तों के प्रेम से अतिरञ्जित होकर अपने कलात्मक रूपमें महादेवी के काव्य में अवतरित हुआ है।

महादेवी ने अपनी कविता में जो प्रकृति की व्यापक विश्वात्मा स्थापना की है, उसकी आत्मा में जो परमात्मा का आभास पाया है वह वैदिक साहित्य के मन्त्र द्रष्टाओं से 'प्रकृति के व्यस्त व्यस्त सौन्दर्य में रूप प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण प्रतिष्ठा, इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतना की प्रतिष्ठा और अन्त

पृथ्वी राज रासो का 'पद्मावती समय' कई परीक्षाओं में है। इस ग्रन्थ की वैसे भी बड़ी चर्चा रहती है। प्रस्तुत पुस्तक में मूल कृति के साथ उसकी टीकाएँ और टिप्पणियों के अतिरिक्त रासो का परिचय और समीक्षा भी है। परीक्षोपयोगी एक प्रश्नावली भी दे दी गई है।

नूरजहाँ-समीक्षा—लेखक-श्री ब्रजलाल वर्मा एम० ए०, प्रकाशक-सहयोगी प्रकाशन, कानपुर। पृष्ठ ११०, मूल्य १॥)

श्री गुरुभक्तसिंह कृत नूरजहाँ आज कई जगह परीक्षाओं में स्वीकृत है। इस पुस्तक में उसीका आलोचनात्मक परिचय है। इसके पढ़ने से नूरजहाँ के कथानक का परिचय मिलता है, साथ ही कवि का भी। विभिन्न रूप में कृति की परीक्षा भी हो जाती है। विद्यार्थियों के हित से पुस्तक लिखी गई है और उनके काम की है।

निबन्ध

दृष्टिकोण—लेखक-श्री विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक-नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस। पृ० २०२, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक में श्री शर्माजी के ३२ निबन्धों का सङ्कलन है। कुछ निबन्धों में साहित्यिक सिद्धान्तों और वादों की चर्चा की गई है तथा कुछ निबन्धों में हिन्दी साहित्य की कतिपय प्रसिद्ध पुस्तकों को लेकर व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। शर्माजी ने स्वयं इन निबन्धों को लघु निबन्धों का नाम दिया है किन्तु 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' तथा 'अभिव्यञ्जनावाद' जैसे कुछ निबन्ध तो इतने संक्षिप्त हो गये हैं कि वे लघुता की अवाञ्छनीय सीमा का स्पर्श करते हुए जान पड़ते हैं। वैसे समस्त पुस्तक परीक्षार्थी छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। 'कृष्णायन', 'उद्धवशतक', 'लहर', 'यशोधरा', 'अप्सरा', विद्यापति की पदावली' आदि अनेक ग्रंथों की समीक्षा इस पुस्तक में एक साथ देखने को मिल सकेगी। पुस्तक की छपाई-सफाई और गेट-अप सुन्दर है।

धर्म और संस्कृति—सङ्कलन कर्ता-श्री जमनालाल जैन, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल, वर्धा। पृ० १४३, मूल्य १।)

प्रस्तुत पुस्तक में धर्म और संस्कृति पर अनुभवी सन्तों और विद्वानों के चिन्तनपूर्ण विचारों का सङ्कलन है। श्री मशरूवाला, जैनेन्द्र, विनोबा, भदन्त कौशल्यायन के आदि विचारोत्तेजक निबन्धों से सांस्कृतिक विकास की बलवती प्रेरणा मिलती है। वर्तमान संघर्षशील युग में इस प्रकार की रचनाएँ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी। यह हर्ष की बात है कि पुस्तक का मूल्य भी कम ही रखा गया है। पुस्तक सभी के लिए उपादेय है।

—कन्हैयालाल सहल एम० ए०

धर्मनीति—लेखक-महात्मा गाँधी, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ २५६, सजिल्द, मूल्य २)

महात्मा गाँधी के धर्म और नीति सम्बन्धी लेखों का इस पुस्तक में संग्रह किया गया है। मण्डल ने इन लेखों को पहले चार छोटी छोटी पुस्तकों में नीति धर्म, मङ्गल प्रभात, सर्वोदय, और आश्रमवासियों से—के नाम से प्रकाशित किया था। इस पुस्तक में इन चारों पुस्तकों को एक जगह कर दिया गया और इस प्रकार अब यह पुस्तक गाँधजी के धर्म सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए एक अच्छी पुस्तक बनगई है। पुस्तक में कुल ५० लेख हैं जो सभी पढ़ने और आचरण करने योग्य है। आज की नैतिकता और अनुशासन हीन समाज में ऐसी पुस्तकों का जितना प्रचार हो अच्छा है। —म०

कविता

अग्नि शस्य—लेखक-श्री नरेन्द्र शर्मा, प्रकाशक—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ १२६, मूल्य २॥)

'अग्नि शस्य' नरेन्द्र की नई कविताओं का संग्रह है। काल क्रम की दृष्टि से इसमें १९४६ से १९५०

तक के गीत संकलित हैं। यह समय भारतीय इतिहास का संक्रान्ति काल है। युग युग की मन्त्रणा से निस्तार पाने के लिए राष्ट्र की चेतना ने जो प्रयत्न किया है उसे तो इन कविताओं में स्वर मिला ही है, पर यंत्र-युग की सभ्यता से मानव जीवन में जो घुटन पैदा हो गई है उससे त्राण पाने की आकांक्षा भी इसमें प्रकट हुई है। कवि अनुभव करता है कि स्वर्ण लङ्का और प्रभु माया से विश्व आज भी आक्रान्त है और रावण की कैद में भूमिजा—मानवता—त्रस्त। किन्तु उसे विश्वास है कि विगत युगों की विकृत प्रभावों के विस्फोटक शीघ्र फूटेंगे—

आज परिणति पा रहे हैं जन्म जन्मान्तर,
यह युगान्तर है, न सन् लघु एक भय कातर।

इस संग्रह में नरेन्द्र की वाणी ने जो आस्था ग्रहण की है वह निःसंदेह मङ्गल विधायिनी है। इसके सामने आज दो तत्त्व प्रधान हैं—मिट्टी और तेज। मिट्टी की जड़ता में जग की जड़ें जमती हैं और महाप्राण ज्योति के सतर्क संघात से जीवन अंकुर फूट निकलते हैं। अब भूरज और सूरज में ही सृष्टि का मङ्गल विधान है। अग्नि शस्य की यही सार्थकता है—

वह चिर अभिनव, चिर पुरातीन,
वह सृजन शक्ति का आदि बिन्दु।
वह महाप्राण, तेजस महान
बुद् बुद् रवियों का ज्योति सिन्धु।

कविताओं का यह एक वर्ग है। इसी वर्ग में कुछ प्रशस्तियाँ भी हैं जो कवि ने निराला, नेहरू, पटेल, तमिल कवि भारती आदि की प्रति लिखी हैं, कुछ स्तवन भी हैं जो 'आह्वान' 'प्रणाम' आदि में जीवन दातों के प्रति व्यक्त हैं। इनके परे एक दूसरा वर्ग है जहाँ कवि की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। इस वर्ग की कविताओं में उसके जीवन के कुछ ऐसे रूप स्पंदित हैं जिनकी अभिव्यक्ति में कवि का मोह फूटा पड़ता है। उसके मानस में स्वर रूप राग रस बन कर जो सुहासिनी लहरा रही है, वह उसकी 'रश्मि शरीरा' सहचरी है। अब नारी के प्रति कवि का दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ है—रूप ग्रस्त युवक की पीड़ित दुर्बलता का वहाँ अब आभास भी नहीं रह गया है। कवि जानता है कि यह नारी महान् है, एक दिन यम पाश से लकड़हारे पुरुष को उसने मुक्ति दी थी, उसमें पुनः चैतन्य लपट बनने की सामर्थ्य है—

बनो पुन: चैतन्य लपट।
ओ भस्मावृत्त चिनगारी॥

'अग्नि शस्य' नरेन्द्र की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। 'ऊर्ध्व सचरणशील शिखी' की वन्दना करने वाले कवि की इस कृति का हम स्वागत करते हैं।

—प्रो० मोहनलाल

मौन के स्वर—लेखक-श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह। प्रकाशक-मानस मन्दिर, जबलपुर। पृष्ठ ६१ मूल्य ॥)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने ६५ सलापों का संग्रह किया है। इन सलापों में जीवन को सार्थक बनाने वाली भावनाओं के स्वरूप को मूर्त रूप देने के लिए लेखक ने अधिकांश अचेतन वस्तुओं को चुना है। दो अचेतन पदार्थों के सलाप से अनेक मानवीय भावनाओं का उद्घाटन हुआ है। इन सलापों में कुछ छोटे हैं कुछ बड़े, हैं पर सब ऐसे जो एक विचार, एक भावना देते हैं। हम इन्हें गद्यकाव्य का एक नया रूप कह सकते हैं। उदाहरण के लिए 'छिद्रान्वेषण' नामक सलाप लीजिए—

चलनी ने सूप से कहा—
'तुम असार वस्तु को ग्रहण कर
सार को फटक डालते हो।'

सूप ने कहा—"जरा अपने छिद्रों की ओर तो देखो, फिर दूसरे के दोष निकालना।"

श्री सियारामशरण गुप्त ने 'दो शब्द' में ठीक ही लिखा है कि व्योहार राजेन्द्रसिंह इस रचना में कवि इस दृष्टि से हैं कि किसी से बात करने में उन्हें

संकोच नहीं होता, और द्रष्टा इस दृष्टि से है कि सबको आत्मीयता देकर भी तत्वसंचय में असावधान कहीं दिखाई नहीं पड़ते। दृष्टि उनकी जागरूक है और श्रवण सन्नद्ध। उनका सारा वातावरण सप्राण है।

रचना पठनीय और विचारादि दोनों दृष्टि से उत्तम है।

वीर वचनावली—लेखक-भाई वीरसिंह। प्रकाशक-भाई वीरसिंह अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, पोस्ट बॉक्स नं० ३६२ नई दिल्ली। पृष्ठ ८५।

भाई वीरसिंह पञ्जाबी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उन्होंने आधुनिक पञ्जाबी कविता में नए भावों और नई कल्पनाओं को ही जन्म नहीं दिया, उसको नई वेश भूषा और नई कला भी दी है। उनकी कविताओं में सन्त कवियों का आत्मा बोलती है। कवित्व और दर्शन का ऐसा सुखद संयोग अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कल्पना की उड़ान भी कहीं कहीं ऐसी है, जो कवि की प्रतिभा के अद्भुत्व का प्रमाण है। 'गाँधीजी' शीर्षक कविता में करुण रस लबालब भरा है। एक स्थान पर पिस्तौल बेचने वाला इस प्रकार शोक करता मिलता है—

"काश।
मैं कदे न घड़दा।
जो मैनूँ पता हुन्दा
कि मेरे घड़े पिस्तौल,
नूं।

'जगत विख्यात' दा घात करना है,
मैं तैनूँ कदे न घड़दा॥
मेरे हत्थे निकले पिस्तौल।
मैं तैनूँ कदे न घड़दा॥

(मेरे हाथ से निकले पिस्तौल, यदि मुझे पता होता कि तू 'विश्व विख्यात' व्यक्ति का खून करेगा तो मैं तुझे कभी न बनाता)

पाद टिप्पणियों में पञ्जाबी के भाव स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है फिर भी हिन्दी पाठक के लिए हिन्दी में इनका अनुवाद आवश्यक है। यों रसा-स्वादन करने वाला पाठक इस रूप में भी रस प्राप्त कर सकता है। —कमलेश

कहानी

जय दोल—लेखक-श्री अज्ञेय, प्रकाशक-प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ १६८, मूल्य ३)

'जयदोल' में अज्ञेय की ११ कहानियाँ सङ्कलित हैं। इन कहानियों में लेखक की कलात्मक रुचि विविध नवीन रूपों में प्रकट हुई है। अज्ञेय के विस्तृत देशाटन और युद्ध कालीन अनुभवों ने इन कहानियों में एक अनोखा आकर्षण भर दिया है। इस संग्रह की कम से कम तीन कहानियाँ—पठार का धीरज, आदम की डायरी और जयदोल कला और टेकनीक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। पुस्तक के आरम्भ में जो एक वाक्य लेखक ने लिखा है—'यह साक्षी हो कि पठार के तीतरों को नाम पुकारते मैंने भी सुना है'—उसका सत्य इन कहानियों से प्रकट है। पठार के तीतर जो नाम पुकारते हैं उनकी ध्वनि इन कहानियों की गूँज है। अज्ञेय की अवचेतन जो रोमांटिक झलमल है वही इस कहानी-संग्रह का प्राण है। अतः जीवन की व्यग्रता और विभीषिका के परे वहाँ मन का प्रपीड़न और आवेग ही सञ्चित मिलेगा। जिसे अज्ञेय कहानी में 'एक दौड़ती लहर का गति चित्र मानता है वह मन के इसी रूप का, इसी मनःस्थिति का गति चित्र है। इसकी अभिव्यञ्जना में वह अत्यन्त कुशल है, कारण उस गति चित्र की बारीकियों को पकड़ने और स्पर्श करने की उसमें क्षमता है। 'आदम की डायरी' में यथा लेटो है और निकट है आदम। अज्ञेय लिखता है—"·····और उसके दबाव से शरीर भी जैसे टूटते से थे, थकित चकित क्लांत से होते थे पर फिर भी खोलना नहीं चाहते थे, तने ही तने रहना चाहते थे, अर्थात, अस्तव्यस्त, खण्डित, असकुचित, अपराकृत·····"।

इन कहानियों में अज्ञेय का जीवन के प्रति आकर्षक सञ्चित है। उसने इनके वातावरण में

इन ५-६ महीनों का राजनीतिक इतिहास, उस समय की परिस्थिति का दिग्दर्शन भी इसमें मिलेगा। पुस्तक की महत्ता स्वयं सिद्ध है।

बापू की कारावास कहानी—लेखक-श्रीमती सुशीला नैयर, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ४५६, सजिल्द, मूल्य १०)

१९४२ के आन्दोलन में गाँधीजी सर आगाखाँ के महल में रखे गये थे और वहीं उन्होंने कई घटना पूर्ण वर्ष बिताए थे। सुशीला नैयर उन दिनों गाँधीजी के साथ थीं। उन्होंने गाँधीजी को निकट से देखा था और प्रत्येक घटना से उनका थोड़ा बहुत निकट का सम्बन्ध रहा था। उन्हीं घटनाओं का—जिनका महात्माजी पर ही नहीं सारे देश और समाज पर गहरा असर पड़ा—इस पुस्तक में विस्तार से वर्णन है। महादेव भाई की मृत्यु और पूज्य बा के निधन का मर्मस्पर्शी वर्णन पढ़ते ही बनता है। श्रीमती नैयर की यह पुस्तक बड़ी ही मार्मिक है और उसका वर्णन बड़ा ही प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही है। राजनीति के विद्यार्थियों के लिए तो यह पुस्तक बहुत ही महत्वपूर्ण है। —म०

सुदूर दक्षिण पूर्व—लेखक—सेठ गोविन्ददासजी, प्रकाशक-प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ १३१, सचित्र, मूल्य ५॥)

अंग्रेजी भाषा में ऐसी पुस्तकें शीघ्र पढ़ने को मिल जाती हैं जिनसे हम दूसरे देशों की वास्तविक स्थिति, वहाँ के रहन सहन, वहाँ की सभ्यता-संस्कृति और वहाँ के लोगों की अपने देश के प्रति भावनाएँ जान सकते हैं परन्तु हिन्दी साहित्य में ऐसी पुस्तकों का बड़ा अभाव रहता है। प्रसन्नता की बात है कि सेठ गोविन्ददासजी ने अपनी सुदूर दक्षिण पूर्व की यात्रा के संस्मरण हिन्दी में प्रकाशित किये हैं। सेठ जी न्यूजीलैण्ड में कामनवेल्थ देशों में पार्लमेंटरी एसोसिएशन की सभा में भाग लेने गए थे। आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड के मनुष्यों का जीवन इतना सम्पन्न और सुखमय है कि हम उन्हें स्वर्ग में निवास करने वाले भाग्यशाली मनुष्य मान सकते हैं। वे बड़े ही सभ्य और सुसंस्कृत हैं। उनके रहन-सहन और आचार व्यवहार का अध्ययन करने से हमें बहुत कुछ मिल सकता है। वहाँ ऊँच नीच, गरीबी और बेरोजगारी नाम निशान के लिए भी नहीं है। वहाँ बहुत सी जमीन और अपार प्राकृतिक साधन हैं जिनका बहुत बड़ा भाग मानव शक्ति के अभाव में अछूता पड़ा है। न्यूजीलैण्ड में पशु पालन के दृश्य देख ऐसा मालूम देता है मानों वही श्रीकृष्ण की वास्तविक ब्रजभूमि हो। वहाँ का डेरी व्यवसाय आश्चर्य चकित करने वाला और भारत में 'गोहत्या' बन्द करो का कोरा नारा लगाने वालों को शिक्षा देने वाला है। न्यूजीलैण्ड के गोरों ने वहाँ के आदिम निवासी माओरियों के प्रति समानता का व्यवहार कर जहाँ दक्षिणी अफ्रीका और अमरीका के मुख पर कालिख पोत दी है, वहाँ वह अपने यहाँ आबादी बसाने के प्रश्न पर गेहुँए व श्याम रंग के लोगों की उपेक्षा करते हैं। वे पिछले महायुद्ध के अपने दुश्मन जर्मन व इटेलियनों को बसाने को तैयार हैं पर भारतीयों को नहीं। इन देशों में करोड़ों व्यक्तियों के बस जाने की गुंजायश है। फीजीद्वीप में अंग्रेज साम्राज्यवादी आज भी किस प्रकार 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपना रहे हैं यह भी पुस्तक में उल्लेख है। सभी वर्णन रोचक हैं, भाषा बड़ी सरल है और उसके अध्ययन से न केवल सुदूर दक्षिण पूर्व के देशों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है बल्कि इस पर भी कि वहाँ के लोग, हमारे साथ किस प्रकार का व्यवहार करते हैं। हिन्दी साहित्य में इस तरह की पुस्तकें जितनी अधिक प्रकाशित हों उतना ही अच्छा। —आनन्द

भारत के युद्ध—लेखक-कमलचन्द्रदास, प्रकाशक-ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना। पृ० ८६, मू० १)

पुस्तक में महाभारत से लेकर सन् ५७ की अमर क्रान्ति तक के कुछ विशिष्ट युद्धों का वर्णन दिया गया

है। इन युद्धों के कारणों की छान बीन और उनके फलाफल पर भी लेखक ने विचार किया है। उसने अपनी ओर से इन ऐतिहासिक घटनाओं के विवेचन में काफी सावधानी और सजगता दिखाई है। अन्त में उसने 'आखिर अँगरेज जीते क्यों?' इस प्रश्न पर भी विचार किया है। इस प्रकार यह छोटी सी पुस्तक भारतीय इतिहास की रूप रेखा को इन युद्धों की कड़ियों के द्वारा जोड़ने का प्रयत्न करती है।

—मोहनलाल एम० ए०

विविध

भारत में गाय—लेखक-श्री सतीशचन्द्र गुप्त अनु० श्री रमावल्लभ चतुर्वेदी। प्रकाशक—खादी प्रतिष्ठान १५ कालेज स्क्वायर कलकत्ता। प्रथम भाग पृष्ठ ४४+८७४+५६, द्वितीय भाग पृष्ठ १८+५३४+५६, मूल्य दोनों भागों का १३)

वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में अभी पुस्तकों की बड़ी कमी है। राज्य भाषा घोषित हो जाने पर भी अभी हिन्दी में अच्छी वैज्ञानिक पुस्तकें अधिक नहीं निकल रही हैं। गाय की हमारे देश में बड़ी पूजा होती है। शहर शहर में गोशालाएँ खुली हुई हैं। घर घर में गाय रखने की महत्ता को लोग समझते और मानते हैं। पर अभी तक गायों पर कोई अच्छी पुस्तक नहीं थी। जो दो तीन पुस्तकें छपी भी थीं वे पुरानी पड़ गई और अप्राप्य हो गई हैं। ऐसी दशा में खादी प्रतिष्ठान ने गायों पर यह पुस्तक निकाल कर सचमुच हिन्दी की बड़ी सेवा है।

मूल पुस्तक बँगला में है। यह तो उसका अनुवाद है। पहले भाग में नस्ल की वृद्धि और उसकी रक्षा और दूध के धन्धों की विविध दृष्टिकोणों से चर्चा की गई है। दूसरे भाग में गाय की बीमारी और उसकी औषधियों का वर्णन है। गाय से सम्बन्ध रखने वाला कोई ऐसा विषय नहीं है जिसका चयन और विवेचन इस पुस्तक में न हो। तथा जिसे आँकड़ों द्वारा विस्तार से समझाया न गया हो। ऐसी महत्वपूर्ण और गवेषणायुक्त पुस्तकें हिन्दी में बहुत कम प्रकाशित हुई हैं। यह पुस्तक तो ऐसी है जिसकी एक एक प्रति भारत के हर एक गाँव में पहुँचना चाहिए। प्रान्त की सरकार पञ्चायतों को यह आदेश करें कि वह इसे रखें। इसका मूल्य देखने में अधिक है, पर यह है सचमुच बड़ी मूल्यवान। इस पुस्तक का एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित हो सके तो और भी अच्छा हो। पुस्तक में इतनी अधिक बातों का वर्णन है कि स्थानाभाव से हम उनका नामोल्लेख मात्र भी नहीं कर सकते। खादी प्रतिष्ठान ऐसी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित करने के लिए बधाई का पात्र है।

—म

गहरे पानी पैठ—लेखक-श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, काशी। पृष्ठ २०८, मूल्य २॥)

यह पुस्तक १११ उपदेशों और आदर्शों का सङ्कलन है। लेखक ने 'गुरुजनों के चरणों में बैठ कर जो सुना इतिहास और धर्म ग्रन्थों में जो पढ़ा और हिय की आँखों से जो देखा' उसे पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है। जिन छोटी छोटी कहानियों और घटनाओं को इस पुस्तक में सङ्कलित किया गया है, उनमें विविधता, रोचकता और उपदेशात्मकता है। इनके चयन में लेखक ने धर्म और सम्प्रदाय की सङ्कीर्णता से अपने को दूर रखा है। व्यक्ति का चारित्रिक उत्कर्ष और निर्माण ही उसका लक्ष्य है। गहरे पानी पैठ कर उसने जो मोती निकाले हैं वे मूल्यवान् हैं और संग्रहणीय भी।

मामूली बातें—लेखक व प्रकाशक-श्री चन्द्रशेखर दुबे बी० ए०, ६३ रावजी बाजार, जूनी इन्दौर। पृ० ५१, मूल्य ॥=)

इस पुस्तक में लेखक नित्य प्रति के जीवन से सम्बन्धित मामूली बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहता है। ये मामूली बातें हैं—ढ, नानी मरती है बाल बच्चे, जल पान, आदमी हो या पायजामा आदि। लेखक विनोदपूर्ण ढङ्ग से इन विषयों को उठाता है और यह आशा रखता है

कि हमें भी उनमें कुछ रोचकता अनुभव होगी। उदाहरण के लिए ढ से ढसका तात्पर्य ढब्बू, ढोल आदि ढ है। —मोहनलाल एम० ए०

अन्त्याक्षरी प्रदीप—सम्पादक-श्री शिवदत्तजी श्रीवास्तव, प्रकाशक-नील कमल प्रकाशन, हरदोई। पृष्ठ १८४, मूल्य २॥)

इस संग्रह में विभिन्न कवियों के विभिन्न विषयों पर छन्दों का संग्रह है। यह छन्द प्रारम्भ के अक्षर को ध्यान में रख कर अकारादिक्रम से संग्रह किये गए हैं। स्कूल में अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताएँ आज कल बहुत होती हैं। उनमें भाग लेने वाले विद्यार्थियों के लिए यह संग्रह बहुत उपयोगी है।

(१) मोमबत्ती बनाना (२) आयना बनाना, (३) सोडा कास्टिक बनाना (४) सील मुहर करने की वस्तुएँ बनाना—लेखक-प्रो० एम० सी० मोहन, प्रकाशक-गुरुकुल कांगड़ी (सहारनपुर)। पृष्ठ ६०, ७६, १०५, ९२, मूल्य १॥), १), २), १॥)

चारों पुस्तकें अपने अपने विषय का पूरा ज्ञान देती हैं और यह ज्ञान ऐसे रूप में मिलता है जिससे उसे व्यवहार में लाया जा सके। जो नौजवान बेकार मारे मारे फिरते हैं वे ऐसी पुस्तकों के सहारे ही कुछ सीख कर काम करें तो उनका और देश का दोनों का भला हो।

गुफा से महल—लेखक-श्री विश्वमोहन सिन्हा, प्रकाशक ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर, पटना। पृ० २५१, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक मनुष्य जाति के सामाजिक जीवन की क्रमिक विकास कहानी है। पृथ्वी की उत्पत्ति के उपरान्त मानव सृष्टि को उद्भव होने के बाद किस प्रकार मनुष्य ने शनै शनै, गुफा से महल की ओर प्रगति की, इसका क्रमिक विवेचन इस पुस्तक में मिलेगा। आदि काल में मानव समाज का क्या रूप था और मनुष्य की उत्प्रेरणाशक्ति ने किस प्रकार काम क्रम में परि[illegible] रूपों में अपनी अभि-व्यक्ति की इसकी व्याख्या लेखक ने सरल ढङ्ग से इस पुस्तक में की है। आदिम सभ्यताओं के वर्णन के साथ साथ उसने आधुनिक युग की जटिल समस्याओं और प्रवृत्तियों को भी अपने विवेचन का अङ्ग बनाया है। इस विवेचन में उसने अत्यन्त सावधानी बरती है और अपने आपको वादों से परे रखा है। पुस्तक पठनीय है।

प्राप्ति स्वीकृति

विद्यापति का व्याकरण—लेखक-श्री नेमी चन्द्र जैन, प्रकाशक-जैन बन्धु कार्यालय, बड़नगर। पृ० १५, मूल्य ।)

इस छोटे निबन्ध का विषय नाम से ही स्पष्ट है

कुशवाहा क्षत्रियोत्पत्ति मीमांसा—लेखक-श्री शिवपूजासिंह कुशवाहा, प्रकाशक-दयानन्द वैदिक शोध संस्था, कानपुर। पृष्ठ ११५, मूल्य १॥)

नाम के अनुसार ही विषय का प्रतिपादन है।

अन्त्येष्टि कर्म संस्कार विधि—लेखक-प० हरिदत्त शास्त्री एम० ए०, प्रकाशक-सेठ गोपालदास सेकसरिया, आगरा। पृ० १४०, मूल्य ।॥)

वैदिक रीति से अन्त्येष्टि संस्कार की सभी विधि और उस समय के अनुरूप अन्य सामग्री इस पुस्तक में शास्त्रीजी ने बड़ी योग्यता से संग्रह कर सम्पादित की हैं।

आत्म कथासार—लेखक-श्री तेजनारायण टन्डन, प्रकाशक-विद्यामन्दिर लखनऊ। पृष्ठ ४७, मूल्य ।॥)—गाँधीजी की संक्षिप्त आत्मकथा का सार।

चन्द्रगुप्त नाटक एक अध्ययन—श्री-देवेन्द्रनारायण, प्रकाशक-लक्ष्मी हिन्दी विद्यालय, मिलकलूसिपट। पृष्ठ ६०, मूल्य १)

डी० एल० राय के नाटक का परीक्षोपयोगी अध्ययन।

'वेदी के फूल'—पथदृष्टि—लेखक-श्री राम स्वरूप बिल्थरिया, प्रकाशक-हिमाचल प्रकाशन मंदिर लश्कर। पृ० ७१, मूल्य १-)

पुस्तक के कुछ प्रसंगों की चर्चा और आलोचना।

Sahitya Sandesh, Agra. REGD. NO. A. 263.
MAY 1952. Licence No. 16
Licenced to Post without Prepayment

साहित्य सन्देश का आगामी जुलाई मास का अङ्क

आलोचनाङ्क का परिशिष्टांक होगा

सम्मेलन की परीक्षाएँ होने के कारण हम अपने अक्टूबर-नवम्बर मास के आलोचना विशेषाङ्क को जल्दी में पूरा न कर सके। अब उसका परिशिष्टाङ्क जुलाई १९५२ में निकल रहा है।

इस आलोचनाङ्क को उपयोगी बनाने के लिए इसमें उच्चकोटि के विद्वानों के निम्न कुछ लेख प्रकाशित किए जायँगे। जुलाई का अंक साहित्य सन्देश के नव वर्ष का प्रथम अङ्क होता है। अतः जो सज्जन बराबर आगामी वर्ष के लिए ग्राहक रहेंगे उन्हें यह अङ्क उनके वार्षिक शुल्क में ही दिया जायगा। यह अङ्क साधारण अङ्कों से बड़ा होगा और सदा की भाँति इस विशेषाङ्क का मूल्य भी १) रक्खा है लेकिन जो सज्जन जुलाई ५२ से नये ग्राहक बनेंगे उन्हें यह विशेषांक उसी शुल्क में मिलेगा अतः आज ही अपने वार्षिक शुल्क के ४) मनीआर्डर से भेज दें।

१—मनोविश्लेषण और आलोचना
२—संस्कृत समालोचना पद्धति
३—अंग्रेज़ी आलोचना का साहित्य
४—आलोचक कौन ?
५—आलोचना के स्वरूप का विकास
६—सूर के आलोचक
७—तामिल में आलोचना साहित्य
८—बंगला साहित्य में आलोचना
९—विभिन्न आलोचनाओं के उदाहरण
१०—आलोचना साहित्य में साहित्य-सन्देश का स्थान

मनीआर्डर भेजने का पता:—साहित्य सन्देश कार्यालय ४ गांधी मार्ग, आगरा।

वर्ष १४] जुलाई—१९५२ [अङ्क १

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), इस अङ्क

Sahit
MA

इस अङ्क के लेख

Sahitya Pre..

वर्ष १४] आगरा—जौलाई १९५२ [अङ्क १

हमारी विचार-धारा

बङ्गीय हिन्दी परिषद्—

बंगीय हिन्दी परिषद कलकत्ता की एक हिन्दी साहित्यिकों की संस्था है। हमें जून के महीने में इस संस्था का निकट परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। हम इसके कर्मठ कार्यकर्त्ताओं से भी मिले। इस संस्था को देख कर इसकी कुछ विशेषताएँ सामने आयीं। पहली विशेषता हमें यह विदित हुई कि इस संस्था का विधान कुछ ऐसा है कि साहित्यिक व्यक्ति ही इसमें स्थान पा सकते हैं, फलतः इसका ऐसे व्यक्तियों से सम्बन्ध नहीं हो सका है जो धन की चिन्ता से इसे मुक्त कर सकें।

दूसरी विशेषता यह समझ में आयी कि इसकी प्रेरक शक्ति प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल हैं। ललिताप्रसाद सुकुल हिन्दी के निष्णात विद्वान् हैं। उनकी कल्पना ने ही सम्भवतः बंगीय हिन्दी परिषद को यह रूप दिया है कि बंगाल के इस व्यवसाय प्रधान नगर में वे हिन्दी की साहित्यिक चर्चा का एक तीर्थ स्थापित किये हुए हैं।

अपनी छोटी आयु में ही इस परिषद ने कई प्रकाशन किये हैं, जिनका साहित्यिक महत्व है। ऐसी शुद्ध साहित्यिक संस्थायें हिन्दी में प्रायः नहीं हैं। इस दृष्टि से बंगीय हिन्दी परिषद एक प्रयोग है, जो सफलता की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दी प्रेमी जनता का यदि इसको पूरा सहयोग इस रूप में मिल सका कि इसकी प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तकों को वह खरीद सके, तो इस प्रयोग के सफल होने की हमें पूर्ण आशा है—और तब हिन्दी जगत में ठोस साहित्यिक उद्योगों का वास्तविक अर्थ में युग आ सकेगा।

पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ—

ब्रज-साहित्य मण्डल ने हिन्दी के वयोवृद्ध विद्वान् सेठ कन्हैयालाल पोद्दार को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय कई वर्ष पूर्व किया था। इससे हिन्दी के सभी प्रेमी परिचित हैं। इसकी आनुमानिक रूप रेखा भी कभी हिन्दी पत्रों में प्रकाशित हुई थी। उस समय से इस ग्रन्थ का कार्य निरन्तर होता रहा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के प्रधान सम्पादकत्व में इस ग्रन्थ के ठोस होने में कोई सन्देह ही नहीं हो सकता था। आरम्भिक घोषणा में ब्रज साहित्य-मण्डल की ओर से यह कहा गया था कि यह अभिनन्दन ग्रन्थ ब्रज का विश्वकोष होगा, 'ऐनसाइक्लोपीडिया आव ब्रज'। यथार्थ यह है कि अभिनन्दन ग्रन्थ

विविध कलाओं के द्वारा मूर्त रूप ग्रहण करती हैं। राष्ट्र भाषा के योग्य तथा हिन्दी की अपनी भाव विभूति के अनुकूल यदि कोई रङ्ग मंच खड़ा हो जाता है तो वह विविध कलाओं का सुन्दर विकास का एक केन्द्र बन जाएगा जिससे एक ओर कलाकार के स्वर्ण स्वप्न साकार होंगे तो दूसरी ओर दर्शकों के द्वारा जनता तक उसका कलामय प्रभाव प्रसारित होगा जिससे हिन्दी जनता में एक सांस्कृतिक सुरुचि और सौष्ठव से युक्त शील भी पनप उठेगा। ऐसे महत्व पूर्ण कार्य के लिए धन की तो आवश्यकता है ही किन्तु इससे भी अधिक मिशनरीस्प्रिट वाले हिन्दी के कलाकारों की आवश्यकता है। जिन व्यक्तियों ने अनेकों कष्ट और धनाभाव सहकर भी हिन्दी को उन्नत बनाने और उसे राष्ट्रभाषा का पद दिलाने में अपनी जान खपाई है उनका देश के लिए एक महान कार्य स्थायी देन रूप में हो गया वैसे ही उत्साही और सेवा भाव से काम करने वाले व्यक्ति आगे आकर राष्ट्र भाषा हिन्दी के इस कार्य में भी सफलता दिला सकते हैं। इधर जहाँ तहाँ विविध उत्सवों तथा जयन्तियों के अवसर पर जो रङ्ग-मंच के स्वरूप प्रस्तुत हुए हैं उनके विवरणों से यह विदित होता है कि हिन्दी के कलाकारों में वह क्षमता है कि वे आरम्भ से ही एक महान राष्ट्रीय रङ्ग मंच प्रस्तुत कर सकते हैं। ब्रजसाहित्य मण्डल के हाथरस अधिवेशन पर जो प्रोफेसर गोपालदत्त तथा उनके साथी कलाकारों ने ब्रज भाव विभूति का प्रदर्शन किया और उससे भी पूर्व उन्हीं के कलाकारों द्वारा जो डी० एल० राय के नाटक का अभिनय हुआ और इसी प्रकार कलकत्ते में प्रसाद की जयन्ती के अवसर पर तरुण सङ्घ और अभिनव संस्कृति परिषद के संयुक्त तत्वावधान में ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त तथा कामायनी के जो अभिनय और भावुक हुए उनसे नये रङ्ग मंच की भावी कल्पना का मनोहर और गौरव पूर्ण रूप खड़ा होता है। ये नौसिखिये या विनोदाभ्यासी उद्योग ही हैं। जहाँ जहाँ ये प्रयोग हुए हैं वहाँ उन कलाकारों को ऐसा प्रोत्साहन मिलने की आवश्यकता है कि हिन्दी रङ्ग मंच के लिए अपनी कला को विकसित करने में वे संलग्न हो जाँय। इन स्थानीय उद्योगों के साथ-साथ नयी धारा के शब्दों में हम भी आज हिन्दी के एक चोटी के कलाकार पृथ्वीराज से यह कहना चाहते हैं कि स्टैटफर्ड औन एवन के लिए जो महत् बेन्सन ने किया वह काशी के लिए पृथ्वीराजजी करें। हम यहाँ काशी के स्थान पर हिन्दी शब्द रख देना चाहते हैं। पृथ्वीराज समर्थ हैं और वे यदि एक बार हिन्दी के राष्ट्रीय रङ्गमंच के निर्माण का संकल्प कर लेंगे तो उसे पूर्ण करके ही रहेंगे। हिन्दी इस समय रङ्गमंच निर्माण के लिए उन्हीं जैसे कलाकार की ओर टकटकी लगाए हुए है।

हिन्दी के साथ खिलवाड़—

हिन्दी के राष्ट्र भाषा हो जाने पर भारत के बहुत से व्यक्तियों को प्रसन्नता नहीं हुई उलटे उन्हें क्षोभ हुआ जिसका प्रदर्शन समय समय पर भाषणों तथा लेखों द्वारा वे करते रहे हैं। साहित्य सन्देश भी इस सम्बन्ध में समय-समय पर अपना मत प्रकट करता रहा है। केन्द्रीय सरकार तो यथार्थतः हिन्दी के साथ खिलवाड़ कर रही है। इस सम्बन्ध में जून के नया समाज से हम एक टिप्पणी उद्धृत कर रहे हैं।

"गत २१ मई को पार्लियामेन्ट में भारत सरकार के १६५१-५२ के कार्यों और १६५२-५३ का कार्यक्रम का जो विवरण पेश किया गया है उसमें हिन्दी की उन्नति और प्रचार के लिए १५ लाख ८ हजार रुपयों के खर्च की एक पंचवर्षीय योजना भी है। इस योजना का उद्देश्य है आगामी १५ वर्षों में हिन्दी को देश की राज भाषा बनाना। निःसन्देह यह बड़ा आवश्यक कार्य है। पर अब तक शिक्षा मन्त्री और उनके विभाग का हिन्दी के प्रति जो भ्रान्त रुख रहा है, जिस तरह उन्होंने हिन्दी विरोधी तत्वों को प्रश्रय प्रोत्साहन सहायता दी है, उससे हमें इस योजना की सचाई और अमल में आने में काफी सन्देह है। सिर्फ एक विधान के मसविदे और फिर उसके संशोधित रूप के अनुवाद में जिस अदूरदर्शिता और दीर्घसूत्रता का परिचय दिया गया है जितना धन का अपव्यय हुआ है और जितना अनुपयोगी तथा असन्तोषजनक अनुवाद प्रकाशित हुआ है, वही इस नई योजना के बारे में हमारे सन्देह का आधार है। शिक्षा मन्त्री का हिन्दी विरोध आज कोई गुप्त बात नहीं है। चुन

संस्कृत समालोचना पद्धति

श्री चन्द्रकान्त बाली, शास्त्री, साहित्यरत्न

कई लोग कहते हैं—आधुनिक समालोचना पद्धति संस्कृत साहित्य में नहीं है। मैं उनसे निवेदन करता हूँ—'आधुनिक समालोचना पद्धति संस्कृत साहित्य में नहीं है।

(२)

आलोचना, समालोचना, विवेचना तथा मीमांसा एकार्थक होते हुए भी भिन्न दिशा के सूचक हैं। किसी रचना को चतुर्मुखी देखभाल और पड़ताल को 'आलोचना' कह सकते हैं। इसमें गम्भीरता आते ही आलोचना 'समालोचना' बन जाती है। तर्कसम्मत आलोचना को 'विवेचना' तथा शास्त्र-सम्मत आलोचना को 'मीमांसा' कहते हैं।

(३)

संस्कृत कवियों में ये श्लोक खूब चलते हैं—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥
मुरारिपदचिन्तायां तदा माघे मतिं कुरु
मुरारिपदचिन्ता चेद् तदा माघे मतिं कुरु॥
मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिं मुरारिं कुरु।
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

कतिपय लेखक इन्हें समालोचना मान बैठे हैं। क्या ये समालोचना परक पद्य हैं? वास्तव में ये श्लोक एक कवि का अचूक मौलिक परिचय मात्र कराते हैं। यदि कहना है कि—'ज्यों नाविक के तीर'। मौलिक इतने हैं कि—'बिन्दु में सिन्धु समान'। इन्हें आलोचना कहना, आलोचना का अपमान नहीं, बल्कि अपनी प्रतिभा अज्ञान की झिझक का अन्तिम सूचना मात्र है।

(४)

संस्कृत में आलोचनाएँ भिन्न भिन्न हैं। यथा—

१—दार्शनिक ग्रन्थ

२—शास्त्रीय ग्रन्थ

३—टीकाएँ

धार्मिक आलोचना का दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही है। किसी पक्ष के प्रति श्रद्धा अधिक व्यक्त करने के लिए तदन्य पक्ष विरुद्ध की परिकल्पना करके खण्डन मण्डनात्मक 'नेति ना' की प्रक्रिया अपनाई गई है। एतद्विषयक ग्रन्थ हैं—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा। इनमें यज्ञों का आवश्यकता, स्वरूप का विश्लेषण है। मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग का महत्त्व प्रकाशन भी है। अपने विषय में ये ग्रन्थ आज भी अप्रतिम हैं। पर इस विषय का विकास वैदिक युग में ही हुआ, आगे चल कर रुक गया।

शास्त्रीय आलोचना दर्शनग्रन्थ और साहित्यशास्त्र तथा व्याकरण शास्त्र तक सीमित है। दर्शनग्रन्थों में वादों का विश्लेषण हुआ है। परमाणुवाद, अवयवावाद, शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद अनेक वादों का ऊहापोहात्मक आलोचना उपस्थित है। आज इन्हें खण्डन प्रक्रिया कह सकते हैं। परन्तु तर्कों का विधिवत् उपयोग वैज्ञानिक ज्ञान में योग देता है। साहित्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय तथा औचित्य सम्प्रदाय की विशद आलोचना देखने योग्य है। रस सम्प्रदाय में शङ्कुक, लोल्लट, अभिनवगुप्ताचार्य के आरोपवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और साधारणीकरण के शास्त्रार्थ तोड़जोड़ में आज भी समर्थ हैं। व्याकरण में महाभाष्य आलोचना पद्धति की सर्वश्रेष्ठ रचना है। 'हयवरट्' के स्थान पर 'हरयवट्' क्यों न किया जाए, इस विषय पर तलस्पर्शी विवेचना हो जाती है। निरुक्त एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का स्थान रखता हुआ भी आलोचना पद्धति से शून्य नहीं है।

वाङ्मय में आलोचना-मूलक 'टीका' अपना अलग स्थान रखती है। ग्रन्थगत रस, ध्वनि, अलङ्कार, दोष, छन्द, समास आदि सम्बन्धी समस्याएँ, सब कुछ सूक्ष्मतया टीका द्वारा ही स्पष्ट होता है। कुमुद की निरवद्यता टीका माधव-निदान की मधुकोश टीका, गीता के शाङ्करभाष्य [illegible]

भाष्य आदि टीकाएँ अपनी स्थान-पूर्ति के बाद स्वतन्त्र स्थान भी रखती हैं। मल्लीनाथ की टीकाओं के अलग संस्करण प्रकाशित किये जायें तो आलोचना का वास्तविक रहस्य सामने आ जाएगा। 'टीका' अर्थ-द्योतिनी तो है ही, पर ग्रन्थ की अन्तरङ्ग बहिरङ्ग की प्रकाशिका भी है।

(७)

कुछ योरपगामी लेखकों ने संस्कृतज्ञों पर आरोप लगाये हैं कि "आलोचना करना भारतीय संस्कृतज्ञ जानते भी नहीं हैं, उनकी दृष्टि में आलोचना करना एक पाप है, जिसका प्रायश्चित तक नहीं है" इत्यादि। उन्होंने संस्कृतज्ञों पर छींटा कसते हुए कहा है—"अभिज्ञान शाकुन्तल में अभिनेय सामर्थ्य नहीं है। कुमारसम्भव तथा नैषध चरित्र अश्लीलता से ओत प्रोत हैं" इत्यादि।

संस्कृतज्ञों पर आरोप लगाने वाले दयनीय हैं। उन्होंने दूर-दूर से संस्कृत को देखा है। यदि निकट से देखा होता तो ऐसा कहने का साहस कभी न करते। योरपवासी व्यक्तिवाद से पूर्ण रचनाओं पर विश्वास करते हैं, जबकि भारतीय साधारणीकरण की भूमि पर सामूहिक रचनाओं पर आस्था रखते हैं। वे व्यक्ति की नहीं, सिद्धान्त की आलोचना करना श्रेयस्कर मानते हैं। व्यक्ति अनन्त हैं, उनकी रुचियाँ अनन्त हैं। अनन्तता पूर्ण रचना को समाज किस देश में क्या महत्त्व दे सकता है? कालिदास की रचनाओं में पर्याप्त अनियमिततायें हैं। हम उन्हें जानते हैं, 'निरंकुशाः कवयो भवन्ति' कह कर हम उनके प्रति उपेक्षा दिखाते हैं; यह उपेक्षाभाव पाप भीति से नहीं, अंधश्रद्धा के कारण भी नहीं है। अपितु सिद्धान्तों पर अटल विश्वास के कारण है। सिद्धान्त समालोचनाओं में नामी धामी कवियों की रचनाएँ उद्धृत और उदाहरित की जाती हैं। हिन्दी में अभी ऐसी धारणा नहीं आई।

आलोचना के प्राचीन लोक में

श्री रामकुमार मिश्र एम० ए०, साहित्याचार्य

प्रयाग के निकट . . . र पण्डितजी के सत्प्रयत्न से जो आधुनिक आलोचना का जन्म हुआ था, उसी का विवरण पढ़ते समय मेरे एक पुराणपन्थी मित्र कहने लगे कि प्राचीनकाल में ऐसा नहीं था। आलोचकों को बलात् एक स्थान पर एकत्रित करा देना और फिर उनसे सिद्धान्त हीन ऊटपटांग बातें कराना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? मैं उनके इस विचार से सहमत न हो सका किन्तु उनके साथ तर्क वितर्क करने में अनेक रत्न हाथ लगे। प्राचीनकाल के अनेक आलोचकों के ग्रन्थों का सार उनकी जिह्वा पर स्थित था। मैं तो उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति पर चकित रह गया। भरत के नाट्य शास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रस गंगाधर तक के उद्धरण देते हुये वे अपने मत की पुष्टि करने लगे। प्राचीन पद्धति के ऐसे कर्कश पण्डितों से विचार विनिमय करने का जिन्हें संयोग पड़ा है वे मेरी परिस्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। मेरे लिये आत्मरक्षा का कोई मार्ग शेष न रह गया। पण्डितजी के इन्हीं प्रमाणों और उद्धरणों के घटाटोप से अन्तःकरण आच्छन्न हो गया। मुझे स्मरण आया कि इसी प्रकार भीष्म के बाणों से अर्जुन के रथ के आच्छादित हो जाने पर कातर होकर भगवान् कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भंग कर हाथ में चक्र लेकर दौड़ पड़े थे। किन्तु यहाँ तो परिस्थिति ही दूसरी थी। हृदय से बहुत कुछ मौन प्रार्थना करता रहा किन्तु कोई मार्गदर्शक आविर्भूत न हुआ। अन्त में मैंने बिना शर्त आत्म समर्पण में ही कल्याण समझा, अतः पण्डितजी के एक कथन का मैंने समर्थन किया। उन्होंने मेरा भाव समझ लिया। तर्क में मुझे पराजित मानकर उनकी आत्म सम्मान की भावना को सन्तोष मिला। फिर तो वे मुझे अत्यन्त सरल कोमल हृदय दीख पड़े। शरण में आये हुये अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर जैसे भगवान् कृष्ण ने अपने दिव्य स्वरूप के दर्शन दिये थे उसी प्रकार पण्डितजी ने अपने स्मृति भण्डार के चमत्कारी रत्न मेरे सामने रखने प्रारम्भ किये। उन्होंने जो कुछ कहा था उसे यथार्थ रूप में रखना तो मेरे सामर्थ्य के बाहर है किन्तु यथा शक्ति सार के रूप में आपके सम्मुख उनका कथन उपस्थित करता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि आप भी उत्सुक होंगे कि उनके वचनामृत का पान किया जाय।

आधुनिक आलोचना पद्धति की कटु आलोचना करते हुये उन्होंने कहा कि आज के आचार्य मिथ्या वाक्प्रवाह को ही आलोचना का व्यर्थ नाम दे बैठते हैं। प्राचीनकाल के विवेचक किसी बात की तह तक जाते थे, सिद्धान्त खोज निकालते थे। अपनी आलोचना की कसौटी को शुद्ध यथार्थ और स्पष्ट रूप में सब के सम्मुख रखने से निष्पक्ष आलोचना पथ प्रशस्त था। कुकवि और सुकवि की परीक्षा हो जाती थी। कालिदास ने अपनी कविता की परीक्षा के लिये ऐसे ही आलोचकों को सन्त कहकर पुकारा है।

> तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद् व्यक्ति हेतवः ।
> हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥

मैंने पण्डितजी से पूछा—आखिर यह बात कालिदास को क्यों कहनी पड़ी? क्या उस समय भी असद् व्यक्ति आलोचना के पथ पर थे नहीं तो फिर सन्तों का यह आह्वान क्यों? भद्रभाव से पूछे गये प्रश्न के उत्तर में पण्डितजी ने बताया कि वास्तव में सदैव सात्विक, राजस तथा तामस स्वभावापन्न आलोचक होते रहे हैं। तामस स्वभावापन्न आलोचक नहीं चाहते कि कविता के परम्परा क्षुण्ण मार्ग से कोई इधर उधर हटे किन्तु सात्विक स्वभाव तो सदा सार ग्राही होता है। कविता जहाँ हो वहीं प्रशंसनीय है—

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

कोई वस्तु पुरानी है इसलिये प्रशंसनीय है ऐसा कोई भ्रम उनके अन्दर नहीं होता।

मैंने अत्यन्त साहस करके पूछा क्या आप कृपा करके यह बता सकते हैं कि प्राचीन भारतीय आलोचना पद्धति की क्या प्रमुख विशेषतायें थीं। उन्होंने अत्यन्त सरलता से कहा कि प्राचीनकाल में आलोचना की सर्व प्रमुख विशेषता उसकी सैद्धान्तिकता थी। किसी कवि को उठाकर उसे उलट-पलट कर देखने, और कविता को चीर फाड़कर कवि के हृदय की खोज करने का दुःसाहस आलोचक नहीं करता था। आजकल के आलोचक कवि को पयतन्त्र के उस बन्दर के समान समझते हैं जिसका हृदय जामुन के पेड़ पर रखा रहता था। प्राचीनकाल में कविता का तो विवेचन होता था किन्तु कविता में ऐसी वस्तुओं की खोज नहीं की जाती थी जिनका उससे कोई सम्बन्ध न हो।

मैंने पूछा क्या इसका कारण यह नहीं था कि उस समय कवि स्वयं ही तटस्थ रहता था और वास्तव में वह कविता में अपने हृदय को रखता ही न था, अतः उस समय की कविता में कवि के व्यक्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु आज इस व्यक्तिवाद के युग में प्रत्येक कवि अपने व्यक्तिवाद के प्रति जागरूक है। अतः आलोचक का भी ध्यान उस ओर जाना स्वाभाविक है।

पण्डितजी ने कहा—हाँ, यह बात अवश्य है कि प्राचीनकाल के कवि अहंकार शून्य सात्विक भावपन्न मुनिवत् आचरण करते थे। अतः उनके व्यक्तित्व में अहंभावना के लेश ही भी कैसे सकता था। दूसरी विशेषता जो प्राचीन आलोचना पद्धति में दिखलाई देती है वह है विचारों की शृंखलता, निरमरद्दता और स्पष्ट विवेचना। कविता की परिभाषा को ही लें तो हम देख सकते हैं कि प्राचीनकाल में किस प्रकार थोड़े में ही मूल सिद्धान्त की बात कह दी जाती थी। आज यदि वह सार ग्राहिता तथा स्पष्ट तर्क सम्मत पद्धति अपनाली जाय तो आलोचना के वाग्जाल का प्रसार बहुत कुछ कम हो जाय।

मैंने डरते डरते प्रश्न किया कि आपका तात्पर्य यह तो नहीं है कि आलोचना क्षेत्र संकुचित करके कुछ प्राचीन [illegible] दिया जाय और इस प्रकार आलो[illegible] कुछ [illegible] था। [illegible] में

उन्होंने कहा—कभी नहीं, मेरा यह तात्पर्य कभी नहीं रहा। प्राचीन काल में भी आलोचना की एक ही पद्धति नहीं रही। अनेक आचार्य थे और उनके स्वतन्त्र मत थे।

दण्डी, मम्मट, तथा उद्भट आदि अनेक आचार्य भाषा के बाह्य आभूषणों को ही कविता का अनिवार्य अङ्ग मानते थे। दूसरी ओर आचार्य वामन और उनके अनुयायी 'रीति' को ही काव्य की कसौटी समझते थे। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण माना और आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा का पद 'ध्वनि' को दिया। साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ ने रसात्मकता को काव्य का मुख्य लक्षण कहा है। आलोचना पद्धति में मत स्वातन्त्र्य को भी सदैव स्थान मिला है और विचार भेद का कविता के मूल्याङ्कन में भी असर रहा है। विभिन्न आलोचकों की दृष्टि से कविता के भिन्न भिन्न अङ्ग अधिक महत्वपूर्ण हैं। किन्तु हमारे यहाँ प्राचीनकाल में कभी विचारों की उच्छृङ्खलता को आलोचना नहीं कहा गया। जिस किसी ने अपना मत प्रतिपादन किया तर्क सम्मत शैली का आश्रय लिया। आलोचना शास्त्र है उसमें कवि कल्पना का आश्रय लेना विडम्बना है। इससे तो आलोचक की दुर्बलता ही प्रकट होती है।

मैंने कहा कि यदि आलोचना की प्राचीन पद्धति का ही अनुसरण किया जाय तो रीतिकाल की भाँति हमारे इस युग की कविता भी संकुचित मार्ग पर चलने लगेगी। रसात्मकता और अलङ्करण की प्रवृत्ति हमें नवीनता उत्फुल्लता और स्फूर्ति से हटा कर जटिलता, अर्चनता और पिष्ट पेषण की ओर ही ले जायगा। क्या आप यह चाहते हैं कि आधुनिक कविता का विकास की बाल्यावस्था में ही गला घोंट दिया जाय? जब कविता की आलोचना का प्रारम्भ भी नहीं हुआ था उस समय भी वाल्मीकि ने सरल किन्तु अत्यन्त सरस रामायण की रचना की, व्यास ने महाभारत जैसा ग्रन्थ रत्न बनाया। मैं तो समझता हूँ कि यदि प्राचीन आलोचना पद्धति का ही अनुसरण किया जायगा तो यह आधुनिक साहित्य के लिए आत्मघात के समान होगा। चीन की स्त्रियों की भाँति जो लोहे के जूते पहन कर पैरों को छोटा रखती [illegible] इस अनुपात हीन रचना को ही सौन्दर्य मानता है,

अंग्रेजी आलोचना का साहित्य

प्रो० [illegible] महल, एम० ए०

कवि की सृष्टि का आधार है उसकी कल्पना और उसके रचयिता का सरकार कल्पना जिसकी संज्ञा है यह संपूर्ण चराचर जगत्। आलोचक की सृष्टि का आधार है उसकी प्रज्ञा और बाह्य संसार। भाषा के बिना उसका व्याकरण सम्भव नहीं साहित्य के बिना आलोचना अधर में खड़ी नहीं रह सकती। यथेष्ट साहित्य सृजन के पश्चात् ही आलोचना का दर्शन हुआ करता है। हर देश के साहित्य में आलोचना का प्रादुर्भाव पश्चाद्वर्ती ही होता है, पुरोगामी नहीं। हिन्दी में तो समीक्षा का व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के पहले माना ही नहीं जा सकता। अंग्रेजी में भी आलोचना का प्रारम्भ एलिजाबेथ-युग में ही मानना समीचीन होगा। चासर (१३४०–१४००) का जमाना ध्यान निरीक्षण तथा साहसिक नूतन काव्य प्रयोगों का था। इटली का नया साहित्य भरा पूरा सारा सुन्दर साहित्य उनका पथ प्रदर्शक था। प्रोलोग सरीखी छोटी-सी पुस्तक में तत्कालीन समाज का बड़ा सुन्दर वैदिक विश्लेषण चासर ने किया है। दांते, पीट्रार्क तथा बोकेसियो इटली के इन तीनों कवियों का चासर ने हार्दिक सत्कार किया है। इतना ही नहीं उनके काव्यों से अपनी रचनाओं का अनुकरण भी किया है—फिर भी चासर को हम प्रथम आलोचक नहीं मान सकते क्योंकि चासर के लिए सब पुराने कवि समरूप से प्रशंस्य हैं। जैसा ओविद, वैसा वर्जिल—ऐसे ही उनके 'The House of Fame' में सब तरह की जमात एक साथ जुटी है, पीट्रार्क का सा सूक्ष्म विवेक और प्रज्ञा चासर का प्राप्त नहीं थी। चासर का काम वस्तुतः निर्माण का ही था, निर्मित की नाप-जोख का उतना नहीं। निर्मित से अपने निर्माण में सहायता लेना निर्माण ही है, आलोचना नहीं। आलोचना के सूत्रपात में अभी दो शताब्दियों की और देर थी। प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य से ही अंग्रेजों ने सब कुछ सीखा था। एलिजाबेथ-युगीन प्रारम्भिक आलोचना से लेकर डा० जॉनसन (१७०९–१७८४) तक की आलोचना में प्राचीनों का ही प्राधान्य है। सारी अंग्रेजी की आलोचना शताब्दियों तक उनके जुए को हटा कर नहीं पूरी स्वतन्त्र चली है। आरम्भ में तो प्राचीनों का प्रभाव सर्वव्यापक ही रहा। सिडनी सरीखे कवि तथा Meres सरीखे आलोचक ने प्राचीनों के वैभव और स्वातन्त्र्य को ही परखा-समझा है पर आगे जाकर पोप (१६८८–१७४४) आदि में कोरा अनुकरण ही स्पष्ट प्रतिभासित होने लगा था। केवल अनुकरण के आधार पर कोई कवि बड़ा नहीं बन सकता। हर बड़ा कवि अपने समय में अवश्य ही स्वच्छन्द (Romantic) रहा होगा। आगे चलकर उस कवि की ख्याति बढ़ने पर वह शास्त्रवादी (Classic) गिना जाने लगा होगा। सच्चा कवि अपने नियमों का निर्माण स्वयं करता है। निर्बल, कृत्रिम नियमों का आधार साधारणतः अंग ही लिया करते हैं। बच्चे को भी माँ बाप का सहारा लेना पड़ता है पर वही बच्चा युवक होने पर स्वयं अपना पथ-निर्माण करने में हिचकता नहीं। अंग्रेजी आलोचना शुरू में इसी तरह पराश्रित रही, पर सबल और पुष्ट होने पर उसने तरह-तरह के अपने नये रास्ते बड़ी हिम्मत और लगन के साथ तय किये हैं। आज तो आलोचक इतने स्वतन्त्र हो चले हैं कि उनमें आपस में कई बार समानता से बढ़कर असमानता दिखाई पड़ सकती है, पर मूल में वे एक ही पिता की विभिन्न बुद्धि की सन्तान हैं।

अंग्रेजी आलोचना का इतिहास तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम—एलिजाबेथ युगीन एवं मिल्टन, द्वितीय Restoration यानी चार्ल्स द्वितीय के पुनरागमन से लेकर फ्रांस की क्रान्ति तक (१७८९) तक; तृतीय—क्रान्ति से लेकर अब तक जिसमें कई तरह की क्रान्तियाँ शामिल हैं। प्रथम भाग का प्रतिनिधि आलोचक है सिडनी। द्वितीय का उद्घाटन करने वाला है ड्राइडन

(१६३१–१७००) तथा समापवर्तन करने वाला है डा० जॉनसन। तृतीय के प्रारम्भ में हैं लैम, हैजलिट, कौलरिज, कार्लाइल आदि तथा अन्त में हो मैट्सबरी, ब्रैडली, मिडल, रिचर्ड्स, स्कॉटजेम्स, ऐबरक्राम्बी, मिडल्टन मरी, चैंबर्स, गार्डन, हडसन, स्पार्जन, ब्रुक, वेकर आदि जिनका कोई अन्त नहीं।

आलोचना के प्रथम युग में, जैसा सर्वत्र हुआ करता है, ऊपर का आडम्बर अधिक है, अन्दर का रहस्योद्घाटन कम। यह आलोचना नियमों की है, ऊपर-ऊपर की है, रूप को देखने वाला है, आत्मा को नहीं। किसी भी कवि की सच्ची विशेषताओं का दिग्दर्शन इस काल में सम्भव नहीं था। एलिजाबेथन आलोचना के अग्रणी पुटनहम तथा वेब आदि की आलोचनाएँ इसी कोटि की हैं। काव्य वस्तु के आधार पर शब्दों का विधान, भाषा, छन्द आदि की चर्चा ही प्रधान है। हिन्दी में ऐसे ही प० पद्मसिंह शर्मा तथा मिश्रबन्धु थे पर जैसे द्विवेदी युग में पं० रामचन्द्र शुक्ल के समान विचारक आलोचक मौजूद थे, वैसे ही एलिजाबेथ युग में विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न सिडनी तथा बेन जॉनसन थे। प्रारम्भिक आलोचनाएँ सर्वत्र बहिरङ्ग की ही हो सकती हैं, अन्तरङ्ग की नहीं।

तत्वदर्शी प्लैटो (४२७–३४८ ई० पू०) ने अपने 'प्रजातन्त्र' से कवि का बहिष्कार किया था। नैतिक और धर्म-प्रचारक कवि का ही प्लैटो के यहाँ स्वागत हो सकता था। होमर और हीसियड की प्लैटो ने इसलिए निन्दा की कि वे नीति विरुद्ध उपदेश देते हैं। इसी तरह पुराने ग्रीक नाटककारों की खबर ली है क्योंकि वे अनुचित गलत चीजों का अनुकरण करते हैं। बढ़ई जैसे एक कुर्सी बनाता है जो आदर्श विशेष का अनुकरण करता है पर चित्रकार इस अनुकरण का भी अनुकरण करता है। इस तरह प्लैटो के विचार में काव्य वास्तविकता (Reality) से बहुत दूर है, 'थर्डहैंड' है। प्लैटो के तर्कों का समाचीन उत्तर दिया ऐरिस्टाटल (३८४–३२२ ई० पू०) ने अपनी 'पोलटिक्स' में। तत्वदर्शी, राजनीतिज्ञ तथा नैतिक धर्मोपदेशक सभी स्वतन्त्र, कवि का इस महान् आलोचक द्वारा विवेचन हुआ।

पिछली तक ऐरिस्टाटल साहित्य संसार में देवता पूजे गये और उनका महत्व आज भी अक्षुण्ण है। ग्रीक साहित्य के आधार पर महाकाव्य, दुःखान्त तथा सुखान्त नाटकों का विवेचन करते हुए ऐरिस्टाटल ने कवि का जोरदार समर्थन किया। आगे चल कर होरेस, (६५–८ ई० पू०) लाजाइनस, सिसरो, क्विन्टीलियन आदि महत्वपूर्ण आलोचक हुए। एलिजाबेथ युग में ये सब ग्रीस और रोम की आलोचनायें मौजूद थीं और सिडनी ने अपनी 'Apology of Poetry' में इन सबका विवेकपूर्ण उपयोग किया है। अंग्रेजी में १५९५ में प्रकाशित सिडनी की यह पुस्तक स्टैंडर्ड आलोचना की पहली चीज मानी गई है। काव्य से हर्षोल्लास और उपदेश दोनों मिलते हैं। मनोवेगों को भी काव्य से स्फूर्ति मिलती है। इस तरह प्यूरिटन लोगों को सिडनी ने बड़ा संयत और गम्भीर जवाब दिया। इस छोटे से लेख में किसी भी आलोचक का थोड़ा बहुत विवेचन दे सकना भी मुश्किल है। ये सब तो स्वतन्त्र लेखों के विषय हैं। अभी तो दिङ्मात्र दिग्दर्शन से ही सन्तोष करना है। सिडनी ने नीति की आधारशिला पर ही काव्य की महती गरिमा स्थापित की। बेन जॉनसन (१५७३–१६३७) ने युग की गति के विरुद्ध प्राचीनों की प्रशंसा गाई। उन्हीं के अनुकरण पर नाटक लिखे पर कवि को एकदम बद्ध भी नहीं किया। कवि पर उचित अनुशासन अवश्य माँगा। काव्य-निर्माण में पूरे श्रम की अपेक्षा उन्होंने मानी। Poetry is not spontaneous utterance, but "elaborate and painful to it." Dante. "It is said of the incomparable Virgil that he brought forth his verses like a bear, and after formed them with licking." फिर भी कवि का काम स्कूल मास्टर का सा नहीं माना।

"I am not of the *opinion* to conclude a poets liberty within the narrow limits of arts which either the grammarians or philosophers prescribe" शैली का भी उन्हें पूरा ध्यान था। "Language most shows a man; speak,

that I may see thee." इन आलोचकों के सामने अंग्रेजी में बहुत कम अच्छी चीजें लिखी गई थीं इसलिए इनकी आलोचना अधिक प्रखर और व्यापक नहीं हो सकती थी।

आधुनिक आलोचना के अधिकतर गुण सर्वप्रथम ड्रायडन में देखे जा सकते हैं। तुलनात्मक आलोचना का पंडित, ऐतिहासिक आलोचना का सूत्रपात करने वाला ड्रायडन, स्वतन्त्र और निर्भीकमना होकर कह सका कि ऐरिस्टाटल ने अपने जमाने के लिए सही बातें कहीं सही पर सदा के लिए उसी का अन्ध भक्त होकर साहित्य में उन्नति नहीं की जा सकती। ऐरिस्टाटल की पूजा को भी निषिद्ध ठहराना बड़ी हिम्मत का काम था। ड्रायडन ने सब कुछ बुद्धि के प्रखर आलोक में देखा। ड्रायडन के जमाने के नाटक अगर ऐरिस्टाटल को पढ़ने को मिलते तो ड्रायडन के विचार में ऐरिस्टाटल को भी अपने विचार बदलने पड़ते। ड्रायडन का यह स्मरणीय-वाक्य नई क्रान्ति का उद्बोधक है— "It is not enough that Aristotle has said so, for Aristotle drew his models of tragedy from Sophocles and Euripides : and, if he had seen ours, might have changed his mind."

ड्रायडन ने साफ कह दिया कि कवि उपदेशक का बाना पहिन कर आये यह जरूरी नहीं। उपदेश तो अधिक से अधिक गौण हो सकते हैं। काव्य अनुकरणात्मक नहीं, सृजनात्मक होता है क्योंकि कवि फोटोग्राफर की तरह किसी वस्तु का हूबहू चित्रण नहीं करता वह तो कल्पना के सहारे नूतन आह्लादकारिणी सृष्टि का निर्माण करता है।

"It is fancy that gives the life-touches" कल्पना के इस रूप की विशद व्याख्या आगे चल कर कॉलरिज ने की। ड्रायडन ने मिल्टन और शेक्सपियर दोनों की प्रशंसा की है जैसे हम आज भी करते हैं। निष्पक्ष बुद्धि रख कर ही वे ऐसा कर सके थे। अपने Essay of Dramatic poetry में ड्रायडन ने तुकान्त कविता का पक्ष लिया है यद्यपि आगे चल कर वे स्वयं Blank verse के हिमायती बन गये थे। नाटक की भाषा काल्पनिक भाषा से जितनी दूर होगी, उतनी ही नाटकीय प्रभाव के लिए आदर्श होगी—यह दूसरी उपपत्ति उन्होंने उपस्थित की जिसका परिणाम १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पोप की कृत्रिम भाषा (Poetic diction) डा० जानसन की आलोचना मजिस्ट्रेट का सा फैसला है। यह शुद्ध निर्णयात्मक (Judicial) ढंग है। बँधे बँधाए नियम ही इस आलोचना के मापदण्ड हैं। पोप, जो स्वयं नियमबद्ध कवि थे, डा० जानसन के लिए आदर्श बने। यह सारा वातावरण अत्यन्त संकुचित रहा। इन ढेर सारे कृत्रिम बन्धनों के बीच कविता का दम मानो घुटने लगा था। नियमों से हट कर चलने वाला काव्य काव्य ही नहीं रह गया। इसी से तो मिल्टन, काउली, ग्रे—इन सबकी डा० जानसन ने खबर ली है। डा० जानसन मौलिकता के शत्रु थे। उपन्यासकार फील्डिंग ने मौलिकता दिखाई तो डा० जानसन ने उनको निकम्मा (barren rascal) करार दिया। गोल्डस्मिथ ने स्थिति में सुधार किया। इसी तरह बर्क की "On the sublime and the Beautiful" महत्वपूर्ण रचना है। डा० जानसन की मृत्यु के बाद आलोचना क्षेत्र में एक बार अनियमित अराजकता फैली जिसके महारथी थे ... और गिफोर्ड। एडिनबरा और क्वार्टरली नामक अपने ... में इन लोगों ने कीट्स, शेली, बायरन आदि नये कवि ... की मनमानी, असंयत आलोचना की। इन आलोचनाओं का कोई आधार ही नहीं था—न नियम, न बुद्धि पर केवल छीछालेदर। कीट्स सरीखे महत्वपूर्ण युवक कवि को तो गालियों का ही प्रसाद मिला समझिए ("Go back to the shop, Mr. John; back to the plasters, pills and ointment boxes.") ऐसे ही वर्ड्सवर्थ की Immortality Ode सरीखी कविता जेफ्री की समझ के बाहर थी। अच्छी चीज को बुरी और बुरी को अच्छा बना देना उन लोगों के बाएँ हाथ का खेल था। इस ओड को वे अत्यन्त अस्पष्ट और मूर्खतापूर्ण बताते हैं। ("We venture to hope that there is now an end of this folly.") वर्ड्सवर्थ की Excursion के लिए लिखा कि ऐसी कवि-

मनोविश्लेषण और आलोचना

श्री बा० गुलाबराय एम० ए०

आलोचना की पद्धति विकासशील है। अब कवि की कृति का ही विश्लेषण नहीं किया जाता है वरन् कवि के मन का विश्लेषण किया जाता है, सो भी केवल ऊपरी मन का नहीं वरन् उसके भीतरी मन की तहों तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। यह प्रयत्न किस लिए है? यह इस लिए कि कवि की कृति में उसके आत्मभाव या आत्मिकता (Personality) की झलक होती है। 'आत्मा वै जायते पुत्र' कवि की कृति द्वारा हम कवि के मन की झाँकी पाते हैं और कवि की मन की झाँकी उसकी कृति को भली प्रकार समझ सकते हैं। साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन दो प्रकार से होता है। एक साहित्य-सृष्टि में बसने वाले पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, जैसे सूर के बालकृष्ण का अध्ययन, भरत की आत्मग्लानि का अध्ययन और प्रेमचन्दजी के ज्ञान शङ्कर या और किसी पात्र का अध्ययन, दूसरे स्वयं कवि का अध्ययन स्वयं कवि के अध्ययन से आलोचना को यह लाभ होता है कि आलोचना संकुचित नहीं रहती। हम कवि को बन्धे बंधाये मानदण्डों के अनुसार दोषी नहीं ठहराते। वह एक प्रकार की कविता करता है या दूसरे प्रकार की कविता करता है और इस प्रकार वह अच्छा या बुरा है ऐसा हम निर्णय सहसा नहीं देते। हम उसके मन अन्तस्तल में प्रवेश करके यह जान लेते हैं कि वह अपनी पारिवारिक सामाजिक और वैयक्तिक स्थिति में ऐसी ही कविता कर सकता था। मनोविश्लेषण आलोचना को वैज्ञानिक स्थिति पर ले आता है वह कवि उसकी सामाजिक और पारिवारिक स्थिति में और कृति में एक कार्य कारण शृङ्खला स्थापित कर देता है।

मनोविश्लेषण की आलोचना को देन समझने से पूर्व हमको मनोविश्लेषण का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। मनोविश्लेषण की सबसे बड़ी देन है अव चेतन (Subconscious) मन का प्रतिपादन। वह चेतन से अवचेतनपन को विशेष महत्व देता है। चेतन मन की वासनाएँ सामाजिक औचित्य निरीक्षक (Censor) की रोक थाम के कारण दमित हो जाती हैं किन्तु वे चेतन मन को प्रभावित करती रहती हैं। स्वप्न जैसे महत्वाकांक्षा के लिए घोड़े पर चढ़ना, किसी के मरने की इच्छा पूरा करने के लिए नक्लों को जो काटने के स्वप्न ये यौनिक हैं नयी पोशाक की नव पति की कामना पूर्ति के लिए, समुद्र में तैरना कठिनाइयाँ पार कर जाने की इच्छा पूर्ति के अर्थ, भूल, हँसी मजाक और प्रत्याहतियों में वेश बदल कर प्रतीकात्मक रूपों में प्रकट हो जाती हैं। कभी-कभी ये कल्पनाओं और दिवा स्वप्नों का रूप धारण कर लेती हैं और कभी ये इतनी प्रबल हो जाती हैं कि मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न कर देती हैं और तर्क और सामाजिक नियन्त्रण का बाँध तोड़ कर अनर्गल प्रलाप का रूप धारण कर लेती हैं। इन सब वासनाओं में यौन वासनाएँ बड़ी प्रबल हैं। इनका पूर्वरूप बचपन में भी थपथपाना अँगूठा चूसने आदि में मौजूद रहता है। फ्रायड के मत में दमित यौन वासनाएँ ही हमारे चेतन जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। यौन वासना को इतना महत्व देने में और सब लोग फ्रायड के साथ सहमत नहीं हैं। फ्रायड ने आत्मा की तीन श्रेणियाँ मानी हैं, वैयक्तिक आत्मा (Ego), परात्मा (Super Ego) और तदात्मा (Id)। वैयक्तिक आत्मा का सम्बन्ध हमारी चेतनात्मा से है। इसमें आचार, तर्क, संगति का प्राधान्य रहता है। परात्मा का सम्बन्ध नैतिक, मान और औचित्य है। औचित्य निरीक्षक भी इसी का सहारा लेता है। तदात्मा का सम्बन्ध हमारी सहज वृत्तियों, सामान्य भावनाओं और दमित वासनाओं से है जो हमारे कार्यों को प्रेरक शक्ति प्रदान करती है।

मनोविश्लेषण शास्त्र के दो और आचार्य हैं एडलर और युंग। एडलर ने हीनता ग्रन्थि (Inferiority Complex) को महत्व दिया है। वे पारिवारिक स्थिति के कारण बनी हुई हीनता ग्रन्थियों को मूल प्रेरक कारण

उसकी दासत वासनायें और कुण्ठाओं का पता लगाता है और उनके आधार पर उसकी कविता में फैले हुए मानसिक चित्रों में जाल की व्याख्या करता है। फ्रायड के मत से बहुत सी कला और कविता कुण्ठित वासनाओं की मानसिक इच्छा पूर्ति है। 'जैसे स्वप्न दमित इच्छाओं की पूर्ति का साधन है, वैसे ही कला और कविता भी।' फ्रायड लिखते

—

The artist who is urged on by instinctive needs which are too clamorous, he longs to attain honour, power, riches, fame and the love of woman, but he lacks the means of achiev g these qualificati ns, so like any other with an unsatisfied longing, he turns away from reality and transfers all his interest, and all his libido too, on to the creation of his wishes in the life of Phantasy,

अर्थात् कलाकार वह है जो अपनी अति मुखरित सहज वृत्तियों से प्रेरित होकर सम्मान, शक्ति, धन, यश और स्त्री का प्रेम चाहता है लेकिन वह इन इच्छाओं की पूर्ति के साधन नहीं रखता (चहत अमिय जग जुरै न छाछी) इसलिए किसी साधारण मनुष्य की भाँति वह वास्तविकता से भाग कर अपने सब हितों और काव्यवासना को भी केन्द्रित कर कल्पना लोक में अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लगा देता है। वह अपनी कला के जादू से उन्हें प्रेषणीय और सार्वजनिक बना देता है और फिर उसे वे वस्तुएँ जो वह कल्पना में चाहता था वास्तविकता में भी मिलने लगती है। यह पलायनवादी कविता की तो व्याख्या कर देता है किन्तु वीर रसात्मक या प्रगतिवादी कविता की व्याख्या नहीं करता। इसके लिए हमको अडलर की हीनता ग्रन्थि में या युग की बहिर्मुखी मनोवृत्ति में (Extro vert Tendencies) का आश्रय लेना पड़ता है आजकल हमारे आलोचक कुण्ठाओं का बहुत उल्लेख करते हैं। उन पर फ्रायड का ही प्रभाव है। यह हम मानते हैं कि लेखकों में कुण्ठाएँ होती हैं। कालिदास में अपनी स्त्री की विद्वता से हीनता ग्रन्थि बना होगा तुलसीदास जी में अपनी स्त्री से तिरस्कृत होने की, भूषण में नमक के लिए भूषण में अपनी भाभी से नमक के सम्बन्ध में जायसी को अपनी कुरूपता की, कबीर को अपने जुलाहेपन की हीन भावना हुई होगी और उससे क्षति पूर्ति में वे ऊँचे उठे होंगे (हाफ्काभाव भी एक प्रकार का कुण्ठा ही है) किन्तु यह उनकी प्रतिभा की पूरी व्याख्या नहीं है। सैकड़ों आदमियों में यह हीनता ग्रन्थियाँ उनमें उच्च होने की आकांक्षा उत्पन्न नहीं करती। हम यही कह सकते हैं कि मनोविश्लेषण कवि की प्रतिभा समझने में कुछ सहायक होती है। प्रतिभा में हमको कुछ पूर्व जन्म का या अलौकिक अथवा व्याख्यातीत अंश मानना पड़ेगा।

युग की अन्तर्मुखी (Introvert) और बहिर्मुखी (Extrovert) प्रवृत्तियों का विभाजन हमको बहुत गहरा तो नहीं ले जाता फिर भी हमको क्लासिकल और रोमांटिक तथा विषयगत (Objective Epic) और विषयीगत (Subjective) अथवा प्रगीतात्मक लिखने वाले कवियों की प्रतिभा के समझने में सहायक होता है। बाह्यमुखी लोग क्लासीकल और सहायक आदि की ओर अधिक जाते हैं और अन्तर्मुखी रोमांटिक और प्रगीतात्मक कविता लिखने की ओर झुकते हैं। वास्तव में लोगों में दोनों ही प्रवृत्तियों का मिश्रण रहता है। अन्तर्मुखी समाज की परवाह नहीं करता, उसकी वृत्ति विद्रोहात्मक होती है। वह रोमाण्टक की ओर जाता है और बहिर्मुखी नियमों और आकार की पाबन्दी की ओर अधिक ध्यान देता है। वह Classical कविता की ओर प्रवृत्त होता। सब में ही विद्रोह और नियन्त्रण की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। जिसमें जो प्रवृत्ति अधिक होती है वह उसी ओर झुक जाता है। अच्छा कवि वह होता है जिसमें विद्रोह और नियन्त्रण का सन्तुलन रहता है। फ्रायड के अनुसार विद्रोह अदात्मा (Id) से मिलेगा और नियन्त्रण चेतनात्मा और परात्मा से मिलेगा।

इन सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग में हमको सावधानी और सन्तुलन से कार्य लेना चाहिए। सब जगह ही

भारतीय आलोचना-पद्धति और उसकी गति विधि

श्री शम्भुप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, साहित्यरत्न

'साहित्य' व्यक्ति और समाज के जीवन की भावप्रधान सरस आलोचना है और 'आलोचना' उस आलोचना की आलोचना है। इस प्रकार साहित्य और आलोचना का आधार आधेय सम्बन्ध है। साहित्य ही वह आधार शिला है जिस पर समालोचना रूपी भवन का निर्माण होता है। यदि नींव ही न होगी तो भवन किस पर बनेगा? इसीलिए तो हम अपने संस्कृत साहित्य में देखते हैं कि काव्यों (आलोच्य ग्रन्थों) के उपरान्त ही लक्षण ग्रन्थ (आलोचना ग्रन्थ) लिखे गये।

व्यक्ति और समाज के जीवन की भावप्रधान सरस समालोचना ही वास्तव में 'साहित्य' है। क्रौंच-दम्पति में से नर को मार देने वाले बहेलिये के कठोर बाण और मादा की करुणा भरी आँखों से द्रवीभूत आदि कवि वाल्मीकि के हृदय से निम्नांकित श्लोक का सहसा निकल पड़ना एक प्रकार से व्यक्ति और समाज की आलोचना ही है :—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥"

वस्तुतः साहित्य अथवा उसका एक अङ्ग काव्य मानव-जीवन की गति-विधि में न्याय करता है, जिस प्रकार 'साहित्य' मानव जीवन का न्याय निर्देशक है, ठीक उसी प्रकार 'आलोचना' साहित्य सृष्टि में न्याय का मानदण्ड है।

आलोचना का अर्थ है अच्छी तरह देख-भाल करके कारण सहित किसी वस्तु को अच्छा बुरा बताना। इसके लिए बुद्धि पक्ष का प्राबल्य आवश्यकीय है। कौनसा वस्तु अच्छी है और कौनसी बुरी, यह तो छोटा-सा बालक भी जानता है, परन्तु कारण जानते हुए अच्छे बुरे का ज्ञान शैशव के उपरान्त ही होता है। 'आलोचना' के लिए विश्लेषणात्मक बुद्धि चाहिए और वह बुद्धि प्रौढावस्था में ही विकसित होती है। बिल्कुल यही बात साहित्य के क्षेत्र में भी घटित होती है। साहित्य की प्रौढ़ावस्था में ही आलोचना का जन्म होता है। यूनानी और संस्कृत भाषा के आलोचना ग्रन्थ इस कथन के समर्थन में प्रमाण हैं। जिस समय ग्रीक भाषा में बड़े सुन्दर और प्रौढ़ नाटक लिखे जा चुके थे तदुपरान्त ही एरिस्टोटल ने आलोचना ग्रन्थ लिखे थे। विक्रम की तीसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक और आगे भी लौकिक संस्कृत साहित्य (Classical Sanskrit Literature) का प्रौढावस्था मानी जा सकती है। सातवीं शताब्दी के उपरान्त ही हमें आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक', मम्मटाचार्य के 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' के दर्शन होते हैं। संस्कृत साहित्य में अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस आदि पर जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं, वे सब एक प्रकार से आलोचना ग्रन्थ ही हैं। भामह का 'काव्यालङ्कार" नामक ग्रन्थ अलङ्कारों का परम प्रसिद्ध प्रामाणिक ग्रन्थ है। भामह का समय विद्वानों ने ई० सन् ४०० और ६०० तक रक्खा है।

दण्डी का 'काव्यादर्श', उद्भट का 'अलङ्कार सार-संग्रह', वामन का 'काव्यालङ्कार सूत्र' और उसकी 'वृत्ति-कविप्रिया', रुद्रट का 'काव्यालङ्कार', आनन्दवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक', राजशेखर की 'काव्यमीमांसा', अभिनव गुप्त का 'ध्वन्यालोक-लोचन', कुन्तल का 'वक्रोक्ति जीवित', धनञ्जय का 'दशरूपक', मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण' आदि ग्रन्थ ईसा की सातवीं और चौदहवीं सदी के बीच में ही लिखे गये। इससे सिद्ध होता है कि आलोचना का जन्म प्रौढ साहित्य के बाद ही होता है।

अलङ्कार और अन्य काव्याङ्गों का विवेचन करने वाली एक प्रामाणिक पुस्तक पण्डितराज 'जगन्नाथ' की 'रसगङ्गाधर' है जो कि सन् १६५० ईसा के लगभग लिखी गई थी। इसमें पण्डितराज ने आलोचना की आचार्य-पद्धति और खण्डन-मण्डन पद्धति को ग्रहण किया है। ग्रन्थकार ने 'रसगङ्गाधर' में सैद्धान्तिक आलोचना को प्रधानता देते हुए आलोचना के व्याख्यात्मक पद्धति को भी अपनाया है। संस्कृत के आलोचक 'रसगङ्गाधर' को उस परम्परा की

उन्होंने मूल गुसाईंचरित को आधार लेकर तुलसीदासजी का विवेचन किया है। जिस प्रकार शुक्लजी निर्गुणवाद के विरुद्ध रहे हैं उसी प्रकार श्यामसुन्दरदासजी तथा उनके शिष्य बड़थ्वालजी निर्गुणवाद के पक्ष में रहे हैं।

श्यामसुन्दर तथा शुक्ल काल में हिन्दी में आलोचना-साहित्य अंग्रेजी भाषा के आलोचना साहित्य के समकक्ष आगया था। उस काल में व्याख्यात्मक (विवेचनात्मक) और निर्णयात्मक दोनों ही ढंग की आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गईं। पण्डित कृष्णशङ्कर शुक्ल की 'केशव की काव्य कला' गिरीशजी की 'गुप्तजी की काव्य धारा' सत्येन्द्रजी की 'गुप्तजी की कला' और शिलीमुख की 'सुकवि समीक्षा' आदि पुस्तकें कवियों की रचनाओं के बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूपों का अच्छा परिचय देती हैं। पाश्चात्य आलोचकों की विचार धाराओं को लेकर बख्शीजी ने 'विश्वसाहित्य' लिखा, जिसमें यूरोपीय साहित्य के विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। ब्रजभाषा के कवियों की सच्ची परख डा० 'रसाल' की है।

वर्तमान काल हिन्दी आलोचना-साहित्य का पाँचवाँ काल है। इसमें वाद प्रधान आलोचनाएँ अधिक लिखी जा रही हैं। इस काल के दो प्रकार के आलोचक हैं—एक तो शुक्लजी की व्याख्यात्मक और मूल्याङ्कन सम्बन्धी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले—उनमें लोकमङ्गल की भावना का और सम्बन्धी मूल्यों को अधिक मान दिया है दूसरा मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिवादी हैं जो आर्थिक-मूल्यों को अधिक महत्व देते हैं। डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि इसी प्रकार की आलोचनाएँ लिखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रिक्त स्थान की पूर्ति डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी कर रहे हैं। उनकी आलोचनाओं में शुक्लजी की सी ही गम्भीरता और पाण्डित्य पाया जाता है। शुक्लजी ने छायावादी कवियों की आलोचना करने में न्याय नहीं किया था। प्राचीन परिपाटी पर चलने वाले कवियों को ही वे कवित्व-पूर्ण समझते थे। सूर, तुलसी आदि से उनकी इतनी अधिक भक्ति होगई थी कि छाया-वादी कवियों की आलोचना करना वे पसन्द ही नहीं करते थे। वास्तव में शुक्लजी छायावादी कवियों को समझने में भूल कर गये हैं। [illegible] में हमें कुछ कच्चापन ही मिलता है। परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने प्राचीन और अर्वाचीन दोनों कालों के कवियों की बड़ी सार गर्भित आलोचनाएँ लिखी हैं। वे हिन्दी के प्राचीन कवियों की भाँति ही नवीन कवियों की सहानुभूतिपूर्ण ढंग से आलोचना करते हैं। इस समय स्व० श्री बाबू गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, सुधांशु, डा० रामकुमार वर्मा, माचवे, नन्ददुलारे वाजपेयी, कर्न्हैयालाल सहल, गंगाप्रसाद पाण्डेय, डा० नगेन्द्र तथा सत्येन्द्र आदि ऐसे ही आलोचक हैं जो कि प्राचीनता के लिए श्रद्धालु और नवीनता के परम प्रशंसक हैं।

श्री गुलाबरायजी की 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' पुस्तकें इस बात को प्रकट करती हैं कि उन्होंने आलोचना क्षेत्र में यूरोपीय और भारतीय आचार्यों का अच्छा समन्वय किया है। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को एक नवीन आलोक में रख कर उनके स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है। बापूजी में हिन्दी के प्रमुख प्राचीन और नवीन कवियों की आलोचना मिलती है। उन्होंने कलापक्ष का स्पर्श तो किया है किन्तु भावपक्ष को अधिक महत्ता दी है। यह पुस्तक कवियों के रसास्वादन में सहायक होगी। डा० नगेन्द्र की 'विचार और अनुभूति' भी इसी प्रकार की पुस्तक है जो कि प्राचीन और नवीन तथा पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्तों को लेकर लिखी गई है। उनमें 'साकेत एक अध्ययन' और 'सुमित्रानन्दन पन्त' की विशेष ख्याति है। उन्होंने इन पुस्तकों में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का ही विस्तृत विवेचन किया है। 'सुमित्रानन्दन पन्त' में छायावाद के तत्वों और कला का अच्छा विश्लेषण हुआ है। आपकी आलोचनाओं में मनोविज्ञान का भी पुट रहता है।

प्रगतिशील लेखकों में 'कला जीवन के लिए' के सिद्धान्त को अपनाने वाले डा० रामविलास जी शर्मा बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी-साहित्य के लेखकों और कवियों को शर्मा जी ने सामाजिक विकास-क्रम तथा आर्थिक चेतना की कसौटी पर कसा है। नयी पीढ़ी के आलोचकों के प्रगतिवादी दल में शर्मा जी अग्रगण्य हैं। अनोखी और ठोस युक्ति, सबल तर्क, पैना सूत्र और कौन्हीं पक्ष के लिए वास आलोचक

(शेष पृष्ठ ३५ पर देखिए)

प्रगतिवाद और उसकी सार्थकता

श्री गोवर्द्धन शर्मा

प्रगतिवाद की व्याख्या—संस्कृत के अनुसार प्र० + गम् + क्तिन् = प्रगति होता है, जिसका अर्थ पूर्ण या उत्कृष्ट रूप से किसी भाव को, किसी विचार को गति मान करना है। प्रगति का संक्षिप्त अर्थ होता विकास हो सकता है। 'मेरे विचार से परिवर्तित होते हुए निर्माण स्वरूप को ही प्रगति कहेंगे, अनन्तर इस शब्द उसका प्रयुक्त होगा।'* आगे बढ़ना, विकास करना ही प्रगति है। किसी रूप में जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो, वह प्रगतिशील साहित्य है। 'इस दृष्टि से विचार करेंगे तो तुलसीदास सबसे बड़े प्रगतिशील लेखक प्रमाणित होते हैं। भारतेन्दु और द्विवेदीयुग के लेखक, सुदर्शन मैथिलीशरण गुप्त भी प्रगतिवादी कवि हैं।'† किन्तु आज के तथाकथित प्रगतिशील हमारी इस मान्यता को अस्वीकार कर देंगे। ये सभी तो उनके मतानुसार प्रतिक्रियावादी लेखक सिद्ध किये जा सकते हैं अतः 'प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है, परन्तु एक विशेष ढंग से, एक विशेष दिशा में।' उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है जिसका आधार है मार्क्स का दर्शन, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त। प्रगतिवाद को ठीक से समझने के पहिले हमें मार्क्स के दर्शन को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि प्रगतिवाद का आधार वही है।

मार्क्स के मुख्यतः तीन सिद्धान्त हैं। एक तो है इतिहास की भौतिक व्याख्या (Materialistic interpretation of History), दूसरा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) और तीसरा श्रेणी युद्ध (Class-War)‡।

---

* गिरचन्द्र—'प्रगतिवाद की रूप रेखा।'

† डा० नगेन्द्र—'विचार और विवेचन।'

‡ C. E. M. Joad—Introduction to Modern Political Theory.

मार्क्सवाद की व्याख्या—इतिहास की अपनी व्याख्या में मार्क्स समाज का उत्थान और विकास के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करता है। उसकी व्याख्या का मूल विचार या सिद्धान्त है कि ऐतिहासिक घटनाओं का आधार आर्थिक या भौतिक होता है। अब तक इतिहासकार उन घटनाओं का कारण राजनीतिक चाल, या महापुरुषों को ही मानते थे। मार्क्स ने कहा कि अन्ततोगत्वा ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे आधार में आर्थिक शक्तियाँ ही काम करती हैं।

उत्पादन के तरीके बदलते रहते हैं। जब उनकी दशा जैसी होती है उसी के अनुरूप राजनैतिक जीवन की भी दशा होती है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ की यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के कारण हम पहले पहल थोड़ी संख्या में, सुतरां, कम पूँजीपतियों को पाते हैं। शनैः शनैः समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया (१) पूँजीवादी वर्ग या मालिक (२) सर्वहारा वर्ग या मजदूर जगत। इन दोनों वर्गों के अपने स्वार्थ एक दूसरे के विपरीत हैं। यही वर्ग संघर्ष का बीजारोपण कर देता है। मार्क्सवादी इसी को श्रेणी युद्ध कहते हैं और कहते हैं कि सम्पत्ति पर और जमीन पर जब तक मनुष्यों का निजी अधिकार रहेगा, तब तक शक्तिशाली सर्वदा उन मनुष्यों पर अन्याय तथा अत्याचार करेंगे जो सम्पत्तिहीन हैं अथवा [illegible] जिनकी [illegible] मात्र सम्पत्ति है।

साथ ही में उनकी मान्यता है कि जो धन अथवा सम्पत्ति पूँजीपति एकत्र कर पाते हैं, वह भी श्रमिकों के अतिरिक्त श्रम के फलस्वरूप। यह धन श्रमिकों को ही मिलना चाहिए था क्योंकि श्रम ही उत्पादक है। इस प्रकार संक्षेप में हमने देखा कि मार्क्स का दर्शन 'वर्गसंघर्ष', 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' और 'अतिरिक्त मूल्य' पर निर्भर है।

मार्क्सवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति—मार्क्स के इस दर्शन से अनुप्राणित साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य कहला सकता है। इसी के अनुसार यह कहा जा सकता है कि 'प्रगतिशील साहित्य सदा साम्राज्यविरोधी होता है।'+ साम्राज्यवाद पूँजीवाद की ही एक प्रगति है है ऐसी दशा में साम्राज्यवाद का विरोध है और इस प्रकार हम पुनः वर्गसङ्घर्ष के सिद्धान्त पर आ पहुँचते हैं। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि 'प्रगतिवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने काव्य में राजनीति की स्थापना की है।'× प्रश्न यह है कि काव्य में इन सिद्धान्तों को आधार मानना कहाँ तक उचित है? प्रगतिवादी एक विवाद ग्रस्त राजनैतिक सिद्धान्त को काव्य की कसौटी बना लेने का असम्भव प्रयत्न करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि मार्क्स ने मनुष्य को एक संकुचित दृष्टि से देखा अतः इनका मत सर्वांश में सत्य नहीं हो सकता। 'मनुष्य और पशु में तात्त्विक भेद है। मनुष्य का एक इकाई के रूप में एकांगी अध्ययन मार्क्स नहीं कर सके थे। मनुष्य समाज को पशु समाज या एक अवयवी (Organism) के रूप में मान कर ही मार्क्स ने उसका मार्ग से नितान्त एकात्मक विचार किया था। इस यान्त्रिक प्रयोग से स्वतन्त्र मानव चेतना अथवा मानवमन की सर्वथा उपेक्षा कर दी।'† ऐसी दशा में एकांगी सिद्धान्तों अथवा व्यवहार दर्शन पर आधारित साहित्य भी सङ्कुचित और एकाङ्गी ही होगा। यदि प्रगतिवाद के विरोधियों के पास कोई वजनदार तर्क है तो, कहना न होगा, यही तर्क है जिसके आधार पर हमें वे पुनः सोचने को मजबूर कर देते हैं।

बड़ा आश्चर्य तो इस बात का है कि अनेक प्रगतिवादी अपने जोश और वहशत में अनुप्राणित होकर मार्क्स, एंगेल्स से भी आगे बढ़ जाते हैं और अपना दायरा बहुत ही सीमित कर लेते हैं। 'जनबल की दुर्दम शक्तियों का

+ घोषणापत्र—'प्रगतिशील लेखक सङ्घ'

× दिनकर—'मिट्टी की ओर'

* पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—'नईधारा' वर्ष २ अङ्क १–२ पृष्ठ ७१।

† नरेन्द्रकुमार—'प्रकाश की खोज में'

लौकिक सत्य और असत्य से सङ्घर्ष (मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वैज्ञानिक भूमिका में) जब तक काव्य के मूलाधारों से सम्पर्क और दृढ़ पारस्परिक विश्वास नहीं स्थापित कर लेता तब तक मेरी समझ में सच्चे प्रगति काव्य की रचना असंभव है।'* और प्रगतिवादी अपने विचारों में इतने सङ्कीर्ण हो गये कि हिन्दी के तरुण राष्ट्रीय कवि दिनकर को क्षोभ से अकुलाकर कहना पड़ा—'प्रगति शब्द में+ जो नया अर्थ ठूँसा गया है उसके फलस्वरूप हल और फावड़े कविता के सर्वोच्च विषय सिद्ध किये जा रहे हैं और वातावरण ऐसा बनता जा रहा है कि जीवन की गहराइयों में उतरने वाले कवि सिर उठा कर नहीं चल सकें? किन्तु हम इस विवाद को यहीं छोड़ते हैं और देखें कि मार्क्सवादी आलोचक किस रूप में साहित्य को लेते हैं।

काडवेल एक अंगरेज लेखक था जिसने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को आधार बना कर 'भ्रम और वास्तविकता' (Illusion and Reality) नाम का एक समीक्षा पुस्तक लिखी है और काव्य के उद्भव और विकास का विस्तृत विवेचन किया है।

काडवेल के समीक्षा सिद्धान्त—'काडवेल समाज और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। उसका कहना है कि समाज सङ्गठन का आधार आर्थिक है अतएव काव्य का मूलाधार आर्थिक ही ठहरता है। पहले पहल काव्य का उपयोग समाज के लाभ के लिये होता था। समाज में सुख शान्ति और आनन्द का प्रादुर्भाव तथा प्रकृति से सङ्घर्ष कर उस पर मानव समाज की विजय स्थापित करना—ये दो ही कार्य कविता के थे। वर्तमान समय में यह बात नहीं रह गयी है।† काव्य धनियों और शोषकों के बीच पड़कर समाज से विलग हो गया है अतः आवश्यकता इस बात की है कि काव्य पहले की भाँति पुनः समाज के बीच खड़ा हो। समाज का उससे दुखी अङ्ग श्रमिक वर्ग है। काव्य को उसके मुक्तसाधन में योग देना चाहिये। उसमें कर्म की

* 'अंचल'—'लाल चूनर' की भूमिका।

+ 'दिनकर'—'रसवन्ती' की भूमिका।

† विश्वम्भर मानव—'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद'।

प्रेरणा जगानी चाहिए। मार्क्सवाद की स्थापना से ही विश्व में वास्तविक सुखशान्ति का आविर्भाव हो सकता है। इसलिए काव्य को मार्क्सवाद का पल्ला मजबूती से पकड़ कर उसके प्रसार के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।'

काडवेल के मत में कविता [illegible] सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति काव्य का वास्तविक लक्ष्य नहीं है। उसका वास्तविक लक्ष्य है 'सामूहिक भावों की व्यञ्जना' द्वारा समाज को सत्वर बनाना।*

काव्य समाज के [illegible] में भाग देने वाला एक अस्त्र है [illegible] 'श्रम' के लिए मनुष्य [illegible] करता है और [illegible] को [illegible] भी [illegible] देता है।

[illegible] प्रकार उक्त [illegible] प्रमुख मान्यताओं द्वारा [illegible] उपेक्षणीय [illegible] उत्कर्ष प्रदर्शित और अन्य सभी काव्यों को बेकार समझता है।

[illegible] साहित्य—काडवेल की मान्यताओं [illegible] अनेक मार्क्सवादी चिन्तकों ने किया है।

[illegible] को प्रचार का श्रेष्ठ शक्तिशाली साधन मानते हैं।'† इस [illegible] अनेक [illegible] हैं। फ्रांसीसी लेखक विक्टर ह्यूगो की गणना संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में की जाती है, उन्होंने अपने एक उपन्यास की भूमिका में लिखा है कि मैं यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूं कि मेरे इस उपन्यास में प्राणदण्ड की प्रथा को उठा देने के लिये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में युक्तियाँ उपस्थित की गयी हैं।' × इस मत के समर्थकों का मत है कि प्रत्येक साहित्य किन्हीं विश्वासों के प्रचार का काम ही करता है। श्री कीथ भी मानते हैं कि कालिदास ने 'मानव जीवन के गम्भीरतम प्रश्नों के लिए कोई सन्देश नहीं दिया है।' + ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त सम्राटों ने जिस ब्राह्मणधर्मानुमोदित व्यवस्था की महिमा प्रतिष्ठित की थी, उससे कालिदास पूर्ण सन्तुष्ट थे और परोक्ष रूप में उनकी कृतियों में उस व्यवस्था का समर्थन था। ऐसी दशा में प्रगतिवादी अपने साहित्य को प्रचार का साधन बनाना चाहते हैं तो आपत्ति की कौनसी बात है।

किन्तु इस तथ्य को सर्वसम्मत नहीं कहा जा सकता है। 'काव्य का जन्म विस्मय और कुतूहल से हुआ, धर्म और श्रद्धा की गोद में पलकर वह बड़ा हुई, बुद्धि के युग ने उसे प्रौढ़ता दी, अब अगर प्रचार उसका एकमात्र उद्देश्य बना दिया जाता है तो कविता का [illegible] किसी प्रकार सन्देह नहीं हो [illegible] [illegible] [illegible] प्राणी है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सीमा में वह बंधा नहीं रह सकता। 'हम कवि से आशा करते हैं कि वह हमें संवेदनशील बना दे। हम उससे यह आशा हरगिज नहीं रखते कि वह हमें वेदान्तवाद समझा दे या समाजवाद के तत्त्व रट दे। इन बातों को हम अन्यत्र पा सकते हैं।× दिनकर भी घोषणा करते हैं कि 'साहित्य के क्षेत्र में हम न तो गोयबल्स की सत्ता मानने को तैयार हैं, जो हम से नाजीवाद का समर्थन लिखवाये और न किसी स्टेलिन का ही जो हमें साम्यवाद से तटस्थ रह कर फूलने फलने नहीं देना।' इटली के साहित्यशास्त्री क्रोचे कला का कोई उद्देश्य ही नहीं मानता। ऐसी दशा में मार्क्सवाद का प्रचार साहित्य का अङ्ग हो या नहीं, उसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पर हमारी मान्यता है कि दोनों मत गलती पर हैं। इस प्रश्न पर हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिये। प्रचार बुद्धितत्त्व से सम्बन्ध रखता है। किसी वस्तु अथवा भाव को बार बार दोहराना, तर्क से उसकी पुष्टि करना प्रचार के अङ्ग हैं—साहित्य के नहीं। साहित्य हृदय से सम्बन्धित होता है। तर्क वहाँ सफल नहीं हो पाते वहाँ तो भावना ही चाहिए। दोनों में यही मुख्य अन्तर है। 'साहित्य की सबसे बड़ी, प्रचण्ड और अद्भुत शक्ति अनुभूति

---

* Cristopher Caudwel Illusion and Reality.

† Lenin—On Art & Literature

× VictorHugo—'Last days of Condemned' की भूमिका में

\+ A. B. Keith—The Sanskrit Drama.

* दिनकर—'मिट्टी की ओर'

\+ Cecil dey—Hope for poetry

× हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हमारी साहित्यिक समस्यायें'

है, जिसके आलोक में पड़ कर वस्तु, आदर्श और आदर्श सत्य हो जाता है।* ऐसी दशा में साहित्य जहाँ प्रचार के पीछे भागेगा वो निश्चय खो बैठेगा। पर प्रचार भी छिपे रूप में, ध्वनि और व्यङ्ग की सहायता लेकर करना चाहिए। 'मार्क्स' स्वयं अपने साहित्यिक मूल्याङ्कन में किसी प्रकार के राजनीतिक या सामाजिक पूर्वाग्रहों से मुक्त रहता था।+ एन्जल्स का धारणा इस विषय में बहुत स्पष्ट है। उसने कहा है कि लेखक के राजनीतिक विचार जितने ही छिपे हों, उतना ही अच्छा है। स्वयं मार्क्स ने कहा है कि रचना में लेखक के सिद्धान्त प्रच्छन्न रूप से आने चाहिए। किन्तु खेद है कि आज के कुछ प्रगतिवादी इस भावना में विश्वास नहीं करते उनके लिए तो कला, और कलाकार भी प्रगतिशील नहीं है।

प्रगतिवाद के विषय—हम देख ही चुके हैं कि प्रगतिवादी साहित्य का आधार मार्क्सवाद है। अतः पूँजीवादी समाज व्यवस्था की मजाक, दुर्व्यवस्था के प्रति व्यङ्ग, शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा, अभावों का विशद वर्णन, सामन्तवादी तत्वों के विरुद्ध प्रचार, साम्राज्यवादी भावना के प्रति आक्रोश स्वाभाविक रूप से इसके विषय बन गये हैं। परन्तु चूँकि यह प्रगतिवाद हिन्दी में छायावाद व रहस्यवाद की वायवीय कल्पना के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में पनपा है अतः इसमें अभाव, भोगापन, नारी में कल्पना की कल्पनाओं में [illegible] का जन्म हुआ। साथ ही में राष्ट्रीय भावना व अखण्ड विश्व [illegible] का इस पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। रूस सभी देशों के प्रगतिवादियों का प्रेरणास्रोत है अतः 'लाल सेना', मास्को अब भी दूर है, स्तालिन, 'स्तालिनग्राड' जैसी प्रवृत्तियों की भी कोई कमी इस क्षेत्र में नहीं है। विस्तार भय से उदाहरण देना सम्भव नहीं है।

प्रगतिवाद की प्रवृत्तियाँ—प्रगतिवाद के विषय समझने के लिए उसकी प्रवृत्तियों पर विचार कर लेना आवश्यक है। मूल रूप से हम इसकी निम्न ६ प्रवृत्तियों को देख सकते हैं।

(१) स्वतन्त्रता की भावना और अन्तर्राष्ट्रीयता
(२) परिवर्तन की पुकार
(३) समाजवादी यथार्थवाद
(४) सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता
(५) काव्य के विषय में अति सामान्य धारणा
(६) बौद्धिकता और व्यंग का प्रसार

धर्म व नीति—

१—स्वतन्त्रता की भावना अनेक रूपों में व्यक्त की जाती रही है। समाज द्वारा लगाये गये बन्धनों, रूढ़ियों और मर्यादा के प्रति विद्रोह, सामन्तशाही पूँजीवादी व्यवस्था से स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आकुलता, धर्म के नियमों से मुक्ति, अर्थ की दासता और संस्कारों से विद्रोह, राष्ट्रीयभावना के प्राचीन मूल्यों की अवहेलना सभी इसी स्वातन्त्र्यभावना के प्रकार हैं। धर्म व नीति का बन्धन यहाँ लागू नहीं [illegible] प्रगतिवादियों के मत में 'साहित्यकार [illegible]' या धर्मोपदेशक नहीं है। नीति या धर्म के उपदेश देने के लिए वह साहित्य-रचना करने नहीं बैठता*। क्योंकि नीति ईश्वर की दी हुई वस्तु सदा है और न वह समाज निरपेक्ष है। इसलिए प्रगतिशील साहित्य में दिखाया गया है कि नीति का आधार समाज की सुविधा-असुविधा नहीं है। समाज की जिस श्रेणी का जिस युग में आधिपत्य रहा है, उसने अपनी सुविधाओं पर, अपने स्वार्थ और विशेषाधिकारों पर ध्यान रख कर नीति शास्त्रों की रचना की है, उन पर धर्म का लेबुल लगा दिया है। ऐसी दशा में कला भी श्रेणी विशेष की ही वस्तु है।× धर्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह जनता के लिए अफीम जैसा काम करता है किन्तु यदि यही बात गत अर्द्धशताब्दी में यूरोप के साहित्य के सम्बन्ध में कहें तो कितनी यथार्थ होगी।+ इस प्रसङ्ग पर हम एक और

---

* दिनकर—'रसवन्ती' की भूमिका में।

+ विजयशङ्कर मल्ल—हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद।

* प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र—साहित्य की वर्तमानधारा

× Red Virtue—Art isofclass struggle.

+ रोम्याँ रोलाँ—'I will not rest'

युग में इस शक्ति का विरोध करना अपनी अल्पज्ञता का दिग्दर्शन करना ही होगा।

प्रगतिवादी साहित्य में सत्य और भावपक्ष (काव्य की आत्मा)—भावना की दृष्टि से हम प्रगतिशील साहित्य में अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचलन पाते हैं। रोमांस, प्रेम व हृदय की कोमल वृत्तियों पर मानो बुद्धिवाद हावी हो जाना चाहता है। इन वृत्तियों को वह पलायनवादी व स्वप्नद्रष्टा की मूलक प्रवृत्ति मानता है। … प्रगतिवादी यह भूल जाता है कि रूसो ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति को किस हद तक प्रभावित कर दिया था, इलियट की Waste land कविता ने निराशावादी भावना में कितनी वृद्धि की। अपने युग के प्रचलित दकियानूसी विचारों के प्रति विद्रोह करके रूसो ने बाहर की वास्तविक कठोरता, विषमता और कुरूपता पर भावात्मक सौन्दर्य और कल्पना द्वारा विजय पाकर, पूर्ण आदर्श, पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण समानता और सभी गुण सम्पन्न समाज का स्वप्न देखा था। पर, रूसो स्वप्न में नवीन आलमप्रकाश की जो भावनाएँ प्रकाशित कीं, उन्होंने तमाम यूरोप की जनता में एक स्वप्न पुथल पैदा कर दी और अपने युग के चिन्तन की धारा बदल दी। उसी स्वप्न ने फ्रेंच क्रान्ति जैसी महान घटना को जन्म दिया। इस दृष्टिकोण से स्वप्न दर्शी भी सामने वह रोमान्टिस्ट दीख पड़ता है जो जगत बदलने के स्वप्न देखता था—अस्तु

अब हम सत्य पर विचार करेंगे। मार्क्सवादी विचारक की दृष्टि में बिना मार्क्सवादी विचारधारा अपनाये साहित्यकार को उस 'सत्य' की प्राप्ति नहीं हो सकती जो उसके लिए आवश्यक है। + किन्तु सत्यजीवन को आँकने की क्षमता प्रगतिवाद में ही है, यह गर्वपूर्ण धारणा सर्वथा असत्य है, यह किसी को पता नहीं। 'काव्य की आत्मा ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त होती है, और यह ध्वनि प्रगतिवाद के किसी भी रूप में नहीं है, अत: जीवन का स्वाभाविक सत्य उसमें लाया नहीं जा सकता।' काव्य की आत्मा का जहाँ तक प्रश्न है वह किसी पुरानी मान्यता को नहीं मानता।

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा
रसतामेति रत्यादि स्थायीभावः सचेतसाम्॥'
—साहित्य दर्पण

इस मन्तव्य को प्रगतिवादी काव्यप्रणेता महत्व नहीं देता। प्राचीनता को अवगत या आत्मसात् कर रूढ़ि या परम्परा में सम्मिलित होने वाले मन्तव्य या सिद्धान्त उसे स्वीकृत नहीं। निस्सन्देह अभिनव का सिद्धान्त मनोविज्ञान सम्मत है और रसानुभूति का सर्वोत्तम मार्ग बनाता है। यही सर्वोत्तम समझा जाने वाला भारतीय मत है किन्तु प्रगतिवादी अभिनवगुप्त या आनन्दवर्द्धन को किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधि मान कर उनकी नीयत पर ही आलोचना की कैंची चला देगा ×। जो सर्वथा अनुचित बात होगी। ऐसी दशा में प्रगतिवादियों को कट्टरपन्थी न होकर विवेक से काम लेना चाहिये। यही कट्टरपन उसके साहित्य के अस्थायित्व के लिए उत्तरदायी है।

काव्य का कलापक्ष—शैली और छन्दों की दृष्टि से प्रगतिवाद के पक्ष और विपक्ष दोनों ओर बहुत कुछ कहा जा सकता है। जहाँ प्रगतिवाद ने हमें लोक साहित्य के रूप छन्द व शब्द के मनोरम दर्शन कराये, काव्य की धारा या कविता प्रवाह को मुक्त किया वहाँ 'लुचे टुचे, उल्लू के बचे पूँजीपति' जैसी पंक्तियों को कविता कह कर सम्मान दिया है अथवा प्रगतिवाद के नाम पर जो कुछ भी लिख डाला गया, वह सब प्रगतिवाद के तेजुल में घिर सा गया, चाहे वह कूड़ा करकट ही क्यों न हो।

उपसंहार—समाजवाद की स्थापना के लिए प्रगतिवाद के जहाँ उद्योग हैं वहाँ उसकी नेकनीयति की प्रशंसा करनी पड़ेगी। किन्तु एक मात्र समाजवाद की भावना के उद्घोष के लिए काव्य के रूपों, तत्वों की उपेक्षा करना उसे अपनी आत्मा से पृथक् करना है जो अनुचित है। प्रगतिवाद उदार दृष्टि से आज की माँग की पूर्ति करता है, यही उसकी शक्ति है, यही उसकी सार्थकता है।

× रांगेय राघव—प्रगति की खोज में।

* Rall fox—Novel and the people

\+ शिवदान—प्रगतिवाद की रूपरेखा।

× हजारीप्रसाद द्विवेदी—हमारी साहित्यिक समस्यायें

हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी का

प्रो० मोहनलाल एम० ए०, साहित्यरत्न

"I live not in myself but I become Portion of that around me." (Byron)

साहित्य की महाप्राण चेतना युग के आवेग और प्रभाव को अपनी गति में लय कर लेती है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्श संघात से राष्ट्र के जीवन में जिस आधुनिक चेतना का जागरण हुआ वह हिन्दी साहित्य के लिए एक नवीन युग का सूत्रपात था। चेतना के इस नवोदित स्पन्दन ने हमारे जीवन के गत्य युगीन नीति-मूल्यों को चुनौती दी जिसके फलस्वरूप साहित्य की रूढ़िगत रीति परम्पराएँ अपनी जड़ों में हिल उठीं। सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्रों में इस चेतना ने नवीन सुधारों के लिए बलवती आकांक्षा प्रकट की जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्म-समाज, आर्य समाज आदि सुधारवादी संस्थाओं की प्रतिष्ठा में हुई। राजनीतिक क्षेत्र में इसने राष्ट्रीय जागरण का नवोन्मेष पाया—काँग्रेस की स्थापना में इसी ने प्रथम बार आँखें खोलीं। साहित्य के क्षेत्र में युग की इन संघटनकारी शक्तियों का प्रभाव संसार एक महान् साधना के रूप में प्रकट हुआ। इस साधना की मूल प्रेरक चेतना अंग्रेजी साहित्य है—इन संघटनकारी शक्तियों के अन्तस् अथवा पार्श्वों को छूती हुई यह चेतना हमारे साहित्य में और उसके परिवेशों में लहरा उठी।

१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव संसार हिन्दी ग्रहण करने लगी थी। ४ मई १८०० को वेलेजली ने फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की थी। गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में कम्पनी सरकार ने सिविलियनों को हिन्दुस्तानी सिखाने के लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की। यद्यपि गिलक्राइस्ट की उर्दू फारसी समर्थन नीति के कारण हिन्दी को आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिल सका, किन्तु हिन्दी की गति उससे रुकी नहीं। उच्च शिक्षा के लिए जैसे जैसे नए कॉलेज खुलने लगे, हिन्दी शिक्षण की व्यवस्था होने लगी। इस प्रकार कालेजों और विश्व विद्यालयों में हिन्दी साहित्य अपने प्रगति पथ पर अग्रसर हुआ। इस सिलसिले में पाश्चात्य विद्वानों का भारतीय साहित्य का अनुशीलन भी प्रशंसनीय है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान इस देश के साहित्य और संस्कृति की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने साहित्य प्रेम ने उन्हें हिन्दी की ओर भी आकर्षित किया। पिनकाट, ग्रियर्सन, हार्नली, ग्रीव्ज, ग्राउस, थीम्स आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने हिन्दी में लिखा पढ़ा और हिन्दी सेवा के लिए लोगों को प्रेरणा दी। पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त मिशनरियों के धर्म प्रचार के कार्य ने भी परोक्ष रूप से हिन्दी के विकास में सहायता पहुँचाई। बाइबिल के अनुवाद के अतिरिक्त अनेक विषयों पर उन्होंने छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं। कम्पनी सरकार ने भी देश जनता में शिक्षा प्रचार के लिए Calcutta School Book Society (1817), Agra School Book Society (1833) आदि संस्थाओं की स्थापना की जिनकी अध्यक्षता में अँग्रेजी के साथ साथ देशी भाषाओं के अध्ययन की भी व्यवस्था हुई। इसी समय मुद्रण कला का प्रचार हुआ जिसने पत्रकार कला को प्रोत्साहन दिया। हिन्दी में सबसे पहले उदन्तमार्तण्ड (१८२६) का प्रकाशन हुआ। फिर तो कितने ही पत्र जैसे बंगदूत, प्रजा, मित्र, सुधाकर, हिन्दुस्तान, भारत मित्र, प्रदीप, भारतेन्दु आदि निकलने लगे। इन पत्रों से होता हुआ अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव हमारे साहित्य पर आया।

विकास की प्रथम अवस्था को पार करने के बाद अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने हिन्दी लेखकों को इस बात की प्रेरणा दी कि वे आँग्ल साहित्य के 'रत्न' को अपनी भाषा में प्रस्तुत करें। आरम्भ में यह प्रयत्न अनुवाद कार्य तक सीमित रहा। बाद में हिन्दी के गद्य जगत् में इसका विस्तार आया। श्रीधर पाठक गोल्डस्मिथ को हिन्दी जनता

जीवन में उग्र रूप धारण करने लगा, वैसे-वैसे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के सूत्र छिन्न लगे। पन्त के शब्दों में 'काव्य की स्वप्न जाग्रत आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई'। अतएव कविता को जड़ों की अपना पोषण सामग्री धारण करने के लिए उस कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ा।

काडवेल ने अपनी पुस्तक Illusion and Reality में काव्य के जो नवीन सिद्धान्त स्थिर किए, उन्हें हिन्दी कविता के एक नवीन वर्ग ने अपना लिया। संक्षेप में वे सिद्धान्त हैं—

१—काव्य का मूल आधार आर्थिक है। वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है।

२—काव्य 'सामूहिक भाव' (Collective Emotion) की व्यंजना है। सामूहिक भाव ही समाज को गतिशील रखते हैं।

३—काव्य समाज के विकास में योग देने वाला साधन है। वह श्रम के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देता है, और उसके श्रम को हल्का भी करता है।

इन सिद्धान्तों के ग्रहण कर लेने पर काव्य की प्रेरणा सोने और रूपे के लोक से पृथ्वी पर उतर आई। तदनुरूप काव्य विषय में भी परिवर्तन हुए। [illegible] की [illegible], नारी की मुक्ति, प्राचीन जड़ संस्कारों का विरोध, सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता, बौद्धिकता और व्यंग्य, स्वदेश-प्रेम और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना व्यक्त [illegible] हुए। पन्त, दिनकर, नरेन्द्र, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], केदारनाथ अग्रवाल, राम [illegible] शर्मा आदि कवियों की वाणी में इस नवीन धारा के स्वरों को सुना जा सकता है। पन्त और नरेन्द्र में [illegible] [illegible] है और उसका मूल कारण [illegible] अन्तर में बैठी हुई वह श्रद्धाभावना है जो भौतिक [illegible] [illegible] ऊपर [illegible] का पोषण पाती है। (अगले अङ्क में समाप्त)

(पृष्ठ २४ का शेषांश)

जगत् में परम प्रसिद्ध हैं। न्यायाधीश की भाँति आलोचना के आसन पर बैठ कर जब आप अपना विचारात्मक निर्णय देते हैं तो किसी के साथ कोई रू रियायत नहीं करते। आपके व्यङ्ग्य कहीं कहीं बहुत तीखे हो जाते हैं। रवीन्द्र, पन्त, प्रसाद आदि की भी भूलों और त्रुटियों को निकाल कर आपने साहित्य जगत की आँखों के सामने रख दिया है। आपके प्रगतिशील आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन 'संस्कृति और साहित्य' के नाम से प्रकाशित है, जिसमें हिन्दी के छायावादी और प्रगतिवादी युग का तथ्यपूर्ण विवेचन संस्कृति, सभ्यता, समाज और युग प्रवृत्ति को लेकर किया गया है।

डा० नगेन्द्र की आलोचना का आधार मनोविज्ञान है। उनके आलोचनात्मक निबन्ध हिन्दी की उच्च कोटि की मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदीजी 'साहित्य' और 'सञ्चारिणी' के उपरान्त 'सामयिकी' में बहुत कुछ चिन्तनशील बन कर आये हैं। दो तीन वादों को तुलनात्मक रूप में समझाना द्विवेदीजी अच्छी तरह जानते हैं।

श्री विश्वम्भर 'मानव' के आलोचनात्मक निबन्ध उनके गम्भीर अध्ययन के परिचायक हैं। पन्त, बच्चन, प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि पर उनकी आलोचनाएँ समय समय पर पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। उनकी 'खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ' तथा 'महादेवी की रहस्य साधना' पुस्तकों ने हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों का अच्छा पथ प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, राजेन्द्रसिंह गौड़, सुधीन्द्र, रामरतन भटनागर, धर्मवीर भारती, डा० देवराज आदि आलोचक हिन्दी की सेवा [illegible] रूप में कर रहे हैं। परन्तु लेख बढ़ जाने के कारण हम उनके विषय में यहाँ कुछ लिखने में असमर्थ हैं।

मिलती हैं जो कि एक प्रकार की आलोचना ही हैं।

यद्यपि तमिल साहित्य उन्नत दशा पर था फिर भी उसे विकासशील बनाये रखने के लिए और उसमें नवीन विषयों को भर कर उसे और समृद्ध करने के लिए नवीन ढंग की आलोचना की आवश्यकता बहुत पश्चात् प्रतीत हुई। प्राचीन काल में जब साहित्य पद्य के रूप में रचा गया था तब शब्दार्थ भावार्थ लिखना, छन्द रस अलङ्कार की चर्चा करना, अन्तर्कथाएँ बनाना और अन्यान्य विशेष और गूढ़ बातों पर प्रकाश डालना ही आलोचना का मुख्य रूप था। इस प्रकार के काम करने वालों में 'नक्कीरर', 'इलम्पूरणर', 'परिमेललगैर', 'पेराशिरियर', 'शेनावरैयर', 'नच्चिनार्क्किनियर' 'अडियार्कुनल्लार', 'कल्लाडर' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों की साहित्य सेवा तो उत्तम था। लेकिन जैसे ऊपर बताया गया था, इन लोगों ने केवल काव्य के बाह्य रूप पर विचार किया (जैसे छन्द, रस, अलङ्कार शब्दार्थ आदि) परन्तु काव्य के आन्तरिक पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयास नहीं किया।

वर्तमान काल में अंग्रेजी के प्रभाव से अनेक व्यक्तियों ने साहित्य का आलोचना की है। इन्होंने आलोचना को एक शास्त्र और कला माना है। प्रकृति निरीक्षण और स्वानुभव का निविड़ रूप ही साहित्य कहलाता है। जब इन अनुभवों को बड़ी चतुराई से शब्दों और वाक्यों द्वारा कवि प्रकट करता है तभी उसमें कला उत्पन्न होती है। सैद्धान्तिक रूप से उसका विश्लेषण करके पाठकों को आनंद प्राप्त कराना आलोचना का कर्म है। इस प्रकार की आलोचना शक्ति केवल मात्र अध्ययन से नहीं आता। उसके लिए आलोचकों में कल्पनाशक्ति और निर्णयशक्ति का होना आवश्यक है। तभी आलोचक यह जान सकता है कि काव्य की शैली कैसी है, कवि को कौनसी ऐसी प्रेरणा मिली जिस से उसने उसका निर्माण किया, कौनसे वातावरण में रह कर उसने वह रचना की, कवि ने अपने उद्देश्य का प्रतिपादन कैसे किया आदि आदि। तमिल के महाकाव्य 'कम्बरामायणम्', 'शिलप्पतिकारम्', 'जीवकचिन्तामणि' आदि के लिए यद्यपि विस्तृत आलोचना नहीं लिखी गयी है फिर भी दो तीन विद्वानों ने इस दिशा में प्रशंसनीय काम किया है।

तमिल साहित्य का दुर्भाग्य है कि कई कवियों के नाम और ग्रन्थों को छोड़कर अन्य कोई विवरण (कवि का समय, जीवन चरित वातावरण सम्बन्धी वर्णन) नहीं प्राप्त होते जिनकी सहायता से आलोचना की जा सके। भिन्न भिन्न कालों में रहने वाले को समकालीन प्रमाणित करने का विचित्र और व्यर्थ प्रयत्न भी हुआ है। साहित्य के क्रमिक, सही, और पूर्ण विकास के बारे में जानने के लिए कोई साधन नहीं मिल रहा है। जब कुछ इतिहासकारों ने शासकों के सम्बन्ध में जानने के लिए शिलालेखों और ग्रन्थों की सहायता ली तब अनेक विवरण प्राप्त हुए। इस प्रकार के अनुसन्धान करने वालों ने जो लेख लिखे वे 'चनमिल' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए। इनमें से अधिकतर लेख अंग्रेजी में लिखे गये। इसके पश्चात् भी अनेकों विद्वानों ने जो अंग्रेजी और तमिल पर समान रूप से अधिकार रखते थे, अंग्रेजी में ही आलोचना लिखते थे। अंग्रेजी में आलोचना लिखने के तीन कारण बताये जाते हैं। एक तो अंग्रेजी जानते हुए लोग भी सरलता से समझ सकते थे, दूसरा पाश्चात्य ढंग से अंग्रेजी में आलोचना लिखना तमिल में लिखने की अपेक्षा सरल समझा जाता था और तीसरा उन आलोचनाओं को व्यापक क्षेत्र देना श्रेयस्कर समझा जाता था।

अंग्रेजी के आलोचना ग्रन्थों में स्वर्गीय व० वे० सुब्रमण्य अय्यर का 'रामायण पर आलोचना' सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने रामायण के पात्रों के चरित्रों की विवेचना बड़े ही सुन्दर ढंग से की है। साथ ही रामायण के कई अच्छे पदों का अनुवाद भी अंग्रेजी में किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने तमिल में भी रामायणम् पर आलोचना लिखा है। इसमें लेखक ने कम्बन की तुलना वाल्मीकि, होमर, शेक्सपियर, आदि से की है और यह सिद्ध किया है कि कम्बन कई अंशों में इन से श्रेष्ठ है।

गत शताब्दी में तिरुवावडुदुरै मठ के विद्वान सभापति नावलर ने "द्राविड़ प्रकाशिकै" नामक आलोचना ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें तमिल के सभी मुख्य ग्रन्थों की आलोचना की गयी है। धार्मिक विचार वाले होने के कारण इनकी आलोचना निष्पक्ष और सर्वमान्य नहीं हो सकी। फिर भी इस ग्रन्थ में लेखक की प्रतिभा और आलोचना

शक्ति स्पष्ट प्रकट होती है। साहित्य, भाषा, व्याकरण आदि के मूल सिद्धांतों के सम्बन्ध में अपने विचार बड़ी दृढ़ता से प्रकट करते हैं और विरोधियों के वादों का खण्डन बड़ी चतुराई से करते हैं।

परम्परागत विल्व या तिरुक्कुरल (तमिलवेद) पर आलोचनात्मक लेख बी० के० सूर्यनारायण शास्त्री का "तमिल मोली वरलार" उत्कृष्ट ग्रंथ कम महत्वपूर्ण नहीं है। श्री के शरवणराय मुदलियार ने तमिल साहित्य के बारे में जो आलोचनात्मक लेख लिखा है उससे तमिल साहित्य के बारे में जानने के लिए बड़ा सहायता मिलती है। इन्होंने 'कम्बटार' नामक पुस्तक में रामायण के बारे में जो विचार प्रकट किये हैं वे ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं—"कल्पना शक्ति और वर्णन पटुता में कंबन मिल्टन से कम नहीं हैं। यूरोप के आदि कवि होमर और इंग्लैंड के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के समकक्ष कंबन को मान सकते हैं।"

स्वामी कल्याणसुन्दर वर्तमान नवीन ढङ्ग से आलोचना करने में चतुर थे। रामस्वामी पुलवर, सभापति मुदलियार आदि प्राचीन ढङ्ग के आलोचक थे। वर्तमान काल में सङ्घ कालीन ग्रन्थों के नये संस्करण निकालने के साथ साथ अनुसंधानपूर्ण आलोचना करने में महामहोपाध्याय डॉ० स्वामीनाथय्यर का स्थान अग्रगण्य है। पोलकरनम पिल्ले, का 'रामायण का आलोचना', मद्रास विश्वविद्यालय के रा० प० सेतु पिल्ले का रामायण पर लेख, अण्णामलै विश्वविद्यालय के भूतपूर्व तमिल आचार्य स्वामीविपुलानन्द का 'मुल्लैपाट्टु आराच्ची' आदि वर्तमान काल के सुन्दर आलोचना ग्रंथ हैं।

आलोचना के साथ साथ अनेकों विद्वानों ने साहित्य सम्बन्धी अनुसंधान का काम भी किया है। श्रीधार वेलु मुदलियार के अनुसंधान के परिणाम स्वरूप 'अभिदान चिन्तामणी' नामक कोष और अनवरद विनायकम पिल्ले के प्रयत्न के फलस्वरूप एक शब्द कोष प्रकाशित हुआ था। अन्य अनेकों विद्वानों ने शब्दों की व्युत्पत्ति सम्बन्धी खोज भी की है। क० प० सन्तोषम् ने तमिल सभ्यता के बारे में और राव साहब सुब्रह्मण्य मुदलियार ने कंब रामायण के आधार पर दक्षिणी जातियों के बारे में सुन्दर ग्रंथ लिखे हैं।

गत दो चार दशाब्दियों से पाश्चात्य ढङ्ग पर अनेकों विद्वान आलोचना कर रहे हैं। आलोचना प्रधान कई पत्रिकाएँ समीप काल में प्रकाशित की गयी हैं। इन पत्रिकाओं में कई विद्वान समय समय पर और कुछ लगातार प्राचीन और नवीन ग्रन्थों पर आलोचनात्मक लिखते आ रहे हैं। कंब रामायण के आलोचकों में पि० श्री० आचार्य और टि० के० चिदंबर नाथ मुदलियार, के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य श्रीनिवासराघवन एम० ए० "चिन्तने" नामक अपनी आलोचना प्रधान पत्रिका में कई आलोचनात्मक लेख प्रकाशित करते थे। स्वयं ग्रन्थों की आलोचना लिखने के साथ साथ आलोचना शास्त्र पर भी प्रकाश डालते थे।

आजकल कुछ मासिक और साप्ताहिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं जिनमें राजनैतिक विषय, कहानी, धारावाहिक उपन्यास के अतिरिक्त आलोचनात्मक लेख भी निकलते हैं। 'कलैमगल', 'अमुदसुरभी' 'हनुमान' 'आनन्दविकटन', 'तमिल पोलिल', 'चेन्तमिल चल्वी', 'शक्तिदुरुव' आदि पत्रिकाओं की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं।

विचार विमर्श

प्रिय माचवेजी,

मैं आपसे बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार करना चाह रहा था पर कई कारणों से अब तक नहीं कर सका था। एक तो पता नहीं मालूम था दूसरे उत्तर न मिलने की आशङ्का। लेकिन जब पूज्य श्रीनिवासजी के द्वारा मुझे प्रमाणपत्र मिल गया है तब आशङ्का का स्थान आश्वासन ने ले लिया है।

इधर आपके यहाँ पत्र लिखने की विशेष उत्सुकता का कारण है 'साहित्य सन्देश' में प्रकाशित 'आलोचना रचनात्मक हो' शीर्षक आपका निबन्ध। यहाँ इस निबन्ध के वक्तव्य को मैं कुछ विस्तार से चाहता हूँ। आपने साहित्य के जिस 'शून्यकार' की ओर सङ्केत किया है वह हिन्दी साहित्य मे ही नहीं बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य और मात्राभेद से विदेशी साहित्य मे भी है ही। युग को 'ह्रासोन्मुख' कहकर आपने इसके कारणों की ओर संकेत भी किया है।

यों तो साहित्य का स्तर सामान्य रूप से ही निम्न होता जा रहा है (यहाँ विकासक्रम का नियम शायद रास्ता भूल गया है) पर उसमें आलोचना का स्थान प्रथम है। मेरे विचार से इसके दो कारण हैं।—(१) आलोचना के स्वरूप और कार्य में पिछली शताब्दी से बहुत बड़ा परिवर्तन और साहित्य क्षेत्र के विस्तार के कारण आलोचक की बढ़ती जाने वाली कठिनाई। यद्यपि आरम्भ से ही आलोचक मे बहुश्रुतता की अपेक्षा की जाती रही है परन्तु जब इधर कलाकारों ने भी इस पर धावा बोल दिया है तब से आलोचक की बहुश्रुतता की गठरी में वृद्धि की अपेक्षा स्वाभाविक ही है। समय के साथ साहित्य के परिमाण मे तो वृद्धि होती ही गई है साहित्य-क्षेत्र का भी विस्तार हुआ है। साहित्य के क्षेत्र का विस्तार दो दृष्टियों से हुआ है, काल और देश की सीमा भी टूटी है और अनुभूति के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ है। मम्मट और विश्वनाथ जैसे आलोचकों के सामने जहाँ वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति ही थे वहाँ आज के आलोचकों के सामने ज्ञात रूप में अन्य देश एवं अन्य भाषाओं की साहित्य की परम्परा भी रहती ही है। मनुष्य की चेतना में चाहे देश और काल अपनी सीमा को छोड़कर न समा सके हों लेकिन उसकी बुद्धि के सामने तो यह यथार्थ है ही।

(२) इन सारी चीजों के बावजूद यदि साहित्य के क्षेत्र में गत्यावरोध है तो इसका कारण जीवन में ढूँढ़ना होगा। मुझे तो लगता है कि जीवन भी आज ठप सा है। मनुष्य आज अपने इतिहास के किसी भी काल से अधिक निराश है, सारा उच्छृङ्खलता और हो-हल्ला वह निराशा-जन्य उन्मत्तता में ही कर रहा है। ज्ञान विज्ञान की उन्नति तो उसने की बहुत पर मैं सार की अपनी चेतना के विकास में उपयोग नहीं कर सका हूँ। इसलिए आज मनुष्य अपने से असन्तुष्ट है, इस सीमा तक कि अपने ऊपर ही खीझ उठा है। अपने ही जाल में आज वह उलझ गया है। आज की दुनिया की राजनीति आतङ्कवाद की है, हत्या की है जो स्वयं से निराशा का परिणाम है। आज का मनुष्य देवता की पूजा करेगा पर मनुष्य को प्यार नहीं करेगा। यही आज की सबसे बड़ी समस्या है, विचारकों के सामने भी, साहित्यिकों के सामने भी, वैज्ञानिकों के सामने भी। मनुष्य का जो कृति हमें अपने को समझने में सहायता नहीं करता उसका भी कोई मूल्य है? और जो आत्मविस्मरण की ओर ले जाती है वह तो आत्महत्या के प्रयत्न के समान है। लेकिन आज का साहित्य तो काया में उलझ गया है। विधान और टेक्नीक की बात आन्तरिक दिवालियेपन का सूचक है। साहित्यकार शब्दों का जाल रचकर किधर जायगा? वह तो कुछ कहने के लिए? कलम उठाता है न? जब कुछ कहना ही नहीं है तब कथन की कला तो चमत्कार और नित नूतनता की ओर ही लेजायगी जो सदा से द्वितीय श्रेणी की चीज हुई है।

वर्तमान स्थिति व्यक्ति मे विस्तार की माँग करती है। वह अधिक मे अधिक को स्थान दे और अधिक से अधिक मे स्थान पा सके। दोनों चीजें साथ साथ चलनी चाहिए

नहीं तो विकास विकलांग रह जायगा। पर बात उल्टी हो रही है। व्यक्ति सिकुड़ता जा रहा है, सिमटता जा रहा है। व्यक्ति के 'अहम्' का खोखलापन तो उसके ढिंढोरे से ही स्पष्ट है।

बात यह है कि अद्वैत के आधार को स्वीकार कर मनुष्य का जीवन चल ही नहीं सकता। बौद्धिक दृष्टि से वर्ण और वर्ग की बात को न मानते हुए भी विकास के स्तर की भिन्नता को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। मुझे भय है कि संसार के सभी विचारकों ने (जिन्हें मैं जानता हूँ) वेदान्ती अद्वैत की बात न करते हुए भी अपने विचारों के अद्वैत की सत्ता पर लादने का व्यर्थ दम्भ किया है। जब तक विकास के स्तर की यह भिन्नता एवं भिन्नता को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों (परम्परा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक बौद्धिक आदि) की भिन्नता रहेगी तब तक तो यह सम्भव नहीं है। फिर, साम्यावस्था में तो सृष्टि का लय हो हो जायगा, वह तो विकास का चरम बिन्दु ही है, लेकिन यह तो कल्पना की सीमा जहाँ तक जा सकती है वहाँ की बात हुई, अभी की घोर विरोध एवं वैषम्यमूलक स्थिति में तो ऐक्य स्थापन के लिए कुछ करना ही है। मेरे विचार से भौतिक विकास की सब को समान और अधिक से अधिक सुविधाएँ देना इस दिशा में पहला कदम है। पर यदि हम भौतिक समता पर ही रुक गए तो जीवन में जड़ता आ जायगी। इसलिए दूसरा [illegible] मानसिक विकास की दृष्टि से जिस हद तक हो उस हद तक बौद्धिक विकास की समानता के लिए प्रयत्न करना।

आज साहित्य में प्रेरणा का अभाव है क्योंकि साधकों की कमी है। इसलिए मेरा विश्वास है कि जब जीवन रचनात्मक होगा तभी उससे प्रेरित साहित्य उच्चकोटि का होगा और तभी आलोचना भी रचनात्मक हो सकेगी।

एक ओर की स्थिति जहाँ यह है वहाँ दूसरी ओर भूखे इसलिए हतप्रभ (उपनिषद् में आया है—'अन्नम् ब्रह्म') भारत की हकाई हिन्दी के आलोचक। अधिकांश ने तो परीक्षोपयोगी सस्ता संस्करण निकालने का ही जिम्मा लिया है। 'असूर्यंपश्य' के वंशधर साधना की छाया से भागते हैं, सरस्वती के पुत्र लक्ष्मी के तलवे सहलाते हैं। जीना आज कितना कठिन हो गया है! उस पर मनुष्य बनकर !!

साहित्य को मैं इसी पृष्ठभूमि पर स्वीकार करता हूँ—मानव के विकास के साधन के रूप में। अन्य मानव प्रयत्नों को स्वीकार करने की मेरी कसौटी भी यही है। आपने जिस 'बढ़ती संकीर्णता' का उल्लेख किया है मैं भी उससे बहुत परेशान हूँ। परन्तु 'उदार दृष्टि' के लिए आवश्यक दृढ़ आधार कैसे पाऊँ यह तो आप जैसे उदार ही बतला सकते हैं। उदारता के साथ ही उसकी रक्षा के निमित्त आवश्यक दृढ़ता तो चाहिए ही। साधना के लिए प्रेरणा और मार्ग-दर्शन मुझे प्रवचन कर्ताओं से नहीं आप जैसों से ही मिलता है।

मेरा अध्ययन तो नहीं के बराबर है। अभी एम० ए० (हिन्दी) का विद्यार्थी हूँ। भाषा के नाम पर हिन्दी और अंग्रेजी के सिवा कुछ नहीं जानता। दोनों भाषाओं के साहित्य का भी बहुत थोड़ा अध्ययन है। फिर भी साहित्य और समाज को इस स्थिति से ऊपर उठाने की इच्छा है। वैसे आवश्यक शक्ति के लिए मार्ग दर्शन पा साधना करने के लिए तैयार हूँ। प्रेम तो बहुत सी चीजों से है—साहित्य, दर्शन, समाज शास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान। पर कहीं बड़ा पढ़ूँ नहीं मानता। मनुष्य को समझना चाहता हूँ। बगैर पढ़े समझ सकूँ तो पढ़ने की कोई जरूरत नहीं समझता। साहित्य और जीवन के आधार पर निखरना निखारना चाहता हूँ। काम की कठिनाई से परिचित हूँ। पर मन नहीं मानता। शरीर तो एक रोज छूटने ही वाला है लेकिन सेवा में ही छूटे यही चाहता हूँ। 'कथनी' को 'करनी' में बदलने के लिए ऊपर से प्रेरणा और सहायता मिले स्वीकार्य है।

—सिद्धेश्वरप्रसाद

प्रिय सत्येन्द्रजी,

'साहित्य-सन्देश' में 'आलोचना रचनात्मक हो' विषय पर मैंने एक पत्र लिखा था। उसे पढ़कर कई दिनों पूर्व पटना के एक साहित्य चिन्ताशील विद्यार्थी श्री सिद्धेश्वर प्रसाद ने एक पत्र मुझे लिख भेजा था, जो अपने आपमें

साहित्य के वर्तमान गतिरोध का प्रश्न सामने आता है।

सिद्धेश्वरजी के पत्र में मूलतः तीन प्रश्न उठाये गये हैं।

१—आलोचक का काम गत शती की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक कठिन हो गया है। चूँकि ज्ञान विज्ञान के क्षितिज और भी बढ़ते जा रहे हैं। मनुष्य की बुद्धि जिसकी आलोचना अतिक्रान्त है—देश काल परिस्थिति के यथार्थ से नितान्त वंचित और विभ्रमित है। अतः

२—साहित्य और आलोचना में जो गत्यावरोध सा जान पड़ता है, उसका कारण यह है कि मनुष्य का जीवन भी आज कुण्ठित सा है। आज का मनुष्य निराश और अपने आप से असन्तुष्ट है। अतः

३—आज के साहित्य में काया का, टेकनीक का (शायद 'उद्योग' का भी) ध्यान बढ़ गया है। परिणाम निरा 'वर्ण चमत्कार' है, (यह शब्द निराला के एक गीत से लिया है) या 'विस्तार को विस्तार दिया चाहता हूँ मैं' (यह पंक्ति भी निरालाजी की ही है)

इसके आगे चलकर सिद्धेश्वरजी अपने पत्र में अद्वैत और द्वैत की मौलिक समस्या को छूते हैं। और चेतना के विभिन्न स्तरों के यथार्थ की ओर मेरा ध्यान खींचते हैं। चेतना के विभिन्न स्तरों के एकीकरण का एक मार्ग तो अरविन्द घोष ने अपने दर्शन में सुझाया ही है, जिसमें उत्तरोत्तर अतिमानस की ओर बढ़ा जा सकता है। दूसरा छोर जीवन की भौतिक और जड़ स्थितियों को सुधारने का है, जिस पर मार्क्सीय चिन्ता प्रभावित विचारकों का विशेष आग्रह है। परन्तु सिद्धेश्वरजी दोनों मार्गों के खतरों से शायद वाकिफ हैं पहले मार्ग में ऐकान्तिक व्यक्तिवाद। हमारे प्राचीन योगियों की भाँति मनुष्य को केवल 'अनुभूतिरुपासते' (श्वेताश्वतरोपनिषद् का शब्द) के अन्धतम गर्त में धकेल देगा। (चाहे अरविन्दवादी उसे अन्धतम न मान कर प्रकाश पुञ्ज मान बैठें) दूसरी ओर मार्क्सीय चिंता के पूर्वग्रह समाज शास्त्र की एकस्वरता और एक ही डंडे से सबको हाँकने की प्रवृत्ति के उदाहरण साहित्य में संयुक्त मोर्चा और प्रगतिवाद पर रामविलास शिवदानसिंह विवाद पर अमृतराय की पुस्तक और हाल की 'नई चेतना' में नामवरसिंह के लेख पर्याप्त हैं। राहुल और रांगेय राघव के उसी 'नई चेतना' में के लेख मेरी बात की पुष्टि करेंगे।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का कण्ठावरोध साम्यवाद में होगा ऐसा कई सांस्कृतिक नेताओं और चिन्तकों का एक ओर नारा है, तो दूसरी ओर कोरा अध्यात्मवादी आदर्शवाद हमें अधिकाधिक असामाजिक बना देता है और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर हम अबाध भोग स्वातन्त्र्य की गुप्त लालसाओं और एषणाओं की ही स्वप्न-परिपूर्ति तो नहीं करते, यह बात भी कही जाती है।

दर्शन और मनोविज्ञान के क्षेत्र में नये-नये विचार सामने आ रहे हैं। नव्य मानवतावाद, तार्किक विधायकवाद, अस्तित्ववाद और मनोविज्ञान में गेस्टाल्ट जैसे स्कूल—यह कुछ थोड़े से नाम हैं। मैं यह नहीं कहता कि आलोचक को इन सबसे परिचित हो लेना अच्छा आलोचक बनने की पहली शर्त है, परन्तु यदि मम्मट, रुद्रट, जगन्नाथ, अभिनवगुप्त का बारीक ज्ञान उसके लिए जरूरी है तो विश्व पीड़ा ('वेल्टान्शाउङ्ग' जिसे जर्मन भाषा में कहते हैं) की धाराओं से अपरिचित रहना अथवा बहुत बचकाना ज्ञान उनके विषय में रखना बेहद नाकाफी है। मुझे ऐसे आलोचक हिन्दी में मालूम हैं जिन्हें मनोविज्ञान का ज्ञान मायड के पॉकेट बुक सीरीज के 'लेक्चर्स ऑन साइकोएनालिसिस' पढ़कर मिला है और मार्क्स का ज्ञान कोई सस्ती सी समाजवाद के सिद्धान्तों पर पुस्तक पढ़ कर। यह मैं समझ सकता हूँ कि आलोचक होने से एक आदमी कोई 'एनसाइक्लोपीडिया' नहीं होता, उसे सब नये से नये 'वाद', विचारधाराओं या ज्ञान विज्ञान की सब बातों का पता हो। हाँ चाहिए यह था नहीं, बल्कि साहित्य को प्रभावित करने वाले 'दर्शन' और 'राजनीति' अपने आप में विशेषीकृत विज्ञान (स्पेशलाइज्ड साइन्स) हैं। होंय तब साहित्य क्यों न हो? और 'साहित्य' निरी भावुकता नहीं है। 'वाह वाह' क्या अच्छी प्रेम की कविता कही है!' 'क्या खूब, शब्दों का कैसा चमत्कार है!' आदि बातें सामन्त युग में हुआ करती थीं—आजकल इस प्रकार के रस प्रसंग को हम अधिक से अधिक बचकाना कह सकते हैं। मेरा मानना है कि साहित्य सिरजनेवाला और उसका 'भावक' और विश्लेषक) आलो-

चक) वह सब निरे बच्चे नहीं हैं। वे परिपक्व शरीर और मन के मानव हैं। अतः उनमें निरन्तर वर्धिष्णु विकास है। साहित्य-कर्म को वे जीवन से असंपृक्त केवल मदारी करना या 'खेल-गाजिरा' करना नहीं समझते। साहित्य या कला केवल 'विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे' नहीं है। अतः यदि साहित्य-सृजन और उसका मूल्याङ्कन सचेतन मानव की सचेतन, समूचे व्यक्तित्व से उद्‌भूत प्रक्रिया है तो, साहित्यिक या आलोचक का काम निरा जीवन के यथार्थ का (सामाजिक यथार्थ का भी) अन्धानुगमन करना नहीं, निरा कैमरे के लेन्स की भाँति प्रतिबिम्बित करना ही नहीं—बल्कि व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर नया प्रकाश डालना, उसके स्वप्न और भविष्यत् का भी संकेत देना, अन्दाज बाँधना—और इस तरह से अपरोक्ष रूप से समाज का दिशा-दर्शन कराना भी है। लेखक समाज का दास ही नहीं है। उसका स्वामी भी है। यानी वह उसमें से एक होकर भी उसमें ऊपर है, आगे है। तभी उसका लेखकत्व सार्थक है। अन्यथा, वह निरा समाज का मनोरञ्जन करने वाला विट-चेट, या उसे रिझाने वाला या उसके उपयोग पर जीनेवाला व्यावसायिक—व्यापारी या ऐसा ही अन्य साधारण मनुष्य है।

यह लेखक की अपनी विशेषता-विचित्रता है। यही उसका शाप और वरदान है। अतः आलोचक का कार्य और भी जिम्मेदारी से भरा, कठिन और स्थायी महत्व का हो जाता है। आज से सौ वर्ष बाद जब आज की हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और ग्रन्थादि लोग पढ़ेंगे तब वे कहेंगे कि भारत में हिन्दी भाषा के आलोचकों ने, जब हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो गयी थी—अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया। आलोचना कर्म में निहित निर्ममता और निर्मोहीपन को नहीं निभाया। उन्होंने गलत घोड़ों को आगे किया। वे अगर दस फुट कर बाद में लँगड़ाने लगे तो उन घोड़ों का दोष क्या ? उन्हें इन्जैक्शन और बेतर की कोंचें में रिसने पड़ेंगे !

आज तो कुछ 'परस्पर प्रशंसन' का व्यापार गर्म-सा है। उदाहरण के लिए एक कहानी गिनिए—मान लीजिए कि 'अ' लेखक है। 'ब' आलोचक है। 'स' प्रकाशक है या टैक्स्ट बुक कमेटियों से सम्बन्धित व्यक्ति है। अब तीनों ही एक घटिया कृति के, हलके मत के 'ड' जैसे 'टाउट' (जो लेखक को कुछ पैसे देकर और प्रकाशक से रिश्वत दिलाकर पुस्तक कोर्स कराने में सफल हो जाता है) या नीम साहित्यिक के दास हैं, या कहीं-कहीं आलोचक स्वयम् वह 'टाउट' है। सब मिलकर सङ्गठित रूप से एक किसी लेखक या पुस्तक की स्तुति वे सब इस स्वर में शुरू कर देते हैं—जैसे सियारों में होता है, एक के स्वर में अन्य स्वर पकड़ लेते हैं। या सब सङ्गठित रूप से किसी लेखक या कृति की उपेक्षा, अनुल्लेख या विरोध पर कमर कस लेते हैं। हिन्दी में दोनों प्रवृत्तियों के उदाहरण मिलते हैं। जब तक निन्दा-स्तुति के इस सामूहिक प्रयोग की बाढ़ में आलोचक के स्वच्छन्द शामिल होने की स्थिति से उबार नहीं है तब तक हिन्दी आलोचना में 'गुरुवाद' ही होगा।

पत्र लम्बा हो चला है। इसलिए और बातें लिखने से बचूँगा। हिन्दी आलोचना क्षेत्र में विचार मन्थन पर्याप्त मात्रा में चल रहा है। और मैं उसके भविष्य के विषय में निराश नहीं हूँ। आज का जीवन खण्डित है, व्यक्ति असंतुष्ट और द्विधा व्यक्तित्व का बन गया है, समाज जर्जर है। इस सबका प्रतिफलन साहित्य में भी अवश्य हो रहा है होगा ही। परन्तु क्या हिन्दी आलोचक यह सब जानता है ? या जान बूझ कर इसकी ओर उपेक्षा करके अपनी रस की सविकल्प समाधि वाली स्वप्निल निराली दुनियाँ में अफीमचियों की तरह मात्र निद्रित रहना चाहता है ? और 'रस' का नशा न हो तो पृष्ठ समाजशास्त्रीयता की दूसरी पीनक है ही। मेरा दिन व दिन विश्वास बढ़ता जा रहा है कि हिन्दी आलोचना का सबसे बड़ा नुकसान इस प्रकार के कठमुल्ला आलोचक ही कर रहे हैं। मैं अपने दिमाग की खिड़कियाँ खुली रखना चाहता हूँ। अतः सिद्ध करना की समस्या जो कि युग की समस्या है मेरी भी समस्या है। उससे सहज निस्तार नहीं है कि यह या वह 'वाद' कुमार कर मैं न्हो चलूँ।

आपका—

प्रभाकर माचवे

आलोचना

संस्कृति-सङ्गम—लेखक-आचार्य क्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या १६१, मूल्य ७॥)

आचार्य महोदय के संस्कृति विषयक १८ निबन्धों का सङ्कलन प्रस्तुत पुस्तक में है। आचार्य सेन की प्रतिपादन-शैली बड़ी सरल एवं मनोरम है। उनकी दृष्टि में सङ्कीर्णता कहीं नहीं दिखाई पड़ती, कट्टरता और पूर्वग्रह के अभाव का विवेचन की वैज्ञानिकता को रूप देने में सहायक हुआ है और फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि आचार्य सेन स्वयं अपने विवेच्य विषयों के साथ एकाकार हो गये हैं। 'भारत में नाना संस्कृतियों का सङ्गम' ऐसा निबन्ध है जिसे पढ़कर नेत्रोन्मीलन हुए बिना नहीं रहता। लेखक ने इस निबन्ध में बतलाया है कि देवपूजा और तन्त्रमत वैदिक मत के पास बाहर से आकर खड़े हुए हैं। नदियों और वृक्षों की पूजा, तीर्थों की प्रतिष्ठा, ग्राम देवताओं की पूजा यहाँ तक कि भक्ति भी अवैदिक है। बहुत से लोगों की धारणा है कि 'पूजा' नामक क्रिया भी वेद बाह्य है। इस निबन्ध में संस्कृत के पण्डितों के लिए भी ऊहापोह की बहुत बड़ी सामग्री उपलब्ध है।

'मध्य युग के सन्तों की सहज साधना', 'सहज और शून्य' तथा 'सन्त साहित्य' जैसे निबन्ध सभी के द्वारा रुचिपूर्वक पढ़े जायेंगे। आचार्यजी की अन्य पुस्तकों की भी हिन्दी-संसार उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा करेगा।

साहित्य-समीक्षा—ले०-प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रकाशक—श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, नया टोला, पटना। पृष्ठ सं० २३५, मूल्य ७॥)

प्रस्तुत पुस्तक में समय-समय पर लिखे हुए लेखक के आठ निबन्धों का सङ्कलन है। 'आलोचना के नाम पर' शीर्षक अपने निबन्ध में लेखक ने अनेक प्रकार के तथा-कथित आलोचकों को आड़े हाथों लिया है। छायावाद पर बाह्य प्रभाव दिखलाते हुये आपने उन आलोचकों के मत का सफलतापूर्वक खंडन किया है जो छायावाद के अवसाद या नैराश्य का समाधान असहयोग आन्दोलन की विफलता से करना चाहते हैं। 'भाषा का प्रश्न' अब कुछ असामयिक सा हो गया है। 'भ्रमरगीत की परम्परा' एक अच्छा निबन्ध है किन्तु यदि इसमें 'द्वापर' आदि के भ्रमरगीतों की भी विवेचना का समावेश कर दिया जाता तो यह अधूरा न लगता। 'रहस्यवाद की रहस्यवादिता' तथा 'रस सिद्ध कलाधर घनानन्द' भी पठनीय निबन्ध हैं। प्रस्तुत पुस्तक में 'वज्रयान' निबन्ध खोजपूर्ण होते हुये भी कुछ अटपटा सा लगता है। यद्यपि उत्तरवर्ती निर्गुण विचारधारा के मूल रूप की गवेषणा के लिए लेखक ने उसकी सार्थकता सिद्ध करना चाहा है।

नूरजहाँ की टीका—टीकाकार-श्री रामखेलावन चौधरी, सम्पादक-श्री तेजनारायण टंडन, प्रकाशक-विद्या-मन्दिर, लखनऊ। पृष्ठ १५४, मूल्य २)

यह है। इसमें मध्यवर्गीय परिवार की बिगड़ती हुई स्थिति का चित्रण है। राघवश और चक्रवर्ती वश के माध्यम द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ है। गांव की जनता का सुधार नारे लगाने से नहीं, ठोस शिक्षा तथा अन्तश्चेतना प्राप्त करने से ही होगा अन्यथा छोटी-छोटी बातों के लिए लड़ते झगड़ने से अपना जीवन नष्ट कर देंगे। लेखक 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का पोषक नहीं सामाजिक प्रेरणा के साथ कला—यही उनका मान्य सिद्धान्त है। इस उपन्यास के पात्र में 'वैचित्र्य और कौतूहल' ही नहीं, जीवन का सजीव स्पन्दन है। उपन्यास संग्रहणीय है।

—प्रो० नागरमल सहल, एम० ए०

कहानी

विधाता की भूल—लेखक—श्री पन्नालाल शर्मा एम० ए०, प्रकाशक—भारतीय कला मन्दिर, १६ अपर चितपुर रोड, कलकत्ता। पृ० सं० १३५, मूल्य ३)

'विधाता की भूल' में लेखक की ३२ कहानियाँ और रेखा-भाव चित्र हैं। मर्म की वेदना जब जगती है तब वेदना की रग रग में मादक भावना की उर्मियाँ उद्वेलित होने लगती हैं। यह समग्र इन्हीं उर्मियों को बाँधने का प्रयत्न है और उर्मियों की तरलता ही इन भाव चित्रों का प्राण है। इनमें से कुछ चित्र तो नरगिस, सितारा, चन्दा, बुहू बुहू आदि प्रकृति के सौन्दर्य से सम्बद्ध हैं और कुछ मैक्स और आधुनिक जीवन पर व्यंग्य। कुछ व्यंग्य चित्र काफी तीखे हैं, किन्तु अधिकांश चित्रों का व्यंग्य शब्दों की सँवारन और रेखाओं की बनावट में खो गया है। मन से जो टीस उठती है उसकी अभिव्यक्ति सहज होती है, यहाँ वह साहित्यिक फैशन हो गई है। इसी प्रकार जब भाव-चित्र बनते हैं तो कल्पना के उन्मुक्त उड़ान के लिए पूरा अवकाश रहता है, और एक ही भाव चित्र में कई भाव स्तर हो सकते हैं। इन भाव स्तरों में एक आन्तरिक तारतम्य होता है। लेखक इस तारतम्य को कहीं कहीं साध नहीं पाया है। 'विधाता की भूल' भाव चित्र में यही आन्तरिक असंगति है। राजघाट की अमर समाधि के निकट जो आवाज उठती है वह इस भाव चित्र के साथ मेल नहीं खाती। इस त्रुटि का कारण अनुभूतियों में गहराई का अभाव है। ये चित्र शायद लेखक की पुरानी रचनाएँ हैं किन्तु इनमें जो आग्रह है वह हृदय को निश्चय ही अभिभूत कर देने वाला है। उसे यदि साधा गया तो लेखक में भाव चित्रों के स्रष्टा का सुन्दर भविष्य छिपा हुआ है।

सितार के तार—ले०—श्री प्रताप गुप्त, प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, मद्रास। पृ० १६७ मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की ८ कहानियों का संग्रह है। समाज के विभिन्न पहलुओं का इन कहानियों में अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। जरा जीर्ण रूढ़ियों और परम्पराओं से सामाजिक जीवन में जो घुटन पैदा हो गई है और झूठी प्रतिष्ठा के लिए जिस दम्भ को व्यक्ति अपने जीवन का अंग बनाये रखता है उसके खोखलेपन को लेखक ने इन कहानियों में व्यक्त किया है। 'सितार के तार' ने प्रतापपुर के घराने के नष्ट हो जाने का बड़ा कारण है और इसी के लिए 'राख' में गोपी को स्वाहा हो जाना पड़ता है। साधु का 'महादान' वणिक की स्वार्थपरता पर तीव्र व्यंग्य है, 'अमर बेलि' में मुई की मजदूरिन की दर्द कहानी और 'बाँया' में वैवाहिक जीवन की विडंबना।

लेखक के पास अनुभूति है और विचारों की सजगता भी। सबसे ऊपर उसमें कहानी-लेखक की सहृदयता है। इसलिए उसके ये चित्र सुन्दर और मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं।

रेखाएँ—ले०—मदनगोपाल, प्रकाशक—स्वस्तिक प्रकाशन, मोती पार्क, भोपाल। पृ० सं० ११६, मूल्य २)

'रेखाएँ' लेखक की १२ कहानियों का संग्रह है। इनमें समाज के प्रायः उस मध्यवर्गीय स्तर के चित्र मिलते हैं जो बहुत से जड़ संस्कारों को झूठी प्रतिष्ठा के लिए बनाये रखता है। इन रेखाओं के द्वारा लेखक उन पर हल्का सा व्यंग्य करते चलता है। अपनी कहानियों में दूर की कौड़ी लाने का प्रयास न कर वह अपने आस-पास के जीवन से ही इनके लिए साधन जुटा लेता है। कहानियाँ अभी रेखाएँ ही हैं, किन्तु रंगों में गहराई न होने पर भी

के जीवन की झलक को चित्र करने में सफल हुए हैं। लेखक के पास कहानी कहने की रुचि और सहृदयता है।

उर्वशी—लेखक-श्री बालकृष्ण बलदुवा बी० ए० एल० एल० बी०, प्रकाशक-गङ्गा पुस्तकमाला-कार्यालय। पृ० सं० ५०, मूल्य ।।)

इस संग्रह में बलदुवाजी की महाभारत काल की ४ कहानियाँ हैं जो उन्होंने 'माया' के सम्पादन काल में लिखी थीं। महाभारत पढ़ते समय लेखक ने यह अनुभव किया कि सौन्दर्य और प्रेम सृष्टि के आदि काल से मानव-हृदय के लिए आकर्षण के विषय रहे हैं। उसने इसी आकर्षण को इन कहानियों में आधुनिक रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उर्वशी, लोपामुद्रा, गङ्गा, देवयानी में इस युग के मानव मन के स्पन्दनों को सुना जा सकता है। बलदुवाजी के पास दाव की अनुभूति और कहानीकार का वर्णन शक्ति है, अतः मनुष्य की आन्तरिक चेष्टाओं और गति-लहरियों को व्यक्त करने में वे कुशल हैं। कथाओं को अधुनिक रूप देने में अतीत का आवरण अवश्य नष्ट हो गया है, पर उसकी स्वाभाविकता में वह आवश्यक था। इन कहानियों को हम एक प्रकार से पौराणिक रोमांस कह सकते हैं।

शान्ति पथ—ले०-रघुनाथशरण अग्रवाल एम० ए०, प्रकाशक-नवभारत प्रकाशन, आगरा। पृ० सं० ११२, मूल्य ॥।=)

'शान्ति पथ' लेखक की ८ मौलिक कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों की रचना में 'विद्यार्थियों के रुचि के वाच्य एव चरित्र निर्माण' का विशेष ध्यान रखा गया है। फलस्वरूप लेखक ने जिन सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है उनके मनोहर परिणाम पर ही उसका बल दिया है। जहाँ उपदेश का प्रदर्शन कला में पुर्नमिलन सका है, कहानी वहाँ सरस बन पड़ी है जैसे 'अनमोल मोती' में, पर जहाँ सुधार भावना प्रमुख है वहाँ कहानी प्रवचन हो गई है। इस संग्रह का वास्तविक उद्देश्य जनता के चरित्र निर्माण की चेष्टा है। इस दृष्टि से कतिपय कहानियाँ सुन्दर हैं।

लपटें—लेखक-भैरवप्रसाद गुप्त, प्रकाशक-दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, त्यागरायनगर, मद्रास १७। पृ० सं० ५१, मूल्य ॥=)

'लपटें' समाज की उस धन लोलुप स्तर का चित्रण है जो अपने स्वार्थ में अत्यन्त सजग है और उसकी सिद्धि में कोई भी कुकृत्य कर सकता है। उसका स्नेह-प्रेम एक दिखावा है और ईर्ष्या स्पर्द्धा भीषण आवेगशील। शशि, बुवा, अमर ऐसे समाज के प्रतिनिधि हैं और मानव के आन्तरिक गुणों का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। ऐसे वातावरण में कल्ना की घुटन के सिवाय क्या मिल सकता है, पर जब वह घुटन विद्रोह का रूप धारण करती है तो उसकी लपटें समाज के अंधेरे पर्दे को चार देती हैं। वे ही लपटें कल्ना को बचा सकती हैं।

आकार से अधिक प्रकार में 'लपटें' एक कहानी है—सजीव और मर्म-स्पर्शी।

नारी तुम केवल श्रद्धा हो—ले०-श्री महावीर-शरण अग्रवाल, प्रकाशक-श्री पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली। पृ० सं० ६०, मूल्य १)

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' लेखक के 'जीवन के नैराग्नि पन्थ' में आई हुई कुछ ऐसी घटनाओं और अनुभूतियों के चित्र हैं जिनके प्रति उसे तीव्र मोह है। पुस्तक को कहानी-संग्रह न कहकर मन की गति लहरियों को बाँधने का प्रयास कहना अधिक संगत है। यौवन के प्रवेश-द्वार पर वह अपने को ठिठका-सा पाता है। जो कुछ उसके सामने बीत चुका था वह अतीत की छाया में समाता सा लगता है पर उसे सन्तोष है कि 'प्रेम की चाह में मनुष्य अपने बलिदान को समर्पण का एक अङ्ग' मान सकता है। इस आस्था ने उसे अवसाद से बचा लिया है और जिधर भी दृष्टि जाय प्रकाश की छटा उसकी दृष्टि को विश्राम देती है। कृति के सम्बन्ध में जैनेन्द्रजी के ये शब्द सार्थक हैं—'रचना में एक निर्मल उल्लास का भाव मिलता है जो पाठक को आशा का अधिकार देता है।' ये सजल निर्मल भाव-ऊर्मियाँ हृदय को छूने में समर्थ हैं। —प्रो० मोहनलाल एम० ए०

भाषा-विज्ञान

भाषा विज्ञान—ले०-भोलानाथ तिवारी, एम० ए० प्रकाशक-किताब महल, इलाहाबाद। पृ० सं० ३११, मूल्य ५)

भाषा विज्ञान की प्रत्येक शाखा का क्रमबद्ध और सुन्दर प्रतिपादन प्रस्तुत पुस्तक की प्रमुख विशेषता है। भाषा विज्ञान सम्बन्धी सामग्री जो कम से कम एक दर्जन ग्रन्थ पढ़ने पर छात्रों को उपलब्ध होती, वह यहाँ इस एक पुस्तक में सङ्कलित कर दी गई है। इस दृष्टि से यह पुस्तक एम० ए० तथा साहित्य रत्न के परीक्षार्थियों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। विभिन्न विश्वविद्यालयों के भाषा विज्ञान सम्बन्धी प्रश्न-पत्रों का भी यदि इस पुस्तक में समावेश कर दिया जाता तो शायद और भी अच्छा रहता। यदि लेखक आगामी संस्करण में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल, मध्यकालीन आर्यभाषा काल तथा आधुनिक आर्यभाषा काल से सम्बन्ध रखने वाले करीब १०० या १२५ पृष्ठ और बढ़ा दें तो छात्रों के लिए पुस्तक की उपादेयता द्विगुणित हो जाय। पुस्तक में मौलिकता चाहे न हो और न इसके लेखक ने मौलिकता का दावा ही किया है किन्तु फिर भी पुस्तक की उपयोगिता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की पुस्तकों से कभी-कभी मूल लेखकों की पुस्तकें पढ़ने का उत्साह मन्द पड़ जाता है, किन्तु बहुत सम्भव है इस पुस्तक से प्रेरणा पाकर कम से कम विशेष अभिरुचि रखने वाले उत्साही छात्र और भी विस्तृत अध्ययन की ओर उन्मुख हों। —कन्हैयालाल सहल

जीवनी-संस्मरण

जैन जागरण के अग्रदूत—अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ ६१६, सजिल्द मूल्य ५)

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से जिन महापुरुषों ने जैन समाज में जागृति की बहार पैदा की है और साहित्य समाज और धर्म की अमूल्य सेवा की उन ३७ महानुभावों के जीवन-संस्मरण इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। कुछ संस्मरण गोयलीयजी के खुद के हैं शेष विभिन्न लेखकों की लेखनी से प्रसूत हैं। इतिहास, समाज और साहित्य तीनों दृष्टियों से यह पुस्तक अपना महत्व रखती है। हम इसका हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि जैन स्कूलों, पुस्तकालयों में इसे स्थान मिलेगा और युवक इसे पढ़कर प्रोत्साहन प्राप्त करेंगे।

अज्ञात जीवन—लेखक-श्री अजितप्रसादजी, प्रकाशक-राधाकृष्ण रामदयाल ..., प्रयाग। पृष्ठ ३२०, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ३)

लखनऊ के ... जिनका स्वर्गवास अभी गत वर्ष हुआ, जैन ... और जैन धर्म के बड़े सेवक और विद्वान थे। आपने अपने जीवन के संस्मरण लिख कर जैनियों का प्रगति ... ३०-३५ वर्ष का एक इतिहास सा दे दिया है। पुस्तक महत्वपूर्ण है।

ब्रह्मचारी शीतल—...-श्री अजितप्रसादजी, प्रकाशक-मॉडर्न जैन पब्लिशिंग हौ लखनऊ। पृष्ठ १५०, मूल्य २)

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी जैन ... प्रचारक, बड़े लेखक और सिद्धहस्त सम्पादक। अपना जैन समाज की सेवा में अपना जीवन लगा दिया। बा० अजितप्रसादजी ने उनकी जीवन गाथा लिखकर पुण्य कार्य किया है।

बाबू देवकुमार-स्मृति-अङ्क—सम्पादक-पाँच विद्वान, प्रका०-जैन सिद्धान्त भवन, आरा। पृष्ठ ६+३०, मू० १॥)

आरा के प्रसिद्ध पुस्तकालय 'जैनसिद्धान्त भवन' से 'जैन सिद्धान्त भास्कर' नामक एक बहुमूल्य त्रैमासिक पत्र निकलता है। पुरातत्व और इतिहास ... यह प्रसिद्ध पत्र है। भवन की स्थापना आरा के दिवंगत, धनाम धन्य बा० देवकुमारजी ने की थी। उन्हीं की स्मृति में यह अङ्क निकाला गया है। विभिन्न विद्वानों और समाज सेवकों ने अपने-अपने संस्मरण लिखकर इस अङ्क को सुसज्जित किया है।

विविध

शिल्प-कथा—लेखक-चित्राचार्य श्री नन्दलाल वसु, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, प्रकाशक-साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ ५२, मूल्य १)

यह सुन्दर लेख संग्रह फूल के उज्ज्वल थाल में परोसे हुए रस-पूर्ण भोजन के सदृश मन को तृप्त करने वाला है। नन्द बाबू कला के ऋषि हैं। उनका दर्शन जीवन की प्रेरणाओं को मुक्ति प्रदान करता है।

स्वयं नन्दलाल ने अपने विषय में लिखा है—'मैं साहित्यिक नहीं हूँ। भाषा का शिल्प मैं नहीं जानता। अतएव विस्तार-पूर्वक समझा बुझाकर कुछ कहूँ, मुझ में

४८ Sandesh, Agra.
1952.

REGD. NO. A. 265.
Licence No. 16
Licenced to post without Prepayment

वर्ष १४] आगरा—अगस्त १९५२ 15/9/52 [अङ्क

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.

महेन्द्र

*

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

*

मुद्रक

साहित्य प्रेस, आगरा।

*

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के द्वितीय सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं।

साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : जुलाई, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

प्रसाद की विचार धारा—
डा० रामरतन भटनागर ४)

आधुनिक हिन्दी साहित्य परिभाषिका—
श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ १।।।)

भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्यायें—
श्री महादेव साहा ३)

मुक्ति पथ का सरल अध्ययन—
कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार १।।।=)

हिन्दी साहित्य अनुशीलन—
रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' ३५।)

वत्सराज एक अध्ययन—विश्वप्रकाश दीक्षित ।।।)

तुलसी तत्व—श्री सत्यदेव चतुर्वेद ६)

प्रसाद की नाटककला एवं स्कन्दगुप्त समीक्षा—
रामप्रकाश अग्रवाल एम० ए० २।)

कविता

ठंढा लोहा तथा अन्य कवितायें—
धर्मवीर भारती ३)

श्यामा और जमाना-श्री श्यामनन्दन किशोर १।।)

कहानी

नए चित्र—रामस्वरूप दुबे १।)

निबन्ध

भारतेन्दु के निबन्ध-डा० केशरी नारायण शुक्ल ५)

मनुष्य की मर्यादा—श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र २।।।)

प्रबन्ध पीयूष—विशम्भर 'अरुण' ३।।=)

बालोपयोगी

पंजाब की कहानियाँ भाग १-संतराम बी. ए. ।। =)

,, ,, भाग २— ,, ,, ।।।=)

,, ,, भाग ३— ,, ,, ।।।)

मनोविज्ञान

सरल बाल मनोविज्ञान—कुमारी चन्द्रलता १।।।)

धार्मिक

महाबली हनुमान—राजवल्लभ ओझा ।।।)

मध्यकालीन धर्म-साधना—
हजारीप्रसाद द्विवेदी २।।)

सामाजिक

गार्हस्थ्य जीवन और ग्राम सेवा—
परशुराम चतुर्वेदी ।।।)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का एक मात्र स्थान—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।
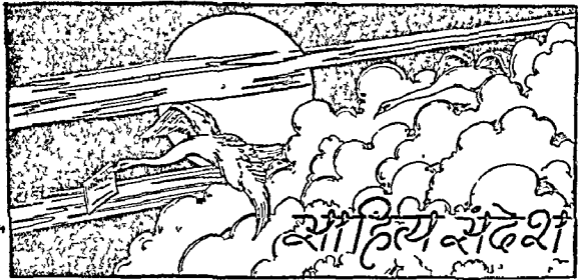
वर्ष १४] आगरा—अगस्त १९५२ [अङ्क २

हमारी विचार-धारा

अपनी बात—

'साहित्य सन्देश' का चौदहवां वर्ष जुलाई से प्रारम्भ हो गया। यह अङ्क आलोचनाङ्क का परिशिष्टाङ्क होगा और साधारण अङ्क से लगभग ड्योढ़ा होगा—ऐसी घोषणा की गई थी। हमें खेद है कि हम अपनी इस घोषणा का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सके। परिशिष्टाङ्क में जो लेख हम देना चाहते थे उनमें से कई लेख न जा सके और अङ्क को जितना आकर्षक और उपयोगी हम बनाना चाहते थे—नहीं बना सके। इसका हमें खेद है। पाठक हमारी परिस्थिति को जान लेंगे तो सम्भवतः वे स्वयं हमें क्षमा कर देंगे। पत्र के संचालक, प्रबन्ध सम्पादक और मुख्य कार्यकर्ता महेन्द्रजी हैं वे जून के प्रारम्भ में बीमार पड़ गए। उन्हें टायफाइड हो गया जिसमें वे सवा महीने तक खाट पर रहे, उसके बाद भी १५ दिन तक उनमें काम करने की शक्ति न रही। फलतः उनके मनसूबे उनके मन में ही रह गए। बीमारी में उनकी हालत ऐसी रही कि उनसे परामर्श भी नहीं किया जा सका। सन्देश के दूसरे सम्पादक डा० सत्येन्द्र ब्रज साहित्य मण्डल के काम से कलकत्ते चले गये और वहाँ वे इतने व्यस्त रहे कि 'साहित्य सन्देश' का कुछ भी काम न कर सके। साहित्य सन्देश के वयोवृद्ध प्रधान सम्पादक श्री गुलाबराय जी को अधिक कष्ट देने को तबियत नहीं चाहती। जितना वे स्वेच्छा से कर देते हैं वही उनके आशीर्वाद स्वरूप स्वीकार किया जाता है। ऐसी दशा में साहित्य सन्देश का जुलाई का अङ्क समय पर निकल गया—यही सन्तोष की बात है। इस अङ्क में जो लेख छपने से रह गये हैं वे आगे के अङ्कों में छाप दिए जायँगे।

'साहित्य सन्देश' का कलेवर—

'साहित्य सन्देश' की पृष्ठ संख्या बढ़े, उसमें कागज अच्छा लगे और उसका गेटअप सुन्दर हो यह परामर्श हमारे अनेक पाठक देते हैं। हम भी चाहते हैं—ऐसा हो। पर परिस्थिति से लाचार हो कर हम वैसा नहीं कर पाते। इधर कई वर्ष से सा० सं० का मूल्य चार रुपया है। चार

रुपये में हमने गत वर्ष ५३० पृष्ठ की ठोस पाठ्य सामग्री दी है। पुस्तकाकार में यह सामग्री छापी जाती तो यह १२०० पृष्ठ में छपती और आज कल जैसा मूल्य रक्खा जाता है उसके अनुसार इसका मूल्य १०) होता। हिन्दी में कुछ अन्य पत्र ऐसे निकले हैं जो वर्ष में ७००-८०० पृष्ठ देते हैं। उनका मूल्य दस रुपये वार्षिक से कम नहीं है। पर हम चार रुपये में ही इतनी सामग्री देते हैं। सो भी उस दशा में जब १) रिम का एक कागज हमें गत वर्ष १५) रिम तक खरीदना पड़ा। अच्छा कागज तो मिला ही नहीं। मिला भी तो उसके दाम २१)-२२) रिम रहे। अब हम न तो अच्छा कागज ही लगा सके और न पृष्ठ ही बढ़ा सके। हम चार रुपये में जो कुछ दे रहे हैं वह अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है।

'साहित्य-सन्देश' का मूल्य—

हमारे अनेक पाठकों ने अनेक बार हमें यह परामर्श भी दिया कि हम सा० स० का मूल्य बढ़ा दें। ऐसा करना अनुचित भी नहीं था। परन्तु हमने वैसा किया नहीं। क्योंकि हम जानते हैं कि हमारे अधिकांश ग्राहक गरीब हैं और वे चार रुपये भी कठिनाई से दे पाते हैं। मूल्य बढ़ाना उनके साथ अन्याय करना होगा। अतः हमने हानि उठाकर भी मूल्य बढ़ाना उचित नहीं समझा। आज हमें इस बात का सन्तोष है कि साहित्य सन्देश के पाठक और ग्राहक-अनुग्राहक जितने हैं उतने और किसी साहित्यिक पत्र के नहीं हैं। भविष्य में भी हमारी इच्छा यही है कि हम अधिक से अधिक पाठकों की सेवा कर सकें। और इसके लिए हम अपने पाठकों से केवल एक प्रार्थना करते हैं—साहित्य सन्देश के जो ग्राहक आज हैं वे आगे भी बने रहें और यदि किसी कारण से आगे ग्राहक न रहना चाहें तो अपने स्थान पर अपने किसी मित्र को इसका ग्राहक बना दें। जो सज्जन पहले ग्राहक थे और अब किसी कारण नहीं हैं वे पुनः वार्षिक शुल्क मनिआर्डर से भेजकर ग्राहक बन जायें। और सभी ग्राहक-अनुग्राहक तथा पाठक अपना कर्त्तव्य समझ कर और साहित्य सन्देश को अपनी संस्था मानकर इसके ग्राहक बढ़ाने की कृपा करें। एक-एक पाठक एक एक ग्राहक भी नया बना दें तो सात हजार नए ग्राहक बन सकते हैं। इसमें हमारे कृपालुओं में तो ऐसे ऐसे महानुभाव भी हैं जिन्होंने पचास पचास ग्राहक बनाए हैं। मेरठ कालेज के प्रो० रामप्रकाश अग्रवाल ने गत वर्ष ७० से ऊपर ग्राहक बनाने की कृपा की थी। कानपुर के प्रो० अयोध्यानाथजी शर्मा ने एक बार में ३० से ऊपर ग्राहक बनाए थे। नूरसराय (पटना) के श्री शिवप्रसाद लोहानी अब तक अनेकों ग्राहक बना चुके हैं। दिल्ली के प्रो० मोहनलाल चेजारा, गोरखपुर के श्री गोपीनाथ तिवारी, मुरादाबाद के श्री विनयकुमार गुप्त, पिलानी के श्री कन्हैयालाल सहल आदि महानुभावों ने इस कार्य में हमारी प्रशंसनीय सहायता की है। अपने ऐसे सहायकों का अब तक हमने कोई लेखा नहीं रक्खा था—किन्तु आगे हम ऐसे सभी कृपालुओं का शुभ नाम साहित्य सन्देश में साभार प्रकाशित करेंगे जो हमारे कम से कम चार-पाँच ग्राहक बनाने की कृपा करेंगे।

लेखक बन्धुओं से—

हिन्दी के सभी ख्याति प्राप्त लेखकों की साहित्य सन्देश पर कृपा रही है और हमें विश्वास है कि वह कृपा आगे भी बनी रहेगी। प्रौढ़ लेखकों के महत्वपूर्ण लेख छापने का प्रयत्न तो हम करते ही रहे हैं—पर साहित्य सन्देश को इस बात का भी गर्व है कि उसने अपने जीवन में एक नहीं पचासों नए लेखकों को जन्म दिया और उन्हें आगे बढ़ाया है। उनमें से कुछ तो आज प्रथम श्रेणी के लेखकों में गिने जाते हैं। हमारी नीति आगे भी यही रहेगी। हम अपने प्रौढ़ लेखकों के महत्वपूर्ण लेखों का सदैव स्वागत करेंगे और अब हमने यह निश्चय किया है कि ऐसे लेखकों को उनके समस्त लेखों के लिए पुरस्कृत करेंगे। इसके लिए नियम यह रहेगा कि जिन लेखकों को हमें पुरस्कृत करना है उन्हें लेख छपने के साथ ही साथ पुरस्कार के रुपयों के कूपन भेज देंगे जिनके बदले में वे चाहें तो उतने ही मूल्य की अभीष्ट पुस्तकें हमारे कार्यालय (साहित्य रत्न भण्डार) से मँगा सकेंगे।

हमारे इस प्रस्ताव को हमारे अनेक मित्रों ने बड़ा

पसन्द किया है और हमारा विश्वास है कि सभी महानुभाव इसका स्वागत करेंगे। हमारे इस निश्चय से हमें यह भी विश्वास है कि साहित्य सन्देश में और भी मूल्यवान पाठ्य-सामग्री भविष्य में आ सकेगी।

निवेदन—

अन्त में हम अपने पाठकों से फिर एक बार अपनी पिछली भूलों के लिए क्षमा चाहते हैं और अधिक से अधिक सेवा करने की भावना करते हैं। साथ ही यह भी आशा करते हैं कि हमारे पाठक भी हमारे साथ वैसा ही स्नेह भाव बनाए रखने की कृपा करेंगे।

पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न—

उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग ने माध्यमिक (Intermediate) परीक्षा के लिए सभी विषयों का हिन्दी में पढ़ाया जाना अनिवार्य करके एक सराहनीय कार्य किया है। जब तक पानी में पैर नहीं देते तब तक तैरना नहीं आता। कुछ अध्यापकों ने जो पहले से हिन्दी से परिचित थे इस आयोजन का स्वागत किया है और कुछ ने रोते रोते इस नई मुसीबत के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया है। अब पारिभाषिक शब्दावलियों की समस्या व्यावहारिक रूप में आ रही है। पुस्तकों की तो कमी नहीं है। विषय का विवेचन भी उन पुस्तकों में बुरा नहीं है किन्तु कठिनाई इस बात की है कि किसी ने डाक्टर रघुवीर की शब्दावली का प्रयोग किया है तो किसी ने नागरी प्रचारिणी सभा की, और किसी ने अपनी। मालूम नहीं परीक्षक महोदय कौनसी शब्दावली से परिचित होंगे। *पारिभाषिक शब्दावलियों का समानीकरण* अभी नहीं हुआ। यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए पाँच सुझाव हैं—

(१) बोर्ड किसी एक शब्दावली को अन्तरिम काल के लिए मान्यता दे दे, और शिक्षक लोग उसी का प्रयोग करें।

(२) कोई ऐसी केन्द्रीय संस्था हो जहाँ शिक्षक लोग अपनी व्यावहारिक कठिनाइयों को लिख भेजा करें और केन्द्र में विभिन्न विषयों के विद्वानों की एक कमेटी रहे जो उन कठिनाइयों पर विचार कर उनका समाधान हिन्दी विशिष्ट पत्रों में छपवा दिया करे। इससे पूर्व कि अध्यापकगण अपनी कठिनाइयों को केन्द्र में भेजें समय समय पर स्थानीय जानकारों में पारस्परिक विचार विनिमय कर उसका फल भी केन्द्र में भेज दिया जाय।

(३) दिल्ली में 'हिन्दी परिषद' नाम की सरकारी या अर्द्ध सरकारी संस्था बनी भी है किन्तु उसका कार्य कक्ष के भीतर ही होता रहता प्रतीत होता है। उसको चाहिए कि एक परिपत्र द्वारा अध्यापकों की व्यावहारिक कठिनाइयों को आमन्त्रित करे और उनका समाधान सोचे। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का एक यज्ञीय साधना चाहे हो किन्तु उसके साथ खुले क्षेत्र या स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों के सहयोग के साथ भी कार्य होना आवश्यक है। विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों के साथ सम्पर्क स्थापित करके शब्दावली के एकीकरण का प्रयत्न करें।

(४) अध्यापकों को भी थोड़े धैर्य से काम लेना चाहिए। पारिभाषिक शब्दावली की कठिनाई को अपने ऊपर से हिन्दी के पढ़ाने के बोझ को उतार फेंकने का बहाना न बनाना चाहिए। उनको दोनों कोशों ही नहीं तीनों चारों कोशों का सहारा लेना चाहिए।

(१) डाक्टर रघुवीर के कोश (उनके विषयवार भी कुछ कोश बने हैं) (२) नागरी प्रचारिणी सभा के विषयवार कोश, (३) राहुल सांकृत्यायन का कोश (४) भार्गव का कोश (५) भंडारी का कोश। इनके अतिरिक्त उपलब्ध पुस्तकें और यदि हो सके तो प्राचीन पुस्तकें जैसे कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र, जीवन सम्बन्धी विज्ञानों के लिए सुश्रुत, योग ग्रन्थ आदि का सहारा लिया जाय। मुझे Organic के लिए जान्तव (*जन्तु या जैवधारी सम्बन्धी*) एक अच्छा शब्द मिला। ऐसे जो शब्द मिलें, नोट किये जायें। इसको वे राष्ट्रीय कार्य समझें और वैज्ञानिक बुद्धि को खोये बिना प्रचारक बुद्धि से काम लें।

यह तो रही शिक्षा क्षेत्र की बात। कानूनी और राज-कीय कार्यवाही में भी प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने उत्तर प्रदेश की विधान परिषद में जो अपना प्रारम्भिक भाषण दिया था उसमें उन्होंने सुझाव दिया था कि हिन्दी भाषा भाषी प्रान्त आपस में इस मामले में सहयोग करें। बिहार, मध्यप्रदेश, मध्यप्रान्त,

राजस्थान, उत्तर प्रदेश सब मिल कर यह निश्चय कर लें कि व आपस में जो लिखा-पढ़ी करेंगे वह हिन्दी में करेंगे। व मिलकर आधार स्वरूप और पारिभाषिक शब्दावली की कठिनाइयों को दूर कर लें और एक सा शब्दावली का ही प्रयोग करें। ऐसा करने से ही १५ वर्ष की अवधि घट सकेगी नहीं तो वह शिला की भाँति छाती पर ही रखी रहेगी।

'सत्यं शिवम् सुन्दरम्'—

एक सज्जन ने कई विद्वानों से पूछ-ताछ की है कि यह वाक्य कब प्रचार में आया। इस प्रश्न के पूछने का कारण है कि कारण यह है कि गुमई चरित में यह वाक्य आया है और यदि यह शब्दावली आधुनिक है तो उसकी प्रामाणिकता में सन्देह उपस्थित हो जाता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् ही तो प्लेटो के The True, the Good, the Beautiful का ही अनुवाद और इसका प्रचार ब्रह्म समाज से ही हुआ। अपने यहाँ इसका जो निकटतम पर्याय मिलता है वह गीता में वाणी के तप के सम्बन्ध में लिखा हुआ यह श्लोक है —

> अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
> स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
> श्री मद्भगवद्गीता (१७।१५)

'सत्यं प्रियहितं में सत्यं शिवं (हित) सुन्दरम् (प्रिय) का भाव आ जाता है।

आत्मकथा पर पुरस्कार—

हमारे देश के महान नेता राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी हिन्दी के महान लेखक भी हैं—यह हमारे पाठक जानते ही हैं। आपने अपनी जीवनी स्वयं ही लिखी है और वह प्रकाशित भी हो चुकी है। अभी हाल में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको इस 'आत्मकथा' पर 'द्विवेदी पुरस्कार' प्रदान किया है। यह पुरस्कार एक स्वर्णपदक के रूप में है जो प्रतिवर्ष उस पुस्तक पर दिया जाता है जो उस वर्ष की सर्वोत्तम पुस्तक प्रमाणित होती है। इस पुस्तक पर यह पुरस्कार ठीक ही मिला है क्योंकि वास्तव में आपकी यह आत्मकथा बहुत सुन्दर लिखी गई है। हम इस के लिए सभा को और डा० श्री राजेन्द्रप्रसाद जी दोनों को बधाई देते हैं।

दो हजार का पुरस्कार—

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने घोषित किया है कि वह २०००) का एक पुरस्कार उस लेखक को प्रदान करेगी जो हिन्दी में सभा विधान (Parliamentary Practice) विषय पर सर्वोत्तम मौलिक पुस्तक लिखेंगे। हम आशा करते हैं कि विद्वान लेखक इससे उत्साहित होकर अच्छी पुस्तक लिखने की चेष्टा करेंगे।

श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित के विचार—

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की हिन्दी शाखा के पारितोषिक वितरण उत्सव में भाषण देते हुए श्रीमती पण्डित ने दो बातें हाल ही में बड़े मार्के की कही हैं। यह उद्धरण हम दैनिक हिन्दुस्तान के ४ अगस्त के अंक से दे रहे हैं। पाठक पढ़ें और विचार करें :—

"जब मैं रूस गयी तो एक प्रमाण पत्र हिन्दी में बना, वह टण्डनजी ने बनाया। पण्डित नेहरू तथा सरदार पटेल ने कहा था कि मैं हिन्दी में बोलूँ, पर मैं यह ख्याल नहीं करती थी कि वहाँ इसका अधिक प्रयोग होगा। पर जैसे ही मैंने प्रमाण पत्र भेजा वहाँ से टेलीफोन आया कि यह अशुद्ध है और 'अध्यक्ष' के स्थान पर 'सभासद' लिखा गया है। भाषण का अनुवाद भी मुझे रूसी में सुनाया गया और मुझसे कहा गया कि विदेश विभाग में वार्ता हिन्दी में करना या रूसी में। जब मैंने हिन्दी में करने की इच्छा प्रकट की तो दस मिनट में ही एक दुभाषिये का प्रबन्ध कर दिया गया।

उन्होंने आगे बताया कि संयुक्त राष्ट्र में उनसे नार्वे के मण्डल के नेता ने कहा कि आप लोग सदा अंग्रेजी में बात करते हैं, क्या आपकी अपने देश की भाषा नहीं अपनी? मुझे बड़ी शर्म आई। हम पुरानी तालीम पकड़े हुए हैं, जिससे हमारी उन्नति रुक रही है।"

काव्य का मूल

प्रो० रमाशङ्कर तिवारी, एम० ए०, डिप० एड०

आत्माभिव्यक्ति मानव की चिरन्तन लालसा है। अनादि काल से वह विविधरूपों में अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन करता चला आ रहा है। जीवन के प्रथम प्रभात की स्वर्णिम किरण के दर्शन से उसकी आत्मा की वीणा से आनन्द और विस्मय का जो मधुमय निनाद निसृत हुआ तथा अनन्त काल के प्रवाह में उसे जो मार्मिक अनुभूतियाँ हुईं, जिस पूर्णता और अभाव ने उसे उल्लसित और व्यथित किया—उन समग्र 'आध्यात्मिक निधियों' का संरक्षण एवं प्रवर्द्धन करने की कामना मनुष्य की मूल प्रेरक शक्तियों में रही है। वह अपने लघुतम और साधारण अनुपेक्षणीय अनुभव को भी वही स्नेह तथा महिमा प्रदान करता है जो 'किंग माइडास' अपने सुवर्ण को प्रदान किया करता था। इन अनुभवों की संचित राशि की अभिव्यक्ति की प्रणालियों में काव्य का शीर्ष स्थान है।

किन्तु इस आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा क्यों होती है? काव्य अथवा अन्य कलाओं का मूल प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध है। आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र के पाश्चात्य पंडितों ने जीवन की मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में गहरी छानबीन कर नव सिद्धान्त स्थिर किये हैं। उनमें सर्वप्रमुख फ्रायड हैं। इन्होंने मनुष्य के निखिल व्यापारों का मूल काम वासना (लिबिडो) निर्धारित किया है। शैशवावस्था से लेकर जीवन के पर्यवसान तक ये वासनाएँ मनुष्य की क्रियाओं की मूल प्रेरक शक्ति रहती हैं। सामाजिक शिष्टाचार के कारण इन वासनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होने पाती तथा वे चेतन मन से निकल कर अचेतन मन में दबी पड़ी रहती हैं। वहाँ से ये हमारे जीवन को अदृश्य भाव से प्रभावित किया करती हैं तथा परिवर्तित रूप में अपने प्रकटीकरण का मार्ग निकालती रहती हैं। किन्तु इस अभिव्यक्तीकरण में उनका रूप परिमार्जित (Sublimated) हो जाता है जो समाज को मान्य है। काव्य तथा अन्य कलायें इसी दबी यौन भावना के शिष्ट, परिमार्जित रूपान्तर हैं। एक दूसरे पाश्चात्य पण्डित 'ऐडलर' किसी अभाव या क्षति की पूर्ति को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं। उनके अनुसार हम किसी क्षति के पूरणार्थ काव्य की सर्जना करते हैं। इस सिद्धान्त के मूल में किसी हीन-भावना (Inferiority Complex) के प्रतिशोध-रूप मनुष्य में प्रभुत्व-कामना कार्यशील रहती है।

अब विचारणीय यह है कि क्या काम-वासना अथवा प्रभुत्व भावना ही काव्य सर्जन की रहस्य-भूमि को आलोकित करने वाला चरम सत्य है? बृहदारण्यक उपनिषद् में जीवन की मूल प्रेरणाओं का विवेचन किया गया है। उसके अनुसार मनुष्य के समग्र क्रिया-कलाप पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा (यश की लालसा) इन्हीं तीन एषणाओं से प्रेरित होते हैं। किंचित् विचारने से ज्ञात हो जाता है कि काम वासना और प्रभुत्व भावना, दोनों सिद्धान्तों का अन्तर्भाव इन त्रिविध एषणाओं में हो जाता है।* किन्तु हमारे तत्त्वचिन्तक *साधारण मनुष्य* के सम्बन्ध में इन एषणाओं की प्रधानता मानते हुए भी उन्हें ही सम्पूर्ण सत्य स्वीकार नहीं करते। 'ब्राह्मण' इन एषणाओं की भूमि से ऊँचा उठ जाता है एवं महनीय त्याग का जीवन व्यतीत करता है क्योंकि वह आत्मा को पहचानता है—

"एवं वै तदात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायश्च वित्तैषणायश्च लोकैषणायश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति।"

अतएव यह बड़े महत्त्व की कल्पना है कि मानव अन्तश्चेतना के विकास के एक विशिष्ट धरातल पर पहुँच कर साधारण जीवन की सामान्य प्रेरणाओं की संकीर्ण परिधि का अतिक्रमण कर जाता है। तब वह सामान्य से विशिष्ट बन जाता है, लघु से महान् बन जाता है। और

---

* 'पुत्रैषणा' में 'लिबिडो' तथा वित्तैषणा और लोकैषणा में प्रभुत्व भावना चली जाती है।

इस महानायता का रहस्य उसके ग्राम प्रेम, आत्मानुराग में निहित है।

काव्य का विचार करते समय हमें उसे इसी ऊँची भूमि पर प्रतिष्ठित करना होगा। काम-वासना अथवा प्रभुत्व भावना जीवन की कतिपय निगूढ़ ग्रन्थियों को सुलझाने में उपयोगी या सहायक सिद्धान्त हो सकते हैं, किन्तु उन्हें ही जीवन का श्रेयस् मान लेना कदापि उचित नहीं है। अस्तु।

कवि कुछ अर्थ में उपनिषद् का पूर्वोक्त 'ब्राह्मण' होता है। उसकी अनुभूतियाँ सर्व सामान्य अनुभवों से विशिष्ट होती हैं। उसकी लालसायें, उसके स्वप्न, उसके स्पन्दन—सभी विचित्र होते हैं, सभी नव चेतना के आलोक से अनुरंजित होते हैं। सुप्रसिद्ध अंग्रेज-कवि वर्ड्सवर्थ के अन्तर्जीवन में ऐसे आलोक क्षणों (Moments of illumination) का प्राचुर्य था। बहिर्जगत के रम्य रूपों में तो उनको रमाने के लिए प्रभूत आकर्षण होता ही है, वह कवि तो अपने प्रगाढ़ चिन्तन के क्षणों में तृण के तिनके जैसी सामान्यतम वस्तु में भी लोकोत्तर छटा एवं आनन्द का दर्शन करता था। काव्य वस्तुतः हमें अपने क्षुद्र स्वार्थों, और संकीर्ण प्रयोजनों की परिधि से बाहर ले जाता है। जीवन की सामान्य दिनचर्या में हम 'स्व' से बहुत ऊपर नहीं उठते। हमारे समस्त कार्यकलाप, हमारी समग्र चिन्तन-धारा व्यक्तिगत सुख दुःख के केन्द्र से ही शासित होती है। हमारी कल्पना, हमारी भावना, हमारा सत्य, हमारा सौन्दर्य, हमारा शिव—सभी प्रयोजन सापेक्ष होते हैं। पञ्चभूतों में क्षिति और जल का ही प्राचुर्य अधिक होता है, गगन और अनिल तो यदा कदा अपना वैभव प्रदर्शित करते हैं। सामान्य जीवन की क्षुद्रताओं से विरक्त करने का महत्तम कार्य कवि सम्पन्न करता है। उस समय वह उच्चतर सत्य, महत्तर सौन्दर्य एवं व्यापकतर शिव का दर्शन करता है। तब वह 'व्यक्ति' से उठकर 'विश्व' बन जाता है, उसकी अनुभूतियाँ व्यक्तिगत न हो कर सार्वजनीन बन जाती हैं। काव्य हमें इसी प्रयोजनातीत सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति कराता है।

काव्य की इस विश्वजनीनता (Universality) की ओर आचार्य प्रवर शुक्लजी ने 'कविता क्या है?' शीर्षक लेख में 'हृदय की मुक्तावस्था' द्वारा संकेत किया है। इस 'मुक्तावस्था' की व्याख्या आपने यों की है—

"जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किये हुए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योगक्षेम, हानि लाभ, सुख दुःख, आदि से सम्बन्ध करके देखता रहता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर अपने आप को बिलकुल भूल कर विशुद्ध हृदय मात्र रह जाता है, वह मुक्त हृदय हो जाता है।"

हृदय की इसी मुक्तावस्था में कविता योग देती है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भाव योग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।"

आगे शुक्लजी कहते हैं कि कविता मनुष्य के हृदय को "स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठा कर 'लोक-सामान्य भावभूमि' पर ले जाती है" जहाँ वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में खो देता है। "इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" बाबू गुलाबरायजी की सम्मति में शुक्लजी कविता में 'सत्य की अवहेलना न करते हुए भी रागात्मक तत्त्व को प्रधानता देते हैं।' किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यहाँ है काव्य की विश्वजनीनता, उसकी उदार, उदात्त प्रवृत्ति जो एकता में अनेकता और अनेकता में एकता की प्रतिष्ठा करती है।

शुक्लजी के उपर्युक्त विवेचन में एक ऐसा पद (Phrase) है जो भ्रमोत्पादक है। मेरा संकेत उनकी 'लोक सामान्य भावभूमि' की ओर है। सम्भवतः भारतीय रस-वाद के समर्थक होने, तथा काव्य को लोकहित से समन्वित करने के कारण, शुक्लजी 'लोक सामान्य भावभूमि' का

उल्लेख करते हैं। मैं इस 'लोक-सामान्यता' को उतनी ही दूर और उतनी ही हद तक स्वीकार करता हूं जितने से काव्य की प्रेषणीयता (Communicability) को बल मिलता है तथा उसमें घोर, उद्दाम वैयक्तिकता के निर्बाध प्लावन की सम्भावना नियन्त्रित होती है। वर्ड्सवर्थ मानव की आदिम चित्तवृत्तियों को कविता का उपजीव्य स्वीकार करता है तथा 'सर्व साधारण में व्याप्त राग विरागों' (Joys in the widest commonalty spread) के गान से अपनी काव्य देवी (Muse) को सन्तुष्ट करना चाहता है। उसमें भी गुप्तजी की 'लोक-सामान्य भावभूमि' को अनुमोदन प्राप्त होता है। किन्तु जैसा आंग्ल साहित्य के विद्यार्थियों को ज्ञात है, रोमांटिक काव्य क्रान्ति के इस महान् प्रवर्तक की बहुतेरी रचनाएँ पाठकों का रागात्मिका वृत्ति का भाजन नहीं बन सकीं क्योंकि—यह दोषारोप किया गया—उनके भाव पाठकों की अनुभूति को उत्तेजित न कर सके। कवि को अवश्य ही कोई 'विचित्र प्राणी' नहीं होना चाहिये, तथापि यह समझना कि कवि की समग्र अनुभूतियाँ 'लोक सामान्य भावभूमि' तक पहुंच ही जायेंगी, सर्वथा भ्रान्तिजनक है। यथा पहले कहा गया है, कवि उपनिषद् के 'ब्रह्म' के तुल्य या समान है। उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, उसकी आभ्यन्तरिक प्रतिक्रियाएँ, उसके स्वप्न, उसके स्पन्दन, 'सामान्य' से सम्बद्ध होते हुए भी 'विशिष्ट' हैं। 'कामायनी' की दार्शनिक भावभूमि 'लोक सामान्यता' की परिधि में नहीं आ सकती, वर्ड्सवर्थ का 'इम्मोर्टेलिटी ओड', शैली के 'स्काइलार्क' तथा 'वेस्टविंड', 'दिनकर' का 'हिमालय के प्रति' अथच पंत, निराला, महादेवी प्रभृति कवियों की अनेक रचनाओं को लोक-सामान्य भावभूमि का अनुमोदन उपलब्ध नहीं हो सकता। हाँ यह अवश्य है कि प्रत्येक रचना की 'जनप्रियता' की सीमा—विद्वत् प्रियता की नहीं—लोक-सामान्यता पर बहुत कुछ अवलम्बित है।

ऊपर कहा गया है कि आत्मानुराग जीवन की सर्व प्रमुख प्रेरक शक्ति है। कवि इस आत्मानुराग से अनुप्राणित होता है। इसी कारण वह अपनी अनुभूतियों के मार्मिक अंशों को चित्रता-मय, संवेदनापूर्ण शैली में अभिव्यक्त करता है। वह अपनी अनुभूतियों को लोक में विज्ञापित कर देता है। जिस महनीय सौन्दर्य का साक्षात्कार उसे हुआ है, वह उसे जनवर्ग की वस्तु बना देने के लिए व्यग्र हो उठता है। यहाँ वह 'माइडास' से आगे बढ़कर कर्ण या दधीच बन जाता है। जब तक उसकी अभिनव अनुभूति उसके अन्तःकरण को आक्रान्त किये रहती है तब तक वह एक अनिर्वचनीय, लोकातीत वेदना से व्यथित रहता है और जिस क्षण वह अपनी अभिनव अनुभूति को सार्वजनीन अभिव्यक्ति प्रदान कर देता है, उसी क्षण उसे लगता है जैसे उसकी संकीर्णता की सीमायें ध्वस्त हो गईं। वह 'व्यक्ति' से 'विश्व' बन गया। क्रौंचमिथुन के निर्मम वध से महर्षि वाल्मीकि के कोमल मर्म पर जो सहसा आघात लगा वह "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं······" के रूप में सम्पूर्ण चराचर विश्व में विज्ञापित कर दिया गया। महर्षि को छन्द सरस्वती का दर्शन हुआ अथच उनकी व्यथा अब विश्व की व्यथा बन गई, अब निषाद केवल एक ही अन्तःकरण द्वारा अभिशप्त नहीं रहा प्रत्युत् अनेक अन्तःकरणों की भर्त्सना का भाजन बन गया।

नव प्रभामयी कल्पना के सौन्दर्य लोक में निवास करने वाले सुप्रसिद्ध क्रान्ति द्रष्टा आंग्ल कवि शैली को अपने लघु जीवन में सतत एक प्रखर मानसिक उद्विग्नता का अनुभव करना पड़ा। मानव व्यक्तित्व के समुचित विकास को अवरुद्ध करने वाली परम्पराओं एवं प्रणालियों को ध्वस्त करने की अदमनीय लालसा से अनुप्राणित इस कलाकार को एक अभिनव सौन्दर्य, एक नव स्फूर्तिदायक आदर्श के दर्शन हुए थे। उसके सम्पूर्ण काव्य में उस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का प्रबल अभिलषित हो रहा है। सुप्रसिद्ध काव्य 'प्रोमीथियस अनबाउंड' में 'एशिया' कह रही है—

"···············my brain
Grows dizzy, See'st thou shapes
Within the mist ?"

ये पंक्तियाँ वस्तुतः कवि के अन्तर्जीवन की ही ओर संकेत करती हैं। जिस अभिनव सौन्दर्य का साक्षात्कार कवि को हुआ है उसकी अनिर्वचनीयता, उसकी अपार्थिवता,

भक्त-शिरोमणि सूर की दार्शनिकता

कुमारी लक्ष्मी स्वामी

सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करने से पूर्व इतना कह देना परम आवश्यक है कि सिद्धान्तों की व्याख्या करना सूर सरीखे भक्तों का साध्य नहीं था। वह एक उच्च-कोटि के भक्त थे, जिनकी भक्ति की अनन्यता ही उनका काव्य प्रवाह है। उन्हें दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। जिस समय सूर के भावुक कवि हृदय का स्रोत साहित्य क्षेत्र में प्रवाहित होता हुआ जन समाज की भाव भूमि को भगवद्भक्ति और प्रेम में सराबोर कर रहा था, उस समय दर्शन की उलझनों की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए महाप्रभु वल्लभ और विट्ठलदासजी उपस्थित थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्त सूर को न तो इस व्याख्या की वांछना ही हुई और न ही वह इस कार्य के लिए उपयुक्त पात्र थे। हाँ! तब भी सम्प्रदाय की बैठकों में सूर जाया करते थे। और वहाँ पर हुई धार्मिक और दार्शनिक चर्चाओं को वह सुनते अवश्य थे और यही कारण है कि वह पुष्टिमार्ग के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित हुए बिना न रह सके, अतएव हमें उनके अनेक पदों में उच्चकोटि के गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन होता है। जिनमें मुख्यतः ब्रह्म, माया और जीव आदि का वर्णन विशेषतः है।

यह तो स्पष्ट ही है कि सूर का प्रतिपाद्य विषय वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग है। वल्लभ की वाणी और आत्मा ही सूर की भावुक वाणी में मुखरित हुई किन्तु फिर भी यह नितान्त सत्य है कि सूरदासजी ने वल्लभाचार्यजी के पुष्टि-मार्गी सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों अपने काव्य में नहीं उतारा, इसीलिए जहाँ वह सम्प्रदाय की वाणी का मान करते थे, वहाँ उन्होंने अपने व्यक्तित्व का लोप भी नहीं होने दिया।

सूर के कृष्ण—सूरदास के कृष्ण ही पूर्ण ब्रह्म हैं और यह सिद्धान्त उन्होंने अपने गुरु से ही लिया :—

सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव, पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब अंश गोपाल।

ये पूर्ण ब्रह्म वास्तव में निर्गुण हैं :—

पिता मात इनके नहीं कोई
आपहिं करता, आपहिं हरता
त्रिगुण रहित हैं सोई।

उन्होंने राम को भी उतनी ही महत्ता दी है जितनी कृष्ण को। यद्यपि इनकी लीला का वर्णन विस्तार सहित नहीं किया। सूर के कृष्ण परब्रह्म हैं। यही उनके (एक पुरुष) हैं और यही नारायण भी :—

विष्णु रुद्र विधि एकहिं रूप,
इनहिं जान मत भिन्न स्वरूप।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सूर का एक पुरुष ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों से ऊँचा है। इसी प्रकार कृष्ण, नारायण और हरि से भी बड़े हैं। उनकी मुरली की टेर सुन कर नारायण भी ललचाने लगते हैं। यथा :—

नारायण धुनि सुनि ललचाने
स्याम अधर सुनि बैन।

सूर ने स्थान स्थान पर विष्णु का तादात्म्य श्रीकृष्ण से किया है। जैसे कि उस समय की अनेक देवताओं में सामञ्जस्य बैठाने की प्रवृत्ति थी; उसी का अनुसरण सूर ने भी किया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। सूर वास्तव में तुलसी की तरह ही कृष्णावतार और रामावतार में कोई अन्तर नहीं समझते थे।

यह स्पष्ट है कि सूर के कृष्ण मूल रूप से निर्गुण हैं, किन्तु साधारण जनों के लिए अगम अगोचर ब्रह्म रूप कृष्ण की कल्पना करना कठिन ही नहीं असम्भव है। इसीलिए सूर को सगुणोपासना को अपना लक्ष्य बनाना पड़ा किन्तु स्थान-स्थान पर उन्होंने निर्गुण का आभास ही दिया है। जैसे :—

अविगत गति कछु कहत न आवे।

ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ॥

यदि हम कृष्ण के सम्बन्ध में उनके सिद्धान्तों को देखें तो हमें विदित होगा कि उन्होंने कृष्ण के दो रूप हमारे सामने रखे। वास्तव में कृष्ण निर्गुण निराकार हैं, पर वह भक्तों के लिए लीला रूप धारण कर लेते हैं और इसी प्रकार वह भक्त की भावना से निर्गुण से सगुण हो जाते हैं। लीलावतार कृष्ण लीला करके गोलोक को चले जाते हैं और उन्हीं के अनुग्रह से भक्त भी उस लोक को प्राप्त होता है।

माया का निरूपण।—सूर ने माया का वर्णन तीन प्रकार से किया है।

(१) माया का दार्शनिक रूप।

(२) सांसारिक रूप—यह द्वन्द्व में फँसाकर मनुष्य को वासना और मोह की ओर खींचता है। स्त्री और स्वर्ण इसके स्वरूप हैं।

(३) राधा—यह भगवान की अनुग्रहकारिणी शक्ति है।

दार्शनिक रूप—ब्रह्म निर्गुण है। माया के तीन गुण हैं। सत्, रज और तम। वह त्रिगुणात्मक है। इन्हीं तीनों तत्वों के द्वारा वह सृष्टि की रचना करती है, किन्तु सब कुछ भगवान की इच्छा से। वह स्वतन्त्र नहीं है, भगवान के अधीन है। यह सृष्टि माया के वशीभूत है और माया हरि के। सूर के अनुसार माया की सत्ता ब्रह्म से अलग नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में उसी के द्वारा सृष्टि की रचना होती है। और प्रलयोपरान्त उसी में समा जाती है। वह ब्रह्म का अंश है। वास्तव में ब्रह्म की अभिव्यक्ति का नाम ही माया है—

सो हरि माया, जा बस माहि

सांसारिक रूप—यह माया का मोहकारी रूप है। यह विशेषतया नारी के सौन्दर्य के रूप में विकसित होता है। यह माया का उच्छृङ्खल और उत्पाती रूप है। कामिनी और कंचन मनुष्य के लिए एक आकर्षण हैं, जो उसे पतन की ओर ले जाते हैं किन्तु सूर ने माया के इस रूप को भी काव्य का सुन्दर विषय बना दिया है। उन्होंने इसे गाय का रूपक माना है, जो इधर उधर चरती फिरती है पर वह गाय कृष्ण की ही है। वह स्वयं गोपाल हैं। अतः कभी उनसे उसे हटाने की विनय करता है—

माधवजी नेकु हटाइयो गाइ।
निसि बासर यह इत उत भरमत अगह गही नहिं जाइ
नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ
ताहि कहो कैसे कृपानिधि सूर सकत चराइ

राधा रूप:—माया की भाँति राधा भी कृष्ण की शक्ति है, जो अनुग्रहकारी माया है। उसका वही स्थान है, जो शिव के साथ शक्ति का, विष्णु के साथ लक्ष्मी का और राम के साथ सीता का है। राधा प्रकृति की प्रतीक है। राधा को शेष महेश और नारदादि की स्वामिनी कहा गया है। वास्तव में राधा ही कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति है। इस दार्शनिक परिभाषा में राधा की कल्पना सूर की मौलिकता है।

जीव अथवा आत्मा:—आत्मा का आविर्भाव परमात्मा के आनन्द गुण के तिरोभूत होने से हुआ। उसकी विशेषताएँ हैं दीनत्व, सर्व दुःख सहन, सर्व हीनत्व आदि। परमात्मा से जीव का विकास उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी का। इनके मत में जीव भी उतना ही सत्य है, जितना ब्रह्म। वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही हैं, क्योंकि ब्रह्म जीव का उपादान कारण भी है। जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब नहीं है उसका अंश है। उनमें केवल यही अन्तर है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान है और जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं।

मुक्ति और उसके साधन:—सूर के अनुसार मुक्ति का साधन केवल भक्ति है। उनके अनुसार भक्त दुर्बल है, वह काम, क्रोध आदि वासनाओं से भरा पड़ा है। बस केवल भगवान के अनुग्रह ही से ऊपर उठ सकता है। सूर ने भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार आदि सभी रूपों का वर्णन किया है। विनय में दास्यभक्ति के दर्शन होते हैं। वैसे सूर में कान्तासक्ति की प्रधानता है और रसों में शृङ्गार की प्रचुरता पाई जाती है। क्रमशः स्मरण, गुण गान, विरह, आत्मनिवेदन और तन्मयता की अवस्थाओं को पार करता हुआ भक्त परम विरहासक्ति को पहुँचता है। और यही परम विरहासक्ति भक्त का लक्ष्य है। तुलसी की रामभक्ति में दास्यभाव था, इसलिए भक्त को आवश्यक होता था कि वह स्वामी के सामने स्वयं को अधिक से अधिक

शुद्ध करके ले जाए। पर सूर का भक्त कृष्ण का सखा होता था। अनेक दोष और दुर्बलताओं के होते हुए भी वह कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर सकता था। इसी कारण तुलसी की अपेक्षा पुष्टिमार्गी भक्ति का प्रचार अधिक हुआ।

सूर की भक्ति में स्त्री पुरुष दोनों का स्थान बराबर है। सूर ने भक्ति और योग में जो समन्वय स्थापित किया है उसका वर्णन 'भ्रमरगीत' में है। यहाँ पर इतना ही कह देना उपयुक्त है कि सगुणोपासकों में निर्गुणवाद और योगमार्ग का दार्शनिक विरोध है, जिस उपस्थित करने वाले सर्व प्रथम सूरदास थे। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि

'अवगति गति कछु लखि न परे।'

भिन्नता—

(१) सूर सागर में पुष्टि अथवा मर्यादा शब्द एक बार भी नहीं आता, जबकि महाप्रभु का समस्त सिद्धान्त पुष्टि प्रवाह और मर्यादा जैसे पारिभाषिक शब्दों पर आधारभूत है।

(२) सूर ने शुद्ध सामारिक मुक्त और देव जैसे आत्माओं के विभाग भी नहीं किये।

(३) वल्लभाचार्य के धार्मिक सिद्धान्तों में आविर्भाव तिरोभाव जैसे पारिभाषिक शब्द भी बारम्बार आते हैं, पर सूर साहित्य में वह एक बार भी दिखाई नहीं देते।

(४) जहाँ महाप्रभु ने माया की तुलना 'कनक कपोत वस्त्र' से की है वहाँ सूर ने उसे 'काली कमली' माना है यथा —'दे कमरी, कमरी कर जानत।'

(५) सूर ने राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है, किन्तु वल्लभाचार्यजी के सिद्धान्तों में राधा का कोई स्थान नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के चिन्तन में पर्याप्त मौलिकता है।

सूर के विचार में तुलसी की तरह भक्ति का स्थान योग और वैराग्य से ऊँचा है। सूर की मुक्ति कल्पना शुद्धाद्वैत की मुक्ति कल्पना है। वह सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते, सानिध्य मुक्ति चाहते हैं। संक्षेप में यही सूर के दार्शनिकता के सिद्धान्त हैं। वास्तव में तो इन भक्तों के सिद्धान्तों का विवेचन करना एक महान जटिल कार्य है।

(पृष्ठ ५६ का शेषांश)

'अय निज. परो वा ' की भावना आ जाती है।"

'लोक सामान्य भावभूमि' के सम्बन्ध में मैंने अपना दृष्टिकोण पहले ही निवेदन कर दिया है। मेरी दृष्टि में कवि का 'साधारणीकरण', उसका व्यक्तिगत संकीर्णताओं के क्षितिज से मानव धरातल पर प्रतिष्ठित होकर अपने स्वप्नों और सत्यों को 'कान्तासम्मित' ढंग से मनोरम और हृदयग्राही अभिव्यंजना करना—यह किसी भी काव्य में सर्व प्रमुख तथ्य है। इस प्रकार जब कवि देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है तब वह ऐसे भावों की परख कर सकता है जो विश्व-मानव को स्पन्दित और अनुप्राणित कर सकें। ऐसे ही भाव 'साधारणीकृत' भाव कहलाते हैं। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि ये भाव "मानव जगत् के परमप्रिय, व्यापक एवं सर्वसाधारणगृहीत "† भाव हों। वास्तव में, कवि की जो अनुभूति जितनी ही सच्ची, जितनी प्रखर, जितनी सशक्त एवं मार्मिक होगी उसके भावों का उतना ही अधिक मात्रा में साधारणीकरण हो सकेगा, अथवा उतनी ही मात्रा में उसका भी साधारणीकरण होगा। कालिदास, शेक्सपीयर, गेटे प्रभृति इस लिये विश्व कवि नहीं हैं कि उन्होंने 'सर्व साधारण गृहीत भावों' की अभिव्यंजना की है, बल्कि इस लिये कि उनके भावों में उनकी अनुभूति की गहराई, तीव्रता एवं सशक्तता पर्याप्त हो रही है।

† द्रष्टव्य—"साधारणीकरण क्या और किसका ?" शीर्षक लेख 'साहित्य सन्देश', फरवरी १९५१।

अपभ्रंश का अर्थ तथा आरम्भ

कु० सुकेशनी गौड़ एम० ए०

सबसे प्राचीन अपभ्रंश का उल्लेख पतञ्जलि ने २०० ई० पूर्व महाभाष्य में किया है। संस्कृत (वैदिक तथा लौकिक) में जो प्रयुक्त शब्द हैं वह शब्द कहलाते हैं और इनके अतिरिक्त जो बहुत से शब्द होते हैं वह 'अपशब्द' अथवा 'अपभ्रंश' कहे गए हैं जैसे 'गो' के गोवि, गोणि आदि बहुत से अपशब्द हैं।

बहुत से साहित्य शास्त्रियों का कहना है कि संस्कृत के अतिरिक्त और भाषाओं में आए शब्दों को अपभ्रंश कहते हैं। उनका मत है कि Deteriorated form या Corrupted form अर्थात् बिगड़े हुए रूप को अपभ्रंश कहते हैं जैसे 'स्नेह' का 'सनेह'। परन्तु पतञ्जलि ने अपभ्रंश का अर्थ दूसरे प्रकार के अर्थ में नहीं लिया है क्योंकि 'गो' से बने 'गोवि' 'गावि' इत्यादि शब्द ध्वनि परिवर्तन अथवा ध्वनि विकार (phonetics) के कारण हो सकते हैं। 'गो' का स्त्री लिङ्ग 'गावि' बनाया है। इसके अनुसार 'गोणि' 'गोपिता' बिगड़े हुए रूप नहीं हैं यह स्वतन्त्र शब्द हैं।

पतञ्जलि के समय में प्राकृत का प्रचार हो चुका था। इस प्रचार के कारण महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव थे। बुद्धदेव विदेह में प्रचलित प्राकृत में उपदेश देते थे जिसको प्रचार लिख लेते थे और प्रचारकों के कारण ही भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। गोवि, गोण आदि शब्द अर्धमागधी तथा जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। यह शब्द पुराने हैं इससे प्रतीत होता है कि अपभ्रंश नाम की कोई स्वतन्त्र भाषा थी। पतञ्जलि के अनुसार और बोलियों में जो 'गाय' के वाचक शब्द संस्कृत के अतिरिक्त आए हैं उन्हें अपभ्रंश कहते हैं न कि बिगड़े भ्रष्ट रूप को। मयूर के लिये अपभ्रंश में 'मोरउ' और प्राकृत में "मोरओ" का प्रयोग होता है। अपभ्रंश में स्वार्थिक 'अ' प्रत्यय का प्रयोग होता है। 'नचन्तय' और 'उ' भी कहीं कहीं लगता है 'नचन्तउ' परन्तु प्राकृत में ओकारान्त की प्रवृत्ति है इस 'अ' तथा 'उ' से मालूम होता है कि अपभ्रंश तीसरी शताब्दी में पृथक भाषा के रूप में प्रचलित थी।

अपभ्रंश के उदाहरण भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में मिलते हैं। यह भाषा गुजरात सिन्ध की ओर प्रचलित थी। भरतमुनि ने नाटकों में 'आभीरी' का प्रयोग करने का निर्देश किया है। अपने नाट्य शास्त्र में किस जाति की कौन सी भाषा होनी चाहिये बताते हुए भरतमुनि ने आभीरों आदि के पात्रों की भाषा अपभ्रंश होने का उल्लेख किया है।

दण्डी ने ७ वीं शताब्दी में भी आभीरों की बोली का उल्लेख करते हुए बताया है कि अपभ्रंश काव्यों में प्रयुक्त होने वाली आदि की वाणी को आभीर तथा संस्कृत से भिन्न बोली को अपभ्रंश कहते हैं। ८ वीं सदी में रुद्रट ने प्राकृत आदि भाषाओं का वर्णन करते हुए प्राकृत के छः भेद बताये हैं। उन्होंने पाँच भेद गिनाकर छठे के लिये 'भूरिभेदो देश विशेषात्' कह कर यह बताया कि आभीर जिस देश में थे उस देश की भाषा अपभ्रंश थी।

मार्कण्डेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' में २७ अपभ्रंशों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा कि आभीर प्राय देश के सब भागों में फैल गए थे। इन्होंने प्रान्तीय देशज शब्दों को लेकर अनेक अपभ्रंशों को जन्म दिया। २७ अपभ्रंशों में थोड़ा ही अन्तर था। इनमें मुख्य चार अपभ्रंश थे—नागर, उपनागर, व्राचड, कैकय।

जो भी भाषा साहित्य में प्रयुक्त होने लगती है उसका एक रूप निश्चित हो जाता है उसी को परिनिष्ठित कहते हैं। अपभ्रंश का जन्म गुजरात पश्चिम पंजाब और राजस्थान में हुआ था। राजशेखर ने १० वीं शताब्दी में अपनी 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है कि समस्त मरुभूमि उदयपुर तथा टोंक के निवासी अपभ्रंश बोलते थे। अतः यह निश्चित है कि इस भाग में अपभ्रंश भाषा का प्रचलन था। यहाँ के निवासियों का सम्पर्क आभीरों तथा गूजरों के साथ होने से उनकी भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ इनकी भाषा में आईं। समुद्रगुप्त के शिलालेख पर आभीरों का उल्लेख है। गुजरात

(शेष पृष्ठ ६५ पर देखिए)

हिन्दी में आलोचना के विभिन्न रूप

श्री श्रीलाल 'भानु' साहित्याचार्य

साहित्य में समालोचना का कार्य बहुत ही दुस्तर है। साहित्य में जो अनर्गल और अनावश्यक विषयों का समावेश हो जाता है उसका परिशोधन समालोचना के ही द्वारा होता है। यदि साहित्य एक वन्य स्थल है तो उसे उपवनवत बनाने में एक समालोचक ही समर्थ है। साहित्य रूपी उद्यान में काटने और सींचने के दोनों काम समालोचना के ही द्वारा हो सकते हैं। साहित्य के विभिन्न अङ्गों में समालोचना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इस समय आलोचना का स्वरूप कई रूपों में प्रस्फुटित हो रही है, जिनका विवरण हम आगे करेंगे।

हिन्दी में समालोचना का प्रारम्भ भारतेन्दु के समय में हो चुका था। हिन्दी साहित्य में आलोचना सर्वप्रथम गुण दोष के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप में इसका सूत्रपात भारतेन्दु के समय में ही हुआ। लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका में शुरू की। 'प्रेमघनजी' ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना लिखी जिसमें दोषों का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था।

निर्णयात्मक आलोचना—के अनुसार आलोचक पुस्तक के गुण दोष प्रदर्शित करता है। निर्णयात्मक आलोचना में आलोचना करते समय कुछ स्थिर और सर्वमान्य सिद्धान्त सामने रख लिए जाते हैं और उन्हीं के द्वारा आलोचना की जाती है। इसमें आलोचक का स्थान बड़े महत्व का होता है। वह एक निर्णायक की तरह हमारे सामने आता है और उचित अनुचित, गुण दोष का प्रदर्शन करता है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की समालोचना की नींव डाली। द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरंकुशता' में निर्णयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किये। इसके पश्चात् उन्होंने 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' तथा 'नैषध चरित चर्चा' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखकर इस क्षेत्र में नवीन आलोचना शैली के उदाहरण प्रस्तुत किये। इस शैली में सबसे बड़ा दोष यह है कि समालोचक कला की उन्नति को नहीं मानता। भिन्न भिन्न समय पर कला में जो परिवर्तन होते हैं उनको वह भूल जाता है और एक ही तराजू पर सब प्रकार का साहित्य तौलता है।

द्विवेदीजी ने जीवन पहलू—आन्तर पक्ष पर पूरा ध्यान दिया, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनको छन्दछाया में नवीन धारा के कवियों को अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग काव्य का पोषण करना द्विवेदीजी का ही काम था और वे युग द्रष्टा साहित्यिक और समालोचक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। द्विवेदीजी ने 'हिन्दी नवरत्न' पर अपना मत देकर समीक्षा की एक सुन्दर रूपरेखा प्रस्तुत की।

तुलनात्मक आलोचना—द्विवेदीजी के बाद दूसरे बड़े आलोचक मिश्रबन्धु थे। इन्होंने सर्वप्रथम तुलनात्मक समालोचना की पद्धति चलाई। आपने 'हिन्दी नवरत्न' में बिहारी से देव को ऊँचा बताया जिसके कारण देव और बिहारी पर एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। मिश्रबन्धुओं की समीक्षा में देश काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ा, किन्तु वह सब उल्लेख नाम-मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई परिवर्तन न हो पाया। सब कुछ होते हुये मिश्रबन्धु रीति काव्य का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य के भावपक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक करके देखा। रीति काव्य और रीति ग्रन्थों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा है। मिश्रबन्धु के देव और बिहारी के विवाद को लेकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की भूमिका लिख हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। शर्माजी ने अपनी पुस्तक में बिहारी की तुलना बड़ी विद्वत्ता के साथ संस्कृत की गाथा सप्तशती तथा आर्या सप्तशती से की है। शास्त्रीय सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर

यद्यपि शर्माजी ने गम्भीर विवेचन का प्रयत्न किया है परन्तु अधिकांश में—आलोचना गम्भीर न रह कर प्रभाववादी होगई है। शर्माजी की समीक्षा का आधार रीति-कविता है। उनकी समालोचना में साहित्य का प्रश्न न अथ उसका रचना कौशल माना गया है। उन्होंने साहित्य की आत्मा को छोड़ कर उसके शरीर पर ही अधिक ध्यान दिया है। नवीन सुधार का विषय काव्य आत्मा नहीं, काव्य शरीर था। यह भी समय को देखते हुए अनिवार्य था। पं० पद्मसिंह शर्मा का सतीचा काव्य शरीर का आग्रह करके चली, देव और बिहारी का आदर्श बनाकर आगे बढ़ी।

बिहारी के विपरीत देव की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम की एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी। इसमें मिश्रजी ने बड़ी शिष्टता, संयम और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न भिन्न प्रकार की रचनाओं की तुलना की है। इस पुस्तक में मिश्रजी, वास्तव में निष्पक्ष और एक सहृदय मार्मिक आलोचक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। इस पुस्तक के उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नाम की पुस्तक लिखकर बिहारी की उत्कृष्टता को सिद्ध किया गया। बीच में अनेक लेख लिखे गये परन्तु इनमें से अधिकांश लेखों में साहित्यिक आलोचना के स्थान पर वितण्डावाद के ही दर्शन होते हैं। श्री मिश्रजी व दीनजी दोनों इस युग के मुख्य समालोचकों में से हैं। जिन पर रीति पद्धति की पूरी छाप है। द्विवेदीजी अपनी समीक्षा में काव्य विषय को महत्व देते हैं, भले ही शैली का सौन्दर्य अथवा भावात्मकता उसमें न हो। मिश्रजी और दीनजी विषय की अपेक्षा काव्य शैली को मुख्य ठहराते हैं। पं० विश्वनाथ मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति' के नाम से एक पुस्तक लिख बिहारी की रचना का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है।

तुलनात्मक समालोचक कलाकारों के वर्गीकरण पर विश्वास करते हैं। उसकी दृष्टि एक दूसरे की समता पर भिन्नता दिखाने की ओर रहती है। वह दो व्यक्तियों को या दो साहित्यों को लेता है। उनके भावपक्ष और शब्द पक्ष की तुलना करता है और अन्त में वह निर्धारित करता है कि एक दूसरे से कौन कितना बड़ा या छोटा है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना:—ज्यों ज्यों मनोविज्ञान की उन्नति होती गई त्यों त्यों इसकी सहायता से बहुत से तथ्यों की खोज होने लगी। मनोविज्ञान केवल एक पाठ्य विषय न रहकर एक सहायक विषय भी होगया है। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का विस्तृत अध्ययन कर और भारत की रसपद्धति और पश्चिम के आलोचना सम्बन्धी दृष्टिकोण का समन्वय कर शुक्लजी ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। विभिन्न कवियों की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनकी कला का शुक्लजी ने मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से विश्लेषण किया है। सूरदास, तुलसीदास और जायसी पर लिखी गई आलोचनाएँ इसी ढङ्ग की हैं। इसमें उन्होंने कवियों के ऊपर कलात्मक तथा मानसिक विकास पर बहुत विस्तृत प्रकाश डाला है। बाबू श्याम सुन्दरदास की भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा तुलसी पर लिखी व्याख्यात्मक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचनाएँ भी बहुत विस्तृत तथा मार्मिक हैं। डा० नगेन्द्र की लिखी हुई 'सुमित्रानन्दन पन्त' नामक पुस्तक भी मनोवैज्ञानिक समीक्षा का अच्छा उदाहरण है। श्री माताप्रसाद गुप्त ने तुलसीदास जी पर ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना लिखी। इसी प्रकार डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'तुलसी दर्शन' नामक पुस्तक में तुलसीदासजी के दार्शनिक सिद्धान्तों का बहुत विशद विवेचना की है।

मनोवैज्ञानिक समालोचक कला का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं समझता जब तक कलाकार का पूर्ण अध्ययन न कर ले। जब कला कलाकार की मानसिक प्रवृत्तियों का ही प्रतिबिम्ब मात्र है तब क्यों न मूल बात की खोज की जाय? जब मूल का परिज्ञान हो जायगा तब शाखाओं के समझने में कितनी देर लगेगी। अतएव इस प्रणाली में कलाकार के अध्ययन में ही उसकी कला का अध्ययन हो जाता है।

विश्लेषणात्मक आलोचना:—(क) आधुनिक कवियों पर—विश्लेषणात्मक आलोचना की परिपाटी पर आज हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट आलोचना पुस्तकें लिखी जा

रही है। आधुनिक कवियों की विशद आलोचना प्रस्तुत करने में श्री नगेन्द्र (सुमन एक अध्ययन) श्री सत्येन्द्र (गुप्तजी की कला) श्री रामनाथ सुमन (प्रसाद की काव्य साधना) श्री नन्ददुलारे वाजपेयी (जयशङ्करप्रसाद) गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश (महाकवि हरिऔध) आचार्य श्री लालभानु (रामकुमार वर्मा अ०) तथा गङ्गाप्रसाद पांडे (कामायनी एक परिचय) प्रमुख हैं। इन आलोचकों ने अपने-अपने विशिष्ट कवि के बहुत सुन्दर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं।

(ख) प्राचीन कवियों पर—विशद विवेचन करने वाले आलोचकों में आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रमुख स्थान है। सन्त साहित्य पर आपका अध्ययन पर्याप्त विस्तृत है। आपकी 'कबीर' और 'सूरदास' पर लिखी हुई आलोचनायें सर्वथा मौलिक और अपने ढंग की अनूठी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन कवियों पर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वालों में सर्वश्री अखौरी गङ्गाप्रसादसिंह (पद्माकर की काव्य साधना तथा केशव की काव्य कला) डा० ब्रजेश्वर वर्मा (सूरदास) गङ्गानाथ झा (महाकवि विद्यापति) भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र (मीरा की प्रेम साधना) डा० रामकुमार वर्मा (कबीर का रहस्यवाद) रामरतन भटनागर (सूर साहित्य की भूमिका, केशवदास, विद्यापति आदि) नलिनी मोहन (भक्तवर सूरदास) भुवनेश्वर मिश्र माधव (सन्त साहित्य) इत्यादि प्रमुख हैं।

सामयिक युग में आलोचनात्मक अध्ययन में मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को अधिक अपनाया जा रहा है। सर्वश्री नगेन्द्र, अज्ञेय तथा जैनेन्द्र मनोविश्लेषण का आश्रय ग्रहण कर मानव मन की खोज का प्रयत्न कर रहे हैं।

ऐतिहासिक आलोचना—किसी विषय की ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना करना ऐतिहासिक आलोचना कहलाती है। कलाकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है। यह स्वाभाविक है कि उस समय के रहन सहन, वातावरण, विचारधारा आदि का उस पर प्रभाव पड़े। उसकी कला उसका एक चित्र खींचती है। अतएव समालोचक के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि उस समय के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का अध्ययन करे, उसका पूर्ण इतिहास जाने। आलोचनात्मक इतिहासों में पं० रामचन्द्र शुक्ल का (हिन्दी साहित्य का इतिहास), डा० रामकुमार वर्मा का (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास), कृष्णशङ्कर शुक्ल का (आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास), हजारीप्रसाद द्विवेदी का (हिन्दी साहित्य की भूमिका) डा० श्यामसुन्दरदास का (हिन्दी साहित्य) मोतीलाल मेनारिया का (राजस्थानी भाषा और साहित्य) आचार्य चतुरसेन शास्त्री का (हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास) महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का (हिन्दी काव्य धारा) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

परीक्षा की दृष्टि से साहित्य का सरल इतिहास आदि के नाम से जो इतिहास निकल रहे हैं, वे महत्वहीन हैं। उनमें इतिहास लेखक यथोचित सामग्री का उपयोग करने में असमर्थ रहते हैं। इस ओर बाबू गुलाबराय का प्रयत्न अवश्य सराहनीय है। उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य के सुबोध इतिहास' में आधुनिकतम साहित्य की आलोचना प्रस्तुत की है और वे उसे प्रति वर्ष नए संस्करण में 'अप-टू-डेट' करते जाते हैं। इतिहास लेखन कला की नींव डालने वाले आचार्य शुक्लजी हैं। उनका प्रयास इस क्षेत्र में विशेष रूप से सफल है। अभी कुछ समय पूर्व डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० श्रीकृष्णलाल के हिन्दी साहित्य की ५० वर्षों की प्रगति पर लिखे गये क्रमशः 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक इतिहास प्रकाशित हुए हैं। डा० वार्ष्णेय ने हिन्दी साहित्य का १८५० से १६०० तक और डा० श्रीकृष्णलाल ने १६०० से १६२५ तक की हिन्दी साहित्य की प्रगति का उल्लेख किया है। आधुनिक कवियों की छानबीन करने के कारण प० श्री कृष्णशङ्कर शुक्ल के इतिहास ने ख्याति पाई है।

सैद्धान्तिक आलोचना—में आलोचक आलोचना शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों तथा नियमों का परिचय देता है। ये नियम या सिद्धान्त ही निर्णयात्मक आलोचना के आधार पर होते हैं। जिन ग्रन्थों में आचार्यों द्वारा दिये हुए काव्य के आदर्श बतलाये जाते हैं और इन आदर्शों की उपलब्धि के लिए नियम और उपनियम निर्धारित

लिये जाते हैं वे ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ कहे जाते हैं। इन ग्रन्थों के आदर्श तथा नियम और उपनियम निर्णयात्मक आलोचना के आधार बनते हैं।

आधुनिक युग में सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'नाटक' नाम की पुस्तिका से होता है। इस पुस्तक में नाट्यशास्त्र के नियम तथा भारतीय और योरोप के नाटकों के इतिहास की सन्क्षिप्त विवेचना है तथा नाट्यशास्त्र पर भी प्रकाश डाला गया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'रसज्ञ-रञ्जन' के कुछ निबन्धों में सैद्धान्तिक आलोचना का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' सर्वप्रथम आलोचना शास्त्र का ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें मौलिकता कम है तथापि वह एक प्रकार से सर्वांगपूर्ण है। साहित्यालोचन ग्रन्थ में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यांगों की पहचान पर [illegible] की गई है और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'विश्व साहित्य' में यूरोपीय और विशेष कर अँग्रेजी साहित्य की भावी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ (साहित्यालोचन) का हिन्दी साहित्य समीक्षा पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठकर सार्वभौमिक बनाकर देखने की अपूर्व प्रेरणा प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त [illegible] प्रसाद भानु का (काव्य प्रभाकर) हरिऔध का (रस कलश) डा० सूर्यकान्त शास्त्री का (साहित्य मीमांसा) लाला भगवान दीन का (अलंकार मंजूषा) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की (अलंकार मंजरी) [illegible] का (अलंकार पीयूष) आदि। रस पर पं० हरिशंकर शर्मा का (रसरत्नाकर) बाबू गुलाबराय का (नवरस) अयोध्या नरेश महाराज प्रताप [illegible] का (रस कुसुमाकर) [illegible] का (रसमंजरी) आदि ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

हाल में इस सम्बन्ध में और भी कई ग्रन्थ हुये हैं। उन सबका नामोल्लेख करना भी कठिन है। उनमें से कुछ यह हैं—[illegible] नारायण शर्मा का (साहित्य) शिवनन्दन प्रसाद का (साहित्यालोचन के सिद्धान्त) रामदहिन मिश्र का (काव्यालोक)। इन सबमें श्री रामदहिन मिश्र के काव्यालोक का विशेष महत्व है। उसमें भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का बड़ी सुन्दरता के साथ समावेश किया गया है। उसमें नवीनता के साथ शास्त्रीयता भी है।

खोज के रूप में —हिन्दी का खोज सम्बन्धी कार्य दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। साहित्य सम्बन्धी तथा भाषा सम्बन्धी। आजकल हिन्दी में खोज और आलोचना के द्वारा हिन्दी आलोचना साहित्य का भण्डार ही सबसे अधिक भरा जा रहा है। विश्वविद्यालयों में पी एच० डी० और डी० लिट० के अनेक विस्तृत निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं।

(अ) साहित्य सम्बन्धी — हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में 'संस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' (सरनामसिंह जयपुर) प्राकृत तथा अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव (राम सिंह तोमर) इसके अतिरिक्त अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (दीनदयालु गुप्त) रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र) हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास (डा० सोमनाथ गुप्त) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा) तुलसी दर्शन (डा० बलदेव प्रसाद) तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त) भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (डा० नगनाथ प्रसाद शर्मा) आधुनिक काव्यधारा (डा० केसरी नारायण शुक्ल) हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण (डा० किरणकुमारी गुप्त) आदि अदि थिसिस के नाम उल्लेखनीय हैं। अभी हाल में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने [illegible] भारत की सन्त परम्परा शीर्षक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशन किया है। यह एक प्रकार से हिन्दी सन्त परम्परा का विश्वकोष सा है। डा० सत्येन्द्र ने 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' शीर्षक से महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिख कर साहित्य में एक विशिष्ट अंग की ओर कदम बढ़ाया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की रामसाहित्य धारा की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान गया। 'रामकथा की उत्पत्ति और विकास' (कामिल बुल्के) पर हिन्दी में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में रामकथा के समस्त भारतीय तथा विदेशी उद्गमों की परीक्षा की गई है और उसके क्रम

स्वरूप परिणाम दिये गये हैं।

(घ) भाषा सम्बन्धी:—साहित्य क्षेत्र के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें अवधी का विकास (डा० बाबूराम सक्सेना) ब्रजभाषा (डा० धीरेन्द्र वर्मा) भोजपुरी का विकास (उदयनारायण तिवारी) बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास (नलिनीमोहन सान्याल) हिन्दी शब्दार्थ विज्ञान (हरदेव बिहारी) उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त भाषा सम्बन्धी अध्ययनों में मुहावरा मीमांसा (ओमप्रकाश गुप्त) भारतीय प्रायोगों की शब्दावली का अध्ययन (हरिहर प्रसाद गुप्त) हिन्दी प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक अध्ययन (विद्याभूषण विभु) उल्लेखनीय हैं।

मार्क्सवादी आलोचना:—प्रगतिवादी झण्डे के नीचे अब मार्क्सवादी आलोचना का प्रचार हो रहा है। इस प्रकार का आलोचना कला को इतनी मुख्यता नहीं देती जितनी कि किसान मजदूरों, दलितों और शोषितों की भौतिक आवश्यकताओं को। यह लोग वर्गहीन समाज के पोषक हैं। इस प्रकार की आलोचनाओं में प्रगतिवाद (शिवदान-सिंह चौहान) धर्मवीर भारती का (प्रगतिवाद) डा० रामविलास शर्मा की (प्रगति और परम्परा) अमृतराय की (नई समीक्षा) शिवचन्द्र का (प्रगतिवाद की रूपरेखा) विजय-शंकर मल्ल का (हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद) आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवतीशरण उपाध्याय को भी प्रगतिवादी आलोचकों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। डा० रामविलास शर्मा की दृष्टि इन सभी आलोचकों से अधिक व्यापक है।

इनके अतिरिक्त आजकल कुञ्जीवादी आलोचनाओं का अधिक प्रचार हो रहा है। अमुक अमुक लेखक, एक अध्ययन, एक दृष्टि, एक परिचय, मीमांसा या ऐसे ही नामों से कोई लेखक चन्द बरदाई से आज तक हिन्दी में नहीं बचा है। इस स्तर का आलोचना का यह लाभ है कि विद्यार्थी कठिन मूल न पढ़कर सस्ता टीकाओं से परीक्षा पास कर लेता है। वहाँ एक बड़ा हानि यह है कि आलोचना के स्तर को इस प्रकार की सस्ती किताबों ने पतित बना दिया है। यानी विचार के स्तर से आलोचना निरे गद्य अन्वय और भाष्य के स्तर पर उतर आयी है। यह आलोचना पद्धति निरी पुस्तक है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी में पत्र सम्बन्धी आलोचना, कृति मूलक आलोचना, वैज्ञानिक आलोचना, प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना आदि कई प्रकार की आलोचनाओं के रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार हमारे आलोचना साहित्य में आलोचना की कई शैलियों के दर्शन होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की भाँति समालोचना साहित्य भी निरन्तर विकासोन्मुख है। समय तथा परिस्थितियों के अनुरूप हिन्दी साहित्य का आलोचक आज मानवता के प्रति जागरूक हुआ साहित्य को प्रति दिन शोषित तथा पीड़ित वर्ग के निकट ला रहा है। साहित्य तथा जीवन के सम्मिलन के ये मङ्गलमय चिह्न हैं।

अभी हिन्दी में उत्कृष्ट समालोचना साहित्य की आवश्यकता है। उसके लिये हिन्दी साहित्यकारों के जीवन चरित्र और कृतियों की माला निकाली जाय। जब सब प्रसिद्ध साहित्यकारों पर इस प्रकार की पुस्तकें निकलेंगी तो प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना के लिये अवकाश मिलेगा। फिर तो आलोचना की सुन्दर परिपाटी चल पड़ेगी।

(पृष्ठ ६० का शेषांश)

काठियावाड़ में भी इनकी बस्ती बसती थी। मगध तथा काशी में भी इनका प्रसार था। यह जाति बड़ी प्रबल थी।

• अपभ्रंश भाषा का उदय आभीर और गुर्जरों के कारण ही हुआ। जिस प्रकार मुसलमानों ने यहाँ प्रवेश किया तथा उर्दू की रचना हिन्दी के आधार पर की थी और उर्दू एक परजीवि (Parasite) भाषा बन गई इसी प्रकार इन लोगों की स्वतन्त्र भाषा 'आभीर' कहलाई पर जब ये 'चातुर्वर्ण' में मिलकर ग्रामों में निवास करने लगे तब आभीरों की बोली के शब्दों के मेल से अपभ्रंश का विकास हुआ।

हुए बीन तार कोकिल, करुण रागिनी तड़प उठेगी सुना न ऐसी पुकार कोकिल" या "सघति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना " आदि में।

२—प्रबन्ध-काव्य—कामायनी है तो प्रबन्ध काव्य पर प्रसाद ने मुक्तक गीतों का समावेश भी किया है। प्रकृति पर दरिद्र नायिका का आरोप करते हुए वे कहते हैं—

"फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली।"

या उनका तारे को सम्बोधन—

"तम के सुन्दरतम रहस्य हे कान्ति किरण रंजित तारा
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल बिन्दु भरे नव रस सारा।"

में सौन्दर्य, कोमलता के साथ ही रहस्य भावना का संकेत भी है।

'आँसू' में छन्द की नवीनता, नया उपमा विधान, प्रतीक पद्धति अपने भावों की व्यंजना में अत्यंत सफल रही। 'आँसू' को ही उन्होंने "मस्तक की घनीभूत पीड़ा" कहा है। वासना का उन्मेष, विस्फोट व कवि का परिस्थिति से सामंजस्य—यही 'आँसू' के गीतों की रूप रेखा है।

"माना कि रूप सीमा है यौवन में सुन्दर तेरे।
पर एक बार आये थे निस्सीम हृदय में मेरे॥"

में कवि का प्रेम व प्रिय के असीम सौन्दर्य की सुन्दर झाँकी है। वहीं प्रिय को उपालम्भ है, वहाँ नैराश्य व्यञ्जना अत्यन्त प्रखर हो उठी है—

"झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥"

३—मुक्तक गीत—'लहर' और 'झरना' में संग्रहीत हैं। 'प्रसाद' को मुक्तक गीत रचना में अधिक सफलता हुई—
"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे "
या "खोलो प्रियतम खोलो द्वार" अत्यन्त प्रसिद्ध गीत हैं।

"मरते कोमल वत्स यहाँ रहती न जवानी परदेसी।
माया के मोहक बन की मैं कैसी कहूँ कहानी परदेसी॥"

प्रसाद की वेदना स्पष्ट है, निराशा व्यक्त है जो सोचने को विवश कर देती है।

किन्तु प्रसाद की तत्सम प्रियता, अमूर्त उपमाओं का विधान समास पद्धति व गूढ़ता गीतों के पूर्ण विकास में सहायक न हो सकी। द्वैत भाव समन्वित चित्रण ने भावों के स्वाभाविक विकास में बाधा की है। बुद्धि का प्राधान्य होने से गीत सरल व सुबोध न हो सके। गीतों में अनुभूति की गम्भीरता अवश्य है पर भावों की व्यापकता नहीं।

'पन्त' हिन्दी में अपनी जन्म प्रदत्त सुकुमारता लेकर आए। हिमाचल की सुरम्य हिमाच्छन्न घाटियों में कवि कल्पना, भावुकता का विकास हुआ था—कविता में यही प्रभाव स्पष्ट है। भावों को मूर्तिमान रूप देने व साकार चित्र उपस्थित करने में 'पन्त' सिद्धहस्त हैं। भावों की कोमल से कोमल अभिव्यक्ति में वे अद्वितीय हैं। कविता व जीवन दोनों में स्वतन्त्रता प्रिय होने से कविता में नियम-भेद, छन्द भजन उन्हें स्वीकृत नहीं हुए। फलतः उनके गीतों को सूक्ष्म भावानुभूति व गहराई मिल सकी। भावोन्मेष के साथ साथ चित्रण कार्य भी हुआ और हर्षातिरेक या वेदना शब्दों में मूर्तिमान् हो गई। आत्म-व्यथा व पीड़ा का तथा संसार में दुर्भाग्य अभिशाप का वर्णन 'ग्रन्थि' में है—

"वह मधुप बिंध कर तड़पना है यही,
नियम है संसार का रो हृदय रो।
दग्ध चातक तरसना है, विश्व का,
नियम है यह रो अभागे हृदय रो।"

"सतह की चल जल माली" के साथ ही वे जीवन के गम्भीर पक्षों की ओर भी झुके किन्तु 'पन्त' मुख्य रूप से सौन्दर्य व प्रेम के उपासक हैं, कठोरता व संघर्ष की गहराई उनमें नहीं है। 'ग्राम्या' में दलित वर्ग से केवल 'बौद्धिक सहानुभूति' रही है। 'उत्तरा' तक की रचनाओं में उनके प्रकृति सम्बन्धी या स्वच्छन्द वैयक्तिक उद्गार ही अधिक हुए हैं। उनके 'गुंजन' में सुख दुख का पलड़ा बराबर करने वाला गीत "सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन" प्रसिद्ध हुआ। 'भंवरी पक्षी के प्रति' भी सुन्दर गीत है। 'स्वर्णकिरण का एक गीत'—

"विदा विदा शायद मिल जाँए कदा कदा
मैं बोना तुम जाओ प्रसन्न मन जाओ मेरा काशी
उसकी पलकों पर आँसू वे ओठों पर निश्छल हाँसी"—

मानसिक दर्शन व सत्य पर निर्भर होने से अत्यन्त

प्रभावपूर्ण हुआ है। 'पन्त' में कसक है, निराशा है, पर वे आशावादी भी हैं, यही है और आ क प्रभावों में उनका मानसिक धरातल बदलता रहा है। यहाँ 'एक बार बहता जग जीवन एक बार मेरा मन' उन्हें जीवन से निराश कर देता है तो कहीं 'मेरे मानस का स्वर्गलोक उतरेगा भू पर नई बार' की भावना प्रवृत्त करती है। प्रकृति व्यापारों पर मानवी भावों का आरोप अधिक है। किन्तु परिवर्तित चिन्तन के कारण एक स अनुभूति मूलक गीत सर्वत्र नहीं मिलते। उनका बुद्धिवाद, तुकों का दीर्घ ह्रस्व नियम गीतों के प्रवाह व लय में बाधक होता है, इसी कारण गीत सर्वत्र पूरे ग्राह्य नहीं हो सके हैं। फिर संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग भी बाधक हुआ है।

गीत काव्य का चरम विकास 'महादेवी' जी की रचनाओं में हुआ। विरह वेदना की अभिव्यक्ति में उन्हें पूर्ण सफलता हुई। वर्ण्य विषय के साथ कवि की अनुभूतियों की एकाकार होने पर ही सुन्दर व सफल गीत बनते हैं। हृदय स्पर्शी व तभी सम्भव होते हैं। भाषा विकास की दृष्टि से भी खड़ी बोली अब तक यथेष्ट परिष्कृत हो चुकी थी, प्राञ्जलता व सुकुमारता, भावाभिव्यञ्जन शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। कविता का शरीर बाह्य गठन सज चुका था। महादेवी में तन्मयता व एकीकरण के साथ कुशल चित्रकार की सूक्ष्म पकड़ थी। अतः गीत रचना में वह सर्वश्रेष्ठ सफल हुईं। उनकी कविता का सम्बन्ध भी रहस्यवादी धारा से रहा जिसमें प्रिय के अज्ञात, अरूप व असीम होने से मानसिक अनुभूति ही होती है। प्रिय से क्रीड़ा, अभिसार व आँख मिचौनी शब्दों द्वारा पार्थिव होते हैं, पर मानसिक सम्बन्ध के आधार पर उन्हीं से रसानुभूति होती है। हृदय के भाव असीम प्रेम को छन्दबद्ध करने में लीन रहते हैं, अतः महादेवी की विरह भावना व तत्सम्बन्धी गीत हिन्दी साहित्य में अनूप बन सके हैं।

गीतों के आवश्यक उपादान महादेवी [illegible] प्राप्त थे। भाषा [illegible] कृष्ण के [illegible] महादेवी ने [illegible] के [illegible] है? [illegible]

"आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा।"

साधक की प्रिय से क्रीड़ा, आशा निराशा सभी अनन्त हैं—

रंगमय है देव दूरी,
छू तुम्हें रह जायगी यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी।

किन्तु उन्हें [illegible] मिलने का दुःख नहीं है। स्वर झंकृत होते हैं, अनुभूति में पीड़ा व संघर्ष है जिसने सारे गीत वेदनामय कर दिए हैं।

"क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव अरे यह,
मेरा मिटने का अधिकार।"

प्रकृति में मानव सुख दुःख की अनुभूति, प्रिय की निरन्तर उपस्थिति, अनुदार विनय के कारण सारे गीत वेदना की निधि व करुणा से ओत प्रोत हो गये हैं। साथ ही उपयुक्त शब्द चयन पद लालित्य का भी पूर्ण समावेश है। कवयित्री प्रिय के गीतों का माध्यम व बीन स्वयं बन गई हैं, वहाँ द्वैत का पता ही नहीं—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ,
अधर भी हूँ और उसकी चाँदनी भी हूँ।

अपने जीवन प्रदीप से वे यही कहती रही हैं—

"मधुर मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग, प्रतिदिन, प्रतिपल प्रतिक्षण।
प्रियतम का पथ आलोकित कर
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित।
तेरे जीवन का अणु गल-गल।"

क्योंकि उनका जीवन बहती बरसात की [illegible] की तरह है जिसको परवशता का उन्हें गर्व है।

मीरा के [illegible], भक्ति के तपोवन की शकुन्तला मीरा ने शब्दों के पुष्पों में सौरभ भरा था [illegible] देकर भी साहित्य को अनमोल गीतों से सजाया। मीरा कुसुम्भी साड़ी पहन कर कृष्ण दर्शन चाहती थी पर वे कहती हैं—'काहे विरोग-पन रोते सुहाग सजन [illegible]। मीरा में अपूर्व तन्मयता, गान व मिठास है—"पग घुँघरु

बाँध मीरा नाची रे" में उनकी भावना का चरम उत्कर्ष है। महादेवी लिखती हैं—

"चुभते ही तेरा अरुण बान
बहते कन कन से फूट फूट मधु के निर्झर से सजल गान"।

उनके अभिसार के द्वन्द्व भी तदनुरूप ही उत्कृष्ट हुए हैं। प्रकार साम्य, तन्मयता, एकनिष्ठ व अनवरत विरह साधना में मीरा व महादेवी वर्मा में अद्भुत साम्य है। प्रेम व विरह के निरूपण, एकान्त मधुर साधना में महादेवी के जोड़ का कवि हिन्दी में दूसरा नहीं। न भाषा में ही कोई उनकी तरह सफल हो सका है।

तदुपरान्त रामकुमार वर्मा व माखनलाल चतुर्वेदी के कुछ गीत प्रसिद्ध हुए। वर्माजी के प्रणय 'आधुनिक कवि सीरीज' में संकलित हैं। चतुर्वेदीजी की 'फूल की आशा' व देश प्रेम सम्बन्धी गीत सफल हुए। वीणापाणि से उनका संबोधन है—

"तुम रहो न मेरे गीतों में तो गीत रहें जिनमें बोलो
तुम रहो न मेरे प्राणों में तो प्राण रहें जैसे बोलो
मेरी कसकों में कसक कसक मेरी खातिर मनवास करो
मेरे गीतों के राज तुम मेरे गीतों में वास करो।"

परवर्ती गीत रचयिताओं में 'बच्चन' व 'नरेन्द्र शर्मा' उल्लेखनीय हैं। 'बच्चन' के गीत अनुभूति की मार्मिकता, मस्ती की कसमसाहट के कारण कीट्स की कविताओं का स्मरण कराते हैं। बीच-बीच में संसार की मीमांसा, प्रणय बन्धन, अवसाद, निराश प्रेमी के उद्गार अत्यन्त मार्मिक हुए हैं। गीतों की दृष्टि से 'निशा निमन्त्रण' 'मिलन यामिनी' बच्चन की सर्व श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। कवि ने संयोग वियोग का पूरा सजीव वर्णन किया है पर मांसलता तक नहीं पहुँचा है। सरलिसता का यही मुख्य कारण है—

"मनुज के अधिकार कैसे, हम यहाँ लाचार ऐसे
कर नहीं इनकार सकते, कर नहीं सकते वरण भी
मन भी छन जाएगा भी।"

मनुष्य की विवशता, दैन्य व निराशा का अत्यन्त स्पष्ट निरूपण है, मार्मिक तथ्य है। जो 'प्रसाद' ने भी कही थी—"देव न थे हम और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले' किन्तु दर्शनात्मक शैली द्वारा अति गूढ़ हो गया। जब कि 'बच्चन' में स्पष्टता है। "प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ" "वह पग ध्वनि मेरी पहचानी" अत्यन्त प्रसिद्ध गीत हैं। "इस पार-उस पार" कविता की तो धूम मच रही। यदि कवि था तो 'पन्त' के नाम की माला जपता था 'बच्चन' के गीत गुनगुनाते हैं। अनुभूति की तीव्रता तह तक का निरावरण चित्रण उनकी विशेषता है।

'नरेन्द्र शर्मा' के गीतों में निराश प्रेम की व्यंजना प्रधान रहा। सिनेमा के सम्पर्क से भाषा शैली व भावों का माध्यम बदल गया जो उनकी कविता में लक्षित होता है। व्याकुल कवि नैराश्यजन्य उद्गार प्रकट करता हुआ कहता है—

"आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?
आज से दो प्रेम योगी अब वियोगी ही रहेंगे!"

यही भावना 'अंचल' द्वारा इस प्रकार व्यक्त हुई—

"अब मिलेंगे और जाने किन्तु तब तक
भूलना मुझको न प्रियतम!"

'अंचल' तक आते आते मानसिक अनुभूति का स्थान मांसलता ने ले लिया। मनुष्य की वासनाओं, तृषा का उन्मुक्त चित्रण ज्यों का त्यों होने लगा। 'मैं' 'तू' तक ही गीत सीमित हो गए और "किरण घड़ा तुम्हें प्रिय मेरा याद दिलाना होगा" जैसे गीत लिखे जाने लगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली पद्य के विकास के साथ-साथ सुन्दर व सफल गीतों की रचना भी हुई। 'प्रसाद' 'पन्त' ने कोमलता द्वारा भाषा को सशक्त किया, फलतः खड़ी बोली में माधुर्य व कोमल कान्त पदावली का अभाव न रहा। भावों की गहराई के साथ साथ कविता-कामिनी को खूब सजाया-सँवारा गया। बाह्य गठन अत्यन्त आकर्षक हुआ। महादेवी ने गम्भीर अनुभूति के साथ अन्य प्राप्त उपादानों के योग से गीतों के पुष्ट रूप का निर्माण किया। वर्णन में मानसिक पक्ष का प्राधान्य, सकेत-शैली व प्रतीकात्मक पद्धति गीतों में उद्बुद्ध रस के साधारणीकरण में अत्यन्त सहायक व सफल हुए। अन्तर्वृत्तियाँ रस रमी। काव्य में रस सदा व्याप्त होता है वाच्य नहीं। अनुभूति का आवेग वर्णन ही रस निष्पत्ति में सहायक होता है। यही सहृदयता अगम्यता का साहित्यिक मापदण्ड है और इसी तथ्य पर हिन्दी गीतों का भविष्य निर्भर है।

हिन्दी के गद्य साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव

प्रो० मोहनलालजी एम० ए०

हिन्दी नाटकों पर अँग्रेजी के नाट्य-साहित्य का प्रभाव तीन प्रकार से आँका जा सकता है—

१—अनुवाद।

२—शेक्सपियर और एलिज़ाबेथ युग के नाट्यकार।

३—आधुनिक नाट्यकार (इब्सन, शॉ आदि)।

पहले प्रभाव के अन्तर्गत केवल अनूदित कृतियाँ आती हैं, दूसरे और तीसरे ने अधिक व्यापक रूप से हमारे नाट्यकारों को प्रभावित किया है।

अनुवाद कार्य भारतेन्दु-युग से आरम्भ होता है। सबसे पहले हिन्दी में तोताराम वर्मा ने एडिसन के Cato का केटो वृत्तान्त (१८७६) के नाम से अनुवाद किया। इसके पश्चात् शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद की धूम मच गई। रत्नचन्द्र ने Merchant of Venice और Comedy of Errors का अनुवाद किया। स्वयं भारतेन्दु ने Merchant of Venice का रूपान्तर किया। पुरोहित गोपीनाथ ने As you like it और Romeo and Juliet का तथा मथुराप्रसाद उपाध्याय ने Macbeth का अनुवाद किया। इब्सन के एक-आध नाटकों के अनुवाद भी देखने में आए। शॉ, गॉल्सवर्दी आदि के नाटकों का भी प्रत्यक्ष परोक्ष प्रभाव हमारे नाट्यकारों पर पड़ा।

अँग्रेजी नाटकों के सम्पर्क से हमारे यहाँ नाटक की कला, रूप और उसके विधान में परिवर्तन हुए। पारसी रंगमंच के रोमांस और चमत्कारपूर्ण वातावरण से नाटक को मुक्ति मिली, यद्यपि पारसी रंगमंच पर स्वयं एलिज़ाबेथ-युग की नाटकीय सनसनी और अतिनाटकीय तत्त्वों का प्रभाव था। भारतेन्दु के बाद कृष्णचन्द्र और वृजचन्द्र ने बनारस में 'श्री भारतेन्दु नाटक-मण्डली' की स्थापना की जिसमें साहित्यिक नाटकों के अभिनय को प्रोत्साहन दिया जाता था। इसके बाद प्रसाद का नाट्यक्षेत्र में उदय हुआ। उनके हाथों में नाटक [illegible] नए [illegible] आ गए। यह हिन्दी नाटकों के इतिहास में रोमांटिक प्रवृत्ति का युग था। बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त के ऐतिहासिक नाटक भी इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिखे गए।

इस प्रभाव ने हिन्दी नाटकों में विधान और कला की दृष्टि से निम्न परिवर्तन किए—

१—प्रस्तावना, नान्दी, मङ्गलाचरण आदि प्रथाओं का उन्मूलन।

२—अङ्क और दृश्य विधान में प्रवेशकों और सन्धियों आदि का बहिष्कार।

३—संवादों में तीव्रता और पात्रानुकूलता। शेक्सपियर की परम्परा पर Soliloquy (स्व-कथन) की प्रथा का पालन, पर पृथक्-कथन (Aside) और पद्य-बद्ध कथन की प्रणालियों का बहिष्कार।

४—निरर्थक और अप्रासङ्गिक गीतों में कमी।

५—दुःखान्त नाटकों का प्रचलन।

रोमान्टिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दी के लेखकों का ध्यान जीवन की उन समस्याओं की ओर भी आकृष्ट हुआ जिनकी उपेक्षा इस युग के बौद्धिक चिन्तन में असम्भव थी। जैसे जैसे जीवन में ये समस्याएँ उग्र रूप धारण करने लगीं, साहित्य में भी उनकी अभिव्यञ्जना के उत्कट स्वर मिले। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा आदि के नाटकों में इस युग का विचार-संघर्ष मिलता है। उनके विचारों पर और उनकी नाटकीय कला पर इब्सन, गाल्सवर्दी, शॉ आदि यथार्थवादी नाट्यकारों का गहरा प्रभाव पड़ा है। जिन समस्याओं को इन नाट्यकारों ने उठाया है उनमें मुख्य हैं, सेक्स की समस्या, व्यक्ति और समाज की समस्या, भूख और गरीबी की समस्या, घर और बाहर की समस्या, शासन और स्वतन्त्र्य की समस्या। इन समस्याओं पर अँग्रेजी के विचारकों, यथार्थवादी नाट्यकारों का

प्रभाव तो पड़ा ही है, पर वे हमारी विचार-धारा से भी प्रभावित हैं। महात्मा गांधी के चिन्तन ने इन सारी समस्याओं पर अपना विशिष्ट प्रभाव डाला है और जिन लोगों ने राजनीतिक समस्याओं को अपने नाटकों में उठाया है वे गांधी की विचार-धारा से विशेष प्रभावित हुये हैं। पश्चिम की आमूल क्रान्ति यहाँ नहीं मिलती। सेठ गोविन्ददास जैसे नाटककारों ने इन समस्याओं के निदान में गांधीवादी आस्था को ही ग्रहण किया है। रांगेय राघव का इधर 'रामानुज' नाटक भी निकला है जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति के स्वर अधिक स्पष्ट हैं। किन्तु जिन नाटककारों में गांधीवादी आस्था का अदम्य आग्रह है उनके चिन्तन पर भी पश्चिम की बौद्धिक उत्तेजना का प्रभाव पड़ा है। और उन नाटककारों पर जिन्होंने व्यक्ति और सेक्स तथा घर और बाहर को लिया है (जैसे लक्ष्मीनारायण मिश्र) पश्चिम का प्रभाव—विशेष कर इब्सन और शॉ का प्रभाव—अधिक स्पष्ट है।

इस बौद्धिक प्रभाव को हिन्दी नाटकों में विधान की दृष्टि से निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

(१) ये नाटक घटना बहुल या पात्र-बहुल नहीं, वे विचार-नाट्य (Drama of ideas) हैं।

— (२) उनमें नाटकीय इकाइयों की समन्विति है।

(३) उनकी शैली यथार्थवाद की है। उसमें तीखा व्यंग्य, विक्षोभ और विदग्धता है।

(४) रंगमंच के लिए वहाँ पर्याप्त निर्देश मिलते हैं।

(५) भूमिकाओं में नाटक सम्बन्धी बहुत सी बातों का स्पष्टीकरण है।

अंग्रेजी नाटकों के इन प्रभाव विन्दुओं के अतिरिक्त और कई दृष्टियों से भी हमारा नाट्य साहित्य प्रभावित हुआ है। उस पर संक्षेप में विवेचन किया जा सकता है—

१—एकांकी नाटकों का विकास—यों रूपक के दस भेदों में हमारे यहाँ भी एकांकी का कोई रूप खोजा जा सकता है पर जिस अर्थ में आज एकांकी स्वीकृत है वह निःसन्देह पश्चिम की देन है। इस सम्बन्ध में रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वरप्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(२) प्रतीकवाद (Symbol plays) नाटकों की रचना। उदाहरण के लिए पन्त की 'ज्योत्स्ना' पर शैली की Cenci (चेंची) का प्रभाव है। प्रसाद की कामना भी इसी कोटि में रखी जा सकती है। अंग्रेजी में फैन्टेसी नाटकों का भी प्रभाव यहाँ पड़ा है।

(३) गीति नाट्य और भाव-नाट्य का प्रचलन। प्रसाद के 'करुणालय' और प्रेमी के 'स्वर्ण विहान' के बाद उदयशङ्कर भट्ट के विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा और राधा गीति नाट्य हिन्दी में लिखे गये। भाव नाटकों में गो० पन्त की वरमाला, भट्ट का अंबा, और मुरारिलाल की मीरा को लिया जा सकता है।

(४) रेडियो के लिए लिखे गए फीचर।

× × ×

साहित्य के अन्य रूपों की तरह हिन्दी के कथा साहित्य पर भी अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। 'उपन्यास' नाम से आज जो धारणा बनती है वह अंग्रेजी उपन्यासों के तत्वों की ही स्वीकृति है। हमारे यहाँ कथा साहित्य के विकास में इस प्रभाव को इन रूपों में देखा जा सकता है—

१—हिन्दी उपन्यास के प्रथम चरण में जिन तिलस्मी और साहसिक उपन्यासों की रचना हुई थी, या आज भी यदा कदा जो इस प्रकार के उपन्यास लिखे जाते हैं, उन पर अंग्रेजी के सनसनी खेज (Terror novels) उपन्यासों का प्रभाव है। श्रीमती शैले, होरेस वालपोल, हैगर्ड आदि उपन्यासकारों का वहाँ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव मिलता है। अंग्रेजी के सनसनी खेज उपन्यासों के नायक हमारे यहाँ के इस किस्म के उपन्यासों के नायकों से अधिक साहसी और रहस्यमय हैं, यद्यपि नैतिक आदर्श और शौर्य की दृष्टि से [illegible] महान् नहीं।

राजनीति [illegible] आन्दोलन से प्रभावित हो कर हिन्दी में 'रक्तम[illegible]' जैसे उपन्यास भी लिखे गये। उनमें जिन वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया गया है वे वेल्स की स्मृति दिलाते हैं। उदाहरण के लिए 'रक्तमण्डल' में एक मृत्यु किरण का आविष्कार मिलता है। पुस्तक एक ओर तो टेरर नॉवल है, दूसरी ओर वेल्स की शैली का वैज्ञानिक रोमांस।

२—दूसरा वर्ग जासूसी उपन्यासों का है जिन पर शरलॉक होम्स, एडगर वैलेस, फेनिमोर, विल्की कॉलिन्स आदि का प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है।

३—तीसरी कोटि में प्रेमाख्यानक और ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'अँगूठी का नगीना', 'कुसुमकुमारी', 'लखनऊ की कब्र' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं—प्रथम दो प्रेमाख्यानक उपन्यास, अन्तिम ऐतिहासिक रोमान। इसी शैली में आगे चल कर वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी' जैसे उत्कृष्ट ऐतिहासिक रोमांस लिखे। इस शैली पर वाल्टर स्कॉट का प्रभाव स्पष्ट है।

४—हिन्दी में कुछ कथा-प्रधान उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' और 'गुलीवर्स ट्रेवेल्स' के अनुकरण पर भी लिखे गए। उदाहरण के लिए लक्ष्मीदत्त जोशी का 'जया कुसुम' और भजनानन्दनसहाय का 'अरण्य बाला' लिए जा सकते हैं।

५—हिन्दी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के विकास पर अँग्रेजी और फ्रेंच उपन्यासकारों का प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त जोला, फ्लाबेयर बादलेयर और मोपासा के यथार्थवादी अथवा प्रकृतिवादी चित्रण का प्रभाव भी हिन्दी उपन्यास पर आया। जीवन के गुप्त प्रदेशों में माँकने की प्रवृत्ति भी नरोत्तम नागर, भगवतीचरण वर्मा, उग्र, इलाचन्द जोशी आदि में आई। इसके बाद उपन्यासकारों का एक नया वर्ग आया जिसका नेतृत्व डी० एच० लारेंस, जेम्स ज्वायस, हक्सले, वर्जिनिया, वुल्फ आदि ने किया। इनमें मन के अवचेतन स्तरों की खोज-बीन की उत्कट प्रवृत्ति मिलती है। फ्रायड के निष्कर्ष तब तक यूरोप की मनसा पर छा गए थे। लारेंस का यह वाद और जेम्स ज्वायस अज्ञेय, इलाचन्द जोशी आदि पर उतरा। जैनेन्द्रजी में आत्मपीड़न को व्यक्त करने की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसके भी दो प्रकार दृष्टि व जगत्कथा की बनती है, किन्तु इसकी दृष्टि में जहाँ नवाचारकता के घेरे में बदल कटने लगी है, वहाँ जैनेन्द्रजी की यह भी है, यह भी है' में व्यक्त हो उठी है।

६—इसी प्रकार सूर्य, टाल्सटॉय आदि रूसी लेखकों का प्रभाव भी हिन्दी पर पड़ा है। यशपाल, अश्क, राहुल सांकृत्यायन आदि में इसे देखा जा सकता है।

७—पश्चिम के कुछ अच्छे उपन्यास भी हिन्दी में अनूदित हो कर आए। बहुत पहले हरिऔध ने 'वेनिस का बाँका' और श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने 'अमरपुरी' रूपान्तरित किए थे। गोर्की और टालस्टाय के उपन्यास भी हिन्दी में आ गए थे। इधर पर्ल एस० बक की पुस्तक Good Earth का 'धरतीमाता' के नाम से सत्येन्द्र शरद् ने अनुवाद किया है। शिवदानसिंह ने पुश्किन की The captain's Daughter का 'कप्तान की बेटी' के नाम से एक उत्कृष्ट अनुवाद हिन्दी को दिया है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी आल्डस हक्सले की नवीनतम पुस्तक Ape and Essence का 'पशु और मानव' के नाम से अनुवाद किया है। पुस्तक आधुनिक जीवन पर एक भर्त्सनापूर्ण व्यंग्य है, और उपन्यास शैली में एक नवीन टेक्नीक का विकास।

उपन्यास के अतिरिक्त हिन्दी कहानियों पर भी अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट है। संक्षेप में इसे इन रूपों में प्रकट किया जा सकता है—

१—तोता मैना, बैताल पचीसी आदि मनोरञ्जनकारी कहानियों से मनोवैज्ञानिक दिशा की ओर प्रगति।

२—कहानियों में जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने की प्रवृत्ति।

३—घटना प्रधान या चरित्र प्रधान कहानियों के अतिरिक्त विचार-मूलक कहानियों की रचना की ओर भी झुकाव।

४—कहानी में मनोविश्लेषण-तत्व की नियोजना।

× × ×

अन्त में निबन्ध और आलोचना पर अंग्रेजी के प्रभाव को देखना समीचीन है। निबन्ध गद्य का आधुनिकतम रूप है। इसके विकास में गद्य की प्रतिष्ठा है। इसीलिए निबन्ध को गद्य की कसौटी माना गया है। हमारे यहाँ निबन्ध शब्द का अर्थ 'बन्ध' है जो विचारों की अभिव्यक्ति में 'बन्ध' को अपेक्षित मानता है, पर अंग्रेजी में निबन्ध विचारों की निर्बन्ध धारा (Loose sally of the

mind) और उसका अव्यवस्थित (Irregular) असंकलित (Undigested) रूप है। वास्तव में डा० जॉनसन की यह परिभाषा निबन्ध के आदि रूप की है। अंग्रेजी के आदि निबन्धकार बेकन ने भी निबन्ध में विशृंखल विचार प्रकाशन को महत्व दिया है। इन मतव्यों के अनुसार निबन्ध के लिए किसी विशिष्ट, सुनिश्चित, मर्यादित विचार संघटन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निबन्ध मूलतः व्यक्ति का प्रयास है। किन्तु आधुनिक युग में निबन्ध में उसकी आदिम वैयक्तिकता, प्रयत्नशीलता और सहज उल्लास-भावना के साथ साथ शृंखलाबद्ध विचार संघटन को भी स्वीकार कर लिया गया है। हिन्दी में 'निबन्ध' से जो धारणा बनती है वह अंग्रेजी Essay के इन तत्वों की स्वीकृति है।

भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों में सच्ची प्रयत्नशीलता के दर्शन होते हैं। दूसरे, उनके निबन्धों में वैयक्तिकता का अदम्य आग्रह भी मिलता है। जीवन के प्रति उनमें जो सहज उल्लास-भावना थी, उसके कारण उनके निबन्धों में जिन्दादिली भी है। एडिसन और स्टील ने 'स्पेक्टेटर' और 'टैटलर' पत्रों में जिस प्रकार के हल्के, व्यंग्यपूर्ण और उल्लासमय निबन्ध लिखे, उसी प्रकार के निबन्ध बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने हिन्दी जगत् को दिए। 'हिन्दी प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट और 'ब्राह्मण' में मिश्रजी के निबन्ध निकलते थे। ये निबन्ध उसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिन्हें अंग्रेजी में Table Talks कहा जाता है।

द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता ने लेखक के व्यक्तित्व को उनके निबन्धों में झाँकने से रोक दिया। किन्तु कुछ लेखकों में उनके व्यक्तित्व का इतना तीव्र आग्रह है कि इतिवृत्तात्मकता का प्राचीर उसके चारों ओर टिक नहीं सके। शुक्लजी के निबन्धों में उनकी वैयक्तिकता सुरक्षित है। इसी प्रकार सरदार पूर्णसिंह और बाबू गुलाबराय में भी उनका व्यक्ति वैशिष्ट्य देखा जा सकता है। शुक्लजी के निबन्धों में जहाँ विचारों के स्तर एक पर एक उठते हैं, वहाँ रस्किन का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी तरह पूर्णसिंह की शैली में कार्लाइल का भावोत्साह मिलता है।

आधुनिक युग ने हमें कितने ही उच्चकोटि के निबन्धकार दिए हैं। उनमें प्रायः सभी समालोचनात्मक निबन्धों से सम्बन्ध रखते हैं। पत्र पत्रिकाओं के द्वारा भी हिन्दी का निबन्ध साहित्य काफी पुष्ट हो रहा है। निबन्धों के लिए यह माध्यम भी पश्चिम से ही आया है।

हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग से होता है। १८८२ में 'आनन्द कादम्बिनी' में श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की प्रेमघन ने आलोचना की थी। 'हिन्दी प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट की लिखी हुई आलोचनाएँ भी प्रकाशित हुआ करती थीं। पर ये आलोचनाएँ वास्तव में पुस्तक या लेखक का परिचय मात्र होती थीं। आलोचना का सम्यक् रूप द्विवेदी युग में विकसित हुआ। अंग्रेजी आलोचना के सम्पर्क ने हमारे समीक्षा सिद्धान्तों को नवीन आलोक दिया। भारतीय समीक्षा अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, रस, औचित्य सम्प्रदायों के नियमों से आबद्ध थी। लेखक की अन्तः पद्धति की छानबीन, रचना वृत्ति के अध्ययन के लिए कलाकार की भाव भूमि को समझने की प्रवृत्ति और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को पकड़ने की प्रयत्नशीलता इन नवीन मूल्यों को भी नए आलोचकों ने स्वीकार किया।

आधुनिक युग की आलोचना पर जिन दो धाराओं का प्रभाव पड़ा है उनका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

१—रोमांटिक आलोचना जो मूलतः वैयक्तिक और प्रभाववादी है।

२—प्रगतिवादी आलोचना जो वैज्ञानिक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद को आधार मानती है।

रोमांटिक आलोचना में कला-कृति का मूल्याङ्कन रीतिबद्ध रूढ़ियों और शास्त्रीय धारणाओं के आधार पर न हो कर उसकी प्रभाव शक्ति के आधार पर होता है। आलोचक की क्षमता कृति के प्रभाव (Impression) को पकड़ने की चतुरता है। साहित्य का मूल लक्ष्य आलोचक के लिए और उसी दृष्टि से पाठक के लिए आनन्द है। अतः सौन्दर्य-बोध रोमांटिक आलोचना का मूलाधार है। उसे लोगों ने केवल एक दृष्टिकोण के रूप में नहीं लिया, किन्तु फिलॉसफी के रूप में ही स्वीकार कर लिया। इस आलोचना-

मैथिलीशरण गुप्त और भारतीय संस्कृति

श्री अरविन्द मालवीय एम० ए०

आधुनिक हिन्दी साहित्य के 'प्रतिनिधि कवि' और हमारी संस्कृति के वर्तमान 'वैतालिक', 'राष्ट्रीय कवि' श्री मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण जीवन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतीक है। किसी कलाकार का जीवन वास्तव में उसकी कलाकृतियों में परिलक्षित होता है और यदि हमें उस कलाकार के जीवन से परिचित होना है तो हमें उसकी कलाकृतियों का सिंहावलोकन करना चाहिए। इस दृष्टि से यदि हम गुप्तजी की कृतियों का अध्ययन करते हैं तो हमें दृष्टिगत होता है कि भारतीय संस्कृति अपने सम्पूर्ण रूप में—वैदिक काल से लेकर वर्तमान बीसवीं शताब्दी तक—उनमें व्याप्त है। गुप्तजी स्वयं ही अपने व्यक्तित्व से एक सच्चे भारतीय लगते हैं—उनकी सादी खादी की पोशाक, धोती, कुरता और टोपी—उनका रहन सहन, खान पान सब कुछ पूर्ण भारतीयता ग्रहण किये हुए है। उन्होंने भगवती भारती की आराधना का श्रीगणेश उस युग में किया जब कि भारतेन्दु समस्त भारतीय जनता को आह्वान कर चुके थे कि—

"रोवहु सब मिलि आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

और जनता के मस्तिष्क में—

"सब मिलि बोलो एक जबान।
हिन्दी, हिन्दू हिन्दुस्तान॥" *

का नारा ताजा ही था, स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज का शंख फूंक दिया था और भारतीय काँग्रेस देश सेवा के क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थी। साथ ही पूज्य भगवत्प्रेमी और वैष्णव पिता का आशीर्वाद × एवं आचार्य द्विवेदी का गुरुत्व गुप्तजी को निरन्तर अपने कार्य में प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्रदान करता रहा।

---

* श्री प्रतापनारायण मिश्र द्वारा।

× 'तू आगे चलकर हम से हजारगुनी अच्छी कविता करेगा।'

यदि हम गुप्तजी की समस्त नहीं तो प्रमुख कृतियों पर एक विहगम दृष्टिपात करें तो हम अनुभव करते हैं कि वास्तव में गुप्तजी के रग रग में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति व्याप्त है और इसको उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा बहुत सरलता से व्यक्त किया है। गुप्तजी को साहित्य-गगनाङ्गन में प्रज्वलित करने के लिए सर्वप्रथम पुस्तक उनकी 'भारत भारती' है। जिस प्रकार इससे पहले प्रकाशित 'जयद्रथ वध' में उसकी भूमिका में गुप्तजी ने कहा था कि "हिन्दी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है, जिनके द्वारा हमें अपनी पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो कर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले", इसी प्रकार की भावना 'भारत भारती' की इन पंक्तियों में प्रतिबिम्बित है—

'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥'

वास्तव में जनता ने इस ग्रन्थ को 'अपनी भारती' समझ कर अपनाया। अपनी तीन 'समस्याओं'—हम कौन थे? हम क्या हो गए हैं और हम क्या होंगे—का विवेचन कवि ने तीन 'खण्डों'—अतीत, वर्तमान और भविष्य—में किया है। इसमें अतीत एवं वर्तमान कालों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थितियों पर व्यंग्य (Satire), हास्य एवं करुणापूर्ण प्रकाश डाला गया है। वर्तमान काल के रईसों पर उनका यह व्यङ्ग हमें प्रायः याद आता है —

'हों आध सेर कबाब मुझको, एक सेर शराब हो,
नूरेजहाँ की सल्तनत है, खूब हो कि खराब हो।'
कहना मुगल सम्राट का यह ठीक है अब भी यहाँ,
राजा-रईसों को प्रजा की है भला परवा कहाँ?

गोवध के सम्बन्ध में उनके कैसे करुणाजनक उद्‌गार हैं—

'दाँतों तले तृण दबा कर हैं दीन गायें कह रहीं—
हम पशु तथा तुम हो मनुज पर योग्य क्या तुमको यही?'

पर भविष्य के सुधार के लिए कवि जनता से कहता है कि—

'होकर निराश कभी न बैठो, नित्य उद्योगी रहो।'

उस प्राचीनता में आत्मविश्वास नहीं, वह नवीनता से भी पल्ला नहीं छुड़ाना चाहता, वह कहता है कि वर्तमान युग और इसकी स्थितियों से अलग रहना मूर्खता है, क्योंकि—

'विपरीत विश्व प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं।'

इसके पश्चात हम 'साकेत' और 'यशोधरा' को लेते हैं। इन दोनों ग्रंथों में गुप्तजी ने केवल काव्य की उपेक्षिताओं का ही नहीं भारतीय संस्कृति और सभ्यताओं की उपेक्षिताओं का भी उद्धार किया है। 'साकेत' का प्रणयन कर गुप्तजी ने 'रामायण' और 'रामचरितमानस' की त्रुटियों की पूर्ति की। उर्मिला, कैकेयी जैसी उपेक्षिता स्त्री-पात्रों को उठाया और लक्ष्मण, भरत, दशरथ जैसे गौण पात्रों पर और प्रकाश डाला। 'साकेत' का सम्पूर्ण महत्व उर्मिला के आँसुओं पर आधारित है, यद्यपि वह कुछ आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है। उर्मिला के आँसू, उसकी विरहव्यथा, उसकी सहनशीलता, कर्तव्यपरायणता एक सच्ची आर्य नारी का रूप अंकित करते हैं। इसके पूर्व तक सीता को ही वन का रोना भोगना था, पर गुप्तजी द्वारा हमें उर्मिला की विरह-व्यथा और उसकी सहनशीलता का परिचय मिलता है। उर्मिला की विरह-व्यथा भी तो कोई कम न थी, क्योंकि —

'सीता ने अपना भाग लिया।
पर इसने वह भी त्याग दिया।'

सीता को अपने पति के सुख के साथ साथ दुख की भागिनी होने का सुअवसर मिला, परन्तु उर्मिला को यह सुयोग कहाँ प्राप्त हुआ? यह तो—

'मेरे जीवन की यह रागिनी
बन सकी वन की न विरागिनी।'

परन्तु वह चुप रहती है उसने अपने मन को समझाया कि—

'तू प्रिय का विघ्न न बन!
आज स्वार्थ है त्याग बना
है अनुराग विराग भरा।'

और अपने लिए यही पर्याप्त समझा कि—

'आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।'

और इस प्रकार वह चुपचाप विरह-व्यथा सहती रहती है—चाहे वह अधिक रोए या कम, उसका रोना धोना सब अपने में ही सीमित और मौन रहता है। वास्तव में नारी जीवन की इस अवस्था में इतना दमन कोई आश्चर्य नहीं है, पर उर्मिला ने अपनी सहनशीलता और तप से ऐसा आदर्श स्थापित किया कि भगवान राम को भी इसकी दाद देनी पड़ी—

"तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्म-स्थापन किया भाग्यशालिनि इस भू पर।"

सब के द्वारा ताड़ित एवं लांछित कैकेयी को भी गुप्तजी ने आत्मग्लानि द्वारा पवित्र बना दिया—

'युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'

'यशोधरा' के द्वारा गुप्तजी की भारतीय नारी के प्रति भावनाएँ बहुत स्पष्ट हो जाती हैं।

'अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध, और आँखों में पानी।'

यह कहकर गुप्तजी ने भारतीय नारी का एक सच्चा और सजीव रूप हमारे समक्ष रख दिया है। 'यशोधरा' द्वारा नारी की भावनाओं, उसकी महानता, कर्तव्य परायणता एवं सहनशीलता पर अच्छा प्रकाश डाला है। यशोधरा को इस बात की प्रसन्नता है कि पति सिद्धि-प्राप्ति के लिए गए, परन्तु वह उससे छिप कर चोरी चोरी, बिना उसकी सम्मति लिये हुए गए, इससे उसे बहुत मलाल है।* उसे इस बात का दुःख है कि '[illegible]' ने नारी को भ्रम से गलत समझा, नारी को सिद्धि मार्ग का बाधा मान कर उन्होंने सम्पूर्ण नारी जाति पर कलङ्क का टीका लगाया, उन्हें पता नहीं कि—

'स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,

* 'सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गए, यही बड़ा व्याघात।'

हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्र धर्म के नाते ।

परन्तु यशोधरा ऐसी नारी नहीं, वह उसको चैलेंज के रूप में लेती है। उसे मुक्ति की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए गार्हस्थ्य जीवन ही—उसका कर्तव्य बन्धन—मोक्ष से श्रेयस्कर है*। गौतम की जीवन से विरक्ति जरा, मृत्यु, रोग आदि से घृणा × को वह उसी प्रकार निराधार साबित करती है—

'यदि हममें अपना नियम और शम दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है।
वह जरा एक विश्रान्ति, जहाँ संयम है,
नवजीवन दाता मरण यहाँ निर्मम है ?'

गौतम कहते हैं—

'मैं सूँघ चुका वे पुष्प फल,
झड़ने को हैं सब फटित फूल।
चख देख चुका हूँ मैं, सफूल—
सड़ने को हैं वे अखिल आम !
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम।'

पर यशोधरा कहती है—

'माना, ये खिलते फूल सभी झड़ते हैं,
जाना, ये दाड़िम, आम सभी सड़ते हैं।
पर क्या यों ही ये कभी टूट पड़ते हैं ?
या काँटे ही चिरकाल हमें गड़ते हैं ?
मैं विफल तभी, जब बीज रहित हो जाऊँ।
वह मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि गौतम को यशोधरा के इस मान पर घुटना टेक देना पड़ता है और वह स्वयं द्वार पर उसे मनाने जाते हैं, और अपनी 'दुर्बलता' स्वीकार करते हैं।* रानी की महत्ता को अन्त में उन्होंने मान ही लिया—

'दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत दया मूर्ति वह मन से, शरीर से'

× × ×

'द्वापर' के द्वारा भी गुप्तजी ने भारतीय नारी को बहुत सम्मान और प्रतिष्ठा के पद पर पहुँचाया। 'विधृता' द्वारा नारी जीवन की विडम्बना, उसकी असहायावस्था एवं उसके हृदय की शुद्धता पर अच्छा प्रकाश डाला है—

'अविश्वास हा, अविश्वास ही
नारी के प्रति नर का,
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं,
स्वामी है वह घर का,
उपजा किन्तु अविश्वासी नर,
हाय ! तुम्हीं से नारी,
जाया होकर जननी भी है,
तू ही पाप पिटारी।'

साथ ही—

'नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई !
माँ, बेटी या बहिन, हाय, क्या संग नहीं वह लाई ?'

—विधृता के कामी पति का यह पश्चात्ताप वास्तव में पुरुष जाति की नारी के प्रति वर्तमान कलुषित दृष्टि को स्वच्छ करने योग्य है।

उपरोक्त प्रमुख ग्रन्थों के संक्षिप्त अवलोकन से हमको ज्ञात होता है कि गुप्तजी ने अपनी कृतियों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का पर्याप्त परिलक्षण किया। भारतीय

---

* 'निज, बन्धन, सम्बन्ध, सुगृह, घर......।
वह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?'

× देखी मैंने आज जरा।
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा ?
हाय ! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा ?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा ?
सौ सौ रोग खड़े हों सम्मुख, पशु ज्यों बँधे परा,
धिक् ! जो मेरे रहते, तेरा चेतन जाय चरा,
रिक्त मात्र है क्या सब भीतर, बाहर भरा भरा ?
कुछ न किया, यह सूना भव भी यदि मैंने न तरा।

---

*'मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान।
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह तव तत्रभवान !
....
माना, दुर्बल ही था गौतम छिप कर गया निदान,
किन्तु शुभे परिणाम भला ही हुआ, सुधा सन्धान।
क्षमा करो, सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।'

सभ्यता के प्रत्येक कालों एवं प्रकारों पर उन्होंने रचनाएँ कीं—पौराणिक मूलक ('चन्द्रहास', 'शकुन्तला' आदि), महाभारत मूलक ('जयद्रथ वध', 'नहुष', 'सैरंध्री' आदि), हिन्दू-संस्कृति मूलक ('हिन्दू', 'विकटभट', 'रंग में भङ्ग' आदि) आदि। उनकी अन्य रचनाओं, स्फुट कविताओं आदि में भी हमें यही बात दृष्टिगत होती है। 'स्वदेश सङ्गीत', 'वैतालिक', 'किसान' आदि अन्य स्पष्टतया उनकी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक भावना को व्यक्त करते हैं।

गुप्तजी की कृतियों एवं उनकी विचारधारा में एक विशेषता है—वह भारत के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक नवनिर्माण में अतीत एवं वर्तमान का स्वर्णिम सम्मिश्रण देखना चाहते हैं, वह प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय चाहते हैं। उनका विश्वास है कि हमको लकीर के फकीर बनकर वर्तमान राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों—जिनका मुख्य केन्द्र पाश्चात्य जगत है—से अनभिज्ञ न रहना चाहिए। हमें अपनी प्राचीन सभ्यता की गुणकारी बातों को ग्रहण करना चाहिए और उन बातों को त्याग देना चाहिए जो देश-काल भेद से हानिकारक और व्यर्थ हो गई हैं। इसी प्रकार हमें वर्तमान सभ्यता से भी अपने हित की बातों को ग्रहण करना चाहिए। 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै।' वाले सिद्धान्त को गुप्तजी मान्य समझते हैं। इस दृष्टिकोण को उन्होंने 'भारत भारती', 'स्वदेश-सङ्गीत', 'हिन्दू', 'किसान' एवं 'अनघ' में स्पष्ट किया है। वह 'भारत भारती' में कहते हैं—

> 'हमको समय को देखकर ही नित्य चलना चाहिए,
> बदले हवा जिस तरह हमको भी बदलना चाहिए।'
> विपरीत विश्व प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं,
> अब पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पा सकती नहीं।'

गुप्तजी की कृतियों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि भारतीय-संस्कृति में केवल हिन्दू संस्कृति ही उनमें परिलक्षित है। गुप्तजी ने अधिकांश रचनाएँ हिन्दू धर्म और सभ्यता पर ही लिखी हैं। इस कारण कुछ लोग गुप्तजी को 'राष्ट्रीय कवि' न मानकर 'जातीय कवि' मानते हैं, लोगों का कहना है कि गुप्तजी केवल अतीत के ही गीत गाते हैं, 'वर्तमान जीवन चित्र' नहीं 'अङ्कित' करते। परन्तु हम इस बात को समीचीन नहीं मानते। पहले तो यह दृष्टिकोण ही गलत है कि उन्होंने कितना हिन्दुओं पर लिखा, कितना मुसलमानों पर और कितना अँग्रेजों पर, उन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनाया और भारतीय संस्कृति के ढाँचे में जिस जाति का सबसे अधिक हाथ है, उस पर सबसे अधिक लिखा। अपनी कृतियों में उन्होंने सब धर्मों के प्रति श्रद्धा दिखलाई है और सब जातियों में मेल रखने की भावना को व्यक्त किया है।* और फिर लोगों का यह कहना भी अब निर्मूल है कि उन्होंने मुसलमान आदि संस्कृति पर कुछ नहीं लिखा, क्योंकि अब उनका 'काबा और कर्बला' प्रकाशित हो गया है, जिसको वह पहले 'हसन हुसैन' के रूप में मुस्लिम-संस्कृति को वाणी देने के लिए लिखना चाहते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने फारसी के उमर खैयाम के 'रुबाइयात उमर खैयाम' का हिन्दी में अनुवाद किया।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। जैसा कि श्री इन्द्रनाथ मदान ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी कलाकार' में कहा है, गुप्तजी सांस्कृतिक समन्वय सहित गार्हस्थ्य जीवन के कवि हैं। जो काम बँगला में शरत् बाबू ने उपन्यास द्वारा किया वही काम गुप्तजी ने हिन्दी में कविता द्वारा किया। दोनों कवि वैष्णव हैं और दोनों का उद्देश्य घरेलू जीवन में पुनः नारी की प्रतिष्ठा करना है। दोनों के नारी पात्र भारतीय-संस्कृति की नई व्याख्या करते हैं। इस कारण गुप्तजी को भारतीय संस्कृति के गार्हस्थ्य जीवन का कवि कहा जा सकता है। गुप्तजी ने स्वयं कहा है कि—"जाति, देश और विश्व की समस्या को सुलझाने की बात तो दूर रही, मैं तो केवल 'कौटुम्बिक कवि' हूँ।"

इस प्रकार "भारतीय संस्कृति के सफल गायक" और "द्विवेदी युग और छायावाद युग के बीच की कड़ी" को जोड़ने वाले कवि की कृतियों के प्रति हम अपनी सद्भावना प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में भी वह संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते रहेंगे।

---

* 'भारत माता का यह मन्दिर, नाता भाई भाई का।
समझे माँ की प्रसव-वेदना वही लाल है माई का॥'

विचार-विमर्श

आनन्दवर्द्धन का रसात्मवाद : एक समाधान—

इसी मासिक के जून १९५२ के अङ्क में प्रकाशित मेरे "क्या आनन्दवर्द्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते थे ?" शीर्षक अनुशीलन के साथ सम्माननीय सम्पादकजी ने एक अत्यन्त ही विद्वत्तापूर्ण टिप्पणी लगादी है। वह टिप्पणी इस प्रकार है —

"फिर आपके मत से आनन्दवर्द्धन रसध्वनि को आत्मा का स्थान देता है और रस को भी ध्वनि के अन्तर्गत करता है। यह ध्वनि की विशेष व्याख्या ही जाती है। इसी के द्वारा समन्वयवादी रस और ध्वनि का विरोध-शमन करते हैं।

—सम्पादक।"

मैं इस समीक्षा का अतीव आभारी हूं और इसमें अपने पक्ष को पुष्ट करने का एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त होता है, यद्यपि इस दिशा पर एक सम्भाव्य शङ्का का परिहार करने का प्रयास मैंने पहले ही अपने अँगरेजी के निबन्ध में किया है जो अब भी प्रकाशनाधीन है।

रस को ध्वनि के अन्तर्गत आचार्य ने पूर्णरूप से नहीं माना है प्रत्युत रस के एक विशेष प्रकार को ही आनन्दवर्द्धन ने ध्वनिभेद के रूप में स्वीकार किया है। इससे रस का ध्वन्यन्तर्गतत्व पूर्णरूप से निरस्त हो जाता है। आनन्दवर्द्धन की वह कारिका जिसमें कि इस विचार को व्यक्त किया गया है इस प्रकार है :—

"रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥"

द्वि० उ०, ३।

इसका हिन्दी भाषान्तर कुछ कुछ ऐसा होगा —

'अङ्गी के रूप में (प्रधान रूप में) सुशोभित होने वाले अक्रम (भेद), अर्थात् रस, भाव, उनके प्रशम इत्यादि, को ध्वनि की आत्मा के रूप में माना जाता है।'

आशय यह कि अङ्गी रसादि को ही ध्वनि से सम्बद्ध माना गया है। अङ्ग रसादि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरे शब्दों में जब रसादि काव्य में प्रधान रूप से प्राप्त होते हैं तब और तभी वे अक्रमध्वनि की संज्ञा प्राप्त करते हैं अन्यथा नहीं। गुणीभूत रस अथच अविवक्षित रस गुणीभूत व्यङ्ग्य और चित्र के विषय माने गये हैं। इस सम्बन्ध में उक्त कारिका पर आचार्य अभिनवगुप्त का निम्न व्याख्यान अवधान देने योग्य है :—

"ननु किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः । नेत्याह: किन्तु रसादिरङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः ।"

समर्थन के लिए आचार्य ने लिखा है —

"एवञ्च सामान्यलक्षणे 'गुणीकृतस्वार्थौ'-इत्यत्र यद्यपि निरूपितं तथापि रसवदाद्यलङ्कारप्रकाशनावकाशदानायानूदितम्।"

स्पष्ट है कि रसादि ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र तीनों में प्राप्त होते हैं। अन्तर है तो केवल विवक्षित अविवक्षित होने का और फिर प्रधान रूप और गौण रूप में विवक्षित होने का। रस और ध्वनि में महाविषयता किसकी है—यह प्रश्न भी इसी के साथ उठाया जा सकता है। पर उत्तर जैसा कि विवेचन से अवभासित होता होगा सीधे सीधे यह है कि रस महाविषय है और वही हो सकता है।

काव्य तो कोई रस के बिना हो ही नहीं सकता। रसशून्य काव्य एक विरोधी पदयुग्म है। जैसे कोई कहे कि 'शीतल अनल अथवा जलता जल अमुक स्थल पर प्राप्त किया जा सकता है' वैसी ही ऊटपटाँग बात एक यह भी होगी। आचार्यों ने इसकी उपचार से सम्भव परिकल्पना की है। ग्रन्थकार आनन्दवर्द्धन ने चित्र का विवेचन करते हुए लिखा है :—

"अथ किमिदं चित्रन्नाम ? यत्र न प्रतीयमानस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिविधः प्राक् प्रदर्शितः । तत्र यत्र वस्तुवन्द्वारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्पयता विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वम्प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कवि-

विवक्षैव तस्य न स्यात्, कविनिरंकुशत्वेन चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।"

अर्थान्तरे—न खलु तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।"

[ध्वन्यालोक (चौ० सं० सि०) पृ० ४१९-७]

अभिनव ने भी लिखा है :—

"स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव। न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्; तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात् प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति।"

[ध्वन्यालोक (चौ० सं० सि०) पृ० १७५]

और यह सर्वविषय रस ही ग्रन्थकार आनन्दवर्द्धन की और टीकाकार अभिनव की दृष्टियों में काव्यत्व का अवच्छेदक हो सकता है। ध्वनि तो अपेक्षाकृत स्वल्पविषय है। साथ ही ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने से अतिव्याप्ति की जगह अव्याप्ति आने की अधिक सम्भावना है। यही सब सोच समझकर आचार्यों ने मुख्यतया आनन्दवर्द्धन ने—ध्वनि के स्थान पर रस को काव्यात्मता प्रदान की। अतः न तो ध्वनि की कोई विशेष व्याख्या का अवकाश है और न रस व ध्वनि के विरोधशमन का प्रश्न ही उठता है।

—प्रो० लाल [illegible], एम० ए०,
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त अलङ्कार—

'साहित्य-सन्देश' के जून १९५७ के अंक में 'एक निवेदन' प्रकाशित हुआ है जिसके सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है—

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त अलङ्कार में अन्तर बतलाते हुए उद्योतकार कहते हैं—

"अर्थान्तरन्यासे समर्थ्यसमर्थकयोः सामान्यविशेषभावः। दृष्टान्ते तु न तथा। दृष्टान्ते तु सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण समर्थ्यते इति तयो भेदः।"

इससे स्पष्ट है कि दृष्टान्त अलङ्कार में उपमेय तथा उपमान वाक्य दोनों या तो सामान्य होते हैं अथवा दोनों विशेष होते हैं। बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव या तो सामान्य-सामान्य में होता है, अथवा विशेष विशेष में, सामान्य-विशेष में अथवा विशेष सामान्य में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव नहीं हुआ करता। उद्योतकार के उक्त विवेचन को दृष्टि में रख कर निम्नलिखित पद्य पर विचार कीजिये—

"एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ,
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना सुना जब तम मिटा।"

पद्य का पूर्वार्द्ध सामान्य कथन है तथा उत्तरार्द्ध विशेष कथन। इसलिए उद्योतकार के मतानुसार यहाँ अर्थान्तरन्यास ही माना जायगा। किन्तु अलङ्कार का हर एक पारखी उद्योतकार के मत को मानकर ही चले, ऐसा आग्रह मैं नहीं करना चाहता। पं० रामदहिन मिश्र ने भी इस पद्य में अर्थान्तरन्यास न मानकर दृष्टान्त अलङ्कार ही माना है। उसी तरह 'काव्याङ्ग प्रकाश' के लेखक भी यदि इसमें दृष्टान्त अलङ्कार मानें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अलङ्कार वास्तव में रत्न की तरह है। किसी जौहरी का ध्यान उसकी आब पर जाता है, किसी का ध्यान उसके रंग पर जाता है। इसी प्रकार अलङ्कार-निर्धारण भी दृष्टि-भेद के कारण कभी कभी मत भेद का रूप धारण कर लेता है। इसी तरह की बात प्रस्तुत पद्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह भी सम्भव है कि अधिकांश विद्वान् पं० रामदहिन मिश्र तथा 'काव्याङ्ग प्रकाश' के लेखक का ही समर्थन करें किन्तु उद्योतकार का मत भी विचारणीय अवश्य है। यही कारण है कि उक्त पद्य के अलङ्कार-निर्धारण को मैंने विवादास्पद कहा था। 'काव्याङ्ग प्रकाश' के लेखक ने 'निवेदन' जिस शैली में प्रस्तुत किया है, वह अवश्य अभिनन्दनीय है क्योंकि लेखक सत्यान्वेषण में प्रवृत्त है, छिद्रान्वेषण में नहीं।

—कन्हैयालाल सहल

समालोचना

सूफी काव्य सग्रह—सम्पादक श्री परशुराम् चतुर्वेदी एम० ए०, प्रकाशक–हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग। पृ० ३२६, मू० ३)

सूफियों ने हिन्दी में प्रेम गाथाओं की प्रबन्ध काव्यात्मक शैली में तथा स्फुट प्रणालियों में रचना ही प्रस्तुत की है। वस्तु भाव शैली और भाषा सभी दृष्टियों से हिन्दी के लिए सूफियों ने एक महत्वपूर्ण देन दी है। इस पुस्तक में लेखक ने इस देन का एक सक्षिप्त परिचय दिया है। इसको उसने तीन भागों में बाँटा है। पहला भूमिका का भाग है, जिसमें सूफियों का इतिहास और उनका साम्प्रदायिक दर्शन तथा साहित्य पर परिचयात्मक साधारण विवेचन सम्मिलित है। दूसरा भाग कवि परिचय और मूल पाठ से सम्बन्धित है। इस भाग में ११ प्रेम गाथा के लेखक सूफी कवियों का परिचय तथा उनकी रचनाओं में से कुछ अवतरण दिए गए हैं और १७ स्फुट काव्य लिखने वाले कवियों का परिचय तथा उनकी रचनाओं के कुछ नमूने हैं। तीसरे भाग में टिप्पणियाँ हैं। इन टिप्पणियों में ग्रन्थ की वस्तु का विवरण भी दिया गया है और पुस्तक में दिए हुए अवतरणों में आये स्थलों तथा शब्दों का अर्थ भी है। यह सग्रह विद्यार्थियों की दृष्टि से ही नहीं सभी के लिए उपयोगी है क्योंकि सक्षेप में एक ही स्थान पर सूफी सम्प्रदाय और साहित्य का सक्षिप्त किन्तु सपूर्ण परिचय इस पुस्तक के द्वारा मिल जाता है। जो स्थल रचनाओं में से इस संग्रह में दिये गए हैं वे उस कवि की समस्त विशेषताओं को स्पष्ट नहीं कर पाते, इनसे अच्छे स्थल चुने जा सकते थे। विवेचन में भी लेखक ने सरसरी दृष्टि से काम लिया है। और फलत उनमें कुछ भ्रान्तियाँ भी आ गयी हैं। उदाहरणार्थ जायसी के सम्बन्ध में यह कहना कि वे हिन्दू धर्म एवं सस्कृति का वा ी से भली भाँति परिचित हैं—समीचीन नहीं जान पड़ता। कवि की रचनाओं को सूफी काव्य कहना भी कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। पुस्तक की छपाई सफाई आकर्षक है। पुस्तक पढने योग्य और सग्रह करने योग्य है।

उर्दू साहित्य का इतिहास—भाग १ (पद्य खण्ड)—ले० रामबाबू सक्सैना एम० ए०, डी० लिट्०, अनुवादक–श्री रामचन्द्र टण्डन एव श्री सालिग्राम श्रीवास्तव, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद। पृ० ४५३, मू०५)

यह पुस्तक डा० रामबाबू सक्सैना के हिस्ट्री ऑफ़ उर्दू लिटरेचर नामक ग्रन्थ का अनुवाद है। जिसमें इसी के उर्दू रूपान्तर की सहायता भी ली गयी है। डा० सक्सैना का यह अंग्रेजी ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। सम्भवत इसीलिए हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है। इसमें १४ अध्याय और एक परिशिष्ट है। उर्दू के आरम्भ से लेकर आधुनिक युग में डा० इकबाल तक उर्दू कवियों का एक विस्तृत परिचय इसमें दिया गया है। नये कवियों का परिचय परिशिष्ट में दिया गया है। इसमें नजव, ल मनव', चकबस्त, डा० इकबाल ही पर दिया गया है। सबसे प्रथम उर्दू कवि अमीर खुसरो हैं।

इनकी पुस्तक खालिक बारी की अरबी और फारसी शब्दों के उर्दू पर्याय का कोश बताया है। अमीर खुसरो से आज तक के कवियों को इस लेखक ने मुख्यतः चार स्थानीय विभागों में बाँटा है। १ म दकन के कवि, २ में दिल्ली के कवि, ३ में लखनऊ के कवि, ४ में रामपुर और हैदराबाद के कवि। मर्सिया और उसके लेखकों पर लेखक ने एक अलग अध्याय दिया है। यह भी ठीक ही है कि लेखक ने नज़ीर अकबराबादी और शाहआलम देहली को भी एक अलग अध्याय बनाया है। १४ वें अध्याय में उर्दू कविता की नवीन गति का परिचय कराया है। और इस वर्तमान काल से जो नई प्रवृत्तियाँ उर्दू कविता और उसकी शैली में उदय हुई उनका उल्लेख भी किया है।

उर्दू साहित्य का इतिहास भाग २ (गद्य खण्ड)—लेखक तथा प्रकाशक वही, अनुवादक श्री शालिग्राम श्रीवास्तव। पृष्ठ १४३, मूल्य २।)

इस दूसरे भाग में उर्दू गद्य के विकास का पता चलता है। लेखक ने फोर्ट विलियम कालेज से उर्दू गद्य का आरम्भ माना है, और काव्य को छोड़ कर उर्दू के अन्य जितने भी रूप हैं उन सबका उल्लेख इस छोटी पुस्तक में दिया है। उर्दू के पत्र-पत्रिकाओं का भी उल्लेख है। अन्त में लेखक ने उर्दू भाषा की विशेषताओं का भी संक्षेप में उल्लेख कर दिया है। इन दोनों भागों में उर्दू साहित्य के इतिहास की एक सुन्दर प्रामाणिक रूपरेखा मिल जाती है, हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है। यदि इस पुस्तक में परिशिष्ट रूप से ही सही उर्दू के कवियों और लेखकों की उस शैली पर विशेष टिप्पणियाँ रहतीं जिनका हिन्दी शैली से निकट सम्बन्ध है तो एक ओर जहाँ हिन्दी उर्दू की मौलिक एकता का रूप स्पष्ट होता वहाँ हिन्दी के पाठक से इसका सीधा सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता। अनुवादक अथवा सम्पादक परिशिष्ट देकर इस हिन्दी उर्दू के आन्तरिक और बाह्य साम्य और विभेद के इतिहास पर सोदाहरण तथा सकारण उल्लेख कर देते तो पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती। पुस्तक में पीछे अनुक्रमणिका का अभाव बहुत खटकता है। —सत्येन्द्र

नाटक

लकड़ बग्घा—लेखक-श्री जी० पी० श्रीवास्तव, प्रकाशक-भारतीय प्रकाशन मंदिर, बनारस-१। पृष्ठ सं० ६४, मूल्य १।)

जी० पी० श्रीवास्तव हास्य रस के सिद्ध लेखक हैं। उन्हीं के तीन छोटे प्रहसनों का इसमें संग्रह है। पहला प्रहसन 'लकड़ बग्घा' सबसे बड़ा है। यह १९२७ में 'जैसी करनी वैसी भरनी' के नाम से माधुरी में प्रकाशित हो चुका है। इसमें कर्ज़ की समस्या को हास्य का विषय बनाया गया है। 'भारत माता की जय' में परमिट और राशन प्रणाली पर व्यङ्ग है। 'करिया अच्छर भैंस बराबर' में साक्षरता की प्रेरणा दी गयी है। तीनों ही अभिनेय हैं। —सत्येन्द्र

निबन्ध

निबन्ध रत्नाकर—ले०-डा० सत्येन्द्र, प्रकाशक-रत्न प्रकाशन मन्दिर, आगरा। पृ० ३४३, मूल्य ३॥)

यद्यपि ये निबन्ध स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों के लाभार्थ लिखे गये हैं तथापि इनमें परीक्षा पास कराने की अपेक्षा विद्यार्थियों की निबन्ध साहित्य से वास्तविक रुचि रखने और रसास्वाद कराने की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। वास्तविक बात यह है कि अच्छा निबन्ध लेखक वही हो सकता है जो अच्छे निबन्धों के रसास्वाद करने की क्षमता रखता हो। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि निबन्ध लेखन के व्यावहारिक पक्ष की अवहेलना की गई है। निबन्ध लेखन के नियमादि पूर्ण विवेचन के साथ दिये गये हैं। साथ ही कुछ निबन्धों की रूपरेखा भी दी गई है। इस पुस्तक में निबन्ध लेखन ही नहीं, गद्य रचना के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। निबन्ध साहित्य का इतिहास भी दिया गया है और कुछ दूसरे सिद्धहस्त लेखकों के निबन्ध और उनकी चिट्ठियाँ भी (जो साहित्य का अनुपम सम्पदा है) नमूने के तौर पर दी गई हैं। इसमें न्यूनता सिर्फ इतनी है कि सभी स्तर के लेख एक साथ दे दिये गये हैं। यह गुण भी हो सकता है। दूसरा दोष यह है कि इसमें भावात्मक की अपेक्षा शैली और इसका विवेचन और आलोचना का रूप अधिक है। यह दोष भी लेखक के पाण्डित्य का है और इससे विद्यार्थी

पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। मूल्य की दृष्टि से इसमें सामग्री भी विस्तृत और गुण में बढ़ी चढ़ी है।

साहित्य-सुमन—सम्पादक-श्री हरशरण दास शरण, प्रकाशक-रामकिशोर नन्दकिशोर, दिल्ली। पृ० २०२, मूल्य ३॥)

इस पुस्तक में विविध साहित्यिक विषयों पर विविध लेखकों द्वारा लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। इसमें कुछ निबन्ध सैद्धान्तिक हैं (जैसे ललित कला और जीवन, उपन्यास क्या है, वियोगी होगा पहला कवि) और कुछ व्यावहारिक आलोचना से सम्बन्ध रखते हैं। खड़ी बोली का विकास व जयशङ्करप्रसाद और उनकी काव्य धारा में कामायनी के मनोवैज्ञानिक आधारों और दार्शनिक पृष्ठभूमि के विवेचन में कुछ नई सामग्री मिलती है। अपभ्रंश युग और उनका साहित्य शीर्षक में हिन्दी के आविर्भाव के पूर्व के साहित्य की अच्छी झाँकी मिलती है।

प्राय सभी निबन्ध विद्यार्थियों के उपयोगी हैं किन्तु विषयों के गाम्भीर्य के अनुकूल उनके विस्तार और विवेचन में अपेक्षाकृत कमी रही है।

प्रबन्ध-प्रकाश—लेखक-श्री कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार प्रकाशक—नव साहित्य मंडल, दिल्ली। पृष्ठ १७६, मूल्य ३।)

ये निबन्ध भी विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। इनमें गद्य रचना के प्रारम्भिक सिद्धान्तों के साथ विविध विषयों पर कुछ पूरे निबन्ध और कुछ की रूपरेखा दी गई है। इसके प्रायः सभी निबन्ध विचारात्मक हैं किन्तु विचारात्मक निबन्धों में विषय वैविध्य पर्याप्त है जिससे विद्यार्थियों की सामान्य जानकारी भी बढ़ सकती है। प्राय विद्यार्थियों के लिए लिखी जाने वाली पुस्तकों में राजनीतिक विषय अछूते रहते हैं। इसमें संयुक्त राष्ट्र, पंचवर्षीय आर्थिक विकास योजना आदि महत्व पूर्ण विषयों का भी विवेचन किया गया है। इसकी शैली सरल है। लेखक स्वयं इसी प्रकार की शैली में विश्वास करते हैं। ज्ञान वितरण की ओर लेखक का ध्यान अधिक है। शैली अनलङ्कृत होते हुए भी अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्ट है। इसमें भारतीय नारी पर दो अच्छे निबन्ध हैं। इसके अन्य निबन्ध भी विचारपूर्ण और ज्ञान वर्द्धक हैं।

—गुलाबराय

प्रबन्ध पीयूष—लेखक-प्रो० विद्याभास्कर 'अरुण' एम० ए०, प्रकाशक—जन साहित्य प्रकाशन, जालंधर। पृष्ठ ३२०, मूल्य ३॥=)

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी के सामयिक व साहित्यिक ५५ निबन्धों का संग्रह है। लेखक ने लगभग सभी विषयों—साहित्यिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक पर अपनी लेखनी चलाई है। भारत राष्ट्र और उसकी समस्याएँ, विश्व के रंग-मंच पर, साहित्य सौरभ, ज्ञान के उद्यान में व रेडियो भाषण—इन पाँच भागों में पुस्तक का विभाजन किया गया है। 'विश्व के रंग मंच पर' के निबन्धों में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी हुई सामग्री को लेखक ने एकत्र कर विद्यार्थियों को एक ऐसी वस्तु प्रदान की है जिससे वे परीक्षाओं में ही लाभ नहीं उठा सकते, अपितु अपने मस्तिष्क को भी विचार-समृद्ध बना सकते हैं। 'साहित्य सौरभ' खण्ड में साहित्य की प्रमुख विधाओं एवं उसके आधुनिकतम वादों को परीक्षार्थियों के बौद्धिक-स्तर के अनुरूप सरस एवं सुस्पष्ट भाषा में समझाया गया है। महत्वहीन विषयों को छोड़कर परीक्षाओं में पूछे जाने वाले प्रचलित विषयों पर ही निबन्ध लिखे गये हैं।

यह निबन्ध पुस्तक विद्यार्थियों को विचार-प्रौढ़ बनाने में एवं उनके बौद्धिक-स्तर को ऊँचा करने में तो सहायक होगी ही साथ ही उन्हें स्वयं लिखने की भी प्रेरणा प्रदान करेगी।

—बाँकेलाल रावत

कविता

हिमांचला—लेखक-श्री रामेश्वरदयाल खण्डेलवाल 'तरुण', प्रकाशक-प्रकाश परिषद, मेरठ। पृष्ठ १०४, मूल्य १॥)

श्री रामेश्वरदयाल खण्डेलवाल 'तरुण' एक तरुण हृदय की तरल तरङ्गों के साथ साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए हैं। इनका हृदय नवचेतना से भरा है—'जीवन लहरा उठा—धूप में लहराते नीले सागर सा' इनकी कविताओं में आशा, साहस और कठिनाइयों से विचलित न होने वाला अदम्य उत्साह है। वे एक अमर विश्वास लेकर चले हैं। सूरज

अस्त हो जाय तो उनके पथ ज्योतित करने वाले तारों में विश्वास है। तारे भी न हों तो जुगनू में ही उनको आशा के स्फुलिंग मिलते हैं। और यदि वे भी न हों तो उनको अपने ऊपर विश्वास है। 'इस लौह छाती में साहस भरा भर पूर है।' कठिनाइयाँ उनका बल बढ़ाती हैं देखिए —

सागर में जितना चढ़ता जल,
नाविक में उतना बढ़ता बल।
कहता है—इन लहरों से-
आगे बढ़ कर होड़ न लेना,
माँझी साहस छोड़ न देना।

'संघर्ष कर आहें न भर' जहाँ हम को पलायन वाद से दूर रणक्षेत्र में लेजाकर गाण्डीव धारण कराता है वहाँ संघर्ष की श्रान्ति बढ़ाने के लिए विश्राम और मुक्ति की खोज भी है—

चलो हृदय, इस निर्मम जग से दूर कहीं कुछ देर चलें।

इस कविता में कवि का मनोराज्य है किन्तु अन्त में इस मधुबन्धन से मुक्ति की भी खोज है :—

जीवन मधु भी पायेंगे यदि काँटों में छिद जायेंगे,
धन बरसे, जीवन-सन्ध्या में शत दल में मुंद जायेंगे।
मुक्ति प्रात में निकल उड़ेंगे, तृप्त मधुप जैसे निकलें।

यह पुस्तक नवयुग की भावनाओं से पूर्ण है। इसमें मानव गौरव भर पूर है —

'है सुरत्व की इच्छा, असफल मानवता का लक्षण'

और देखिए :—

होंगे तो होंगे देव अतुल धन बल सागर,
पर मानव अपनी दुर्बलता में भी सुन्दर।

जीवन के संघर्ष में ही कवि मुक्ति चाहता है :—

इन काँटों में ही कली खिलेगी, देखो तो।
भव बन्धन में ही मुक्ति मिलेगी, देखो तो॥

ये पंक्तियाँ हमको कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का अमर पंक्ति 'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन' की जो गीता के निष्काम कर्म और कवीन्द्र रवीन्द्र का 'असंख्य बन्धन माझे लभिब मुक्तिस्वाद' में प्रमाणित है, याद दिलाता है।

इन कविताओं में सौन्दर्य और प्रणय के गीत भी हैं। और प्रकृति के सजीव चित्र भी हैं जो छायावाद से प्रभावित हैं। तारागण की स्मृति में मूर्त से अमूर्त की ओर अमूर्त से मूर्त की उपमाओं की सुन्दर छटा है। सरला आज कल की चपल बालिका का एक विशेषण श्रृंगार है। पन्तजी की भी एक ऐसी ही पंक्ति है—सरल न हो था उसका मन। पुस्तक में पन्तजी का प्रभाव अवश्य है किन्तु अन्धानुकरण नहीं है। इसमें प्रगतिवाद की गतिशीलता है। ग्रामीणों और किसानों के करुण चित्र हैं किन्तु कटुता नहीं। इसमें गतिशीलता के साथ छायावादी कोमलता है और आत्मसमर्पण भी है। इसके आरम्भ से अन्त तक विश्रामदायिनी धवल चाँदनी कोमलतम रुपहला अंचल वाली 'स्नेहमयी रजनी हिमाँचला' की जिसके नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ है, शीतल छाया है।

पगध्वनि—लेखिका—कुमारी शान्ति एम० ए०, प्रका०—अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ। पृष्ठ ५१, मूल्य २)

कुमारी शान्ति के इस संग्रह के गीतों में एक अनिरोध-जन्य करुणा है पर सन्तोष के साथ, उसमें एक क्षीण वैराग्य और निराशा की रेखा है जो उनके 'जन्म दिन आया ही व्यर्थ,' 'गीत लिखना अब उदास है' आदि कविताओं में व्यक्त होता है, यह ठीक है 'कहाँ है व्यथित हृदय की पीर, कहाँ शब्दों का हास विलास !' फिर भी हमारे पास शब्दों के सिवाय और कोई स्थायी और सार्वजनिक माध्यम नहीं। उनसे बहुतों को सान्त्वना मिलती है। लेखिका ने ही स्वयं बहुत सी बातें कही हैं जो व्यर्थ नहीं हैं। कवियित्री ने बुरी चीज को भी अच्छा कहा है यदि उसकी दिशा ठीक हो।

यदि कर्म निज निभते चले

× × ×

फल के लिये फिर भाग्य पर, सन्तोष बहुत बुरा नहीं।

× × ×

जो शान्ति करदे विश्व में वह रोष बहुत बुरा नहीं।

× × ×

सच पर पतिंगे सा जले, मद होश बहुत बुरा नहीं
यह दोष बहुत बुरा नहीं

कवियित्री को नैराश्यों का सामना करने का अभ्यास हो गया है अब वे उससे विचलित नहीं करते। निराशा में भी आशा की झलक आ जाती है देखिए :—

नित्य ही मिलते हैं शृंगार नित्य ही मिलता पारावार।
शोक भी हो तो कितनी बार

× × ×

दृग में मेरा लक्ष्य, रोग भी हो तो कितनी बार

ऐसी ही कुछ स्वर्ण रेखाएँ नैराश्य के बादलों पर आशामय प्रभा देती है।

दूबके आँसू—लेखक-श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', प्रकाशक-सुशीला कमलेश गोकुलपुरा, आगरा। मूल्य २)

वैसे तो कमलेशजी प्रगतिशील कवि हैं किन्तु इस पुस्तक में उनके प्रेम के गीतों का संग्रह है किन्तु इन प्रेम के गीतों में भी उनकी प्रगति शीलता स्पष्ट है। इन गीतों की मूल झंकार यह है कि कवि को सौन्दर्य का स्वाभाविक आकर्षण रहा है किन्तु अब वह उससे ऊपर उठ गया है और कर्तव्य पथ मे आरूढ़ है। सुनिये :—

मुझे प्यार के बन्धनों में न बाँधो
गगन में लगा गूँजने गीत मेरा
लुभाते रहे जो मुझे रंग फीके
सजनि बह गया अब समय बीत मेरा
असीमित जलधि की पिपासा लिये है
ससीमित सलिल के कणों में न बाँधो।

इन पंक्तियों में अवचेतन मन अहंभाव की ध्वनि अवश्य है किन्तु वह आदर्श से प्रेरित है, इस कारण वह कवि की आत्मोन्नति मे सहायक हो सकती है। कवि यद्यपि प्रेम के बन्धनों से ऊँचा उठ गया है तथापि उसकी कसक बाकी है। प्रेम जीता वेदना का भार लेकर, कवि रहाँ, बैठा व्यथा का भार लेकर।

इन कविताओं में कहीं कहीं निराशा की झलक अवश्य है किन्तु कवि निराशा पर रुकने वाला नहीं उसमे एक दृढ संकल्प और आगे बढ़ने की अदम्य अभिलाषा है :—

क्या चिन्ता यदि विपदा घेरे
तेरा लक्ष्य सामने तेरे
जल दीप जूझे झंझा से फिर भी मन्द प्रकाश न हो
मेरे मीत उदास न हो

इन गीतों की भाषा और भाव दोनों में ही गति और प्रगति है। प्रेम के गीत होते हुए भी ये गीत साधारण प्रेम के पथ से जिसमें रोना या कराहना रहता है भिन्न हैं, वे कवि और पाठक को ऊँचा उठाकर आशा का संचार करते हैं :—

मैं अमरता के नये नभ का विहग बन
दिव्यता से भव्य नाता जोड़ता हूँ
लो सुरा के सुखद प्याले तोड़ता हूँ।

—गुलाबराय

गाँधी गौरव—लेखक-प० गोकुलचन्दजी शर्मा, प्रकाशक-नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर। पृ० ११२, मू०१)

यह काव्य ग्रन्थ शर्माजी की महत्त्वपूर्ण रचना है। काव्य की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है और विचार की दृष्टि से भी। काव्य की दृष्टि से इसमें १२ सर्ग हैं, सभी सर्गों में एक ही छन्द व्यवहृत है। प्रवाह और प्रसाद दोनों से युक्त है। विचारों की दृष्टि से इसमें गाँधीजी का चरित्र-वर्णन है जो स्वयं ही आदर्श है। ऐसी पुस्तकें स्कूलों में पाठ्य ग्रंथ बनाई जायँ तो हमारे युवकों का चरित्र कुछ ऊँचा उठे।

कहानी

अष्ट दल—सम्पादक-डॉ० आर० श्रीनिवास शास्त्री, प्रकाशक-मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद्, बैंगलोर ४। पृष्ठ १०६, मूल्य १)

इसमें हिन्दी के प्रसिद्ध आठ कहानी लेखकों की आठ कहानियाँ संग्रहीत हैं। संकलन अच्छा है। अन्त में कठिन शब्दों के शब्दार्थ भी दिए गए हे।

शैतान—लेखक-खलीलजिब्रान, अनु०-श्री नरेन्द्र चौधरी, प्रकाशक-हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, प्रयाग। पृ० ८८, मूल्य १)

सीरिया के प्रसिद्ध कवि, लेखक और चित्रकार खलील जिब्रान विश्व के महान लेखकों में से हैं। इनकी पुस्तकों का अनुवाद लग भग ३० भाषाओं में हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक में आपकी आठ भाव कथाओं का संग्रह है। सभी विचारोत्तेजक और मर्मस्पर्शी हैं।

जीवनी

हमारे आराध्य—लेखक-पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रकाशक-ज्ञानपीठ काशी। पृ० २६०, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में उन सोलह विदेशी विभूतियों का श्रद्धा और विवेचनापूर्ण विवरण दिया ग । है जिनसे चतुर्वेदीजी प्रभावित हुए हैं। जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है लेखक के लिए देशी और विदेशी का प्रश्न नहीं है, वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मानने वाले हैं। भूमिका में उन्होंने स्वयं ही इस शङ्का का निराकरण कर दिया है कि उनकी पुस्तक म सब विदेशी विभूतियाँ ही हैं।

चतुर्वेदीजी सिद्धान्त अराजकतावादी हैं पर व्यवहार में वे बड़े कोमल हृदय अहिंसावादी हैं। अपनी सैद्धान्तिक रुचि के अनुकूल ही उन्होंने महात्मा माइकिल, बाकूनिन, प्रिन्स क्रोपाटकिन, अराजकतावादी मैलटेस्टा प्रभृति महापुरुषों को प्राथमिकता दी है। लेखक की सहानुभूति अराजकतावादियों में ही सीमित नहीं है वरन् उन्होंने जहाँ भी स्वतन्त्र भावना समाज सेवा और आत्म त्याग के सद्गुण देखे हैं उनके आश्रय का प्रेमपूर्वक स्वागत किया है। किसी जाति विशेष से उनको द्वेष नहीं है —बाकूनिन, क्रोपाटकिन आदि रूसी हैं इमरसन और थोरो अमेरिका निवासी हैं, रोमांरोला फ्रांसीसी हैं और कागावा जापानी।

प्रिन्स क्रोपाटकिन, महात्मा बाकूनिन, महात्मा आदि अराजकतावादी भी इसीलिए अराजकतावादी हैं कि उन्होंने व्यक्ति को चरम महत्व दिया है। चतुर्वेदीजी ने इन लोगों के सिद्धान्तों की सराहना की है। किन्तु व्यक्तित्व को महत्व देने की कोई सीमाएँ निर्धारित नहीं की ह।

कागावा का त्यागमय व्यक्तित्व किसी देश के लिए गर्व की वस्तु हो सकता है। उसकी पुस्तकों से पर्याप्त आय थी किन्तु वह अपने ऊपर सौ रु० मासिक व्यय करता था। सम्पन्न होते हुए भी उसने गन्दी नालियों म रहना न छोड़ा जिससे कि उनका सुधार करा सके।

लसित राष्ट्र चेतना सम्पादकों की हमारे देश को बहुत आवश्यकता ह जो सम्पादन कला का नैतिक मान दण्ड ऊँचा करा सके। चतुर्वेदीजी ने अपनी शैली के आकर्षण से पुस्तक को सुपाठ्य बना दिया ह। उनके आरम्भ करने के ढङ्ग अनूठे हैं। आशा है चतुर्वेदीजी के अन्य संस्मरणों का भी शीघ्र ही प्रकाशन होगा।

—गुलाबराय

राजनीति

भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास—लेखक-श्री सुखसम्पतिराय भण्डारी, प्रकाशक डिक्सनेर पब्लिशिङ्ग हाउस मदारपुरा अजमेर। पृष्ठ ३११, मूल्य ८॥

नाम के अनुकूल प्रस्तुत पुस्तक में भारत को स्वतन्त्रता के लिए किए गए विभिन्न समयों और विभिन्न व्यक्तियों व आन्दोलनों और संग्रामों का ऐतिहासिक ढङ्ग से विश्लेषण और विवेचन है। प्राचीन भारत की सभ्यता की चर्चा करते हुए विद्वान लेखक ने मौर्य काल के भारत का वर्णन किया है और फिर अँग्रेजों के समय चले गया हुआ इसका विस्तार से चर्चा की है। सन सत्तावन के गदर और उससे पूर्व का वर्णन पुस्तक में है और उसके बाद भारत में सम्पूर्ण गणतन्त्र की स्थापना तक का विशद वर्णन है इस बीच म जितने भी आन्दोलन हुए हैं सभी का थोड़ा बहुत परिचय पुस्तक में मिल जाता है। अपने ढङ्ग की यह पुस्तक पढ़नी है। इसे इतिहास तो नहीं इतिहास की रूप रेखा हम अवश्य कह सकते हैं। भावी इतिहास लेखकों के लिए यह पुस्तक लाभदायक प्रतीत होगी।

पिता के पत्र—लेखक श्री देवकीनन्दन विभव प्रकाशक साहित्य निकेतन, गाँधी रोड, आगरा। पृष्ठ १३१ मूल्य २)

विभवजी आगरे के प्रसिद्ध राजनैतिक नेता हैं और पुराने सहायक भी। १९४३—४४ के जेल जीवन में आपने कुछ पत्र अपने पुत्र को लिखे थे जो अब सभी नव युवकों के हितार्थ प्रकाशित कर दिये हैं। पत्र १८ हैं। इनमें आपने युवकोपयोगी विषयों पर सुन्दर भाव विचारों का निरूपण करके एक उपयोगी पुस्तक तैयार कर दी है। हम इस पुस्तक का हृदय से स्वागत करते ह और आशा करते हैं कि स्कूल कालिजों में पढ़ने वाले विद्यार्थी इससे लाभ उठायेंगे।

काश्मीर देश व संस्कृति—ले०-श्री शिवनाथसिंह चौहान, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २०७ मूल्य ५)

काश्मीर आज भारत के ही लिए नहीं विश्व के लिए एक समस्या बना हुआ है। ऐसे अवसर पर काश्मीर के

इतिहास, सांस्कृतिक भूगोल, जातियाँ, भाषाएँ, साहित्य, स्थापत्य आदि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की प्रत्येक व्यक्ति को उत्सुकता हो सकती है। चौहान जी ने उक्त समस्त विषयों पर संक्षिप्त, प्रामाणिक तथा रोचक विवरण इस पुस्तक में दिया है। चौहान जी कुछ काल तक काश्मीर में रहे हैं। इस कारण उन्होंने जहाँ अधिकांश सामग्री अन्य विद्वानों की कृतियों से ली है वहाँ उन्होंने अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से उसे व्यवस्थित किया है और अपनी स्पष्ट दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के मर्म को यथार्थ रूप से रखने की चेष्टा की है। निश्चय ही उन्होंने समाजवादी दृष्टिकोण से तथ्यों का सङ्कलन किया है और समाधान भी उसी दृष्टि से किया गया है, फिर भी यह सब इतना बुद्धि सङ्गत और संयत है कि न तो पाठक को उसमें कोई दुराग्रह प्रतीत होता है और न वस्तु के ज्ञान से कोई बाधा पड़ती है। हिन्दी में इस प्रकार की कदाचित यह पहली ही पुस्तक है जिसमें किसी देश अथवा किसी क्षेत्र को लेकर इतने अधिकार पूर्वक रोचक पुस्तक लिखी गयी हो। राज कमल के द्वारा इसका प्रकाशन भी अत्यन्त सुन्दर और मोहक हुआ है। इसमें बस केवल एक कमी बहुत खटकती है वह है चित्रों तथा रेखा चित्रों का अभाव, ऐसी पुस्तक में चित्र अवश्य होने चाहिए थे। क्योंकि शब्द चित्रों के लिए वस्तु चित्रों का प्रमाण यथार्थ को और भी स्पष्ट कर देता है। पाठक को चित्रों से ज्ञानवर्द्धन ही नहीं मनोरञ्जन भी होता है।

—सत्येन्द्र

प्राप्ति-स्वीकार

सचित्र अक्षर ज्ञान—सं०-श्रीराम सातापुरी, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। बड़ा आकार मूल्य १॥) बच्चों को साक्षर बनाने की नई और सुन्दर तथा आकर्षक पोथी।

पंचतंत्र की कहानियाँ भाग १—प्रकाशक-राज कमल प्रकाशन, दिल्ली। मूल्य १) प्रसिद्ध संस्कृत पुस्तक का हिन्दी में बढ़िया संस्करण।

बापू के आदेश—लेखिका-श्रीमती कमला वर्मा, प्रकाशक-श्यामदत्त मिश्र, ११ तुतावाड़ी, गया। पृष्ठ ८७, मूल्य ॥) सात-आठ विषयों पर महात्मा गान्धी के विचारों की चर्चा करने वाली पुस्तक।

महात्मा गान्धी—लेखक आचार्य कृपलानी, प्रकाशक-सर्वोदय साहित्य-संघ, काशी। पृष्ठ ८०, मूल्य ॥।=) गांधीजी के जीवन पर विचार-पूर्ण राजनीतिक अध्ययन।

गान्धीजी के प्रमुख अनुयायी—लेखक-श्री सत्यनारायण प्रकाशक-सर्वोदय साहित्य-संघ, काशी। पृष्ठ ६२, मूल्य ॥)

धीरेन्द्र मजूमदार, विनोबाभावे, मशरूवाला, काका कालेलकर आदि गांधीजी के १० साथियों का जीवन परिचय।

कमला नेहरू—लेखक श्री परमेश्वर द्विरेफ, प्रकाशक-युगान्तर प्रकाशन मन्दिर लि०, जयपुर। पृष्ठ ४३, मूल्य ॥।)

श्रीमती कमला के जीवन का काव्यमय परिचय।

सम्राट रघु—लेखक-श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्रकाशक-विजय पुस्तक भण्डार, दिल्ली। पृष्ठ ८०, मू० १।)

महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य के प्रथम-सात सर्गों का भावानुवाद।

साहित्य प्रारम्भिका—लेखक-श्री अञ्जारिया, अनुवादक श्रीमती शकुन्तला कुमारी रेणु। प्रकाशक-नवरत्न-सरस्वती भवन मानसा पाटन। पृष्ठ १२०, मूल्य १॥)

इस पुस्तक मे गुजराती साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया है। मूल पुस्तक गुजराती में है। प्रस्तुत पुस्तक उसका अनुवाद है। इस पुस्तक से ज्ञात होता है कि गुजराती साहित्य की प्रगति किस प्रकार हुई है और अब उसकी क्या दशा है। हिन्दी के विद्यार्थियों को यह पुस्तक बड़ी उपयोगी होगी।

प्राचीन काव्य दिग्दर्शन—सम्पादिका-प्रो० शकुन्तला अग्रवाल, प्रकाशक-शक्ति प्रकाशन लुधियाना। पृष्ठ १२०, मूल्य १॥)

लुधियाना से निकलने वाले 'नया साहित्य' नामक पत्र का यह विशेषाङ्क पुस्तकाकार निकला है। इसमें विद्यापति, जायसी, कबीर आदि आठ प्राचीन कवियों का परिचय दिया गया है। परीक्षार्थियों को दृष्टि में रखकर इसका प्रकाशन हुआ है।

महाकवि रवीन्द्रनाथ—लेखक-श्री विश्वनाथ अय्यर १० ए०, प्रकाशक-श्री रामविलास प्रेस, कोट्टलोण ट्रावनकोर। पृष्ठ ५०, मूल्य ॥) —एक अहिन्दी भाषी न्दी अध्यापक की लिखी सुन्दर जीवन गाथा।

युग-सन्देश—एक किसान की कलम से। प्रकाशक-वर महादेवसिंह परिहार, वरदहा, मऊगज, रीवाँ। पृष्ठ १६ ल्य।) —राजनैतिक समस्याएँ, प्रजातन्त्र, अधिनायक न, फासिस्तवाद—आज की समस्याओं पर पद्यमय विचार।

मङ्गल-प्रभात—सम्पादक-श्री कामताप्रसाद जैन, महावीर प्रकाशन, अलीगंज (एटा)। पृष्ठ ६४, लेखक के सुपुत्र के विवाहोत्सव पर वितरित। मूल्यवान त्नों से युक्त।

जैन मन्दिर और हरिजन—लेखक-श्री महेन्द्र मार जैन, प्रकाशक-भारत वर्षीय दि० जैन परिषद्, दिल्ली। पृ० १६, बिना मूल्य —हरिजनों के मन्दिर प्रवेश पर युक्तियुक्त पुस्तिका।

जैन धर्म और वर्ण-व्यवस्था—लेखक-प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री, प्रकाशक-भा० दि० जैन परिषद, दिल्ली। पृष्ठ १६, बिना मूल्य —चारों वर्णों और उनके कार्यों का उल्लेख।

नाम साधन—लेखक-श्री गुरुचरणाश्रित, प्रकाशक-वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स लिमिटेड बम्बई २। पृष्ठ ४८, मूल्य ।≈) अध्यात्म विषय की छोटी सी पुस्तिका।

अणुव्रती सङ्घ और अणुव्रत—प्रकाशक-अणुव्रती समिति ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता। सङ्घ का विधान और उसके नियम।

भूदान यज्ञ—लेखक-आचार्य विनोबा भावे, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ३२, मूल्य ।) भूदान यज्ञ के सम्बन्ध में विनोबा जी के विचार।

कला—लेखक-श्री जगदीश पोखरियाल, प्रकाशक-नव साहित्य-मण्डल, सब्जी मण्डी, दिल्ली। पृष्ठ २८, मूल्य ॥) लेखक का एक सुन्दर भाव नाट्य।

भारत के पुरुषोत्तम—लेखक-श्री भैरूलाल व्यास, प्रकाशक-हिन्दी साहित्य समिति चेनगाँव। —गाँधीजी, राजाजी, नेहरूजी आदि तेरह महापुरुषों का संक्षिप्त जीवन-वृतान्त।

हिन्दी के प्रचार में सहयोग देने वाले हमारे प्रेमी सहायक

१—प्रो० श्री रामप्रकाशजी एम० ए० ३०१, बाउन्ड्री रोड मेरठ।
२—श्री बिहारीसिंहजी, श्रीरामजानकी विद्यालय डा० बेन, पटना।
३—श्री मोहनलालजी चेमारा, रामजस कालेज दिल्ली।
४—श्री शिवप्रसाद लोहानी, नूरसराय, पटना।
५—श्री आनन्द स्वरूप कौशिक, कौशिक पुस्तक भण्डार, सुर्जा।

जो सज्जन हिन्दी के प्रचार की दृष्टि से साहित्य सन्देश के कम से कम चार पाँच ग्राहक बनायेंगे उनके हम आभारी होंगे तथा उनके शुभ नाम साहित्य-सन्देश में प्रकाशित किये जायेंगे।

हमारे यहाँ

श्री अजन्ता प्रेस लि० पटना

की

एजेन्सी है

अतः व्यापारियों को २५ प्रतिशत कमीशन
मिलेगा। जो प्रकाशक से सीधे
मिलता है।

साहित्य - रत्न - भण्डार,
४, गांधी मार्ग, आगरा।

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड,

का

साहित्यिक प्रकाशन

उपन्यास

इन्द्रधनुष—पं० छविनाथ पाण्डेय ३॥)
माँ की ममता— ,, २॥)
कैदी की पत्नी—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी २)
मीमांसा—श्री अनूपलाल मंडल २॥)
दर्द की तस्वीरें— ,, २)
समाज की वेदी पर— ,, २)
बुझने न पाये— ,, ३॥।)
वे अभागे— ,, ४)
रूप रेखा— ,, २)
सविता— ,, ३)
साकी— ,, १॥)
बूचड़खाना—पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ३)
लहरों के बीच—श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त २॥)

कहानी

लाल तारा—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी २)
संसार की मनोरम कहानियाँ—,, १॥)
माटी की मूरतें— ,, १॥)
प्रतिमा—प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' २॥)
रात की रानी—सुश्री उषादेवी मित्रा २)
भीख की टोली—सुश्री शारदा वेदालङ्कार १।)
हरदम आग—श्री कृष्णनन्दन सिन्हा २॥)
समानान्तर रेखाएँ—
श्री राधाकृष्ण प्रसाद, एम० ए० २॥)

प्रहसन

दो घड़ी—श्री शिवपूजन सहाय ॥।)
कहकहा—श्री सरयूपण्डा गौड़ १।)
ससुराल की होली— ,, २॥)
हँसो-हँसाओ— ,, १॥)

नाटक

अम्बपाली—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी २)
तथागत— ,, १॥)
वर्धमान महावीर—श्री व्रजकिशोर 'नारायण' १॥)
पारिजात-मञ्जरी—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा १॥)
संस्कृति की झलक—श्री रमण १॥)

यात्रा

भूमण्डल यात्रा—श्री गोपाल नेवटिया १॥।)

प्रबन्ध साहित्य

संस्कृत का अध्ययन—
राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद २)
आगे बढ़ो—प० छविनाथ पाण्डेय १॥)
जीवन की सफलता— ,, ॥=)
साहित्य-समीक्षा—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा २॥।)
दुग्ध विज्ञान—श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर' १।)

इतिहास

हमारी स्वतन्त्रता—श्री मोहनलाल महतो
'वियोगी' ३)

संकलन

गाँधी-अमृतवाणी—श्री प्रभूदयाल विद्यार्थी १॥।)
संस्कृत लोकोक्ति सुधा—श्री जगदम्बाशरणराय १॥।)

जीवनी

आत्मकथा—राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद १२)
कार्ल मार्क्स—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी २॥)

काव्य

कैकेयी—श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ३)
कर्ण— ,, १॥)
रश्मि रथी—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ४)
धूप और धुआँ— ,, २॥)
इतिहास के आँसू— ,, ३)

नारायणी—श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' १॥)
द्रोण—श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' १॥)

संस्मरण

बापू के कदमों में—राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ४)

राजनीति

राजनीति-विज्ञान—प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र ६)
भारतीय संविधान और शासन—
प्रो० विमला प्रसाद ६॥)

नीति-शास्त्र

नीति शास्त्र—श्री क्षेमधारी सिंह २॥)

नागरिक-शास्त्र

प्राथमिक नागरिक-शास्त्र—प्रो० दिवाकर झा ४)

अर्थ-शास्त्र

भारत का आर्थिक इतिहास—
प्रो० मोतीचन्द गोयिल ३)

सामान्य विज्ञान

विश्व का विकास—माननीय श्री रामचरित्र सिंह २॥)
विश्वज्ञान-भारती—श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' १०)

ग्राम्य-साहित्य

अन्नपूर्णा के मन्दिर में—
आचार्य शिवपूजन सहाय १॥)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा—सम्पादक-मण्डल ॥=)
गाँव स्वर्ग बन सकता है— ,, ॥=)
हमें जानना चाहिए— ,, ॥=)
किसान और मजदूर— ,, ॥=)
हमारा कर्तव्य— ,, ।=)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा— ,, ॥)
पशुपालन और भारत का पशुधन— ,, ॥)
बिहार-पञ्चायत राज और उसके अधिकार ,, ॥)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना—
प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव २॥)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ—चित्रकार—श्यामलानन्द २)

मैथिली-साहित्य

कट्टर कचाक तरंग—प्रो० हरिमोहन झा १॥)

बाल साहित्य

कहानी

सप्तसोपान—पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ।॥)
नवरत्न— ,, ।॥)
कथा-कहानी— ,, ।॥)
सीख की बातें ,, ।॥)
आश्चर्यजनक कहानियाँ—
श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' १)
भूतों की कहानियाँ— ,, १)
मनोरञ्जक कहानियाँ ,, १)
समुद्र के मोती— ,, १)
लहरदार पूँछ—श्री राधाकृष्ण प्रसाद, एम. ए. ।॥)
नकली सिंह— ,, ।॥)
ऊँचे ऊँट— ,, ।॥)
साँढ और बेंग— ,, ।॥)
चोर राजा— ,, ।॥)
जालिम कुमार—श्री शिवस्वरूप वर्मा ॥)
सीत-बसन्त— ,, ।॥)
हितोपदेश की कहानियाँ—श्री शशिनाथ झा १॥)
मामाजी— ,, ।॥)
रूसी जीवट की कहानियाँ—श्री सुरेश्वर पाठक १।॥)
सत्तू में भैंस—सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी ।॥)
जादू की बंशी—श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त ।॥)
जादू का थैला—श्री जगदानन्द झा ।॥)
काजी घोड़ा— ,, ।=)
कासिम का चप्पल— ,, ॥)
चालाक मुर्गी— ,, ॥)

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड

यहां है

हमने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को हर महीने पौने मूल्य में पुस्तकें देने की योजना पिछले दिसम्बर मास से निकाली थी और अब तक हमारे ग्राहक उससे लाभ उठाते रहे।

•अब डाकखाने के नये कानूनों के अनुसार हम जवाबी कार्ड को साहित्य-सन्देश के अङ्क में नहीं रख सकते। अतः हम उस कार्ड को इसी पृष्ठ पर नीचे छाप रहे हैं, आप लाइन पर से काट कर उसे हमारे पास भेज दें। इस पर आपको टिकट लगाने की आवश्यकता नहीं।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

———(यहाँ से काटिये)———

———यहाँ से काटिये———

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड

नाम ....

पता ....

ग्राहक सं ....

१—साहित्य रत्न पथ प्रदर्शिका प्रथम खण्ड—
परीक्षा सम्बन्धी ६)
२—साहित्य रत्न पथ प्रदर्शिका द्वितीय-खण्ड—,,
३—मध्यमा हिन्दी प्रश्नोत्तर—२००२ से २००७ तक ३॥)
४—नूरजहाँ की टीका—रामखेलावन चौधरी ,, २)
५—गोदान एक अध्ययन—प्रेमनरायण टण्डन ,, १॥।)
६—स्कन्दगुप्त एक अध्ययन— ,, ,, १॥)
७—सेवासदन एक अध्ययन— ,, ,, १॥)
८—अजातशत्रु एक अध्ययन— ,, ,, १॥)
९—वत्सराज एक अध्ययन— ,, ,, ॥)
१०—तत्कालिक चिकित्सा—लालबहादुर लाल १॥।)
११—साहित्य सुषमा—लक्ष्मीधर बाजपेई—निबन्ध ३)
१२—रासपंचाध्यायी—उदयनारायण तिवारी—आलोचना २)
१३—तुलसी गीतावली—गुलाबराय ,, १)
१४—प्रेमचन्द कृतियाँ और कला—प्रेमनरायण टंडन ,, २)
१५—कृष्णायन प्रथम खंड—द्वारिकाप्रसाद मिश्र कविता २)
१६—दूब के आँसू—पद्मसिंह शर्मा कमलेश ,, ३)
१७—पीयूष कण—वाजपेई ,, २॥)
१८—कालिज की कहानियाँ—अजान— कहानी २॥)
१९—पुष्पछटा—वी० पी० खन्ना विमल ,, २॥)

नोट :—जो पुस्तक आप न लेना चाहें उसे काट दें।

नियम पीछे देखें—

Sahitya Sandesh, Agra.
AUGUST. 1952.

REGD. No. A. 263.
License No. 16.
Licensed to post without prepayment.

१—वी० पी० मूल्य में कृपया पीछे इसी पुस्तकें वी० पी० से भेज दें। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वी० पी० अवश्य छुड़ा लूँगा। अन्तिम ता० ३१—८—५२, तक

२—एक रु० से कम की वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

Postage will be Paid by Addressee

BUSINESS REPLY CARD

No Postage Stamp necessary if Posted in India

AGRA G. P. O
Permit No 1136

Book Post

To.
श्री सञ्चालक,
साहित्य-सन्देश,
साहित्य-रत्न-भण्डार,
४, गांधी मार्ग,
आगरा।

वर्ष १४] 10/11/52 आगरा—नवम्बर १९५२ [अङ्क ५

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम. ए., पी एच. डी.

महेन्द्र

*

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

*

मुद्रक

साहित्य प्रेस, आगरा।

*

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के द्वितीय सप्ताह में निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।
३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।
६ साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते है।
७ साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है

हिन्दी का नया प्रकाशन : अक्टूबर, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं

आलोचना

हिन्दी-काव्य धारा में प्रेम-प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी ३।।)
काव्य और कल्पना—रामसेवावन पान्डेय ३।।)
हिन्दी भाषा तथा साहित्य—उदयनारायण तिवारी २।।)
भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी एम ए ५)
प्रगतिवाद—सौमित्र ।।)
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—गुलाबराय व्रजेन्द्र स्नातक ६)
तुलसीदास—भारत भूषण सरोज २।।)
पन्त आधुनिक कवि—फूलचन्द्र पाण्डेय ३।।)

काव्य

सन्त काव्य—परशुराम चतुर्वेदी ६)
रावण महाकाव्य—हरदयालु सिंह ५)
परीज्ञा—प० अयोध्यासिंह उपाध्याय १।)
चिता की लहर-श्यामनारायण प्रसाद बी ए १।।)

कहानी

आकाश के तारे धरती के फूल—कन्हैयालाल प्रभाकर मिश्र २)
कारावास—श्री यश १।।)

उपन्यास

बलचनमा—नागार्जुन ३)

जीवनी

संस्मरण—बनारसीदास चतुर्वेदी २)
जीवन स्मृतियाँ—क्षेमचन्द्र सुमन ३)

स्फुट

ज्वाला मुखी—जगपति चतुर्वेदी २)
वार्षिकी—डा० महादेव साहा १।।)
महावीर डायरी—स० बनारसीदास चतुर्वेदी १)
भारत में जल यातायात— ।=)

अर्थ-शास्त्र

भारत का औद्योगीकरण—डी. एस. नाग. एम ए २।।)

राजनीति

सचित्र संविधान—इन्द्र एम. ए. १।।)

शिक्षा

पश्चिमी शिक्षा का इतिहास—सीताराम जायसवाल ७।।)
शिशु शिक्षण—श्रीमती हेमांगिनी जोशी १।।)

ग्रामोपयोगी

[illegible]

वर्ष १४] आगरा—नवम्बर १९५२ [अङ्क ५

हमारी विचार-धारा

राष्ट्रभाषा में संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन—

राष्ट्रभाषा की अन्य कमियों में एक कमी यह भी है कि संस्कृत के सुसम्पादित टिप्पण सहित ग्रन्थों का अभाव है। बी० ए० और एम० ए० के पाठ्यक्रम में जो पाठ्य पुस्तकें हैं उनके अच्छे संस्करण अँग्रेजी की टीकाओं के साथ हैं। काले आदि के संस्करणों जैसे संस्करण हिन्दी भाषा विद्वान भी कर सकते हैं और प्रकाशकों की अनुमति लेकर उनके हिन्दी अनुवाद भी हो सकते हैं। यह आवश्यकता इसलिए और भी बढ़ गई है कि संस्कृत के प्रश्न पत्रों का उत्तर अब हिन्दी में दिया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की यह भी है कि हिन्दी के अध्ययन के लिए संस्कृत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संस्कृत के अध्ययन के लिए हिन्दी में संस्कृत के प्रामाणिक कोश की भी आवश्यकता है। आजकल तो संस्कृत के, अँग्रेजी आप्टे आदि के कोश भी अप्राप्य हैं। दुष्प्राप्य पुस्तकों के मूल्य बहुत ही बढ़े चढ़े बतलाये जाते हैं। एक व्यक्ति के पत्र लिखने पर आप्टे के ११५) बतलाये गये। ऐसी मध्यम साधारण स्थिति के लोगों की पहुँच के बाहर है। आशा है कि केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार संस्कृत के प्रामाणिक कोश की ओर भी ध्यान देगी।

साहित्य निर्माण की केन्द्रीय योजना—

सरकार द्वारा राष्ट्रभाषा के उत्थान के सम्बन्ध में जो कुछ प्रयत्न किये जाते हैं उनकी चर्चा कभी-कभी अखबारों में आ जाती है। शिक्षा में अन्तर प्रान्तीय भाषा और साहित्य सम्बन्धी सहयोग के लिए कुछ अनुकूल वातावरण भी उपस्थित किया जा रहा है। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का भी उद्योग हो रहा है किन्तु केवल पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण हो जाने से राष्ट्र भाषा की समस्या हल नहीं हो जाती है। पारिभाषिक शब्दावली का उपस्थित हो जाना (यदि वह हो जाय तो) इतना ही महत्व रखता है जितना कि एक भवन निर्माण से पूर्व ईंटों का इकट्ठा कर लेना। भवन निर्माण के लिए एक विशेष रचनात्मक कला की आवश्यकता रहती है। हमको आज चाहिए—विविध विषयों के प्रामाणिक ग्रन्थ जो माध्यमिक शिक्षा तथा उच्चतर शिक्षा के लिए उपयोगी हों।

हमारे देश में अनुभवी विद्वानों की कमी नहीं है। केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि विभिन्न विषयों के ऐसे सुयोग्य विद्वानों को प्रामाणिक पुस्तकों के निर्माण का काम अपने हाथ में लें। विषय की पूर्णता के लिए यदि आवश्यक हो तो अहिन्दी भाषी विद्वानों का भी सहयोग

लिया जाय। सरकार जो कुछ सुविधाएँ इन विद्वानों को दे सकती है दे। यदि प्रकाशन का कार्य स्वयं हाथ में नहीं ले तो पुस्तकों के लिखने के लिए विद्वानों को नियुक्त कर प्रकाशन का कार्य प्रतिष्ठित प्रकाशकों को सौंप दें। हिन्दी के उच्च साहित्य विशेष कर वैज्ञानिक साहित्य का कार्य मन्द गति से चलता है। सन्द में जो हमारे प्रतिनिधि हैं उनको चाहिए कि वे इस कार्य को गति दें।

केन्द्रीय सरकार के पुरस्कार—

हर्ष की बात है कि केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रभाषा के साहित्य की समृद्धि के लिए कई हजार रुपये के पुरस्कार घोषित किये हैं। उनमें सबसे बड़ा पुरस्कार ३०००) रु० का है। यह मौलिक और अनूदित दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों पर है। इस आयोजना का स्वागत करते हुए हम यह सुझाव देना चाहते हैं कि सरकार को मौलिक ग्रन्थों के लिए कुछ विशेष विषय घोषित कर देना चाहिए जिससे कि एक ही विषय के ग्रन्थों की तुलना में सहायता मिले और निर्णायकों के चुनाव में सुविधा हो। जो विषय घोषित किये जावें उनके विशेषज्ञ ही निर्णायक रक्खे जायँ। इसी प्रकार अनुवाद ग्रन्थों की भी सूची बना दी जाय या कम से कम ऐसे लेखकों के नाम घोषित कर दिये जायँ जिनके ग्रन्थ के अनूदित होने की आवश्यकता है। आशा है कि इन पुरस्कारों से राष्ट्रभाषा को पूरा पूरा लाभ देने के लिए एक सुविज्ञ लोगों की उपसमिति बनाई जायगी जो कि निर्णायकों आदि का चुनाव कर सके।

ग्रन्थ पहले या पारिभाषिक शब्द पहले—

एक बीच में अपने कुछ सहयोगियों से हिन्दी के माध्यम द्वारा अध्यापन की बात कर रहा था। वे इस सम्बन्ध में बड़े निराशावादी थे। वे हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की कमी को अपने मानसिक आलस्य का कवच बनाना चाहते थे। उनका कहना है कि जब तक पारिभाषिक शब्दावली न बन जाय तब तक हिन्दी में पढ़ाने का साहस न करना चाहिए। पारिभाषिक शब्दावली का पहले से निर्माण करना सहज कार्य नहीं है। शब्दों का गढ़ना, उनकी छानबीन और उनका व्यवहार और प्रयोग में ही होती है। जो पारिभाषिक शब्द बन गये हैं उनके आधार पर काम आरम्भ कर देने की आवश्यकता है और नये शब्दों को भी आवश्यकतानुकूल गढ़ते रहना चाहिए। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। आजकल के अँग्रेजी प्रिय अध्यापक हिन्दी में पढ़ाने की आवश्यकता या प्रतीति के दुर्दिन को दूर रखना चाहते हैं। जितना हम इस कठिनाई से दूर रहना चाहते हैं उतना ही हम उसे और कठिन बना रहे हैं। यह बात अनुवाद में हिन्दी के प्रत्यावर्तन में भी शोचनीय है।

जब से हिन्दी का माध्यम हुआ है तब से हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य की सृष्टि पर्याप्त मात्रा में होने लगा है। मनोविज्ञान में ही दस ग्यारह पुस्तकें निकल चुकी हैं। उनकी शब्दावली कुछ तो एक सी ही है और कुछ में अपनी-अपनी ढपली और अपने अपने राग की बात है। इस से निराश होने की बात नहीं है। कुछ दिन तो हमको प्रयोग के लिए देना ही चाहिए। जो लोग इस सम्बन्ध में अति शीघ्रता चाहते हैं वे भूल जाते हैं कि अँग्रेजी शब्दावली विज्ञान की उन्नति के साथ उत्पन्न हुई है। हिन्दी भाषा को कम से कम तीन सौ या चार सौ वर्ष की उन्नति का एक साथ सामना करना पड़ रहा है। फिर भी हमने जो उन्नति की है वह सन्तोषजनक नहीं तो निराशाजनक भी नहीं है।

प्रयोग तो चलने ही जाना चाहिए किन्तु हमारा ध्यान शब्दावली के एकीकरण और प्रामाणीकरण की ओर भी जाना चाहिए। इसके लिए सरकार या किसी देश व्यापी संस्था का मुहर छाप की भी आवश्यकता है। आशा है हमारे विद्वान इस ओर ध्यान देंगे।

अखिल भारतीय हिन्दी महाविद्यालय—

आधुनिक हिन्दी के निर्माण में आगरा का महत्वपूर्ण योग रहा है। राजा लक्ष्मणसिंह तथा नजीर जैसे महानुभावों की साहित्यिक रचनाएँ हिन्दी के स्वरूप निर्माण की ठोस नींव हैं। 'हिन्दी परिषद' ने अखिल भारतीय हिन्दी महाविद्यालय के लिए आगरा को चुना है, इससे परिषद के कार्यकर्त्ताओं की स्वस्थ दृष्टि ही विदित होती है। इस महाविद्यालय में समस्त भारत के अहिन्दी प्रान्तों के विद्यार्थी हिन्दी परिषद की 'पारङ्गत' परीक्षा के लिए अध्ययन करने

के निमित्त एकत्र हुए हैं। यहाँ उनके निवास भोजन और अध्ययन का प्रबन्ध किया गया है। श्री नागरी प्रचारिणी सभा ने इस विद्यालय को समस्त सुविधायें प्रदान की हैं। समस्त वातावरण ही साहित्यिक है। इन अहिन्दी प्रदेशों के विद्यार्थियों को इस विद्यालय में केवल पारंगत के पाठ्यक्रम की ही शिक्षा नहीं दी जाती, विविध सांस्कारिक, पारदा-सिक और सामाजिक विषयों, स्थलों और प्रवृत्तियों का भी प्रत्यक्ष परिचय कराया जाता है। इससे शिक्षा को जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया जा रहा है। विद्यालय की साहित्य गोष्ठी इन विद्यार्थियों की सृजन शक्ति को प्रेरित और परिमार्जित करती है। उच्चकोटि के हिन्दी के विद्वानों के विशेष व्याख्यान प्रति सप्ताह होते हैं। ये विद्यार्थी अपने अपने प्रदेशों की साहित्यिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का भी विशेष अवसर पर परिचय कराते हैं। हम इस उद्योग को विशेष श्लाघ्य समझते हैं। यह बीज भविष्य में विशाल और एकताबद्ध भारत की कल्पना को साक्षात कर दिखायेगा—ऐसी आशा है।

हिन्दी-उर्दू—

हिन्दी के विरोध में उर्दू की आवाज फिर बुलन्द की जाने लगी है। यों उर्दू आज ठीक उस रूप में विरोधी बन कर नहीं आ रही, जिस रूप में वह स्वतन्त्र होने से पूर्व थी, आज वह उत्तर प्रदेश में अपने लिए प्रादेशिक भाषा की मान्यता चाहती है। भारतीय संविधान में उर्दू को यह मान्यता नहीं दी गयी, केवल हिन्दी को ही उत्तर प्रदेश की भाषा माना गया है। अतः आज जब उर्दू प्रादेशिक भाषा बनने के लिए खड़ी हो रही है तो निश्चय ही वह दूसरे रूप में हिन्दी के विरोध में आ रही है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से उर्दू का हिन्दी से कोई पृथक अस्तित्व ही नहीं, वह केवल शैली भेद से ही हिन्दी से भिन्न है। और इस कारण आरम्भ से अन्त तक कभी हिन्दी उर्दू का प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए था, किन्तु भारत का दुर्भाग्य कि यह प्रश्न उठा और इसने भारत के इतिहास को कलुषित कर दिया। राजनीति और उसके साम्प्रदायिक रूप से इस उर्दू ने बहुत गहरा गठबन्धन कर लिया—अतः उर्दू पर कितने ही गहरे आक्षेप रहे हैं—

१—इसने साम्राज्यवादियों से सम्बन्ध रख के हिन्दी की राष्ट्रीयता को क्षुब्ध किया।

२—क्षुद्र साम्प्रदायिकता का इसने साथ दिया, यह प्रतिक्रियावादिनी रही।

३—दो राष्ट्रों का सिद्धान्त इसी के बलबूते पर पनपा।

४—पाकिस्तान उर्दू के कारण बना है।

५—इसका स्वभाव भारतीयता विरोधी रहा है, क्योंकि यह उसी के आधार पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध कर सकती है।

क्या उर्दू फारसी लिपि का परित्याग कर सकती है? फारसी लिपि आज प्रत्येक राजनीतिक दृष्टि से विदेशी लिपि है, भारत की उत्तर से दक्षिण की समस्त भाषाओं की लिपियों के विपरीत इसका विकास भारत से बाहर हुआ है। क्या उर्दू अरबी फारसी शब्दों के प्रयोग बाहुल्य को कम कर सकती है? अरबी फारसी शब्द भारतीय भूमि से सम्बन्धित नहीं। क्या उर्दू अरबी फारसी की साहित्यिक मान्यताओं को त्याग सकती है—नहीं तो वह भारतीय कैसे मानी जा सकती है।

६—पाकिस्तान के अलग राष्ट्र के पड़ोस में रहने और उसके उर्दू को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने से, उर्दू की प्रेरणा सदा वहीं से आयेगी।

भारत की वर्तमान विषम राजनीतिक स्थिति में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। इतिहास को देखकर उससे भी शिक्षा लेने की आवश्यकता है। अपने ही आदमियों ने भारत को सदा मूर्ख बनाया है और उसे पतन के गर्त में धकेला है। भारत का ही प्रगतिशील संघ आज उर्दू का पक्ष समर्थन कर रहा है। प्रगतिशील संघ के अपने विश्वासों और आन्तरिक राजनीतिक रहस्यों पर हमें कुछ नहीं कहना। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर भी, यह भारत ही है जहाँ उसका विरोध किसी न किसी रूप में किया ही जा रहा है। इस सम्बन्ध में बड़ी बड़ी अद्भुत बातें, बड़ी-बड़ी अद्भुत योजनायें, अद्भुत तर्क और अद्भुत-भय तथा आशंकायें प्रकट की जा रही हैं। उर्दू भी इसी प्रकार अब नयी और अद्भुत बातों के साथ सामने आ खड़ी

हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में उर्दू किसी भी क्षेत्र की भाषा नहीं। फलतः उसको प्रदेशिक भाषा की मान्यता का आन्दोलन निराधार और व्यर्थ है, यही नहीं वह राष्ट्र के लिए खतरे से भी खाली नहीं। जिस वर्ग विशेष का उर्दू से निकट सम्बन्ध है, वह भारत-राष्ट्र में निर्विघ्न इस भाषा की सेवा और अभिवृद्धि में रत रह सकता है, इसमें कोई बाधा न रही है न आगे रह सकती है, किन्तु हिन्दी की उपेक्षा वह भी नहीं कर सकेगा, और दूसरे नहीं कर सकेंगे। हिन्दी की उपेक्षा का अर्थ आत्मघात है।

हमारा आगामी विशेषाङ्क—

'साहित्य-सन्देश' का आगामी विशेषाङ्क जनवरी १९५३ में निकाला जायगा। वह कहानी विशेषांक होगा। कई वर्ष पूर्व हमने 'उपन्यास अङ्क' निकाला था जिसकी बड़ी धूम रही थी और जिसे लोगों ने बड़ा पसन्द किया था। 'कहानी अङ्क' को भी वैसा ही उपयोगी और आकर्षक बनाने की चेष्टा की जा रही है। परन्तु उसकी सफलता हमारे प्रेमी सम्मान्य लेखकों के सहयोग पर ही आश्रित है। अतः हम उनसे अनुरोध करेंगे कि वे निम्न विषयों में से अपनी रुचि का विषय छाँट कर उस पर अपना लेख हमें यथासंभव शीघ्र ही भेजने की कृपा करें। लेख हमें नवम्बर के अन्त तक मिल जाने चाहिए :—

१—कहानी का उद्गम स्थल—भारत
२—लोक कहानियाँ
३—कहानी के तत्व और उनकी परिभाषा—कहानी के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों का मत
४—कहानी और उपन्यास तथा अन्य साहित्यिक विधाएँ
५—कहानी की विविध शैलियाँ
६—हिन्दी कहानी का विकास
७—हिन्दी कहानी पर विदेशी प्रभाव
८—हिन्दी के प्रमुख कहानीकार
९—विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का कहानी-साहित्य
१०—हिन्दी की ऐतिहासिक कहानियाँ
११—हिन्दी की सामाजिक कहानियाँ
१२—हिन्दी की हास्य कहानियाँ आदि आदि

एक समाधान

'साहित्य-सन्देश' के जून १९५२ के अङ्क में 'मीरां बृहत् पद संग्रह' पर श्री चन्द्रमोहनजी सहल द्वारा लिखित आलोचना प्रकाशित हुई है। तत्सम्बन्ध में मुझको कुछ कहना है।

अपनी आलोचना में श्री सहलजी ने मेरे द्वारा दिए गये कुछ शब्दों के अर्थ पर आपत्ति की है। पृष्ठ १२ पर 'आओ म्हारी सो। लाजें वैम मे पड़' में प्रयुक्त 'वैम' शब्द का अर्थ मैंने 'सौ' लिखा है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से श्री सहलजी के अनुसार यह शब्द 'सहस्र' का अपभ्रंश सिद्ध हो सकता है परन्तु बोलचाल की राजस्थानी भाषा में उपर्युक्त शब्द 'सौ' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

पृष्ठ ८ पर 'ग्रामण कलस सँवारे पिय म्हारो पिधारो' में प्रयुक्त 'ग्रामण' शब्द के अर्थ पर भी श्री सहल जी की आपत्ति है। उनका कहना है कि 'कामिण' शब्द हिन्दी के 'कामिनी' शब्द का ही अपभ्रंश है। सत्य है कि दोनों शब्दों में बड़ा ध्वनि-साम्य है परन्तु मात्र इसी आधार पर दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची या अपभ्रंश नहीं सिद्ध किया जा सकता। राजस्थान में 'कामिण' या 'धरु कामण' शब्द नौकर के अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। इन नौकरों में भी विशेषतः माली, नाई आदि का ही अर्थ लिया जाता है। राजस्थान की प्रचलित प्रथाएँ भी मेरे कथन का समर्थन करती हैं। शादी-विवाह और बहू या बेटी की विदाई के अवसर पर जल भरे 'कलस' या 'सगुन' दिया जाता है और उपर्युक्त वर्ग पर के नौकर, नाई या माली ही करते हैं। विवाह के अवसर बारात आने के पूर्व कन्या पक्ष के सब लोग इकट्ठे हो कर वर-पक्ष के यहाँ जाते हैं जिसको 'कोरथ' देना कहते हैं। 'कोरथ' के इस अवसर पर दो जल से भरे 'कलस' लेकर नाई ही सबके आगे चलता है। वर पक्ष के यहाँ पहुँच कर वे दोनों 'कलस' दरवाजे पर रख दिये जाते हैं तब अन्य रस्में की जाती हैं। आजकल बड़े शहरों में रहने वाले माली या भाई नाई या माली के एवज में उपर्युक्त कार्य घर में रहने वाले नौकरों द्वारा हो करा लेते हैं। अन्तु, मेरे विचार से मात्र ध्वनि-साम्य के कारण दोनों शब्दों को एक दूसरे का पर्यायवाची या अपभ्रंश न मानना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

—रघुपति प्रताप

यथार्थ क्या है ?

डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, पी एच० डी०

आदर्श और यथार्थ का द्वन्द्व बहुत पुराना है। विचारक तथा कलाकार अपने अपने विशेष दृष्टिकोण से इनको ग्रहण करता आया है, इनके लिए लड़ता झगड़ता आया है। आज भी यह प्रश्न बना हुआ है, और आज यह एकदम ही स्पष्ट विदित हो रहा है कि पलड़ा यथार्थ का भारी है। इसका कारण यह नहीं कि यथार्थ में कोई ठोस आन्तरिक योग्यता है, पर कारण यह है कि मनुष्य ने अपनी विचारसत्ताशीलता को संकुचित करके मात्र बुद्धिवाद का आश्रय ग्रहण कर लिया है। वह एकांगी बुद्धिवादी है, और उन चार अंधों में से एक है जो हाथी को अलग अलग दिशाओं से स्पर्श कर के अपने सत्य के लिए झगड़ते हैं। सत्य का आंशिक ज्ञान असत्य से भी अधिक भयङ्कर है। आज के यथार्थ की परिभाषा यथार्थ से बहुत दूर और अयथार्थ है। हमारा साहित्यकार 'मानव' अथवा 'मनुष्य' का सहारा लेकर चलता है—और जो 'मानव' है उसे अपनी कला का विषय बनाना चाहता है—उसकी कसौटी है कि जो साहित्य अथवा कला 'मानव' के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करती है वह 'यथार्थवादिनी' है।

मानव का यह 'यथार्थ' क्या है ? एक एकांगी कहता है—मानव का यथार्थ उसका राग तत्व है। विश्व के महान साहित्यकारों ने इन्हीं राग तत्वों को अपनी कृतियों में जितनी गहराई और शक्ति के साथ उतार पाया है, उतनी ही उनकी रचनाएँ महान हुई हैं। दूसरा एकांगी कहता है—नहीं, मानव का यथार्थ उसका 'मनस्तत्व' है। जो साहित्यकार जितनी योग्यता से मानव मन की प्रवृत्ति और प्रेरणाओं को चित्रित कर सका है, वह उतना ही महान हुआ है। इससे भी आगे बढ़ने वाला यह एकांगी इस मानव को, मनस्तत्वी मानव को भ्रम और अयथार्थ बताता हुआ अव चेतन की ओर इंगित करता है। वह है यह यथार्थ मानव। उसके स्वरूप को देखो, उसको अपनी कला कृतियों में अवतीर्ण करो। पर इसे कौन माने यह प्रति नये कदम को ही यथार्थ मानता हुआ, प्रत्येक पिछले कदम और उसकी भूमि को त्यागने वाला एकांगी इसे धक्का देता हुआ घोषणा करता है—"परिवर्तन ही शाश्वत सत्य है हिंसा और बलपूर्वक आने को स्थायी और चिरन्तन बनाये रखने के बर्बर प्रयत्नों के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास मंच पर अपना भूमिका समाप्त कर के विलीन हो रही हैं, वे जीवन और तत्व के असत्य की प्रतिनिधि होती हैं, और भीषण दमन, संघर्ष और अपयोगों के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास मंच पर नये युग की भूमिका का आरम्भ करती हुई आगे बढ़ती आती हैं, वे ही युग सत्य की प्रतिनिधि हैं, यानि कि जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य है और जो उभर रहा है वही सत्य है। सत्य की यही सरलतम व्याख्या है। नैतिकता की भी यही कसौटी है, क्योंकि नैतिकता के मान-दण्ड सत्य से ही बनते हैं।"—सत्य की इस कसौटी से आज का यथार्थ ब्लैक मार्केटिंग है, इतिहास के मंच पर इसे कुचलने की सदा चेष्टा की गयी है। आज यह उभरा है, अतः सत्य है। इसे कुचलने वाली शक्ति अपनी उपयोगिता समाप्त करके असत्य हो गयी है। आज का यथार्थ रिश्वत लेना है—कालिदास के समय से पूर्व से भी सम्भवतः इसे कुचला जाता रहा है, और आज यह उभर रहा है। आज का यथार्थ युद्ध है, सदा से इसे रोकने और कुचलने की चेष्टा रही है, और सदा यह उभरा है, और आज तो इसका उभार बड़ा प्रबल प्रतीत होता है।

इसी प्रकार और भी एकानेक यथार्थ को देखने वाले एकांगी हैं—इनका विवाद प्रबल है, जिसे तुलसी के शब्दों से ही रोका जा सकता है—

> जाकी रही भावना जैसी।
> प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

पर प्रभु यानी राम यानी हाथी क्या है ? यानी मानव का उसका यथार्थ या उसका सत्य क्या है ? यह किस बुद्धिवाद से सिद्ध होता है कि मानव जड़ है चेतन नहीं। यह

किस यथार्थ की परिभाषा में है मानव केवल खाता है, खेलता, सोचता और चलता नहीं। वह किस वास्तविकता से जाना जा सकता है कि आदियुगीन मानव समस्त परिवर्तनों और विकासों में होता हुआ भी मानव नहीं। वह किस शास्त्र ने बताया है कि मैं जिसका नाम 'रमेश', मेरे माता-पिता ने रखा, जन्म से आज तक अनेक परिवर्तनशील स्तरों में से होता हुआ वृद्ध और मरणासन्न हूँ—वह नहीं जो पैदा होने समय था। विचार अन्धकारवादी तो चुप ही हो बैठा है—नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुने? वह भली प्रकार जानता है कि प्रत्येक युग के प्रगतिवादी ने उसको किस प्रकार से विकृत किया है, और उसका गला घोंटा है, उसका दुरुपयोग किया है? आज के साहित्यकार को उचित है कि वह यथार्थ की भली प्रकार शोध करे—वह शोध करे कि मेघदूत क्यों अमर है, शकुन्तला क्यों महान है? नल दमयन्ती की कथा क्यों शाश्वत है? क्यों वह आज भी अनेक रूपों में जीवित है, और क्यों आज का बुद्धिवादी भी अपनी सारी जीवन यात्रा को नल-दमयन्ती के साँचे में ढलता देखता है? वह शोध करे कि राम कथा का मर्म क्यों जनता की रोटी की समस्या हल करता या और है कि वह आज भी हमारा पिंड नहीं छोड़ती? कृष्ण-कथा किस राजनीति, अर्थ अथवा इतिहास के परिवर्तन के बदलने पर, हमारे साथ चिपकी हुई है? युग युग में से आते हुये इस युग-मानव का यथार्थ मानव कौन है और कहाँ है, जो परिवर्तनों से बदला भी नहीं, परिस्थितियों की चक्की में जो पिस नहीं सका, युग के दमनों से कुचला नहीं जा सका, युग-युगों की लम्बी यात्रा से थो थका नहीं—और जो आज भी भविष्य को देखता हुआ आगे बढ़ने के लिए सन्नद्ध है—और बढ़ता चला जा रहा है। जो अपनी इस महान् यात्रा में इन समस्त परिवर्तनों को और परिवर्तनशील सत्यों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, जिनमें वह उलझ कर कहीं रुक नहीं गया, अथवा जिनसे परास्त होकर वह मर नहीं गया—मानव का और कलाकार तथा साहित्यकार का यदि कोई यथार्थ होगा तो वह ऐसे ही मानव की पहिचान कर शोध या विषय बनाने से स्पष्ट हो सकेगा। मानव को 'फुल्पान' से अधिक महत्व न देने वाले जीवन शिल्प के मर्मियों से प्रार्थना है कि वे मर्म का उद्घाटन करें।

(पृष्ठ १७८ का शेष)

को लिए अपनाये रह सकता है। बस गीत की लम्बाई भी उतनी ही होनी चाहिये जितनी उसकी रमण उपयोगिता है।

गीतों में इधर दार्शनिक चिंतना का समावेश अधिकाधिक हो रहा है। जहाँ एक ओर विचार के किसी रे अन्तराय आ जाने से संगीत रस कुछ धीमा पड़ जाता है वहाँ दूसरी ओर केवल संगीत के सहारे चलने वाले गीतों से अलग हट कर नये प्रकार के गीतों का यह प्रवेश हिन्दी में शुभ लक्षण है। चिन्तना काव्य से सोहागिल भी हो जाता है और उसे बिगाड़ भी देती है। यदि कोई विचार अपने कवि को आत्मसात् नहीं हुआ है, यदि कोई मनोवैज्ञानिक सत्य पवित्र भावमय होकर घुल मिल नहीं गया है तो ऐसे चित्र सामने नहीं आ सकते जिनमें घुलावट हो। यह केवल गद्यमय तुकबन्दी सामने रख सकेगा। भावुकता में डूबी हुई चिन्तना ही किसी गीत का श्रृंगार हो सकती है। इसके लिए समय की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार युगों के साथी होने के कारण, चाँदनी, झरने, हरी हरी वनस्थली, चन्द्र, सूर्य और आकाश स्वभावतः भावुकता के साथ मानव हमारे पुराने साथी हैं और हम इनका रागमय वर्णन सामने रख सकते हैं उस प्रकार और उस घुलावट के साथ हम आज के बिजली का पंखा, रेफ्रिजरेटर, फा. टेन पेन, अंग्रेजी बस, बाइसिकल इत्यादि इत्यादि के वास्तविक सद्भाव से यथेष्ट भावमयता के अभाव में उत्तम चित्र सामने नहीं रख सकते। जो बात कुछ व्यापारों की है वही बात चिन्तना के प्रत्ययों की है। पर्याप्त समय के अभाव में ये भाव जगत में घुल मिल नहीं पाते अतएव किसी गीत को वे कच्चे विचार काव्य नहीं बना सकते।

साहित्य में लोक हित की भावना

श्री अयोध्याप्रसाद ज्योतिषी 'विशारद'

वर्सफोल्ड नामक समालोचक का कथन है कि—"Literature is the brain of humanity" अर्थात् साहित्य मानव समाज का मस्तिष्क है। उसमें मानव जाति के समस्त अनुभवों और विचारों का भण्डार सुरक्षित रहता है। जिन पुस्तकों का सम्बन्ध मानव के ज्ञान मात्र से हुआ करता है वे साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकतीं। इसके अन्दर उन्हीं कृतियों का समावेश होता है जिनमें मानव जीवन के दुःख तथा सङ्कटों को क्षण भर भुलाने की तथा भावनाओं के सुन्दर लोक में भ्रमण कराने की शक्ति रहती है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य के द्वारा समाज को अनुपम शक्ति मिलती है और समाज द्वारा साहित्य का भण्डार सदैव रत्नों और मणियों से जगमगाता रहता है तथा उसका विस्तार नित्य प्रति बढ़ता जाता है। अतः साहित्य में लोकहित की भावना होना नितान्त वाञ्छनीय है। जो साहित्यकार लोकहित की भावना से दूर हट कर केवल कल्पना लोक ही में विचरण करते रहते हैं वे सफल कलाकार नहीं बन पाते। इसका केवल कारण यही है कि उनकी भावना जनसाधारण से दूर जा पड़ती है और इसलिये जो साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है, टूट जाता है। साहित्य का चरम उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है, इस विशिष्ट गुण से मानव समाज वंचित सा रह जाता है।

यह मान लेने पर कि कला में लोक-हित की भावना रहना नितान्त आवश्यक है, स्वभावतः तब यह प्रश्न उठता है कि क्या कलाकार अपनी रचनाओं को उपदेशों का पिटारी बनादे, क्या वह लोक हित में इतना रम जावे कि अपनी कलाकृतियों को नीरस, फीकीली बनावे? यह हमारी आज की समस्या है। समस्या का हल मध्यम मार्ग अपनाने से हो सकता है। साहित्यकार न अपने पैर पृथ्वी से उखाड़ दे और न आकाश के उस पार से अपनी दृष्टि फेरले। लोक-हित त्यागने की भावना का निर्वाह 'कला के लिए कला' के समर्थक पश्चिमी साहित्यकार तक भी नहीं कर सके हैं।

हमारा हिन्दी साहित्य लोक-हित की भावना को ही लेकर अङ्कुरित हुआ है। वीर गाथा काल में कवि ऐसी उत्साह वर्धक, कल्याणकारी हुई वीर रसात्मक कविताएँ लिखते थे जो मुर्दों में भी वीररस का सञ्चार कर देती थीं। इस काल के कवि लेखनी के साथ ही साथ तलवार चलाना भी जानते थे। पृथ्वीराज को भारत का अन्तिम सम्राट बना देनेवाला चन्दवरदाई कवि ही था। यह काल मुसल्मान और हिन्दू संस्कृति के युद्ध का काल था। देश में क्रान्ति हो रही थी, इसलिए इस युग में जो साहित्य लिखा गया है वह भी क्रान्तिकारी साहित्य है।

भक्तिकाल की रचनाएं तो लोकहित की भावना पर ही खड़ी की गई हैं। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर ने समाज के शुष्क नैराश्यपूर्ण जीवन में जो सरसता, धैर्य, जीवन के प्रति मोह, ईश्वर के प्रति भक्ति, श्रद्धा तथा विश्वास का सञ्चार किया है, असन्दिग्ध है।

यह हृदय खोलकर कहा जा सकता है कि रीतिकालीन काव्य में वासना-पूर्ण शृङ्गार की ही प्रधानता है। केवल 'भूषण' ही की कविताओं में लोक-हित की भावना प्रचुर मात्रा में रही है। प्रायः सम्पूर्ण कवि लक्षण ग्रन्थों की अपूर्णता और सङ्कुचित विषयों पर ही कविता का पिष्ट-पेषण करते रहे हैं और इस कारण उनके द्वारा साहित्य उत्कर्ष की ओर अग्रसर न हो सका।

हमारा आधुनिक काल भारतेन्दु से आरम्भ होता है। यह राष्ट्रीय सभाम का जागरण वेला थी, अतः जहाँ एक ओर इस भारतेन्दु मण्डल के कवियों में रीतिकालीन कवियों की रचनाओं की प्रतिध्वनि मात्र है वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत शंखनाद। इस समय के

रचनाओं में जन भावना की झूली हुई जो सादगी और आग थी वह छायावाद और रहस्यवाद के समय में आकर कम हो गई, ठंडी हो गई। भारतेंदु मण्डल के कवि कैसे ठोस समाज सुधारक थे यह प्रतापनारायण मिश्र के 'होली' लेख पढ़ने से ही विदित हो जाता है।

छायावादी तथा रहस्यवादी कवि 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' आदि हमारे सामने आते हैं। इनमें लोकहित की भावना कल्पना के आवरण से ढक कर रह गई। हाँ हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण साहित्य इसी लोक हित पर खड़ा है। भारती के मन्दिर का यह पुजारी राष्ट्र प्रेम में रंग गया है इन्हीं के साथ चलती हुई 'भारतीय आत्मा' की रचनाएँ भी गान्धी गीतों में अपना विशेष स्थान रखती हैं। 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान, भगवतीचरण वर्मा आदि भी लोकहित की भावना को लेकर चले हैं। 'निराला' और महादेवी वर्मा में भी यह कम नहीं पर वे दूसरे रूप में हमारे सामने आती हैं।

अन्त में हमारे प्रगतिवादी कवि तथा लेखक आज इसी लोकहित की भावना का आधार मान कर खेतों, खलिहानों के गीत सरल, स्पष्ट भाषा में गा रहे हैं। इन कवियों की रचनाएँ लोकहित पर खड़ी हुई हैं पर वे सौंदर्य से, कला से खाली नहीं हैं। प्रगतिवाद आज के युग का पौरुष है जो मानवता के लिए दानवी शक्तियों के विरुद्ध एक सांस्कृतिक मोर्चा तैयार कर रहा है। इस प्रगतिवाद ने हमारे समाज को एक नई चेतना दी है। प्रगतिवाद 'सत्य शिव सुन्दरम्' के समन्वय का साहित्य चाहता है। वह ऐसे साहित्य का पक्षपाती है जो स्वस्थ, स्पष्ट, विवेकशील, कल्याणकर और सुन्दर हो। वह जटिलता और रहस्यवाद की गहरी खाइयों में नहीं जाना चाहता।

आज धीरे धीरे साहित्य में लोक-हित की भावना बलवती तथा वेगवती होती जा रही है। लेकिन इस लोकहित की भावना को जिस रूप में व्यक्त किया जा रहा है उसका रूप जन जन के लिये बोधगम्य होने की अपेक्षा बौद्धिक होता जा रहा है। बौद्धिकता हमारे लिए गौरव की बात है पर बहुजन-हिताय के लिए जिस रूप और तत्त्व की आवश्यकता है, वैसा साहित्य का निर्माण नहीं हो रहा है। किसी के शब्दों में 'जीवन की दृष्टि में प्रगतिवाद आजकल की सबसे ऊँची मञ्जिल है। और उसकी विशेषता इसी में है कि उसमें जीवन अधिक पूर्णरूप में ग्रहण किया गया है। अतः अब साहित्यकार को निष्क्रिय नहीं सक्रिय होना चाहिये। उसे ऐसे काव्यों की रचना करनी चाहिये जिससे मानव जाति सौन्दर्य पर मुग्ध हो, महत्त्व पर श्रद्धा करे, विपत्ति में धैर्य धारण करे, कठिन कर्म में उत्साहित हो, आदि।

इस प्रकार की कृतियों का सृजन करने से ही पर साहित्यकार सच्चा साहित्यकार हो सकता है तथा उसकी कृतियाँ भी मङ्गलमय हो सकती हैं।

(पृष्ठ १८० का शेष)

गीत काव्य

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

पाश्चात्य समालोचकों ने गीतों के सम्बन्ध में बड़ी मीमांसा की है। किसी परिस्थिति, किसी भाव, किसी प्राण सम्पन्न विचार, किसी रूप व्यापार पर कुछ ऐसी गेय पंक्तियाँ जो निज में पूर्ण और कवि के व्यक्तित्व में सनी रहती हैं—गीत कहलाती हैं। उसका प्रथम और मूल तत्व संगीत है। समीक्षकों का यह भी निष्कर्ष है कि जब कवि बाह्यार्थों से हट कर अभ्यन्तर की अनुभूतियों का गान गाने लगता है। तब गीतों की सृष्टि होती है। इस कविता को उन्होंने स्वानुभूति निरूपिणी (Subjective) कहा है और अन्य को बाह्यार्थ निरूपणी (Objective) कहा गया है। उनके कथनानुसार समस्त गीतकाव्य स्वानुभूति निरूपक होता है। अँग्रेज समीक्षक बहुधा नाम की सृष्टि करके उसके चारों ओर अपनी व्याख्या पहनाने का प्रयत्न प्रस्तुत करता है। उस नाम का चलन कुछ समय तक रहता है और बाद का समीक्षक उसका खण्डन मण्डन करता रहता है।

काव्य को बाह्यार्थ निरूपक और स्वानुभूति निरूपक दो वर्गों में बाँट देना स्थूल बुद्धि का काम है। कविता फोटो की भाँति बाह्यार्थों को अथवा दृश्य जगत के रूप व्यापारों को बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से सामने नहीं रखती। अन्यथा वह ललित कला न रह जायगी। बाह्यार्थों और बाह्यरूप व्यापारों की जो अनुभूतियाँ कलाकार के रागात्मक मन में अङ्कित होती रहती हैं उन्हें वह सामने रखता है। अतएव कविता प्रबन्ध के रूप में अथवा मुक्तक के रूप में हो वह तो स्वानुभूति निरूपिणी होगी ही। यह दूसरी बात है कि कवि स्वयं प्रथम पुरुष का रूप देकर अदृश्य रहे अथवा उत्तम पुरुष का रूप देकर सामने आवे। यह तो केवल लिखने की मौज है। इसका गीतकाव्य से कोई प्रयोजन नहीं है। गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' भी लिखी है जिसका कवि उत्तम पुरुष में है और 'रामगीतावली', 'कृष्णगीतावली' भी लिखी है जिसका कवि अन्य पुरुष में अदृश्य है। 'साकेत' के नवें सर्ग में उर्मिला के भी गीत हैं और 'द्वापर' में भी गीत हैं। परन्तु उनमें उत्तम पुरुष वाली शैली नहीं है। 'भारत भारती' म अन्यपुरुष का अदृश्य रूप नहीं है।

वास्तव में, पूर्ण रूप से अदृश्य, कवि तभी रह सकता है जब वह या तो नाटक लिखे या कोई प्रबन्ध काव्य लिखे। परन्तु बड़े बड़े प्रबन्ध काव्यों के भीतर भी बीच-बीच की पंक्तियों में वह घुस जाता है, नाटकों के पात्रों में भी उपस्थ लगाये सामने आ जाता है। यह उसकी कला की दुर्बलता भले ही कही जा सके परन्तु बड़ी बड़ी सम्मान्य कृतियों में भी यह असावधानी उपस्थित है। अपनी अनुभूतियों पर आधारित अपने बलवान मन्तव्यों से अपनी पंक्तियों को बचाये रखना बड़े संयम की बात है। मन्तव्यों और मान्यताओं की ओर परोक्ष भाव से, तटस्थरूपेण, वस्तु को मोड़ना एक ऊँची कला अवश्य है। अन्यथा कवि के देन का मौलिक मूल्य ही कुछ न रह जायगा। इस ऊहा-पोह को केवल इसलिए किया गया है कि स्वानुभूति और बाह्यार्थ विभेद मौलिक नहीं है उन्हें केवल स्थूल भेद समझना चाहिए।

पाश्चात्य समीक्षकों ने एक बात और कही है। वे कहते हैं कि कवि के विकसित रूप, परिपक्व रूप, पूर्णरूप की देन 'गीत' हुआ करते हैं। अनुभूतियों का संग्रहालय जब इतना पूर्ण हो जाता है कि वह कवि में अट नहीं पाता तो वह गीतों में छलक पड़ता है। अनुभूतियों की यह कोष वृद्धि आयु के उतार के साथ ही सम्भव है। अतएव गीतों की सृष्टि भी कवि के अन्तिम युग की देन होती है। आरम्भ प्रबन्ध काव्य अथवा अन्य प्रकार के काव्यों से होता है और अन्त गीतों से किया जाता है। कवि किसी आकार-प्रकार के बन्धन से बँधा नहीं समझता। उन्मुक्त होकर उत्तम पुरुष की उन्मत्त शैली में गाने लगता है। यह कवि जीवन का इतिहास है।

यह सत्य है कि अनुभूतियों की अमीरी आयु के विस्तार के साथ आती है और यह भी सत्य है कि कवि

रचनाओं में —

आग थी वह जीवन में आकार बोधिनी सीमाओं की परवाह कम हो गई। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि गीत तत्व कैसे ठीक जीवन में अधिक अधिकार कर लेता है। परन्तु यह 'रूल' नहीं है कि प्रौढ़ जीवन में ही गीत लिखे जाते हैं अथवा प्रौढ़ जीवन में गीत लिखने का केवल यही कारण है अथवा सभी कलाकार गीत ही अन्त में लिखते हैं, प्रबन्ध नहीं लिखते। यह भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं कि अनुभूतियों की बाढ़ के कारण हमेशा प्रबन्ध काव्य से आरम्भ करके कवि गीतों से अन्त करता है। अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, जर्मन इत्यादि सभी भाषाओं के इतिहास से पता चलता है कि बहुत से ऐसे ऊँचे कलाकार हैं जिन्होंने कभी गीत लिखे ही नहीं और बहुत से ऐसे हैं जिन्होंने गीतों के अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा। संस्कृत भाषा में तो प्रबन्धों की इतनी भरमार है कि गीतों का साहित्य में कोई विशेष मूल्य ही नहीं है। सारे चोटी पर के कलाकारों ने प्रबन्ध ही लिखे हैं। हिन्दी में भी केवल गीत लिखने वाले अथवा केवल प्रबन्ध लिखने वाले अथवा दोनों लिखने वाले मिलेंगे लेकिन इतिहास का क्रम पहले प्रबन्ध और फिर गीत नहीं है बहुत मिल जायेंगे। कविवर मैथिलीशरणजी ने 'भारत भारती' क्रमागत अपने सब प्रबन्ध काव्यों से पहले लिखी है। 'वैदेही वनवास' हरिऔधजी ने बहुत से गीतों के बाद लिखा है।

फिर भी पाश्चात्य समीक्षकों के निष्कर्ष में आंशिक सत्य अवश्य है। परन्तु उसका कारण कहीं और है। विश्व की समस्त भाषाओं में जिन कृतियों का सर्वभौमिक और सर्वकालिक आदर है और जिन्हें उदात्त साहित्य (Classic Literature) कहते हैं वे, प्रबन्ध के रूप में ही अधिक हैं। प्रबन्धों में वर्णित द्वारा जो विश्व की महान् योजना उपस्थित की जाती है उसकी विशालता, संकुलता, प्रभविष्णुता अन्तर्भूत तथा उदात्त भावना का प्रभाव बड़ा व्यापक और गहन पड़ता है। परन्तु महाकाव्य की महान योजना और वर्णन-चातुर्य के लम्बे तनाव की साधना सरल नहीं है। उसके लिये अनुभूतियों की अनेकरूपता और भावना की गहनता तो चाहिये ही, बुद्धि और कल्पना का विस्तृत प्रयोग भी चाहिये जिससे कथा वस्तु का विस्तार, घटनाचक्र की सजावट, चरित्र निर्माण कार्य, घात प्रति घात और अन्तर द्वन्द्व के सहारे एक महान पृष्ठ भूमि के भीतर विभिन्न और अनेकार्थ रसों के नाना रङ्गों में चमक सके। कलाकार का निर्माण कार्य इतना वृहद हो जाता है कि उसको बड़ा चौकस और सतत जागरूक रहना पड़ता है। उसके ताने-बाने का प्रत्येक सूत्र उसके समक्ष रहता है और कहीं कोई भी उलझने नहीं पाता। यह समस्त कार्य बड़े अध्यवसाय, परिश्रम और जागरूकता की अपेक्षा करता है जो आयु के उतार में शिथिल चेतना कर नहीं पाती अथवा दैहिक थकावट के कारण करना भी नहीं चाहता। अतएव अपनी देन को छोटे छोटे टुकड़ों में सामने रखता है। वे गीत का रूप ग्रहण करते हैं। गीतों के जीवन के अवसान काल में प्रकट होने का सबसे महान कारण यही है। साहित्यिक जीवन का मेरा भी यही अनुभव है। मैंने गीत नहीं लिखे परन्तु मुझे अपनी बात और अपने अनुभवों को एक लम्बे तनाव के भीतर किसी बड़े आकार प्रकार में सामने रखने में थकान और कातरता मालूम होती है। आयु के उतार में तत्परता और चौकसपन के लिये बुद्धि जल्दी से प्रस्तुत नहीं होती यद्यपि उसकी अनिवार्य आवश्यकता एक महान काव्य में पड़ती है।

कुछ लोगों का यह भ्रम है कि गीतों का कार्य अत्यन्त संक्षेप रूप में किसी तथ्य को सामने रखना है। गीतों में गेय तत्व की ही प्रधानता होनी चाहिये। उसमें संक्षिप्त करने की कला अपेक्षित नहीं है। तथ्य के आकार का छोटा होना दूसरी बात है और बड़े तथ्य को छोटे करने का प्रयास करना दूसरी बात है। गीत लम्बे और बड़े भी हो सकते हैं। वर्तमान कवियों के बड़े लम्बे लम्बे गीत देखे गये हैं। परन्तु गीत एक सीमा से बड़े नहीं हो सकते। सङ्गीत के बन्द में बँधा हुआ तथ्य उतने ही काल तक मन पर प्रभाव डाले रह सकता है जितने समय तक श्रोता संगीतमय रह सके और तथ्य उचट न जाय। गीत में एक तथ्य के साथ साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी होती है। उसका प्रवेश भी एक ही प्रकार का होता है। अतएव वह मन को केवल कुछ समय तक के

(शेष पृष्ठ १७४ पर देखिये)

हिन्दी कविता का दिशान्तर

श्री बुद्धसेन शर्मा एम० ए०, एल० टी०

भारतीय साहित्य-क्षेत्र में अभी कुछ दिन पहले तक पर्याप्त उथल-पुथल और अव्यवस्था रही है। संक्रमण-काल की ओट में व्यक्तिवाद की दुहाई देकर न जाने कितनी अनर्गल धारणायें और कितने बे सिर पैर के सिद्धान्त सहसा प्रचलित हो गये जिससे साहित्यिक वातावरण इतना फेनिल हो गया कि यह ज्ञान करना अत्यन्त कठिन हो गया कि हम लोग किधर जा रहे हैं। यह वह समय था जबकि अच्छे अच्छे साहित्य महारथी भी सन्तुलन खो बैठे थे। द्विवेदीकाल की घोर इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता के प्रति जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई उसके अपनाने में इतिहासग्रस्त बुद्धिजीवियों ने घोर विरोध किया किन्तु वे समय की आवश्यकताओं का अनादर न कर सके। क्रान्ति होकर ही रही परन्तु इस क्रान्ति के अभिप्राय को समझने में नवोदित कवियों ने अवश्य भूल की। वे यह तो न समझ सके कि युग बदल गया है, उसकी समस्यायें बदल गई हैं और उसके नैतिक धार्मिक और राजनीतिक विचार बदल गये हैं और फलतः साहित्य का उत्तरदायित्व और क्रान्तिकारी महत्व भी बदल गये हैं परन्तु हमें यह दुःख के साथ स्पष्ट करना पड़ता है कि वे भूल से यह समझ बैठे कि अब कविता करना आसान हो गया है और अस्वस्थ प्रेम, वेदना और अतृप्त वासना के गीत गाने सरल हो गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस विकृति का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व उस समय की हमारी अप्रबुद्ध सामाजिक चेतना और निराश जीवन की भीषणता पर है, परन्तु यह तो सत्य ही है कि तब का मनुष्य जीवन का विश्वास खो चुका था। 'रोजी का अभाव, पराधीनता की कमी और बेकारी से जन्मी हुई निराशा संसार के विराग का रूप ले रही थी और दैनिक जीवन की कठिनाइयों से घबराया हुआ कवि 'उस पार' चल देने के लिये और नहीं तो एक भग्न तरी ही खोज रहा था।' इसी युग का नाम छायावाद युग है जिसे बहुधा "स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह" कहा जाता है। कुछ भी हो यह कविता का वैराग्य युग था और कवि युग की समस्याओं का समाधान खोजते खोजते मार्ग भटक गया अथवा यों कहिये कि कवि अपना उद्देश्य भूलकर मार्ग की फूल पत्तियों से खिलवाड़ करने लगा।

छायावाद जीवन की वास्तविकताओं से भागना ही सिखा पाया। उसमें वह दृढ़ता और काठिन्य नहीं था जो जीवन पर स्वस्थ प्रभाव डालता और उसे सब प्रकार से पुष्ट और मांसल बनाता। उसका स्वरूप भी सन्ध्या के रंगीन मेघ खण्डों की भाँति अनिश्चित ही रहा। एक वायवी, धूमिल सौन्दर्य का कुहासा चारों ओर छा गया और एक अतीन्द्रिय तरलता, भावों की कोमलता के रूप में विशृंखल सी बन कर फैल गई। दिनकर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "छायावादी कवियों का प्रवास कर्त्तव्यनिष्ठ गृहस्थ का प्रवास नहीं प्रत्युत उस बालक का पलायन था जो अपने आस-पास मन के अनुकूल वातावरण नहीं पाकर घर से भाग निकलता है।"

छायावाद की सीमायें अवश्य थीं परन्तु छायावाद की देन भी हमारे लिये नहीं है। यदि कुछ सहृदयता से विचार किया जाय तो हम इस परिणाम पर शीघ्र ही पहुँच जाते हैं कि छायावाद ने पूर्ववर्ती संकुचित सीमाओं को तोड़ अनेक नये क्षेत्रों का अनुसन्धान किया था। कवि की कल्पना अब धीरों से लेकर कुमार तक और पृथ्वी से लेकर आकाश तक अवकाश प्राप्त कर चुकी थी। कहने के अनेक टेढ़े सीधे ढङ्ग और विषय प्रतिपादन की अनेक नवीन सुन्दर और चमत्कार पूर्ण शैलियाँ निकल आईं। छन्दों के क्षेत्र में तो जो क्रान्ति इस काल में हुई वह हमारे साहित्य की कदाचित सबसे महत्वपूर्ण घटना है। यह एक प्रकार से वैयक्तिकता का युग था। इस काल का कवि अपने व्यक्तित्व के प्रति अधिक जागरूक था। "पिछले दो हजार वर्षों का भारतीय साहित्य कवि के व्यक्तित्व को खोता आया है। कवि जनसाधारण के दुखों से हटकर

अपने ही द्वारा निर्मित बन्धनों में बँधता आया है, वैयक्तिकता की स्वाधीनता को छोड़कर वह 'टाइप' रचना की पराधीनता को स्वीकार करता आया है।" यह मेरे शब्द नहीं बल्कि साहित्य महारथी श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के हैं। छायावाद वास्तव में ही कवि के व्यक्तित्व का छाप का अधिक आग्रह लिये हुए था। इसमें रूढ़िवाद के प्रति एक भयानक विद्रोह था। इस विद्रोह की उष्णता से रूढ़िवाद बुरी तरह झुलस गया। शताब्दियों से अपना मान जाने विदेश की जड़ें टूट गईं और उन विश्वासों की रीढ़ चूर हो गई। इस निराशा और वेदना समन्वित निविड़ता के युग में भी जीवन आनन्द से शुद्ध होने लगा, उसका अन्तरिक्ष धवल प्रसन्न होने लगा। प्रकृति के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण अपनाया गया। इसका किंचित आभास देने के लिए मैं श्री 'नेपाली' जी की निम्न पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता—

> 'जितने भी हैं इसमें कोटर,
> सब पड़ा चिड़ियों के घर।
> सन्ध्या को दिन जाता ढल,
> सूर्य चलता है अस्ताचल।
> कर में समेट किरणें उज्ज्वल,
> हो जाता है सुनसान लोक,
> चल पड़ते घर को चोंच खोल।
> भर जाता है कोटर कोटर,
> बस जाते हैं पक्षी के घर
> घर घर में भरता नाद रुचिर"

इस दृष्टिकोण का एक बड़ा ही स्वस्थ प्रभाव पड़ा और वह यह कि इस काल के कवि अपनी प्रकृति से अपार मानसिक बल प्राप्त कर सके। छायावाद का प्रकृति चित्रण अवश्य अपना विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। इस युग ने हमें कुछ विशिष्ट विभूतियाँ दीं और इस पर कदाचित् दो मत हो सकें कि भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी साहित्य का यदि कोई महान् और महत्वपूर्ण समय आया तो वह यही युग हो सकता है (मैं आज तक ही की बातें कर रहा हूँ क्योंकि आज की प्रयोगवादी कविता भी अपने में अनन्त शक्ति सम्भावनाओं को छिपाये हुए है) छायावाद की यही विशेषता है और यही उसकी सीमा। अस्तु।

छायावाद के दोनों पक्षों पर विचार करने के पश्चात् भी निष्कर्ष यही निकलता है कि वह जीवन के वास्तविक सुखों से दूर अपने एक मधुर कल्पना लोक में विचरण कर रहा था। वह पृथ्वी को हेय और आकाश को श्रेष्ठ समझता थी। जीवन की कठोर वास्तविकता का समाधान उनके पास नहीं था। सन् ३५ के लगभग से ही हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावपक्ष और रूप आधार के प्रति एक असन्तोष उत्पन्न हो गया था, और धीरे धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की अपनी भावभूमि और उसके अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। छायावाद में अपना का झीना पुकार था। उसमें जीवन को स्पन्दनशील करने की क्षमता नहीं। उसमें एक विशेष कोमलपन था, ठोसपन नहीं। वह एक सीमा पर आकर जीवन का घुन बन गई थी और ऐसी शक्ति को एक अंग्रेजी विद्वान् ने इस प्रकार कहा है—"All that brings drowsiness and makes us shut our eyes to reality around on the mastery of which alone life depends is a message of decay and death"

वे सभी वस्तुएँ जो हमें जीवन की वास्तविकताओं से विमुख करती हैं वे हमें विनाश का सन्देश देती हैं क्योंकि बिना अपने वातावरण पर विजय प्राप्त किये जीवन का विकास सम्भव नहीं, इस प्रकार समाज को जगाने के स्थान पर उसे थपकी के दाव दिये गये। छायावाद उस फूहड़ माँ की भाँति था जो अपने बच्चों को इसलिए अफीम खिला देती है कि वह रोकर उसके गृहकार्य में बाधा डालता है। बच्चों के स्वास्थ्य का ध्यान वह नहीं रखती। छायावाद ने भी समाज के प्रति इस क्षेत्र में लगभग ऐसा ही किया।

हम अधिक दिनों तक छायावाद की सुखद छाया में नहीं बैठ सके, क्योंकि भीड़ की भीषण समस्यायें हमारी प्रतीक्षा कर रही थीं। हमें कोमलपन का आनन्द छोड़ना

लगने लगा और छायावाद का दग्ध सौन्दर्य, प्रेमतत्व बिल्कुल नीरस प्रतीत होने लगे। इक़बाल के शब्दों में हम सुप्त शाहिरियों को जगाने लगे —

"इश्क़ो मस्ती का जनाज़ा है तख़य्युल इनका,
इनके अन्देशये तारीक में क़ौमों के मज़ार।
चश्मये आदम से छिपाते हैं मौक़ा पाते बुलन्द,
करते हैं रूह को ख़ाबीदा बदन को बेदार।
हिन्द के शायरो ! सूरतगरो अफ़साना नवीस,
आह बेचारों के आसाब पै औरत है सवार।"

हमारे कवि अपनी सङ्कुचित सीमा से बाहर आये और आकर इन्होंने जो पतन देखा तो उनकी आँखें खुल गईं। उस दिन से रूठा कवि फिर अपने छायालोक को नहीं लौटा। आज वह दानों का हिमायती है, कायरों का कान है और वीरों का भाई है। आज उसमें जीवन के प्रति एक नयी आस्था उत्पन्न हो गई है। उसमें आज वह शक्ति आगई है कि उसे भी यह विश्वास होने लगा कि वह निर्जीवों में जीवन फूँक सकता है, सोतों को जगा सकता है, कायरों को कर्मठ बना सकता है और जीवन की दौड़ में हारे हुए प्राणियों को नवीन उत्साह और आशा से मण्डित कर सकता है। अब वह भी समझने लगा है कि—

"सितारों से आगे जहाँ और भी हैं,
अभी इश्क़ के इम्तहाँ और भी हैं।
तू शाहीं है परवाज़ है काम तेरा,
तेरे सामने आसमाँ और भी हैं।"

परन्तु यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि जिस प्रकार छायावाद का प्रारम्भ एक अस्पष्ट लक्ष्यहीनता को लेकर हुआ था उसी प्रकार प्रयोगवादी कविता भी कुछ दिनों तक अपना स्वरूप निश्चित न कर सकी और उसने भी छायावाद की सूक्ष्मता की वह अशोभनीय और भद्दी प्रतिक्रिया प्रदर्शित की कि जिसे देख कर स्तम्भित रह जाना पड़ता है। कुछ दिनों तो इस प्रतिक्रिया ने चारों ओर एक कुरुचि फैलादी और कवि यों ही कविता के चिथड़े छाँटने लगे। जो भी कवि कविता करता था वह 'मजदूर, भिखारी, कृषक और शोषितों' को काव्य कौशल की कसौटी बनाने लगा।

हम इसी प्रकार की निरंकुश और भद्दी रुचि को ही सबसे अधिक खतरनाक समझते हैं क्योंकि यह तो नवीनता और वास्तविकता की झोंक में वाणी के पवित्र मन्दिर अपवित्र करता है। सब जानते हैं कि साहित्य हमारी समस्त अदिम वृत्तियों के परिमार्जन का साधन है। यदि हमारी रुचियों का परिष्कार इसके द्वारा न हो सका तो सब व्यर्थ है।

यह स्थिति कुछ ही दिनों तक रह पाई और कुछ ही दिन की साहित्यिक स्थिरता के पश्चात् हमारे कवियों ने बुद्धिमत्ता पूर्वक यह निश्चय कर लिया कि जिस समाज के दाने पानी से उनकी रचना और विकास हुआ है उसके प्रति भी उनका कुछ कर्तव्य है। उनका ध्यान ईश्वर से हटकर मनुष्य की ओर गया। उसका दृष्टिकोण अधिक बौद्धिक हो गया और उसे मनुष्य की महत्ता का अनुभव होने लगा —

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

जीवन में मनुष्य के इस महत्व की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् उसे मृत्यु से अधिक लगाव न रह गया और वह ताज को देख वेदना से फूट पड़ा—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन॥
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति।
आत्मा का अपमान प्रेम और छाया से रति॥

इससे पहिले कि आधुनिक कविता की विशेषताओं और मुख्य मुख्य प्रवृत्तियों का संक्षेप में उल्लेख किया जाय यह बताना आवश्यक हो जाता है कि प्रगतिवादी कविता करने वाले कवियों की साधना के दो मार्ग हो जाते हैं। एक तो कवियों का मार्ग है जो ध्वंस में विश्वास करते हैं। इस श्रेणी में दिनकर, अञ्चल, भगवतीचरण वर्मा आदि आते हैं और दूसरे मार्ग के अनुयायी निर्माण को उद्देश्य मानकर चले हैं। इनके मार्ग प्रदर्शक पन्तजी हैं। स्वयं पन्तजी कहीं कहीं अवश्य सामाजिक और नैतिक रूढ़ियों को तोड़ने के पक्षपाती हैं। पन्तजी की हम निम्न लिखित पंक्तियों को पढ़ते हैं तो हमें ज्ञात होता है किस प्रकार उनका वस्तु परक

दृष्टिकोण कुछ ऊँचा होगया है और साथ-साथ उनपर पड़ा हुआ फ्राइड युग आदि का प्रभाव लक्षित होता है।

धिक रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन।
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर॥

× × ×

क्या क्षुधा काम तृष्णा औ स्वप्न जागरण सा सुन्दर।
है नहीं काम भी नैसर्गिक जीवन द्योतक॥

हमें विश्वास है कि पन्तजी ने समाज के लिये यह एक चुनौती दी है परन्तु इसे स्वीकार करने का समय अभी नहीं आया। अभी हम लोग उस वैज्ञानिक दृष्टि को प्राप्त ही नहीं कर सके हैं जो आजकल के भयङ्कर विशृङ्खल जीवन को सन्तुलन और सामञ्जस्य प्रदान करे, एक दूसरे स्थान पर पन्तजी ने शताब्दियों की इन नैतिक रूढ़ियों को तोड़ डाला है—

मन से होते मनुज अपावन,
रज की देह सदा से कलुषित।
प्रेम पतित पतित पावन है,
तुमको रहन दूँगा मैं न कलङ्कित॥

और —

पति पत्नी का सदाचार भी नहीं
मात्र परिणय से पावन।"

इसके अतिरिक्त डाक्टर देवराज ने नीचे लिखी पंक्तियों की बड़ी प्रशंसा की है —

ढही बड़ी कड़ी चौड़ी

इस खण्डहर में बिजली सी उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी!
फिर —

'अन्धकार की गुहा सरीखी इन,
आँखों से डरता है मन।"

यह पन्त और उनकी सृजनात्मक प्रगतिशील कला है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है एक शाखा ऐसे भी कवियों की है जो प्राचीन का ध्वंस और नवीन का निर्माण करना चाहते हैं। मैं तो इस क्षेत्र में दिनकर को अग्रगण्य समझता हूँ परन्तु एक विद्वान ने अभी यह निश्चय किया है कि दिनकर के विस्फोट में इतनी शक्ति नहीं जो उन्हें प्रगतिवाद की नवीनतम चेतनाओं के साथ-साथ ले चले।

'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार मैं ऐसा नहीं मानता। इसके कई एक कारण हैं। दिनकर में जीने की अदम्य लालसा है और वह सूर्य की प्रखरता से प्रकाशो द्योतित है। जब तक जीवन है तब तक ऐसा विस्फोट कभी भी महत्व हीन नहीं हो सकता। बानगी के तौर उनकी कुछ पङ्क्तियाँ ये हैं—

सिन्धु नहीं सर कहो उसे चञ्चल जो नहीं तरङ्गों से।
मुर्दा कहो उसे जिसका दिल व्याकुल नहीं उमङ्गों से॥
मिट्टी का यह घर सँभालो बनकर कर्मठ सन्यासी।
पा सकता कुछ नहीं मनुज बन केवल व्योम प्रवासी॥

दिनकर के अतिरिक्त और भी कवियों ने ध्वंस का राग गाया है। कोकिल से पावक-कण बरसाने का अनुरोध किया है और जीर्ण शीर्ण पुरातन का ध्वंस कराया है।

अन्त में हम इतना ही कह सकते हैं कि प्रगतिवादी कविता के क्षेत्र में जो कुछ भी हुआ है यद्यपि वह सन्तोष-जनक नहीं परन्तु आशाजनक अवश्य है। यह कविता जिस दिन पृथ्वी और आकाश के मिलन क्षितिज पर आकर साम-ञ्जस्य का राग अलापेगी वह हिन्दी संसार के लिए कितना शुभ दिन होगा।

भारतेन्दु का व्यक्तित्व

प्रो० चन्द्रप्रकाश वर्मा एम० ए०

आज से एक शताब्दी पूर्व हिन्दी साहित्य के धूमिल क्षितिज पर एक चन्द्रमा का उदय हुआ था । चन्द्रमा, जिसे उदय मिला था पर अस्त नहीं । चन्द्रमा यदि नष्ट भी हो जावे तो संसार में चन्द्र का नाम नष्ट न होगा । उस भारतेन्दु की किरणों ने भी अमृत पिया था । इसलिए वे किरणें विस्मरण के विष से कभी न मर सकीं । वह प्रकाश और उस प्रकाश की स्मृति—दोनों ही आज हमारे बीच हैं । जिस भाँति देह से गात जुड़ा है उसी भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—यह नाम हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध है ।

मैं जब किसी हिन्दी साहित्यकार के सम्बन्ध में विचार करता हूँ तो उसका मानव पक्ष मुझे सर्वाधिक प्रिय लगता है । वह पक्ष मुझे प्रभावित करता है । कलाकार की कला यदि जीवन से न फूटे तो उसे शब्द, मूर्ति तथा झंकार में खोजना व्यर्थ है । हृदय का धनी ही साहित्य का धनी हो सकेगा । भारतेन्दु हृदय के धनी थे । एक ऐसा हृदय विधाता की भूल से उन्हें मिल गया था जिसके सम्मुख सम्भवतः समस्त विश्व याचना समर्थ हो सकती थी । रजत खण्डों का लोभी मानव सर की रत्नावलियों का दान किस प्रकार कर सकेगा ? भारतेन्दु की प्रथम विशेषता चरम आसक्ति के बीच उनकी अनासक्ति ही थी ।

धन कुबेर सेठ अमीचन्द का वंशज धन का लोभी न हो, भला विश्वास की बात है ? पर था ऐसा ही । भारतेन्दु ने रजत कंचन को मिट्टी मान लिया था । मिट्टी से मोह कैसा ? धन की ऐसी उपेक्षा क्यों ? मैं सोचता हूँ कि वस्तु का प्राचुर्य ही उसकी महत्ता कम कर देता है । मूल्य अभाव में है और उपलब्धि में संभवतः अनादर । भारतेन्दु के जीवन का प्रारम्भ परिपूर्णता का काल था । सम्भवतः इस कारण ही कवि के हृदय में धन के प्रति एक सहज उपेक्षा का भाव आ गया था । साधना सदा दुर्लभ की होती है । सुलभ तो अपनी नवीनता नष्ट कर सदा साधारण बन जाता है । धन का प्राचुर्य और उसका पूर्ण उपभोग सम्भ वह धन की महत्ता को धूल धूसरित कर देता है । भारतेन्दु ने दोनों हाथ धन उलीचना आरम्भ किया । महाराज काशीराज ने उन्हें समझाया । भारतेन्दु का उत्तर था—'इस धन ने मेरे पूर्वजों को खा डाला, मैं अब इसे खा डालूँगा ।'

प्रेम-तत्त्व की साधना भारतेन्दु की दूसरी विशेषता है । वे प्रेमी थे और प्रेम के चन्दन तथा प्रेम की ज्वाला दोनों से परिचित थे । दोनों से उन्हें समान अनुराग था । इस प्रेम की कैसी स्पष्ट मान्यता उनके द्वारा मिली । उनका कहना था—'एक प्रेम है, एकहि प्रन है, हमरो एकहि बानी ।' यह प्रेम का तत्त्व उनकी कृतियों में विभिन्न स्वरूप लेकर बिखर गया है । प्रिय प्रेम, ईश प्रेम, देश प्रेम, भाषा प्रेम—इसके अनेक रूप हैं । चन्द्रावली नाटिका तो प्रेम-देवता की प्राण पुष्पों द्वारा पवित्र पूजा ही है । इसमें प्रेम की धारा सहस्रमुखी होकर भावना के भूमि क्षेत्र में प्रवाहित हुई है । इन शब्दों में कृष्ण की कठोरता और चन्द्रावली की मनोव्यथा कितनी मार्मिकता से प्रकट हुई है—'भामिनी तें भौंड़ी करी, मानिनी तें मौड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें ।'

यह प्रेम का तत्त्व भारतेन्दु के साहित्य में क्यों, कैसे और कहाँ से आया ? मैं लिख चुका हूँ कि वस्तु का प्राचुर्य ही वस्तु के प्रति हमें उदासीन बनाने में समर्थ है और वस्तु का अभाव उसके संचय के प्रति हमें प्रयत्नशील बनाता है । जो है उसकी चाह नहीं रहती और जो नहीं है उसकी खोज में मन व्यग्र हो उठता है । भारतेन्दु के जीवन वृत्त में धन का व्यय और प्रेम का संचय—दोनों ही बातें परिस्थिति वश प्रमुखता पा सकीं । जीवन के प्रभात में बालक को स्नेह सिक्त बनाने वाली प्रबल वात्सल्य भावना का उद्गम माता पिता का हृदय ही होता है । जो कभी माता पिता के हृदय का यह सहज स्नेह नहीं पा सके हैं उनका हृदय सदा ही इस जीवन रस का भूखा रहेगा ।

दुर्भाग्य की घनी छाया भारतेन्दु पर पड़ कर ही रही। शैशव में ही वे माता पिता के स्नेह से वंचित हो गए। उनके हृदय की समस्त कोमल वृत्तियाँ सहसा ही अनाथ हो गईं। उस क्षण प्रेम के लोक में उनके समान एक और कौन होगा। जिस तत्व के अभाव की प्रथम अनुभूति उन्हें जीवन में हुई, उसी प्रेम तत्व की साधना में वे संलग्न हो गए। अभाव संचय का प्रेरक है। परिणाम स्वाभाविक था। उनकी कृतियों में प्रेम का रत्नाकर तरंगित हो उठा। भारतेन्दु और उस प्रेम रत्नाकर के बीच ऐसा ही सहज सम्बन्ध था जो पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्र और सिन्धु के बीच होता है। वे प्रेम की किरणें जीवन के बहुरूपी क्षीर मंडल पर पड़ीं और वह प्रेम बहुरूपी बन गया।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व की तीसरी विशेषता उनका विनोद है। उनका हास परिहास भी हमें हँसाता है और हमारी आँखों के आँसू आँखों में न उमड़ने की शपथ भी खा लेते हैं। पर फिर भी वे उमड़ते ही हैं। क्योंकि भारतेन्दु की लेखनी हमें सदा विवश बनाकर ही हँसाती रुलाती है। भारतेन्दु के हास की अर्थमयी मधुर ध्वनियाँ आज भी एक सम्पूर्ण शताब्दी के शीश पर नृत्य करती हुई, हम तक आ गई हैं। मैं भारतेन्दु के विनोद को बड़ा रहस्यमय मानता हूँ। वह साधारण परिहास न था। वह किसी विदूषक की कौतुकमयी विडम्बना नहीं है। वह एक दार्शनिक का हास है जो जग जीवन की अनित्यता और मानव अभिलाषाओं की निस्सारता पर मुस्करा उठता है। मन के वेदना प्रवाह को जब पलकों के बाँध रोक नहीं पाते तो वह आँसू के अतिरिक्त अधरों के बँधे तट फोड़ उदास मुस्कान के रूप में भी फूट पड़ती है। अँधेर नगरी के अन्तर्गत कुंजड़िन की यह पुकार—लो हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर—यह साधारण विनोद मात्र नहीं किन्तु इसकी सिसकियाँ भरते भरते हँस पड़ना ही है। ये वाक्य भी मेरे कथन का समर्थन करेंगे—'वेद, धर्म, कुल मरजादा, सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल, ले टके सेर।' प्रेम-जोगिनी नाटिका के अन्तर्गत परदेशी का कथन कि देखी तुमरी कासी, लोगो देखी तुमरी कासी—भारतेन्दु में इसी विनोद व्यथा की सृष्टि है।

अन्त में इस महान व्यक्तित्व की विशेषताओं के संबंध में एक बात और कहनी है। नगर निवासी भारतेन्दु ने प्रकृति के निकटतम सम्पर्क में आने का प्रयत्न कभी नहीं किया। जो प्रकृति उनके पथ में आ गई उसका तो उन्होंने अभिनन्दन किया परन्तु आराधना के लिए उसका अनुसंधान उन्होंने नहीं किया। वे स्वभाव से नागर थे तथा नगरों के प्रेमी थे। भव्य प्रासादों और अट्टालिकाओं के बीच ही उन्होंने ऋतुओं के परिवर्तन देखे। वसन्त उनके सभा भवन का सेवक था। पावस को उन्होंने गृह उपवनों में मंद गति से चलते हुए फुहारों में देख लिया था। सावन की घिरी घटायें छवि की अलकों के अंधकार में छिप गई थीं। ग्रीष्म की उष्णता विभव विलास का उन्माद बन चुकी थी और शीतकाल का कम्प सुखों के रोमांच में लीन था। मानव सौन्दर्य और मानव कार्य कलापों पर मुग्ध होने वाला उनका मन अन्त तक प्रकृति से अभिन्न न बन सका। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की गंगा और 'चन्द्रावली' की जमुना भी मानव जीवन की चित्रावलियों को अपनी-अपनी तरंगों पर सजाए है। प्रकृति के सहज सौन्दर्य को देखने की बेला संभवतः उन्होंने जीवन की किसी अन्य अवधि को दे रखी थी किन्तु दुर्भाग्य से वह बेला, वह अवधि, उन्हें छल गई। वह कभी न आई और उनकी जीवन कथा सहसा समाप्त हो गई। अब तो भारतेन्दु के ही शब्दों में यह कहना मात्र शेष रह गया है—

> कहैंगे सबै ही, नैन नीर भरि भरि पाछे—
> प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी।

प्राचीन हिन्दी साहित्य में हास्य रस

श्री गङ्गाप्रसाद कमठान, बी० ए०

हिन्दी के प्राचीन साहित्य में श्रृंगार, वीर, करुणा आदि रसों का आंशिक आविर्भाव तो प्रचुरता से प्राप्त होता है किन्तु हास्य रस की न्यूनता ही सर्वत्र होती है। इससे यह अभिप्राय नहीं कि हिन्दी के प्राचीन महारथी हास्य रस को शैवालिनी साहित्य में प्रवाहित करना नहीं जानते थे। अथवा उनमें 'जिन्दादिली' न थी। अपितु इसका कारण अन्य ही है। भारतीय साहित्य परंपरा में हास्य को श्रृंगार रस का सहयोगी ही स्वीकृत किया गया है। भरत मुनि ने प्रधान रस केवल चार ही माने—श्रृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र परन्तु हास्य को श्रृंगार का ही अंग माना और अंग अंगी से कभी अलग नहीं हो सकता। अत: परिणाम स्वरूप हास्य रस की स्वतन्त्र रचना स्वतः कम हुई तथा जिन कवियों ने केवल हास्य को अपना विषय बनाया उनका साहित्य अशिष्टता की कोटि का भागी बना।

कवि की स्वतन्त्र पथ गामिनी जन्म-जात प्रतिभा कभी रूढ़ियों की श्रृङ्खलाओं में आबद्ध नहीं रह सकी है, वह अपना उठी हुई अनुभूति को कैसे दबा सकता है—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई॥

—प्रसाद

मानव मन में जब जैसी भावना उदित होती है, कवि उसकी वैसी ही अभिव्यक्ति कर देता है चाहे वह हास्य की हो अथवा रुदन की—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

—पंत

अत: परिस्थिति उत्पन्न हो समय समय पर उद्भूत हास्य की भावना भी प्रत्येक कवि की रचना में अपने चरण चिह्न छोड़ती हुई देखी गई है।

<u>अपने पराए परिधान, वचन अथवा क्रिया कलापों से उत्पन्न हास या परिपुष्ट होना हास्य रस कहलाता है।</u>

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार हास्य के दो भेद माने गए हैं, <u>आत्मस्थ</u> और <u>परस्थ</u>। आलम्बन को विकृत अवस्था में देखने से जो हास स्वतः प्रस्फुटित होता है वह आत्मस्थ कहलाता है। और जो दूसरों को हँसता देखने से हास उत्पन्न होता है वह परस्थ कहाता है। प्राचीन हिन्दी साहित्य में दोनों प्रकार का हास्य उपलब्ध होता है। आत्मस्थ हास्य के वर्णन में कवियों ने अत्युक्ति से अधिक काम लिया है।

सर्व प्रथम अमीर खुसरो की रचना में हास्य रस के दर्शन होते हैं। खुसरो फारसी के उद्भट विद्वान् थे, इस हेतु इनकी कृतियों पर फारसी के चुल्बुलेपन का प्रभाव पूर्णरूप से पड़ा। इन्होंने हास को स्वतन्त्र सत्ता के रूप में ग्रहण किया, अन्य रस का सहयोगी मान कर नहीं। यहीं वह भारतीय रस सिद्धान्त से दूर खड़े दीख पड़ते हैं और इन्होंने एक नये मार्ग का शोधन किया। इनकी रचनाओं में विनोद की अति ही सुन्दर भावना अन्तर्निहित है जो पाठकों के पेट में बल डाल देती है।

१—श्याम बरन और दाँत अनेक लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खाँचे और कहे तू आरी॥

२—रात मेरे मन्दिर में आवे सोते मुझको आन जगावे।
पढ़त फिरत वह विरह के अच्छर ऐ सखि साजन,
ना सखि मच्छर।

३—वह आवे तो शादी होय, उस बिन दूजा और न कोय,
मीठे लागें वाके बोल, ऐ सखि साजन, ना सखि ढोल।

उदाहरण नं० (२) और (३) में कवि ने मुकरियों का ऐसा प्रसंग बाँधा है कि उन्हें पढ़ते समय यह आशा होती है कि प्रसंगानुकूल इसका उत्तर 'साजन' ही होगा किन्तु उसके विपरीत जब उत्तर में मच्छर और ढोल पढ़ते हैं तो सहसा आनन्दातिरेक की भावना सीमा को बाँध तोड़ देती है।

युग परम्परा है कि युग पुरुष प्रचलित मिथ्याडम्बरों पर कटूक्तियाँ सुनाता है, तो वे कभी कभी हमारे हास्य का साधन बन जाता है। कबीर, एक निर्भीक वक्ता थे। सामाजिक कुरीतियों पर ली हुई उनकी चुटकियाँ हास्य रस में डूबी हुई हैं—

'मूँड मुड़ाए हरि मिलें, तो मुड़वाले सौ बार,
छटे महीना भेड़ मुड़ति है कब अमरापुर जाय।'

कबीर की उलटबांसियाँ भी ऐसी ही हैं, मुल्ला के जोर जोर से चिल्लाने से खुदा को बहरा बनाना कितना सुन्दर व्यंग्य है—

'मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे क्या साहब तेरा बहरा है।'

ब्रज भाषा के आदि कवि ने वात्सल्य और शृङ्गार को ही अपने वर्णन का क्षेत्र बनाया किन्तु फिर भी वहाँ यहाँ हास्य को संचारी भाव के रूप में प्रस्तुत करके अपनी विनोदमयी प्रकृति का आभास दे दिया। कृष्ण की बाल-लीला ऐसे अनेक दृश्यों से परिपूर्ण है जहाँ व्रजराज की अनेक चेष्टाओं और क्रीड़ाओं के अन्तर्गत हास्य की आविर्भूति हुई है। कृष्ण किसी गोपिका के घर में चोरी—चोरी माखन की करते हुए पकड़े जाते हैं। किन्तु किस भोला कोरी के भाव भोले भाव से कह जाते हैं :—

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे में आयो।
देखतु हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥

× × ×

मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मुख लपटायो॥

'सूर विनोदी रे मधुविनदीं' सूरदास विनोदी थे इस बात का प्रमाण स्थान स्थान पर मिलता है। गोपी विरह भी ऐसे अनोखे व्यंग से भरा हुआ मिलता है —

आयो घोष बड़ो व्यौपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आइ उतारी॥

श्री रामचन्द्रजी के शान्त, गम्भीर और मर्यादित जीवन को आँकने वाले, कोटि कोटि भारतीयों के कण्ठ के हार गोस्वामी तुलसीदास यद्यपि स्वयं बड़े गम्भीर थे, फिर भी हास्य की क्षीण रेखा दीपक की ज्योति के सदृश उनके हृदय सागर का मन्थन कर रचित साहित्य की सर्जना में भाग ले उठी। मानस में शिव विवाह और नारद मोह कवि की हास्यमयी प्रकृति को सहसा प्रकाश में ले आता है। नारदजी का मर्कट मुख और कामांधता की अवस्था, तथा परम रूपवती राजकुमारी की ओर बार बार उठ कर देखना कितनी विनोदमयी प्रकृति को लिए हुए है —

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं
देखि दसा हर गन मुसुकाहीं

हिन्दी महाकवि ने कवितावली में भी एक स्थान पर सुन्दर व्यंग्यमयी हास्य उपस्थित किया है। तुलसी कहते हैं, भगवान! तुमने बड़ा अनुग्रह किया जो वन में आकर पधारे। तुम्हारे चरण-कमलों के स्पर्श से कानन की समस्त शिलाएँ अहिल्या की भाँति सुन्दरियों में परिवर्तित हो जावेंगी। बेचारे विन्ध्यवासी उदासी तपस्वी गण जो बिना नारियों के महादुखी हैं, इस प्रकार चन्द्रमुखियाँ पाकर परम प्रसन्न हो उठेंगे —

"विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

रहीम ने तो स्वयं भगवान और लक्ष्मी को ही आलम्बन मानकर हास्य प्रस्तुत किया है—"पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय" भगवान आदि पुरुष होने के कारण वृद्ध हैं और उनकी पत्नी चंचल है तरुण है। अतः वृद्ध की स्त्री का चंचल होना स्वाभाविक है।

रीतिकाल में हास्य रस की वर्णन प्रणाली कई रूप में दृष्टिगोचर होती है। नायक नायिकाओं का हास्य विनोदात्मक कथाएँ परस्पर हास्य की कोटि में रखा जा सकती हैं। एक दूसरे प्रकार की प्रणाली और मिलती है जो निम्नलिखित कारण के द्वारा उत्पन्न हुई।

रीतिकालीन अधिकांश कविगण राजाश्रित थे। पुरस्कार अर्थात्—उचित पुरस्कार प्राप्त न करने पर वे अपने हृदय से निन्दा की निर्झरिणी प्रवाहित कर उठते हैं। एक साथ में यजमान की सात पुश्तों तक को भली बुरी सुना उठते हैं। ऐसी कविताओं में अत्युक्ति की ही प्रधानता पाई जाती है —

गांधीवाद के आवेगशील कवि : श्री माखनलाल चतुर्वेदी

प्रो० राजनारायण मिश्र, एम० ए०, 'साहित्य-रत्न'

आधुनिक हिन्दी साहित्य के 'राष्ट्र कवि' श्री माखनलाल चतुर्वेदी का सम्पूर्ण जीवन त्याग, देशानुराग, स्वाभिमान, वीरत्व, आत्म सम्मान और बलिदान का अमर प्रतीक है। कवि ने अपने वीरोचित काव्य द्वारा न केवल स्वतन्त्र्य सग्राम के सेनानियों को ही नव जीवन प्रदान किया है, अपितु वह स्वयं उसका कर्णधार भी है। इस प्रकार कवि जीवन में एक साथ ही उसके क्रियात्मक और रचनात्मक पक्षों का समन्वय है। आत्माभिव्यक्ति के लिए इन दोनों सुन्दर सन्तुलन के साथ ही भावावेश और आवेग परमावश्यक हैं क्योंकि इसी से काव्य में प्रेषणीयता आती है। इन दोनों पोषक तत्वों के साथ ही पराधीनता की परवशता की कराह और स्वाधीन विचार धाराओं का प्रवाह काव्य की भाव-भूमि पर स्थान स्थान पर निखर उठे हैं। यही कारण है कि एक से तो छायावाद की पुष्टि और दूसरे से प्रगतिवाद की तुष्टि होती रही है और कवि को इन दोनों के सन्धि-युग की कड़ी माना गया है। किन्तु आचार्य शुक्ल ने इनको 'स्वच्छन्द धारा' का कवि माना है क्योंकि कवि के जीवन में सत्यानुभूतियाँ अधिक हैं, कल्पना का छाया चित्र उसके पीछे पड़ गया है। आलोचक प्रवर श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने इनको आधुनिक साहित्य के गाँधी वादी विचार धारा के आवेगशील कवियों में शीर्ष स्थान दिया है। श्री दिनकर, अंचल तथा अन्य प्रगतिशील कवि उसी काव्य धारा में आते हैं। आचार्य द्विवेदी के गाधिक विकास के रूप में—भाषा के क्षेत्र में—इन्होंने उसका प्रतिनिधित्व किया है तथा कविता में उसी शैली का एक अभिनव प्रयोग भी इन्होंने किया है। यथा —

"तुम रहो न मेरे गीतों में तो गीत रहे किस भाँति बोलो,
तुम रहो न मेरे प्राणों में तो प्राण रहें कैसे बोलो।
मेरी कसकों में कसक कसक मेरी खातिर वनवास करो,
मेरे गीतों के राजा तुम मेरे गीतों में वास करो।"

'कसक' और 'खातिर' शब्दों के प्रयोग से भाषा में एक प्रकार की व्यावहारिकता और प्रवाह आगया है।

यदि हम श्री चतुर्वेदीजी की 'हिमतरङ्गिनी' तथा 'हिम किरीटिनी' पर दृष्टिपात करें तो हमें अनुभव होगा कि वास्तव में कवि के रग रग में देश प्रेम का भाव व्याप्त है, जिसका प्रत्यक्षीकरण ही उसका काव्य है। 'एक फूल की चाह' में कवि के जीवन का मुख्य सत्य ही बोल उठा है जो उसके काव्य का मुख्य तत्त्व है। यदि एक ओर पराधीन राष्ट्र का चीत्कार ही उसके हृदय का भाव हाहाकार बन गया है तो दूसरी ओर उसमें नैराश्य, ममत्व, आनन्द, उल्लास, प्रेम और देश भक्ति के स्वरों का भी उभार है। वह अपने आराध्य को पूर्ण तन्मयता के साथ देखना चाहता है। भावावेश में कवि का हृदय ही बोल उठा है —

"अरे अशेष! शेष की गोदी तेरी बने बिछौना सा।
आ मेरे आराध्य! खिलाऊँ मैं भी तुझे खिलौना सा॥"

उसे उसके घर के प्रति भी सन्देह हो गया है कि वह उसी का है, या किसी अन्य का है। वह कहता है—

'जिसके रवि उगें जलों में,
सन्ध्या होवे वीराने में
उसके कानों में क्या कहने
आते हो? यह घर मेरा है?

इस प्रकार यह पहले देश सेवक, फिर पत्रकार और अन्त में कवि हैं। राष्ट्रीयता तथा देश प्रेम कवि के जीवन के अभिन्न तत्त्व हैं। एक सफल वक्ता और देश सेवक होने के कारण कवि जीवन की बाह्य प्रेरणाओं से ही प्रभावित है, उसमें कल्पना की ऊँची उड़ान नहीं है, छायावाद की आन्तरिकता का अभाव है। आधुनिक कविता के दो पार्श्व बिन्दु श्री प्रसाद और गुप्तजी हैं, जिनके पार्श्व पार्श्व में श्री चतुर्वेदीजी आते हैं। हिन्दी के भावनाशील कवि के रूप में भी चतुर्वेदीजी सदैव अपने हृदय को साथ लिए रहते हैं। शृङ्गारिक आराधना और राजनीतिक चेतना ही इनकी कला का प्राण है। इनकी कविता की मुख्य दिशा—देशभक्ति

और प्रभावपूर्ण है। राष्ट्रीय उद्बोधन के कारण इनकी रचनाओं में भास्वरता (दीप्ति) भी है।

काव्यगत विशेषताएँ—कवि में वीर काव्य, कृष्ण-काव्य और उर्दू काव्य की सुन्दर समष्टि है। इनकी कविता में ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों का भी समावेश है। काव्य का माधुर्य केवल कोमल कान्त पदावली तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु वह मानस वीणा के तारों पर भी अपनी रागात्मक अँगुलियाँ फेरा करता है। कवि के मार्मिक और तीव्र व्यंग्य कभी-कभी हृदय पर गहरी चोट कर देते हैं, जिनमें देश प्रेम के भाव स्वतः अपने आप फूट पड़ते हैं। उनकी अभिव्यञ्जनायें, सुस्पष्ट, कोमल एवं रहस्य पूर्ण हैं। उनकी सूझ बहुत ही निराली है और उसकी पकड़ बहुत ही चुस्त है। काव्य में विराट प्रकृति के साथ मनुष्य का सीधा सम्बन्ध भी स्थान-स्थान पर जोड़ा गया है जिसके काव्य में रस धारा स्वयं फूट निकली है। कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में राष्ट्रवाद और त्याग की झलक है। किन्तु उत्तर कालीन रचनाओं में भावावेश और मादकता का ही प्राधान्य है। प्रेमानुभूति विशुद्ध और वासना रहित है, क्योंकि वह वासना के ही भीतर से निःसृत होती है। देखिए —

'किन विन्ही घड़ियों में आँखें, तुमसे आँख-मिचौनी पाप हुआ !
आज वही वरदान निगोड़ा, आकर मुझ पर शाप हुआ ॥'

प्रेमावेश के कारण कवि अपना 'अमर तारुण्य का दान कुरबान' ही उचित समझता है तथा वह अपने 'तारुण्य का नीलाम, तारों के गोदाम में करना चाहता है। नवयुग के पानी के रूप में कवि की प्रगति स्वयं प्रतिदिन ही पड़ी है और 'वह' स्वयम् अपने से ही डरने लगी है। कवि के सरल व्यक्तित्व और उसकी मृदुता का भी उसके काव्य पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। कवि की स्वाभाविक एक सत्याग्रही के रूप में—जीवन की बाजी लगा देने में ही था। यही कारण है कि कहीं-कहीं कवि का 'स्वर' अत्यन्त उग्र, और एक प्रखर ही रहा है।

इनकी कविताओं के वर्गीकरण के तीन ठोस आधार हैं—

(१) देश प्रेम सम्बन्धिनी रचनाएँ
(२) प्रेमात्मक रचनायें
(३) नवीन काव्य धाराओं से सम्बन्धित रचनायें

गांधीवादी विचार धारा का सर्वाधिक प्रभाव कवि की देश प्रेम सम्बन्धिनी रचनाओं पर पड़ा है। ये कवितायें नवजागरण का सन्देश लेकर ऊर्जस्विता तेजस्विता और कर्मठता का पाठ पढ़ाने वाली हैं। स्वतन्त्रता संग्राम के 'एक सिपाही' का दैन्य तभी दूर हो सकता है, जब पुन: 'त्रेता युग' पृथ्वी पर उतर आवे ! वह कहता है —

"खींचो रामराज्य लाने को भू-मण्डल पर त्रेता !
बनने दो आकाश छेदकर उसको राष्ट्र—विजेता !!"

वह 'गुमराही' को पूजने के लिए तैयार नहीं है। वेदना और दुःख का सामञ्जस्य उसकी कविता की पंक्ति पंक्ति में है। 'कैदी और कोकिला' नामक कविता प्रेरणा प्रद है। उनके 'वेदना गीत गगन को भी' चुनौती दी है—
"अन्तस्तल के अतल वितल को, क्यों न बेध जाते हो ?
अरे वेदना गीत! गगन को, क्यों न छेद जाते हो ?"

'प्रेम के अमरत्व' के रूप में कवि की अपनी एक नवीन ही दिशा है। किन्तु उसका वह प्रेम संयोग में ही नहीं वियोग में भी है। कवि का प्रेम त्याग-मूलक है—उसका आधार ... है। यथा—

"मानो ... यमुना के दोनों तट,
ले लेकर ... लहरों की बाहें—
मिलने में ... प्रमपूर्ण कल-कल में
रोते ले ... मधुर-मलय आहें।
क्या मिलन ... र की, बिछुड़न की,
बानी समझ ... ने आय हो ?
खोने को पा ... ने आये हो।"

रहस्यवादियों की रहस्य भावना का उभार, छाया वादियों की विराट प्रकृति तथा प्रगतिवादियों का वस्तु वाद—तीनों का समन्वित रूप ही ... की विचार पद्धति है। किन्तु इन सबके ऊपर ... के देश प्रेम का स्वर है। 'झरने' के वर्णन में कवि का ... भाव शब्दचित्रता तथा कल्पना के सुन्दर सौन्दर्य का चित्रण है। देखिए —

'किस निर्मल मन के धन हो ?
एव भूले हो किस घर का ?

(शेष पृष्ठ २०० पर देखिए)

चिरहँटा और छरहटा का रहस्य

श्री चन्द्रबली पाँडे

उत्तर प्रदेश की हिन्दुस्तानी एकेडेमी से समारोह के साथ अभी एक कृति का प्रकाशन हुआ है जिसका नाम है 'जायसी ग्रन्थावली'। ग्रन्थावली का प्रकाशन कैसा भी हुआ, होगया, यही क्या कम है ? इससे कुछ तो अध्ययन का काम आगे बढ़ा। फिर इसके स्वागत में हमारा विरोध क्या ? हम भी सहर्ष इसका स्वागत करते हैं। किन्तु साथ ही सबको सावधान भी कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं कि इसका पाठ आँख खोल कर करें और 'प्रामाणिक तथा अधिकारी' सम्पादक की प्रतिभा को परख कर ही उसकी स्तुति में लीन हों अन्यथा इससे घोर अनर्थ का सम्भावना है। अनर्थ तो उसमें है ही, प्रच्छन्न चेष्टा भी उसमें कुछ कम नहीं, तनिक धीरज धर कर देखिए न। शास्त्रीय सम्पादकजी बताते हैं—

"(१) ३९.५ निर्धारित पाठ है: 'कतहुँ छरहटा पेखन लावा'। शुक्लजी का कहना है कि 'छरहटा' के स्थान पर 'चिरहँटा' और 'पेखन' के स्थान पर 'पंखिन्ह' होना चाहिए। किन्तु शुक्लजी का बताया हुआ यह पाठ न ग्रियर्सन की किसी हस्तलिखित प्रति में मिला था और न मुझे मिला है। शुक्लजी को, यद्यपि उन्होंने कहा नहीं है, यह पाठ नवलकिशोर प्रेस वाले उस संस्करण में मिला था, जिसकी पाठ-भ्रष्टता की स्वतः उन्होंने निन्दा की है। और 'चिरहँटा' का अर्थ उन्होंने 'बहेलिया' किया है। यह अर्थ भी उन्होंने किस प्रमाण पर किया है, यह अज्ञात है। न लोक-भाषा में यह अर्थ मिलता है, और न जायसी ने ही अन्यत्र कहीं इस अर्थ में शब्द का प्रयोग किया है। 'बहेलिया' के अर्थ में जायसी ने 'चिरिहार' शब्द का प्रयोग किया है :—

> कत चिरिहार ढुकत लेइ लासा। (७०-८)
> सुनि राम्हन बिनवा चिरिहारू। (७८-१)

यदि 'बहेलिया' अर्थ के लिए जायसी को कोई शब्द रखना होता तो वे 'चिरहँटे' के स्थान पर कदाचित् 'चिरिहरा' रखते :—

> कतहुँ 'चिरिहरा' पंखिन्ह लावा।

किन्तु लिपि की सम्भावनाओं के ध्यान से 'चिरिहरा' का 'चिरहँटा' या 'छरहटा' नहीं हो सकता, इसलिए 'चिरिहरा' पाठ भी मान्य नहीं हो सकता।"

(भूमिका, पृ० १०९-१०)

श्री माताप्रसाद गुप्त ने 'ग्रियर्सन', 'शुक्लजी' एवं 'जायसी' के घट को एक ही झटके में जान लो, किन्तु वे अभी तक न जान सके कि 'चिरहँटा' का अर्थ होता क्या है। दूर जाने की बात नहीं। 'ग्रियर्सन' के नाते अंग्रेजी के 'हंट' और 'हंटर' को ले लें और देखें यह कि 'हँटा' की व्याप्ति कितनी है। 'चिरहटा' और 'चिरहँटा' में 'हटा' और 'हँटा' का ही तो द्वन्द्व है ? तो कहीं की यात्रा क्यों करें ! यहीं अपने प्रधान डा० धीरेन्द्र वर्माजी से पूछ देखें कि यह वस्तुतः 'हृ' और 'हन' धातुओं का द्वन्द्व तो नहीं है। 'हन्ता' को कभी देखा या सुना है या नहीं ?

हाँ, 'लोक भाषा' में न सही, लोक में तो कभी आपने 'किल्हँटा' या 'किलहँट' को अवश्य देखा होगा। उसका अर्थ क्या है ! 'चिरहँटा' या 'हँटा' ही तो आपको खल रहा है ? सो यहाँ भी है ही। इसी को अँगरेजी के 'हंट' के साथ देखिए और समझ लीजिए कि आप किस की आलोचना में क्या लिख रहे हैं ?

अच्छा, आप यह भी लिखते हैं—

"अर्थ की दृष्टि से भी 'छरहटा पेखन लावा' विचारणीय है। 'छरहट' शब्द यद्यपि 'पद्मावत' के मूल पाठ के छन्दों में नहीं मिलता है, एक प्रक्षिप्त छन्द में मिलता है, जिसे ग्रियर्सन और शुक्लजी—दोनों ने अपने-अपने संस्करणों में मूल पाठ में सम्मिलित कर लिया है। ग्रियर्सन में वहाँ पाठ है :—

> खिन इक महँ 'छरहट' होइ बीता।
> दर महँ छरहि रहै सो जीता॥

और शुक्लजी में है —

खिन इक महँ 'भुरमुर' होइ बीता।
दर महँ चढ़ि जो रहै सो जीता॥

इस प्रसंग में उक्त नवलकिशोर प्रेस तथा कानपुर वाले संस्करणों का पाठ भी द्रष्टव्य है। नवलकिशोर प्रेस में है—

खिन इक महँ 'भुरमुट' हो बीता।
दर महँ चढ़ै जो रहै सो जीता॥

कानपुर में है —

खिन इक महँ भुरमुट हो बीता।
दर मह चढ़ै जो रहै सो जीता॥

ऐसा ज्ञात होता है कि प्रतियों का बहुमत और शब्द की सार्थकता देख कर शुक्लजी ने 'छरहट' के स्थान पर 'भुरमुट' पाठ को ही ग्रहण किया। 'भुरमुट' का अर्थ शुक्लजी ने किया है 'अँधेरा'। अँधेरा सन्ध्या का विरल अन्धकार 'भुटपुटा' कहलाता है, 'भुरमुट' नहीं, 'भुरमुट' शब्द 'छोटी भाड़ी' के अर्थ में और प्रायः 'भाड़ी' के साथ प्रयुक्त होता है। किन्तु यहाँ पर न 'अँधेरा' का कोई प्रसङ्ग है, और न 'भाड़ी' का। और एक चरण में 'अंधकार' हो कर समाप्त भी नहीं हो जाता, जैसा 'होइ बीता' से नितान्त स्पष्ट है, प्रसङ्ग 'छरहट' का ही है। और 'छरहट' की व्युत्पत्ति है 'छल+हट्ट'। 'छल' = इन्द्रजाल का 'हट्ट' = 'हाट'। यहाँ पर अङ्गद और हनुमान के पराक्रम के जो दृश्य आते हैं, महेश के घण्टे और विष्णु के शङ्ख के जो नाद सुनाई पड़ते हैं, समस्त दानव, राक्षस, 'अष्टौकुलनाग' जो जुटे हुए दिखाई पड़ते हैं, वे सब इस 'इन्द्रजाल' के ही अङ्ग हैं। यही 'छरहट' या 'छलहट्ट' वहाँ सिंघल वर्णन में भी आया है।" (वही, पृष्ठ ११०-११)

हमारा गुप्तजी से प्रश्न है कि किस 'कोश' में 'भुरमुट' का अर्थ 'छोटी भाड़ी' दिया गया है और किस 'अभिधान' में 'छल' का अर्थ है 'इन्द्रजाल'। 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में तो दिया गया है—

"झुरमुट-पु० [सं० झुट = झाड़ी] १—पास पास उगे हुए कई झाड़ या क्षुप। २—बहुत से लोगों का समूह। गरोह। ३—कपड़े से शरीर को चारों ओर से ढक लेने की क्रिया।

छल-पुं० [सं०] १—कपट का व्यवहार। धोखा। २—मिस। बहाना। ३—धूर्तता। ४—कपट।"

रही 'शुक्लजी' की बात, सो उन्होंने प्रत्यक्ष ही इसे 'लक्षणा' के रूप में लिया है शुद्ध 'अभिधा' के रूप में नहीं। हम इसे यहीं छोड़ गुप्तजी के मूल पाठ को देखना ठीक समझते हैं, और चौपाई में उनके उलझ जाने का अर्थ शुक्ल भर्त्सना समझते हैं।

डाक्टर माताप्रसाद गुप्तजी का यह भी कथन है—

'पेखन' शब्द के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। 'पेखना' = 'देखना' तो जायसी में बराबर आया ही है, तुलसीदास में 'पेखन' शब्द का भी 'तमाशे' या 'दृश्य' के अर्थ में सुन्दर प्रयोग हुआ है —

जग पेखन तुम्ह देखन हारे। -
विधि हरि सभु नचावन हारे॥

शुक्लजी 'पेखन' और उसके अर्थ से कदाचित् परिचित रहे होंगे, और उनके पास के कानपुर के संस्करण में 'पेखन' पाठ के साथ ही 'तमाशा' उसका अर्थ भी दिया हुआ था। इन अर्थों को ध्यान में रखते हुए यदि पंक्ति का अर्थ दिया जावे, तो होगा —कहीं 'छल की हाट' और 'खेल तमाशे' लोगों ने लगा रक्खे हैं।

और दूसरे चरण के 'कतहुँ पाखण्ड नाच नचावा' के प्रसंग से यही अर्थ विशेष संगत भी ज्ञात होता।"

(भूमिका, पृष्ठ १११)

'कतहुँ छरहटा पेखन लावा' का गुप्तजी ने अर्थ किया है— "कहीं 'छल की हाट' और 'खेल तमाशे' लोगों ने लगा रक्खे हैं।"

किन्तु क्या यही विलक्षणता न पूछा जा सकता है कि 'छरहटा' 'लावा' का कर्ता क्यों नहीं। 'छल+हट्ट' से 'छरहाट' बनेगा न ? तो फिर यह 'छरहटा' क्या ? ध्यान से देखिए। कहीं 'छलहट्ट' का परिणाम न हो। जो आपका निर्धारित पाठ है —

कतहुँ छरहटा पेखन लावा। कतहूँ पाखण्ड काठ नचावा॥

जायसी ने [३७] में कहा था—

पुनि देखिअ सिंघल कै हाटा।
नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा॥

कनक हाट सब कुँहकुँह लीपी ।
बैठ महाजन सिंघल दीपी ॥

और कहा था [३८] में—

पुनि सिंगार हाट धनि देसा ।
कइ सिंगार तहँ बैठी बेसा ॥

तो फिर आपकी इस 'छल की हाट' की स्थिति क्या है ? क्या यह भी 'कनक हाट' और 'सिंगार हाट' की भांति ही कोई हाट है ? जायसी का कहना है —

लै लै बैठ फूल फुलहारी । पान अपूरब धरे सँवारी ॥
साधा सबै बेचु लै गाँधी । बहुल कपूर खिरौरी बाँधी ॥
कतहूँ पंडित पढहिं पुरानू । धरम पंथ कर करहिं बखानू ॥
कतहूँ कथा कहै कछु कोई । कतहू नाच कोउ भलि होई ॥
कतहूँ छरहटा पेखन लावा । कतहू पाखँड काठ नचावा ॥
कतहू नाद सबद होइ भला । कतहू नाटक चेटक कला ॥
कतहुँ लाहु ठग विद्या लाई । कतहुँ लेहिं मानुस बौराई ॥
चरपट चोर धूत गँठिछोरा मिले रहहिं तेहि नाँच ।
जो तेहि नाँच सजग भा अगुमन गथ ता कर पै बाँच ॥

कहिए न, किस 'हाट' की यह लीला है ? 'सिङ्गारहाट' की ही न ? नहीं तो आप कह नहीं सकते । कारण कि 'लै लै बैठ' का पाठान्तर भी है —

"१ प्र० २, द्वि० ६, तृ० २ बैठ सिङ्गार हाट ।"

निदान कहना ही पड़ता है कि किसी भी दृष्टि से 'छरहटा' का अर्थ 'छल की हाट' करना ठीक नहीं । और

कतहू पाखण्ड काठ नचावा

को तो आपने न जाने किस पुण्य प्रेरणा से 'भूमिका' में कर दिया है—

कतहुँ पखण्डी काठ नचावा ।

क्या 'कतहू पाखण्ड काठ नचावा' का अर्थ करना आपके लिए सुगम न था ? हाँ—

कतहूँ नाटक चेटक कला

का अर्थ आपने क्या समझा ? कारण यह कि 'चेटक' का अर्थ होता है—

१ दास । २ दूत । ३ जादू । माया

और आपने 'छरहट की व्युत्पत्ति' दी है—

'छल + हट्ट' 'छल' = इद्रजाल की 'हट्ट' = हाट ।

'इन्द्रजाल' का सम्बन्ध 'जादू' या 'माया' से है न ? तो फिर आप का पद क्या ? रही 'शुक्लजी' की बात । सो प्रत्यक्ष ही उनका पाठ है—

कतहुँ चिरहँटा पखी लावा । कतहुँ पखण्डी काठ नचावा ॥
कतहू नाद सबद होइ भला । कतहू नाटक चेटक-कला ॥
(सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड १८)

जो यही 'कतहु पखंडी काठ नचावा' पाठ आपकी लेखिनी से कागद पर भी उतर आया और वह छप गया आपकी उसी सुसिद्ध 'भूमिका' में जिसमें 'शुक्लजी' के पाठ की खिल्ली उड़ाई गई है । शुक्लजी के पाठ का अर्थ स्पष्ट है । प्रेम का 'पक्षी' से भी कुछ नाता है, इसे कौन नहीं जानता ? तो फिर उस 'सिङ्गार हाट' में यदि वहाँ पक्षियों का आना भी हो गया तो कौनसी ऐसी बात हो गई कि आपको 'मूल' को छोड़ 'क्षेपक' की शरण लेनी पड़ी और 'भुरभुट' को 'भुटपुटा' समझना पड़ा ।

'शुक्लजी' का विनय है—

' इतनी बड़ी बड़ी कठिनाइयों को बिना धोखा खाए पार करना मेरे ऐसे अल्पज्ञ और आलसी के लिए असम्भव ही समझिए । अतः न जाने कितनी भूलें मुझसे इस कार्य में हुई होंगी, जिनके सम्बन्ध में सिवाय इसके कि मैं क्षमा माँगूँ और उदार पाठक क्षमा करें, और हो ही क्या सकता है ?' (वक्तव्य, पृष्ठ १०)

और आप अपने अभिमान को अपने 'वक्तव्य' में देखिए । पाठकों को उसके चक्कर में पड़ने की आवश्यकता नहीं, पकड़ के लिए इतना ही पर्याप्त है । हाँ, मूल ग्रन्थ का पाठ करें तो अच्छा ही है । कारण, इतने पाठान्तर अन्यत्र कहाँ ? श्रम की सराहना तो होनी ही चाहिए ।

नोट— श्रद्धेय पांडेजी की भाषा में यत्र तत्र हमने कुछ परिवर्तन किया है जिसके लिए हम उनसे क्षमा याचना करते हैं । विषय की उपयोगिता देख कर ही हमने इसे छापा है, अन्यथा ऐसा लेख हम 'साहित्य सन्देश' में प्रायः नहीं देते ।

—सम्पादक

दिनकरजी की नई कृति : रश्मिरथी

—१—

रश्मिरथी की युद्ध भावना

'रश्मि रथी' भी दिनकरजी की एक आग्नेय कृति है। इसमें स्थान-स्थान पर उनके ज्वलन्त पौरुष का दीप्तिमय उद्गार व्यक्त हुआ है। यद्यपि कथा-भूमि प्राचीन है, फिर भी कवि ने मौके पर समय और समाज के प्रति अपने विचार प्रकाशित किए हैं। यों तो मूलतः दिनकर की कविता में भावोत्तेजना ही पायी जाती है, विचारणा नहीं, किन्तु कुरुक्षेत्र के रचना-काल से ही उसमें विचारों की प्रौढ़ता आ गयी है। हाँ, वह विचार या चिंतन निष्कर्षात्मक नहीं, समस्यामूलक है, चूँकि 'कवि का शङ्काकुल हृदय ही मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोलता है।' यहाँ तो हमारा वर्ण्य विषय 'रश्मि रथी में युद्ध भावना' है फिर भी कुरुक्षेत्र की पृष्ठभूमि में जाना आवश्यक है क्योंकि कवि ने पूर्व ही इस कृति में युद्ध समस्या पर पर्याप्त विचार किया है।

श्री दिनकर युग की गति के साथ चलने वाले सत् कवि हैं। इनकी सामयिक जागरूकता श्लाघनीय है। इसलिए इनकी कृति में आज की युद्ध समस्या पर पूरी रोशनी पाने की उम्मीद की जा सकती है। युद्ध और शान्ति की समस्या के समाधान-हेतु आज प्रत्येक विचारक के हृदय और मस्तिष्क, एक साथ, आन्दोलित हैं। समस्या यह है कि क्या अब भी, जब कि मानव मस्तिष्क की परिधि बहुत अधिक विस्तृत हो चुकी है' रण की अहिंसा—भावना हिडिंबा की तरह मनुजता की छाती पर उन्मत्त हास करती रहेगी? युग की गति विधियों को परख कर कवि भी चीख उठता है—

> एक ही गोद के लाल, कोख के भाई,
> सत हो लड़ेंगे हो दो ओर लड़ाई?

कवि के सामने पहला प्रश्न उठता है कि युद्ध है क्या? क्या यह अनिवार्य है? क्या हिंसा मनुष्य की चिरन्तन सनातन भावना है? कवि ने कुरुक्षेत्र में भीष्म से कहलाया था कि युद्ध 'प्राकृतिक विकारों का विस्फोट' है और युद्ध की भावना संक्रामक है। कवि ने 'हार ही में विजय की प्राप्ति' पायी थी, युद्ध के अन्तराल में न्यायोचित अधिकार की गूँज पायी थी। और, उसने माना था कि रण न्याय के हेतु होता है, अतः वरेण्य है। किन्तु, रश्मि रथी में कवि युद्ध अधिक पते की बात बोलता है—

> रण केवल इसलिए कि राजे और सुखी हों, मानी हों,
> और प्रजाएँ मिलें उन्हें, वे और अधिक अभिमानी हों।

आधुनिक शासन प्रणाली के प्रशंसक यह खण्डन कर सकते हैं कि आज तो राजे नहीं हैं। हाँ, राजे तो नहीं, किन्तु राजसत्ता अब भी है। भले ही, अब गुलामों की लड़ाई अथवा कुरुक्षेत्र की तरह व्यष्टि-केन्द्रित लड़ाई न हो, पर लड़ाई होगी। आज के युद्ध में अन्तर यह है कि व्यक्ति के आसन पर 'वाद' आसीन हो गया है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध बाजार जीतने के लिए हुए थे, तृतीय विश्व युद्ध में साम्यवाद और साम्राज्यवाद भिड़ेंगे—अमर और रूसेल बलात्‌ट्री बनकर लड़ेंगे। ठीक, जिस तरह युद्ध के साध्य में क्रोध और क्रमिक रूपान्तर हुआ, उसी तरह युद्ध के साधन में भी। अगर कुरुक्षेत्र का घटोत्कच अपने प्रतिभट पर शिलाखण्ड फेंकता था तो आज का विज्ञान-वादी घटोत्कच वायुयानों पर बैठ कर बम गोले फेंकता है। यह साध्य तथा साधन का रूपान्तर तथा परिष्कार है, लेकिन युद्ध की भावना ज्यों की त्यों बनी हुई है। श्री दिनकर जी अपनी पहली साँस में कहते हैं :—

> अगर पत्थर से लड़ो, लड़ो किटकिटा नखों से दाँतों से,
> या लड़ो ऋक्ष के रोम गुच्छ पूरित वज्रीकृत हाथों से,
> या चढ़ विमान पर नर्म मुट्ठियों से गोलों की वृष्टि करो।
> ये तो साधन के भेद, किन्तु, भावों में तत्त्व नया क्या है?
> मार गई पूँछ रोमान्त भरे, पशुता का मरना बाकी है।
> बाहर बाहर तन सँवर चुका, मन अभी सँवरना बाकी है।

यानी, कवि युद्ध को एक पाशविक प्रवृत्ति मानता है।

दूसरा प्रश्न उठता है कि यदि युद्ध स्वाभाविक है, तो वह नैतिक या अनैतिक—धार्मिक है या अधार्मिक? कुरुक्षेत्र में कवि ने युद्ध की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए बतलाया

है कि ज्वलन्त प्रतिशोध की भावना से प्रबुद्ध जीवन्त जाति सदर्प हो धर्म युद्ध है। इस तरह कवि ने युद्ध को धर्म विहित माना है। संक्षेप में, अनय और अत्याचार के विरुद्ध न्याय सस्थापन के लिए तलवार उठाना नैतिक और धर्म-समर्थित है। किन्तु, रश्मिरथी में कवि की भावना ने दूसरी मोड़ ली है। इसमें युद्ध की प्रलयकारिता और संहार से कवि अधिक भीत और त्रस्त दिखाई पड़ता है। उसका परिवर्तित दृष्टिकोण बोल उठता है—

है वृथा धर्म का किया समय करना विग्रह के साथ प्रथन
करुणा से कढ़ता धर्म विमल है मलिन पुत्र हिंसा का रण।

इतना ही नहीं, वह उन धार्मिकों से भी भिड़ जाता है (जिनमें रश्मि रथी के पूर्व वह स्वयं भी एक था) जो न्याय और नीति के नाम पर युद्ध को धर्मयुद्ध कह कर गौरवान्वित करते हैं। कवि उन धर्म व्रतियों से प्रश्न करता है —

हो जिस धर्म से प्रेत कभी वह कुत्सित कर्म करेगा क्या ?
बर्बर कराल दंष्ट्री बनकर मारेगा और मरेगा क्या ?

तीसरा प्रश्न है कि वस्तुतः शूर धर्म क्या है ? हिंसा का तामस पूजन या अहिंसा का सात्विक अर्चन ? कुरुक्षेत्र में कवि ने शूर-धर्म की इस प्रकार व्याख्या की थी —

शूर धर्म है अभय दहकते,
　　अंगारों　पर　चलना।
शूर धर्म है शोणित असि पर,
　　धर　कर　पाँव　मचलना।

किन्तु, कुरुक्षेत्र के प्रणयन के उपरान्त कवि सोचता है कि अगर शोणित असि पर पाँव धर कर मचलना 'शूर धर्म' है तो निडर होकर शाणित असि की चोट अपनी गर्दन पर सह लेना महान (!) 'शूरधर्म' है। इस लिए रश्मिरथी में वह प्रश्न करता है—

पर हाय, वीरता का सम्बल रह जायेगा धनु ही केवल ?
या शान्ति हेतु शीतल शुचि श्रम भी कभी करेंगे वीर परम ?

वस्तुतः अहिंसा का सात्विक अर्चन, हिंसा के तामस पूजन की अपेक्षा अधिक कष्ट साध्य और श्रेयस्कर है। गाँधीजी ने भी अपनी अहिंसा की व्याख्या करते हुए कहा था कि जो मनुष्य अक्षमता से लूला और पंगु है वह अहिंसा के पथ का पांथ नहीं बन सकता। अस्तु, यहाँ पर हिंसक शूरधर्म का प्रशस्ति गायक कवि अहिंसा से प्रभावित दीख पड़ता है। और, हम कह सकते हैं कि रश्मिरथी में हम हिंसा तथा रण से अहिंसा और शान्ति की ओर एक महान एवं सात्विक प्रयाण पाते हैं। मनुष्य स्वभाव से ही शान्ति-प्रिय जीव है। आवेश के क्षणों में कुछ समय तक वह शारीरिक और मानसिक विकारों से पराभूत होकर हिंसक बन जाता है। अर्थात् हिंसा मनुष्य का स्वभाव सिद्ध गुण नहीं, उसका क्षणिक आवेश मन्थन है।

अहिंसा पर विचार करते समय कवि ने कुरुक्षेत्र में एक गूढ़ प्रश्न उपस्थित किया था—

क्षमा शोभती उस भुजङ्ग को
　　जिसके　पास　गरल　हो।
उसको क्या जो दन्तहीन,
　　विषरहित, विनीत, सरल हो ?

तात्पर्य यह कि अहिंसा तो कायरों और पौरुषहीनों का कवच कहला सकती है। अहिंसा तब वरेण्य और पूज्य हो सकता है, जब वह शक्तिवानों का आभूषण हो। इसका विस्तार में उत्तर देना बेकार है, चूँकि गाँधी के नेतृत्व का एक युग ही इसका जीवन्त प्रमाण है कि सत्य और न्याय पर आधारित अहिंसा में स्वयं एक अलौकिक और दुर्दम शक्ति है, जिसके लिए साधक की ठोस साधना अपेक्षित है, उसकी पूर्व अर्जित भौतिक शक्ति नहीं।

अबतक के अध्ययन और विश्लेषण से यह सिद्ध हो चुका है कि रश्मिरथी का कवि युद्ध से ऊब चुका है। कल्पना की आँखों से वह कुरुक्षेत्र की लोहित कीच देख कर विस्मय से बोल उठता है—

वह चली मनुज के शोणित की धारा पशुओं के पग धोकर!

युद्ध विमुखता का अर्थ शान्ति सस्थापन है। अतः हमें यह देखना है कि कवि ने शान्ति सस्थापन का क्या रास्ता बतलाया है। तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावना से त्राहित प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति उससे यह प्रश्न पूछना चाहेगा। किन्तु, इसके उत्तर के लिए हमें हताश होना पड़ता है। उत्तर की जगह पुस्तक के अन्त में कवि अपनी समस्या को पुनः दुहरा देता है—

मनुज मनुजत्व से कब तक लड़ेगा ?

काव्य का अन्त भी समस्यामूलक है, जिसमें हमारे जिज्ञासु हृदय को परितोष नहीं मिलता। यद्यपि कवि अपनी सीमित कथा भूमि के क्षेत्र में आबद्ध था, फिर भी उससे कुछ अधिक आशा की जाती थी। रश्मिरथी के कवि की हालत अङ्कगणित के उस विद्यार्थी से मिलती-जुलती है, जो समूचे प्रश्न को समझ कर भी उत्तर नहीं लिख पाता।

—विमल बी० ए०

—२—

रश्मिरथी में क्या है?

श्री दिनकर कुरुक्षेत्र के बाद प्रबन्ध काव्यों की ओर मुड़े हैं। प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ उसी का परिणाम है। इसमें दानवीर कर्ण का उज्ज्वल चरित्र बड़ी ओजपूर्ण शैली में चित्रित किया गया है। पूरी पुस्तक में सात सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में कर्ण के युद्ध कौशल, पाण्डवों से तनातनी और कृपाचार्य की चिन्ता का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में परशुराम के द्वारा कर्ण का तिरस्कार, ब्रह्मास्त्र की शक्ति के शाप द्वारा कुण्ठित करना और ब्राह्मण समझ कर ज्ञान देने तथा शूद्र समझकर उसे हर लेना वर्णित है। तृतीय सर्ग में कृष्ण द्वारा कर्ण को अपनी ओर मिलाना, कर्ण का मित्र दुर्योधन से विश्वासघात न करने के निर्णय तथा क्रुद्ध होकर युद्ध के लिए कहकर चले जाने का उल्लेख है। चतुर्थ सर्ग में इन्द्र का विप्र रूप में कर्ण से कवच कुण्डल माँगना दिखाया है। पञ्चम-सर्ग में कुन्ती का कर्ण को उसकी उत्पत्ति का ठीक हाल बताकर अपनी ओर करने और कर्ण के अपने निश्चय पर दृढ़ रहने का वर्णन है। षष्ठ सर्ग में कर्ण के युद्ध में विजयी होने का वर्णन है और सप्तम सर्ग में कर्ण के युद्ध में ही हत होने का वर्णन है। पूरे काव्य में इस बात का प्रतिपादन है कि मनुष्य जन्म से बड़ा नहीं होता, मानवीय गुणों से बड़ा होता है। कर्ण ने अपने तप संयम और चरित्र की उच्चता से विश्व के महापुरुषों में स्थान प्राप्त किया और प्राण देकर भी अपने युग की रक्षा की। उसका निश्चय देखिए—

> अवाचन हूँ विपत्ति की दृष्टि में दोषी बड़ा हूँ
> विधाता से किए विद्रोह जीवन में खड़ा हूँ
> स्वयं भगवान मेरे शत्रु को ले चल रहे हैं
> अनेकों भाँति से गोविन्द मुझको छल रहे हैं
> मगर राधेय का स्यन्दन नहीं तब भी रुकेगा
> नहीं गोविन्द को भी युद्ध में मस्तक झुकेगा
> बताऊँगा उन्हें मैं आज नर का धर्म क्या है
> समर कहते किसे हैं और जय का मर्म क्या है।

जाति-पाँति का विरोध करते हुए वह कहता है—

> जाति-जाति रटते जिनकी पूँजी केवल पाखण्ड।
> मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड॥

बाहुबल का अभिमानी कर्ण अपने चरित्र से आधुनिक युग की ऊँच नीच की समस्या का समाधान कर देता है। हमारा विश्वास है कि यह काव्य हिन्दी में अपने ढङ्ग का अकेला है। दिनकरजी की भाषा शैली की प्रशंसा करना ही व्यर्थ है। भाषा का ऐसा सरल और भाव गाम्भीर्य युक्त प्रयोग हिन्दी में किसी दूसरे कवि में नहीं है। अनेक स्थलों पर कवि की प्रतिभा की धाक स्वीकार करनी पड़ती है। काव्य ग्रन्थ संग्रहणीय और पठनीय है।*

—कमलेश एम० ए०

* रश्मिरथी—रचयिता—श्री दिनकर, प्रकाशक—अजन्ता प्रेस लिमिटेड, नया टोला, पटना। पृष्ठ १८८, मूल्य २)

(पृष्ठ १६४ का शेष)

> है कौन वेदना? बोलो!
> कारण मेरा करुण स्वर का?"

इस प्रकार चतुर्वेदीजी देशानुराग का गीत गाते हुए भी प्रेमात्मक एवं रहस्यात्मक रचनायें लिखने वाले हिन्दी के प्रथम कवि हैं। इनकी कला-कृतियों का आधार जलन, टीस, कसक एवं क्षोभ है। इनकी कवितायें युवकों को छटपटाने वाली तथा भावों में आग भर देने वाली हैं। कविता के क्षेत्र में ये सच्चे युवक हृदय सम्राट् तथा राष्ट्र कवि हैं। कविता का कलाकार कभी कभी कारागारों के भीतर से झाँकता है और कभी वह युवकों को नव जागरण का सन्देश देता हुआ बलिदान और आत्मोत्सर्ग का पाठ पढ़ाता है।

आलोचना

प्रसाद की नाट्य-कला एवं स्कन्दगुप्त समीक्षा—लेखक-प्रो रामप्रकाश अग्रवाल एम० ए०, प्रकाशक-श्री त्रिभुवन प्रकाश अग्रवाल, ३०१, बाउण्ड्री रोड मेरठ। पृष्ठ २०८, मूल्य २।)

इस पुस्तक में लेखक ने ६ अध्याय बनाये हैं—किन्तु वस्तुतः तीन ही भाग हैं। लेखक ने पहले तो साधारणतः नाट्य शास्त्र की चर्चा की है फिर प्रसाद के नाट्य साहित्य की और अन्त में स्कन्द गुप्त की। प्रत्येक अध्याय लेखक ने अध्ययन और विचार के उपरान्त लिखा है, यह स्पष्ट विदित होता है। स्कन्दगुप्त पर तो बहुत विस्तृत विचार किया गया है, नाट्य शास्त्र का उल्लेख भी 'स्कन्दगुप्त' के माध्यम से ही हुआ है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों को ठीक ठीक हृदयंगम करने के लिए तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का ज्ञान भी अनिवार्य है। इस लेखक ने स्कन्दगुप्त कालीन भारतीय चित्र देकर सोने में सुगन्ध भर दी है। पुस्तक प्रसाद के और विशेषतः स्कन्दगुप्त के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

साहित्य विवेचन—लेखक-श्री क्षेमचन्द्र सुमन तथा योगेन्द्र कुमार मल्लिक, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट दिल्ली ६। पृष्ठ ३६८, मूल्य ७)

इस पुस्तक में साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, गद्य गीत, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखा चित्र, स्केच, रिपोर्ताज, समालोचना शीर्षकों से ग्यारह अध्यायों में वर्तमान साहित्य के रूपों पर विचार किया गया है। प्रत्येक अध्याय में विचार का एक क्रम विदित होता है। पहले लेखक ने परिभाषा पर विचार किया है, इसमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों का उल्लेख हुआ है, और इसमें संस्कृत अंग्रेजी के प्रभूत उदाहरणों को देने में कोई संकोच नहीं दिखाया गया। हिन्दी के प्रामाणिक लेखकों के मतों का भी समावेश किया गया है। इस परिभाषा और उसके विवेचन तथा वर्गीकरण के उपरान्त, हिन्दी साहित्य के इतिहास से उसकी पुष्टि दिखायी गयी है तथा प्रगति भी। इसमें आधुनिक युग के साहित्य को प्रधानता दी गयी है। इस प्रकार आलोचना शास्त्र के सब लेखकों ने हिन्दी इतिहास के साथ वर्तमान साहित्य के स्वरूप का भी ज्ञान कराने की चेष्टा की है। पुस्तक कलेवर और वस्त्र शोभा के कारण आलमारी में भी शोभा बढ़ायेगी, पढ़ने में तो उपयोगी है ही। —सत्येन्द्र

उपन्यास सिद्धान्त—ले०-श्री श्याम जोशी, प्रकाशक-मोहन न्यूज एजेन्सी, कोटा। पृष्ठ ६८, मूल्य ।।।)

यह पुस्तक मैंने की रानी एक दृष्टि का भूमिका का एक अंग है। सिद्धान्त सभी उपन्यासों पर लागू होते हैं और इस दृष्टि से इसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी न्याय सङ्गत है। इस पुस्तक में उपन्यास की रचना और सङ्गठन के सिद्धान्तों के अतिरिक्त संक्षिप्त विकास क्रम भी दिया हुआ है।

साहित्य-सर्वस्व—लेखक-श्री हरिराम तिवारी, प्रकाशक-संस्कृत सदन, कोटा। पृष्ठ १२१, मूल्य १॥)

।। हरिरामजी तिवारी ने एक अध्यापक के नाते विद्यार्थियों को साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन और उनका विविध व्याख्याओं में आलोचनात्मक स्पष्टीकरण दिया है। इसमें रस, अलङ्कार, छन्द, शब्दशक्तियों, काव्य के दोषों आदि के विवरण के साथ साहित्य के विविध वादों

और प्रमुख कवियों की कृतियों का आलोचना दी है। एक प्रकार से यह सब निबन्ध, स्फुट रूप से लिखे गये हैं उनमें कोई पारस्परिक तारतम्य नहीं है तथापि ये विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसमें आलोचक की दृष्टि सन्तुलन और न्यायपूर्ण है। —गुलाबराय

पथिक : एक सरल अध्ययन—लेखक-बैसाखि श्री रामनु गुप्त, प्रकाशक-लक्ष्मी हिन्दी विद्यालय, बिलक्लू रिवेट। पृष्ठ संख्या ५२ + २०१ = २५३, मूल्य १॥)

'पथिक' श्री रामनरेश त्रिपाठी का सुप्रसिद्ध खण्ड-काव्य है जिसकी रचना गान्धीवादी आदर्शों को लक्ष्य में रख कर की गई थी। सच तो यह है कि इस काव्य के पथिक स्वयं बापूजी थे जिन्होंने इस कृति को समय निकाल कर न केवल स्वयं पढ़ा बल्कि सर लल्लू भाई सांवलदास को स्वयं पढ़ कर सुनाया भी था। 'पथिक' में कवि ने बापू और भारत के भविष्य की कल्पना की थी। यह काव्य उत्तर और दक्षिण भारत की कई परीक्षाओं में पाठ्य ग्रन्थ के रूप में नियत है। लेखक ने इस पुस्तक पर टीका लिख कर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करने वाले परीक्षार्थियों के लिए भी मार्ग खोल दिया है। टीका के प्रारम्भ में ५२ पृष्ठों की भूमिका है जिसमें पथिक के प्रणेता का परिचय, कथा-सार, चरित्र चित्रण, प्रश्नोत्तर, 'पथिक' शीर्षक की उपयुक्तता, प्रकृति वर्णन तथा पथिक में गांधीवाद पर विशद विवेचन है।

राज्य श्री : एक समीक्षा—प्रो० वासुदेव एम० ए०, प्रकाशक-भारती भवन, बाँकीपुर, पटना। पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य १)

प्रस्तुत समालोचनात्मक कृति में लेखक ने सभी दृष्टियों से 'राज्य श्री' नामक नाटक पर विचार किया है। अन्त में कुछ महत्वपूर्ण पद्यों की व्याख्या तथा प्रश्न भी दे दिये गये हैं। प्रसाद के नियतिवाद का विवेचन करते हुए लेखक ने लिखा है—"प्रसादजी के जिसे हम Fate कहते हैं, वही नियति है" किन्तु यदि देखा जाय तो प्रसाद का नियतिवाद भाग्यवाद नहीं है। मई सन् १९५१ के पत्र में श्री रायकृष्णदास ने मुझे सूचित किया था कि "प्रसादजी का नियतिवाद न भाग्यवाद है और न शैवागमों का शास्त्रीयवाद विशेष। वह प्रसाद साहित्य की एक अनूठी देन है। उसे समझने के लिए पश्चिमी नाटककारों का 'डेस्टिनी' और शैवागमों की 'नियति' दोनों का स्वरूप ध्यान में रखना पड़ता है। प्रसाद का लीलामय आनन्द और आधुनिक युग का विजयवाद 'आप्टिमिज्म' भी व्याख्या करने में सहायता देते हैं। अध्ययन की दृष्टि से प्रसादजी का नियतिवाद आधुनिक युग की साहित्यिक आवश्यकता है। उस पर विश्व साहित्य और भारतीय परम्परा दोनों का प्रभाव है। उसमें अध्यात्म और इहलोकवाद दोनों का समन्वय है। वह शास्त्र से ली हुई विचार धारा नहीं है, उसमें कवि की शुद्ध अनुभूति है। वह प्रसादजी की अपनी विलक्षण वस्तु है जिसने आनन्दवाद और कर्मयोग को पुष्ट किया है। तुलनात्मक अध्ययन से ही नियति की व्याख्या स्पष्ट हो सकती है। पश्चिम में प्राय नियति क्रूर देख पड़ती है पर प्रसादजी की नियति पूर्ण लीलामयी है। वह करुणा और दया की मूर्ति है।" आशा है विद्वान आलोचक इस व्यापक दृष्टिकोण से भी नियतिवाद पर विचार करेंगे।

कुल मिलाकर पुस्तक प्रसाद-साहित्य के अध्येताओं तथा विशेषतः छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

माध्यमिक हिन्दी रचना—ले०-प्रो० वासुदेव नन्दन प्रसाद, प्रकाशक-भारती-भवन, बाँकीपुर, पटना। पृष्ठ संख्या १२५, मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक पटना विश्वविद्यालय के आई० ए०, आई० एस सी० तथा आई० कौम० के विद्यार्थियों को लक्ष्य में रख कर लिखी गई है जिसमें व्याकरण, निबन्ध, अनुवाद आदि सभी उपयोगी विषयों का समावेश किया गया है। किन्तु स्थान स्थान पर विद्वान् लेखक से कुछ प्रमाद हो गये हैं जिनकी ओर निर्देश करना आवश्यक है। 'अहर्निश' में विद्वान् प्रोफेसर कर्मधारय समास मानते हैं किन्तु इस पद में द्वन्द्व है। 'पङ्कज' में भी बहुव्रीहि नहीं, तत्पुरुष समास है। इसी प्रकार 'दही बड़ा' में द्वन्द्व नहीं, मध्यमपदलोपी (तत्पुरुष समास) है। 'सशङ्क' शब्द को अशुद्ध और 'साशङ्क' को लेखक शुद्ध मानते हैं किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो 'सशङ्क' और 'साशङ्क' एकार्थक हैं,

'सर्वाङ्गित' अशुद्ध है। 'राष्ट्रिय' संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, हिन्दी में 'राष्ट्रीय' ही अधिकतर प्रयुक्त होता है। 'पौर्वात्य' के स्थान पर 'पौरस्त्य' शुद्ध प्रयोग है। पुस्तक में और भी बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनका दूसरे संस्करण में सुधार होना चाहिए।

कवि आरसी की काव्य साधना—ले०-श्री प्रताप साहद लिहार, प्रकाशक-तारामण्डल, ४७ जकरिया स्ट्रीट, कलकत्ता। पृ० सं० १५१, मूल्य २॥)

श्री आरसीप्रसादसिंह बिहार के प्रसिद्ध कवियों में से हैं। उन्हीं की काव्य साधना का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। प्रारम्भ में कवि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जिसे देख कर लगता है जैसे किसी फार्म की खानापूरी कर दी गई हो। काव्य प्रवृत्ति, विचार सौन्दर्य और कला नैपुण्य—इस पुस्तक के महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं। आलोचक आचार्य शुक्ल की समीक्षा शैली से प्रभावित हैं। पुस्तक का साज सज्जा नयनाभिराम है।

पथिक एक समीक्षा—ले०-प्रो० वासुदेव एम० ए०, प्रकाशक-भारती भवन, बाँकीपुर, पटना। पृ० सं० १००, मूल्य १)

परीक्षार्थी छात्रों के उपयोग के लिए प्रोफेसर वासुदेव ने जो पुस्तिकाएँ लिखी हैं, उन्हीं में से यह भी एक है। इसमें श्री रामनरेश त्रिपाठी के सुप्रसिद्ध खण्ड काव्य 'पथिक' की सभी दृष्टियों से समीक्षा की गई है। अन्त में प्रत्येक सर्ग के महत्त्वपूर्ण पदों की व्याख्या की गई है तथा कुछ प्रश्न दिये गये हैं जिनके साथ उत्तरों के संकेत भी हैं।

—कन्हैयालाल सहल

निबंध

विचार वल्लरी—सम्पादक-श्री जैनेन्द्रकुमार, प्रकाशक-रामकमल प्रकाशन नई दिल्ली। पृष्ठ २००, मूल्य २॥)

पुस्तक में २३ निबंध हैं जो भारत की कई महान् आत्माओं तथा विचारशील लेखकों द्वारा लिखे गये हैं। लेखों के चयन में सम्पादक का विशेष दृष्टिकोण रहा है। वे चाहे मुंशी प्रेमचन्द, आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सम्पूर्णानन्द, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी और स्वयं जैनेन्द्र जी आदि हिन्दी लेखकों और विद्वानों के लेख हों, और चाहे गांधी जी, स्वा० विवेकानन्द, बंकिम, विनोबा, कालेलकर आदि हिन्दी से इतर भाषा भाषी महानपुरुषों के अनूदित लेख हों, 'विचार वल्लरी' के रूप में यह एक जीवन साहित्य है। महात्मा गांधी जी का 'नीतिधर्म', डा० भगवानदास का 'सर्वधर्म समन्वय', आचार्य विनोबाभावे—जीवन और शिक्षण, बंकिमचन्द्र—मनुष्यत्व क्या है, विवेकानन्द—कर्तव्य क्या है, डा० सम्पूर्णानन्द—सुख की खोज—आदि निबंध नीति धर्म आचार,' 'शिक्षा की परम सार्थकता' एवं 'जीवनानुभूति की सहज स्फुरणा के परिचय हैं, वहां इसी पक्ष में विराजमान श्री बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रायकृष्णदास, डा० सत्येन्द्र, श्री चन्द्रमौलि शुक्ल आदि हिन्दी लेखकों के क्रमशः मन की दृढ़ता, धोखा, करुणा, धीर, कल्पना, चेतना प्रवाह—शीर्षक लेख पठनीय, मननीय और अनुकरणीय हैं। 'सामाजिक भूमिका' में आचार्य काका कालेलकर को ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि में भारतीय संस्कृति की व्याख्या तथा 'धर्मस्य तत्व निहितं गुहायाम्' में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भारतीय सभ्यता के तत्वों का विवेचन पठनीय है। अन्य लेख भी इसी कोटि में महत्व के हैं, जो बौद्धिक चमत्कार के परिचय से अधिक आत्मिक और सामाजिक विकास की भावना से परिपूर्ण हैं।

—रमेश वर्मा

कविता

ज्वाला—लेखक-श्री रामकुमार गुप्त, प्रकाशक-शिवशर्मा प्रकाशन मन्दिर, सम्भल। पृ० १२८, मूल्य २॥-)

लेखक ने इस संग्रह की कविताओं में अपने क्रान्तिकारी विचार व्यक्त किये हैं। पुस्तक के नामानुकूल ही इसके भाव हैं। जीवन के अभावों ने इस ज्वाला को और भी तीव्र और उग्र कर दिया है और विषमताओं से कवि पीड़ित हो उठा है। कवि ने जीवन की काली छाया ही देखी है इसीसे उसको ईश्वर में विश्वास नहीं है। जीवन में धूप और छाँह दोनों ही हैं। केवल छाँह पर ही बल देना एकांगिता का पोषण है। फिर भी छाँह भी सत्य का एक अंग है। उस अंग के व्यक्त करने में कवि ने कौशल से काम लिया

है। कविता में प्रवाह है। इन पर निराला जी की शैली का प्रभाव प्रदर्शित होता है।

अग्निमज्योति—लेखक-श्री तरुणसिंह भटनागर, प्रकाशक-श्री एन० पी० भटनागर, उदयपुर। पृष्ठ १३०, मूल्य ॥=)

इस छोटी सी पुस्तक में महात्मा गाँधी के निधन और स्वर्गारोहण का काव्यात्मक वर्णन है। जहाँ तक स्तवन का प्रश्न है वहाँ तक ठीक है वह एक पूजा के अधिकारी के प्रति है किन्तु इसमें जो अलौकिक तत्व है उसको लेखक के हृदयोल्लास का ही द्योतक समझना चाहिए। हम लेखक की सुन्दर भावनाओं की सराहना करते हैं। —गुलाबराय

चयन—ले०-श्री कृष्णबिहारीलाल पाण्डेय और प्रकाश चन्द्र, प्रकाशक-मध्यभारत साहित्यकार संसद, इन्दौर। पृष्ठ ३८, मूल्य ।)

यह काव्य संग्रह मालवे के दो प्रमुख कवियों की कविताओं को लेकर बना है। पाण्डेयजी प्रौढ़ हैं और उज्वल जी तरुण। एक में हास्य का निर्झर है और दूसरे में करुणा की प्रचुर जल राशि, जिसमें आशावाद के मोती और वद्धापन की भी झलक खिलती है। पाण्डेयजी के हास्य में शिष्टता और व्यंग्य अभूतपूर्व सम्मिलित है और उनकी रचनाएं गुदगुदी पैदा करने के साथ साथ समाज की बुराइयों का भी पर्दाफाश करती हैं। उज्वलजी की अभिव्यक्ति बड़ी सरल और मार्मिकता लिए हुए है और उनके उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है।

प्रगति—ले०-श्री दुर्गाप्रसाद रस्तोगी, प्रकाशक-आदर्श प्रकाशन मन्दिर, दारागंज, प्रयाग। पृष्ठ २००, मूल्य ७)

प्रस्तुत पुस्तक में कवि की ५१ कविताओं का संग्रह है। ५२ वीं एक 'प्रगतिकृन्तला' नामक लम्बी कविता है। इन कविताओं में आरम्भ की लगभग आधी कविताएँ प्रकृति से सम्बन्धित हैं और शेष मानव जीवन के ऊपर प्रकाश डालती हैं। कविताएँ साधारण हैं और कोई नवीनता—न शैली की न भाव की—रह है। इतिवृत्तात्मकता के आधिक्य के कारण कविताओं में सरसता उतनी नहीं आ पाई, जितनी कि अपेक्षित थी। आरम्भ में कवि ने भूमिका में प्रगतिवाद के विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, वे कुछ भ्रामक हैं। अच्छा होता वे कवि तक ही सीमित रहते। इतना होने पर भी पुस्तक की छपाई सफाई और गेटअप के कारण वह पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा सकती है साथ ही कुछ पाठकों का मनोरञ्जन भी कर सकती है।

गुनगुन—ले०-श्री रामेश्वरदयाल दुबे, प्रकाशक-सुगवाला प्रकाशन, नयाबाजार, ग्वालियर। मूल्य २)

'गुनगुन' की कविताएँ विभिन्न विषयों पर हैं। कभी कवि किसान मजदूरों की दुर्दशा का चित्रण करता है, कभी देश के गौरव के गीत गाता है और कभी प्रेम पर अपने विचार प्रकट करता है। वैसे कवि का ध्यान जनता के दुख दर्द की ओर ही अधिक है, जो समय का प्रभाव है। कला-पक्ष भले ही इन कविताओं का कमजोर हो, कवि का भावानुभूत सघन है। कुछ कविताएँ केवल ५४-५५ हलकी हैं। ऐसी कविताएँ न रख कर चुनी हुई कविताएँ रखी जातीं तो यह संग्रह अच्छा हो जाता परन्तु लेखक सब प्रकार की बानगी देने के पक्ष में होने से ही ऐसा करने को विवश हुआ जान पड़ता है।

मेघगीत—श्री रमेशचन्द्र झा, प्रकाशक-भारती प्रकाशन, सुगौली चम्पारन, बिहार। पृष्ठ ६४, मूल्य १।)

कवि ने मेघ सम्बन्धी ३१ रचनाओं के इस छोटे से काव्य संग्रह को मेघगीत नाम दिया है। बादल, चातक, मयूर, बिजली का रूप आषाढ़, सावन और भादों के महीनों में वर्षा द्वारा प्रकृति का उद्दिगत सुन्दरता और इस मस्त वातावरण में प्रिय के प्रति अपनी अन्तर की भावना का निवेदन इतनी कुशलता के साथ चित्रित हुए हैं कि कवि की अद्भुत कल्पना की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। कभी कविताओं में नई नई उद्भावनाएँ और माधुर्य गुण से पूर्ण भाषा का सुन्दर रूप देखते ही बनता है। श्री रामदयाल पाण्डेय की भूमिका ने पुस्तक को और भी महत्व पूर्ण बना दिया है। —कमलेश एम० ए०

उपन्यास

• वीरबल—लेखक-श्री रामचन्द्र ठाकुर एम० ए०, अनुवादक श्री दाउदयाल लाल 'दर्शन', प्रकाशक-वोरा एण्ड क० पब्लिशर लि०, बम्बई पृष्ठ २७२ मूल्य ४॥)

अकबर और बीरबल के विनोद को लेकर देश में सस्ते साहित्य की तो धूम है लेकिन उस साहित्य को जो 'खोमचेवाजी' की तरह बिकता है एक मित्र अभिरुचि की बात मानकर हमारा शिक्षित समाज उपेक्षा करता रहा है, यद्यपि राजा बीरबल और अकबर उनके भी विनोद का सामग्री तो हैं ही।

श्री ठाकुर की यह कृति उस उपेक्षा को दूर ही नहीं करती वरन 'बीरबल' को सुरुचि और सुपठन की सामग्री बनाकर सभ्य समाज में प्रवेश कराती है। सम्पूर्ण पुस्तक आदि से अन्त तक राजा बीरबल तथा शाहन्शाह अकबर के जीवन चरित्रों पर एक सुन्दर प्रकाश डालती है और उस जमाने की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति का सुन्दर अवलोकन भी करा देती है। पुस्तक के कितने ही अंश तो इतने रोचक हैं कि बार-बार पढ़ने को जी चाहता है। 'बीरबल' की रोचकता जहाँ उसकी हाजिर जवाबी में है उसकी मुख्यता और ज्ञान उसके चार चाँद लगा देती है। वास्तव में हिन्दी जगत में ऐसी पुस्तक की जो एक महान् ऐतिहासिक चरित्र के प्रति फैले हुए भ्रम को ही दूर न करे वरन् उसको लोकप्रिय भी बना दे अत्यन्त आवश्यकता थी और इस मूल जैसे अनुवाद ने उस कमी को दूर कर दिया है। —बबूलाल सिंघल

चलते चलते—लेखक—श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रकाशक—गौतम बुकडिपो, दिल्ली। पृष्ठ ५२५, मूल्य ६)

यह उपन्यास है, आत्मकथात्मक उपन्यास। मुख्य पात्र है राजेन्द्र, मुख्य इसलिये कि आत्मकथा उसी की है, और 'पात्र' भी वह है, क्योंकि उपन्यास के समस्त सूत्रों को वह ग्रहण भी भली प्रकार करता है। राजेन्द्र की मुख्य कहानी तो इतनी है कि अपनी बहिन के विवाह में उसका उसकी छोटी भाभी—मौसेरे बड़े भाई वंशीधर की दूसरी छोटी पत्नी का मन उलझ गया, और धीरे धीरे परिपक्व होकर वह प्रेम में परिणत होगया, वंशीधर के आत्मघात के उपरान्त इस राजेन्द्र को वंशीधर की संपत्ति भी मिली। और छोटी भाभी भी उसकी विवाहिता पत्नी हो गयी। इस सूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है वंशीधर, उनकी बड़ी पत्नी और छोटी पत्नी की कहानी है। वह अत्यन्त संक्षेप में यह है—वंशीधर की बड़ी पत्नी का विवाह तो वंशीधर से होगया, पर इसे इसकी सगी बुआ का लड़का रामलाल बहुत प्रेम करता था, और इन दोनों का यह सम्बन्ध विवाह के उपरांत भी बना रहा, गुप्त रूप में अवश्य रहा। बड़ी पत्नी ने इसी पाप को छिपाने रहने के लिये अपने पति वंशीधर का दूसरा विवाह किया था। वंशीधरजी को भी यह विदित हो गया था, और उन्हें यह भी विश्वास हो गया था कि उनकी बड़ी पत्नी का भावी पुत्र भी रामलाल का था, उनका नहीं। वे यह भी भली प्रकार जान गये थे कि उनकी छोटी पत्नी राजेन्द्र से प्रेम करने लगी है, इसीलिए उन्होंने आत्मघात कर लिया। उनकी संतान लाला से उत्पन्न हुई जिस वे इधर अपने अंत से कुछ पूर्व प्रेम करने लगे थे—वह प्रेम समाज से आँखें छिपा कर ही किया गया था। राजेन्द्र से एक घनिष्ठ सम्बन्ध उसके पिता की कहानी से है। इसके पिता राजेन्द्र की माता से असंतुष्ट होकर एक पड़ोसिन से प्रेम करने लगे थे। वह भी उन्हें बहुत प्रेम करती थी। उसके दो लड़के थे—सोनेलाल और उपेन्द्र, लाला नाम का लड़का था। पिता की मृत्यु हुई, किन्तु मार्ग में उनकी लाश गायब होगयी। अत्यन्त वर्षों के कारण वे जीवित हो उठे थे और फिर वे दिल्ली में लाला की माँ के साथ ही होटल के मालिक बन कर रहने लगे थे। राजेन्द्र को पिता के इस रहस्य का पता बहुत बाद में लगा था, अन्त में वह पिता को ले ही आया था। इन कथाओं के साथ एक वृत्त तो मुरली बाबू और अर्चना का है—ये भी रिश्ते में भाई-बहिन थे, पर फिर बिना विवाह किये ही पति-पत्नी बनकर रहने लगे थे—मुरली बाबू उर्फ राजहंस अत्यन्त मलिन वृत्त है, कई युवतियों पर जाल फेंके, पर लाला सावरे की लड़की जमना जो रामचन्द्र नाथ की पत्नी थी, इनके चंगुल में फंस कर विशेष परेशान हुई। यहां तक कि इनकी अनुचित चेष्टा से क्षुभित हो उस साध्वी ने मुरली बाबू को चलती रेल से फेंक दिया और स्वयं आवेग में पागल होगयी। राजेन्द्र के सहयोग से जमना और चन्द्रनाथ मिले, दोनों का इलाज हुआ और दोनों ठीक हो गये। राजेन्द्र की बहिन माधवी का सुसराल के चित्रों में वैशाली का ही चित्र आकर्षक है। उपन्यास प्रेम

प्राप्ति-स्वीकार

अशोक प्रभाकर गाइड—सम्पादक-एक पाठक, प्रकाशक-अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ ७८३, मू० १०)

पंजाब की प्रभाकर परीक्षा को पास कराने वाली यह सहायक पुस्तक है। सम्पादन ठीक हुआ है।

ध्रुवस्वामिनी समीक्षा—लेखक-श्री गणेशप्रसाद गुप्त तथा श्री लक्ष्मीनारायण सिंह, प्रकाशक-एजूकेशनल बुकडिपो, महाल रोड नागपुर। पृष्ठ ६४, मूल्य ॥।)

प्रसादजी के अन्तिम नाटक का यह आलोचनात्मक अध्ययन है। परीक्षार्थियों के काम का है।

आधुनिक हिन्दी पद्य परिचय—सम्पादक-श्री पृथ्वीनाथ पुष्प, प्रकाशक-कपूर आदर्श श्रीनगर (काश्मीर) पृष्ठ १७५, मूल्य लिखा नहीं।

हिन्दी के ३८ आधुनिक कवियों का परिचय देने वाली यह पुस्तक पाठ्य-पुस्तक के रूप में निकली है। इसमें प्रत्येक कवि का संक्षिप्त परिचय और उसकी कृति का उदाहरण दिया गया है।

सूर पद्य रत्न की टीका—टीकाकार श्री लक्ष्मी नारायण टंडन तथा श्री रामखेलावन चौधरी, प्रकाशक-हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ। पृष्ठ १५३, मूल्य २)

इसमें सूर पद्य-रत्न के बाल कृष्ण और भँवरगीत की टीका है। पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए छापी गई है। उपयोगी है।

प्रगतिवाद—लेखक-श्री सौमित्र, प्रकाशक-लोकायन पुस्तक सदन, रतलाम। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

प्रगतिवाद पर लेखक का विवेचनात्मक निबन्ध।

बापू की बातें—लेखक-श्री रामेश्वरदयाल दुबे। प्रकाशक—महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पूना। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥।)

विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी के जीवन सम्बन्धी १०-११ बातों को लेकर इस उपयोगी पुस्तक की रचना की गई है। बातें सभी प्रभावोत्पादक और जीवन को उन्नत करने वाली हैं। सभी उनसे लाभ उठा सकते हैं।

मातृत्व और शिशुपालन—लेखिका-श्रीमती पार्वती निवासन, प्रकाशक-हिन्दी प्रचार पुस्तक मन्दिर त्यागराय नगर, मद्रास। पृष्ठ १८८, मूल्य ३)

विषय नाम से स्पष्ट है, वर्णन की शैली सरल और हृदयग्राही है। चित्रों ने पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ा दी है। महिलाओं के लिए पुस्तक सब तरह उपादेय है।

विधवा—लेखक-श्री रामाचार्य पाण्डेय, प्रकाशक-नागरी निकेतन श्रीनगर, कानपुर। पृष्ठ ४८, मू० ॥।)

यह छोटा सा काव्य पुस्तक है।

महावीर डायरी—सम्पादक-पं० बनारसीदास चतुर्वेदी आदि, प्रकाशक-महावीर प्रकाशन मन्दिर बनारस। पृष्ठ ३८४, मूल्य १।)

भगवान् महावीर के जीवन और उनके उपदेशों से विभूषित यह महत्वपूर्ण डायरी अभी निकली है। मजबूत जिल्द होने पर भी मूल्य १।) है। उपयोगी है।

दुर्गा सप्तशती—लेखक-श्री रामाचार्य पाण्डेय, प्रकाशक-नागरी निकेतन श्रीनगर, कानपुर। पृष्ठ १००, मूल्य १॥)

कविता में माँ दुर्गा की अर्चना की गई है।

हमारे सहायक

साहित्य-सन्देश के प्रचार में सहायता देने वाले निम्न महानुभावों के हम आभारी हैं :—

१—श्री दत्तविद्या वाचस्पति, अध्यक्ष, भारतीय विद्या भवन, कोटा।

२—प्रो० सुदामाप्रसाद चतुर्वेदी, हिन्दी विभाग—बागला कालेज, हाथरस (यू० पी०)

३—प्रो० विजेन्द्र स्नातक, रामजस कालेज, दिल्ली।

४—श्री प्रधान अध्यापक, डी० ए० वि० स्कूल, सीवान सारन।

५—श्री आई० दास जोशी, प्रधान हिन्दी अध्यापक, दरबार हाई स्कूल, बालोतरा।

६—श्रीमती नारायणी राम 'भूषण', रामबाग पेलेस, जयपुर।

परीक्षार्थी प्रबोध भाग ३ की विषय-सूची

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड

यहां है

हमने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को हर महीने पौने मूल्य में पुस्तकें देने की योजना पिछले दिसम्बर मास से निकाली थी और अब तक हमारे ग्राहक उसमें लाभ उठाते रहे।

अब डाकखाने के नये कानूनों के अनुसार हम जवाबी कार्ड को साहित्य-सन्देश के अङ्क में नहीं रख सकते। अतः हम उस कार्ड को इसी पृष्ठ पर नीचे छाप रहे हैं, आप लाइन पर से काट कर उसे हमारे पास भेजदें। इस पर आपको टिकट लगाने की आवश्यकता नहीं। जो ग्राहक किसी भी कारण से पुस्तकों की वी० पी० वापस कर देंगे तो पोस्टेज के खर्चे के वे जिम्मेदार होंगे।

साहित्य रत्न-भण्डार, आगरा।

——(यहाँ से काटिये)——

——यहाँ से काटिये——

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड

म.......................................

ग.......................................

ाहक सं०...............................

१—तुलसी गीतावली—गुलाबराय आलोचना १।)
—उत्तमा के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन— २)
३—साहित्य सुषमा—लक्ष्मीधर बाजपेई २)
—हिन्दी साहित्य का विकास—ब्रह्मदत्त तिवारी २॥)
५—नूरजहाँ की टीका—रामखेलावन चौधरी २।)
६—अजातशत्रु एक अध्ययन—प्रेमनरायण टंडन १॥)
७—गोदान एक अध्ययन— ,, ,, १॥।)
८—हमारे अमर नायक— ,, ,, ॥।)
—मुकुल माधवी—अटा० सा० भूषण कविता ।)
०—धरती—त्रिलोचन शास्त्री ,, ३)
१—देश दर्शन—वैद्यनाथ प्रसाद सिन्हा ,, ॥।)
२—सारस की जोड़ी—गोविन्दवल्लभ त्रिपाठी ,, ॥।)
३—रोजा लुक्जेम्बुर्ग—रामवृक्ष बेनीपुरी राजनीति ३।)
४—जापान की राजनीतिक प्रगति—
पं० लक्ष्मणनरायण राय 'गर्दे' ४॥)
५—यकिया में क्रान्ति और दमन—उपाध्याय ३॥)
६—उपजाऊ पत्थर—रावी कहानी १॥=)
७—एकादशी—तेजरानी पाठक ,, १॥)
८—सं० रामचरित मानस— धार्मिक १।)
—जो पुस्तक आप न लेना चाहें उसे काट दें।

Sahitya Sandesh, Agra
NOVEMBER 1952.

REGD. No. A. 263.
License No. 16.
Licensed to post without prepayment.

वर्ष १४] आगरा—दिसम्बर १९५२ [अङ्क ६

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम. ए., पी एच. डी.

महेन्द्र

*

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

*

मुद्रक

साहित्य प्रेस, आगरा।

*

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।≈)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।
३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।
६. साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापस कर दिए जाते हैं।
७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : नवम्बर, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं

आलोचना

हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति—विजयेन्द्र स्नातक ३)
महाकवि सूरदास—नन्ददुलारे वाजपेई ४)
हिन्दी भाषा तथा साहित्य—उदयनारायण २।।)
हरिऔध और उनका प्रियप्रवास—कृष्णकुमार सिन्हा ३।।-)

कहानी

जीवन के मोड़—महावीर अधिकारी ३)
पञ्चतन्त्र—डा० मोतीचन्द्र ४।।)
देवताओं की मूर्तियाँ—राजेन्द्र यादव २)

उपन्यास

नए मोड़—उदयशंकर भट्ट ३।।)
अपराजिता—चतुरसेन शास्त्री २)
विद्रूप—पृथ्वीनाथ शर्मा ३)

नाटक

एकांकी मधुपर्व—जयनाथ नलिन ३)
पगध्वनि—चतुरसेन शास्त्री १।।)
दर्पदलन—बैकुण्ठनाथ मुद्गल १)
मानव प्रताप—देवराज दिनेश २)
शकुन्तला—श्री० मुखर्जी १)
विद्रोहिणी अम्बा—उदयशंकर भट्ट १।।)

राजनीति

सभा शास्त्र—न० वि० गाडगिल ६)

जीवनी

जीने के लिए—जगपति चतुर्वेदी २)
रेखा-चित्र—लीलावती मुन्शी ३)

इतिहास

साम्राज्यों का उत्थान—भगवतशरण उपा० ७।।
भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी एम. ए. ५)
विश्व के इतिहास और सभ्यता का परिचय—प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप ५)

अर्थ-शास्त्र

भारत का औद्योगीकरण—डी. एस. नाग एम. ए. २।।)
आर्थिक नियोजन—मधुकर शटे एम. ए. १।।)
सर्वोदय राज क्यों और कैसे—केशा ।।=)

मनोविज्ञान

सामान्य मनोविज्ञान—प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप ४)

विविध

फूल और पत्थर (प्रहसन)—कृष्णचन्द्र २।।)
जीवन कण—डा० रघुवीरसिंह ३)
रूस में पचीस मास (यात्रा)—राहुल सांकृत्यायन ८)
दुर्जियों पीछे—भगवतशरण उपाध्याय ३)

पुस्तकालयों और पुस्तक प्रेमियों को सुविधा

बिना मूल्य और आधे मूल्य में मूल्यवान पुस्तकें

नई, किन्तु रक्खे रक्खे बिगड़ी

पुस्तकों की निकासी

हमारे भंडार (साहित्य-रत्न-भण्डार) में पुस्तकों का संग्रह इतना अधिक है कि कभी-कभी उसे सँभालना भी कठिन हो जाता है। इस बार विशेष सँभाल करने पर हमने कुछ पुस्तकें स्टाक में रक्खे-रक्खे खराब हो जाने के कारण अलग करदी हैं। यह पुस्तकें हम उन पुस्तकालयों को मुफ्त देंगे जो हमारे स्थायी ग्राहक हैं। साधारणतः नियम यह हैं—

१—जो पुस्तकालय हमसे १०० की पुस्तकें मँगावेंगे उन्हें इस सूची की ५०) की पुस्तकें बिना मूल्य भेंट दी जावेंगी। दोनों तरह के आर्डर अलग-अलग आने चाहिए।

२—जो पुस्तकालय और पाठक केवल इस सूची की पुस्तकें मँगावेंगे, उन्हें सभी पुस्तकें छपे मूल्य से आधे पर भेजी जायेंगी। खर्च ग्राहकों का होगा।

३—सूची की आधे मूल्य में मिलने वाली अधिकांश पुस्तकें संख्या में एक दो तीन से अधिक नहीं हैं, अतः जल्दी ही समाप्त हो जायेंगी। ऐसी दशा में जो पुस्तकालय १० की पुस्तकें खरीदना चाहते हैं वे अपना आर्डर २०)-३०) की पुस्तकों का देकर यह लिख दें कि पुस्तकें कुल १०) की भेजी जायें। जो पुस्तकें मौजूद होंगी वे भेज दी जायेंगी।

आलोचना

पुस्तक	मूल्य
सूर पंच रत्न की टीका-गुलाबराय एम० ए०	।।।)
रसज्ञ रंजन—महावीर प्रसाद द्विवेदी	।।।)
गंगावतरण दीपिका—रामचन्द्र श्रीवास्तव	१।)
प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला—सत्येन्द्र	३)
प्रताप समीक्षा—प्रेमनारायण टण्डन	।।।)
नाट्य-कला एवं साहित्य की रूप रेखा—शिखरचन्द्र जैन	।।–)
हिन्दी गीति काव्य—श्री ओमप्रकाश अग्रवाल	३)
कालिदास और उनका रघुवंश—रामप्रसाद सारस्वत	१।)
प्रसादजी की कला—गुलाबराय एम० ए०	३)
साहित्य-वातायन—शिवनन्दनप्रसाद	१।)
हिन्दी के तीन प्रमुख नाटककार—शिखरचन्द जैन	१=)
चन्द्रगुप्त एवं प्रसाद के नाटकीय पात्र—शिखरचन्द जैन	।।।)
गुप्तजी की कला—सत्येन्द्र	१।।)
समीक्षाञ्जलि भाग १—कन्हैयालाल सहल	१)
प्रबन्ध-पारिजात—पारसनाथ त्रिपाठी	।।–)
सुमित्रानन्दन पन्त—प्रो० नगेन्द्र	१)
साकेत एक अध्ययन—प्रो० नगेन्द्र	२।।)
आधुनिक-हिन्दी-नाटक—नगेन्द्र	१।।।)
नाट्य कला एवं साहित्य की रूपरेखा—शिखरचन्द्र जैन	।।।)

कविता

पुस्तक	मूल्य
प्रतिच्छाया—हीमवती	।=)
हिन्दी पद्य पीयूष—चारुदेव शास्त्री	१।=)
मेघदूत—राजा लक्ष्मणसिंह	।।।)
भग्न वीणा—रामदेवी तिवारी 'द्विजदेवी'	१।।)
ज्योतिर्मयी—श्री अनिरुद्ध	।।=)
सञ्जीवनी—ले० सुकवि समुदाय	।–)
अन्योक्ति कल्पद्रुम—ब्रह्मदत्त शास्त्री	१)
गांधी गौरव—गोकुलचन्द्र शर्मा	।।।)

प्राप्ति-स्थान—साहित्य रत्न-भण्डार, ४ गान्धी मार्ग, आगरा।

अन्योक्ति कल्पद्रुम—लाला भगवानदीन
मोहनवल्लभ पन्त १।।)
सिद्धराज—मैथिलीशरण गुप्त १।)
राष्ट्रीय मन्त्र—श्रीयुत त्रिशूल ।।)
दर्शनकथा— ।।)
मन्दाकिनी—श्रीमती शान्ता राठी १।।।)
कवितावली-टीकाकार प० ठाकुरप्रसाद शर्मा १।।)
यामिनी—जयनाथ 'नलिन' १।)
रस गागर—भगवतदीन 'शिशु' २)
कदम्ब—जगमोहन नाथ अवस्थी ३)
यह पथ अनन्त—ले० मधुप २)
वैकाली—श्री हितैषी १।।)
छन्दोर्णवपिंगल—भिखारीदास ।।)
अक्षत—सुन्दर श्याम मुकुट ।।)
नित्य पूजा विधान—सूरजभान वकील ≈)।।
अन्योक्ति तरंगिणि—ईश्वरीप्रसाद शर्मा ।)
रक्त चन्दन—नरेन्द्र शर्मा २)
माधुरी—प० मोहनलाल द्विवेदी १)
काव्य निर्णय—भिखारीदास १।)
पाञ्चजन्य—श्री आरसीप्रसाद सिंह २)
कविता कुसुम—श्री गिरधर शर्मा नवरत्न ।≈)

उपन्यास

आनन्दमठ—श्रीयुत मोहन १।)
अवतार—प्रेमचन्द ।।)
पाप का अन्त—कुँवर मजेन्द्रसिंह ४≈)
मल्लिकादेवी—किशोरीलाल गोस्वामी ।।।)
सुन्दरी—कुन्तीदेवी १।)
अमरपुरी—श्रीकृष्णदत्त पालीवाल २)
खूनी औरत का सात खून—
किशोरीलाल गोस्वामी १।।)
सीधे पण्डित—ठा० प्रसिद्ध नारायणसिंह १।।)
जय यात्रा—श्री मन्मथनाथ गुप्त १।)
तरुण तपस्वनी—श्री किशोरीलाल गोस्वामी ।।)
तारा— " " ।।≈)
हृदय हारिणी— " " ।।≈)
माधवी माधव— " " १।)

कनक कुसुम—श्री किशोरीलाल गोस्वामी ।≈)
सुखशर्वरी— " " ।–)
चपला— " " ।।)
प्रेममयी— " " ।)
चन्द्रावली— " " ≡)
चन्द्रिका— " " ≈)
लावण्यमयी— " " ≈)
प्रणयिनी परिणय— " " ≡)
इन्दुमती— " " ≡)
जिन्दे की लाश— " " ≡)

कहानी

शास्त्री साहब—बद्रीनरायण शुक्ल ।।।)
विलायती चीर फ़ाड़ते दुनिया—
प० भगवानदास अवस्थी एम० ए० ।–)
आधुनिक कहानियाँ— १।।)
धरोहर—होमवती १।।।)
गाँव की कहानियाँ—रमेश वर्मा ।।)
अर्जुनमाली—धीरजलाल –)
युद्ध की कहानियाँ—शिवनारायण मिश्र ।)
हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ-नन्ददुलारे वाजपेयी २।।)
इन्द्रधनुष—नारायणश्यामरूप चिताम्बरे ।।≈)
पौराणिक कहानियाँ—श्रीहरिप्रसाद द्विवेदी १)
दमयन्ती कथा सग्रह— –)

नाटक

आनन्दविजयाविधान—श्री भुवनेश्वरसिंह
'भुवन' ।।)
अन्धेर नगरी—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ≈)
कमल किशोर—सुरेन्द्रचन्द्र जैन 'वीर' ।≡)
बागवान—श्री गिरधर शर्मा १)
तुलसीदास नाटक—बद्रीनाथ भट्ट १।।)
सत्य हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ≡)
चतुष्पथ—सेठ गोविन्ददास ।।)
मेघदूत—केशवप्रसाद मिश्र ।)
शकुन्तला नाटक—अनुवादक
राजा लक्ष्मणसिंह १।।)
जया जयन्त—गिरधर शर्मा १।)

प्राप्ति स्थान—साहित्य रत्न-भण्डार, ४ गान्धी मार्ग, आगरा।

चुङ्गी की उम्मेदवारी—बद्रीनाथ भट्ट ।≈)
चिड़िया घर—पं० हरिशङ्कर शर्मा १)
शुद्धि यज्ञ—सत्येन्द्र एम० ए० १)

विविध

भारतीय-सृष्टि-क्रम विचार—श्री सम्पूर्णानन्द ।≈)
संस्कृत पाठ्य पुस्तक दीपिका—महीपदत्त उपाध्याय ।)
मेरी कैलाश यात्रा—सत्यदेव ।॥)
रविमतकथा—छगनगल, पाकलीलाल —)॥
सुदामा चरित—बद्रीप्रसाद सारस्वत ॥≈)
गीता संदेश—गुलाबराय एम० ए० ॥)
साहित्य लतिका भाग ४—रामप्रसाद त्रिपाठी ॥)
गान्धी गौरव—गोकुलचन्द्र शर्मा ॥।)
कुञ्जी संस्कृत पाठ्य पुस्तक भाग १-घनश्यामदास ।)
नारु रोग—रामजीवन त्रिपाठी ।)
संस्कृत शिक्षा भाग २-शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ।—)
मनोरंजन,—प० बद्रीनाथ भट्ट ।—)
हिन्दी ज्ञान मंजरी— ॥)
गाँव का जीवन—रमेशवर्मा ॥)
रजतकण—हरीहरनाथ टण्डन १।)
सुखमय जीवन—बाबूलाल गोयल ।)
अमरीका के विद्यार्थी—सत्यदेव ।)
विश्ववाय—भगवानदास वर्मा ॥)
घरेलू इलाज—रमेश वर्मा, ।≈)
मातृ भाषा—लक्ष्मीसहाय माथुर ॥)
महात्मा गाँधीजी के निजी पत्र—पं० लक्ष्मीधर बाजपेयी ।—)
विवाह का उद्देश्य—जुगलकिशोर मुख्तार ≈)
हमारा भीषण ह्रास—पं० मन्नन द्विवेदी ।)
शिक्षा का आदर्श—सत्यदेव ।—)
इतिहास समुच्चय—हरिश्चन्द्र ३)
भारतीय साधक—श्री शरतकुमार राय ॥।)
राम की उपासना ।)
जलियान वाला बाग—दी न्याय प्रेमी १।)
साहित्य प्रसून भाग १ व ३—श्री गद्देन्द्रजी ।—)
मनुष्य के अधिकार—सत्यदेव ।—)
स्वराज्य की माँग—श्रीराम सेठी १॥)
जैन धर्म की प्राचीनता—दीनदयाल जैन ≈)
दस रुपकम्—धनञ्जय ॥।≈)
साहित्य सोपान भाग ३—रमाकान्त त्रिपाठी ॥—)
सामान्य विज्ञान और बागवानी भाग १ ।)
देशबन्धु चित्तरञ्जनदास—सम्पूर्णानन्द ॥)
झांसी की रानी—सीतानाथ शर्मा ≈)
पशु वध कैसे रुके—सुरेन्द्रनाथ जैन ≈)॥
हमारे इतिहास निर्माता—अवध बिहारी १)
प्रोत्साहन—छविनाथ पाण्डेय ॥—)
ढोरों का इलाज—रमेश वर्मा ।≈)
निःश्वास—इन्द्र ब्रह्मचारी ।≈)
गाँव की बोली—रमेश वर्मा ।≈)
महिला सुधार—कन्नोमल एम० ए० ।≈)
स्वदेशी पर महात्मा गांधी ॥)
खेल—रमाशंकर सक्सैना १॥)
स्वामी रामतीर्थ ॥।)
अकालियों का आदर्श सत्याग्रह—सम्पूर्णानंद ॥)
प्रेम पुष्प,—साधु शरण ॥)
भारतीय आत्म त्याग—कुँवर नारायनसिंह बी० ए० १।)
संस्कृत पाठ पुस्तक भाग ३—घनश्यामलाल १)
बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा ॥)
महात्मा गांधी ≡)
अध्यापकीय कर्तव्य—राजाबहादुर कुशलपालसिंह —)।
मेरी उत्तरा खण्ड की यात्रा—लाला रामनरायण वैश्य ॥।)
गृह देवी—सूरजभान वकील ।≈)
संगीत सुलभ या संगीत शास्त्र प्रवेश (भाग १) रामचन्द्रराव, दामोदरशरन ॥)
भारतीय भोजन—हरिनारायण शर्मा वैद्य ॥।)
विधवा कर्तव्य—सूरजभान वकील ॥)
महाभारत के पात्र भाग १ ॥)
क्षुधा—रामप्रसाद विद्यार्थी— ॥)
स्नेह—काशीपति त्रिपाठी १)
भाषा प्रदीप भाग ३—डा० शिवकुमारसिंह ॥।)

स्त्रियों की स्वाधीनता-विश्वम्भरनाथ जिज्जा ।।)
क्या आर्यसमाजी वेदानुयायी हैं—
राजेन्द्रकुमार जैन ≈)
काव्य कल्पतरु-श्री सत्याचीन एम ए. बी टी. १।।)
वन बाला—श्री नगेन्द्र एम० ए० ।।)
हितषी गायन—भूरामल मुशरफ ≡)
गाँव के गीत—रमेश वर्मा ।।)
तुलसी गीतावली—गुलाबराय १।)
हृदय तरङ्ग—अयोध्याप्रसाद पाठक १।
पत्र पुष्प— ।)
राष्ट्रीय गीत—श्रीकृष्णदत्त पालीवाल —)
आनन्द सरोज—सुवर्णसिंह आनन्द ।)
अज्ञातवास—रामसहाय शर्मा ।।।)
कुसुम कुञ्ज—गुरुभक्तसिंह ।=)
शील कथा— ।।।)
पद्य प्रवेशिका—सुवर्णसिंह आनन्द ।।)
संयोगिनी का डोला—रमेश वर्मा ।।)
हिन्दी सन्देश—रामवचन द्विवेदी ≈)
हिन्दी माघ—गिरधर शर्मा ।।)
तपस्वी तिलक—गोकुलचन्द्र शर्मा २)
साँवरी—रामस्वरूप शर्मा 'रसकेन्दु' ।)
सचित्र गीतावली—तुलसीराम ।।)
ठाकुर ठसक—लाला भगवानदीन ।=)
अवकाश के क्षण—श्रीमती शकुन्तला सक्सेना ।।।)
ओस के बूँद—भगवतीप्रसाद वाजपेयी १।।)
सूरदास की विनयपत्रिका—स० वियोगीहरि ≡)
प्रेम पुष्प मञ्जरी—ठाकुर भीकमसिंह ।।)
जनपद संग्रह— ।)
प्रकाश पथ पर—ले० जटा साहित्य भूषण ।)
वीर वधू—नाथूराम माहौर १)
वल्लरी—मुरलीधर श्रीवास्तव शेखर १।)
नैवेद्य—हरिश्चन्द्र देवशर्मा चातक १)
रघुवंश—रामप्रसाद सारस्वत १।।)
पाश्चात्य रामायण—स० रवीन्द्रनाथ ठाकुर १)
हवाई छतरी—श्रीयुत 'अरुण' बी० ए० १।।)
हृदय ध्वनि—सद्गुरुशरण अवस्थी १।।)

संस्कृत शिक्षा भाग १ व २—
शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ।=)
साहित्य मीमांसा—किशोरीदास वाजपेयी ।)
आयुर्वेदीय औषधि उपचार पद्धति भाग १—
वैद्य भास्कर बांकेलाल गुप्त ।।)
फोटोग्राफी शिक्षा—पं० क्षेत्रपाल शर्मा १)
दरिद्र कथा—चन्द्रशेखर शास्त्री ।।)
जर्मनी और टर्की में ४४ मास—
लाला हरदयाल एम० ए० ।।=)
बात बात में बात—यशपाल २।।)
साहित्य सरोवर तीसरा भाग—
देवकीनन्दन शर्मा ।।=)
साधन समर वा देवी महात्म्य प्रथम खण्ड
अनुवादक—शिवनारायण शर्मा २)
औपसर्गिक सन्निपात—राधावल्लभजी ।)
नीतिदर्शन दूसरा खण्ड—राधामोहन ।।।)
राज पथ का पथिक—कृष्णलाल वर्मा ।—)
आदर्श साधु—मुनि विद्या विजयजी १।)
बाल मनुस्मृति—पं० शिव शर्मा ।—)
A hand book of English History—
(Stuart period) Galab Ram Dave ।।)
मुद्राराक्षस नाटक की तालिका—
श्री रामेश्वर भट्ट ।।)
श्रद्धाञ्जलि—भगवानदास केला ।।।=)
समझौता क्यों नहीं हुआ—
अनुवादक रामचन्द्र वर्मा ≈)
हिन्दी साहित्य संग्रह भाग २—गङ्गादत्त पांडे ।।)
अमेरिका की स्वाधीनता का इतिहास—
देवकीनन्दन विभव ३)
महात्मा गांधी का विश्व व्यापी प्रभाव—
केशवकुमार ठाकुर ।=)
देश का दुखी अंग—रामनरेश त्रिपाठी ≡)
हिन्दी व्याकरण शिक्षा-भागीरथप्रसाद दीक्षित ।।)
स्वास्थ्य शिक्षा—दयाशङ्कर पाठक मेडलिस्ट १)
योरोप के दो सिपाही—ले० रा० र०
साहित्यकार व रामकृष्ण शर्मा ।।=)

प्राप्ति स्थान—साहित्य रत्न-भण्डार, ४, गान्धी मार्ग, आगरा ।

गाँव की सेहत—रमेश वर्मा ।।)
हिन्दी काव्यालङ्कार प्रवेशिका—
अनूपलाल मण्डल ।।–)
दवाओं से बचो—गङ्गाप्रसाद गौड़ १)
जीवन वेद—श्र० रायसाहब बच्चूनारायण ।।≈)
हिन्दी साहित्य सङ्कलन—देवकीनन्दन शर्मा १)
हिन्दी बङ्गला शिक्षा भाग १—हरिदासजी वैद्य १।)
विदेशी दैनिक पत्र—विनोदशङ्कर व्यास ।)
पौधों की दुनियाँ—नरायणप्रसाद अरोड़ा १)
श्रीहर्ष - आत्मारामजी ।।)
छन्द शिक्षा-पं० श्री परमेश्वरानन्द शर्मा १।।।–)
लिपि विकास—राममूर्ति महरोत्रा ।।।)
भर्तृहरि शतक—प्रभञ्जनलाला गुप्ता १।।)
माध्यमिक व्याकरण—अध्यापक रामरत्न ।।)
वीरांगना—ज्ञानचन्द्र ।≈)
आचार्य के सदुपदेश—गुरादित्ता खन्ना –)
जबा और बबा—श्री जगन्नाथ कपूर १)
टैंक युद्ध—डा० सत्यनारायण पी-एच० डी० ।।≈)
Notes on priya privas—गौरीशङ्कर ।।।)
पूर्व की राष्ट्रीय जागृति-शङ्कर सहाय सक्सैना १।)
संस्कृत कवियों की अनोखी सूझ—
पं० जनार्दन भट्ट ।≈)
जेबुन्निसा के आँसू—ओमप्रकाश भार्गव,
ईश्वरीप्रसाद माथुर १।)
गीतावली गुञ्जन—विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।।)
मन्दिर भाग २—सं० प्रेमचन्द ।।)
पर्वोत्सव विवरण—सुदर्शनसिंह चक्र ।।।≈)
भारतीय भाषायें—सं० रामनारायण मिश्र १)
श्रीकृष्ण चरित—ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा ।≈)
मसालों की खेती—चारुचन्द्र सान्याल ।–)
नवीन भारतीय शासन विधान (दो भाग)—
रामनारायण यादवेन्दु २)
बैंजामिन फ्रेंकलिन का जीवन चरित्र—
लक्ष्मीसहाय माथुर २।।)
किसान—सं० एस० डी० दीक्षित १।)
अहार—सं० यशपाल जैन ।≈)

धातु दौर्बल्य—ले० डा० एलबिन० ई० इस्माल—
प्रकाशक-बांकेलाल वैद्य ।।।)
मेरे गुरुजन—नरायणप्रसाद अरोड़ा १)
शुद्धि व्यवस्था—स्वामी सच्चिदानन्द सन्यासी ।)
जीवन यात्रा—हनुमानप्रसाद शर्मा वैद्य शास्त्री ।।।)
भारतीय नागरिकता और शासन—
ब्रजमोहन शर्मा ४)
शिक्षा की एक योजना—छैदी मिश्र ।)
हिन्दी-स्तर संग्रह भाग २—कालीदास कपूर ।।।)
मोहनी—भैयालालजी जैन ।।)
नारी-शिक्षा-दर्श—उग्रसेन जैन एम० ए० ।।)
राष्ट्रसमापति गौरवम्—लक्ष्मीनारायण ।)
अमरीका दिग्दर्शन—स्वामी सत्यदेव
परिव्राजक ।।।)
राजर्षि भीष्म पितामह—सत्यदेव परिव्राजक ।)
अष्टाङ्ग—योग ईश्वरानन्द ≈)
भारतीय तन्तु मिल मजदूर-का० न० रामन्ना ।।)
जातीयता—नरेन्द्र देव ।≈)
नागरिक जीवन—ले० कृष्णानन्द गुप्त १।)
सन्तान-सुधार—बाबू प्रभूदयालजी वर्मा १)
आर्य समाज की डबल गल्पाष्टक—
प० अजितकुमार शास्त्री –)।।
स्टाक एक्स चैंज—जी० एस० पथिक १।।)
असहयोग दर्शन—प० हरिभाऊ उपाध्याय १।)
राम की उपासना—स्वामी रामतीर्थ ।)
पाश्चात्य संसार और भारतवर्ष—
देवकीनन्दन विभव १।।)
शास्त्रार्थ पानीपत भाग २—चम्पावती जैन ।।।)
पद्मावत प्रकाशिका—गुलाबराय १।।)
ग्राम-सुधार प्रवेशिका-ई० बी० एस० मनीयस ।।)
मूल उद्योग कातना—विनोबा भावे ।≈)
सेवा-धर्म और सेवा-मार्ग—श्रीकृष्णदत्त
पालीवाल १।।)
वनस्पति शास्त्र—केशव अनन्त पटवर्धन
एम० एस० सी ।।≈)

प्राप्ति स्थान—साहित्य-रत्न-भण्डार, ४ गान्धी मार्ग, आगरा।

वर्ष १४] आगरा—दिसम्बर १९५२ [अङ्क ६

हमारी विचार-धारा

पं० रामदहिन मिश्र का निधन—

अभी कुछ दिन हुए विहार के एक वयोवृद्ध साहित्य सेवी पंडित सकल नारायण शर्मा का देहान्त हुआ था, अब समाचार मिला है कि वहीं के एक और वृद्ध हिन्दी तपस्वी का निधन हो गया।

पण्डित रामदहिन मिश्र द्विवेदी युग के लेखक थे। आपने आलोचना के क्षेत्र में प्रशंसनीय और स्मरणीय काम किया है। आपकी पुस्तकें—काव्य दर्पण, काव्यालोक, काव्य में अप्रस्तुत योजना, काव्य शास्त्र की भूमिका—स्थायी साहित्य में स्थान रखती हैं और सभी ने उनकी सराहना की है।

गत एक वर्ष से आप रुग्ण थे। ६६ वर्ष की अवस्था में आपका निधन हो गया। हम आपकी आत्मा को शान्ति लाभ की प्रार्थना करते हुए आपके परिवार के साथ संवेदना प्रकट करते हैं। आपकी साहित्य सेवा की चर्चा हम साहित्य सन्देश के अगले किसी अङ्क में करेंगे जिसके लिए लेखों की प्रार्थना हम अभी से कर रहे हैं।

दो जयन्तियाँ—

हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने की जहाँ आवश्यकता और अनिवार्यता पर हम जोर देते हैं, वहाँ हम इस बात की भी आवश्यकता समझते हैं कि हिन्दी वाले देश की दूसरी भाषाओं और उनके साहित्य से परिचित हों। जरूरत है कि हिन्दी वाले कम से कम एक ऐसी भाषा का ज्ञान प्राप्त करें। साहित्य सन्देश के पाठकों को विदित है कि आगरा में अ० भा० हिन्दी परिषद की ओर से एक ऐसे भारतीय हिन्दी विद्यालय का सञ्चालन हो रहा है जिसमें सभी अहिन्दी प्रान्तों के छात्राध्यापक हिन्दी का विशेष अध्ययन करने के लिए आए हुए हैं। यह विद्यालय स्थानीय नागरी प्रचारिणी सभा में है और आगरा के सभी विद्वान साहित्यिकों का सहयोग इसे प्राप्त है।

इस विद्यालय द्वारा दो विशिष्ट कवियों की जयन्ती मनाई गई। एक मलय प्रदेश के मलयालम भाषा विद् श्री वल्लतोल की और दूसरे तमिल भाषी श्री सुब्रह्मण्यम् भारती की। दोनों ही अपनी अपनी भाषा के मूर्धन्य कवि हैं। इनकी ख्याति राष्ट्रव्यापी है। इन जयन्तियों के मनाने से हिन्दी वालों को मलयालम और तमिल के इन कवियों का ही परिचय नहीं मिला, इन भाषाओं के लालित्य का भी उन्हें कुछ ज्ञान हुआ। ऐसे उत्सवों का होना राष्ट्रीयता के लिए सचमुच बहुत शुभ है, अतएव हम उनका अभिनन्दन करते हैं।

टेलीप्रिंटरों पर नागरी लिपि—

हमें यह जान कर प्रसन्नता हुई कि तार विभाग हिन्दी को प्रश्रय देने का प्रयत्न बराबर कर रहा है। हिन्दी में तार भेजने की प्रणाली का आविर्भाव आगरा के तार घर में हुआ और अब देश के ३०—३५ स्थानों से हिन्दी में तार भेजे जाते हैं। यद्यपि यह प्रगति बहुत धीमी है और उससे लाभ भी बहुत ही कम लोग उठा रहे हैं, फिर भी कुछ हो रहा है—यह खुशी है।

अब एक नए आविष्कार की ओर भारतीय तार विशेषज्ञों का ध्यान गया है। टेली प्रिण्टर मशीन से तार द्वारा जो संवाद भेजा जाता है वह प्रेषित स्थान पर टाइप राइटर द्वारा स्वयं टाइप होता जाता है। यह अब तक अंग्रेजी में ही होता था। अब यह प्रयत्न हो रहा है कि हिन्दी में जो समाचार भेजा जाय वह समाचार पत्र के कार्यालय में टाइप मशीन द्वारा स्वयं टाइप होता जाय। आशा है इस प्रयोग से शीघ्र ही सफलता मिलेगी और तब हिन्दी के पत्रों की भी बड़ी भारी बाधा दूर हो जायगी, वे अंग्रेजी पत्रों से स्पर्धा कर सकेंगे।

पारिभाषिक शब्दावली और विद्यार्थी—

जब से बोर्ड ने इंटरमीजिएट के लिए हिन्दी में उत्तर देने का माध्यम घोषित कर दिया है तब से विभिन्न विषयों की पुस्तकें हिन्दी में निकलना प्रारम्भ हो गयी हैं। यह हिन्दी के लिए शुभ लक्षण है, किन्तु हर एक पुस्तक में शब्दावली के सम्बन्ध में अपनी अपनी ढफली और अपना अपना राग लोकोक्ति चरितार्थ होती है। जब तक शब्दावली का एकीकरण और प्रामाणिकरण नहीं होता तब तक बिचारे विद्यार्थियों को घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यदि वे अंग्रेजी के शब्द लिखते हैं तो आधा तीतर और आधा बटेर की बात सार्थक होती है और हिन्दी भी लिखते हैं तो परीक्षक के मन की न होने की सम्भावना में नम्बर कटने का भय रहता है। काम तो यह केन्द्रीय सरकार का है किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा इस कार्य के होने में देरी होने की सम्भावना है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए बोर्ड को चाहिए कि अपना सिलेबस हिन्दी में ही छापे और सिलेबस में जिस शब्दावली का प्रयोग हो उसी शब्दावली का विद्यार्थी भी प्रयोग करें। बोर्ड को चाहिए कि शीघ्रातिशीघ्र ऐसी उपसमितियाँ बना दे जो भिन्न भिन्न विषयों से सम्बन्धित प्रश्न पत्रों के सिलेबस का हिन्दी अनुवाद कर दें। उसी समिति में सरकारी मेम्बरों के अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग नियुक्त किए जायँ जिन्होंने उन विषयों पर पुस्तकें लिखी हों। बोर्ड तथा उप समितियों के सदस्य डाक्टर रघुवीर आदि की पारिभाषिक शब्दावली का कुछ हेर फेर के साथ उपयोग कर सकते हैं। केन्द्रीय सरकार भी जो पीछे से शब्दावली तैयार करे—वह इन शब्दावलियों से लाभ उठा सकती है।

हिन्दी एम० ए० में मौखिक परीक्षा—

आगरा विश्व विद्यालय में अँग्रेजी के एम० ए० में मौखिक परीक्षा होती है किन्तु हिन्दी को इस गौरव से मुक्त रखा गया है। प्रयाग आदि विश्व विद्यालयों में हिन्दी एम० ए० की मौखिक परीक्षा को उतना ही महत्व दिया जाता है जितना कि उसे अँग्रेजी के एम० ए० में। मौखिक परीक्षा में परीक्षार्थी के सामान्य ज्ञान के साथ उसकी भाषा पर अधिकार की भी परीक्षा हो जाती है। हिन्दी हमारी मातृभाषा है। उसके ज्ञान का मान दण्ड और भी ऊँचा होना चाहिए। हमारे परीक्षार्थी ही भावी अध्यापक बनते हैं। यदि हमको अच्छे अध्यापक चाहिए तो परीक्षा का मान भी ऊँचा उठाना चाहिए। आशा है कि आगरा विश्वविद्यालय के अधिकारीगण एम० ए० परीक्षाओं की इस कमी की ओर ध्यान देंगे।

प्रान्तीयता का विष—

विश्व-भारती के अवकाशप्राप्त आचार्य क्षितिमोहन सेन ने हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा के पदवी दान समारम्भ पर दीक्षान्त भाषण देते हुए जो शब्द कहे हैं वे बड़े महत्व पूर्ण हैं। अपने पाठकों की जानकारी के लिए हम उन्हें यहाँ उद्धृत करते हैं—

"कुछ लोग समझते हैं हिन्दी दक्षिण पर जबर्दस्ती लादी जा रही है। यह एक व्यर्थ की बात है। आज से सदियों पहले दक्षिण भारत से भक्ति का प्रचार उत्तर भारत में गया। भक्ति का जन्म स्थान दक्षिण देश ही है। दक्षिण में केवल शङ्कर

चार्य और रामानुज ही नहीं हुए बल्कि रामानन्द और वल्लभाचार्य भी दक्षिण से ही उत्तर आए थे। रामानन्द का कबीर पर और वल्लभाचार्य का सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों पर कितना प्रभाव पड़ा था यह बताने की आवश्यकता नहीं। दक्षिण के इन सन्तों ने ज्ञान गंगा उत्तर में बहाई, उसी पर हिन्दी भाषा का पोषण हुआ है। यहाँ के सन्तों के भाव हिन्दी के माध्यम से अब आप तक लौट रहे हैं। क्या भाषा ही सब कुछ है और भाव कुछ नहीं है? भाव आपके हैं और भाषा उत्तर की है। आप लोग इसे अपना ही समझें, पराया नहीं।"

आचार्यजी ने आगे चलकर कहा। "आज देश में प्रादेशिक एकता क बड़ी आवश्यकता है, फूट की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी उस एकता को स्थापित कर सकती है।"

"हमारी प्रादेशिक विभिन्नता इसी युग की उपज है। इससे पहले यहाँ कभी प्रान्तीयता का विष नहीं था। एक प्रान्त की प्रतिभा को दूसरा प्रान्त इसी तरह अपनाता था जैसे वह उसी की हो। बंगाल के लोग दक्षिण के ज्ञान को अपनाते थे और दक्षिण के लोग उत्तर की आराधना से कृतकृत्य होते थे। चैतन्य देव ब्राह्मण थे और अपने समय के बहुत बड़े विद्वान थे, किन्तु उन्होंने अपनी समस्त पुस्तकों की जल-समाधि दे दी थी। वह इस दक्षिण में आये थे और यहाँ के सिद्ध से प्रभावित हुए थे। आज प्रान्तीयता का विष फैल रहा है, किन्तु कला, संगीत और साहित्य देश तथा काल की परिधि से बाहर हैं। इन चीजों को प्रान्तीयता में बाँधना अहितकर होगा।"

देश की समन्वय वृत्ति की चर्चा करते हुए आचार्य सेन ने कहा—"हमारे देश में आदिकाल से विभिन्न संस्कृतियों और धर्मों का समन्वय होता रहा है। सबसे पहले यहाँ आर्य और आर्य-पूर्व संस्कृति का संगम हुआ। इसके बाद यूनानी आये। ईसा की पहली शती में यहाँ ईसा के मानने वाले पहुँच गए थे। मुसलमान साधु मुस्लिम विजेताओं से पहले ही पहुँचे। गुजरात की निरुपमा देवी ने तब मुसलमानों के लिए पचीस मस्जिदें बनाई थीं। बौद्ध तथा जैनधर्म तो यहीं उत्पन्न हुए थे। हमारे देश की संस्कृति तथा धर्म ने अन्य संस्कृतियों तथा धर्मों को नष्ट करने की अपेक्षा उनकी अच्छाइयों को अपने में आत्मसात् कर लिया। इससे हमारी संस्कृति और हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं है। आप लोग इस परम्परा को समाप्त न होने दें।"

उर्दू की मांग अनुचित—

हाल ही में काशी में उत्तर प्रदेशीय राजनैतिक सम्मेलन में राज्य भाषा के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव हुआ है। हम उसे यहां अविकल रूप में दे रहे हैं —

सन् १९४७ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने हिन्दी को राज्य की भाषा स्वीकार किया था। इसी वर्ष ८ अक्टूबर को इस निर्णय के अनुसार काम करने के लिए सरकार की ओर से आज्ञा निकाली गई थी।

उसके बाद सन् १९४९ में भारतीय संविधान द्वारा हिन्दी देश भर की राष्ट्रभाषा मानी गई। सन् १९५० में उत्तरप्रदेश के विधान मण्डल द्वारा 'उत्तर प्रदेश भाषा अधिनियम' पारित हुआ और राज्यपाल द्वारा स्वीकृत हुआ। फिर १९५१ में उत्तरप्रदेश विधानमण्डल ने 'उत्तर-प्रदेश राजभाषा अधिनियम' बनाया जो २३ नवम्बर १९५१ को लागू हुआ।

इन अवसरों पर विधानमण्डल की बैठकों में इस विषय पर बहुत बहस हुई कि इस प्रदेश की जनता की भाषा क्या है, उर्दू की इस प्रदेश में क्या स्थिति है और प्रदेश की उन्नति और उसके ऐक्य की दृष्टि से देवनागरी लिपि का ही प्रयोग हो या फारसी लिपि भी उर्दू के लिए स्वीकार की जाय। सम्पूर्ण प्रश्नों पर विचार कर उत्तरप्रदेश की सरकार और विधान मण्डल ने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के पक्ष में अपना निर्णय किया।

धीरे धीरे सरकार का यत्न बराबर होता रहा है कि सरकारी कामों में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी लेती जाय। ४ सितम्बर १९५२ की विधान सभा में मुख्य मंत्री ने घोषणा की कि अब सरकारी काम, जहां तक सम्भव होगा, हिन्दी में ही होगा। हाल में २१ अक्तूबर को सरकार ने अपनी विशेष आज्ञा द्वारा 'देवनागरी में लिखित हिन्दी को उत्तर प्रदेश की राजभाषा के रूप में चलाने की व्यवस्था' प्रकाशित की है।

उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी उत्तर प्रदेश सरकार के इन प्रयत्नों का स्वागत करती है, उसको बधाई देती है और उससे अनुरोध करती है कि १९४७ से, जब हिन्दी को उसने राजभाषा के रूप में स्वीकार किया था, अब तक ५ वर्ष से ऊपर होगए, अब अंगरेजी का स्थान पूर्णतः हिन्दी को देने में अधिक प्रगति की आवश्यकता है

इस बीच कुछ लोगों ने यह आन्दोलन चलाया है कि उत्तर प्रदेश में उर्दू भी क्षेत्रीय भाषा मानी जाय। उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने की माँग में फारसी लिपि का चलन निहित है। जहाँ तक उर्दू के पठन-पाठन का सम्बन्ध है उसके लिए सुविधाएँ प्रदान करना उचित है परन्तु इस कमेटी का दृढ़ मत है कि उत्तर प्रदेश में दो क्षेत्रीय भाषाएँ जिनकी अलग अलग लिपि हैं, मानने से प्रदेश की एकता टूटेगी और सब विभागों के प्रशासन में बड़ी कठिनाइयाँ होंगी और प्रदेश की उन्नति में गहरी बाधा पड़ेगी। अतः उर्दू को हिन्दी के साथ क्षेत्रीय भाषा बनाने की माँग सर्वथा अनुचित है।

अब इस बदले हुए समय में इस प्रकार के आन्दोलन को चलाकर हम प्रदेश में उस प्रेम और सहयोगिता का परिचय नहीं देंगे जिसका रहना देश की एकता और उन्नति के लिए सर्वथा अनिवार्य है।

यह कमेटी उन लोगों से जो इस आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं, अनुरोध करती है कि देश हित में उन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन न दें जिनसे पृथकता और साम्प्रदायिकता की भावना को उत्तेजना मिलती है।

यह कमेटी केन्द्रीय और राज्य की सरकारों से अनुरोध करती है कि वे इस प्रदेश में हिन्दी के अतिरिक्त और दूसरी क्षेत्रीय भाषा बनाने के आन्दोलन के हानिकर परिणाम पर ध्यान देंगी और उससे विचलित न होकर हिन्दी की प्रगति को तीव्र करने में सहायक होंगी।

काश्मीर साहित्य पर प्रकाश—

काश्मीर के जन कवि श्री दीनानाथ नादिम ने भारतीय साहित्य कला संघ (दिल्ली) की साहित्य परिषद की बैठक में "काश्मीर साहित्य" पर एक भाषण दिया। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी सभापति थे।

भाषण का कुछ अंश हम यहाँ दैनिक हिन्दुस्तान से उद्धृत कर रहे हैं।

अपने भाषण में श्री नादिम ने 'काश्मीरी साहित्य' के ऐतिहासिक आदिकाल का वर्णन करते हुए कहा, "१६ वीं शताब्दी में श्री लल्लेश्वरी, नूरुद्दीन (नुन्द ऋषि) के वाक्यों की काश्मीरी रचना विकसित रूप में उपलब्ध होने से हमें अनुमान होता है कि इससे पूर्व काश्मीरी भाषा में साहित्य अवश्य बना होगा क्योंकि इतना विकास अकस्मात सम्भव नहीं है। इससे दो-चार शताब्दी पूर्व का काश्मीरी भाषा एवं साहित्य मानना पड़ता है। वैसे इतिहास के गर्भ में यह रहस्य इतना गुप्त है कि खोज होने पर भी अभी अनावृत नहीं हुआ। यद्यपि धुँधले रूप में 'राज तरंगिनी' में एक जगह 'रंगस होन ध्यनु' शब्द आता है। पर इससे मात्र यह प्रतीत होता है कि काश्मीरी भाषा थी अवश्य—साहित्य भी था, यह पता नहीं लगता।"

अपना भाषण जारी रखते हुए आपने फिर काश्मीरी कविता के विभिन्न कालों का परिचय देते हुए कहा, "काश्मीरी काव्य का आदिम युग शैवमत से प्रेरित सूफीवाद का रहा है। लल्लेश्वरी इस युग की सबसे पहली और लोकप्रिय कवयित्री हुई हैं। काश्मीर का हर बूढ़ा, जवान, स्त्री पुरुष गली-गली और घर घर में—चरखा कातते और चक्की पीसते हुए उनके "वाक्यों" को गाता है। कारण कि वे जनता के अपने गाने हैं। इनमें जन साधारण के उसी दुःख दर्द को व्यक्त किया गया है जो उसे सदा सर्वदा अभिभूत करते रहते हैं। इसके बाद दूसरा युग शुरू होने से पहले काश्मीरी लोकगीतों में हिन्दू घरानों में "वनुन" की परम्परा का विकास होता है। ये 'वनुन' संस्कारों पर विशेषतः उपनयन संस्कार के मौके पर महिलाएँ गाती हैं। इनकी स्वर तान का आधार सामवेद की गायन शैली है। मैंने चीन में भी इनको आज प्रचलित देखा है।

दूसरे युग का श्रीगणेश भी हब्बा खातून—काश्मीर के तात्कालिक शासक श्री यूसुफ शाह चक की महिषी के वियोगपूर्ण गीतों से होता है। इसी काल में गीत बने और आज तक वे विकसित होते आये। इस युग के चरम विकास

(शेष पृष्ठ २५० पर देखिए)

रहस्यवाद की भारतीय परम्परा

प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए०

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सेमेटिक धर्म-भावना में रहस्यवाद का मूल उद्‌गम मान कर रहस्यवाद को भारत के लिए बाहर की वस्तु ठहराया था किन्तु प्रसादजी इस सिद्धान्त के विरोधी थे। वे वर्तमान रहस्यवाद की धारा को अमदिग्ध रूप से भारत की निजी सम्पत्ति मानते थे। अद्वैतवाद का दार्शनिक सिद्धान्त जब भाव क्षेत्र में प्रवेश करता है तब रहस्यवाद की सृष्टि होती है किन्तु सेमेटिक धर्म भावना तो अद्वैत के विरुद्ध पड़ती है। "सेमेटिक धर्म में मनुष्य की ईश्वर से समता करना अपराध समझा गया है। क्राइस्ट ने ईश्वर का पुत्र होने की घोषणा की थी, परंतु मनुष्य का ईश्वर से यह सम्बन्ध जिहोवा (यहूदियों के ईश्वर) के उपासकों ने सहन नहीं किया और उसे सूली पर चढ़वा दिया। पिछले काल में यहूदियों के अनुयायी मुसलमानों ने भी 'अनलहक' कहने पर मंसूर को उसी पथ का पथिक बनाया। सरमद का भी सर काटा गया। सेमेटिक धर्म भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म-भावना से अधिक परिचित थे।" *

भारतीय रहस्यवाद की परम्परा वैदिक काल से ही अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। वैदिक काल में एकेश्वरवाद और आत्मवाद की दो धाराएँ साथ-साथ चल रही थीं। "इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे। एकेश्वरवाद के वरुण और आत्मवाद के इन्द्र प्रतिनिधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेक पक्ष के आदर्श थे। महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्द के प्रचारक थे। वरुण को देवताओं के अधिपति पद से हटना पड़ा, इन्द्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनन्द की विचारधारा उत्पन्न की। फिर तो इन्द्र ही देवराज पद पर प्रतिष्ठित हुए। वैदिक साहित्य में आत्मवाद के प्रचारक इन्द्र की जैसी चर्चा है, उर्वशी आदि अप्सराओं का जो प्रसङ्ग है, वह उनके आनन्द के अनुकूल ही है। सप्तसिन्धु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा का अधिक आदर किया क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे। और वरुण यद्यपि आर्यों की उपासना में गौण रूप से सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुर के रूप में असीरिया आदि अन्य देशों में हुई। आत्मा में आनन्द भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। उधर असुर के अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेक के प्रतिष्ठापक हुए। भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया और आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इन्द्र के उद्देश्य से बड़े बड़े यज्ञों की कल्पनाएँ हुईं। किन्तु इस आत्मवाद और यज्ञ वाली विचार धारा की वैदिक आर्यों में प्रधानता हो जाने पर भी, कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य सङ्घ में दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे। वैदिक धर्म की प्रधान धारा में, जिसके अन्तर में आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक क्रियाओं का उल्लास था, व्रात्यों के लिए स्थान नहीं रहा। उन व्रात्यों ने दार्शनिक दृष्टि से विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्भावना की। इन्हीं लोगों के उत्तराधिकारी वे तीर्थङ्कर लोग थे जिन्होंने ईसा से हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। उधर संहिता के बाद श्रुति परम्परा में आरण्यक स्वाध्याय-मण्डलों में आनन्द का सिद्धान्त प्रचलित रहा। तैत्तरीय में एक कथा है कि भृगु जब अपने पिता अथवा गुरु वरुण के पास आत्मोपदेश के लिए गये तो, उन्होंने बार-बार तप करने की ही शिक्षा दी और बार बार तप करके भी भृगु सन्तुष्ट न हुए और फिर आनन्द सिद्धान्त को उपलब्धि करके ही उन्हें परितोष हुआ। विवेक और विज्ञान से भी आनन्द को अधिक महत्व देने वाले भारतीय ऋषि अपने सिद्धान्त का परम्परा में प्रचार करते ही रहे। उपनिषद् में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना

* काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३१

हो गयी थी, जो आनन्दसिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य ग्रन्थों में तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हो रहा था वहाँ प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द का सिद्धान्त भी प्रचरित हो रहा था। किन्तु साथ ही साथ असुर सघर्ष के द्वारा आदर्शवाद से, विवेक और बुद्धिवाद से भारतीय हृदय बहुत कुछ अभिभूत हो रहा था, इसलिए इन आनन्दवादियों की साधना प्रणाली कुछ-कुछ गुप्त और रहस्यात्मक होती थी।

'श्वेताश्वेतर' की निम्नलिखित पंक्तियों को लीजिए—

'वेदान्ते परम गुह्य पुराकल्पे प्रचोदितम्
नाप्रशान्ताय दातव्य नापुत्रायाशिष्याय वा पुन ॥

इससे स्पष्ट है कि वेदान्त में जो परम गुह्य है, उसे अप्रशान्त, अपुत्र और आशिष्य को देने का निषेध किया गया है।

वेदों और उपनिषदों का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने आगमों की अवतारणा की जिनमें भी आनन्दवाद का अनुसरण किया गया। आगमवादियों के शब्दों में—

"आनन्दोच्छलिता शक्ति सृज्यत्यात्मानमात्मना।"

अर्थात् आनन्द के द्वारा उच्छलित शक्ति ही अपने द्वारा अपनी सृष्टि करती है। आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्रधान आनन्द मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना पद्धति में प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्य सम्प्रदाय कहते थे। शिवसूत्र विमर्शिनी की प्रस्तावना में क्षेमराज ने लिखा है—

"जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि।"

जो लोग 'रहस्य' शब्द के प्रयोग को अत्यन्त आधुनिक समझते हैं, उन्हें इस उद्धरण पर ध्यान देना चाहिए।

शैवागमों के अद्वैतवाद के अनुसार संसार को मिथ्या मान कर असंभव कल्पना के पीछे भटकना नहीं पड़ता था। दुःखवाद से उत्पन्न मन्दम और संसार से विराग की आवश्यकता भी न थी। अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को आत्मा का अभिन्न अङ्ग शैवागमों में मान लिया गया था। शांकर अद्वैतवादियों की तरह शैवाद्वैतवादी संसार को मिथ्या मान कर नहीं चलते थे। उनकी दृष्टि में जब यह समस्त विश्व उसी का रूप है तब यह मिथ्या कैसे हो सकता है? इस विचार धारा का अनुसरण करने से फिर तो सहज आनन्द की कल्पना भी इन लोगों ने की। इन आनन्द के उपासकों ने मन के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कह डाला—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेय तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमय यतः॥

मन भी आखिर चल कर जायगा कहाँ? बाहर-भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा स्थान है ही कहाँ?

विवेकवादी धारा कर्मवादी बौद्धों के हीनयान सम्प्रदाय के रूप में तथा आत्मवादी धारा आनन्दवादी रहस्य-संप्रदाय के रूप में प्रकट हुई। इसके अनन्तर मिश्र विचार-धाराओं की सृष्टि होने लगी। कालान्तर में हीनयान महायान के रूप में बदल गया जिसमें कर्मकाण्डात्मक उपासना और देवताओं की पूजा भी सम्मिलित हो चली थी। श्रीकृष्ण के पूर्णावतार में बुद्धिवाद और आनन्द का समन्वय हुआ। गीता का पक्ष जैसा बुद्धिवादी था, वैसा ही ब्रजलीला और द्वारका का ऐश्वर्य-भोग आनन्द से सबद्ध था।

आगम के बाद सिद्धों ने रहस्यवाद की धारा अपनी प्रचलित भाषा में, जिसे वे सन्ध्या भाषा कहते थे, अविच्छिन्न रक्खी और सहज आनन्द के उपासक बन रहे। "रहस्यमार्गियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार ये लोग अपनी बानी को ऐसी पहेली के रूप म भी रखते थे जिसे कोई बिरला ही बूझ सकता है। अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ भी ये बताया करते थे, जैसे—

काआ तरवर पंच बिडाल

पंच बिडाल = बौद्ध शास्त्रों में निरुपित पंच प्रतिबन्ध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह। ध्यान देने की बात यह है कि विकारों की यही पाँच संख्या निर्गुण धारा के सन्तों और हिन्दी के सूफी कवियों ने ली। हिन्दू शास्त्रों में विकारों की बँधी संख्या ६ है।

गंगा जउँना माझे बहइ रे नाई।

(इस पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य

देश की ओर यात्रा) †"

हिन्दी के इन आदि रहस्यवादियों के पश्चात् बुद्धिवादी निर्गुण सन्तों का युग आया जिसके सबसे बड़े कवि कबीर हैं। 'साधो सहज समाधि भलो' में कबीर सिद्धों की सहज भावना को ही दोहराते हैं। कवित्व की दृष्टि से भी उन पर सिद्धों की कविता की छाया है। उन पर कुछ मुसलमानी प्रभाव भी पड़ा अवश्य है, परन्तु शामी पैगम्बरों से अधिक उनके समीप थे वैदिक ऋषि, तीर्थंकर, नाथ और सिद्ध। मीरां की भी 'सूली ऊपर सेज पिया की, किस विध मिलणो होय' जैसी पंक्तियों में रहस्यवादी भावना स्पष्ट है।

वर्तमान हिन्दी साहित्य में विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप 'अहं का इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक युग से लेकर आज तक इस देश में रहस्यवाद की अविच्छिन्न गति से बहती चली आई है। उक्त प्रमाणों के होते हुए भारतीय रहस्यवाद को 'विदेशी पौध' कहना उचित नहीं।*

† हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ११-१२।

* स्व० प्रसादजी के 'रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध के आधार पर प्रायः उन्हीं के शब्दों में लिखित।

(पृष्ठ २२० का शेष)

पुन मति सुनलि पियतम कोर।
विधि वस देवे वाम मेल मोर॥"

अनुप्रास की छटा आपको सर्वत्र मिलेगी। वेदना की टीस भी आप सर्वत्र अनुभव करेंगे। इसलिए शैली गंभीर और करुण हो गई है। भावना का उल्लास तो शैली में आपको ठौर ठौर मिलेगा। खासकर विरह के पदों में वेदना के भार से शैली भी मधुर और साथ साथ करुण हो गई है। 'रे' शब्द के प्रयोग ने माधुर्य का सृजन बहुत ज्यादा कर दिया है। कहीं कहीं इस शैली की छाया आप 'पन्त' जी के 'गुञ्जन' में पायेंगे। 'रे' के मधुर प्रयोग ने भी विद्यापति की उदासी उद्दीपित किया है। कविता है —

"लोचन धाय फेधायल हरि नहीं आयल रे।
सिव सिव जिवओ न जाए आस अरु झाएल रे॥२॥
मन करे तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे।
पेम परस मनि जानि आनि उर लाइअ रे॥४॥"

'रे' और 'हे' शब्द के व्यवहार के कारण शैली की धारणा, मनोमुग्धता और हृदयग्राहिता की शक्ति बढ़ गई है। बसन्त वर्णन का एक अंश और उद्धृत कर विद्यापति की शैली की समीक्षा यहाँ समाप्त की जायगी। रूपक के सहारे कवि ने बसन्त का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह अनोखा है। जयदेव को छोड़ हिन्दी और संस्कृत साहित्य में ऐसा वर्णन पाना मुश्किल है। जितनी अलङ्कारों की शोभा मिलेगी, उतनी ही वर्णन की सरसता और उससे भी ज्यादा शब्दों का चमत्कार जो हीरे में जड़े नग का काम करता है। पंक्ति हैं—

"आएल रितु पति राज बसन्त।
धाओल अलिकुल माधवि पन्थ॥२॥
दिनकर-किरण मेल पौगंड।
केसर कुसुम धएल हेम दण्ड॥४॥
नृप आसन नव पीठल पात।
कांचन कुसुम छत्र धर माथ॥६॥
मौलि रसाल-मुकुल भेल ताय।
समुखहि कोकिल पञ्चम गाय॥८॥
सिखिकुल नाचत अलिकुल यन्त्र।
द्विजकुल आन पढ़ आसिस मन्त्र॥१०॥
चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग।
मलय पवन सह भेल अनुराग॥११॥

इस पद गत शैली का गुण न करना सूर्य को दीपक दिखाना है। यहाँ तो कवि जयदेव के समकक्ष हैं। 'अभिनव जयदेव' तो इनकी उपाधि भी है। अस्तु, मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि इनकी शैली विश्व साहित्य में बेजोड़, अनूठी और अनुपम है।

विद्यापति की साहित्यिक शैलियाँ

प्रो० कृष्णकान्त चौधरी, एम० ए०

विद्यापति का आविर्भाव काल सन्त युग के आरम्भ है। कबीर के पूर्व ये मिथिला में वर्तमान थे। अतः इनकी शैली समीक्षा के पश्चात ही प्रेम काव्य शैली की विवेचना की जायगी। विद्यापति के पूर्व भी अगर जयदेव कवि की शैली का वर्णन उपस्थित किया जाय तो कोई विषयान्तर नहीं होगा क्योंकि हिन्दी कविता की गीतात्मक शैली जयदेव कवि की शैली से प्रभावित मालूम पड़ती है। जयदेव कवि के शैली विवेचन से आगे की शैली-समीक्षा में मदद मिलेगी। हिन्दी के कवियों की शैली समझने में ज्यादा परेशानी नहीं होगी।

जयदेव मधुर भावों के प्रणेता हैं। हिन्दी में उनकी रचना है या नहीं यह प्रश्न संदिग्ध है। संस्कृत में उनका काव्य 'गीत गोविन्द' है। गीतगोविन्द की ही शैलीगत विशेषता का ही कुछ आभास यहाँ दिया जायगा। गीत गोविन्द की रचना यद्यपि संस्कृत भाषा में हुई है तो भी उसकी शैली इतनी सरल और सुरुचिपूर्ण है कि वह हिन्दी का ही काव्य मालूम पड़ता है। अगर यह कहा जाय कि 'प्रिय प्रवास' का वर्णन शैली गीत गोविन्द की वर्णन-शैली की अपेक्षा दुरूह है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गीत गोविन्द की शैली इतनी सरल है कि अपढ़ लोग भी इसे समझते और गाते हैं। देहात में जहाँ नाच गान होता है, वहाँ गीतगोविन्द का पद अवश्य ही सुनने को मिलेगा। आप देखेंगे कि हर कोने से फरमाइश होगी ऐसे नाच और गान में कि गीत-गोविन्द के पद गाये जायँ। और मधुर लय और स्वरों में जब यह गीत उद्घोषित होता है तो श्रोता रस से सराबोर हो झूमने लगते हैं, वाह-वाह के शब्द हर दिशा में गूँजने लगते हैं। एक शब्दों में इस शैली के विषय में कह सकते हैं, 'ज्यों गूँगे रस मीठे फल को अन्तर गत ही भावै।' इस शैली में माधुर्य गुण का विकास इस लिए हुआ है कि यह काव्य कृष्ण-लीला काव्य है। कृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन ही आप इसमें पायेंगे। फल स्वरूप भी इसकी शैली मधुर, सरस, मर्मस्पर्शी, गेय, भावुक और सुरुचिपूर्ण हो सकी। शब्दों का चयन, छन्दों का प्रयोग, भावों एवं विभावों का चित्र इतना सुन्दर है कि शैली विश्व साहित्य में अनूठी हो गई है। विशेषणों का सयोग ऐसा है मानो मणिकांचन संयोग हो। देखिए —

"ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहि जनस्य दुरन्ते॥
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधूजन जनित विलापे।
अलिकुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे॥
मृगमद सौरभ रभस वशं वद नव दल माल तमाले।
युवजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किंशुक जाले॥
मदन महीपति कनक दण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे।
मिलित शिलीमुख पाटलि पटल कृतस्मर तूण विलासे॥"

संस्कृत साहित्य के गीत काव्य में 'गीत गोविन्द' अमर है। यमक और अनुप्रास अलङ्कार से जिस प्रकार भाव-व्यञ्जना की गई है वह किसी भी साहित्य में दुर्लभ है। अलङ्कारों के कारण अभिव्यक्ति रोचक और चमत्कारपूर्ण हो गई है। शृङ्गार-रस में शैली की ऐसी अभिव्यञ्जना असम्भव है। जितना ही भाषा में माधुर्य है उतना ही भाव में सौन्दर्य और शैली में रस है। प्रेम का और वसन्त के प्रथम आगमन का ऐसा कोमल, दिव्य और मादकता पूर्ण वर्णन अन्यत्र कठिन है। ये कोमल शब्द वसन्त के ही नव अरुण किसलय हैं। इन नवीन अरुण किसलयों की अरुणता शैली का सौन्दर्य है और रस का आन्तरिक रस और विश्राम भावों की सरसता है। वसन्त की प्रतिच्छाया, प्रतिरूप ही तो यह पद है।

गीत गोविन्द में आदि से अन्त तक आप ऐसी ही शैली का निरूपण पाएँगे। शैली के जितने प्रभावोत्पादक गुण हैं उन सबों का समावेश इस काव्य ग्रन्थ में हुआ है।

क्या अलङ्कार, क्या शब्द, क्या लक्षणा, क्या रस, क्या भावुकता और क्या कला सभी दृष्टियों से यह काव्य सरस और मधुर है। शृङ्गार के रस-धारा में आप जितनी ही डुबकियाँ लगाते जाइए आपको उतनी ही नवीनता मिलती जायगी। साहित्य और संगीत जहाँ दोनों कलाएँ मिलती हैं, वहाँ कला की पराकाष्ठा होती है। गीत गोविन्द में भी दोनों का मणि-मधुरी मेल हुआ है। यही कारण है कि शैलियों का इतना निखरा रूप आपको वहाँ मिलेगा।

विद्यापति की शैलियों के बारे में भी इतना ही कहा जा सकता है। जयदेव के बहुत समीप आप हैं, समकक्ष भी कहा जा सकता है। वही साहित्य और संगीत का मेल अलङ्कारों की विच्छित्ति, शब्दों की चमत्कारिता और भावों की सरसता परिलक्षित होगी। एक तो मैथिली भाषा ही मधुर भाषा है और दूसरे विद्यापति की भावुकता और सरसता ने अपार सौन्दर्य की सर्जना करदी है। इनके गीतों का आख्यान भी राधाकृष्ण का प्रेम है। विरह, मिलन, मान, अभिसार आदि के कलापूर्ण चित्रों ने तो शैली को जैसे चिरमफला ही प्रदान की है। विविध शैली चित्रों का दर्शन आपको विभिन्न गीतों में होगा।

विद्यापति मानव के कवि हैं। मानवीय सौन्दर्य का जो वर्णन कवि ने अपने गीतों में किया है, वह अद्वितीय है। लौकिक सौन्दर्य ही इन्हें ध्येय रहा है। इस सौन्दर्य को इन्होंने अलङ्कारों से ऐसा सजाया है कि देखते ही बनता है। कालिदास के साथ जो उक्ति मान्य है वह कवि के लिए भी फिट है।

"उपमा कालिदासस्य भारवेर् अर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्तित्रयो गुणाः॥"

विद्यापति कवि के लिए तीनों सत्य हैं। क्या उपमा, क्या अर्थ और क्या पद लालित्य सब कमाल के हैं। उपमा का जो रूप विद्यापति ने उपस्थित किया है वह अन्यत्र हिन्दी-साहित्य में दुर्लभ है। मैथिली की कोमल कान्त पदावली में इन्होंने संगीत की जो सृष्टि की है वह अपूर्व और हृदय-स्पर्शी है। उपनयन, विवाह या अन्य मांगलिक समारोह के अवसर पर जब मिथिला की कल-कण्ठ कामिनी इन पदों को गाती हैं तो अमृत की वर्षा होने लगती है। रस की सरिता चारों ओर प्रवाहित होने लगती है। एक तो पदों की शैली ही संगीतमयी है और दूसरे कामिनियों के मधुर कल-कलाप। दोनों मिल कर पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं वर्षा ऋतु की रिम झिम में जब मिथिला की अमराइयों में कदम्ब की डाल पर झूले पर बैठी मधुर स्वर सम्पन्न युवतियाँ चौमासे और बारहमासे गाती हैं तो स्वर्ग का आनन्द भी फीका पड़ जाता है, मात हो जाता है। इस तरह कवि ने विविध शैलियों में अपने गीतों का प्रणयन किया है। इनके पदों पर मुग्ध हो रवीन्द्र कवीन्द्र भी रोज इन्हें गाया करते थे। इनका प्यारा पद था— जिसे गा-गाकर वे आनन्द विभोर हो जाते थे—

"सखि हे हमर दुखक नहीं ओर।
ई भर बादर माह भादर सून मंदिर मोर॥२॥
झंपि घन गरजंति संतत भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुण सघन खर सर हंतिया॥४॥
कुलिश कत सत पात मुदित मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छातिया॥६॥
तिमिर दिग भरि घोर यामिनी अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब हरि बिना दिन रातिया॥८॥"

वर्षा का रूपक बाँधकर कवि ने विरहिणी नारी का चित्र खींचा है। साथ साथ उद्दीपन विभाव का प्रयोग कर कवि ने नायिका के दुख को और घना कर दिया है, संगीत के लयों में इस प्रयोग कर और मधुर बना दिया है। इसीलिए शैली इतनी तीव्र और स्निग्ध हो गई है कि हृदय में बिना चुभे रहती ही नहीं है।

कवि की शैली का समीक्षात्मक रूप उपस्थित करने के लिए कवि का क्रमिक शैली विकास ही देखना श्रेयस्कर होगा। कवि ने शुरू में कुछ विनय के पद ही कहे हैं। कुछ नाचारी, बारहमासा और चौमासा में भी इनके पद हैं। इनके सभी पद संगीत के सुर और लयों से पगे हैं। पढ़ कर बिना विमुग्ध हुए नहीं रह सकता है कोई। नमूना के लिए देखिए, जितना मधुर कृष्ण का रूप है उतनी ही मधुर और विमुग्धकारी इसकी शैली है। पद है:—

"नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर
धिरे-धिरे मुरलि बजाव।

समय संकेत निकेतन बइसल
बेर बेर बोलि पठाव ॥२॥
सावरे, तोरा लागि
अनुखन विकल मुरारि ॥३॥

और अन्त में है—

"भनई विद्यापति सुनु बरजौवति
बन्दह नन्द किसोरा ॥७॥"

शिव सम्बन्धी नचारी पद भी हैं। कुछ ऐसे पद हैं जो शिवसिंह सरोज के राज्याभिषेक और युद्ध आदि पर लिखे गये हैं। इन पदों में शैली भावात्मक नहीं होकर वर्णनात्मक हो गई है। कवि ने सीधे शिव के रूप का वर्णन ही उपस्थित किया है। उदाहरण लीजिए.—

"हम नहि आज रहब यहि आँगन
जो बुढ होएत, जमाई, गे माई।
एक त बइरि भेला बीध विधाता
दोसरे धिया कर बाप।
तेसरे बइरि भेल नारद बामन
जेठे बूढ आनल जमाई, गे माई॥
पहिलुक बाजन डामरु तोरब
दोसरे तोरब रुंड माला
बरद हाँकि बरिआत बौलाइब
धिआ ले जाएब पराई, गे भाई॥
धोती लोटा पतरा पोथी
एहो सब लवन्हि छिनाई।
जौं किछु बजता नारद बामन
दाढ़ी धए घिसि आएब, गे माई॥"

कितनी सरस यह नचारी है। डमरू पर गाते-गाते शिव के भक्त मस्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि दिहातों में भी लोग जो खास कर अपढ़ हैं इन पदों को गाते सुने जाते हैं। शिवरात्रि के अवसर पर कामर धुएँ जब सुएड में चलते हैं तो इन नचारी के पदों को गाते हुए अपने दुर्गम मार्ग को पार कर लेते हैं। नचारी की इन शैलियों को सुनकर लोग समझ जाते हैं कि कामर धुएँ जा रहे हैं।

नचारी के इन्हीं पदों में आपको प्रगतिवादी शैली का भी रूप मिलेगा। इस शैली में रूपक के द्वारा गरीब किसान-मजदूरों की गरीबी का अच्छा दिग्दर्शन हो सका है। पद है—

"नाहि करब वर हर निरमोहिया।
बित्ता भरि तन वसन न तिन्ह का
बघ छल काँख तर रहिया ॥२॥
बन बन फिरथि मसान जगावथि
घर आँगन ऊ बनौलनि कहिया।
सासु ससुर नहीं ननद जेठौनी
जाए बैसति धिया के करा ठहिया ॥४॥
बूढ बड़द ढक-ढोल गोल एक
सम्पति भाँगक झोरिया।
भनइ विद्यापति सुनु हे मनाइन
सिव सन दानी जगत के कहिया ॥८॥

इस पद में शिव का रूपक बाँध कर कवि ने युग की गरीबी का चित्र आँका है। अतः प्रगतिवादी शैली का आभास विद्यापति के पदों में सर्व-प्रथम ही देखने को मिलता है। और भी नचारी के बहुत से ऐसे पद हैं जो लोगों द्वारा गाये जाते हैं, पर उनका अभी तक संग्रह नहीं हो सका है। इनकी शैली में जन साधारण की भाषा का उपयोग बड़े ही सरल ढङ्ग में हुआ है। यही कारण है कि विद्यापति के पद जन-जन के कंठहार बने हुए हैं। इनके पदों की शैली इतनी विख्यात और लोक-रुचि के अनुरूप है कि आप कहीं भी इन्हें गायें लोग समझ जायेंगे कि विद्यापति के पद गाये जा रहे हैं। हर ऋतु में आपको विद्यापति के पद सुनने को आयेंगे। क्या बसन्त और क्या बरसात। मर्षा में बारहमासे और चौमासे पाये जाते हैं। देखिए इन शैलियों को भी। पद है:—

"मोर पिया सखि गेल दुर देस।
जौवन दए गेल साल सनेस ॥१॥
भादव मास बरस घनघोर।
सब दिसि कुहुकए दादुल मोर ॥
चहुँकि चहुँकि पिया कोर समाय।
गुनमति सूतलि अङ्ग लगाय ॥४॥
माघ माघ घन पड़ए तुसार।
भिलमिल केचुआँ दनत बनदार॥

(शेष पृष्ठ २१७ पर देखिए)

सेनापति : शृङ्गारी या भक्त कवि

प्रो० शिवबालक शुक्ल बी० ए० आनर्स, एम० ए०

किसी कवि को वर्ग विशेष अथवा सम्प्रदाय से सम्बद्ध घोषित करना एक समस्या है। और तब, जब कि इसके हेतु परम्परागत मान्यता या कोई सर्वमान्य प्रतिमान न प्राप्त हो, यह प्रश्न और दुरूह हो जाता है। वह कौन सी तुला है जिस पर सेनापति की शृङ्गारिकता और भक्ति का सन्तुलन किया जाय। कालिदास तथा विद्यापति की भी यही दो प्रवृत्तियाँ साहित्य के चिन्तनशील विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करती रही हैं। इस प्रकार के प्रश्नों से, यदि हमारा दुराग्रह अहङ्-पादारोपण न हो जाय, न श्रेय-प्रदायक पद्धति का पुनर्प्रचार एवं प्रतिष्ठा हो जाय, किसी स्वस्थ परिणाम पर भी पहुँचा जा सकता है।

महर्षि शाण्डिल्य ने भक्तिसूत्र में 'भक्तिः परानुरक्तिरी-श्वरे' कहा है। ईश्वर अप्रत्यक्ष है अतः वैधी भक्ति के विधा-नानुसार 'देवोभूत्वा देवम् भजेत्' पर बल दिया गया है। अँगरेजी में कहा है :—

Devotion wafts the mind above,
And Heaven itself descends in love.

देवोभूत्वा सच्चे साधक ही 'सर्ववेदिनमनादिमास्थितम् देहिनामनुजिघृक्षयावपुः' * भगवान् का दर्शन कर पाते हैं। भक्त भगवान् के अनन्त शील, असीम शक्ति और अनु-पम शाश्वत सौन्दर्य से आह्लादित होता है। उसे संसार आराध्यमय दीखता है। भक्ति भाव से प्रेरित सूर, मीरा तथा तुलसी ने कृष्ण और राम के अतिरिक्त प्राकृत जन का यश गान नहीं किया। मीरा की पति-अवहेलना इसका ज्वलन्त प्रमाण है। भक्त सदा निवृत्ति से प्रभावित होता है। चित्त की शोधक वृत्तियाँ मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा उसका अन्तर्मन आन्दोलित करती रहती हैं। भक्त-कवि की रचना में सन्त-स्वभाव, विश्व-विरक्ति तथा परमार्थ-चिन्तन प्रवृत्ति विषयों के प्राधान्य से आनुषङ्गिक अन्य रसों का पर्यवसान अन्ततोगत्वा शान्त रस में ही होता दीखता है।

* देखिए शिशुपाल वध, सर्ग १४, श्लोक ६२.

महाकवि देव ने अपनी 'प्रेमचन्द्रिका' में कहा है—

बानी को सार बखान्यो सिँगार,
सिँगार को सार किसोर किसोरी

शृङ्गारी कवि इसीलिए व्याल विनिन्दक कौशेय कुन्तलों की मसृणता, नेत्रों का मङ्गल स्नेह-मेदुरता, गुलाब के नाल-दल सी मुख प्रफुल्लता, सिंहिनी सदृश कटि एवं मृणाल नाल सी उँगलियों की प्रतनुता में उलझ जाता है। निकल न सकने पर गजब की सफाई देता है—

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

—दास

भक्त कवि सृष्टि के सौन्दर्य में अपने आराध्य की कला और तन्मयता का अनुभव करता है। समग्र सृष्टि में—स्वर्गिक विभूति के इस आकलन और आदरण में—उसका हृदय आनन्द-सुधा स्यन्दिनी धारा से अभिषिक्त हो जाता है। वह इस सौन्दर्य का उपभोग और आत्मसात् न करके, उसकी उपासना और नीराजना करता है।

इस लम्बे विषयान्तर-प्रकरण के हेतु क्षमा किया जाऊँ। घनानन्द जैसे किसी ही किसी कृती कलाकार को उसके कवित्त बनाते हैं। प्रायः कवि संस्कार और वातावरण से प्रभावित होते हैं। ऐतिहासिक परिस्थिति और युग की माँग सेनापति को भक्त नहीं शृङ्गारी बनाने के लिए तुली हुई थी। वैभव विलास और श्री समृद्ध की चपल चितवन से बचना कठिन था।* रीतिकाल के प्रायः प्रत्येक कवि ने किसी न किसी रूप में आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के हेतु प्राकृत जन गुणगान किया है। 'समानशील व्यसनेषु सख्यम्' के अनुसार सेनापति उन्हीं के साथ पैर से पैर और कन्धे से कन्धा मिलाते हुए चले हैं और इसीलिए

* देखिये साहित्य सन्देश अप्रैल १९५० में मेरे लेख 'रीतिकालीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ' का प्रारम्भिक अंश।

'हर बलो' को कृष्ण के सदृश बनाते हैं। (क० रत्ना० तरङ्ग १ छ० ५६)

मानव शरीर के विविध रोगों की भाँति सेनापति में भी अन्य प्रवृत्तियों के साथ भक्ति भावना विद्यमान थी। किसी व्यक्ति के शरीर में रोग विशेष के कीटाणु उस रोग को उभारने में समर्थ होते हैं, यद्यपि वे कीटाणु सभी के शरीर में न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहते हैं। उपरान्त सेनापति की भावना उसी प्रकार की प्रतीत होती है।

वाग्वैदग्ध्य और चमत्कार के चक्कर में पड़ कर किसी भी शृङ्गारी कवि की भाँति सेनापति ने कहा था—

सन्या करे लागें अलङ्कार हैं अधिक यामें,
राखी मति ऊपर सरस ऐसे साज कों।
सुनु महाजन चोरी होति चारि चरन की,
तातें सेनापति कहै तजि करि ब्याज कों।
लीजिए बचाइ ज्यों चुरावै नाहिं कोई,
सौंपी वित्त की सी थाती मैं कवित्तन के राज कों।

यहाँ पर दण्डी तथा भामह के सम्प्रदाय में दीक्षित सेनापति अपने पाण्डित्य का—कहने भर को स्वाभिमान का—विज्ञापन करते हैं—डींग मारते हैं। भक्तों की रचनाओं में सब कुछ है पर वे 'कोरे कागद लिख कर' शपथ खाते हैं कि वे कुछ नहीं जानते। भक्त अपने भावों का सुन्दर संक्रमण चाहता है। श्रद्धेय के प्रति सबको श्रद्धालु पाकर वह प्रसन्न होता है। तुलसी ने कहा है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी,
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई,
लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं,
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं।*

सेनापति को डर है कि कोई उनके कवित्त वित्त को चुरा न ले जाय अतः कवित्तन के राज को यह थाती सन्यस्त कर दी। नाम, रूप, गुण, शक्ति, विभूति, और ध्यान परा भूमिकाओं पर विहार करने वाला भक्त ऐसी बातें स्वप्न में भी सोच सकता है—ऐसा विश्वास नहीं होता। भक्त को भगवत् कृपा का धन होता है उसे प्रदर्शन से क्या प्रयोजन ? 'सरस अनूप रस रूप बुनि' हुआ करे। कवित्त तीक्ष्ण अमल बुद्धिवाले को सुगम और मूढन को अगम हो सकता भक्त ऐसा नहीं चाहता।

तुलसी ने 'भनिति' को सुरसरि सम और शृङ्गारी देव ने 'बानी पुनीत ज्यों देवधुनी', 'सीन सभी चन्द्रिका कविता कविता' कहा है। सेनापति में प्रकृत शालीनता नहीं, शृङ्गारी कवियों जैसा स्वाभिमान (जिसमें दर्प निहित है) और कबीर जैसा अक्खड़पन दृष्टिगोचर होता है। देव ने—

साहेब अन्ध, मुसाहेब मूक,
सभा बहिरी, रँग रीझ को माच्यो

और घनानन्द ने—

पूँछ बिसान बिना पसु जे सु कहा घन आनन्द बानी बखानै कहा था। ठाकुर को तलवार ही निकालनी पड़ी थी। इन सभी कवियों ने यत्र-तत्र भक्ति परक रचना की है। पर क्या वे भक्त कवियों की श्रेणी में आते हैं ? सेनापति की रचना में देव, बिहारी, मतिराम, श्रीपति, कालिदास, त्रिवेदी और पद्माकर जैसे कवियों के से शृङ्गारी भाव विद्यमान हैं। और इन सब में प्रेम के पाँचों प्रकारों (सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य) का यत्र तत्र दर्शन होता है। शृङ्गार और भक्ति अङ्गी और अङ्ग रूप में इन सभी में विद्यमान है फिर इसी रचना के एक कवि को अलग कैसे किया जाय ? सेनापति को भक्त कवि सिद्ध करने वाले महानुभाव कह सकते हैं कि सेनापति ने प्रथम तरङ्ग ही में गणेश

* १—तुम वहन कर सको जन जन में मेरे विचार।
मेरी वाणी क्या तुम्हें चाहिए अलङ्कार —पन्त

२—Drive my dead thoughts over
the universe
× × ×

Scatter, as from an unextin-
guished hearth
Ashes and sparks, my words
among mankind
—Shelley

बन्दना में कहा है—

तुम हो बताई बहु कीनी कविताई तामें,
होइ जोगताई, दुचिताई के सुभाइ कै।
बुद्धि के बिनाइकै, गुमाई कवि नाइकै,
सु लीजिए बनाइ यै कहत सिर नाइकै।

इस प्रकार के मङ्गलाचरण और बन्दनायें अन्य कवियों ने भी की हैं परन्तु भक्त कवि क्या हरी और उसके भक्तों को लेकर इतना तमाशा खड़ा करेगा? यहाँ पर मैं कवि सेनापति की उत्कृष्ट कविता की बुराई नहीं कर रहा हूँ अपितु उनके काव्य में उनके भक्त कवि को खोजने का प्रयास कर रहा हूँ। और मैं रम्य गर्व के साथ शृङ्गारी वायरन के आलोचक न्यूमैन, रोचेस्टर के हैजलिट की भाँति कहूँ कि सेनापति का काव्य सौन्दर्य प्रशसनीय है उसका प्रभाव चाहे जो कुछ हो।

माना सेनापति ने रामायण के कुछ अशों को कवित्त-बद्ध किया है, पर उसमें किसी भावुक भक्त जैसी वह तन्मयता नहीं दीखती, जो अपने आराध्य का प्रसङ्ग छिड़ते ही दूसरों को आनन्द निमग्न कर देती है। 'सूर रामायण' और 'कृष्ण गीतावली' ने 'श्याम सखा' सूर और 'दासी दास' 'तुलसी' को क्रमश राम और कृष्ण भक्त नहीं बनाया। तब फिर सेनापति हा क्यों गङ्गा शिव कृष्ण आदि के भक्त हो गये। उनकी इस भक्ति का रूप क्या था उसे आगे निवेदन करूँगा।

सेनापति ने आराध्य के प्रति अपनी भक्ति-विह्वलता और आत्म विस्मरण का परिचय नहीं दिया है। रामायण के ऐसे प्रसङ्गों का सजयन न कर वीरोत्साह प्रधान प्रसङ्ग लिये हैं। समुद्र दशा का विशद-वर्णन किया है।

बूँद ज्यों तरु की तची, कमठ की पीठ पर,
छार भयो जात छीर सिन्धु छननाइ कै॥
× × ×
दीन महा मीन, जीव हीन जलचर भुरे,
बहल मलीन कर मीड़े पछितात हैं।

यहाँ सहृदय पाठक को एक चित्र भयङ्कर उत्ताप का अवश्य मिलेगा पर भक्ति-उपेत कविता नहीं। मुझे तो 'अनीस' और 'दबीर' जैसी वर्णनशैली ही मिली, सुनिए—

मिस्ले तनवर गर्म था पानी का हर हुबाब।
होती थी सीख मौज पै, मुर्गाबियों कबाब॥—अनीस
पानी था आग गर्मिये रोजे हिसाब थी।
माही जो सीख मौज पै आई कबाब थी॥—दबीर

उर्दू शायरों ने मुर्गाबी और माही तथा सेनापति ने महामीन और जलचर चुरान की चर्चा की है।

'कवित्त-रत्नाकर' की तरङ्ग ४ और ५ में उनकी भक्ति-भावना मुखर है। विभिन्न देवों के प्रति उनकी यह प्रणति उन्हें उस समय भक्तों की पांक्त में प्रविष्ट करा देती है। यहाँ पर विनय की सात भूमिकाएँ भी जहाँ तहाँ मिल ही जाती हैं। यथा—

हिए न भगति जानें होत सुभ गति, —दीनता
तन तीरथ चलत मन ती रस चलत है।—भयदर्शना
मानों कै ना मानों करो सोई जोई जिय जानों,
हम तौ पुकार एक तोही सौं करत हैं। —मानमर्षणा
अब तू जग में परयो मोह पींजरा में,
सेनापति भजु रामैं जो दरैया पर पीर के।—भर्त्सना
ऐसो अवगुनी तके सेइबे को तरसत,
जानिये न कौन सेनापति के समान है। —आश्वासन
प्रभु के उजरिन की गूदरीयें चीरन दो,
भाल, भुज, कण्ठ, उर, छारन का छमिर्यो।
सेनापति चाहत हैं सकल जनम भरि,
वृन्दावन सीमा तें न बाहर निकसिबौ। —मनोराज्य

और—

हगन सौं देखें विश्वरूप है अनूप जाको
बुद्धि सौं बिचारें निराकार निरधार है।
× × ×
कर न सदेहरे कहा में चित देहरे,
कहा है बीच देहरे कहा है बीच देहरे। —विचारणा

जहाँ तक सेनापति के मानव का प्रश्न है यह सब ठीक है। किन्तु यहाँ उनके कवि के रूप (शृङ्गारी अथवा भक्त) का परीक्षण ही अभीष्ट है।

रामायण और रामरसायन वर्णन में राम, कृष्ण, शिव, गङ्गा आदि से सम्बद्ध छन्दों में कथन की करामात अधिक, आलम्बन का आराध्य का माहात्म्य अङ्कन कम
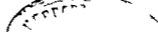
है। उदाहरण के लिए गायक महाराय के स्वर भरने पर मित्रद्वय का सुर में सुर मिलाना हुआ कि वे बोले उठे—

सुर न दीजै प्रवीन, हौं अलापिहौं अकेलौ

किन्तु गायक के मुख से धोखे से निसृत शब्द जब मित्रों के कानों में पड़े तो गायक और सुहृद देव लोक नायक हो गये।

धोखे सुर नदी जै के कहत, सुनत, भये,
तीनों तीनि देव, तीनि लोकनके नाइकै।
गाइन गरुड़ केतु, भयो, द्वै सुनाऊ भये,
न्हा महादेव बैठे देवलोक जाइ कै॥

परन्तु सरकार! आपको बड़ी सरकार का समझकर सवाल करते जरा डर लगता है। विष्णु यदा कदा पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, ब्रह्मा का भी विनाश होता हुआ सुना है पर शङ्कर अवधूत, अक्षय, अनादि और अनन्त ही रहते हैं। यदि उन तीनों में से एक को हम शङ्कर ही मान लें तो भी काम नहीं चलता क्योंकि गङ्गा का उद्भव बाद ही का है। तब तो आपके इस छन्द में समग्र श्लेष और अकमातिशयोक्ति का चमत्कार ही प्रधान रहा, गङ्गा भक्ति नहीं, सुर नदी माहात्म्य नहीं। अजामिल ने नारायण का—अपने पुत्र का—स्मरण स्नेह वात्सल्य और मोहातिरेक वश किया था यहाँ धोखे से ही सब कामना बन जाता है। किस युग में यह चार सौ बीसी हुई थी? आपकी यह उद्भावना श्लाघ्य है।

भक्त समग्र सृष्टि को आराध्य मय देखता है। सेनापति को सारा जगत् नारीमय प्रतीत होता है। क्या उन्होंने उपासना की थी? कदापि नहीं। वे तो—

जुगुति विचारि सेनापति है विचारि कहैं,
नर नर नारि दोऊ एक ही बचन में।

सेनापति को नारी में वाटिका, स्वर्ण मोहर, तलवार, मेंहदी, पाग रागमाला, शमादान, माला, कमल, इन्द्रपुरी, चौपर, सुनार, नौका, रदा घर समूह (रजाई, दुशाला, तनसुख) मनमद, महाभारत सैन्य, छौंग, सागर, नाड़ी, हरिणी, ग्रीष्म ऋतु और प्रथिव अनभावनी भी दृष्टिगोचर होती हैं। स्त्री के मान, तिल, नेत्र, लोहा, बोल, भवन आदि क्रमशः बाण, तिल्ली मट, नायक, ईख, गंगा इत्यादि पदार्थ प्रतीत होते हैं। आधुनिक युग में उन्हें नारी बिजली की कतार ही नहीं, बेतार का तार, महीनगन, वायुयान, टारपीडो, मृत्यु किरण और आटम बम्ब के रूप में दिखाई देती। गनीमत यह हुई कि आप अट्ठारहवीं शताब्दी में हुए अन्यथा कोई आधुनिका आप से कह उठती—

छन्द रचती हैं हम ध्यान रहे अब आप,
रूप वर्णन में न यह भूल जायेंगे।
आप यदि केशों को हमारे कहेंगे काला,
भर पेट दाढ़ी मूँछ की प्रशंसा पायेंगे।
आप यदि हमको कहेंगे कल लतिका सी,
मधुपूर्ण महुआ से आप कहलायेंगे।
आप यदि हमको कहेंगे मृग लोचनी तो,
आप भैंसा लोचन अवश्य बन जायेंगे॥*

मैंने ऊपर भक्त को नारी सौन्दर्य की उपासना करने वाला बताया है। सीता के प्रति तुलसी का यही भाव था। कालिदास ने कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में जगत पितरौ शिव पार्वती का संयोग शृङ्गार वर्णन किया है। सेनापति ने नारी को वस्त्रसमूह बताते हुए घोर शृङ्गारिकता का परिचय दिया है।

सोये संग सब राती सीरक परति छाती,
पैयत रजाई नेकु आलिंगन कीने ते।
उर सौं उरोज लागि होत है दुसाल तेई,
× × ×
तन सुख रासि जाके तन के तनकौ छुवैं,
—तरंग १, छंद ३० और तरंग ३, छंद ४८

पर इस छन्द की शृङ्गार वर्णना 'आम्रीपर्णीयर इवा तिनरामू प्रकाश' है।

प० उमाशङ्कर शुक्ल ने लिखा है, 'भगवान के जिस स्वरूप को लेकर सेनापति चले हैं उसके प्रति उनके हृदय में सच्चा अनुराग था और वे उसकी अभिव्यक्ति करने में पूर्ण सफल हुये हैं। × × × जब मनुष्य को यह अनुमान होने लगता है कि जीवन एक क्षणिक घटना है

* सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा की एक उत्तर पुस्तक से उद्धृत। —लेखक

शुक्लजी की 'मध्यम कोटि की रसानुभूति'

प्रो० वृन्दावन विहारी अग्निहोत्री, एम० ए०

शुक्लजी के प्रमुख आलोचनात्मक निबन्धों में 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' नामक एक निबन्ध भी है। यह 'चिन्तामणि' के पहले भाग में है, और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी द्वारा संकलित, 'रस मीमांसा' में भी पढ़ा जा सकता है। इस लेख में जो अवतरण आदि दिये जावेंगे उनका हवाला अनुच्छेदों (पैराग्राफ) के क्रम से दिया जावेगा।

साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद पर शुक्लजी के जो प्रमुख विचार हैं उनकी परीक्षा आदि करना इस लेख का ध्येय नहीं है। परन्तु इस निबन्ध में शुक्लजी ने रसानुभूति के दो भेद माने हैं। एक को पुराना बतलाया है और दूसरे को नया और निज की ऊहापोह के फलस्वरूप प्राप्त बतलाया है। इसी रसानुभूति भेद की परीक्षा हमारा ध्येय है।

शुक्लजी का कहना है (अनुच्छेद ७) कि यदि किसी काव्यकृति में (उदाहरणतः) एक साधु एक दुष्ट की भर्त्सना करता है, तो पाठक का साधु के साथ तादात्म्य हो जाता है, अर्थात् साधु के साथ उसकी सहानुभूति बराबर चलती है। चूँकि यहाँ पाठक का तादात्म्य साधु के साथ हो जाता है इसलिए इस रसानुभूति को शुक्लजी प्रथम कोटि की रसानुभूति कहते हैं।

परन्तु यदि काव्य-कृति में एक दुष्ट मनुष्य एक साधु की निन्दा-भर्त्सना आदि करता है, तो पाठक का हृदय इस निन्दा में योग नहीं देता, उसका तादात्म्य दुष्ट के साथ नहीं होता, पाठक अपना व्यक्तित्व अलग सँभाले रहता रहता है। इस रस दशा को, जिसमें पाठक का तादात्म्य किसी भाव प्रकट करने वाले आश्रय के साथ नहीं होता, शुक्लजी एक भिन्न और मध्यम कोटि की रसानुभूति मानते हैं।

सारांश यह कि रसानुभूति की इन दो कोटियों की भिन्नता पाठक और आश्रय के सम्बन्ध पर आधारित है।

प्रस्तुत लेखक की समझ में इन दो रसानुभूतियों में प्रकार का अन्तर तो है पर इनमें से एक को, पाठक-आश्रय-तादात्म्य के आधार पर, उच्च कोटि और दूसरी को मध्यम कोटि का कहना युक्तिसंगत नहीं है। इस दृष्टिकोण के कारण नीचे दिये जाते हैं।

शुक्लजी स्वयं उन आलोचकों में थे जो वास्तविक जीवन की रसानुभूति में और काव्योत्पन्न रसानुभूति में (साधारणीकरण के अतिरिक्त) कोई मौलिक भेद नहीं मानते। इसलिए उनके इस निष्कर्ष को वास्तविक जीवन की कसौटी पर कसना अन्याय न होगा।

मान लीजिये आप वास्तविक जीवन में देखते हैं कि एक साधु एक दुष्ट की भर्त्सना कर रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आपकी सहानुभूति साधु के साथ रहेगी। अब यह होता है कि वह दुष्ट साधु को गालियाँ देने लगता है। यहाँ भी स्पष्ट है कि हमारी सहानुभूति उसके साथ नहीं होगी। पहले उदाहरण में हमारे भाव होंगे—'ठीक ही तो कहता है'—इत्यादि। दूसरे उदाहरण में हमारे भाव होंगे—'क्या बेहूदा बकता है!'—इत्यादि। इन भावों को नाम देना हो तो अनुमोदन और क्रोध कह लीजिये। अब स्वयं सोच लीजिये कि क्या आप इस अनुमोदन को इस क्रोध से 'उच्च' भावना कह सकते हैं? दोनों भिन्न भावनाएँ हैं अवश्य, पर उत्तम मध्यम का निर्णय असंगत ही है।

इन दोनों भावों का साधारणीकरण कर डालिये, अर्थात् वास्तविक जीवन के बदले काव्य रख दीजिये—भाव के बदले रस—और फिर वही प्रश्न कीजिए। राम के उद्गारों के प्रति अनुमोदन और रावण के उद्गारों के प्रति क्रोध—इनमें से किसी एक को आप 'उच्च' कहेंगे तो किस मानदण्ड के जोर पर?

नैतिकता का मानदण्ड शायद किसी रस दशा को ऊँचा या नीचा मान सकता है, पर शुक्लजी इस मानदण्ड का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। उनका कहना है कि यदि

पाठक और आश्रय का तादात्म्य हुआ तो प्रथम कोटि की रसदशा हुई और नहीं हुआ तो मध्यम कोटि की।

आशा है लेखक का दृष्टिकोण अब तक स्पष्ट हो गया होगा।

यदि शुक्लजी अपने निष्कर्ष में प्रमाद कर गये तो इसका कारण क्या था? मेरी समझ में कारण था— आश्रय को स्वतन्त्र सत्ता दे देना। यह 'आश्रय' का प्रपञ्च संस्कृत के आचार्यों का रचा हुआ है हालांकि आश्रय के रहने न रहने से रस निष्पत्ति का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। पाठक रसानुभूति करता है पूरी परिस्थिति को अवगत करके। बिना किसी आश्रय के भी रसनिष्पत्ति होती है यह शुक्लजी जानते और मानते हैं (अनुच्छेद ८-उत्तरार्द्ध—'कवि ही आश्रय के रूप में रहता है'।) यदि आश्रय काव्य में नहीं होता तो कवि (और इसलिए पाठक भी) अन्त में आश्रय बन जाता है। सारांश यह कि रसनिष्पत्ति में आश्रय का होना आवश्यक नहीं है। आश्रय केवल एक साधन होता है जिसके द्वारा लेखक अपना इच्छित प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। पाठक आश्रय पर दृष्टि गड़ाकर रसानुभूति नहीं करता। वह पूरी परिस्थिति को देखता है, आश्रय जिसका एक अंग है। आश्रय में परिवर्तन होने से रसानुभूति बदलेगी, ठीक वैसे ही जैसे परिस्थिति के किसी दूसरे अंग के बदलने पर।

उदाहरण के तौर पर रोहिताश्व की मृत्यु को लीजिये। लेखक को करुण रस की सृष्टि करना है। वह चाहे तो स्वयं कह सकता है 'हा रोहिताश्व! जिस माता ने तुम्हारा मुँह जलने के डर से कभी गरम दूध नहीं पिलाया वह आज तुम्हें चिता पर कैसे रखेगी?' यहाँ प्रस्तुत आश्रय नहीं है। या शैव्या कह सकती है, 'हा पुत्र! मैंने कभी तुम्हें मुँह जलने के डर से गरम दूध नहीं पिलाया'— इत्यादि। यहाँ शैव्या आश्रय है। पाठक देखेंगे दोनों उदाहरणों की रसानुभूति में विशेष अन्तर नहीं होता। नाटक में लेखक स्वयं कुछ कह नहीं सकता इसलिए उसे यह शैव्या के मुँह से कहलवाना पड़ता है या और किसी पात्र के मुख से। पर कृति के रूप से रस में भेद नहीं होता। अस्तु।

अ तादात्म्य का एक उदाहरण देते हुए शुक्लजी ने कहा है (अनुच्छेद २) कि यदि कोई पात्र किसी कुरूप स्त्री पर प्रेम करता है तो उस कुरूप स्त्री के वर्णन से शृङ्गार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता। बात ठीक है, पर मैं इसे मध्यम कोटि की रसानुभूति न कहूँगा। यहाँ शृंगार रस की निष्पत्ति चाहता ही कौन है। लेखक स्पष्ट ही वीभत्स या हास्य आदि की सृष्टि करना चाहता है। इसीलिए उसने इस परिस्थिति का निर्माण किया है। 'यहाँ पर अमुक रस नहीं है, इसलिए मध्यम कोटि की रसानुभूति हुई,'—यह कहना जबर्दस्ती मत्थे ठोंसना है। और ऐसा कहना (अनुच्छेद ७) कि 'ऐसा काव्य केवल भाव प्रदर्शक हो सकता है, भाव विधायक नहीं'—यह भूल जाना है कि यह काव्य यदि शृङ्गार विभाग का विधान नहीं कर रहा है तो हास्य या वीभत्स आदि के विभाव का विधान कर रहा है और शायद खूब कर रहा है।

आगे चल कर शुक्लजी इसी सम्बन्ध में 'अपरितोष' का प्रसङ्ग उठाते हैं (अनुच्छेद ८) 'आश्रय कि जिस भाव व्यञ्जना को श्रोता या पाठक कुछ भी अपना न सकेगा उसका ग्रहण केवल शील वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से कोई भाव उत्पन्न हो कर अपरितुष्ट दशा में रह जायगा।' विवेचन बिलकुल ठीक है, पर इस वाक्य से ध्वनि यह निकलती है कि भावों का उत्पन्न होकर परितुष्ट होना काव्य की सफलता के लिए आवश्यक है। यहाँ पर मुझे दुःखान्त कृतियों की ओर ध्यान आकर्षित करना है। इस विषय में अभी अधिक न लिख कर केवल यह निवेदन करना चाहता हूँ कि दुःखान्त काव्य (जो अनेक विद्वानों द्वारा काव्य का उत्कृष्ट रूप माना गया है) का ध्येय यही होता है कि भय, करुणा, आदि भावनाओं को उभार कर अपरितुष्ट दशा में छोड़ दिया जाय। इसीलिए दुःखान्त नाटक में अन्याय आदि की विजय होती है। तात्पर्य यह कि लेखक की इच्छा पर है कि वह उभरी भावनाओं का परितोष करे या न करे।

प्रस्तुत लेख का दृष्टिकोण शुक्लजी की दृष्टि से बिलकुल छूट गया हो यह बात नहीं। उन जैसे आलोचक से ऐसा

हो नहीं सकता था। वे स्वयं कहते हैं (अनुच्छेद ८) इस दशा में भी एक प्रकार तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सघटित करता है'— इत्यादि। मेरा निवेदन है कि यही साधारणीकरण और तादात्म्य काव्यानुभव की मुख्य वस्तु है। यही लेखक और पाठक का ध्येय रहती है। यही काव्यानुभव की अन्तिम सीढ़ी रहती है। यहीं पर रस निष्पत्ति होती है। इसके पहले की सीढ़ियों पर तादात्म्य न हुआ तो इसका अर्थ है कि लेखक का इच्छित प्रभाव अभी आया नहीं, उसके साधन जुटाये जा रहे हैं। पर शुक्लजी इस अन्तिम सीढ़ी को गौरव दे देते हैं। आठवाँ अनुच्छेद पढ़कर देखिये— 'थोड़ा बहुत', 'एक प्रकार का' आदि वाक्यांशों का क्या प्रयोजन है यह समझना मुश्किल है।

निष्कर्ष यह है कि चूंकि आश्रय काव्य का केवल एक अङ्ग ही है, इसलिए उसके और पाठक के तादात्म्य के आधार पर, काव्यानुभव की अन्तिम दशा रस निष्पत्ति— (कवि आश्रय और पाठक का तादात्म्य) आने के पहले ही, रस दशा का वर्गीकरण करने लगना, सचारीभाव को स्थायीभावी मान कर आलोचना करने के बराबर है। जब कवि का आशय पूरा प्रकट नहीं हो पाया तभी उसकी श्रेणी की चिन्ता करना ठीक नहीं।

(पृष्ठ २२८ का शेष)

कोटि की साधना से ही बाह्य कला का इतना उत्कर्ष आ सकता है। सूर के समान वह केवल भाव तरङ्गों की अभिव्यक्ति नहीं है अपितु उसमें एक सजग कलाकार के श्रम की भी करामात है।

उद्धवशतक भ्रमरगीत-साहित्य का रत्न है। इसमें मुक्तक में प्रबन्ध और प्रबन्ध में मुक्तक है। ब्रजभाषा का अत्यन्त साहित्यिक रूप उसमें दर्शित है। साथ रूपकों का चरों चमत्कार है, गोपियों के तर्कों व चेष्टाओं में बिहारी की वाग्विदग्धता एवम् अनुभव योजना भी नत हो जाती है, पदावली के प्रयोग में पद्माकर व देव विस्मृत से लगने लगते हैं। बुद्धिवादिता की दृष्टि से कई प्रयोग नवीन हुये हैं यद्यपि 'स्प्रिट' प्राचीन है और सब के अन्तर स्थित भाव की वह अविच्छिन्न धारा है जिसमें डुबकी लगा लेने पर प्रत्येक अलङ्कार, प्रत्येक चमत्कारमयी युक्ति, प्रत्येक कल्पना हमें शतशत संवेदनों की लपेट में बद्ध कर देती है। काव्य पुरुष के समान ही 'उद्धवशतक' की आत्मा रस है, शरीर शब्द और अर्थ, तथा अलङ्कार आभूषण। भागवत का बिंदु जो सूर ने सागर में परिवर्तित कर दिया था और जो रीतिकाल में शुष्क हो गया था, 'भारतेन्दु' की ज्योत्सना में रत्नाकर के रूप में पुनः लहरा उठा है।

(पृष्ठ २३७ का शेषांश)

करने की इजाजत है, उतनी या उससे कुछ ज्यादा रांगेय-राघव ने की है। अगर पं० सोहनलाल द्विवेदी के लिए गौतम बुद्ध का जन्मस्थान पाटलिपुत्र हो सकता है, तो रांगेय राघव के लिए करुणा का सन्देश सुनकर फासिस्टों के हाथ से हथियार छूटना क्यों नामुमकिन है।

२—रांगेयराघव की रचना उद्धृत कर वे लिखते हैं— "छंद रचना की यह माचवे शैली है। श्री प्रभाकर माचवे ने इस शैली में सबसे ज्यादा रचना की है टुकड़े से नापकर मानों हाँसिए खींच दिए गए हों। पंक्तियाँ लड़खड़ाती हुई चलती हैं और एक बार उनसे आगे निकल जाने पर पाठक का मन यह नहीं करता कि उन्हें फिर अपने पास फटकने दे।

साहित्य के सम्बन्ध में उनका सबसे बड़ा आग्रह उसके साहित्य होने का है। प्रगति और परम्परा में प्रगतिशील साहित्य पर अमृत द्वारा उठाए गए ७ प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को पहिले साहित्य होने की माँग की है। पन्त की समीक्षा में उन्होंने पन्त के परवर्ती काव्य की कलाहीनता पर विशेष प्रकाश डाला है। रांगेय राघव तथा माचवे प्रभृति कवियों द्वारा मुक्तछन्द की खींच-

(शेष पृष्ठ २३५ पर देखिए)

हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन की आधारभूत प्रवृत्तियाँ

प्रो० कृष्णनन्दन प्रसाद 'अभिलाषी' एम० ए०

साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है और जीवन संस्कृति और परिस्थितियों की सूक्ष्म प्रतिक्रिया। जीवन धारा को मोड़ने वाली ये परिस्थितियां अनेक हैं। इनमें सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ प्रधान हैं। साहित्य निर्माण के मूल में इन परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। ये ही उन ढाँचे को परिवर्तित और परिवर्द्धित करती रहती हैं। अतएव जिस कालखण्ड में जिस परिस्थिति विशेष की प्रबलता और प्रचुरता रहती है—उस कालखंड में उसी प्रकृति के साहित्य का निर्माण होता है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन प्रधानतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर किया है। इनमें मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल तथा रामकुमार वर्मा अति प्रसिद्ध हैं।

इनके कुछ अपने अलग सिद्धान्त भी हैं जिनके कारण कालखण्डों की संख्या, उनके नामकरण तथा काल निर्णय में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। यही कारण है कि जहाँ श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य शुक्ल के इतिहास में हमें प्रधानतः चार खंड—वीर गाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल देखने को मिलते हैं, वहाँ रामकुमार वर्मा के इतिहास में 'सन्धि काल' से युक्त पाँच खंड दृष्टिगत होते हैं। यद्यपि शुक्लजी के इतिहास में इस नाम का कोई काल खंड नहीं है, परन्तु उनका 'अपभ्रंश काल' वही काम करता है जो 'संधि काल' करता है। मिश्रबन्धुओं को पाँच से सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए इसकी संख्या उन्होंने नौ कर दी। किन्तु बाद में जब उन्हें ध्यान आया तब प्रथम तीन भागों को 'आदि प्रकरण' के अन्तर्गत रख कर उसकी संख्या उन्होंने सात कर दी। 'वीर गाथा काल' इसी में समाविष्ट हो गया। पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो उसके 'पूर्वालंकृतकाल' और 'उत्तरालंकृत काल' को बिना किसी अनौचित्य के रीतिकाल के भीतर रख सकते हैं, और तब उनकी संख्या एक और घटकर छः रह जायगी। इनमें दो नवीन तथा अनावश्यक खंड हैं एक का नाम है 'अज्ञात काल' और दूसरे का 'परिवर्तन काल'। 'अज्ञात काल' के विषय में वे स्वयं लिखते हैं 'अज्ञात प्रकरण' इतिहास ग्रन्थों में होता ही नहीं और हमारे यहाँ भी नहीं होना चाहिए था, परन्तु हिन्दी में चरित्र-वर्णन की कमी से बहुतेरे लेखकों का पता नहीं चलता। यदि केवल इतिहास ग्रन्थ लिखते होते तो हम इस प्रकरण को नहीं लिखते, परन्तु हमारा विचार तथा साहस कुल प्राचीन कवियों के नाम लिखने का है, इसलिए अज्ञात समय वाले रचयिताओं का भी कथन कर दिया गया है। इसी प्रकार 'परिवर्तन काल' के विषय में लिखते हैं—

'परिवर्तन प्रकरण' में ३ अध्यायों द्वारा उस समय का हाल कहा गया है जबकि यूरोपीय सघर्ष से उत्पन्न नवीन विचार हिन्दी में स्थान पाने का प्रयत्न कर रहे थे।" शेष दो काल के नाम हैं 'प्रौढ़ माध्यमिक काल' (भक्ति काल) और 'वर्तमान काल'।

इसी प्रकार काल निर्णय में भी विभिन्नता देखने को मिलती है। जहाँ रामकुमार वर्मा का 'संधि काल' संवत् ७५० से आरंभ होकर संवत् १००० में समाप्त होता है। वहाँ 'मिश्रबन्धु विनोद' का 'आदि प्रकरण' संवत् ७०० से संवत् १४६० तक चलता है। शुक्लजी का 'अपभ्रंशकाल' समय के बन्धन से मुक्त है, और श्यामसुन्दरदास ने तो अपनी पुस्तक को ही इस प्रकरण से मुक्त रखा है। 'वीर गाथा काल' का समय वर्माजी के ग्रन्थ में संवत् १००० से से संवत् १३७५ तक, शुक्लजी के इतिहास में संवत् १०५० से संवत् १३७५ तक और श्यामसुन्दरदास की पुस्तक में संवत् १०५० से संवत् १४०० तक माना गया है। भक्तिकाल वर्माजी और शुक्लजी दोनों के मतानुसार संवत् १३७५ से आरंभ होकर संवत् १७०० में समाप्त होता है। किन्तु श्यामसुन्दरदास के ग्रन्थ में इसका समय संवत् १४०० से १७०० तक दिया है। और मिश्र बन्धुओं का 'प्रौढ़ माध्य-

मिक काल' संवत् १५६१ से संवत् १६७० तक चलता है। रीतिकाल के विषय में रामकुमार वर्मा, श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य शुक्ल तीनों एक दूसरे से सहमत हैं। उनके अनुसार यह काल खंड संवत् १७०० में आरंभ होकर संवत् १९०० में समाप्त होता है। किन्तु मिश्रबन्धु विनोद में इसका समय संवत् १६९१ से १८८९ तक लिखा है। 'आधुनिक काल' का आरंभ उपरोक्त तीनों विद्वान संवत् १९०० से मानते हैं। परन्तु मिश्रबन्धुओं के मतानुसार इसका श्रीगणेश संवत् १८९० में ही हो जाता है।

यहाँ तक तो काल वैविध्य पर विचार किया गया, अब थोड़ा काल विभाजन के सिद्धान्त पर भी विचार किया जाय। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास का काल विभाजन दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है। उन्हीं के शब्दों में वे इस प्रकार हैं—

'जिस काल खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना लिया गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है ...... किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढंग का रचना को लें वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी, यह नहीं कि और सब ढंग की रचनाएँ मिलकर भी उनके बराबर न होंगी।......... दूसरा बात है ग्रन्थों का प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक ग्रन्थ प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जायगी, चाहे और दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत-सी पुस्तकें भी इधर उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें।' भक्तिकाल की ओर संकेत करते हुए वे आगे लिखते हैं—'एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की परम्पराएँ चली हुई पाई गई हैं वहाँ अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है'—वक्तव्य से।

काल विभाजन के सम्बन्ध में रामकुमार वर्मा और श्यामसुन्दरदास के सिद्धान्त बहुत कुछ एक से हैं। इन्होंने काल विशेष की परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप किसी विशेष लक्षण या प्रकृति को अपनाकर उस काल खंड का नाम करण किया है। इस विषय में वर्माजी की दृष्टि राजनैतिक परिवर्तन की ओर अधिक रही है। आदि काल का नाम जो उन्होंने 'सन्धिकाल' रक्खा है उसके मूल में तत्कालीन सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थिति का सम्मिश्रण है। संधि का अर्थ है संयोग अथवा मिलन या जोड़। वह युग दो धर्म (वैदिक और बौद्ध धर्म) और दो भाषाओं (अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी) का सन्धि युग था। अतः इसका नाम करण यथार्थ और तर्कपूर्ण है।

इस दृष्टि से जब हम 'मिश्रबन्धु विनोद' पर विचार करते हैं तब इसका काल विभाजन दोषपूर्ण जान पड़ता है। इसका प्रधान कारण यह है कि इसके लिखने का उद्देश्य केवल प्राचीन कवियों की 'नामावली तैयार करना था, इतिहास लिखना नहीं। परन्तु 'हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।'—आचार्य शुक्ल। प्रस्तुत पुस्तक में इन बातों पर ध्यान नहीं दिया गया है। 'विनोद' में इन तथ्यों का समावेश कैसे संभव था। रीतिकाल का विभाजन कितना दोषपूर्ण है, इसकी ओर संकेत करते हुए शुक्लजी लिखते हैं—

'रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है उसका उपभोग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? किसी काल विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहा जा सकता।...... इस काल से कवियों के परिचयात्मक वृत्तों की छानबीन में मैं अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हूँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था, न कि कवि कीर्तन करना'—वक्तव्य पृ ५।

एक बात और है। 'मिश्रबन्धु विनोद' में जिसे शुक्लजी इतिहास न कहकर 'कवि वृत्त संग्रह' कहते हैं जहाँ परिस्थिति और प्रवृत्ति के आधार पर वास्तविक

नामकरण हुआ है, वहाँ कवि विशेष के नाम पर भी कुछ कालखंडों का नामकरण हुआ है। उदाहरण के लिए सेनापतिकाल, बिहारीकाल, भूषणकाल, देव काल आदि लिये जा सकते हैं। इतना ही नहीं, वरन् प्रत्येक कवि काल के भीतर उस प्रवृत्ति के कई कवि रखे गये हैं, जैसे सेनापति काल (संवत् १६८१ से १७०६) के भीतर ध्रुवदास, चतुर्भुजदास, सूरानन्द, तोष, आदि के नाम गिनाए गये हैं। इसी प्रकार बिहारी काल (संवत् १७०७–१७२०) में नरहरिदास, प्राणनाथ, मतिराम आदि समाविष्ट हैं।

काल विभाजन के सिद्धान्तों के विवेचन के पश्चात् उसकी दो महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक है। इनमें पहली बात यह है कि काल विभाग से 'हमारा यह आशय नहीं कि एक काल के समाप्त होते ही काव्य धारा दूसरे दिन से ही दूसरी दिशा में बहने लगी। ऐसा समझना तो मानो साहित्य का गणितशास्त्र की श्रेणी में स्थान लेना होगा' (श्यामसुन्दरदास पृ० १६३)। दूसरी बात की ओर संकेत करते हुए शुक्लजी लिखते हैं—'यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है, परन्तु यह न समझना चाहिए कि किसी काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को लें तो उसमें वीर रस के अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढङ्ग की होगी जिस ढङ्ग की गाथा काल में हुआ करती थी' । पृ० ३

इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना करते हुए डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने पहली जुलाई सन् १९५२ के 'आर्यावर्त' में प्रकाशित अपने लेख—'हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का लक्ष्य' में लिखा है—

"वैज्ञानिक प्रक्रिया के अभाव के कारण अभी तक हम रामचन्द्र शुक्ल के राज में 'वीरगाथाकाल', 'भक्तिकाल', 'रीतिकाल' आदि का स्वीकार करते हैं। भारतीय इतिहास के आदि युग से अब तक कोई भी ऐसा काल नहीं रहा है और उसमें कोई भी ऐसा भाग नहीं रहा है जिसमें भक्ति रस का साहित्य नहीं निर्मित हुआ। दक्षिण में ईस्वी सदी के प्रारम्भ में ही अल्वार आदि ने भक्ति के सुन्दर पद रचे हैं और फिर ८ वीं ९ वीं शताब्दी में जब शङ्कर और कुमारिल ने उत्तर से लेकर दक्षिण तक को अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्वर लहरी से स्पन्दित प्रति स्पन्दित कर दिया तो क्या उस युग को भक्तियुग नहीं कहेंगे ? और तथाकथित रीतिकाल में, जो दादू, मलूक, तुलसी, साहब आदि ने निर्गुण भक्ति का शत सहस्र रच नाएँ कीं, क्या उनको देख कर हम शुतुर्मुर्ग के समान आँखें बन्द कर लें ! और फिर जब तुलसी और सूर अपनी भक्ति के पद गा रहे थे तब क्या मुगल दरबारों में शृङ्गार की नग्न शायरी नहीं हो रही थी।'

इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि यदि ब्रह्मचारी जी शुक्लजी की उपरोक्त पंक्तियों को पढ़े होते तो शायद ऐसा लिखने का साहस नहीं करते।

यहाँ तक तो हिन्दी साहित्य के इतिहास का विभाजन कैसे हुआ—इसकी चर्चा हुई। अब थोड़ा इस पर भी विचार कर लेना चाहिए कि इसका विभाजन कैसे होना चाहिए और कैसे हो सकता है। इसके कई रूप हो सकते हैं। तुलनात्मक दृष्टिकोण भी उनमें एक है जिसकी ओर ब्रह्मचारीजी ने संकेत किया है। देश और विदेश की विभिन्न भाषाओं के विभिन्न साहित्य के विकास क्रम से तुलना करते हुए हिन्दी साहित्य का विकास क्रम दिखाया जा सकता है। जो वास्तव में सुन्दर और लाभदायक होगा।

दूसरा दृष्टिकोण भाषागत हो सकता है। जिस काव्य-खण्ड में जिस भाषा का प्रधानता रही है—उस काव्य खण्ड को उसी नाम से पुकार सकते हैं। उदाहरण स्वरूप आदि युग या सन्धि काल में अपभ्रंश भाषा से मिश्रित पुरानी हिन्दी में साहित्य का निर्माण हुआ है। इस काव्य को हम 'प्राचीन हिन्दी काल' कह सकते हैं। इसी तरह 'वीर गाथा काल' को 'डिंगल साहित्य काल', भक्ति काल को 'अवधी साहित्य काल', 'ब्रज-साहित्य काल', अथवा साहित्य काल, रीति काल को ब्रज तथा खड़ी बोली का साहित्य काल तथा वर्तमान काल को 'खड़ी बोली का साहित्य काल' कह सकते हैं।

अँगरेजी साहित्य का विभाजन कभी राजा को

प्रधानता पर हुआ है और कभी व्यक्ति की प्रधानता पर। उदाहरण स्वरूप उस साहित्य में जहाँ हमें 'विक्टोरियन ऐज' (Victorian Age) देखने को मिलता है, वहीं 'शेक्सपीयरियन ऐज' (Shakespearian Age) भी दृष्टिगत होता है। हमारे साहित्य में व्यक्ति की प्रधानता तो देखने में आती है—पर राजाओं की प्रधानता नजर नहीं आती। यही कारण है कि जहाँ 'भारतेन्दु-युग' 'द्विवेदी युग' आदि का निर्माण हुआ है—वहाँ किसी राजा के नाम पर कोई काव्य खण्ड नहीं बना।

साहित्यिक वादों के आधार पर भी साहित्य के इतिहास का विभाजन होता है। अँगरेजी साहित्य के 'क्लासिकल ऐज' (Classical Age) तथा 'रोमांटिक ऐज' (Romantic Age) इसके प्रमाण हैं। हिन्दी साहित्य में भी वादों की भरमार है जिनके आधार पर उसके इतिहास का विभाजन सहज ही संभव है।

साहित्यिक रूपों (Forms) के आधार पर भी किसी साहित्य का विकास क्रम बताया जा सकता है। कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता, निबन्ध आदि इसके अनेक रूप हैं। इनमें से यदि प्रत्येक को अलग अलग लेकर उनका उत्थान और पतन, उद्भव और विकास दिखाया जाय तो उस साहित्य का पूरा पूरा ज्ञान सहज ही में उपलब्ध हो सकता है। अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों को दृष्टि इस ओर जाना नितान्त आवश्यक है।

साहित्यिक-प्रवृत्तियाँ भी साहित्य के इतिहास के विभाजन का आधार बन सकती हैं। ये प्रवृत्तियाँ ही, जैसा कि आरम्भ में ही लिखा जा चुका है, साहित्य के मूल में निहित हैं। अतः उनके आधार पर उसका विभाजन उचित ही है। मानव प्रवृत्तियाँ भी अनेक हैं जिनमें शृङ्गार, भक्ति, वीर आदि प्रसिद्ध हैं। इनके आधार पर शृङ्गार-परक साहित्य अथवा धर्म परक साहित्य का इतिहास तैयार किया जा सकता है, जिससे किसी विशेष भावना का समुचित ज्ञान प्राप्त होगा। उदाहरण के लिए राम-काव्य को लें। इस राम-काव्य के मूल में निहित राम के प्रति प्रेम और श्रद्धा की भावना का आरम्भ कब, कैसे और क्यों हुआ, तथा उसका विकास क्रम किन कठिन परिस्थितियों से होड़ लेता हुआ आगे बढ़ा। इसी रीतिकालीन शृङ्गारिक कविताओं के इतिहास के लिए हमें साहित्य के आदि युग में छान-बीन करनी होगी जहाँ सिद्ध-साहित्य में इसका बीज छिपा है।

सौभाग्यवश हमारा साहित्य नित्य-प्रति बड़े तीव्र से आगे बढ़ता जा रहा है। अतः शीघ्र ही लेखा जोखा रख लेना आवश्यक है नहीं तो समय बीत जाने पर सम्भव है—बातें धुँधली पड़ जायें।

(पृष्ठ २३१ का शेषांश)

त्याग कर कविता की चीरफाड़ करने की प्रवृत्ति की उन्होंने भर्त्सना की है।

परन्तु रामविलास भी इस कलात्मक ह्रास का कारण सामाजिक ही मानते हैं और उसका उत्तरदायित्व लेखक अविकसित चेतना का मानते हैं।

परन्तु एक सिद्धान्तप्रिय और ईमानदार आलोचक के नाते यह बात रामविलासजी के विचारों से मेल नहीं खाती। वे इस प्रवृत्ति को साहित्य और समाज के लिए घातक पतनकारी मानते हैं—और इसके कट्टर विरोधी हैं इसीलिए अपनी आलोचना का आधार वे मार्क्सवाद के उस महान जीवन-दर्शन को मानते हैं जो मानवता की प्रगति का महान् मन्त्र है।

मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र के भारतीय व्याख्याता डा० रामविलास शर्मा

श्री रामेश्वर शर्मा

हिन्दी के सुधी समीक्षकों में आज डा० रामविलास जी का स्थान है—यह कहने की आवश्यकता साहित्य के व्याख्याता तथा मर्मी विद्वानों के सम्मुख नहीं रही है। हिन्दी के युग प्रवर्तक कला समीक्षक के रूप में आज न केवल हिन्दी जगत वरन् बाहर के देश भी उनसे परिचित हैं।

रामविलासजी की आलोचना का मानदण्ड मार्क्सवादी चिन्तना का है। मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र कला के यथार्थ रूप की व्याख्या करता है—और, उसे जीवन की रागात्मक अनुभूति मानता है। प्रगति विरोधियों की ओर से इस समीक्षा प्रणाली पर यह आरोप किया जाता है कि यह एक साथ पाश्चात्य सिद्धान्तों को कला पर लागू करती है तथा यह साहित्य में वस्तु पक्ष पर अधिक तथा काव्य के बहिरङ्ग पक्ष को कम महत्व देती है। इस सम्बन्ध में रामविलास जी के समीक्षा ग्रंथ सभी तर्कों के उत्तर हैं। हिन्दी में मार्क्सीय कला समीक्षा का कौनसा रूप प्रस्तुत हुआ है—यह जानने के लिए डा० रामविलास के ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक तथा अनिवार्य है। उन्होंने मार्क्सीय आलोचना प्रणाली का भारतीय रूप अपनी व्यवहारिक आलोचनाओं में प्रस्तुत किया है। वे मार्क्सीय सौन्दर्य शास्त्र के भारतीय व्याख्याता हैं। रामविलास जी जातीय जीवन की चेतना को कला का प्राण मानते हैं। प्रतापनारायण और आधुनिक कवियों की भाषा की तुलना करते हुए वे लिखते हैं—"प्रतापनारायण मिश्र जैसे लेखक पहले से ग्राम्य प्रयोगों को अपनाते थे उनकी भाषा मालुम होता है, बैसवाड़े की धूलि में खेली है, आज के लेखकों की भाषा मालुम होता है मुँह में कुछ भी लगा कर आई है।" उन्हें भारत की, अवध की मिट्टी से अपार स्नेह है। धूलि में लेटी हुई भाषा ही हमारे सहज जीवन के निकट है।

वे साहित्य को एक महान सामूहिक चेतना मानते हैं। उनके मत है कि साहित्य एक विराट सामूहिक प्रयत्न है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने साहित्य की आलोचना के लिए जिन सिद्धान्तों की स्थापना की थी वे आज के साहित्य का मूल्यांकन करने में सक्षम नहीं हैं। साहित्य आगे बढ़ता है—क्योंकि परिवर्तन शीलता जीवन का महान नियम है।

कुछ विचारकों का मत है कि मार्क्सीय कला समीक्षा के साथ फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र का सम्बन्ध जोड़ा जाए—ताकि एक अत्यन्त पूर्ण, सन्तुलित तथा व्यापक दृष्टि वाली समीक्षा पद्धति का निर्माण हो सके। उनके विचार से मार्क्सवाद मनुष्य के केवल सामूहिक रूप का विश्लेषण करता है और मनोविश्लेषण शास्त्र उसके अन्तर्मन का। दोनों ही एक सूत्र के दो छोर हैं। ऐसे विचारक 'नाम हकीम खतरे जान' की तरह का एक नुस्खा बता कर अपने को विशेष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। रामविलासजी इस नए गठबन्धन के विरोधी हैं और ऐसा किसी संकीर्णता के कारण नहीं, वरन् वे इस प्रकार के गठबन्धन को मौलिक रूप से असंगत मानते हैं। इस प्रकार के मेल को वे दर्शन-शास्त्र में ठगविद्या मिलाने की बात मानते हैं। फ्रायडियन मनोविज्ञान आज विगतयुग की वस्तु हो गया है—आधुनिक मनोविज्ञान के निष्कर्ष उसके थोथेपन को अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं। गलती तो लोग यह करते हैं कि मनोविश्लेषण शास्त्र को ही मनोविज्ञान समझने लगते हैं। मार्क्सवाद को मनोविश्लेषण शास्त्र से असम्पृक्त मानना मनोविज्ञान का निषेध नहीं है। वरन् मार्क्सवाद के सर्वहारा दर्शन को पूँजीपतियों के नकली मनोविज्ञान से बचाना है—जो मनोविज्ञान तो नहीं बुर्जुआ वर्ग की रक्षा का नया हथियार है। हिन्दी के मनोविश्लेषणवादी आलोचक डा० नगेन्द्र की समीक्षा करते हुए रामविलासजी ने उनकी आलोचना की जो असंगतियाँ बतलाई वे इस पद्धति की अवैज्ञानिकता को सिद्ध करती हैं।

रामविलासजी की आलोचना का सबसे बड़ा माध्यम है

उनकी तर्कशीलता। वे जो कुछ स्थापना करना चाहते हैं—उसके लिए वे अनेक युक्तियों से अपने तर्क को पुष्ट करते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए दिए गए तर्क की अकाट्यता असंदिग्ध है—जिसके कारण वे प्रति पक्षों को भी अपनी बात मनवाने में सफल होते हैं। सर्व श्री राहुल सांकृत्यायन, भगवतीचरण वर्मा, सुमित्रानंदन पन्त, रांगेयराघव, शिवदानसिंह चौहान, दिनकर, बाबू गुलाबराय (रस सिद्धान्त और आधुनिक हिन्दी साहित्य) डा० नगेन्द्र, शरदचन्द्र, यशपाल आदि पर लिखी गई समीक्षाएँ—*उनकी अमोघ तर्कशालता को प्रकट करती हैं।*

शर्मा जी की आलोचना की दूसरी विशेषता है—उनकी व्यङ्ग्यात्मकता। एक तीखे और तिलमिलाते हुए व्यङ्ग्य के द्वारा वे प्रतिपाद्य विषय को और भी अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावपूर्ण बना देते हैं।

यह व्यङ्ग्य विपक्षी के हृदय पर तीखे तीर की तरह लगता है। पुष्ट तर्कों द्वारा विषय को पाठक के गले तक उतार देने के बाद वे व्यङ्ग्य के द्वारा आक्रमण कर थोड़े हास्य की सृष्टि भी कर देते हैं। इसीलिए उनकी आलोचना कहीं भी मन को उबा देने वाली नहीं होती—वरन् उसमें एक अनूठी सरसता मौजूद रहती है जो आनन्द की सृष्टि करने के साथ ही पाठक को एक नए जीवन दर्शन की प्रेरणा प्रदान करती है।

अपने तर्कों की क्रमबद्धता के द्वारा वे पाठक को रचना के ध्येय तक ऐसे औत्सुक्य पूर्ण ढंग से ले जाते हैं कि प्राप्त निष्कर्षों से पाठक सहज ही सहमत हो जाता है। उनके तर्क कार्य कारण शृङ्खला से उद्भूत ध्येय की एक सूत्र में ग्रथित तथा अपनी बौद्धिक संगति से वजनदार होते हैं। डा० नगेन्द्र द्वारा साधारणीकरण की जो नई व्याख्या की गई उसके अनुसार डा० नगेन्द्र का मत है कि साधारणीकरण आलम्बन, आश्रय आदि का न होकर कवि की अनुभूति का होता है। सहृदय सामाजिक (पाठक) कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य करता है। रामविलास जी इस कथन की असत्यता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—कि यदि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है तो क्या हिटलर के प्रति श्रद्धाभाव से लिखी किसी फासिस्ट कवि की भावना से डा० नगेन्द्र तादात्म्य करेंगे? क्या उस अनुभूति से तादात्म्य कर डा० नगेन्द्र फासिस्ट हिटलर के प्रति श्रद्धा की अनुभूति का भावन करेंगे। रामविलास जी के इस तर्क की छाया में यदि हम कहें कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है तो क्या डा० नगेन्द्र गोडसे (नाथूराम विनायक गोडसे) के प्रति लिखी गई किसी हिन्दू सभाई कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करेंगे? वस्तुतः साधारणीकरण का सिद्धान्त समाज निरपेक्ष नहीं है। हमारे आचार्यों ने भी उसका जो विवेचन किया है—वह रसों को लेकर हुआ है—जिसमें पाठक का महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही नायक के प्रति संस्कार रूप में अवस्थित लोक-श्रद्धा भी एक महत्त्वपूर्ण वस्तु रही है।

रामविलासजी पर गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरित मानस का अत्यधिक प्रभाव है।

युग की परिवर्तित वास्तविकताओं के प्रकाश में तुलसीदास के सामाजिक महत्व की प्रतिष्ठा का श्रेय रामविलासजी को ही है। आधुनिक आलोचकों में वे ही एक ऐसे समीक्षक हैं—जिन्होंने तुलसीदास की बाहिर गामी परम्परा को युग जीवन के प्रकाश में देखा तथा उसे विकसित करने के लिए साहित्यकारों का आह्वान किया है। तुलसीदास द्वारा अभिव्यक्त जीवन संघर्ष की भावना को भारतीय जनता की चेतना कहते हुए उन्होंने लिखा है—भारत की जनता की यह चेतना साम्राजियों को याद रखना चाहिए कि—

> जो रन हमें प्रचारेहि कोऊ,
> लरहिं सुखेन काल किन होऊ।

रामविलासजी की समीक्षा शैली में एक बड़ी विशेषता अनायास ही जुड़ गई है। साहित्य के व्यापक अध्ययन के कारण वे एक लेखक पर लिखते हुए अनेक लेखकों पर रिमार्क देते चलते हैं। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

१—कवि कल्पना की जितनी गैरकानूनी कार्यवाही

(शेष पृष्ठ २३१ पर देखिए)

साहित्य-समीक्षा के मान

श्री भालचन्द्र गोस्वामी, साहित्यालङ्कार

साहित्य सन्देश के अक्टूबर १९५२ के अङ्क में श्री कृष्णवल्लभ जोशी का एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका शीर्षक है नवीन समीक्षा प्रणाली के तत्व। जोशीजी की यह मान्यता सही है कि सार्वभौमिक विचार क्रान्ति के फलस्वरूप साहित्यिक समीक्षा के तत्वों में परिवर्तन आया है। किन्तु इससे यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि साहित्य के मौलिक रूप में भी अन्तर आ गया है। यहाँ उक्त विद्वान लेखक के द्वारा उठाए हुए सभी तर्कों का उत्तर देने का अवकाश नहीं है किन्तु कतिपय ऐसे तर्कों एवं मान्यताओं का जिनसे साहित्य जगत में भ्रान्ति फैलने की सम्भावना है, निराकरण करना आवश्यक लगता है।

मार्क्स ने युग चेतना को चाहे कितने ही वस्तु परक रूप में देखा हो और उसी आधार पर साहित्य का विश्लेषण किया हो, किन्तु यह कहना कोई आविष्कार की बात नहीं है कि मार्क्स के जन्म लेने से कहीं पूर्व संसार का वह सारा साहित्य, जिसे आज विद्यमान ऐकमत से सर्व श्रेष्ठ साहित्य कहना है प्रणीत हो चुका था और उसे जन स्वीकृति इसी रूप में मिल चुकी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि मार्क्स की मान्यताएँ अपने आप में सीमित हैं। आज भी जब दर्शन के रूप में मार्क्सवाद अपने यौवन में पदार्पण कर चुका है, मेरे विनम्र विचार में हम साहित्य में मार्क्सवाद का शायद ही विशेष प्रभाव पड़ा हो।

सही बात यह है कि साहित्य की भूमिका वह मानव मनोजगत है जो अपने वर्तमान स्वरूप में अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी सर्वथा नवीन है और रहेगा। साहित्य विशेष में जनक्रान्ति का कितना अंश किस रूप में आया है या नहीं, यह विचार हमारे दृष्टिपथ में आता ही नहीं। विशेष रूप से वर्ग संघर्ष की भावना एक कृत्रिम भावना है और साहित्य में तो उसकी अभिव्यक्ति ढूँढना दुस्साहस है। साहित्य संघर्ष में नहीं किन्तु समन्वय में विश्वास रखता है। भले ही कबीर ने अपने साहित्य में अपनी तेज और तीखी भाषा में एक सामूहिक स्वर लेकर समाज में प्रचलित पुरोहितवाद और मुल्लावाद का विरोध' किया हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कबीर के साहित्य का केवल वही अंश शाश्वत या सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः इस साहित्य की तुलना में तो हम उसके रहस्यवाद को गुरुतर महत्व देते हैं जो साहित्य की दृष्टि में कहीं ऊँचे दरजे की चीज है।

इससे भी अधिक यह तर्क कि तुलसी ने अपने युग के अल्पसंख्यकों की विलासिता को चुनौती दी थी और यह कहा था 'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख है।' इस बात को कदापि सिद्ध नहीं करता कि उसके साहित्य की व्यापक महानता इसी वर्ग संघर्ष की अभिव्यक्ति पर आधारित है। सच तो यह कि ऐसा सोचना अपनी निरी अज्ञानता की उपहासास्पद विवशता दिखाने के बजाय एक सर्वस्वीकृत सत्य के प्रकाश को असत्य की धूम राशि से आच्छादित करने की धृष्ट चेष्टा करना है। यह सभी जानते हैं कि महात्मा तुलसी का साहित्य आज भी क्यों और किन अर्थों में उसी महानता को लिये है, प्रत्युत समय यापन के साथ-साथ उसमें उन्हीं मूल्यों में अधिकतर महानता का समावेश होता जायगा। इस महाकवि की सफलता के रहस्य को यदि एक सूत्र में रखने की धृष्टता की जाय तो कहना चाहिए कि वह रहस्य था उसकी मानव मन के रहस्यों को समझने की क्षमता। वर्ग संघर्ष वाली बात तो इस सन्दर्भ में न जाने कहाँ लुप्त हो जाती है।

हम पूछते हैं कि यदि वर्ग संघर्ष की अभिव्यञ्जना ही साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी होती तो आज सोलहवीं सत्रहवीं सदी का एक अन्धगायक जिसने अपने गीतों में अद्वितीय माधुर्य के साथ बाल प्रवृत्तियों के सहज परन्तु अद्भुत वर्णन के अतिरिक्त हमें और कुछ विशेष नहीं दिया, क्यों एकमत से साहित्य जगत द्वारा महाकवि ही नहीं, महाकवियों का शिरोमणि माना जाता ? उस अन्धगायक ने कौन से वर्ग संघर्ष को अभिव्यक्त किया था ?- मार्क्सवाद

के अर्थों में उसने कौन-सी युग चेतना को प्रश्रय दिया था?

इसी प्रकरण में बिहारी, देव, सेनापति आदि कुशल कलाकारों को 'व्यक्ति की कुण्ठामय प्रवृत्तियों का या केवल कामोद्दीपन के सूत्रों का ही चित्रण' करने वाला बताना उन्हें मार्क्सवाद ही के पीले चश्मे से देखना नहीं तो और क्या है? आपके पास क्या अधिकार है कि आप उस साहित्य को तो श्रेष्ठ घोषित कर दें जिसमें वर्ग संघर्ष का एक भी बीज विद्यमान हो, और उस सारे साहित्य को हीन बताएँ जिसमें मार्क्सवाद की मान्यताओं से सहमति या उसकी अभिव्यक्ति न हो? यदि बिहारी को मार्क्सवादी आलोचक व्यक्ति की कुण्ठामय प्रवृत्तियों को चित्रण करने के दोष से दूषित मानता है, तो इसी कवि को फ्रायडवादी आलोचक इसी आधार पर श्रेष्ठ कवि घोषित कर सकता है। इसलिए साहित्य का मानदण्ड कोई वाद विशेष न होकर मानव की मौलिक संवेदनाएँ और उनकी अभिव्यक्ति की सजीवता व कुशलता ही है।

वस्तुतः संसार का कोई भी श्रेष्ठ साहित्य पूँजीपति और सर्वहारा की कशमकश के दौरान में नहीं लिखा गया है। यह भविष्य ही बतायेगा कि आज जो प्रगतिवादी साहित्य तैयार किया जा रहा है उसमें कितना स्थायित्व है। मेरा विश्वास है कि मार्क्सवादी आलोचक ने वाल्मीकि, तुलसी, शेक्सपियर, रवीन्द्र, टाल्सटाय आदि महान् साहित्यकारों को या तो समझा ही नहीं है और यदि समझा भी हो तो उनकी सर्व स्वीकृत महानता से आतङ्कित होकर उन्हें अपने सीमित दृष्टिकोण से देखने और उपस्थित करने की ही चेष्टा की है। इस सन्दर्भ में तुलसी का उदाहरण पर्याप्त है।

टाल्सटाय के विषय में विद्वान लेखक ने लेनिन का जो वक्तव्य उद्धृत किया है स्वयं उसके अर्थ के विषय में लेखक को भ्रान्ति हो गई जान पड़ती है। लेनिन ने कहा है—The works of Tolstoy will always be read and appreciated by the masses when having thrown off the yoke of the land-owners and capitalists. They will have created for themselves human conditions. इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अपनी वर्तमान अवस्था से मुक्त होने के पश्चात् ही जनसमूह टाल्सटाय के साहित्य का सच्चा आनन्द ले सकेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि टाल्सटाय का साहित्य इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमें वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति है, या मो० पुश्किन ने उसे इसी रूप में देखा है। शेक्सपियर को तो पक्का मार्क्सवादी मानना एक महान आविष्कार होगा।

सच बात तो यह है कि यदि मार्क्सवादी साहित्य की रागात्मिकता में कुछ भी विश्वास रखता है (जैसा कि विद्वान् लेखक का दावा है) तो हमारा उससे नम्र निवेदन है कि वह उसे वहीं तक सीमित रक्खे। एक बार साहित्यकार की रचना में सचाई (sincerity) आई कि उसमें स्वतः कला और शिल्प की प्राणप्रतिष्ठा होनी प्रारम्भ हो जायगी। रूप और स्वरूप दोनों का वर्चस्व को लेकर जो साहित्य निर्मित होगा वही साहित्य सत्साहित्य गिना जायगा। साहित्य सर्जना की इस प्रणाली को हृदयङ्गम कर लेने के बाद हमें अलंकार और फलित के प्रतीकों तथा उपमानों को आकाशी तथा निरर्थक मानने का दुस्साहस नहीं होगा।

कुणाल के पात्र

श्री त्रिलोचन पाण्डेय

'कुणाल' श्री सोहनलाल द्विवेदी लिखित एक खण्ड काव्य है। खण्ड काव्य में जीवन जगत की विस्तृत घटनाओं से एक की झाँकी दिखाना कवि को अभिप्रेत होता है। अतः कथानक व पात्र सीमित होते हैं व एक ही रस की प्रमुखता होती है उद्देश्य सिद्धि के उपरान्त काव्य समाप्त हो जाता है। प्रत्येक पात्र का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रधान घटना व एक लक्ष्य से सम्बन्ध होता है और वे प्रायः नायक के सहयोगी रूप में आते हैं। पात्र बहुलता न होने से प्रत्येक का निजी व्यक्तित्व व घटना विन्यास में विशेष स्थान होता है। 'कुणाल' में प्रमुख पात्र चार हैं जिनका प्रत्यक्ष परोक्ष रूप में उसकी विशिष्ट घटना से सम्बन्ध है। कवि ने नायक के चरित्र प्रस्फुटन का आवश्यकतानुसार पूर्ण ध्यान रखा है जब कि अन्य पात्रों में कुछ सीमा रेखाएँ छूट भी गई हैं जिस कारण पूरा-पूरा विकास नहीं हो सका है।

'कुणाल' अशोक का पुत्र व प्रस्तुत खण्ड काव्य का नायक है। अत्यन्त सुन्दर—कमल की भाँति कोमल व सुवर्ण की आभा से युक्त! उसकी बाल क्रीड़ाएँ सबको आकृष्ट करतीं, उसके अस्पष्ट गीत राजसदन में गूँजते रहते। उसकी वाणी में माधुर्य था। धूल धूसरित घुटनों के बल जब वह दौड़-दौड़ कर गिर पड़ता, फिर कहता—"देखो माँ मैं घोड़े पर चढ़कर दिल्ली हो आया" तो प्रतीत होता मानो विधाता ने उसका निर्माण कर सृष्टि का सारा सौन्दर्य उसमें भर दिया है—

"विश्व के सौन्दर्य औ माधुर्य का सब सार
केन्द्रगत सा हो गया जैसे यहीं साकार।"

कुणाल के चरित्र की उच्चता इस खण्ड काव्य में पूर्ण तया वर्णित है। यौवन की उद्दाम लालसा से दीप्त तिष्य रक्षिता ने प्रेम का अनुचित प्रश्न किया और कुणाल के चरित्रगत दृढ़ता का प्रमाण यही है कि उसने अनुचित प्रणय निवेदन को ठुकरा दिया। तिष्यरक्षिता के हृदय में कुछ भार था, वह जिसे हलका करने और अपने मन की कुछ बात कहने आयी थी किन्तु कुणाल ने यह कह कर—

"आर्ये तुम हो जननी मेरी
सोचो तो क्या कहती हो फिर"

अपने चरित्र व राजमर्यादा की रक्षा की। यौवन के उन्माद में वासना से दीप्त लालसा के कारण तिष्यरक्षिता को उचित अनुचित का ज्ञान न रहा था, वह आत्म विस्मृत थी, अतृप्ति की वेदना उसके चंचल कपोलों पर क्रीड़ा कर रही थी। कुणाल युवक था पर सत्त्व शून्य न था।

'कुणाल' नियम व व्यवस्था पालक है। भले ही वह तक्षशिला के अधिपति सम्राट अशोक का प्रिय पुत्र था किन्तु माता के प्रतिशोध के सम्मुख झुक जाना ही उसे ठीक प्रतीत हुआ। माता माता ही है। विमाता व माता में कुछ अन्तर नहीं। कोई सत्य मार्ग से विचलित हो जाय किन्तु उसके झोंके में कुणाल क्यों हिले? क्रोध उद्दीप्त तिष्य की राजाज्ञा हुई—

"दोषी के दोनों दृग निकाल,
निर्वासित कर दो राज्यपाल।"

मन्त्री किंकर्तव्य विमूढ़ थे, कुणाल के प्रति ऐसे दुर्व्यवहार की उन्हें आशा भी न थी। कुणाल को भी ज्ञान था तिष्य अपमान का बदला लेगी पर उसमें प्रतिशोध सहने की शक्ति थी, धैर्य था! राजाज्ञा राजाज्ञा है उसका पालन उसका कर्तव्य है। कैसा मनोवैज्ञानिक रूप कवि ने प्रस्तुत किया है। उसने महामन्त्री से स्पष्ट कहा—"आज्ञा पालन करो, यही मेरी भी आज्ञा।" फलतः सुन्दर शावक से नेत्र निकाल लिए गए और निर्वासन का दण्ड मिला। कुणाल की ही यह शक्ति व सहनशीलता थी कि चुपचाप इसे शिरोधार्य कर लिया।

कुणाल का कांचना से प्रेम अच्छी तरह व्यंजित है। 'मिरेन्डा' (टेम्पेस्ट) की तरह वह भी अपने 'फर्डिनेन्ड' के लिए सब कुछ त्यागने को सहमत है—"I die

your maid, to be your bed-fellow, you may deny me, but I will be your servant whether you will or no" कांचना भी साथ चलने को उद्यत हो गई, किन्तु निर्वासन तो कुणाल का हुआ है, वे उस पर भार नहीं डालना चाहते। पर कांचना सीता की भाँति पति परायणा है, अन्धे पति को एकाकी निर्जन वनस्थलों में कैसे छोड़ दे? सुन्दर कुमार व कांचना पथ के भिखारी बन गए हैं—कांचना के हाथ में भिक्षा पात्र और कुमार के हाथ में बीन! शोकाकुल लोग रो रहे हैं। पर कुणाल का मुख पूर्ववत हो आभायुक्त है, खिन्नता, उद्वेग का कोई भाव नहीं। निर्लिप्त व अपनी स्वाभाविक मुद्रा में रहना उसके चरित्र की विशेषता है। रामचन्द्र भी अयोध्या-त्याग करते समय राग द्वेष रहित थे। सदा की तरह मन्द मुस्कान लिए—

"प्रसन्नतां या न गताभिषेकानथा
न मम्लौ वनवास दु:खत:"

और निकट भविष्य में सम्राट होने वाले कुणाल को भी निर्वासन मिला, उसने सिर झुका कर सहर्ष स्वीकार भी कर लिया। वह नियति का क्रूर व्यंग्य था।

कुणाल के चरित्र में कवि ने दार्शनिक भावों का प्रवेश कराने की भी चेष्टा की है। वे लौट फिर कर पाटलिपुत्र पहुँचते हैं, प्राचीन घटनाएँ पुनः स्मृति पटल पर सजीव हो हो जाती हैं। आम्रराजी, गंगा, सुन्दर झरने उनके अतीत गौरव की याद दिलाते हैं। कांचना उद्विग्न है पर कुणाल कहता है—

"यह समय का स्रोत है बहता अनन्त अगाध,
कल नहीं जो आज है, यह नियम अचल अबाध।"

मनुष्य को बहुत दूर जाना है, यात्रा लम्बी है, संसार में सुख-दुख दोनों का जमघट है। कुणाल ने अपना परिचय देते समय कहा है—

"भाग्य का यह व्यंग्य है, यह दु:ख का इतिहास,
क्या करेंगे जान कर उसका निठुर निर्वास?"

शाप में वरदान छिपा है, रात्रि में प्रभात, प्रभु का रहस्य यहीं है, आदि बातों द्वारा उसका विस्तृत अनुभव प्रकट होता है।

कुणाल क्षमाशील है। भले ही नियति के उपहास द्वारा भटकता रहा, पर दूसरे को अपने कारण कष्ट देना उसे स्वीकार नहीं। यह गान्धीवाद का प्रभाव प्रतीत होता है जो बाद में जैनेन्द्रजी के पात्रों में अधिक उभरा। अशोक ने समस्त घटनावृत्त समझने पर तिष्यरक्षिता के वध की आज्ञा दी पर कुणाल ने रोक कर कहा—"राजन्! माता को करो आज क्षमा प्रदान।" अपने जीवन घातक बड़े से बड़े शत्रु को भी क्षमा कर देना कुणाल की ही विशेषता थी।

उदारता, सच्चरित्रता, पवित्रता, आज्ञाकारिता उसके चरित्र के प्रधान गुण हैं। कुणाल का चरित्र देवोपम है, उसमें त्रुटियाँ नहीं हैं। भाग्य के हाथों उसने दु:ख भोगा, क्लेश सहा, पर अपने सिद्धान्त व मर्यादा से हटा नहीं है। अन्त में परिणाम भी श्रेयस्कर हुआ। उसके नेत्रों में ज्योति भी आ गई, सिंहासन भी मिला। अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रह कर सहर्ष कष्ट झेलने का परिणाम अन्तत: लाभप्रद ही होता है—इस सिद्धान्त की स्थापना कवि ने कुणाल के चरित्र द्वारा की है।

× × ×

मनुष्य जाति के तीन वर्ग हो सकते हैं—देव वर्ग, दानव वर्ग और मानव वर्ग। कवि अपने चुनाव के अनुसार पात्रों में सत्-असत् वृत्तियों का प्राधान्य प्रदर्शित करता है। कुणाल देव वर्ग का है। उसमें लेखक ने सद् प्रवृत्तियों का चित्रण किया है तो ठीक उसकी नैतिकता का दूसरा पक्ष तिष्यरक्षिता के चरित्र द्वारा व्यक्त है। गुणों अवगुणों के छिपने व प्रकट होने से चरित्र अच्छी प्रकार उभरता है। तिष्य मानव वर्ग की है। उसके अच्छे बुरे दोनों पक्ष हैं पर परिस्थिति वशात् असत् पक्ष अधिक प्रकाश में आया है।

तिष्यरक्षिता युवा और अतीव सुन्दर है। स्वर्ग का संसार बसाना उसकी अवस्था के अनुकूल था। अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए उसे साधन चाहिए। अपने ही सुख दु:ख, आशा निराशा के बीच उसका मदमाता यौवन छलक रहा है, गल कर समाप्त हो रहा है, वह क्यों न उसका उपभोग करे!

"रागारुण रंजित ऊषा सी
मृदु मधुर मिलन की सन्ध्या सी"

वह राग रंजिता तिष्यरक्षिता वास्तव में कविता की परिभाषा ही थी। प्रसाद का एक चित्र मूर्तिमान हो उठता है—

"पगली हो सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल
देख बिखरती है मणिराजी
उठा इसे बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली भाली।"

कुणाल का अनुपम उभरता हुआ सौन्दर्य देख कर वह आकृष्ट हुई। कुणाल की कांचन द्युति, आजानुबाहु, घने कुन्तल, सुगठित मास पेशियाँ, केयूर व लहराते हुए उत्तरीय ने उसे खींच लिया। उसने प्रणय निवेदन करने का विचार किया और अपने हृदय की सारी छलकती भावनाएँ खोल कर कुणाल के सम्मुख रख दीं। कृत्रिमता व लुकाछिपी उसमें नहीं थी, छल या प्रवंचना न थी। सीधी सी बात उसने प्रकृति के उपादानों द्वारा स्पष्ट व्यक्त कर दी—

"है एक भार मेरे उर में
वह हलका करने आई हूँ
कुछ मन की सुनने आई हूँ
कुछ मन की कहने आई हूँ।"

यह उसके हृदय की निष्कपटता, निश्छलता की द्योतक है। वह राजमाता थी पर यौवन के उभार में उचित अनुचित का ध्यान नहीं रहता। इसी तथ्य का उद्घाटन कवि को अभिप्रेत है। कुणाल द्वारा तिरस्कृत होने पर उसका नारी सुलभ स्वाभिमान जाग्रत होना स्वाभाविक ही था। उसे पश्चाताप हुआ—उसने प्रणय निवेदन किया ही क्यों? न जाने क्यों उचित अनुचित का ध्यान नहीं रहा?—

"दोष किसका? नयन का!
मन का? कि दैव विधान?"

उसने कहा है। परिस्थिति वश हम कुछ कर बैठते हैं—किसका दोष है? या फिर वैसी परिस्थितियाँ आने ही न दी जायँ? यह उसके आत्मज्ञान का परिचायक है। प्रतिक्रिया भी शीघ्र हुई। वह प्रतिशोध की भीषण अग्नि में स्वतः दग्ध होने लगी। यही भावना उसके सुप्त दानवत्व को पूरा उभार देती है। वह झुकी ही क्यों? रमणी सदा ही सिरों पर रहती है। प्रेम में झुकेगी और प्रतिशोध में भी। कामना पूर्ण न होने पर दूने वेग से बदले की भावना से प्रेरित हुई। भावों का कैसा वैषम्य मूलक उद्भव कवि ने किया है! वह नारी थी क्या इसी कारण उपेक्षित हुई? कैकेयी की तरह कोप भवन में बैठ कर उसने अशोक की राजाज्ञा प्राप्त की, प्रतिशोध की भावना ने उसे खूँखार व निर्मम बना दिया। निर्दय हो कर उसने कुणाल के नेत्र निकाल डालने की आज्ञा दे डाली! इतना पूर्ण हो सकने पर ही प्रतिशोध भावना शान्त हो सकती थी। वह पूर्ण निर्दय व क्रूर हो गई है अवश्य, पर यह उसके चरित्र की मूल विशेषता नहीं है। कैकेयी ने तो राम को बनवास मात्र ही दिया था, तिष्य को और भी नेत्र निकलवाने पर ही सन्तोष हुआ।

रहस्य खुलने पर अशोक के क्रोध की सीमा न रही। तिष्यरक्षिता दण्ड की भयानक कल्पना से काँप कर गिर पड़ी। "रक्षा रक्षा" चिल्लाती हुई 'मूर्छिता, पतिता, च्युता, हतचेतना, मृत प्राय' हो गई। अनुभावों का सुन्दर चित्रण है। किन्तु कुणाल की चेष्टा से उसकी प्राण रक्षा हो गई।

उसमें आत्म ग्लानि की भावना भी है। कुणाल के राज्याभिषेक पर वह फूली न समाई थी पर उसके हृदय को एक विचार रह रह कर उद्विग्न कर रहा था—

"क्षमा माँगू कैसे मैं आज,
किया मैंने हा कितना पाप।"

मनुष्य होश हवास ठीक होने पर सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, भले-बुरे का अन्तर समझने लगता है। 'साकेत' की कैकेयी भी पश्चाताप की भावना में कहती है—

"करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊँ,
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ....."
"युग युग में भी थी एक अभागिनि रानी।"

और तिष्यरक्षिता कुणाल के सम्मुख नत मस्तक हो गई।

यह उसके चरित्र की सद् प्रवृत्ति का सूचक है। प्रसन्न हृदय उसने कुणाल कांचना को चिरंजीव होने का आशीर्वाद दिया।

उसके हृदय में घटित सत्-असत् प्रवृत्तियों के संघर्ष ने तिष्य का चरित्र सफलता पूर्वक उभार दिया है। 'लेडीमैकबेथ' के अन्तर्संघर्ष की तरह कवि उसमें सफल हुआ है। भावना व परिस्थिति के अनुसार किस प्रकार मनुष्य में अच्छे बुरे गुण अवगुणों का उतार चढ़ाव होता है—इसी पर कवि ने तिष्य के चरित्र द्वारा प्रकाश डाला है।

× × ×

प्रस्तुत खण्ड काव्य में कांचना का अपूर्ण चरित्र खटकता है। वह नायक कुणाल की पत्नी थी, उसके जीवन में प्रमुख स्थान की अधिकारिणी थी। अतः पद से वह अशोक से अधिक महत्व रखती थी (जहाँ तक यहाँ अशोक का सम्बन्ध है), किन्तु उसके लिए एक स्वतन्त्र 'सर्ग' की योजना नहीं की गई जबकि अशोक के लिए है। हो सकता है तिष्य का सौन्दर्य कार्य उसकी अपेक्षा अधिक उत्कर्ष मूलक प्रदर्शित करने की चेष्टा में कवि ने इसे कम महत्व दिया हो फिर भी नायक की सहयोगिनी के रूप में कांचना के चित्रण में कुछ रेखाएँ छूट गई हैं। समन्वय की दृष्टि से काव्य में यह कमी है।

कांचना पति परायणा व अनन्य प्रेमिका के रूप में चित्रित हुई है। कुणाल के साथ स्वयं बन मार्ग की पथिक बनती है, वही अन्धे कुणाल का सहारा है। भीख माँगते खाते उसने पति के साथ जीवन व्यतीत किया। एक बार जन्मभूमि मगध पहुँच गए। बाल्यकाल की स्मृतियाँ सजीव होने से कांचना उद्विग्न हो उठी, पर कुणाल ने उसे समझाया—समय की गति ऐसी ही विचित्र है। अन्त में वह सम्राज्ञी हो गई और सुखपूर्वक, जीवन यापन करती रही।

अशोक का चरित्र घटना विकास में गौण है। वातावरण उपस्थित में ही उनका कुछ योग है। उन्हीं की विशाल छत्रछाया में कुणाल का जन्म हुआ। वृद्धावस्था में उन्होंने युवा तिष्यरक्षिता से विवाह किया जो अनुवर्ती घटना का मूल बना। तिष्य के कोप भवन में बैठने पर उन्होंने सत्ता महानता का वर्णन किया है। उसके लिए सब कुछ करने को प्रस्तुत हैं। जब तिष्य ने छल से एक सप्ताह स्वयं राज्य करने की अनुमति माँगी तो अशोक ने सहर्ष दे दी। उन्हें क्या ज्ञात था कि तिष्य उन्हीं के पुत्र को भयङ्कर दण्ड देने के हेतु षडयन्त्र कर रही है! वे निष्कपट सरल हृदय व्यक्ति थे।

किन्तु जब उन्हें रहस्य ज्ञात हुआ तो उनका क्रोध भी अत्यन्त उग्र हो गया। वे तिष्यरक्षिता का वध कराने पर उद्यत हो गए। कुणाल ही उन्हें शान्त कर सके। अन्त में कुणाल को ही राज्यभार सौंप, वानप्रस्थ ग्रहण कर उन्होंने बन की राह ली।

'कुणाल' खण्ड काव्य में यही चार पात्र हैं। 'चर', 'महामन्त्री', 'अमात्य' केवल नाममात्र को हैं जिनका कार्य विशेष सम्पन्न हो जाने पर पुनः उल्लेख भी नहीं हुआ है। पात्र सङ्कलन, चित्रण की दृष्टि से 'कुणाल' एक सफल खण्ड काव्य है।

उन्मीलन

'मीरा बृहत् पद संग्रह' नामक एक नवीन पुस्तक पर साहित्य-सन्देश के जून ५२ के अङ्क में प्रो० कन्हैयालाल सहल द्वारा लिखित एक आलोचना प्रकाशित हुई है। पुस्तक की लेखिका ने इस आलोचना पर अपना 'एक समाधान' भेजा था जो नवम्बर के अङ्क में छपा है। इस समाधान के सम्बन्ध में बीकानेर कालेज के हिन्दी प्रोफेसर, राजस्थानी भाषा के माने हुए पण्डित श्री नरोत्तमदास स्वामी का एक पत्र हमें मिला है। इसे हम यहाँ छाप रहे हैं। अब इस विषय पर और कोई पत्र या उत्तर साहित्य-सन्देश में नहीं छापा जा सकेगा।

—सम्पादक

प्रिय सहलजी !

पत्र मिला, 'अद्ध समाधान' को पढ़ कर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। मीरा बृहत्-पद-संग्रह में सैकड़ों स्थलों पर इसी प्रकार अर्थ का अनर्थ किया गया है। दुर्भाग्य की बात यह है कि लेखिका ने अपने को राजस्थानी बतला कर अर्थों पर यह अत्याचार किया है, राजस्थानी भाषा से अपरिचित विद्वान लेखिका को राजस्थानी जानकर उनके अर्थों को सहज ही प्रामाणिक मान लेंगे।

लेखिका को न तो राजस्थानी साहित्य का परिचय है, न बोलचाल की राजस्थानी भाषा का। वे मूलतः राजस्थानी हो सकती हैं पर राजस्थान से उनका सम्बन्ध छूटे सम्भवतः कई पीढ़ियाँ हो चुकी हैं। उनके राजस्थानी होने में मुझे सन्देह नहीं है, सन्देह है उनके राजस्थानी वातावरण से परिचित होने में।

अब रहे 'अद्ध समाधान' के सैंस और कामिण शब्द। सैंस के सम्बन्ध में लेखिका लिखती है—"परन्तु बोलचाल की राजस्थानी भाषा में उपर्युक्त शब्द 'सौ' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।" इस रेखाङ्कित ही के लिये क्या कहा जाय?

सैस या सैंस शब्द राजस्थानी भाषा में हजार के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, सौ के अर्थ में कहीं नहीं। क्या साहित्य, क्या लोक साहित्य* और क्या बोलचाल सर्वत्र उसका अर्थ हजार होता है, सौ कहीं देखने में नहीं आया। भाषाविज्ञान भी इस अर्थ का समर्थन नहीं करता।

नौकर के अर्थ में राजस्थानी में कामिण शब्द का प्रयोग मैंने न तो कहीं देखा है और न सुना है। 'कारू-कामिण' शब्द भी सुनने में नहीं आया, हाँ 'कारू-कमीण' नामक शब्द अवश्य है। कारू का अर्थ है सुथार, कुम्हार आदि कारीगर और कमीण का अर्थ है नाई महतर आदि नीच जाति के व्यक्ति। यह कमीण फारसी के 'कमीनह' का अपभ्रंश है, हिन्दी में यह कमीना के रूप में प्रयुक्त होता है। विवाह आदि के अवसरों पर ये लोग जो वस्तुएँ लाते हैं या जो सेवाएँ करते हैं उनके बदले में उनको 'नेग' दिये जाते हैं।

उद्धृत पंक्ति में कामिण शब्द का अर्थ कामिनी ही है। प्रथा भी इस अर्थ का समर्थन करती है और भाषा-विज्ञान भी। कामिण शब्द के मध्ये और सरल कामिनी शब्द से व्युत्पत्ति न करके उसे कमीना शब्द का अपभ्रंश बताना किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता है।

भवदीय—

नरोत्तमदास स्वामी

---

* लोक साहित्य से एक उदाहरण लीजिये— कोइ सैस किरण को छोड़ो ये म्हे रुखालो सूरज देवता' अर्थात् सहस्ररश्मि सूर्यभगवान को हमने रखवाले के रूप छोड़ दिया है। सूर्यदेव का विशेषण सहस्र रश्मि ही है, शतरश्मि नहीं, यह तो राजस्थानी भाषा से अपरिचित पाठक भी समझते हैं।

आलोचना

काव्य और कल्पना—लेखक-श्री राम खेलावन पांडेय, प्रकाशक-श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना। पृष्ठ १५०, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक पाण्डेयजी के विविध साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है।' पहले निबन्ध के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। पहले निबन्ध में कल्पना का महत्व दिखाया गया है और उसका (कल्पना) नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से तादात्म्य किया है। कविता और उसके स्वरूप का विवेचन करते हुए अनुभूति, कल्पना और बौद्धिकता तीनों को ही महत्व दिया है। जीवन की आलोचना एवं चित्रण के साथ ही इसमें जीवन दर्शन भी अपेक्षित है। इसी दृष्टि से पाण्डेयजी ने आधुनिक कविता का मूल्याङ्कन किया है।

लेखक महोदय आत्मानुभूति को प्रधानता देते हुए कला की उपेक्षा नहीं करते। हिन्दी काव्य का संक्षिप्त पर्यालोचन दोनों ही दृष्टियों से (विषय की भी और विधान की) हुआ है और सामाजिक और मानसिक प्रवृत्तियों के आधार पर भविष्य का भी दिशानिर्देश किया गया है। नये युग में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में तथा भावनाओं और अभिव्यक्ति के प्रतीकों में जो अन्तर आया उसको स्पष्ट करके भविष्य की मोटी रूप रेखा निर्धारित की गई। लेखक ने व्यापक पाण्डित्य, गम्भीर दृष्टि और विश्लेषण बुद्धि का परिचय दिया है। अभेद दर्शन के साथ भेद दर्शन विवेक और प्रौढ़ता का चिन्ह है। गीति काव्य के विवेचन से इस भेदक विवेक बुद्धि का परिचय मिलता है। सब बातों को एक लाठी से हाकने की बात नहीं की गई है, इसके साथ उनके क्रम विकास पर भी एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर प्रकाश डाला गया है। लेखक के दृष्टिकोण से शुद्ध गीति काव्य में कोई ही ग्रन्थ आयगे। साहित्य शास्त्र के विद्यार्थियों को इन निबन्धों में बहुत विचारोत्तेजक सामग्री मिलेगी।

गोविन्द स्वामी—(साहित्यिक विश्लेषण वार्ता और पद संग्रह) प्रधान सम्पादक गो० श्री व्रजभूषण शर्मा, सहायक सम्पादक पो० कण्ठमणि शास्त्री तथा क० गोकुल चन्द तैलंग। पृष्ठ संख्या २१५, मूल्य ३)

कृष्ण काव्य में अष्टछाप के कवियों का विशेष महत्व है। उनमें से जितना सूर का प्रकाश हुआ है उतना और किसी का नहीं। वे तो सूर ही ठहरे किन्तु अन्य कवि गण भी उसी मण्डल के हैं। इस संग्रह में एक भूमिका और तालिका के साथ ५७४ पदों का संग्रह दिया गया है। भूमिका में वार्ताओं के आधार जीवन वृत्त के साथ साथ वल्लभकुल की साम्प्रदायिक सेवा पद्धति और काव्य सौष्ठव पर भी विवेचन किया गया है जिसमें रस, अलङ्कार और भाषा सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। वैसे तो विश्लेषण कर्ता तैलंगजी ने गोविन्द स्वामीजी के काव्य का प्रधान रस शृङ्गार ही माना है तथापि नायिका भेद आदि शृङ्गारिक अङ्गों में उन्होंने आध्यात्मिक भावनाओं के दर्शन किये हैं। वे लिखते हैं —

'उसका लक्ष्य स्थूल लौकिक नायिकाओं का भाव चित्रण व नख शिख वर्णन नहीं, अपितु ब्रह्म और जीव के महामिलन जन्य उस आनन्द की ओर संकेत करना है'। इस दृष्टि से तो भक्ति को ही प्रधान रस मानकर शृङ्गार को उसके अन्तर्गत रखना चाहिए किन्तु समालोचक महोदय ने

शृङ्गार को रस राज होने के नाते तथा भगवान से सम्बन्धित होने के कारण उसी को मुख्यता दी है। यह विचारणीय है। हमको आशा है कि कांकरोली विद्या विभाग अष्टछाप के *अन्य ग्रन्थों का भी शीघ्र ही प्रकाशन करेगा।*

तीन वाद—लेखक-विश्वनाथ पाठक, प्रकाशक-स्मृति साहित्य कुसुमालय। पृष्ठ संख्या ५१, मूल्य १।)

यह पुस्तक बी० ए० के राजनीति-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है और इसमें व्यक्तिवाद, मार्क्सवाद और सोशलिज्म का विवेचन किया गया है। इस विवेचन में तीनों वादों के संक्षिप्त इतिहास के साथ उनकी प्रतिक्रिया भी दी गई है जिसमें दूसरे वाद के लिए एक भूमिका बन जाती है। इस प्रकार यह तीनों वाद एक क्रम में बैठ जाते हैं और *विचारशील विद्यार्थी की समझ में* आ जाते हैं। —गुलाबराय

कर्मभूमि एक अध्ययन—लेखक-श्री लेन नारायण टण्डन और श्री रामखेलावन चौधरी। प्रकाशक-हिन्दी पुस्तक भण्डार, रानी कटरा, लखनऊ। पृष्ठ १३६, मूल्य २॥)

प्रेमचन्दजी के प्रसिद्ध उपन्यास कर्म भूमि के सम्बन्ध में इस पुस्तक में प्रारम्भ के १०० पृष्ठों में परिच्छेदों का विश्लेषण और उसके पात्रों का परिचय और अन्त के ३६ पृष्ठों में प्रेमचन्दजी के जीवन का परिचय और उनकी शैली आदि की व्याख्या है।

आचार्य शुक्ल और चिन्तामणि—लेखक-श्रीलाल 'भानु' साहित्याचार्य, प्रकाशक-शारदा प्रकाशन मन्दिर कोलारस-शिवपुरी, म० भा०। पृष्ठ ९८, मूल्य ।॥=)

चिन्तामणि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। इस पुस्तक में उसी का समीक्षात्मक विवेचन है। संक्षेप में ही सब बातों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

नाटक

गौतम नन्द—(ऐतिहासिक नाटक) रचयिता-श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द'। प्रकाशक-साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर। पृष्ठ १२६+२, मूल्य २॥)

यह नाटक मिलिन्दजी का तीसरा नाटक है। प्रताप प्रतिज्ञा से मिलिन्दजी ने नाटककार के रूप में जो ख्याति प्राप्त की थी, वह ख्याति नाटकीय भावोत्तेजन और सौष्ठव पर खड़ी हुई थी। उसके उपरान्त मिलिन्दजी में विचार और कला दोनों का सौष्ठव उदय हुआ जो 'समर्पण' और उसमें आगे इस प्रस्तुत नाटक में फलीभूत हुआ है। गौतम नन्द का कथानक बहुत साधारण है। गौतम नन्द भगवान गौतम बुद्ध के सौतेल भाई हैं। वे समझते हैं कि वे साधारण व्यक्ति हैं, भगवान बुद्ध की भाँति वे प्रव्रज्या नहीं ग्रहण कर सकते। राजकुमारी सुन्दरिका से वे स्पष्ट प्रतिज्ञा करते हैं कि वे उससे विवाह कर गौतम बुद्ध की भाँति कभी प्रव्रज्या नहीं ग्रहण करेंगे और उसे त्यागेंगे नहीं, किन्तु यह सुनकर कि उनके राजद्वार से गौतम बुद्ध बिना भिक्षा ग्रहण किये ही लौट गये हैं, व्यथित होकर वे नन्द उन्हें लौटाने के लिए गये तो, उनके पीछे पीछे उनके स्थान तक चले गये और फिर न लौटे। यह है मूल सूत्र। इसके साथ देवदत्त मानविका का कथा सूत्र भी संलग्न है जो भगवान बुद्ध के संदेश की कसौटी बनता है। शुद्धोदन के पुरोहित कुम्भक और उसकी पत्नी व्युरेश्वरी का कथा सूत्र हास्योद्रेक के साथ अर्थोपक्षेपकों का काम भी करता है। लेखक का विचार है कि "अवसरों की छोड़ने की यह पुरानी कहानी अवसरवाद, भोगवाद और स्वार्थ के नए आक्रमणों के विरुद्ध भी रचनात्मक संघर्ष की दीप ज्योति बन सकती है।" किन्तु हमें संदेह है कि इस बौद्धिक युग में नन्द का समस्त विकास और जीवन जब ठोस भूमि पर मानवीय व्यवहारिकता पर निर्भर कर रहा था तब भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व के जादू से प्रभावित हो नन्द का विरागपूर्ण आकस्मिक त्याग कोई भी स्वस्थ प्रकाश आज के जीवन में प्रदान कर सकता है। ओज तथा भाषा सौष्ठव की दृष्टि से नाटक अभिनन्दनीय है, निस्संदेह वह अभिनेय भी है। छपाई सफाई बहुत आकर्षक है।

परीक्षा—लेखक-श्री रघुवीरशरण मित्र' प्रकाशक-अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन परिषद, मेरठ। पृष्ठ संख्या ११८, मूल्य २)

इस पुस्तक में मित्रजी के लिखे सात बालोपयोगी

एकांकी नाटक हैं। इनके नाम हैं—परीक्षा, पुरस्कार, अजेय बालक, दान, भोग और नाश, अमर विजय, आत्मबल, अमरशहीद। इनमें परीक्षा सबसे बड़ा २६ पृष्ठों का नाटक है। यह नाटक वस्तुतः तीसरे दृश्य के साथ समाप्त हो जाना चाहिए था। बालकों के परोपकार और उसके फल की मूल कथा यहाँ समाप्त हो लेती है। पर लेखक उन्हें आगे राजनीति में घसीट ले गया है और महात्मा गांधी के जैसा नेतृत्व प्रदान कर प्रधान नायक की मृत्यु गोली मार कर करा डाली है, यह सब स्पष्ट ही शिथिल है। इसी नाटक में लेखक ने प्राइवेट परीक्षा में बैठकर उत्तीर्ण होने का जो प्रोत्साहन दिया है, उसे शुभ नहीं कहा जा सकता। पुरस्कार में गाँव के बालकों की बुद्धिमानी और वीरता से प्रसिद्ध डाकू के पराजित होने की घटना का वर्णन है। 'अजेय बालक' में ब्रह्मचारी बालकों द्वारा आचार्य पाणिनी के आश्रम में दिग्विजयार्थ निकले हुए सम्राट पुष्योत्तम की युद्ध-वृत्ति का विरोध और शक्तिहीन में सीता का पृथ्वी में समा जाना तो मूल कथानक है, किंतु इससे अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है। 'दान, भोग और नाश' में प्रहसन के रूप में नाई, सेठ, डाकू आदि पात्रों के उपलक्षण से दान, भोग तथा नाश का रहस्य समझाया गया है। 'अमर विजय' में राजकुमार अजय-कुमार द्वारा जनसेवा और जन संगठन करके अहिंसाभाव से आक्रमणकारी सम्राट को सिंहासन च्युत कर स्वराज्य स्थापन का प्रतिपादन किया गया है। 'आत्मबल' में प्रह्लाद-हिरण्य-कश्यप की पुराण-प्रसिद्ध कथा को अत्यन्त संक्षेप में तथा राजनीतिक स्वरूप प्रदान कर सत्य, अहिंसा और प्रणपालन की शिक्षा दी गयी है। 'अमरशहीद' में इतिहास प्रसिद्ध खुदीराम बोस तथा प्रफुल्लचन्द चाकी के शहीद होने के कथानक को छोटे नाटक का रूप दिया गया है। इस प्रकार सातों नाटकों में भव्य भावों के उद्रेक के साथ बालकोचित नाटकीयता विद्यमान है, इस रूप में बाल साहित्य की वृद्धि करने के लिए लेखक तथा प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

—सत्येन्द्र

इतिहास

विश्व के इतिहास और सभ्यता का परिचय—लेखक-प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक-राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया। पृष्ठ ३६२, सजिल्द, सचित्र, मूल्य ५)

यह पुस्तक बिहार की प्रारम्भिक परीक्षाओं के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए अनेक हिन्दी-अँग्रेजी पुस्तकों के आधार पर लिखी गई है। लेखक स्वयं इतिहास के अच्छे विद्वान और गया कालेज के इतिहास अध्यापक हैं। आपने इस पुस्तक में विश्व की प्रसिद्ध और मान्य संस्कृतियों, विविध देशों तथा विभिन्न समस्याओं का संक्षिप्त किन्तु व्यापक रूप से वर्णन किया है। किसी भी देश का प्राचीन से प्राचीनतम और आधुनिक से आधुनिकतम परिचय इसमें मिल सकता है। इसे पढ़ कर संसार का विहंगम रूप पाठक के सम्मुख आ जाता है। पुस्तक यद्यपि परीक्षार्थियों को लक्ष्य में रखकर लिखी गई है परन्तु उसे पढ़ कर एक साधारण पाठक भी विषय को समझ कर अपनी ज्ञान राशि को बढ़ा सकता है। पुस्तक बीस अध्यायों में विभाजित है जिसकी विषय सूची ही १६ पृष्ठों में दी गई है। हम ऐसी उपयोगी पुस्तक का सहर्ष स्वागत करते हैं।

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—लेखक-श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक-हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। पृ० १६४, सचित्र, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक अपने ढंग की एक महत्वपूर्ण रचना है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों—नाटक, उपाख्यान, स्मृति, उपनिषद और वेद—सभी का आधार लेकर इसमें प्राचीन काल के राजा-रईस और साधारण जनता के नित्य के कार्यों-उत्सवों और विशेष अवसरों का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि आँखों के सामने दृश्य का साक्षात स्वरूप नर्तन करने लगता है। जीवन, कला और स्थापत्य से सम्बन्ध रखने वाले सब विषयों की इसमें चर्चा है। उदाहरण के लिए जहाँ विनोद के साक्षी पक्षी गए हैं वहाँ पचीसों पक्षियों का और जहाँ बाग बगीचों का वर्णन है वहाँ वीथियों और पुष्पों का बहुलतापूर्ण कलात्मक वर्णन दे दिया गया है। नित्य के कार्य स्नान आदि और उस समय उपयोग में आने वाली सैकड़ों वस्तुओं की चर्चा देखकर और उनके तत्कालीन नामादि का वर्णन पढ़ कर दङ्ग रह जाना पड़ता है। रङ्ग-शाला की, नाटकों की, सङ्गीत, मदनोत्सव, उद्यान, यात्रा

आदि की चर्चा बड़ी ही मनोमोहक रूप में की गई है। यद्यपि आज बड़े तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाती है, परन्तु इस पुस्तक से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वेश्याओं के बड़े भेद होते थे और गणिका नाम से उन्हीं का सम्बोधन होता था जो कला, ज्ञान और संस्कृति में बहुत उच्चकोटि की मानी जाती थी और जिनका आदर समस्त समाज करता था। यही नहीं इस पुस्तक में काव्य श्रृङ्ग का विनोद, पद्यबद्ध कथा, इन्द्रजाल, मन्त्रविद्या आदि का भी सुन्दर वर्णन है। अन्त में चार परिशिष्ट देकर पुस्तक की महत्ता और भी बढ़ा दी गई है। इस पुस्तक में हमको प्राचीन युग की झाँकी ही नहीं मिलती है वरन् प्राचीनों के प्रकृति प्रेम और उनके जीवन की उमङ्ग और उल्लास के भी दर्शन होते हैं। प्राचीन आर्यों ने केवल आध्यात्मिकता में ही विशेषता नहीं प्राप्त की थी वरन् उनका लौकिक जीवन भी उतना ही सम्पन्न और कलामय था जितना उनका आध्यात्मिक जीवन। प्रत्येक दृष्टि से यह पुस्तक श्लाघ्य है और इसके लिए हम विद्वान लेखक और महामति प्रकाशक को बधाई देते हैं।

विज्ञान

विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास—लेखक-सर डब्लू० सी० डैम्पीयर, अनुवादक प्रो० कृष्णानन्द द्विवेदी, प्रकाशक-युग प्रकाशन, ९ फैज बाजार, दिल्ली। पृष्ठ ३०१, मूल्य ६)

सर डैम्पीयर की यह पुस्तक अँग्रेजी में बहुत प्रसिद्ध है। मूल लेखक के अपने शब्दों में इस पुस्तक के लिखने का "प्रथम उद्देश्य, सामान्य पाठक की सहायता करना है जो यह जानना चाहता है कि विज्ञान जिसने उसके जीवन को इतना प्रभावित कर रखा है अपने महत्वपूर्ण स्थान को कैसे प्राप्त कर सका है, दूसरा उद्देश्य है, विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति।" "इस पुस्तक में निरीक्षण और प्रयोग मूलक वैज्ञानिक प्रणाली के उदय, विकास एवं उत्कर्ष का वर्णन बहुत संक्षेप में परन्तु आकर्षक स्पष्टता के साथ किया गया है।"

विज्ञान का आरम्भ कैसे हुआ, यूनान और रोम में उसने कैसे उन्नति की, मध्य युग में उसकी क्या दशा रही और नव जागरण में कैसे उसने विकास किया—यह सब इसमें बताया गया है। रसायन, भौतिक विज्ञान, भूगोल, विज्ञान, शरीर विज्ञान, ज्योतिष, जीव विज्ञान आदि सभी के विकास का इतिहास इस पुस्तक में वर्णित है। पुस्तक बहुत ज्ञान वर्द्धक और लाभदायक है। अनुवाद भी काफी आकर्षक हुआ है।

मनोविज्ञान

सामान्य मनोविज्ञान—(संक्षिप्त संस्करण)-लेखक-श्री अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक-राज राजेश्वरी पुस्तकालय, गया। पृष्ठ ४४३, मूल्य ५)

जब से माध्यमिक परीक्षा बोर्डों ने तथा विश्वविद्यालयों ने हिन्दी में उत्तर देने की छूट दी है तब से द्रुतगति के साथ वैज्ञानिक साहित्य में वृद्धि हो रही है। विज्ञानों में लेखकों का ध्यान मनोविज्ञान की ओर अधिक गया है। प्रोफेसर काश्यपजी के सामान्य मनोविज्ञान का संक्षिप्त संस्करण भी प्रौढ़ चिन्तन का आधार लेकर चला है। इसमें सामान्य मनोविज्ञान को प्रारम्भिक विद्यार्थियों के धरातल से ऊँचा उठाने का उद्योग किया गया है और मनोविज्ञान की कठिन और जटिल समस्याओं का तथा उनके सम्बन्धों में किए गये प्रयोगों आदि का विवेचन हुआ है। प्रोफेसर साहब के विवेचन का क्षेत्र विस्तृत है और इस कारण इस पुस्तक में हर प्रकार के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग का भी उनको अवसर मिला है और इस अंश में वे भावी कार्यकर्ताओं के पथ प्रदर्शक बनेंगे। पारिभाषिक शब्दावली की समस्या को बहुत अंश में सुलझाते हुए भी उसकी कठिनाइयाँ पूरी तौर से हल नहीं हुई हैं। जैसे Positive विज्ञान के लिए उन्होंने समर्थक विज्ञान रखा है। समर्थन किसी जानी हुई चीज का ही पुष्टिकरण होता है। मेरी समझ में प्रतिपादक शब्द अच्छा रहता। Normative के लिए आदर्श निर्धारक शब्द ठीक है। Habit के लिए आचरण और अभ्यास दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। आचरण अभ्यस्त भी हो सकता है और अनभ्यस्त भी। Plesure के लिए उग्र शब्द का प्रयोग हुआ है, मेरी समझ में दबाव शब्द अच्छा रहता। Personality के लिए अन्य लेखकों की भाँति

काश्यपजी ने भी व्यक्तित्व रखा है लेकिन व्यक्तित्व Individual की इकाई का अधिक द्योतक है। पर्सोनेल्टी इससे कुछ ऊपर की चीज है। मैंने इसके लिए दो शब्द सोचे हैं, आत्मभाव और स्वरूपता। एक शब्द 'आत्म' भी चल रहा है। इसके लिए कोई शब्द स्थिर करना पड़ेगा। इसी प्रकार Automatic के लिए स्वयंभू शब्द विचारणीय है, स्वचालित शब्द अच्छा रहता।

कहीं-कहीं ऐसे अँग्रेजी शब्दों को जिनका हिन्दी पर्याय बन सकता था, जैसा का तैसा ही रखा गया है। जैसे—Temporal lobe के लिये मण्डीय पिण्ड या कनपटी सम्बन्धी पिण्ड ठीक होता। इस प्रकार शब्दावली में सुधार की तो आवश्यकता है ही किन्तु सामान्य मनोविज्ञान सम्बन्धी प्रायः सभी प्रश्नों के समावेश करने का जो इसमें साहस किया गया है वह अत्यन्त सराहनीय है।

ज्योतिष

भारतीय काल गणना—लेखक व प्रकाशक—ज्योतिर्विद पं० देवकीनन्दनजी खंडेलवाल, पो० फतहपुर (जयपुर) राजस्थान। पृष्ठ संख्या १४२, मूल्य २॥=)

यह पुस्तक हिन्दी में अपने ढंग का अपूर्व संग्रह है। यह तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में सृष्टि की उत्पत्ति और मण्डल का निर्माण, प्रलय का वर्णन, ग्रह, उपग्रह, कल्पित ग्रह, राशि एवं नक्षत्रों की स्थिति, गति, आकार आदि का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है।

द्वितीय भाग में सृष्टि के आरम्भ से आज तक प्रयोग में आने वाली भिन्न भिन्न काल गणनाओं का वर्णन किया गया है। साथ में विश्व का स्थिर समय (स्टेन्डर्ड टाइम) एवं सूर्योदय सारणी दी गई है।

तृतीय भाग में विभिन्न भारतीय तथा इतर देशीय ६० संवत्सरों का वर्णन, महाभारत काल का निर्णय, प्रचलित संवतों के १०००० वर्ष के कैलेण्डर, भारतीय इतिहास में मत वैमत्य के कारण, उनमें एकरूपता लाने के लिये युक्तियाँ, युगों का वास्तविक मान एवं प्रारम्भ तिथि का निर्णय, भारतीय संवतों के प्रचलन में सौर, चान्द्र आदि की ईस्वीय सन् से अधिक सुविधाएँ आदि आदि का वर्णन किया गया है।

पुस्तक वैसे तो सभी के लिये उपयोगी है पर ज्योतिष विद्या के प्रेमियों के लिये तो अत्युपयोगी है।

पुस्तक के विद्वान संग्रह-कर्ता ने पुस्तक के प्रथम भाग के सृष्टि परिचय में सभी ग्रह व उपग्रहों का जहां वर्णन किया है वहां ध्रुव तारे का भी वर्णन किया है। आपने उस में लिखा है—पृष्ठ २३ पंक्ति प्रथम—'परन्तु सीधे नेत्रों द्वारा देखने पर ध्रुव स्थिर ही दिखाई देता है। यदि किसी उच्च स्थान से दो छिद्रों वाले घड़े में से ध्रुव तारे का निरीक्षण करके उस घड़े को उसी स्थान में स्थिर कर दिया जाय और पुनः उन दोनों छिद्रों में से देखने पर कुछ समय के पश्चात् ध्रुव तारा दिखाई नहीं देता। इससे ध्रुवतारे का गतिमान् होना सिद्ध होता है।' परन्तु ध्रुव तो ध्रुव ही है। गतिमान नहीं। गतिमान 'ध्रुव' नहीं हो सकता। 'आर्य-भटीय' में इसके लिये बड़ी सुगम बात लिखी है। उसमें लिखा है कि जिस प्रकार नाव में यात्रा करने वाले को नदी तट के वृक्ष चल दिखाई देते हैं पर हैं वास्तव में वे अचल, स्थिर, इसी तरह ध्रुव तो वास्तव में स्थिर ही है, पर पृथ्वी घूमती है। अतः पृथ्वी पर रहने वालों को ध्रुव तारा चाहे [illegible] दिखाई दे पर है वह स्थिर ही। पुस्तक सग्राह्य है।

—मन्ननाथ शर्मा ज्योतिषाचार्य

स्वास्थ्य

स्वास्थ्य-शिक्षा—लेखक-श्री दयाशङ्कर पाठक, प्रकाशक-जयपुर प्रिंटिंग वर्क्स, चौड़ा रास्ता जयपुर। पृष्ठ ३५८, मूल्य ४) साहित्य सन्देश के ग्राहकों के लिए ३॥)

इस पुस्तक में स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी बातों का वर्णन किया गया है। स्वास्थ्य क्या है प्रकृति किस प्रकार स्वास्थ्य को ठीक रखती है। भो[illegible] हवा और पानी कैसा होना चाहिए और स्वास्थ्य पर किसका क्या असर पड़ता है। प्राणायाम और योगासन कैसे [illegible] चाहिए। व्यायाम कौन-कौन से और किस प्रकार [illegible] जाँय। मालिश कैसे की जाय, कहाँ की मालिश से हानि लाभ होता है—आदि बातें इसमें लिखी गई हैं सैकड़ों चित्रों द्वारा उन्हें समझाया गया है। शरीर [illegible] का और मल मूत्र विज्ञान का भी ज्ञान कराया गया है रोगोत्पादक कीटाणु कौन कौन होते हैं, उनसे किस·

ाश्मीर-साहित्य पर प्रकाश—

(पृष्ठ २१४ का शेषांश)

'एक कवयित्री श्रीमती अरेनमाल हुई हैं। आज भी उनके त गाते गाते काश्मीरी का हृदय भर आता है। काश्मीरी के ान्य निर्माण में इस प्रकार कवयित्रियों का प्रमुख हाथ रहा है।

आधुनिक युग के आरम्भ में भी एक शाखा सूफीवाद प्रभावित रही। परन्तु इस युग के सूफीवादी काव्य पर न्त प्रवृत्ति की छाप अधिक रही। कवि प्रकाशराम, परमा न्दजी, कृष्णाराजदान, लक्ष्मणजी आदि सन्त कवि इसी परम्परा में आते हैं। इन्होंने वेदान्त का आधार लेकर क्ति और प्रेम को पद्यबद्ध किया। दूसरी ओर गीत धारा बराबर जारी रही। उसको लोकगीत का रूप 'रोफ' ी शक्ल में रहा। आज भी त्यौहारों पर, ब्याह शादी के ौकों पर मुसलमान महिलाएँ मिल कर 'रोफ' गाती हैं ौर नाचती हैं। कविता को इस धारा को महमूद गामी ने ज़ल, नज़्म और मसनवी की शक्ल में सँवारा और लोक- ्रिय किया। अधिकांश शब्द काश्मीरी ही अपनाए। पहले ा तो संस्कृत बहुल और या फिर फारसी-प्रधान शब्दों से ाश्मीरी रचना भरी रहती थी; पर महमूद गामी ने इस रम्परा में काफी सुधार किया। आगे चल कर रसूल मीर इसको बहुत ही विकसित किया।

'महजूर' जब पैदा हुए तो गीत अपने यौवन पर । कवि महजूर ने अपना रंग भर दिया, पर वह एक ऐसे युग में आये जब कि सामन्तशाही ने अपना विकराल रूप दिखाया था। इसलिए 'महजूर' ने जहाँ काश्मीरी गीत को अपनी कल्पना से प्राणवान किया, वहाँ वे विद्रोह करने से रुक न सके। उन्होंने देखा कि काश्मीरी अपने ही वतन में पराया है। वह बेबस है। उसके निशात और शालिमार नहीं हैं। काश्मीर की सुन्दर घाटी में वह लुट रहा है, पिट रहा है तो उसका कवि चीत्कार कर उठा। उसने राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ सांस्कृतिक आन्दोलन तेज किया। इस अर्से तक और अनेक कवि इस संघर्ष में आ चुके थे। मैं (कवि नादिम) भी उनमें से एक था। कवि आज़ाद महजूर के ही जमाने में बागी कवि के रूप में सामने आए। अफसोस! वह जवानी में ही काल-कवलित हुए। मिर्जा आरिफ की रचनाओं ने भी प्रेरित किया। 'काश्मीर छोड़ दो' के गीतों में काश्मीरी कवि की बोलती बन्द करने का प्रयास किया गया, परन्तु उसके ठीक बाद ही जब पाकिस्तानी आक्रमण की लपेटों ने उस स्वर्गभूमि को आ घेरा, तो वह बाँध टूट गया। सामन्तशाही तब दम तोड़ चुकी थी। ऐसे मौके पर काश्मीरी कवि 'जङ्गबाज खबरदार' का नारा देकर जनता को प्रबुद्ध करने लगा। उस समय की रचनाओं में वह गजलियानी रंग-ढंग और छन्द व तुकों की बन्दिश छूट गई। कविता का प्रवाह फूट पड़ा और नए छन्द बने। उस समय से मैंने भी काश्मीरी कविता में पूरे जोश के साथ अपनी रचनाएँ देने का उपक्रम किया। वह आँधी कुछ थम जरूर गई, पर परेशानी अभी दूर नहीं हुई है। अभी भी साम्राज्यवाद की नंगी तलवार सिरों पर लटक रही है। इसलिए अब जो रचनाएँ की जा रही हैं उनका भी एक विशेष रूप रहता है।

एक बात जो अब विशेष रूप से अपनाई जा रही है वह है, काव्य की समीक्षा। जनता से अब काश्मीरी कवि सामन्ती महफिलों से दाद नहीं माँगता, बल्कि देहातों में जाकर देहातियों से अपनी आलोचना कराता है। उनके दुख दर्द को, हँसी खुशी को और उनके गम व गुस्से को उन्हें सुनाकर अथवा उनसे सीख कर कविता में प्रथित करता है। इस तरह प्रकृति और मानव का सामञ्जस्य करके ही नये काश्मीरी साहित्य की सृष्टि हो रही है।''

ाचा जा सकता है तथा रोग का निदान कैसे किया जाय सको भी संक्षेप में बताया है। कुछ साधारण रोगों का उपचार भी बता दिया गया है। संक्षेप में इस एक पुस्तक से स्वास्थ्य सम्बन्धी बहुत ज्ञान हो जाता है। पुस्तक उपादेय है।

सौन्दर्य और शृङ्गार—लेखक-श्री श्यामसुन्दर ाठक, प्रकाशक—जयपुर प्रिंटिंग वर्क्स जयपुर। पृष्ठ ११२, ल्य साहित्य सन्देश के ग्राहकों के लिए १)

स्त्रियों के सौन्दर्य का स्वरूप वर्णन करके उसके ेकास का मार्ग लेखक ने बताया है। चित्रों द्वारा विषय ो समझाने का भी यत्न किया गया है। अन्तर और बाह्य ारों की भी चर्चा की गई है। पुस्तक साधारण-कोटि पाठकों विशेषकर स्त्रियों के मतलब की है।

Sahitya Sandesh, Agra.
DECEMBER, 1952.

REGD. No. A. 263.
License No 16.
Licensed to post without prepayment.

साहित्य-सन्देश के विशेपाङ्क स्थायी साहित्य की वस्तु होते हैं

साहित्य-सन्देश

का

आगामी—जनवरी-फरवरी १९५३ का अङ्क

कहानी विशेषांक

इसमें—

- कहानी कला का निरूपण।
- कहानी के तत्वों का विशद विवेचन।
- हिन्दी कहानी साहित्य का इतिहास।
- हिन्दी कहानी के मूल स्रोतों का अन्वेषण।
- हिन्दी की कहानियों और कहानीकारों का परिचय और आलोचना।

यथार्थ में

कहानी के तत्वों और हिन्दी-कहानी के सम्बन्ध में सब कुछ इस विशेषाङ्क में होगा। लब्ध प्रतिष्ठ तथा प्रामाणिक विद्वानों की लेखनी के प्रसाद के रूप में कहानी-साहित्य पर विविध निबन्ध तथा प्रत्येक आवश्यक जानकारी इस विशेषाङ्क में मिलेगी।

विशेषाङ्क आवश्यकतानुसार ही छपवाया जा रहा है अतः आज ही वार्षिक मूल्य ४) भेज कर उसके ग्राहक बन जायँ और अपनी प्रति सुरक्षित करा लें।

साहित्य सन्देश कार्यालय,
४, गांधी मार्ग, आगरा।

आवश्यक सूचना

१—कहानी विशेषांक १५ फरवरी के लगभग प्रकाशित होगा। उस अङ्क की तैयारी में जनवरी का अङ्क प्रकाशित न हो सकेगा। अतः पाठक उसकी प्रतीक्षा न करें।

२—जिन ग्राहकों का मूल्य दिसम्बर, जनवरी या फरवरी के अङ्क से समाप्त हो रहा है वे महानुभाव वी० पी० की प्रतीक्षा न कर अपना मूल्य मनीआर्डर से भेजने की कृपा करें जिससे उन्हें विशेषाङ्क छपते ही भेजा जा सके।

—मैनेजर